॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४६

वैदिक इण्डेक्स

(वैदिक नामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुसूची)

मूल लेखक

ए० ए० मैकडौनेल
एम० ए०, पीएच० डी०

ए० बी० कीथ
एम० ए०, डी० सी० एल०

अनुवादक

रामकुमार राय
एम० ए०, एल-एल० बी०

भाग १
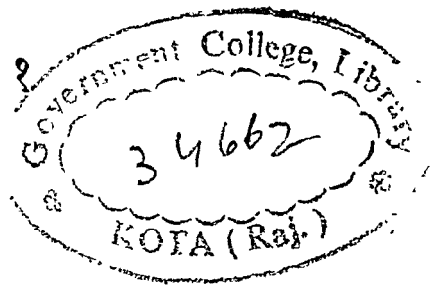
चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA. 46

VEDIC INDEX

OF

NAMES AND SUBJECTS

BY

ARTHUR ANTHONY MACDONELL, M. A., PH. D.

BODEN PROFESSOR OF SANSKRIT IN THE UNIVERSITY OF OXFORD, FELLOW OF BALLIOL COLLEGE; FELLOW OF THE BRITISH ACADEMY

AND

ARTHUR BERRIEDALE KEITH, M. A., D. C. L.

FORMERLY SCHOLAR OF BALLIOL COLLEGE AND BODEN SANSKRIT SCHOLAR; SOMETIME ACTING DEPUTY PROFESSOR OF SANSKRIT IN THE UNIVERSITY OF OXFORD

HINDI TRANSLATION

By

RAM KUMAR RAI, M. A., LL. B.

DEPARTMENT OF PSYCHOLOGY, BANARAS HINDU UNIVERSITY.

VOL. I
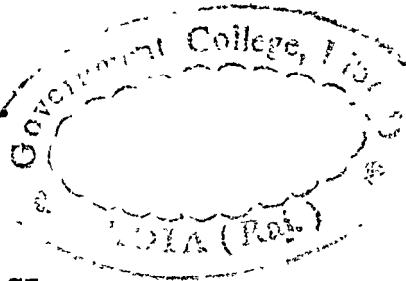
VARANASI

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

दो शब्द

संस्कृत पुस्तकों का प्रकाशन सुगम काम नहीं है। शोध कार्य बहुत कठिन होता है क्योंकि प्राचीन शैली के विद्वानों ने इस प्रकार के काम के उपयुक्त न तो प्रवृत्ति दिखाई है और न प्रशिक्षण ही दिया है। फिर यदि शोधादि पर श्रम और धन व्यय करके पुस्तक प्रकाशित भी हुई तो ग्राहक बहुत कम मिलते हैं। ऐसी अवस्था में पुस्तकों को निकालना केवल धन साध्य नहीं है प्रत्युत संस्कृत भाषा और वाङ्मय के लिए गम्भीर श्रद्धा की अपेक्षा करता है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज के प्रवर्तक इस कार्य को दीर्घकाल से करते आ रहे हैं और मुझे विश्वास है कि अनेक कठिनाइयों के होने पर भी करते जायँगे। उनका यह अध्यवसाय प्रशंसनीय है। वैदिक वाङ्मय के अध्ययन में जिन पाश्चात्य विद्वानों की रचनाएँ विशेष रूप से सहायक होती हैं उनमें मैकडौनेल और कीथ का स्थान प्रशस्य है। चौखम्बा सीरीज में इन पुस्तकों के निकल जाने से निश्चय ही विद्यार्थियों को सुविधा होगी। यह प्रसन्नता की बात है कि उनका इस ओर ध्यान गया है।

हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री रामकुमार राय वैदिक इण्डेक्स का अनुवाद कर रहे हैं। वैदिक माईथॉलोजी के हिन्दी अनुवाद द्वारा वह इस बात का परिचय दे चुके हैं कि इस विषय में उनका अध्ययन अच्छा है और वह ऐसी पुस्तकों को लिखने की क्षमता रखते हैं। मुझे विश्वास है कि वैदिक इण्डेक्स का अनुवाद भी उतना ही सुन्दर होगा। यदि किसी भारतीय विद्वान् ने स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी होतीं, तो सम्भव है कि कहीं-कहीं दूसरा दृष्टिकोण भी सामने आता, परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक तो माईथॉलोजी और इण्डेक्स दोनों ही अपने विषय की प्रामाणिक पुस्तकें हैं। उनका अनुवाद करके अनुवादक और प्रकाशक ने बहुत उपकार किया है।

सम्पूर्णानन्द

अनुवादक की भूमिका

वैदिक इण्डेक्स जैसे विशाल और क्लिष्ट ग्रन्थ का अनुवाद करना मेरा दुःसाहस ही है। किन्तु इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एक तो अनेक दशकों तक सर्वथा दुष्प्राप्य था और दूसरे यह केवल अंग्रेजी जाननेवालों तक ही सीमित था। इसकी दुष्प्राप्यता कुछ वर्षों पूर्व पुनर्मुद्रण द्वारा दूर हो गई और उसी समय से मैं इसे हिन्दी में लाने का विचार करने लगा। हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल राष्ट्र-भाषा को समृद्ध करना ही नहीं वरन् पाश्चात्य विद्वानों के वेदविषयक अनुसन्धानों की ओर परम्परागत वेद-विदों का ध्यान आकृष्ट करना भी है, जिससे वे लोग पाश्चात्य विद्वानों के भ्रामक विचारों और पूर्वधारणाओं का खण्डन करते हुए वेद के गूढार्थ को प्रकट करने के लिए प्रवृत्त हों। इस ग्रन्थ को केवल मैकडौनेल और कीथ की ही कृति नहीं, वरन्, जैसा कि इसके अवलोकन से स्वतः स्पष्ट होगा, इन दोनों लेखकों द्वारा प्रस्तुत सन् १९१२ के पूर्व के समस्त पाश्चात्य वेद-विदों और भारतीय भाष्यकारों के विचारों का निरूपण करानेवाला एक वैदिक विश्वकोश कहना चाहिए। इसके लेखकों ने अपने विचारों के साथ-साथ प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों के विचार तो उद्धृत किये ही हैं, साथ ही, प्रसंगानुसार सर्वत्र ही वैदिक भाष्यकारों के विचारों का भी समालोचनात्मक विवेचन किया है। पाश्चात्य विद्वानों के अध्ययन की सर्वाधिक विशेषता यह है कि वे लोग परम्परागत व्याख्याकारों को किसी प्रकार का प्रमाण न मानकर वैज्ञानिकता के नाम पर उनको भी केवल विद्वान् मात्र मानते हुए उनसे सहमति या असहमति का अपना विचार प्रकट करते हैं। इसीलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वत्र ही ऐसे स्थल मिलेंगे जहाँ ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, आरण्यकों, सूत्रों, आदि ग्रन्थों के, तथा

यास्क, सायण, महीधर, आदि जैसे वैयाकरणों और भाष्यकारों के विचारों की तुलना में पिशल, गेल्डनर, लुडविग, ल्सिमर, वेवर, ओल्डेनवर्ग, ब्लूमफील्ड अथवा अन्य किसी विद्वान् के मत को ही अधिक उपयुक्त वताया गया है। मैं यह नहीं कहता कि इस प्रकार का विचार व्यक्त करना अनुचित है, अथवा ऐसे विचार सर्वत्र ही त्रुटिपूर्ण या भ्रामक हैं, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि वेदों को केवल प्राचीन ग्रन्थ मात्र मानकर शब्दार्थों के रूप में ही उनके विषय-वस्तु की विवेचना नहीं की जा सकती। अतः इस ग्रन्थ का अनुवाद करने का मेरा सबसे वड़ा उद्देश्य यही है कि इसकी ओर परम्परागत पण्डित-समाज का ध्यान आकृष्ट हो और वे लोग पाश्चात्यों की भ्रामक धारणाओं का प्रतिवाद करें। इसीलिए अनुवाद में मैंने सर्वत्र यही ध्यान रक्खा है कि मूल ग्रन्थ के विचार या भाव सर्वथा सुरक्षित रहें। कहीं भी मूल लेखकों के प्रत्यक्षतः त्रुटिपूर्ण विचारों, संहिताओं के मूल अंशों के भ्रामक अनुवादों, या शब्दों के अर्थों को किसी प्रकार परिमार्जित या संशोधित नहीं किया गया है।

अनुवाद की कुछ अन्य द्रष्टव्य वातें इस प्रकार हैं :

संस्कृत शब्दों का रूप—सम्पूर्ण ग्रन्थ में अकारादि क्रम से व्यवस्थित वैदिक शब्दों पर लेख लिखे गए हैं। मूल लेखकों ने इन शब्दों का अपने विचार से विच्छेद करते हुए शब्दखण्डों को हाइफन (-) से पृथक् कर दिया है। अनुवाद में भी इन शब्दों को मूल ग्रन्थ के अनुसार ही रक्खा गया है। जिन शब्दों पर लेख लिखे गए हैं उन्हें वड़े इटालिक टाइपों में छापा गया है जिससे उन पर सरलता से दृष्टि पड़ सके। साथ ही किसी लेख के वीच में भी जब कोई ऐसा शब्द आ गया है जिस पर ग्रन्थ में अलग लेख है, तो उसे भी इटालिक टाइप में ही दिखाया गया है जिससे पाठक यह समझ सकें कि उस पर भी अकारादि क्रम में यथास्थान अलग लेख मिल सकता है।

पाद-टिप्पणियों में जब कोई ऐसा शब्द आया है जिस पर ग्रन्थ में स्वतन्त्र लेख हैं, तो उसे काले टाइपों में छापा गया है, जिससे उन पर सहज दृष्टि पड़ सके।

बहुधा मूल लेखकों ने संस्कृत शब्दों का अंग्रेजी में अर्थ भी दे दिया है। ऐसी सभी दशाओं में अनुवाद में मैंने मूल वैदिक शब्दों का नहीं, वरन् उसके अर्थ-स्वरूप दिए गए अंग्रेजी शब्दों का ही अनुवाद किया है क्योंकि मेरा उद्देश्य मूल लेखकों के विचारों को ही यथावत् प्रस्तुत करना है।

पाद-टिप्पणी—पाद-टिप्पणियों को सर्वथा मूलग्रन्थ की ही भाँति दो कॉलमों और प्रत्येक लेख के अन्त में उनके ठीक नीचे रक्खा गया है। जहाँ कोई लेख एक पृष्ठ से अधिक बढ़ गया है वहाँ प्रत्येक पृष्ठ पर केवल उससे सम्बन्धित पाद-टिप्पणियाँ ही रक्खी गई हैं। इस प्रकार प्रत्येक लेख के बाद उसकी पाद-टिप्पणियाँ दे देने के बाद ही दूसरा लेख आरंभ किया गया है। मूल पुस्तक में भी इसी व्यवस्था का अनुसरण किया गया है।

पाद-टिप्पणियों का क्रम भी मूल ग्रन्थ के सर्वथा समान है। उदाहरण के लिए मूल ग्रन्थ में किसी शब्द के अन्तर्गत एक, दो या इसी अनुसार टिप्पणी का जो विषय है, वही अनुवाद में भी है। स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था करना अत्यन्त कठिन कार्य था, क्योंकि इसके लिए लेखों के अनुवाद में उन शब्दों का, जिन पर पाद-टिप्पणीसूचक संख्यायें लगी हैं, वही क्रम रखना अनिवार्य था जो अंग्रेजी लेख में है। फिर भी, कठिनाई के विपरीत यह व्यवस्था सुरक्षित रक्खी गई है। इसका सर्वाधिक लाभ यह है कि यदि पाठक मूल अंग्रेजी ग्रन्थ की किसी पाद-टिप्पणी का हिन्दी अनुवाद, अथवा हिन्दी अनुवाद का मूल अंग्रेजी रूप देखना चाहें तो बिना किसी कठिनाई के ही मूलग्रन्थ या अनुवाद में समानान्तर स्थान पर उन्हें देख सकते हैं।

यत्र-तत्र प्रयुक्त यूनानी भाषा के शब्दों को यूनानी लिपि में, और उनका उच्चारण हिन्दी में दे दिया गया है। उच्चारण शत-प्रतिशत कदाचित् ठीक न भी हो, क्योंकि हिन्दी लिपि में उसे व्यक्त करना सरल नहीं, फिर भी उससे एक आभास मिल सकता है।

संकेत-सारणी—मूलग्रन्थ की पाद-टिप्पणियों में अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच तथा अन्य योरोपीय भाषाओं के अनेक सन्दर्भ-ग्रन्थों का संकेत है। इन ग्रन्थों के नामों को हिन्दी में यथावत् लिखना कठिन तो था ही, साथ ही इससे कोई विशेष लाभ भी न होता। इसलिए इन ग्रन्थों को हिन्दी संकेतों से व्यक्त किया गया है और ग्रन्थ के आरम्भ में संकेत-सारणी दे दी गई है जिससे पाठकों को संकेतों द्वारा व्यक्त ग्रन्थों का पूरा-पूरा नाम जान सकने में कठिनाई न हो।

मान-चित्र—मूलग्रन्थ में वैदिक-भारत का एक मान-चित्र है किन्तु उसमें भी नाम आदि अंग्रेजी में ही हैं। अनुवाद में अंग्रेजी मान-चित्र देना मैंने उपयुक्त नहीं समझा। अतः बिल्कुल मूल जैसा ही हिन्दी में मान-चित्र बनवाकर दिया गया है और इसे भी उन्हीं रंगों में छापा गया है जिनमें अंग्रेजी मान-चित्र छपा है।

प्रूफ-संशोधन—अनुवाद के प्रूफ-संशोधन में पर्याप्त सतर्कता रखने का प्रयास किया गया है। कम से कम वैदिक ग्रन्थों के सन्दर्भ संकेतों में किसी प्रकार की अशुद्धि न आये, इसके लिये यथाशक्ति प्रयास किया गया है। फिर भी मनुष्य का कार्य कदाचित् ही त्रुटिरहित हो सकता है, अतः यदि यत्र-तत्र कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो उनके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

पूज्य डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने आशीर्वाद-स्वरूप जो 'दो शब्द' लिखकर हमें प्रोत्साहित किया है उसके प्रति औपचारिक आभार-प्रदर्शन अनुचित होगा, क्योंकि चाहे पाश्चात्य सभ्यता के अन्तर्गत प्रत्येक बात के लिये धन्यवाद देना उचित हो, किन्तु भारतीय परम्परा में तो बड़ों के आशीर्वाद को नतमस्तक ग्रहण करना ही छोटों का कर्त्तव्य होता है। फिर भी मैं इतना अवश्य व्यक्त करना चाहता हूँ कि आपके इस आशीर्वाद से मुझे भविष्य में अधिक मनोयोग से कार्य करने की अत्यधिक प्रेरणा मिली है।

मैं 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' तथा 'चौखम्बा विद्याभवन' के संचालक चिरंजीव बन्धुद्वय श्री मोहनदास और श्री विट्ठलदास गुप्त को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जो इतने विशाल ग्रन्थ को सहर्ष प्रकाशित कर रहे हैं। आप लोगों के उत्साहपूर्ण प्रयास से इधर एकाध वर्षों में अनेक दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है, जिनमें 'शब्दकल्पद्रुम' तथा 'वाचस्पत्यम्' जैसे महाग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। अतः इस दिशा में आप लोगों का यह प्रयास स्तुत्य है।

अन्त में मैं अपनी त्रुटियों के लिये पाठकों से पुनः क्षमा माँगते हुए निवेदन करता हूँ कि वे अनुवाद के सुधार की दिशा में अपने विचारों से मुझे अवगत कराने की कृपा करें जिससे अग्रिम संस्करण में तदनुसार परिमार्जन किया जा सके।

रामकुमार राय
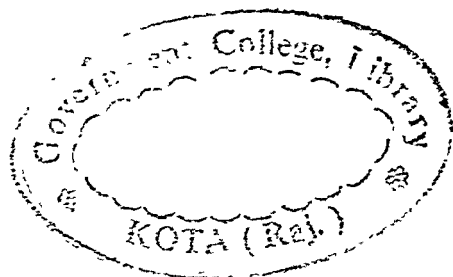
मूल लेखक की भूमिका

सूत्रपात और ग्रन्थ की प्रगति—प्रस्तुत ग्रन्थ की कल्पना का सूत्रपात टी० डब्लू० रिज़ डेविड्स द्वारा उस समय हुआ जब, आज से अनेक वर्ष पूर्व, वह भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के तत्त्वावधान में प्रकाशित होनेवाली 'इन्डियन टेक्स्ट सिरीज़' के प्रधान सम्पादक नियुक्त हुये थे। उस समय आपने मुझसे, छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के अन्तिम चरण में बौद्धमत के आविर्भाव के पूर्वसे लेकर प्राचीनतम समय तक के भारतीय साहित्य में उपलब्ध व्यक्तिवाचक नामों द्वारा व्यक्त ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करनेवाले एक ग्रन्थ की रचना का आग्रह किया था। यतः यह विषय मेरे विशेष अध्ययन की सीमा के अन्तर्गत था और पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भी प्रतीत हुआ, अतः मैं इस प्रस्ताव से सहमत हो गया। किन्तु कुछ हिचकते हुये ही मैंने ऐसा किया, क्योंकि आगत भविष्य का मेरा अवकाश पहले से ही दो ऐसी कृतियों के लिये निर्धारित हो चुका था जिनके लिये पर्याप्त परिश्रम की आवश्यकता थी और मैं उन पर कार्य करना आरम्भ भी कर चुका था। शीघ्र ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुंच गया कि जब तक यह दोनों कृतियाँ—बृहद्देवता और वैदिक ग्रामर—पूर्ण होकर मेरे हाथ से निकल नहीं जातीं तब तक मैं किसी तृतीय पुस्तक की रचना तक के लिये समय नहीं दे सकता, उसके प्रकाशन की बात तो अनेक वर्षों तक स्थगित रखनी होगी। एक अन्य बाधा, अध्ययन और अनुसन्धान के लिये उस भारत-यात्रा के कार्यक्रम द्वारा भी पड़ सकती थी, जिसे मैं अवसर मिलते ही शीघ्रातिशीघ्र पूरा करना चाहता था। दीर्घकालीन विलम्ब की इन सम्भावनाओं के कारण किसी कार्य को जल्दीबाजी में करने की अपेक्षा अस्वीकृत कर देना ही अच्छा समझता था। साथ ही एक बार स्वीकृति दे चुकने के पश्चात् मैं किसी कार्य का परित्याग अथवा अनिश्चित काल तक उसे स्थगित रखने में भी हिचक रहा था। एक ऐसे कार्य को छोड़ देना भी दयनीय-सा ही प्रतीत हुआ जो उपयुक्त रूप से किये जाने पर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता। इस द्विधात्मक स्थिति में किसी अन्य व्यक्ति का सहयोग प्राप्त करना ही समस्या का एकमात्र समाधान था। इस कार्य के लिये मुझे श्री ए० बी० कीथ का स्मरण आया, जो बोडेन संस्कृत स्कॉलर के रूप में चार वर्षों तक मेरे शिष्य रह चुके थे और सन् १८९९ से ही, न केवल प्रूफ आदि के संशोधन में ही वरन् मेरे 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' और 'संस्कृत

ग्रामर' के सम्बन्ध में, तथा बृहद्देवता के मेरे संस्करण में भी जिसका उस समय प्रकाशन आरम्भ हुआ था, अनेक परिष्कारात्मक सुझाव आदि देने के रूप में मेरी सहायता कर रहे थे। तदनुसार मैंने उनसे पूछा कि तत्काल विषय-सामग्री एकत्र करना आरम्भ करके प्रस्तावित कार्य में मेरे साथ सहयोग करने के लिए उनके पास समय और रुचि है अथवा नहीं। उन्होंने विना किसी हिचक के ही सम्मति दे दी और भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने भी पूर्वव्यवस्था में इस परिमार्जन की स्वीकृति प्रदान कर दी। आपकी अपेक्षा मेरी दृष्टि में कोई भी अन्य ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसे शुद्धता और शीघ्रतापूर्वक यह आरम्भिक कार्य करने का मैं पूर्ण विश्वास के साथ उत्तरदायित्व प्रदान कर सकता।

मेरे भारत से वापस आने के प्राय: एक वर्ष के पश्चात् सन् १९०९ में जबकि, मेरी 'वैदिक ग्रामर', अब भी प्रेस में ही थी, श्री कीथ ने प्रस्तुत ग्रन्थ से सम्बन्धित एकत्र सामग्री का पर्याप्त अंश मुझे दे दिया। इसका नियमित मुद्रण मेरे उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् सन् १९१० में ही आरम्भ हो सका। बीच के इस समय का मुद्रकों के लिए पर्याप्त प्रेस-कापी तैयार करने तथा विषय-व्यवस्था और टाइपों के आकार-प्रकार के निर्धारण में उपयोग किया गया।

सहयोग की पद्धति—ग्रन्थ की रचना में हम लोगों के अपने-अपने योगदान को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: डा० कीथ ने विषय-सामग्री एकत्र की है जब कि मैंने प्रमुखत: एक सम्पादक के रूप में, ग्रन्थ की सीमा का नियोजन, मूल विषयवस्तु और टिप्पणियों की व्यवस्था, टाइपों का चुनाव, विषय-वस्तु को काटने-छाँटने अथवा परिमार्जित करने, विभिन्न व्याख्याओं और निष्कर्षों के प्रमाणों को परखने, सम्भव विकल्पों की दशा में किस दृष्टिकोण को अपनाया जाय इसका निर्णय करने, आदि का कार्य किया है। पुस्तक में निहित प्रत्येक लेख को अन्तिम रूप प्रदान करने के पश्चात् इसमें व्यक्त प्रत्येक वक्तव्य और विचार के सम्बन्ध में मैं अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करता हूँ। मैं नहीं समझता कि डा० कीथ और मुझमें किसी भी उल्लेखनीय विषय पर असहमति हुई है। जहाँ साधारण प्रश्नों पर हमारा मतभेद हुआ है, उन्होंने मेरे निर्णय से अपनी असहमति व्यक्त कर दी है। ऐसी दशाओं में उनका दृष्टिकोण भी अक्सर उतना ही ठीक हो सकता है जितना मेरा। जहाँ त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष निकाले गये हैं, वहाँ उसे ठीक करने में पाठकों को उसी विधि से सहायता मिल सकती है जिसका मैंने मूल ग्रन्थों से उन प्रमाणों को प्रस्तुत करने में अनुसरण किया है जिन पर ऐसे निष्कर्ष आधारित हैं।

ग्रन्थ की विषय-सीमा—जैसा कि ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ, आरम्भ में योजना यह थी कि इस ग्रन्थ में वैदिक साहित्य में उपलब्ध व्यक्तिवाचक नामों द्वारा व्यक्त होने वाली ऐतिहासिक सामग्री मात्र प्रस्तुत की जाय। किन्तु ज्योंही मैंने इस प्रकार उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का सतर्कतापूर्वक परीक्षण आरम्भ किया, मुझे यह विश्वास हो गया कि व्यक्तिवाचक नामों तक ही सीमित रहने के परिणामस्वरूप एक पुस्तक के रूप में संगृहीत करने के लिए अत्यन्त कम सामग्री ही हस्तगत हो सकेगी। हम लोगों को प्राचीनतम भारतीय ग्रंथों में उपलब्ध सभी ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करना और इस प्रकार आर्य सभ्यता के उन सभी प्राचीनतम पक्षों का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत हुआ है, जो प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा एकत्र किया जा सकता है। मुझे विश्वास था कि उपयुक्त और पर्याप्त प्रयास करने पर प्राचीन वैदिक तथ्यों से युक्त एक व्यापक और वास्तविक दृष्टि से महत्त्वपूर्व ग्रन्थ की रचना की जा सकती है; क्योंकि इसके अन्तर्गत कृषि, ज्योतिष, अन्त्येष्टि, जाति, वेश-भूषा, अपराध, व्याधियाँ, आर्थिक स्थितियाँ, खान-पान, द्यूत, राजसत्ता, न्याय और विधान, विवाह, नैतिकता, व्यवसाय, बहुपत्नीत्व और बहुभर्तृत्व, स्त्रियों की स्थिति, ब्याज और ऋण, ग्राम समुदाय, युद्ध, विवाह-संस्कार, सती, अभिचार तथा अनेक अन्य विषयों से सम्बद्ध उन सभी विवरणों का समावेश किया जा सकता है जो वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार वैदिक-कालीन जनसंख्या का भौगोलिक विवरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी इस प्रकार विस्तारित ऐतिहासिक प्रदत्तों के अन्तर्गत मैंने धर्म के क्षेत्र से सम्बद्ध विषय-वस्तु को नहीं रक्खा है क्योंकि इस पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना ही अधिक उपयुक्त समझी गई। साथ ही साथ, शीघ्र ही यह भी स्पष्ट हो गया कि उस काल के सामाजिक और राजनैतिक जीवन से अविभेद्य रूप से सम्बद्ध धार्मिक कृत्यों के कुछ पक्षों, जैसे प्रमुख पुरोहितों के कार्य और कुछ उत्सवों तथा सांस्कारिक कार्यों का समावेश करना ही पड़ेगा। पुनः, कदाचित् पूर्णतया पुराकथाशास्त्रीय व्यक्तियों के नामों का भी उल्लेख करना होगा क्योंकि अक्सर यह दिखानेवाले प्रमाण अपर्याप्त हैं कि कोई नाम किसी वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्तित्व का द्योतक है अथवा नहीं : ऐसी दशाओं में दानव अथवा पौराणिक नायक या पुरोहित का ही आशय हो सकता है। ऐसे असन्दिग्ध दानवों तक का जैसे जिस एक को ग्रहण उत्पन्न करने वाला माना गया है, भी उल्लेख करना पड़ सकता है, क्योंकि यह पुरातन ज्योतिष के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

कालानुगत सीमा :—आरम्भ में निश्चित कर लिया गया था कि वेदों

से लेकर ब्राह्मणों के काल तक की विषय-सामग्री का ही पुस्तक में समावेश किया जायगा। यहाँ ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों का समय ही उच्चतम कालानुगत सीमा मानी गई। इसकी तिथि अनिश्चित है, किन्तु मेरा यह विश्वास (मेरे हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ११–१२ में प्रतिपादित) कि, यह १२०० ई० पू० से बहुत पहले नहीं है, आज भी अविचल है। सन् १९०७ में एशिया माइनर के 'बोगाज़-कोई' नामक स्थान पर की गई प्रोफेसर ह्यूगो विङ्कलर की खोजों से भी इसमें लेशमात्र अप्रामाणिकता नहीं आई है। उक्त स्थान पर प्रायः १४०० ई० के एक शिलालेख में इस विद्वान् ने कुछ देवताओं, जैसे 'मि-इत्-र', 'उरु-व-न', 'इन्-द-र', और 'न-स-अत्-ति-इय' के नामों को ढूँढ़ा है जो मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य जैसे महत्त्वपूर्ण वैदिक देवों के समान ही हैं। वहाँ इन नामों के मिलने से तीन प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यह वैदिक भारत से लिये गये हो सकते हैं; इस दशा में वैदिक धर्म का लगभग १४०० ई० पू० के बहुत पहले से ही भारत में प्रसार रहा होगा, यद्यपि जो सूक्त आज हमें उपलब्ध हैं उनकी रचना इस समय के पहले नहीं हुई हो सकती। किन्तु यह मान्यता कि इन नामों ने भारत से एशिया माइनर तक की यात्रा की है, इतनी असम्भाव्य है कि इसे अस्वीकृत किया जा सकता है। दूसरे, यह नाम उस आरम्भिक ईरानी काल के ही हो सकते हैं जब ईरानी लोग भारतीयों से पृथक् तो हो चुके थे किन्तु उनकी भाषा अवेस्ता की स्वर-शास्त्रीय स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाई थी। काल-क्रमानुसार और भौगोलिक, दोनों ही दृष्टियों से यही सर्वसामान्य सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि भारतीय शाखा ईरानियों से पृथक् हो चुकी थी, यह नहीं कि वह भारत में प्रवेश कर चुकी थी। अन्ततः ईरानी और भारतीय, दोनों ही भाषाओं में समान रूप से प्रचलित होने के कारण इन नामों को उस भारतीय-ईरानी काल का ही माना जा सकता है जब यह दोनों शाखायें एक ही जाति के रूप में ईरान में रहती थीं। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथक्त्व, भारत प्रयाण, और उत्तर-पश्चिमी भारत में वैदिक साहित्य के आविर्भाव के लिए, दो शताब्दियों का समय मिल जाता है।

वैदिक-काल की निम्न सीमा ५०० ई० पू० के लगभग बौद्ध मत के आविर्भाव के समय तक निर्धारित की जा सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुसंधानित ब्राह्मण साहित्य को निश्चित रूप से इस तिथि के पहले का ही माना गया है। फिर भी कहीं-कहीं वेदों और ब्राह्मणों में अनुपलब्ध होने के कारण प्रमाण के लिए सूत्रों का

उद्धरण देकर इस कालानुगत सीमा का अतिक्रमण भी किया गया है। किन्तु यद्यपि मोटे रूप से सूत्र साहित्य बौद्ध मत की प्रथम तीन शताब्दियों का समसामयिक ही है, तथापि व्यवहारतः यह ब्राह्मण काल का ही सारांश है और इसलिए उस काल के तथ्यों की व्याख्या अथवा पुष्टि के लिए इसका अत्यन्त महत्त्व है। इन तीन शताब्दियों में ब्राह्मणधर्म का प्रतिनिधित्व करने के रूप में भी इनका महत्व है। मुख्यतः इसलिए कि बुद्ध की मृत्यु के बाद की तीन शताब्दियों को व्यक्त करने वाला प्राचीनतम बौद्ध साहित्य भी किस सीमा तक प्राचीन है, यह अनिश्चित है। फिर भी सूत्रों के पहले का प्रामाणिक रूप न मिलनेवाले नामों और प्रचलनों का यदि कहीं वर्णन है तो वह केवल प्रसंगानुसार ही है। इसके विपरीत कुछ दशाओं में जो नाम आदि आते हैं वह वस्तुतः अपवाद नहीं हैं क्योंकि वह या तो सूत्रों में उद्धृत वैदिक मन्त्रों से, अथवा बौधायन आदि जैसे सूत्र-रूपी ब्राह्मण अंशों से ही निष्कृष्ट हुए हैं।

गृहीत पद्धति—अन्तिम रूप से कार्यारम्भ करने के पूर्व ग्रन्थ की विषय-सीमा इसी प्रकार थी और जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, इस योजना को ही कार्यान्वित किया गया है। इसके बाद इस प्रश्न का निर्णय और कार्यान्वय किया गया कि इन विषयों को किस रूप में प्रस्तुत किया जाय। यद्यपि मैं और डा० कीथ, दोनों ही वैदिककाल के उस साहित्य से परिचित हैं जिससे प्रस्तुत ग्रन्थों के दोनों भागों में तथ्यों का चयन किया गया है और एक ही विषय-सामग्री का हम दोनों द्वारा परस्पर सूक्ष्म निरीक्षण त्रुटियों के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन है, तथापि त्रुटियाँ हो जाने अथवा अक्सर अस्पष्ट और संदिग्ध प्रमाणों के मूल्यांकन में अचेतन पूर्वधारणाओं के प्रवेश की सम्भावनाओं को सर्वथा बहिष्कृत रखना सदैव सम्भव नहीं होता। अतः मैंने सर्वत्र ही केवल व्यक्तिगत ज्ञान पर आधारित मूल ग्रन्थों के प्रमाणों को ही नहीं वरन् जहाँ व्याख्या अनिश्चित प्रतीत हुई है, अन्य अधिकारी विद्वानों के मतों को भी पूर्णतया उद्धृत करने को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार संस्कृत के विद्वानों को तो बिना किसी कठिनाई के ही मूल स्रोतों से निष्कृष्ट निष्कर्षों की शुद्धता का परीक्षण करने में सहायता मिलेगी, अन्य लोग भी एकमात्र मेरे सम्भवतः एकांगी दृष्टिकोण पर निर्भर रहने से बच सकेंगे। लेखों में व्याख्या के लिए अन्य सजातीय आर्य-राष्ट्रों की समानान्तर संस्थाओं से भी उद्धरण दिए गए हैं, जैसे जाति की दशा में **वर्ण** के अन्तर्गत देखा जा सकता है। प्रमुखतः टिप्पणियों में, मैंने पुरातत्त्व के अवशेषों और भारत की

वर्तमान दशाओं के व्यक्तिगत ज्ञान का भी उपयोग किया है। १९०७–८ के भारत भ्रमण के समय अर्जित इस प्रकार का ज्ञान मेरे लिए एक विद्यार्थी और अध्यापक दोनों ही रूपों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विषय-व्यवस्था—प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय को अध्यायों में नहीं वरन् अलग-अलग लेखों में विभक्त और वर्ण-क्रमानुसार व्यवस्थित किया गया है। व्यवहारतः यह क्रम उस समय और भी आवश्यक हो गया जब ग्रन्थ को केवल व्यक्तिवाचक नामों तक ही सीमित रखने की योजना बनाई गई। जब बाद में अन्य विषयों को भी सम्मिलित कर लिया गया तो उस समय भी यही व्यवस्था सर्वाधिक सुविधाजनक प्रतीत हुई। यतः ग्रन्थ के सभी लेख संस्कृत शब्दों पर ही लिखे गए हैं अतः उनका क्रम भी संस्कृत वर्णमाला के अनुसार ही है। फिर भी संस्कृत से अनभिज्ञ लोगों को भी इस व्यवस्था से असुविधा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उन्हें जो कुछ भी विवरण चाहिए उसे वह द्वितीय भाग के अन्त में दिए हुए अंग्रेज़ी शब्दों की सूची की सहायता से ढूँढ़ सकते हैं। संस्कृत शब्दानुक्रमणिका भी, जिसमें प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्ध शब्दों के अतिरिक्त प्रसंगानुसार लेखों में आनेवाले शब्द भी सम्मिलित हैं, संस्कृत वर्णमाला के क्रम से ही व्यवस्थित है। किसी प्रकार की असुविधा न हो इसलिए प्रस्तुत भूमिका के अन्तिम पृष्ठ पर संस्कृत वर्णमाला का क्रम भी उद्धृत कर दिया गया है। इसी उद्देश्य से सभी संस्कृत शब्दों की व्याख्या या अनुवाद भी दे दिया गया है, क्योंकि, यद्यपि संस्कृत के विद्वानों के लिए तो यह शब्द स्पष्ट हो सकते हैं, तथापि अन्य को उन्हें समझने में कठिनाई होगी। यौगिक शब्दों को हाइफन (-) देकर खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। अस्पष्ट तथा अनियमित रूप से बने संस्कृत शब्दों की दशा में मैंने कहीं-कहीं व्युत्पत्तिशास्त्रीय व्याख्या भी दे दी है, जो संस्कृत के विद्वानों के लिए भी उपयोगी हो सकती है। कोष्ठों के भीतर प्रसंगानुसार व्याख्याएँ और संदर्भ-संकेत देकर किसी भी पुस्तक के मूल विषय-वस्तु को बोझिल बनाने का मैं सदा से विरोधी रहा हूँ, क्योंकि यह पाठकों का ध्यान विभाजित और तर्कों को शीघ्रतापूर्वक ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न कर देते हैं। अतः मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में (जैसा कि पिछले अनेक ग्रन्थों में भी है) मूल विषय को इस प्रकार की अवरोधक सामग्री से रहित रक्खा है और सन्दर्भ-संकेतों, गौण व्याख्याओं, उदाहरणों और वाद-विवादों को टिप्पणियों में ही दिया है। इसके एकमात्र अपवाद संख्याओं के रूप में छोटे-मोटे सन्दर्भ ही हैं जो केवल दो या तीन पंक्तियों वाले लेखों में आते हैं, उदाहरण के लिए 'कौषारव' शब्द

के लेख में पंक्ति के अन्त में कोष्ठों के भीतर (८. २८) संख्या दे दी गई है। केवल इसी संख्या के लिए एक पाद टिप्पणी बनाना सामान्य सिद्धान्त का एक निरर्थक-सा व्यवहार होता।

टिप्पणियों को दो कॉलमों में रक्खा गया है क्योंकि किसी भी अन्य व्यवस्था की अपेक्षा इससे पाठक उनको अधिक शीघ्रतापूर्वक ढूँढ़ सकते हैं। इन्हें प्रत्येक लेख के अन्त में उनके ठीक नीचे रक्खा गया है। केवल जहाँ अधिक बड़ा होने के कारण कोई लेख एक पृष्ठ से आगे चला गया है, टिप्पणियाँ उक्त स्थान पर नहीं रक्खी जा सकी हैं। ऐसी दशा में किसी पृष्ठ-विशेष पर उससे सम्बद्ध टिप्पणियों को ही रक्खा गया है, और केवल लेख के अन्तिम पृष्ठ पर ही उसके नीचे शेष टिप्पणियाँ दी गई हैं (उदाहरण के लिये तु० की० १. अक्ष)।

पृष्ठ-शीर्षकों को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि वह अधिकाधिक सूचनायें प्रदान करें और पाठक जो कुछ ढूँढ़ना चाहते हैं उसे शीघ्रता से पा जाँय। प्रत्येक पृष्ठ के शीर्षों पर उल्लिखित शब्दों को देखने से उस पृष्ठ पर दिये गये लेखों के विस्तार का पता लग सकता है।

अक्षरानुवाद—यहाँ जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है वह रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट-ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड द्वारा मान्य तथा अन्यत्र भी व्यवहृत हुई है। फिर भी संस्कृत से अपरिचित व्यक्तियों को इस पद्धति से संस्कृत शब्दों को व्यक्त करने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं, क्योंकि एक तो रोमन लिपि में वर्णों की अपर्याप्तता है और दूसरे एक ही ध्वनि, जैसे 'च', 'श', 'फ', 'थ', आदि को व्यक्त करने के लिये दो-दो अक्षरों का प्रयोग करना आवश्यक होता है।

मानचित्र—एक सामान्य रूप से आर्यों को ज्ञात और उनके द्वारा अधिकृत भूभाग से पाठकों को परिचित कराने के उद्देश्य से ग्रन्थ के प्रथम भाग के आरम्भ में मैंने वैदिक भारत का एक मानचित्र दिया है। यहाँ प्राचीनतम समय के—ऋग्वेदकालीन—भारतीय आर्यों का निवास-स्थान वह क्षेत्र है जिसमें सिन्धु नदी बहती है। यह क्षेत्र ३५° से २८° उत्तरी अक्षांशों और ७०° से ७८° पूर्वी देशान्तरों के बीच स्थित और मोटे रूप से वर्तमान समय के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश और पंजाब के भूभागों के अन्तर्गत आ जाता है। सम्भवतः यमुना नदी ही इस क्षेत्र की पूर्वी सीमा थी, यद्यपि गङ्गा नदी भी ज्ञात थी। बाद के वैदिक काल—बाद के वेदों और ब्राह्मणों के समय—में

भारतवासी आर्यों ने क्रमशः गङ्गा की घाटी को उसके डेल्टा-क्षेत्र तक अधिकृत कर लिया था। किन्तु ब्राह्मणों की पूर्णतया विकसित संस्कृति का गृह दक्षिण-पूर्वी दिशा में ७४° से ८५° देशान्तरों के बीच, पश्चिम में सरस्वती और दृषद्वती के संगम से लेकर पूर्व में सदानीरा और गङ्गा के उस क्षेत्र में स्थित था जो आज के युनाइटेड प्राविन्सेज (उत्तर प्रदेश) और दक्षिण-पूर्वी पंजाब के क्षेत्रों से ही मिलता जुलता है। ८५° देशान्तर के पूर्व में गङ्गा के उत्तर और दक्षिण, ब्राह्मण सभ्यता से अपर्याप्त रूप से प्रभावित वह क्षेत्र स्थित था जो आधुनिक तिरहुत और विहार के क्षेत्रों के समान है और जहाँ ही वैदिक काल के अन्त में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ था।

फिर भी मैं इस मानचित्र पर अत्यधिक निर्भरता की भावना से पाठकों को सतर्क कर देना चाहता हूँ क्योंकि मूल ग्रन्थों में ठीक-ठीक भौगोलिक वक्तव्यों के अभाव के कारण यह वहुत कुछ अनुमानों पर ही आधारित है। इसको व्यवहार में लाते समय विद्यार्थियों को *मानचित्र में आनेवाले प्रत्येक शब्द से सम्बद्ध* ग्रन्थ में दिये गये लेखों द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों का अवश्य अवलोकन करना चाहिए। अनेक वैदिक नदियों का आधुनिक नदियों के साथ समीकरण निश्चित है, किन्तु यहाँ भी यह नदियाँ प्राचीन समय में ठीक-ठीक किन क्षेत्रों से होकर वहती थीं यह अनिश्चित है। सन् १८९२ ई० के ज० अ० ओ० सो० के एक लेख में रेवर्टी ने यह दिखाया है कि ऐतिहासिक काल की अवधि तक में ही सिन्धु, पञ्जाव की कुछ अन्य नदियों और प्राचीन सरस्वती ने अपनी-अपनी धारायें वहुत कुछ परिवर्तित कर दी हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक भारत की सभी नदियाँ उत्तर के उपजाऊ मैदानों के क्षेत्र से होकर ही वहती थीं। अतः यह दक्खिन की नदियों की भाँति नहीं थीं जो पथरीली घाटियों से होकर वहने के कारण नित्य ही अपनी धारायें वदलती रहती हैं। पुनश्च, वैदिक जातियों का प्रायः सदैव ही, मूल ग्रन्थों में इतनी अस्पष्टता के साथ वर्णन किया गया है कि उनकी स्थिति का या तो केवल उन नदियों के आधार पर जिनसे उन्हें सम्वद्ध किया गया है, अथवा उस पद्धति के आधार पर जिसके अनुसार उन्हें परस्पर सम्वद्ध या वर्गीकृत किया गया है, एक लगभग सा ही निर्धारण किया जा सकता है। इस प्रकार के अनेक नामों को, उनके स्थिति-सम्वन्धी प्रमाणों के सर्वथा अभाव के कारण, मानचित्र में सम्मिलित ही नहीं किया जा सका है। इस दिशा में वैदिक साहित्य में उल्लिखित जातियों की वैदिकोत्तर-कालीन भौगोलिक स्थिति से कुछ सहायता मिल सकती है। किन्तु इस प्रकार का प्रमाण सन्दिग्ध भी हो सकता,

है क्योंकि वैदिक-काल अधिकतर देशान्तर-गमन का ही समय था और इसलिए उस समय की अनेक जातियां बाद में स्थायी रूप से बसे अपने क्षेत्रों के और उत्तर या पश्चिम में स्थित रही होंगी। फिर भी, चाहे उनके विवरण कितने भी अनिश्चित क्यों न हों, मानचित्र का सामान्य प्रमाण, आर्यों द्वारा भारत में प्रवेश के मार्ग अथवा बाद के देशान्तर-गमन की उस दिशा के सम्बन्ध में जिससे उन्होंने अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण प्रायद्वीप पर अपनी सभ्यता का प्रसार कर लिया था, सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता।

निष्कर्ष—यद्यपि ग्रन्थ का प्रथम भाग एक वर्ष पूर्व ही तैयार हो गया था, तथापि अनिवार्यत: द्वितीय भाग के अन्त में ही दी जानेवाली शब्दानुक्रमणिका के बिना उसे प्रकाशित करना मुझे सर्वथा निरर्थक प्रतीत हुआ। अत: जब तक सम्पूर्ण ग्रन्थ तैयार नहीं हो गया मैंने प्रतीक्षा करना ही अधिक अच्छा समझा। यत: मैंने और डा० कीथ, दोनों ने ही कम से कम एक-एक प्रूफ अवश्य देखा है और छपने के पूर्व प्रत्येक पृष्ठ के प्रूफ को दो बार दुहराया भी गया है, अत: केवल छोटी-मोटी अशुद्धियां ही सम्भव हैं। फिर भी मुझे आशा है कि विषय को सुविधाजनक और प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने के हम लोगों के सम्मिलित प्रयास के कारण यह ग्रन्थ न केवल शुद्धता की दृष्टि से ही वरन् विषयवस्तु की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध होगा।

ऑक्सफोर्ड

जुलाई १८, १९१२ — **ए० ए० मैकडौनेल**

संस्कृत वर्णमाला का क्रम

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ;	ए	ऐ	ओ	औ;
a	ā	i	ī	u	ū	ṛ	ṝ	ḷ	e	ai	o	au

क	ख	ग	घ	ङ;	च	छ	ज	झ	ञ;
k	kh	g	gh	ṅ	c	ch	j	jh	ñ
ट	ठ	ड	ढ	ण;	त	थ	द	ध	न;
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ	t	th	d	dh	n
प	फ	ब	भ	म;	य	र	ल	व;	श
p	ph	b	bh	m	y	r	l	v	ś

ष	स	ह
ṣ	s	h

संकेत-सारणी

अ॰ फा॰ American Journal of Philology.

अ॰ फि॰ American Journal of Philosophy

आ॰ जे॰ Altarisches Jus Gentium.

आ॰ त्सा॰ Altindisches Zauberritual

आ॰ रे॰ Archiv fur Religionswissenschaft

आ॰ रे॰ गे॰ Altdeutsches Reichs und Gerichtsverfassung

इ॰ आ॰ Indische Alterthumskunde

इ॰ फौ॰ Indogermanische Forschungen

उ॰ पु॰ Op. cit. (उद्धृत पुस्तक)

उ॰ स्था॰ loc. cit (उद्धृत स्थान)

ऊ॰ ऋ॰ Uber Methode bei Interpretation des Rigveda

ऊ॰ ज्यो॰ Uber den kedakalender namens Jyotism (1862)

ऊ॰ फौ॰ Uber die neusten Arbeiten auf dem Gebiete der Ṛgveda forschung

ऊ॰ बौ॰ Uber das rituelle Sutra des Baudhayana

ए॰ ओ॰ Actes do onzieme congress International des Orientallstes

ए॰ चा॰ Etudes sur l'astronomie Indienne et l'astronomie Chinoise

ए॰ नि॰ Erläuterungen Zum Nirukta

ए॰ रि॰ Episches im vedischen Ritual

औ॰ क॰ Ostiranische Kultur

और बाद et. seq.

गे॰ आ॰ Geschichte des Altertums

गे॰ लि॰ Geschichte der indischen Litteratur

गो॰ Gottingische Gelehrte Anzeigen

ज॰ अ॰ ओ॰ सो॰ Journal of the American Oriental Society

ज॰ ए॰ सो॰ Journal of the Royal Asiatic Society

टु॰ क॰ Tubinger kath Handschriften

ट्रा॰ ए॰ Transactions of the Berlin Academy

ट्रा॰ सा॰ Transactions of the Connecticut Academy of Arts and Sciences

ट्रा॰ सो॰ Transactions of the Cambridge Philological Society

डा॰इ॰ Das Wurfelspiel im alten Indien

डा० वी० Das altindische Neu und Vollmondsapfer

डा० हो० Das altindische Hochzeitsrituell

डी० इ० Die Literatur des alten Indien

डी० इन्ड० Die Gottesurtheile der Inder (1866)

डी० ऋ० Die Apokryphen des Ṛgveda

डी० गे० Die königliche Gewalt nach den altindischen Rechtsbüchern

डी० गो० Die Arischen Göttergestalten

डी०स्ली० Die Sociale Gliederung

डी० न० Die vedischen Nachrichten von den Naxatra, 1861

डी० वे० Die altindischer Todten und Bestattungsgebrauche

डी० व० Die Indogermanischen Verwandtschaftsnamen

ड० वे० De la Valla Poussin, Le Vedisme

डी० वो० De ceremonia apud Indos quœ Jātakarma Vocatur

डी० ह० Die lübinger kath-Handschriften

डी० हे० Die Herabkunft des Feuers und des Göttertranks

डी० हो० Die Hochzeits-gebrauche der Esten, Berlin, 1888

तु० की० Cf. (तुलना कीजिये)

त्सी० Zeitschrift

त्सी० इ० Zeitschrift für Ethnologie

त्सी० गे० Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gessellschaft

त्सी० स्प्रे० Zeitsohrift für vergleichende Sprachforschung

त्सु० वे० Zur Litteratur und Geschichte des Weda

त्स्वे० *Zwei Handschriften der K. K. Hofbibliothek in wien mit Frgmenten des kathak*

न० गो० Nachrichten der Königl, Gessellschaft der Wissenschaften zu Göttingen 1909

प्रो० अ० Proceedings of the Berlin Academy

प्रो० सो० Proceedings of the American Oriental Society

फे० Festus apud Panlum Dinconum

फे० बो० Festgruss an Boehtlingk

फे० रो० Festgruss an Roth

फे० वे० Festschrift an Weber (Gurupuja Kaumudi) Leipzig, 1896

बी० Beiträge

बी० कु० Beiträge zur indischen Kulturgeschichte

मि० Mysterium und Mimus

मि० ऋ० Mysterium und Mimus im Rigveda

रि० चा० Recherches sur l'ancienne astronomie Chinoise

रि० वे० Recherches sur l'histoire de la liturgie Vedique

रि० हि० Recherches sur quelques Problems d' Histoire

रे० रि० Revue de'l Histoire des Religions

रो० स्टा० Römisches Staatsrecht

ल० इ० Les castes dans l' Inde (1896)

ले० Les livres VIII et IX de l' Atharvaveda

व० गे० Verhandlungen der dreiunddreissigsten Versammlung deutscher Philologen und schulmänner in Gera

व० स्था० s. v. (वर्णक्रम स्थान पर)

वि० ज० Vienna Oriental Journal

वे० Vedachrestomathie

सा० ऋ० Sieg : Die Sagenstoffe des Rigveda

सी० ली० Siebenzig Lieder

से० ओ० Sedillot : Mate'riaux pour servir a' l' histoire comparee des Sciences Mathe'matiques par les Grees et les Orientaun (Paris 1845–1849)

से० बु० ई० Sacred Books of the East

हि० सं० L'histoire de la Samhita
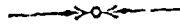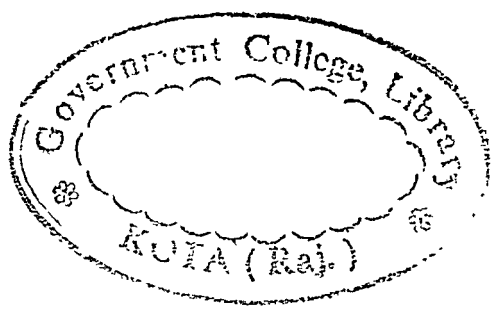
वैदिक इण्डेक्स

वैदिक इण्डेक्स

(वैदिक नामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुसूची)

अंशु—(१) ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम।
(२) वंश ब्राह्मण[2] के अनुसार *अमावास्य शाण्डिल्यायन* का शिष्य *धानंजय्य*।

[1] ८ ५, २६। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ६,१६०; हौपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १७.८९; सा० ऋ०, १२९ के अनुसार यह खेल के समतुल्य है।
[2] इण्डिशे स्टूडियन ४, ३७३।

अंहसस्पति—वाजसनेयि संहिता (७.३०; २२.३१) में यह मलमास महीने का नाम है। देखिये *मास*।

अक्र—ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर गेल्डनर[2] के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'घोड़ा' है। रौथ[3] के विचार से इसका ठीक-ठीक अभिप्राय 'सवारी के घोड़े' से है। देखिये *अश्व*।

[1] १.१४३, ७; १८९, ७; ३.१, १२; ४.६.३; १०.७७, २।
[2] वेदिशे स्टूडियन १, १६८, १६९।
[3] त्सी० गे० ४८, ११८। तु० की०, मैक्समूलर: से० बु० ई० ३२, ४१४।

1. *अक्ष*—रथ का एक भाग—'धुरा'—जिसका ऋग्वेद[1] और बाद में भी

[1] १.३०, १४; १६६.९; ३ ५३, १७; ६.१४, ३; १०.८९, ४, इत्यादि।

बहुधा उल्लेख मिलता है। प्रत्यक्षतः[२] यह रथ के ढाँचे (कोश) के साथ पट्टों या फीतों द्वारा बँधा रहता था (अक्षानह, अभिधामूलक अर्थ 'धुरी से बँधा हुआ', यों इस शब्द का अर्थ 'घोड़ा' भी[3] किया गया है)। धुरी के गरम हो जाने तथा टूट जाने से उत्पन्न संकट का भी ज्ञान था[४]। धुरे के उस भाग को जिस पर पहिये का केन्द्र घूमता है 'अणि' कहते हैं।

[२] त्सिमर ; आल्टिण्डिशे लेबेन २४६।
[3] ऋग्वेद १०.५३, ७; तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[४] ऋग्वेद १.१६४, १३।

२. अक्ष—ऋग्वेद तथा उसके बाद 'पासा' या 'गोटी' के अर्थ में इस शब्द का एकवचन और बहुवचन दोनों ही रूपों में उल्लेख मिलता है। घुड़दौड़ के अतिरिक्त 'पासा' वैदिक आर्यों के मनोरंजन का प्रमुख साधन था। परन्तु वैदिक साहित्य में इस खेल का बहुधा उल्लेख होने पर भी इसके खेलने की पद्धति के संबंध में स्पष्ट अनुमान अत्यन्त कठिन है।

(१) उपकरण या वस्तु :—सामान्यतया पासे 'विभीदक' फल के बीज के बने प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के पासों का ऋग्वेद[१] और अथर्ववेद[२] दोनों में ही उल्लेख है और इसीलिये इन्हें 'भूरे रंग का' (बभ्रु) तथा 'हवा चलनेवाले स्थान पर उपजनेवाला'[3] कहा गया है। अग्न्याधेय और राजसूय के अवसर पर सांस्कारिक रूप से खेले जानेवाले पासों की वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं मिलता। परन्तु यह संभव है कि कभी-कभी विभीदक बीजों के स्वर्ण प्रतिरूपों का प्रयोग किया जाता हो[४]। बाद में पासे[५] के लिये कौड़ियों के उपयोग का वैदिक साहित्य में स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

(२) संख्या :—ऋग्वेद[६] में पासा फेंकनेवाले को 'एक बड़े दल का नायक' (सेनानीरमहतो गणस्य) कहा गया है। एक दूसरे स्थल[७] पर संख्या को 'त्रिपञ्चाशः' कहा गया है, परन्तु इस शब्द के अनेक अर्थ किये

[१] ७.८६, ६; १०.३४, १।
[२] अथर्ववेद (पैप्पलाद) २०.४, ६।
[3] ऋग्वेद १०.३४, ५; अथर्ववेद ७.११४, ७; ऋग्वेद १०.३४, १।
[४] तैत्तिरीय संहिता १.८, ६, १२ पर सायण भाष्य, शतपथ ब्राह्मण ५ ४, ४, ६।
[५] उपर्युक्त सायण भाष्य और ऋग्वेद १.४१.९ पर सायण भाष्य; वाजसनेयि संहिता १०.२८ पर महीधर भाष्य।
[६] १०.३४, १२।
[७] १०.३४, ८।

गये हैं। लुडविग[८], वेवर[९] और त्सिमर[१०] ने इसका अर्थ 'पन्द्रह' बताया है जो कि व्याकरण की दृष्टि से कदाचित् ही सम्भव है। रौथ[११] और ग्रासमैन[१२] ने इसका अर्थ 'तिरपन' किया है। ल्यूडर्स[१३] ने इसे 'एक सौ पचीस' की संख्या माना है, परन्तु यह निर्देश भी कर दिया है कि यह एक बड़ी संख्या का अस्पष्ट अभिव्यंजक मात्र हो सकता है। अल्प संख्या के लिए त्सिमर[१४] ऋग्वेद[१५] का एक उद्धरण देते हैं जहाँ उनका उल्लेख है जो ऐसों से भयभीत होते हैं जो 'चार की संख्या धारण करते हैं' (चतुरश्चिद् ददमानात्)। परन्तु इस स्थान पर निहित आशय खेल की पद्धति से सम्बन्धित दृष्टिकोण पर निर्भर है।

(२) खेल की पद्धति :—बाद की संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक स्थलों पर पासा फेंकने से संबंधित व्याहृतियों की तालिकायें मिलती हैं। तैत्तिरीय संहिता में 'कृत', 'त्रेता', 'द्वापर', 'आस्कन्द' और 'अभिभू', नाम दिये गये हैं। वाजसनेयि संहिता[१७] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों में से 'कितव' अक्षराज को अर्पित किया गया है, 'आदि नव-दर्श' कृत को, 'कल्पिन्' त्रेता को, 'अधिकल्पिन्' द्वापर को, 'सभा-स्थाणु' आस्कन्द को। तैत्तिरीय ब्राह्मण के समानान्तर उल्लेख की तालिका में नाम हैं : 'कितव', 'सभाविन्', 'आदिनव-दर्श', 'बहिः-सद्', और 'सभा-स्थाणु'[१८], तथा 'अक्षराज', 'कृत', 'त्रेता', 'द्वापर' और 'कलि'। शतपथ ब्राह्मण[१९] से यह प्रतीत होता है कि 'कलि' का ही दूसरा नाम 'अभिभू' था और तैत्तिरीय तथा वाजसनेयि संहिताओं की सामानान्तर तालिकाओं से यह ज्ञात होता है कि 'अभिभू' और 'अक्षराज' दोनों समान हैं यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण की बाद की तालिका में दोनों ही आते हैं। पासा फेंकने के इन नामों में से कुछ का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद तक में मिलता है। कलि अथर्ववेद[२०] में

[८] उनका अनुवाद देखिये।
[९] ऊबर दास राजसूय, ७२।
[१०] आल्टिन्डिशे लेबेन २८४।
[११] ऋग्वेद १०.३४, ८ पर सायण भाष्य को स्वीकार करते हुये।
[१२] अपने अनुवाद में।
[१३] डा० इ० २५।
[१४] उ० पु० २८३।
[१५] १.४१, ९।
[१६] ४.३, ३, १.२।
[१७] ३०.१८।
[१८] ३. ४, १, १६। यह व्यक्ति पासा खेलने में पटु रहे होंगे, परन्तु नामों का ठीक-ठीक आशय अज्ञात है।
[१९] ५. ४. ४, ६।
[२०] ७. ११४, १।

आता है और ल्यूडर्स[21] यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर कृत का अर्थ भी 'फेंकने का नाम' है ('बाज़ी'[22] या 'वह, जो कुछ जीता जाय'[23] नहीं) और अथर्ववेद[24] में भी स्पष्टतः यही अर्थ पाया जाता है। साथ ही साथ पासा फेंकने (अयः) के एकाधिक प्रकार होते थे ऐसा ऋग्वेद[25] के एक स्थल द्वारा सिद्ध होता है जहाँ 'पासा फेंकने' की धनदायक या नाशक के रूप में देवों से तुलना की गई है।

पासा फेंकने का रूप अस्पष्ट है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में यह अनुमान किया गया है कि उपर्युक्त नाम या तो ४, ३, २ या १ की संख्याओं द्वारा चिह्नित पासों से या पासों के उन पार्श्वों से जिन पर ये अंक चिह्नित हों, संबंधित हैं। द्वितीय अर्थ कुछ बाद के भाष्यकारों[26] द्वारा भी पुष्ट होता है। परन्तु प्रथम अर्थ के पक्ष में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं, और द्वितीय अर्थ में भी विभीदक-बीज[27] का पासों के रूप में उपयोग उसके किसी एक पार्श्व का ठीक-ठीक ऊपर होना असम्भव कर देता है। अग्न्याधेय और राजसूय के अवसरों पर सांस्कारिक खेल[28] के वर्णन द्वारा इन व्याहृतियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। विस्तृत विवरण तो निश्चित[29] नहीं परन्तु इतना स्पष्ट है कि खेल का लक्ष्य पासों की 'जूस'संख्या प्राप्त करना होता था—सामान्यतया ऐसी संख्या जो चार से विभाजित हो जाय, और इस (संख्या) को 'कृत' कहते थे। इस प्रकार अन्य तीन प्रकार की 'फेंकों' में से जब चार से विभाजित करने

[21] उ० पु० ४३ और बाद।
[22] सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[23] ग्रासमैन का कोश।
[24] ७. ५२। देखिये ऋग्वेद १०. ४२, ९ (कृतम् विचिनोति); १०. ४३, ५; १०. १०२, २; ५. ६०, १; ९. ९७, ५८; १. १३२, १; १०. ३४, ६; १. १००, ९; ८. १९, १०।
[25] १०. ११६, ९।
[26] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १, ४ पर आनन्दगिरि; महाभारत ४. ५०, २४ पर नीलकण्ठ।
[27] ल्यूडर्स: उ० पु० १८।
[28] बौधायन श्रौतसूत्र, २. ८; ९। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५. १९, ४; २०, १; और अग्न्याधेय सम्बन्धी रुद्रदत्त का विवरण। आपस्तम्ब १८. १८, १६ और बाद में राजसूय खेल का वर्णन है, तथा तुलना कीजिये मैत्रायणी संहिता ४. ४, ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १०, ५; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, ६; कात्यायन श्रौतसूत्र १५. ७, ५, और बाद। चार के लिये 'कृत' का प्रयोग देखिये शतपथ ब्राह्मण १३. ३, २, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५, ११, १।
[29] देखिये कैलेण्ड: त्सी० गे० ६२, १२३ और बाद।

पर तीन शेष रहे तो त्रेता, दो शेष रहे तो द्वापर, और एक शेष रहने पर कलि कहा जाता था। विभाजक पाँच होने पर जिस 'फेंक' में विभाजन के पश्चात कुछ न बचे उसे कलि, चार शेष रहने पर कृत, तथा अन्य नाम उसी क्रमानुसार थे। पासों पर कोई अंक चिह्नित नहीं होता था वरन् पासों की सम्पूर्ण संख्या क्या होती थी केवल यही मुख्य था।

ऋग्वेद के अनुसार यह खेल इसी सिद्धान्त पर आधारित था इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं चाहे उसकी अन्य बातें संदिग्ध हों। प्रयुक्त पासों की संख्या निःसन्देह अधिक थी[३०]; चार[३१] प्राप्त करने की 'फेंक' और एक से हारना इस बात का संकेत करता है कि कृत जीतने वाली 'फेंक' का नाम था। दूसरी ओर अथर्ववेद[३२] के अनुसार कदाचित् जीतनेवाली 'फेंक' का नाम 'कलि' है। एक दृष्टि से सामान्य खेल सांस्कारिक खेल से अवश्य भिन्न रहा होगा। सांस्कारिक खेल में खेलनेवाले पासों की वाञ्छित संख्या को उठा लेते थे। ऐसा इसीलिये किया जाता था जिससे उन अशुभ या अमंगलकारी त्रुटियों को बचाया जा सके जो सामान्य खेल में निश्चित रूप से हो जाती थीं। सामान्य खेल में पासे फेंके[३३] जाते थे। इसकी पद्धति कदाचित् ल्यूडर्स[३४] के विचार के अनुरूप रही हो, अर्थात् एक व्यक्ति खेल के स्थान पर कोई भी संख्या फेंकता था, फिर दूसरा व्यक्ति उसी स्थान पर एक ऐसी संख्या फेंकने का प्रयत्न करता था जो पहले फेंकी संख्या के साथ जोड़ देने पर चार या पाँच से विभाजित हो जाय। इस सिद्धान्त से खेलनेवाले व्यक्ति में परिगणन की शक्ति पर, जैसा कि नल के उदाहरण से स्पष्ट है, बाद में दिये गये विशेष महत्त्व का किसी प्रकार समाधान हो जाता है।

खेलने के लिये किसी पट या तख्ते का प्रयोग किया जाता था ऐसा प्रतीत नहीं होता वरन् भूमि पर ही जहाँ पासे फेंके जाते थे एक नीचा सा स्थान (अधि-देवन, देवन,[३५] इरिण[३६]) बना लिया जाता था। पासों के लिये डब्बे या

[३०] ऋग्वेद १०. ३४, ८।

[३१] ऋग्वेद १. ४१, ९। १०. ३४, २ में हानि या क्षति का कारण 'अक्षस्य एकपरस्य' बताया गया है जो कि पाणिनि २. १, १० में दिये द्वापर के वर्णन की पुष्टि करता है।

[३२] ७. ११४, १।

[३३] ऋग्वेद १०. ३४, १, ८, ९; अथर्ववेद ४. ३८, ३१।

[३४] उ० पु० ५६।

[३५] 'अधिदेवन' अथर्ववेद ५. ३१, ६; ६. ७०, १ और मैत्रायणी संहिता १. ६, ११; ४. ४, ६ आदि में; 'देवन' ऋग्वेद १०. ४३, ५ में। पासों का भूमि पर गिरना अथर्ववेद ७. ११४, २ में निर्दिष्ट है।

[३६] ऋग्वेद १०. ३४, १।

बक्स का प्रयोग नहीं होता था, परन्तु एक स्थान (अक्ष-वपन[37]) पर पासे रखने का संकेत मिलता है। फेंकने को 'ग्रह'[38] अथवा इसके पहले 'ग्राभ'[39] कहते थे। बाज़ी (दाँव पर रक्खी वस्तु) को 'विज'[40] कहते थे। पासे के खेल में गम्भीर हार या क्षतियाँ हो सकती थीं। ऋग्वेद में एक पासा खेलनेवाला अपनी पत्नी[41] और सम्पूर्ण सम्पत्ति के हार जाने पर विलाप करता है। ल्यूडर्स[42] ने छान्दोग्य उपनिषद्[43] में इस खेल के एक भिन्न स्वरूप का उल्लेख पाया है।

[37] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ११।
[38] अथर्ववेद ४. ३८, १ और बाद; तथा देखिये ७. ११४, ५।
[39] ऋग्वेद ८. ८१, १; ९. १०६, ३।
[40] ऋग्वेद १. ९२, १०; २. १२, ५; २. १२, ४ में 'लक्ष' और कभी-कभी 'धन'। अतः ल्यूडर्स, उ० पु० १० नो० ५; ६२, नो० १, रौथ और त्सिमर, उ० पु० २८७, में (१. ९२, १०) का यह अनुवाद करते हैं : 'वह पासों को गुप्त रूप से अन्तर्ध्यान करा देता है।'
[41] ऋग्वेद १०. ३४, २; खेल में छल या कपट के लिये देखिये ऋग्वेद ५. ८५, ८; ७.८६, ६; ७.१०४, १४; अथर्ववेद ६. ११८।
[42] उ० पु० ६१।
[43] ४. १, ४; ६। हरिवंश २. ६१, ३९ पर नीलकण्ठ के अनुसार दाँव (बाज़ी) की वस्तु को दस भागों में विभक्त किया जाना था और उसमें से कलि एक लेता था; द्वापर तीन, त्रेता छः और कृत पूरे दस। परन्तु यह अर्थ अनुचित प्रतीत होता है।

तु० की० : रौथ : गुरपूजा कौमुदी १–४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २८६–२८७; ल्यूडर्स : दा० ई० कैलेण्डः त्सी० गे० ६२, १२३ और बाद। कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ८२३ और बाद।

२. *अक्ष*—छान्दोग्य उपनिषद (७. ३, १) में यह शब्द विभीदक फल के बीज का बोधक प्रतीत होता है।

अक्षत अथवा *अक्षित*—*जायान्य* से सम्बन्धित अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर एक औषधि का उल्लेख है जो ऐसे घावों के लिये है जिन्हें अक्षित या सुक्षत, अथवा कौषिक सूत्र के पाठानुसार अक्षत और सुक्षत, तथा जिसे सायण अक्षित और सुक्षित कहते हैं। ब्लूमफील्ड[2] इसका अनुवाद 'जो कि कटने के कारण न हो' और 'जो कटने के कारण हो', करते हैं। उनके पहले[3] के विचार से इन शब्दों का तात्पर्य 'घाव' या 'फोड़ा' था। ह्विटने[4] का विचार है

[1] ७. ७६, ४।
[2] अथर्ववेद के सूक्त १७. ५६२।
[3] ज० अ० ओ० सो० १३, ११७, और बाद।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद ४४२।

कि इनका (शब्दों का) तात्पर्य जायान्य के ही दो प्रकारों से है। लुडविग[५] सायण के साथ ही अचित पढ़ते हैं और इसका अनुवाद 'जो कि अपाहिजों में पूरी तरह अवस्थित हो' करते हैं। त्सिमर[६] इसे 'क्षत' नामक व्याधि मानते हैं।

[५] ऋग्वेद का अनुवाद ३. ५००। | [६] आल्टिण्डिशे लेबेन ३७७।

अक्षावपन—देखिये *अक्ष*।

अक्षु—यह शब्द अथर्ववेद[१] के दो और ऋग्वेद[२] के एक स्थल पर मिलता है। रौथ[३] इसका अनुवाद 'जाल' करते हैं, जबकि बौटलिङ्क[४] के विचार से यह 'गाड़ी का धुरा' है। गेल्डनर[५] इसे एक लट्ठा या खम्भा मानते हैं जिसका तात्पर्य मछुओं के जाल में प्रयुक्त होनेवाले लट्ठों[६], गाड़ी[७] में लगे लट्ठों या खम्भों और घरों में लगे स्तम्भों से है, परन्तु ये खड़े हों या बेंड़े इसका निदर्शन अनिश्चित छोड़ देते हैं (देखिये *वंश*)[८]। ब्लूमफील्ड[९] इसे बेंत या बाँस की बनी चटाई का छाजन मानते हैं जो 'धरन' (शहतीर) के ऊपर बेंड़े-बेंड़े फैलाई जाती है और खपरैल की छप्पर की भाँति दोनों ओर ढालू रहती है। यही विचार इसके लिये प्रयुक्त विशेषण 'सहस्रनेत्र' (असंख्य छिद्रों वाला) का सर्वोचित स्पष्टीकरण है। अथर्ववेद के दूसरे स्थल[१०] पर ब्लूमफील्ड इसका आशय 'जाल' स्वीकार करते हैं, साथ ही यह सन्देह भी व्यक्त करते हैं कि ऋग्वेद में प्रयुक्त यह शब्द कहीं विशेषण (अ-क्षु) तो नहीं है जैसा सायण ने माना है। गृह भी देखिये।

[१] ८. ८, १८ (अक्षुजालाभ्याम्);
९. ३, १८।
[२] १. १८०, ५।
[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[४] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[५] वेदिशे स्टूडियन १, १३६।
[६] अथर्ववेद ८. ८, १८।
[७] अथर्ववेद १. १८०, ५।
[८] ९. ३, १८।
[९] अथर्ववेद के सूक्त, ५९८।
[१०] अथर्ववेद ८. ८, १८।
तुलना कीजिये :
त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन १५३, २५५; व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद ५०६, ५२६; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन, १, १७९।

अगस्ति—*अगस्त्य* के नाम का यह रूप अथर्ववेद[१] में एक बार मिलता है जहाँ यह मित्र और वरुण के प्रियपात्र के रूप में आता है।

[१] ४. ९, ३; तु० की० सीग : सा० ऋ० १२७, नो० ५।

अगस्त्य—पौराणिक व्यक्तित्ववाले एक ऋषि का नाम जो बाद के साहित्य में प्रमुख स्थान रखता है। यह एक *मान*[1] था अतः इसका नाम *मान्य*[2] पड़ा और इसे मान का पुत्र कहा जाता था। मित्र और वरुण का पुत्र होने की इसकी बाद में प्रचलित कथा का केवल एक संकेत[3] उपलब्ध है।

इसका सर्वश्रेष्ठ कौशल इन्द्र और मरुतों में समझौता कराना था जब कि इन्द्र को छोड़कर केवल मरुतों को ही पूजा अर्पित करने के इसके प्रस्ताव से इन्द्र रुष्ट हो गये थे। इसका यह कौशल ऋग्वेद[4] के तीन सूक्तों का विषय है और ब्राह्मण ग्रन्थों[5] में भी इसका अवसर उल्लेख है, यद्यपि इस कथा के वास्तविक विवरण और महत्व के सम्बन्ध में औल्डेनबर्ग,[6] सीग,[7] हर्टेल[8] और फान श्रोडर[9] के अलग-अलग मत हैं।

ऋग्वेद[10] में लोपामुद्रा के साथ एक विचित्र वार्त्तालाप में भी यह आता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक ऋषि है जो कि अन्ततोगत्वा प्रलोभन के आगे झुक जाता है। फान श्रोडर[11] इसे वानस्पत्य इन्द्रजाल का एक सांस्कारिक नाटक मानते हैं।

ऋग्वेद[12] के एक अन्य स्थल पर यह अश्विनों द्वारा विश्पला को एक पैर की भेंट देने में सहायता करता हुआ प्रतीत होता है। सायण के मतानुसार यह *खेल* का पुरोहित था। सीग[13] इसी मत को स्वीकार करते हैं, जबकि पिशल[14] का विचार है कि खेल विवस्वन्त नामक एक देवता है।

[1] ऋग्वेद ७. ३३, १० (अगस्त्य), १३ (मान)।

[2] ऋग्वेद १. १६५, १५ = १६६, १५ = १६७, ११ = १६८, १०; १६५, १४; १७७, ५; १८४, ४ (मान्य); १. १८९। ८; ११७, ११ (मानस्य सूनु)।

[3] ऋग्वेद ७. ३३, १३; तुलना कीजिये गेल्डनर : वैदिशे स्टूडियन २, १३८ और बाद।

[4] ऋग्वेद १. १६५; १७०; १७१।

[5] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ५, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ११, १; मैत्रायणी संहिता २. १, ८; काठक संहिता १०-११; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १४, ५; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १६; कौषीतकि ब्राह्मण २६. ९।

[6] त्सी० गे० ३९, ६० और बाद।

[7] सा० ऋ० १०८-११९।

[8] वि० ज० १८, १५२-१५४।

[9] मि० ऋ० ९१ और बाद।

[10] १. १७९। तु० की० सीग : उ० पु० १२०-१२६; औल्डेनबर्ग उ० पु० ६६-६८।

[11] उ० पु० १५६-१७२।

[12] १. ११७. ११; तु० की० १. ११६, १५।

[13] उ० पु० १२८।

[14] वैदिशे स्टूडियन २, १७१-१७३।

गेल्डनर[15] ऋग्वेद[16] के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वशिष्ठ के भ्राता के रूप में अगस्त्य—दोनों ही मित्र और वरुण के अद्भुत पुत्र माने गये हैं—*वशिष्ठ* का *त्रित्सुस्* से परिचय कराते हैं। ऋग्वेद में अगस्त्य के सम्बन्ध में दो अन्य संकेत भी हैं। एक स्थान[17] पर पुरुषों की एक लम्बी तालिका में इनका नाम भी सम्मिलित है। दूसरे स्थान पर इनके (अगस्त्य के) भगिनी-पुत्र (नदभ्यः),[18] प्रत्यक्षतः *वन्धु* आदि का संकेत है। अथर्ववेद[19] में यह अभिचार (इन्द्रजाल) से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं और इनका नाम ऋषियों[20] की एक लम्बी तालिका में आता है। मैत्रायणी संहिता[21] में इन्हें कानों पर एक विचित्र चिह्नवाली (विष्टय-कर्ण्यः) गायों से संबंधित बताया गया है।

[15] वैदिशे स्टूडियन २, १३८, १४३।
[16] ऋग्वेद ७. ३३, १०, १३।
[17] ७. ५, २६। सीग, १२८ के विचार से यह 'खेल' कथा से संबंधित है।
[18] १०. ६०, ६।
[19] २. ३२, ३; ४. ३७, १। कदाचित् इसी कारण ऋग्वेद अनुक्रमणी एक ऐन्द्रजालिक सूक्त (ऋग्वेद १. १९१) को इनसे संबंधित बताता है।
[20] १८. ३, १५।
[21] ४, २, ९; तु० की०, लुडविड : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११७; सीग : सा० ऋ० १६–१२८; मैकडौनेल : बृहद्देवता, २, १३६ और बाद; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २२१; ऋग्वेद नोटेन १, ११०।

अगार—यह दुर्लभ शब्द कौषीतकि उपनिषद्[1] में 'गृह' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[1] २. १५। देखिये 'आगर' (कोठरी ?) अथर्ववेद ४. ३६, ३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४०७। आश्वलायन गृह्य-सूत्र १. ७, २१ में भी 'अगार' आता है।

अग्नि-दग्ध—इस विशेषण (आग से जला हुआ)[1] का प्रयोग उन मृतकों के लिये होता था जो चिता पर जला दिये जाते थे। यह मृतकों का संस्कार करने की दो विधियों में से एक है। दूसरी विधि है भूमि में गाड़ना (अन-अग्निदग्धाः, 'जो आग से न जलाया गया हो)।[2] अथर्ववेद[3] इनके अतिरिक्त दाह संस्कार की दो और विधियों का उल्लेख

[1] ऋग्वेद १०. १५, १४ ; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, १, ७, दग्धाः, अथर्ववेद १८. २, ३४।
[2] ऋग्वेद उ० स्था० = निखाताः; अथर्ववेद १८. २, ३४।
[3] उ० स्था०।

करता है, जैसे परित्याग (परोप्ताः), और मृतकों को खुले मैदान में छोड़ देना (उद्धिताः)। इन व्याहृतियों का वास्तविक आशय संदिग्ध है। त्सिमर[४] के मतानुसार प्रथम व्याहृति (परोप्ताः) का आशय ईरानियों द्वारा मृतकों को जानवरों के खाने के लिए परित्याग कर देने की पद्धति के समकक्ष है; और दूसरी का आशय निःसहाय[५] वृद्धों को निराश्रित मरने के लिये छोड़ देने से है। व्हिटने[६] के अनुसार दूसरी व्याहृति का तात्पर्य मृतक शव को किसी प्रकार के ऊँचे चबूतरे पर खुला छोड़ देने से है।

गाड़ने की विधि प्रत्यक्षतः ऋग्वैदिक काल में दुर्लभ नहीं थी। एक सम्पूर्ण सूक्त[७] इससे संबंधित संस्कारों का वर्णन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत व्यक्ति अपने संपूर्ण परिधान सहित गाड़ा जाता था। उसका धनुष उसके हाथ में रहता था और सम्भवतः जंगली जातियों में प्रचलित प्रथानुसार एक बार उसकी पत्नी भी मृतक शव के साथ जाने के लिये विवश की गई थी। परन्तु वैदिक काल में दोनों ही प्रथायें एक परिष्कृत रूप में प्रकट होती हैं : मृतक के हाथ से उसका पुत्र धनुष ले लेता है और विधवा अपने पति के शव के पास से उसके भाई अथवा अन्य किसी निकट सम्बन्धी द्वारा अलग हटाई जाती है। मृत और जीवित व्यक्तियों को अलग करने के लिये उनके बीच में एक पत्थर गाड़ दिया जाता था। ऋग्वेद में तो नहीं परन्तु अथर्ववेद[८] में शव रखने के बक्स (वृक्ष) का भी उल्लेख है। दोनों संहिताओं[९] में 'धरती के घर' (भूमि-गृह) के अन्य संकेत भी मिलते हैं। जलाने और गाड़ने की प्रत्यक्ष असंगति का निराकरण करने के लिये यह मानना कि गाड़ने का सम्बन्ध जलाये हुये व्यक्तियों की अस्थियाँ गाड़ने से है, जैसा कि ओल्डेनबर्ग[१०] का विश्वास है, अनावश्यक और असम्भव है; क्योंकि जलाने और गाड़ने की दोनों ही प्रथायें यूनान में भी वर्षों तक साथ-साथ प्रचलित थीं।

तथापि जलाना उतना ही प्रचलित था और क्रमशः इसके प्रसार में वृद्धि होती गई क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद्[११] में मृतक शरीर को परलोक प्राप्त कराने के लिये दही (आमिक्षा) और वस्त्रालंकारों से सजाने को सदोष और त्रुटिपूर्ण

[४] अल्टिण्डिशे लेबेन ४०२।
[५] ऋग्वेद ८. ५१, २।
[६] अथर्ववेद का अनुवाद ८४१।
[७] १०. १८। ५. ८ का अर्थीकरण एक प्रसिद्ध जटिलता है, देखिये पटनी।
[८] १८. २, २५; ३, ७०।
[९] ऋग्वेद ७. ८९, १; अथर्ववेद ५. ३०, १४; १८. २, ५२।
[१०] रिलीजन देस वेदा ५७१।
[११] ८. ८, ५।

बताया गया है; तथा वाजसनेयि संहिता[12] के अन्त्येष्टि संबंधी मंत्रों का आशय भी केवल जलाना ही है। इस स्थान पर जो पद गाड़ने का उल्लेख करते हैं उनका आशय वास्तव में गाड़ने के स्थान (श्मशान)[13] पर राख या अस्थियाँ गाड़ना है। जैसा कि ऋग्वेद के अन्त्येष्टि सूक्त से प्रकट होता है, शव में तेल[14] का लेप कर दिया जाता था तथा परलोक में उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिये सम्भवतः एक बकरा उसके साथ जला दिया जाता था[15]। अथर्ववेद[16] के अनुसार एक अर्पित बैल कदाचित् इसलिये उसके साथ जलाया जाता था जिससे वह (मृतक) परलोक में उस पर सवारी कर सके। यह आशा की जाती थी कि मृतक अपने सम्पूर्ण शरीर तथा हाथ-पैरों के साथ (सर्व-तनूः साङ्गः)[17] पुनरुज्जीवित हो जायगा यद्यपि यह भी कहा गया है[18] कि नेत्र सूर्य के पास चले जाते हैं, श्वास वायु के पास, इत्यादि।

जलाने या गाड़ने के पूर्व शव को नहलाया जाता था[19] और मृतक को इस संसार में पुनः लौटने से रोकने के लिये[20] उसके पैरों में एक प्रतिबंधन, (कूदी) बाँध दिया जाता था।

[12] ३५। तु० की० कौशिक सूत्र ८० और बाद, जो कि अथर्ववेद १८, १–३ सूक्त का आशय केवल जलाना मानता है।

[13] अथर्ववेद ५. ३१, ८; १०. १, १८; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ८, ५; ४. ११, ३।

[14] ऋग्वेद १०. १६, ७।

[15] ऋग्वेद १०. १६, ४। परन्तु 'अज' का अर्थ 'अनुत्पन्न भाग' भी हो सकता है जैसा कि वेबर मानना उपयुक्त समझते हैं, प्रो० अ० १८९५, ८४७।

[16] १२. २, ४८।

[17] शतपथ ब्राह्मण ४, ६, १, १; १.११, ८, ६; १२. ८, ३, ३१।
तु० की० अथर्ववेद ११. ३, ३२। कदाचित् यह तथ्य ऋग्वेद १०. १६, ५ में 'शेष' के प्रयोग का स्पष्टीकरण कर देता है। मृतक परलोक में लैंगिक सुख का भी आनन्द लेते हैं; देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट ५, ३०७, नो० ४६२।

[18] ऋग्वेद १०. १६, ३।

[19] अथर्ववेद ५. १९, १४।

[20] अथर्ववेद ५. १९, १२; देखिये रौथ : फे० वो० ९८; ब्लूमफील्ड : अ० फि० १२, ४१६।

[21] तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन ४०१-४०७; रौथ : त्सी० गे० ८, ४६८ और बाद; सीवेनज़िग लीडर : १५० और बाद; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेदा ५७० और बाद; वैलेण्ड : डी० वे०; फान श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उण्ट कल्चर ४० ४२; हिलेब्रान्ट : वैदिशे माईथौलोजी ३, ४१३-४२३; रिचुअल लिटरेचर ८७ और बाद; मैकडौनेल : वैदिक माईथौलोजी १६५, १६६; प्रो० अ० १८९५, ८१५ और बाद।

अग्नि-भू काश्यप—वंश ब्राह्मण[1] में इन्द्र भू काश्यप के शिष्य के रूप में इसका उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७४।

अग्नि-शाल—यह शब्द जो यज्ञीय उपकरण[1] के एक भाग का द्योतक है, अथर्ववेद[2] में सामान्य गृह के एक खण्ड—सम्भवतः उसके केन्द्रीय कक्ष के लिये प्रयुक्त हुआ है जहाँ अग्नि स्थान होता है।

[1] वाजसनेयि संहिता १९. १८।
[2] ९. ३, ७; तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ५८८; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १५४।

अघा—(एक नक्षत्र)—ऋग्वेद[1] के विवाह सूक्त में यह कहा गया है कि अघा में गायों का वध किया जाता है और *अर्जुनी* (द्वन्द्व) में विवाह सम्पन्न होता है। अथर्ववेद[2] इसके स्थान पर सामान्य *मघाओं* का प्रयोग करता है। इस निष्कर्ष का लोभ संवरण करना असम्भव है कि जीवों के वध में पाप (अघ) निहित होने के कारण ऋग्वेद (में इस शब्द) का पाठ जान-बूझकर परिवर्तित कर दिया गया है। अथवा यह भी सम्भव है कि 'गाय' के एक नाम 'अघ्न्या' से इसका (अघा का) वैभिन्न्य स्पष्ट करने की इच्छा से ऐसा किया गया हो। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में भी ऐसा आता है कि 'मघा को स्वाहा', 'अघा को स्वाहा'। *नक्षत्र* भी देखिये।

[1] १०. ८५, १३।
[2] १४. १, १३।
[3] ३. १, ४, ८। तु० की० वेबर: नक्षत्र, २, ३६४; प्रो० अ० १८९४, ८०४; जेकोबी: फे० रौ० ६९; विन्टरनिज़, हा० हो० ३२; व्हिटने: अथर्ववेद का अनुवाद ७४२; थिबो: इन्डियन ऐन्टिकेरी २४, ९५।

अघाश्व—अथर्ववेद[1] में एक सर्प का नाम।

[1] १०. ४, १०; तु० की०: त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ९५।

अ-घ्न्या—देखिये *मांस*।

अङ्क—तैत्तिरीय संहिता[1] और ब्राह्मण[2] रथ के हिस्सों के रूप में दो अङ्कों और दो न्यङ्कों का उल्लेख करते हैं। इन शब्दों का अर्थ पूर्णतया अस्पष्ट है। भाष्यकार इन्हें पहियों के दोनों पार्श्वों से सम्बद्ध करते हैं। त्सिमर[3]

[1] १. ७, ७, २।
[2] २. ७, ८, १; देखिये पञ्चविंश ब्राह्मण १. ७, ५।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन २५१, २५२।

यूनानी शब्द avtvyes[४] से इसकी तुलना करते हैं, साथ ही साथ यह मत व्यक्त करते हैं कि अङ्कु रथ के ऊपरी भाग (कोश, वन्धुर) को कहते हैं और न्यङ्कु विशेष सुरक्षा के लिये निर्मित निचले किनारों को। औल्डेनवर्ग[५] यह स्वीकार करते हैं कि इनका ठीक-ठीक आशय जान सकना असम्भव है, फिर भी उनका विचार है कि ये शब्द रथ के हिस्सों तथा देवों के द्योतक हैं। परन्तु बौटलिङ्क[६] इन्हें केवल देवों से ही सम्बन्धित मानते हैं।

[४] इलियड ५. ७२८ । तु० की० : स्मिथ : डिक्शनरी ऑफ एन्टिक्विटीज् १, ५७८ ।

[५] से० बु० ई० २९, ३६४ ; पारस्कर गृह्य सूत्र ३. १४, ६ ।

[६] डिक्शनरी ।

अङ्ग—अथर्ववेद में यह नाम *गान्धारी*, *मूजवन्त* और *मगध* नामक अलग अलग जातियों के सम्बन्ध में केवल एक बार ही आता है। गोपथ ब्राह्मण[२] में भी यह यौगिक नाम अङ्ग-मगधाः के रूप में आया है। बाद के समय में ये जातियाँ सोन और गङ्गा[३] के किनारे बस गईं परन्तु इनका पहले का निवास-स्थान भी सम्भवतः यहीं था। *वङ्ग* भी देखिये।

[१] ५. २२, १४ ।

[२] २. ९ ।

[३] तु० की० : त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३५ ; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४४६, ४४९ ; पार्जिटर : ज० ए० सो० १९०८, ८५२, इन्हें अनार्य मानते हैं जो समुद्रपार से पूर्वी भारत में आये थे। परन्तु वैदिक साहित्य में इस मत पर प्रकाश डालने वाली कोई सामग्री नहीं।

अङ्ग-वैरोचन—ऐतरेय ब्राह्मण[१] में अभिषिक्त राजाओं की तालिका में इसका नाम भी सम्मिलित है। *उदमय* नामक आत्रेय इसका पुरोहित था।

[१] ८. २२; तु० की० औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २५४ ।

अङ्गारावक्षयण—सन्दिग्ध अर्थ का यह शब्द बृहदारण्यक उपनिषद्[१] में आया है। मैक्समूलर और बौटलिङ्क ने इसका अनुवाद 'कंकमुख' किया है। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश के अनुसार इसका अर्थ 'एक ऐसा बर्तन जिसमें कोयला बुझाया जाता है' दिया गया है। मौनियर विलियम्स इसे 'कोयला बुझाने का उपकरण' मानते हैं। संक्षिप्त पीटर्सवर्ग कोश में इसका अर्थ 'बेलचा' या 'कंकमुख' दिया है। तुलना कीजिये *उल्मुकावक्षयण*।

[१] ३. ९, १८ ।

अङ्गिरस्—अङ्गिरसादि ऋग्वेद[१] में अर्ध-पौराणिक व्यक्तियों के रूप में

[१] तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माईथौलोजी, २, १५६–१६९ ।

आते हैं और उन स्थलों[2] पर भी जहाँ अङ्गिरस् जाति के पिता का अस्तित्व स्वीकार किया गया है इसे वास्तविक ऐतिहासिक पात्र नहीं माना जा सकता। तथापि, बाद में निश्चय ही अङ्गिरस् परिवारों का अस्तित्व था जिनकी सांस्कारिक प्रथाओं (अयन, द्विरात्र) का उल्लेख[3] मिलता है।

अङ्गुष्ठ—आकार या विस्तार नापने के मापदण्ड के अर्थ में यह शब्द काठक उपनिषद् (४. १२; ६. १७) में आता है।

[2] ऋग्वेद १. ४५, ३ ; १३९, ९; ३. ३१, ७ आदि; छान्दोग्य उपनिषद् १. २, १०

[3] अथर्ववेद १८. ४, ८, परन्तु यह पौराणिक हो सकता है। पञ्चविंश ब्राह्मण २०. ११, १; तैत्तिरीय संहिता ७. १, ४, १। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माईथौलोजी १४२, १४३।

अच्युत्—जैमिनीय ब्राह्मण[1] में वर्णित विभिन्दुकीयों द्वारा मनाये गये सत्रोत्सव में इन्होंने प्रतिहर्तृ का कार्य किया था।

[1] ३. २३३। देखिये ज० अ० ओ० सो० १८, ३८।

अज, अजा—ऋग्वेद[1] और बाद के साहित्य में यह बकरे का सामान्य नाम है। बकरे को *वस्त, छाग* और *छागल* भी कहा गया है। बकरे और भेड़ (अजावयः) का अनेक स्थानों पर साथ-साथ[2] उल्लेख है। बकरी के दो या तीन बच्चे देने[3] का उल्लेख मिलता है और बकरी का दूध भी सुपरिचित[4] है। मृतक संस्कार[5] के समय पूषन् के प्रतिनिधि के रूप में बकरे का विशेष महत्त्व है। बकरा पालने का कार्य (अजपाल) एक प्रचलित व्यवसाय था और इसे गो-पालन तथा भेड़-पालन[6] से भिन्न माना जाता था।

[1] 'अज' ऋग्वेद में १०. १६, ४; १. १६२, २–४; अथर्ववेद में ९. ५, १; वाजसनेयि संहिता में २१. ९ इत्यादि; 'अजा' ऋग्वेद में ८, ७०, १५; अथर्ववेद में ६. ७१, १; वाजसनेयि संहिता में २३. ५६ इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १०. ९०, १० ; अथर्ववेद ८. ७, २५ ; वाजसनेयि संहिता ३, ४३, इत्यादि।

[3] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, १।

[4] तैत्तिरीय संहिता ४. १, ६, १; ५. १, ७, ४; तु० की० हिलेब्रान्ट : वैदिशे माइथौलौजी ३, ३६४, नो० ४।

[5] ऋग्वेद १०. १६, ४, आदि। तुलना कीजिये पृष्ठ ९।

[6] वाजसनेयि संहिता ३०. ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ९, १।

अज—अजादि ऋग्वेद[1] के एक मंत्र में *सुदास्* के अधीनस्थ *त्रित्सुस्* द्वारा

[1] ७. १८, १९।

परास्त किये गये नाम के रूप में आते हैं। वहाँ *यक्षुस्* और *शिग्रुस्* के साथ इनका उल्लेख है। इस पर त्सिमर[2] का अनुमान है कि सुदास् के विरुद्ध भेद के नेतृत्व में इन्होंने एक संयुक्त संघ बनाया था। इस नाम को जातीय चिह्न[3] का द्योतक भी माना गया है परन्तु यह अत्यन्त अनिश्चित है। ये आर्य थे अथवा अनार्य यह कहना भी असम्भव है।

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन १२७। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७३।

[3] तु० की० : मैकडौनेल : वैदिक माईथौलोजी १५३; कीथ : ज० र० सो० १९०७, ९२९; ऐतरेय आरण्यक २००, २१; रिसले : पीपुल्स आफ इण्डिया, ८३ और बाद।

अजकाव—विषैले बिच्छू का यह नाम ऋग्वेद[1] में एक बार आता है।

[1] ७, ५०, १। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन ९९

अजगर (बकरा ग्रसने वाला)—यह अथर्ववेद[1] में आता है और अश्वमेध[2] अथवा अश्वबलि से संबंधित पशुओं की तालिका में अजगर (बड़े-सर्प) के लिये प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र[3] इसे 'वाहस' कहा गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में यह सर्प-भोजनोत्सव से संबंधित एक व्यक्ति का द्योतक है।

[1] ११, २, २५; २०, १२९, १७;

[2] तैत्तिरीय संहिता ५, ५, १४, १; मैत्रायणी संहिता ३, १४, १९; वाजसनेयि संहिता २४, ३८;

[3] तैत्तिरीय संहिता ५, ५, १३, १; वाजसनेयि संहिता २४, ३४;

[4] २५, १५ में अजगाव के रूप में, जिससे अजकाव की तुलना कीजिये।-

अज-मीढ—अजमीढादि अथवा अजमीढ के वंशजों का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उल्लेख है। इस पैतृक-नाम के प्रयोग के कारण लुडविग[2] और औल्डेनबर्ग[3] का निष्कर्ष है कि अजमीढ उक्त सूक्त का द्रष्टा है।

[1] ४, ४, ६;

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२३, १३५;

[3] त्सी. गे. ४२, २१५;

अज-शृङ्गी—यह पौधा (बकरे की सींघ) जिसे भाष्यकार ने विषाणिन् से समीकृत किया है, अथर्ववेद[1] में असुर—नाशक के रूप में प्रख्यात है। इसका दूसरा नाम *अराटकी*[2] है। वेबर[3] के विचार से यह (Prosopis spicigera) अथवा (Mimosa suma) है।

[1] ४. ३७। [2] ४. ३७, ६।

[3] इन्डिशे स्टूडियन १८. १४४; तु० की० ब्लूमफील्डः अथर्ववेद के सूक्त ४०८, ४०९; त्सिमरः आल्टिण्डिशे लेबेन ६८; कैलेण्डः आल्टिण्डिशे त्सावर रिचुअल ८९।

अजात-शत्रु—बृहदारण्यक[1] और कौषीतिक[2] उपनिषदों में इनका काशी (काश्य)-राज के रूप में उल्लेख है, जहाँ यह एक अभिमानी ब्राह्मण बालाकि को ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश देते हैं। बौद्ध[3] ग्रन्थों के अजातशत्रु से इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

[1] २. १, १।
[2] ४. १।
[3] तु० की० : वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. २१३; हौर्नले : औस्टिपौलोजी १०६; कीथ : त्सी० गे० ६२, १३८

अज्ञात-यक्ष्मा—अथवा 'अज्ञात व्याधि' का ऋग्वेद[1], अथर्ववेद[2] और काठक संहिता[3] में उल्लेख मिलता है। राज यक्ष्मा के सम्बन्ध में इसकी भी चर्चा है। ग्रौहमैन[4] का विचार है कि ये दोनों दो प्रकार की, अतिवृद्धि और अवृद्धि सम्बन्धी व्याधियाँ हैं तथा ऋग्वेद के उक्त मन्त्र का उद्देश्य सभी व्याधियों को दूर करना है। अथर्ववेद[5] में ग्रौहमैन इसका *बलास* से सादृश्य स्थापित करते हैं। परन्तु त्सिमर[6] इस निष्कर्ष को अनुचित मानते हुये इस व्याधि की प्रकृति को, जिसका अपने नाम के साथ ही सादृश्य है, अनिश्चित छोड़ देते हैं।

[1] १०. १६१, १ = अथर्ववेद ३. ११, १।
[2] ६. १२७, ३।
[3] १३. १६।
[4] इन्डिशे स्टूडियन ९, ४००।
[5] ६. १२७, ३।
[6] आल्टिन्डिशे लेबेन ३७७, ३७८; तु० की० : ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३४२; अथर्ववेद ६०; जौली: मेडिसिन (बूलर के विश्वकोश में) ८९।

अजिन—सामान्यतया यह शब्द मृग[1] तथा बकरे (अज)[2] के चर्म का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण[3] में चर्म का परिधान के रूप में उपयोग "चर्म पहने हुये" (अजिन-वासिन्) विशेषण स्पष्ट है और रोम-चर्म के व्यापार का वाजसनेयि संहिता[4] में उल्लेख है। मरुतादि भी मृग चर्म[5] पहनते थे और ऋग्वेद के एक अर्वाचीन सूक्त[6] के अरण्यवासी (मुनि) भी चर्म परिधान वेष्ठित (*मल*) प्रतीत होते हैं।

[1] अथर्ववेद ५. २१, ७।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. २, १, २१. २४।
[3] ३. ९, १, १२।
[4] ३०; १५ (अजिन-संध); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, १३, १ (अजिन-संधाय)।
[5] ऋग्वेद १. १६६, १०।
[6] १०. १३६, २; तु० की० त्सिमर: आल्टिण्डिशे लेबेन २६२।

अजिर—यह पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के सर्पोत्सव के अवसर पर सुब्रह्मण्य पुरोहित था।

[1] २५. १५। देखिये वेबरः इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

अजीगर्त सौयवस—ऐतरेय ब्राह्मण[1] की प्रसिद्ध कथा में *शुनःशेप* के पिता का नाम है जहाँ वेबर[2] के अनुसार यह उस अवसर के लिये ही आविष्कृत किया गया है।

[1] ७. १५; १७; तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र २५. १९।

[2] इन्डिशे स्टूडियन १, ४६०; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

अज्येयता—देखिये *ब्राह्मण*

अणीचिन् मौन—कौषीतकि ब्राह्मण[1] में इनका संस्कारों के अधिकारी विद्वान् तथा *जाबाल* और *चित्रगौश्रायणि* अथवा *गौश्र* के समकालीन के रूप में उल्लेख है।

[1] २३. ५।

अणु—वाजसनेयि संहिता[1] और बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में यह एक कृषित अनाज, कदाचित् Panicum miliaceum का नाम है।

[1] १८. १२;

[2] २६. ३, १३ (काण्व) जहाँ द्विवेदी की टिप्पणी भी देखिये।

अतिथि—अथर्ववेद[1] का एक सूक्त आतिथ्य-सत्कार के गुणों की महिमा का विस्तृत वर्णन करता है। अतिथि को गृहपति के पहले ही भोजन कराना और उसके लिये जल की व्यवस्था करना चाहिये, इत्यादि। तैत्तिरीय उपनिषद्[2] भी "अतिथि-देव" व्याहृति का प्रयोग करते हुये आतिथ्य सत्कार के महत्त्व पर जोर देता है। ऐतरेय आरण्यक[3] में कहा गया है कि केवल साधुजन (अच्छे लोग) ही आतिथ्य सत्कार के योग्य होते हैं। अतिथियों को उपहार देना संस्कार[4] का एक नियमित अंग था और अतिथि-सम्मान[5] में नियमित रूप से गोवध किया जाता था।

[1] ९. ६।

[2] १. ११, २।

[3] १. १, १।

[4] शतपथ ब्राह्मण ७. ३, २, १।

[5] तु० की०: ब्लूमफील्ड : अमेरिकन जर्नल ऑफ फाइलौलोजी १७, ४२६; हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर, ७९।

अतिथि-ग्व—यह नाम ऋग्वेद में बहुधा आता है और प्रायः सभी अवसरों पर एक ही राजा के लिये प्रयुक्त हुआ है, अन्यथा जिसका नाम

दिवोदास है। बर्गेन[1] इन दोनों व्यक्तियों का तादात्म्य अस्वीकार करते हैं। परन्तु अनेक स्थलों और जहाँ *शम्बर* की पराजय के सम्बन्ध में दोनों ही नाम साथ-साथ[2] आये हैं यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है। अन्य स्थलों[3] पर पर्ण्य और करञ्ज का वध करने में अतिथिग्व द्वारा इन्द्र की सहायता करने का उल्लेख है। कहीं-कहीं इस (अतिथिग्व) का संकेत अस्पष्ट है[4] परन्तु एक बार[5] इसे तुर्वश और यदु का शत्रु भी कहा गया है। अन्यत्र[6] अतिथिग्व को *आयु* और *कुत्स* के साथ *तूर्वयाण* द्वारा पराजित दिखाया गया है।

दानस्तुति[7] में एक दूसरे ही अतिथिग्व का संकेत प्रतीत होता है जहाँ उसके पुत्र इन्द्रोत का उल्लेख है।

रौथ[8] तीन अतिथिग्व मानते हैं—अतिथिग्व दिवोदास, पर्ण्य और करञ्ज का शत्रु, और तूर्वयाण का शत्रु। परन्तु भिन्न स्थलों में एकीकरण स्थापित किया जा सकता है और मुख्यतः जब यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि अतिथिग्व दिवोदास आदिकालीन सूक्तों तक में एक प्राचीन योद्धा माना गया है जो प्रायः पौराणिक हो चला था।

[1] रिलीजन वैदिके २. ३४२ और बाद।
[2] ऋग्वेद १. ५१, ६; ११२, १४; १३०, ७; ४. २६, ३; ६. ४७, २२।
[3] ऋग्वेद १. ५३, ८; १०. ४८, ८।
[4] ऋग्वेद ६. २४, ३।
[5] ऋग्वेद ७. १९, ८। इस बात को मानने का कोई आधार नहीं कि यहाँ किसी बाद के अतिथिग्व का उल्लेख है।
[6] ऋग्वेद १. ५३, १०; २. १४, ७; ६.१८, १३; ८. ५३, २।
[7] ऋग्वेद ८. ६८, १६. १७।
[8] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२३; ब्लूमफील्ड अ० फा० १७, ४२६ इस नाम का अनुवाद 'अतिथियों को गो-उपहार देना' करते हैं।

अति-धन्वन् शौनक—छान्दोग्य उपनिषद्[1] और वंश ब्राह्मण[2] में इनका एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] १. ९, ३।
[2] इन्डिश स्टूडियन ४. ३८४।

अतृणाद—यह शब्द ("घास न खाना") बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार एक नवजात बछड़े[1] के लिये प्रयुक्त होता था।

[1] १. ५, २। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २६८।

१. *अत्क*—यह शब्द ऋग्वेद में अनेक बार आता है परन्तु इसका आशय

सन्दिग्ध है। रौथ, ग्रासमैन, लुडविग, त्सिमर[1] और अन्य व्यक्ति अनेक ऐसे स्थलों[2] पर इसका अनुवाद "परिधान" कहते हैं जहाँ "पहनना" ("व्या" अथवा "प्रति-मुञ्ज") अथवा "उतारना" (मुञ्च) का प्रयोग किया गया है और जब यह 'बिना हुआ" (व्युत)[3] या "सुआवेष्टित" (सुरभि)[4] कहा गया है। इसके विपरीत पिशल[5] इस आशय को अस्वीकार करते हुये इन स्थलों का भिन्न रूप से स्पष्टीकरण करते हैं और इस शब्द को चार स्थानों[6] पर कुठार के अर्थ में लेते हैं।

[1] आल्टिन्डिशे लेवेन, २६२।
[2] १.९५, ७; २.३५, १४; ४.१८, ५; ५.५५, ६; ७४, ५; ६.२९, ३; ८.४१, ७; ९.१०१, १४; १०७, १३; सामवेद २.११९३।
[3] ऋग्वेद १.१२२, २।
[4] ऋग्वेद ६.२९, ३; १०.१२३, ७।
[5] वैदिशे स्टूडियन २.१९३–२०४।
[6] ऋग्वेद ५.५५, ६; ६.३३, ३; १०.४९, ३; ९९, ९। तु० की० : औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, ९४, नो० १।

२. *अत्क*—ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर इस शब्द को रौथ, ग्रासमैन और लुडविग ने व्यक्तिवाचक माना है। परन्तु त्सिमर[2] इन्हीं स्थलों पर इसका आशय "योद्ध का सम्पूर्ण कवच" मानते हैं और पिशल[3] के विचार से इन दोनों स्थलों पर इसका अर्थ "कुठार" है।

[1] १०.४९, ३; ९९, ९।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन २६२. २९७।
[3] वैदिशे स्टूडियन २, १९५।

अत्यंहस् आरुणि—तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०, ९, ३–५) के अनुसार इस नाम के गुरु ने एक शिष्य को *प्लक्ष दय्यांपति* से सावित्र (अग्नि के एक रूप) के संबंध में प्रश्न करने के लिये भेजा था। किन्तु इस उदण्डता के फलस्वरूप शिष्य की गम्भीर भर्त्सना की गई थी।

अत्यराति जानम्-तपि—यद्यपि यह राजकुमार नहीं था, तथापि इसे *वासिष्ठ सत्यहव्य* द्वारा राजसूय की शिक्षा मिली थी और तदुपरान्त इसने धरती पर विजय प्राप्त की। जब वासिष्ठ ने इसे अपने प्रति ऋण का स्मरण दिलाया और बड़े पुरस्कार की माँग की तो इस योद्धा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया था कि वह *उत्तर कुरुस्* पर विजय प्राप्त करना चाहता है और तब वासिष्ठ धरती का सम्राट् तथा स्वयं अत्यराति उसका 'सेनापति' बन जायगा। इस पर वासिष्ठ ने उत्तर दिया कि मृत्युलोक का कोई भी व्यक्ति उत्तर कुरुस् पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता, अतः अपने पुरस्कार के लिये

उसे धोखा दिया गया और परिणामस्वरूप उसने (वासिष्ठ ने) *अमित्रतपन शुष्मिण शैव्य*[1] के हाथों अत्यराति को परास्त करा कर उसका वध कराया।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८.२३ तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २१४।

अत्रि—अत्रि न तो स्वयं और न अन्यादि ही किसी ऐतिहासिक वास्तविकता[1] के अधिकारी हैं। इनका इस तथ्य से अधिक संबंध नहीं कि ऋग्वेद का पञ्चम मण्डल वास्तव में अत्रि[2] परिवार से सम्बन्धित है। एक परिवार के रूप में अत्रिगण सम्भवतः *प्रिय मेधों*[3] और कण्वों[4] तथा साथ ही साथ *गोतमों*[5] और *काक्षिवतों*[6] से निकट रूप से सम्बन्धित थे। पञ्चम मण्डल के एक ही सूक्त[7] में *परुष्णी* और *यमुना* दोनों का उल्लेख यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि यह परिवार एक विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था।

[1] ऋग्वेद में अत्रि के लिये देखिये : मैकडौनेल : वैदिक माईथौलोजी और तु० की० अथर्ववेद २.३२, ३; ४.२९, ३; मंत्र ब्राह्मण २.७, १; तैत्तिरीय आरण्यक ४.३६ आदि; बृहदारण्यक उपनिषद् २.२, ४।

[2] तु० की० : ऋग्वेद ५.३९, ५; ६७, ५; कौषीतकि ब्राह्मण २४.३; ऐतरेय आरण्यक २.२, १।

[3] तु० की० ऋग्वेद १.४५, ३; १३९, ९; ८.५, २५; ऐतरेय ब्राह्मण ८.२२।

[4] तु० की० ऋग्वेद १.११८, ७; ५.४१, ४; १०.१५०, ५।

[5] तु० की० ऋग्वेद १.१८३, ५।

[6] तु० की० ऋग्वेद १०.१४३, १।

[7] ऋग्वेद ५.५२, ९.१७।
तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३.१२८, १४२; बर्गेन : रिलीजन वैदिके २.४६९; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२.२१२–२१५; हिलेब्रान्ट : वैदिशे माइथौलोजी ३.३१०।

अथरी—यह शब्द केवल ऋग्वेद[1] में आता है और इसका आशय संदिग्ध है। रौथ[2], जिनका अनेक विश्लेषकों ने अनुकरण किया है, इसका अनुवाद 'तोमर या भाले की नोक' करते हैं; परन्तु पिशल[3] के विचार से इसका अर्थ 'गज' (हाथी) है।

[1] ४.६, ८।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०

[3] वैदिशे स्टूडियन १.९९।

अथर्वन्—एकवचन रूप में यह नाम अर्ध-दैविक पौराणिक पुरोहितों[1] के प्रधान का द्योतक है जिनके सम्बन्ध में कुछ भी ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। बहुवचन में यह सम्पूर्ण परिवार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कुछ

[1] देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी १४१; बृहदारण्यक उपनिषद् (२.६, ३) के वंश में अथर्वन् दैव, पात्र के रूप में "मृत्यु" का शिष्य बताया गया है।

स्थानों पर एक वास्तविक परिवार का भी उल्लेख प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ दानस्तुति[२] में *अश्वत्थ* की उदारता से उपहार प्राप्तकर्ता के रूप में इनका उल्लेख है। सांस्कारिक कृत्यों में इनके द्वारा मधु मिश्रित दूध के प्रयोग का भी उल्लेख[3] है और तैत्तिरीय ब्राह्मण[४] के अनुसार एक गाय, जिसका दुर्घटनावश गर्भपात (अव-तोका) हो जाता है, अथर्वनों को अर्पित की गई है।

[२] ऋग्वेद ६.४७, २४।
[3] ऋग्वेद ९.११, २।
[४] ३. ४, ११, १; तु० की० वाजसनेयि संहिता ३०.१५; तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, पृ० xxxv, और वाद जो (xxvviii पृ०) अवतोका को स्त्री और अथर्वनो को सूक्त मानते हैं; हिलेब्रान्ट वैदिशे माइथौलोजी २, १७४, और वाद।

अथर्वाणः—इस व्याहृति[१] का *अङ्गिरसः* के साथ अथर्ववेद का बोध कराने के लिये प्रयोग हुआ है। यौगिक शब्द *अथर्वाङ्गिरसः* भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[१] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२, ९, १; पंचविंश ब्राह्मण १६.१०, १०; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ४, ५, और वाद।

अथर्वाङ्गिरसः—अनेक स्थलों[१] पर यह अथर्ववेद का यौगिक नाम है। एक बार स्वयं अथर्ववेद[२] में ही यह शब्द आया है, जब कि 'अथर्ववेद' शब्द सूत्र काल[3] के पूर्व नहीं पाया जाता। ब्लूमफील्ड[४] के अनुसार यह यौगिक शब्द उन दो तत्वों का द्योतक प्रतीत होता है जिससे मिलकर अथर्ववेद बना है। प्रथम अंश इस वेद के शुभ-आचारों (भेपजानि)[५] का, और दूसरा उसकी शात्रव कुसृतियों, यातु[६] अथवा अभिचार[७] का संकेत करता है। *घोर अङ्गिरस* और *भिषज् अथर्वण* इन दो पौराणिक व्यक्तित्वों तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[८] में *अथर्वाणः* और *आथर्वणानि* का उपशमन (भेपज) के साथ सम्बन्ध द्वारा यह सिद्धान्त पुष्ट होता है। साथ ही साथ 'भेपजा' (उपचार)

[१] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२, ८,२; तैत्तिरीय आरण्यक २.९; १०; शतपथ ब्राह्मण ११.५, ६, ७; बृहदारण्यक उपनिषद् २.४, १०; ४.१, २; ५, ११; छान्दोग्य उपनिषद् ३.४, १.२; तैत्तिरीय उपनिषद् २.३, १।
[२] १०.७, २०।
[3] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६.२, ९ आदि।
[४] ज० अ० ओ० सो० ११, ३८७ और वाद। अथर्ववेद के सूक्त पृ० xviii और वाद।
[५] अथर्ववेद ११.६, १४।
[६] शतपथ ब्राह्मण १०.५, २, ५०।
[७] कौशिक सूत्र ३.१९।
[८] १२.९, १०; १६.१०, १०।

शब्द अथर्ववेद[9] में इसी वेद का द्योतक है तथा शतपथ ब्राह्मण[10] में 'यातु' (अभिचार) भी इस अर्थ का ही बोधक है। फिर भी विश्वसनीय प्रमाण के अभाव में सम्पूर्ण अथर्ववेद के लिये उत्तरदायी इन दोनों ऋषियों का स्पष्ट अन्तर संदिग्ध ही बना रहता है।

[9] १०.६, १४।
[10] १०.५, २, २०। तु० की० हिलेब्रान्ट : वैदिशे माइथौलोजी २, १७७।

अदृष्ट—यह शब्द 'जो अदृष्य हो' ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में कीड़ों के एक प्रकार की व्याहृति स्वरूप व्यवहृत हुआ है। सूर्य का वर्णन भी 'अदृष्ट का संहारक' (अदृष्ट-हन्)[3] के रूप में किया गया है और प्रतिवर्ती के रूप में एक 'दिखाई देनेवाला' (दृष्ट) का उल्लेख[4] है। एक स्थान[5] पर 'दृष्य' और 'अदृष्य' विशेषणों का प्रयोग कीड़ों (*कृमि*) के लिये किया गया है। यह प्रयोग निःसन्देह इस प्रचिलित सिद्धान्त के आधार पर हुआ है कि व्याधियाँ कीड़े-मकोड़ों द्वारा ही उत्पन्न होती हैं चाहे इसे परीक्षण द्वारा जाना जा सके अथवा नहीं[6]।

[1] ऋग्वेद १. १९१, ४ = अथर्ववेद ६. ५२, २।
[2] ६. ५२, ३।
[3] ऋग्वेद १.१९१, ९ = अथर्ववेद ६. ५२, १; अथर्ववेद ५. २३, ६।
[4] अथर्ववेद २. ३१, २; ८. ८, १५।
[5] अथर्ववेद ५. २३, ६. ७।
[6] कुन : त्सी० स्प्रे० १३, १३५ और बाद, ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३१३-३१५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९८।

अभ्रसद्—यह व्याहृति (शब्दार्थ : 'भोजन पर बैठना') ऋग्वेद[1] में अनेक बार आयी है और बहुधा इसका अनुवाद 'भोजनोत्सव पर आये अतिथि' किया गया है। परन्तु गेल्डनर[2] यह सिद्ध करने के लिये कारण प्रस्तुत करते हैं कि इसका अर्थ 'मक्खी' है जिसे भोजन पर बैठने के कारण ऐसा कहा गया है।

[1] १. १२४, ४; ६. ३०, ३; ७. ८३, ७; ८. ४४, २९; अभ्र-सद्वन् ६. ४, ४।
[2] वैदिशे स्टूडियन २, १७९, १८०; परन्तु तु० की० औल्डेनबर्ग : वेदफौर्शुंग ९०।

अद्रि—त्सिमर[1] ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर प्रयुक्त इस शब्द (चट्टान, पत्थर) से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वैदिक कालीन युद्ध में लटकाये हुये

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन ३०१; तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व०स्था०।
[2] १. ५१, ३।

पत्थरों का प्रयोग होता था। परन्तु उक्त स्थल पौराणिक है और इन्द्र द्वारा सहायता का संकेत करता है, अतः निश्चित रूप से मानवीय युद्ध के ही प्रमाण-स्वरूप प्रयुक्त हुआ नहीं प्रतीत होता। अधिक सम्भव है कि यह केवल इन्द्र के वज्र का द्योतक हो। *अशनि* भी देखिये।

अधि-देवन—ल्यूडर्स[1] के अनुसार वह स्थान जहाँ पासे फेंके जाते थे उसे अथर्ववेद[2] और शतपथ ब्राह्मण[3] में इस नाम से पुकारा गया है। रौथ[4], जिन्हें ह्विटने ने भी माना है, इसका अर्थ 'अक्ष-क्रीड़ा पट' मानते हैं। देखिये *अक्ष*।

[1] दा. इ. ११-१३।
[2] ५. ३१, ६; ६. ७०, १।
[3] ५. ४, ४, २०.२२-२३।
[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

अधिराज—राजाओं और राजकुमारों में 'अधीश्वर' का द्योतक यह शब्द प्राचीन साहित्य[1] में अनेक बार आया है। किसी भी स्थल पर यह स्पष्ट नहीं है कि इसका अभिप्राय किसी वास्तविक 'राजाओं के राजा' से है क्योंकि 'राजन्' शब्द का अर्थ एक राजा, केवल राजकुमार, अथवा एक राजकीय रक्त का व्यक्ति हो सकता है। अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि यह शब्द 'राजकुमार' से भिन्नता स्पष्ट करने के लिये केवल 'राजा' के अर्थ से अधिक और कुछ नहीं प्रदर्शित करता।

[1] ऋग्वेद १०. ११८, ९; अथर्ववेद ६. ९८, १; ९. १०, २४; तैत्तिरीय संहिता २. ४, १४, २; मैत्रायणी संहिता ४. ११, ३; काठक संहिता ८. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ९ (अधि-राजन्) शतपथ ब्राह्मण ५. ४, २, २; निरुक्त ८. २।

अधि-षवण—दोनों अधिषवण[1] रौथ[2] और त्सिमर[3] के अनुसार सामान्यतया उन दो पटरों या तख्तों के द्योतक समझे जाते हैं जिनके बीच में रखकर सोम दबाया जाता था। परन्तु संस्कार के आधार पर हिलेब्रान्ट[4] यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि पटरों को एक के ऊपर दूसरा रखकर (और बीच में सोम रख कर) नहीं दबाया जाता था वरन् दोनों ही पटरे एक साथ ही रक्खे जाते थे जिससे दोनों ही ऐसा आधार प्रदान करते थे जिन पर रख कर सोम को एक पत्थर द्वारा दबाया जाता था। यह सिद्धान्त इस नाम 'अत्यधिक

[1] वाजसनेयि संहिता १८.२१; अथर्ववेद ५.२०,१; शतपथ ब्राह्मण ३.९,४,१;५, ३,२२ (अधिषवणे फलके); ऐतरेय ब्राह्मण ७.३२ (अधिषवणे चर्म, "चमड़ा जिसपर दबाया जाता है" अधिषवणे फलके, "तख्ते जिनपर दबाया जाता है' इत्यादि)
[2] सेन्ट पीटर्स बर्ग कोश, व० स्था०।
[3] अल्टिन्डिशे लेबेन २७७।
[4] वैदिशे माईथौलोजी १, १४८ और बाद।

दबाना' के व्युत्पत्तिजन्य आशय तथा इस शब्द का विशेषण ('दबाने के लिये प्रयुक्त') के रूप में प्रयोग का सर्वश्रेष्ठ स्पष्टीकरण करता है। परन्तु हॉग[५] द्वारा दक्षिण भारत में पाई गई पद्धति के अनुसार सोम वृक्ष की टहनियाँ पहले एक चमड़े पर रक्खी जाती हैं और उसके ऊपर से एक तख्ता, फिर उसे पत्थर से दबाया जाता है। इसके बाद टहनियाँ निकाल कर तख्ते पर रक्खी जाती हैं और दूसरा तख्ता उसके ऊपर रख दिया जाता है।

[५] देखिये हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण २, पृ० ४८८, नो० १०।

अधिवास—यह शब्द[१] वैदिक आर्यों के 'ऊपरी परिधान' का द्योतक है। ठीक-ठीक इसका रूप वर्णित नहीं परन्तु शतपथ ब्राह्मण[२] में उल्लिखित संस्कार में राजा द्वारा पहले एक 'अन्तरीय परिधान' पहनने, उसके ऊपर एक अन्य परिधान और सबके बाद एक 'ऊपरी परिधान' पहनने के कारण सम्भवतः यह (अधिवास) एक 'चोग़ा' या 'अंगरखा' का बोधक प्रतीत होता है।

[१] ऋग्वेद १.१४०,९; १६२,१६; १०.५,४; शतपथ ब्राह्मण ५.३,५,२२; (प्रतिमुञ्च "पहनना"); ४.४,३ (आ-क्षि, "फैला हुआ") इत्यादि।

[२] ५.३,५,१९ और बाद। तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन २६८।

अध्याण्डा—एक पौधा जिसका अनेक अन्य पौधों के साथ शतपथ ब्राह्मण (१३.८, १,१६) में उल्लेख है।

अध्रि-गु—यह एक व्यक्ति का नाम है जिसका ऋग्वेद[१] में दो बार क्रमशः अश्विनों और इन्द्र के आश्रित के रूप में उल्लेख है।

[१] १. ११२; २०; ८. १२, २; तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ९०।

अध्वर्यु—ऋग्वेद[१] के एक स्थान पर हिलेब्रान्ट[२] का विचार है कि उल्लिखित पाँच अध्वर्युओं का तात्पर्य वास्तविक पुरोहितों से नहीं वरन् उन पाँच ग्रहों से है जो उसी प्रकार आकाश में विचरण करते हैं जिस प्रकार यज्ञ-स्थल पर अध्वर्यु पुरोहित। *ग्रह* भी देखिये।

[१] ३. ७, ७।

[२] वैदिशे माइथौलोजी ३, ४२३।

अन-अग्नि-दग्ध—"आग से न जला हुआ"। देखिये *अग्नि-दग्ध*, "आग से जला हुआ"।

अनड्-वाह्—(शब्दार्थ : गाड़ी खींचनेवाला)—यह गाड़ी (*अनस्*)

खींचनेवाले बैलों का सामान्य[1] नाम है। यद्यपि सदैव नहीं, फिर भी साधारणतया ऐसे बैल बधिया[2] होते थे। विरले[3] अवसरों पर मांदा अनड्वाही (अनड्डुही) पशुओं का भी प्रयोग होता था। देखिये गो।

[1] ऋग्वेद १०. ५९, १०; ८५, १०; ३. ५३, १८; अथर्ववेद ३. ११, ५; ४. ११, १ इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण १. १४; शतपथ ब्राह्मण २. १, ४, १७ इत्यादि।

[2] तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र १५. १, ५ (अनडवान् साण्डः)

[3] अथर्ववेद ४. ११; शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, ११. १३।

तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १३, १५१, नोट; त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेवेन २२६।

अनस्—आमोद-प्रमोद अथवा युद्ध के लिये प्रयुक्त रथ के विपरीत इस शब्द[1] का प्रयोग खींचनेवाली गाड़ी के लिये किया गया है। कभी-कभी रथ से इसकी निश्चित विभिन्नता[2] स्पष्ट की गई है, फिर भी एक वार रथ के स्थान पर इन्द्र को "गाड़ी पर बैठा हुआ" (अनर-विश्)[3] कहा गया है। यद्यपि उषस्—उषा की देवी—कभी कभी रथ पर चलती हैं, तथापि गाड़ी ही उसकी वास्तविक सवारी[4] है। इसकी वनावट के सम्वन्ध में वहुत कम ज्ञात है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में जिस गाड़ी पर सूर्य की पुत्री सूर्या बैठाई गई थी उस पर छाजन (छदिस्)[5] था। धुरी-चक्स (खः) का भी उल्लेख है[6]। अथर्ववेद[7] में "विपथ" ऊबड़-खावड़ या खराव रास्तों के लिये प्रयुक्त स्थूल गाड़ियों का द्योतक प्रतीत होता है। सामान्यतया गाड़ी—जैसा कि वैवाहिक जलूस[8] में होता था—बैलों द्वारा खींची जाती थी (*अनड्वाह*)। उषा की गाड़ी लाल गायों अथवा बैलों[9] द्वारा खींची जाने का वर्णन मिलता है।

[1] ऋग्वेद ४. ३०, १०; १०. ८५, १०, ८६, १८, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण १. १, २, ५, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १५, १ कौषीतकि उपनिषद् ३. ८ इत्यादि।

[2] ऋग्वेद ३. ३३, ९।

[3] ऋग्वेद १. १२१, ७।

[4] ऋग्वेद २. १५. ६; ४. ३०, ११; ९. ९१, ७; १०. ७३, ६; १३९, ५।

[5] ऋग्वेद १०. ८५, १०।

[6] ऋग्वेद ८. ९१, १७; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३।

[7] १५. २, १।

[8] ऋग्वेद १०. ८५, ११।

[9] मैकडौनेल : वैदिक माईथौलोजी ४७; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २४६, गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २,४।

अनास्—देखिये दस्यु।

अन्यतः-प्लक्षा—(जिसके एक ओर ही लहरदार पत्तियोंवाले अंजीर के वृक्ष हों) शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार कुरुक्षेत्र की एक झील का नाम है जहाँ यह पुरूरवा और उर्वशी की कथा में आता है। पिशल[2] सिरमोर में इसका स्थान निश्चित करते हैं।

[1] ११. ५, १, ४। | [2] वैदिशे स्टूडियन २. २१७।

अन्य-वाप—('दूसरों के लिये बोना')—अपने अण्डों को दूसरी चिड़ियों के घोसले में रख देने की आदत के कारण कोयल को इस नाम से पुकारा[1] गया है।

[1] वाजसनेयि संहिता २४. ३७, मैत्रायणी संहिता ३. १४, १८।

अन्वा-ख्यान—शब्दानुवाद (बाद की कथा) द्वारा 'पूरक वृत्तान्त' का अर्थ प्रकट होता है। शतपथ ब्राह्मण में आये तीन में से दो[1] स्थलों पर कदाचित् ही इस आशय का आभास मिलता है क्योंकि वहाँ इस व्याहृति का प्रयोग उक्त ग्रन्थ के ही बाद के अंशों का निर्देश करने के लिये हुआ है। परन्तु तीसरे[2] स्थल पर विशुद्ध *इतिहास* (कथा) से इसका पृथकत्व बताया गया है और यहाँ इसका अर्थ अवश्य ही 'पूरक वृत्तान्त' होना चाहिये। तुलना कीजिये *अनुव्याख्यान*।

[1] ६. ५, २, २२; ६. ४, ७ (६. ६, ४, ८ का सन्दर्भ निर्देश है)

[2] ११. १, ६, ९। तु० की० सीग : सा० ऋ० ३४।

अप-चित्—यह शब्द अथर्ववेद[1] में अनेक बार आया है। रौथ[2], त्सिमर[3], और अन्य विद्वान् इसे एक कीड़े का बोधक मानते हैं जिसका दंश सूजन (गलौ) उत्पन्न कर देता है। परन्तु ब्लूमफील्ड[4] यह दर्शाते हैं कि इसका वास्तविक तात्पर्य कण्ठमाला नामक व्याधि से है जैसा कि केशव और सायण के अनुवाद (गण्डमाला, 'गले की ग्रन्थियों की सूजन') तथा बाद की व्याधि 'अपची' के साथ इसके सादृश्य से प्रतीत होता है। 'अपची' 'अप' और 'चि' (अर्थात् 'उखाड़ना') के योग से बना है।

[1] ६. २५, १; ८३, १, ७. ७५, १, ७७, १।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

[3] आल्टिण्डिशे लेबेन ९७; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३४२, ५००, के अनुसार भी यही मत है।

[4] अ० फा० ११, ३२० और बाद, अथर्ववेद के सूक्त ५०३, ५०४। तु० की० जौली : मेडिसिन ८९, ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद ३४३।

अप-श्रय—देखिये उपश्रय।

अप-स्कम्भ—यह शब्द अथर्ववेद में केवल एक स्थान पर आता है जहाँ इसका नोक विषैला होने का उल्लेख है। रौथ[1] के विचार से इसका अर्थ शर की नोक को शर-दण्ड में लगाना है। ह्विटने[2] का झुकाव भी इसी मत की ओर है परन्तु उनके विचार से मूल-पाठ भ्रष्ट हो गया है। त्सिमर[3] रौथ का ही मतानुसरण करते हैं। लुडविग[4] इसका अनुवाद 'शूलाग्र' या 'नुकीला' करते हैं। ब्लूमफील्ड[5] के विचार से इसका अर्थ 'विदीर्ण करने वाला (वाण)' है जो कि इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है।

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; अथर्ववेद का स्थल है ६. ६, ४।
[2] अथर्ववेद का अनुवाद १५३।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन ३००।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ५१२।
[5] अथर्ववेद के सूक्त ३७५।

अपाच्य—*नीच्यों* के संदर्भ में ऐतरेय ब्राह्मण (८. १४) में 'पाश्चात्यों' के राजाओं का भी संकेत है।

अपान—अथर्ववेद[1] और वाद में यह शब्द प्राण-वायु (*प्राण*) के एक प्रकार के रूप में प्राण के साथ वार-वार और कभी-कभी अन्य तीन प्रकारों में से एक या अधिक के साथ आता है। इसका मौलिक आशय[2] 'श्वास' प्रतीत होता है। शरीर के निचले भाग (नाभि) के साथ इसका सम्बन्ध, जो कि ऐतरेय उपनिषद्[3] में पाया जाता है, अस्वाभाविक नहीं।

[1] अथर्ववेद २. २८, ३; ५. ३०, १२ इत्यादि वाजसनेयि संहिता १३. १९; २४, इत्यादि।
[2] देखिये कैलेण्ड : त्सी० गे० ९९. २६१; ५६, ५५६–५५८, ज० अ० ओ० सो० २२, २४९ और वाद, में ह्विटनी को शुद्ध करते हुए।
[3] ऐतरेय उपनिषद् १. ४, इत्यादि। तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ़ उपनिषद २६३ और वाद।

अपा-मार्ग—एक पौधा (Achyranthes aspera) जो कि अभिचारीय कुसृतियों तथा चिकित्सा के लिये, मुख्यतः *क्षेत्रिय* के विरुद्ध[1] अक्सर प्रयुक्त होता था। अथर्ववेद[2] में यह 'प्रत्यावृत' (पुनः-सर) के रूप में वर्णित है जैसा कि इसके सम्बन्ध में उल्टी हुई (प्रत्यावृत्) पत्तियोंवाला होने के कारण रौथ[3] और त्सिमर[4] का विचार है (ह्विटने[5] भी इसी मत को स्वीकार

[1] अथर्ववेद ४. १७, ६; १८, ७; १९, ४; ७. ६५, २; वाजसनेयि संहिता ३५ ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, १, ८; शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४. १४, १३. ८. ४, ४।
[2] ४. १७, २।
[3] सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन ६७।
[5] अथर्ववेद का अनुवाद १८०।

करते हैं), अथवा इस कारण जैसा कि ब्लूमफील्ड[६] का विचार है, कि यह जादू या टोने के प्रभाव को उसके प्रयोगकर्त्ता पर ही उलट देता है।

[६] अथर्ववेद के सूक्त ३९४; तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १६०, १६१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, ९४।

अपा-लम्ब—इस शब्द[१] से स्तम्भक अथवा अवरोधक का बोध होता है जिसे गाड़ी की गति रोकने के लिये नीचे गिराया (लम्ब, 'नीचे लटकाना') जाता था।

[१] शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १२ तु० की० : कैलेण्ड और हेनरी : ला अग्निष्टोम, ५०; रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०; एगलिङ्ग : से० बु० ई० २६, ७९।

अपाष्ट—अथर्ववेद[१] में दो बार यह शब्द बाण की नोक के अर्थ में आता है।

[१] ४. ६, ५; ५. १८, ७ (शतापाष्ठ : 'शत नोकोंवाला') तु० की० : त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३७५।

अपि-शर्वर—देखिये अहन्।

अपी—लुडविग[१] ने ऋग्वेद[२] में एक ऐसे 'अपी' को पाया है जिसके पुत्रों का यज्ञ न करनेवालों (अ-यज्ञ-साच्) और मित्र-वरुण के नियमों का उलंघन करनेवालों के रूप में वर्णन है। रौथ[३] और ग्रासमैन प्रयुक्त व्याहृति (अप्यः पुत्राः) को जल के पुत्रों का सूचक मानते हैं।

[१] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५८, १५९।
[२] ६-६७, ९।
[३] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।

अपूप—ऋग्वेद[१] और उसके बाद यह शब्द सामान्य रूप से ऐसी मीठी रोटी के लिये आता है जो घी मिश्रित (घृतवन्त)[२] हो, या चावल (व्रीहि)[३] की बनी हो, अथवा जौ (यव)[४] की। छान्दोग्य उपनिषद्[५] में व्याख्यान्तर है। मैक्समूलर इसका अनुवाद 'छत्ता' करते हैं, बौटलिङ्क 'मधुमक्खी का छत्ता' और लिटिल[६] 'मीठी रोटी'।

[१] ३. ५२, ७।
[२] ऋग्वेद १०. ४५, ९।
[३] शतपथ ब्राह्मण २. २, ३, १२. १३।
[४] शतपथ ब्राह्मण ४. २, ५, १९।
[५] ३. १, १।
[६] ग्रामेटिकल इन्डेक्स।

अप्नवान—केवल दो बार ही ऋग्वेद[१] में एक प्राचीन ऋषि के रूप में

[१] ४.७, १; ८.९१, ४।

आता है जहाँ यह भृगुओं के साथ सम्बद्ध है और लुडविग[2] का अनुमान है कि यह उन्हीं (भृगुओं) के परिवार का था।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२८।

अ-प्रति-रथ—(युद्ध में जिसका जोड़ न हो')—यह स्पष्टतः एक अविकृत ऋषि का नाम है जिसे ऐतरेय ब्राह्मण[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में ऋग्वेद के उस सूक्त[3] का रचियता कहा गया है जिसमें इन्द्र की अजेय योद्धा के रूप में प्रशंसा है।

[1] ८.१०। | [2] ९.२, ३, १.५।

अप्वा—एक उदर व्याधि[1], सम्भवतः पेचिश, जैसा कि त्सिमर[2] ने शत्रु[3] को ग्रसित करने के लिये की गई इस व्याधि की स्तुति के आधार पर मत व्यक्त किया है। वेवर[4] के विचार से यह भय से उत्पन्न अतिसार है, जैसा कि अक्सर महाकाव्यों[5] में है। ब्लूमफील्ड[6] इसी मत का समर्थन करते हैं और प्रत्यक्षतः यास्क[7] का भी यही मत था।

[1] अथर्ववेद ९.८, ९।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन ३८९।
[3] ऋग्वेद १०.१०३, १२=अथर्ववेद ३.२,५= सामवेद २.१२,११ = वाजसनेयि संहिता १७.४४।
[4] इन्डिशे स्टूडियन ९, ४८२; १७,१८४।
[5] इन्डिशे स्टूडियन १७, १८४।
[6] अथर्ववेद के सूक्त ३२७।
[7] निरुक्त ९.३३; तु० की० : व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद ८६, ८७।

अप्सस्—यह शब्द सामान्यतया शरीर का बोधक है जिसका अर्थ है "सामने का भाग"[1]। तथापि 'ऋग्वेद'[2] के एक स्थल पर विशेषण "बड़े अग्रभागवाला" (दीर्घाप्सस्) रथ के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[1] देखिये पिशल : वैदिशे स्टूडियन १, ३०८–३१३; २, २४५, २४६।
[2] १.१२२, १५; तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।

अभि-क्रोशक—पुरुषमेध के बलि-प्राणियों में से किसी एक, सम्भवतः "अग्रदूत" का द्योतक है। भाष्यकार महीधर[1] इसका अनुवाद "निन्दक" करते हैं।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०.२०। तु० की० अनुक्रोशक, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४, १५, १;

अभि-जित—देखिये नक्षत्र।

अभि-पित्व देखिये अहन्।

अभि-प्रतारिन् काक्ष-सेनि—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1], छान्दोग्य उपनिषद्[2] और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में यह दर्शनशास्त्र पर वाद-विवाद में निरत बताया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण[4] यह भी उल्लेख करता है कि इसके जीवनकाल में ही इसके पुत्रों ने आपस में सम्पत्ति का विभाजन कर लिया था। यह एक कुरु था और एक राजकुमार।

[1] १.५९, १, ३.१, २१; २, २.१३।
[2] ४.३, ५।
[3] १०.५, ७; १४.१, १२.१५।
[4] ३.१५६ (ज० अ० ओ० सो० २६, ६१)

अभि-प्रश्निन्—तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] और वाजसनेयि संहिता[2] में दी हुई पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में यह शब्द *प्रश्निन्* के बाद आता है और इसके बाद *प्रश्नविवाक*। भाष्यकार सायण और महीधर इस शब्द द्वारा केवल एक उत्सुक मनुष्य का आशय मात्र मानते हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस शब्द द्वारा किसी न किसी प्रकार के वैधानिक सन्दर्भ का भी आशय—कदाचित् न्यायाधीश और वादी के विपरीत प्रतिवादी का आशय भी रहा होगा।

[1] ३.४, ६, १।
[2] ३०.१०।

अभि-श्री (मिश्रण)—इस शब्द[1] का तात्पर्य उस दूध से है जो अर्पित करने के पहले सोमरस में मिश्रित किया जाता था।

[1] ऋग्वेद ९.७९, ५; ८६, २७। तु० की० : त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २२७, हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १.२११।

अभि-षवणी—त्सिमर[1] अथर्ववेद[2] में प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ दबाने-वाला यंत्र करते हैं, किन्तु यह केवल (जल का) विशेषण मात्र प्रतीत होता है जो 'दबाने में प्रयुक्त'[3] होता था।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन २७७।
[2] ९.६, १६।
[3] तु० की० : व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९.६, १६।

अभिषेक (छिड़कना, उक्षण)—निर्वाचन के पश्चात् वैदिक राजाओं का प्रतिष्ठापन विस्तृत संस्कारों द्वारा किया जाता था, जिनका वर्णन तैत्तिरीय[1], पञ्चविंश,[2] शतपथ[3] और ऐतरेय ब्राह्मणों[4] में मिलता है तथा जिनके

[1] १.७, ५।
[2] १८.८ और बाद।
[3] ५.३, ३ और बाद।
[4] ८.५ और बाद।

मंत्र संहिताओं[5] में दिये हुये हैं। प्रतिष्ठापन जल छिड़ककर (अभिषेचनीया आपः)[6] किया जाता था। केवल राजाओं का ही प्रतिष्ठापन होता था, सर्वसाधारण इसके योग्य नहीं समझे जाते थे (अनभिषेचनीयाः)[7]। जल छिड़कनेवाले (अभिषेक्तृ) का पुरुषमेध[8] के वलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख मिलता है। अभिषेक राजसूय अथवा राजकीय[9] उद्घाटन यज्ञ का एक अनिवार्य अंग समझा जाता था और इससे सम्बद्ध कृत्यों में इस (अभिषेक) का दूसरा स्थान था।

[5] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ११; काठक संहिता १५. ६; मैत्रायणी संहिता २. ६; वाजसनेयि संहिता १०. १-४।
[6] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, १०-१५।
[7] शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, १७।
[8] वाजसनेयि संहिता ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ८, १।
[9] तु० की० : हिलेब्रान्ट : रिटुअल लिटरेचर १४३-१४७; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, xxvi; वेबर : ऊवर डेन राजसूय।

अभीशु—एक साधारण वैदिक शब्द[1] है जो रथ के घोड़ों की 'लगाम' या 'वल्गा' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसके बहुवचन स्वरूप के प्रयोग का कारण यह है कि दो अथवा चार घोड़े, और सम्भवतः पाँच (दशाभीशु : दस लगामवाले)[2] घोड़े तक रथ में एक साथ जोते या सन्नद्ध किये जाते थे।

[1] ऋग्वेद १. ३८, १२; ५. ४४, ४; ६.७५, ६; ८. ३३, ११; अथर्ववेद ६. १३७, २; ८. ८, २२; वाजसनेयि संहिता ३४. ६; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ३, १४ (जहाँ यह = रश्मयः "वल्गा") इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १०. ९४, ७।

अभ्यग्नि ऐतशायन—ऐतरेय ब्राह्मण[1] के अनुसार इस व्यक्ति का दुर्भाग्यवश अपने पिता *ऐतश* से ही झगड़ा हो गया था जिसके परिणाम स्वरूप इसे और इसके वंशजों को *और्वों* में सबसे बुरा माना जाने लगा। कौषीतकि ब्राह्मण[2] के वर्णन में *ऐतशायन आजानेय* अभ्यग्नियों का स्थान ले लेते हैं और *भृगु* लोग *और्वों* का, जिनमें से यह द्वितीय कदाचित प्रथम परिवार की ही शाखा थे।

[1] ६. ३३।
[2] ३०. ५; तु० की० : हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १७३।

अभ्यावर्तिन् चायमान—ऋग्वेद[1] की एक दानस्तुति में यह *वरशिख* के नायकत्व में रहनेवाले वृचीवन्तों के विजेता के रूप में आता है। यद्यपि निश्चित तो नहीं, तथापि ऐसा सम्भव है कि यह उसी सूक्त[2] में उल्लिखित *सृञ्जय*

[1] ६. २७, ८.५।
[2] ६. २७, ७।

दैववात ही है जिसने अपने लिये इन्द्र द्वारा *तुर्वशों* और *वृचीवन्तों* को पराजित कराया था। इस दशा में यह सृञ्जयों का राजा (सम्राज्) रहा होगा। दैववात का उल्लेख अग्नि के उपासक के रूप में अन्यत्र[3] मिलता है।

अभ्यावर्तिन् का एक पार्थव होने का भी उल्लेख है। लुडविग[4] और हिलेब्रान्ट[5] इसी कारण इसे एक पार्थव ही मानते हैं। इसकी पुष्टि में हिलेब्रान्ट दैववात की विजय के वर्णन[6] में उल्लिखित दो स्थानों *हरियूपीया* और *यव्यावती* को प्रमाण मानकर अभ्यावर्तिनों की स्थिति पश्चिम में ईरान के अरकोसिया में मानते हैं। किन्तु त्सिमर[7] का यह विचार कदाचित् ठीक प्रतीत होता है कि पार्थव नाम का अर्थ केवल 'पृथु का वंशज' मात्र है, और ईरानी 'पार्थियों' से इसकी समानता केवल ईरानी और भारतीय सभ्यता की समानता सम्बन्धी अनेक अन्य बातों जैसी ही है।

[3] ४. १५, ४।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९८ और बाद।
[5] वेदिशे माइथौलोजी १, १०५; ३, २६८, नोट १; तु० की० : ग्रियर्सन : ज० ए० सो० १९०८, ६०४ और बाद।
[6] ऋग्वेद ६. २७, ५. ६।
[7] आल्टिन्डिशे लेबेन १३३ और बाद, ४३३; बर्गेन : रिलीजन वेदिशे २. ३६२।

अभ्रातरः—(भ्राताविहीन)—ऋग्वेद[1] में भ्राताविहीन कन्याओं का भाग्य असन्तोषजनक कहा गया है—प्रत्यक्षतः ऐसी कन्यायें वेश्या हो जाती थीं। निरुक्त[2] में भ्रातृविहीन कन्याओं से विवाह करने का स्पष्ट निषेध है—कदाचित् इसलिये कि ऐसी कन्या अपने पिता द्वारा पुत्रिका (गृहीत-पुत्री) बना ली जा सकती थी—अर्थात् ऐसी दशा में उससे उत्पन्न कोई भी पुत्र उसके पति के परिवार की अपेक्षा उसके पिता के ही परिवार का समझा जाता। देखिये *अयोगू*

[1] १. १२४, ७; ४. ५, ५; तु० की० : अथर्ववेद १. १७, १। तु० की० : ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २५९; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३२८।
[2] ३. ५ (अभ्रात्री)

अभ्रि (फरसा) एक बहुप्रयुक्त वैदिक शब्द[1] है। शतपथ ब्राह्मण[2] में

[1] अथर्ववेद ४. ७, ५, ६ (अभ्रिखाते, का अर्थ 'फरसे से खोदकर निकाला गया' है न कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर रौथ के अनुसार 'बनाई हुई भूमि'); १०. ४, १४; हिरण्ययीभिर अभ्रिभिः 'स्वर्ण फावड़ोंसे' वाजसनेयि संहिता ५. २२; ११. १०; ३७. १; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. ६; शतपथ ब्राह्मण २. ३, २, १५; इत्यादि।
[2] ६. ३, १, ३० और बाद।

इसके अनेक सम्भव रूपों और पदार्थों का उल्लेख है। यह बाँस का बना हो सकता था अथवा विकंकट या उदुम्बर की लकड़ी का। आकार में यह एक बित्ता (वितस्ति) अथवा एक हस्त हो सकता था। यह खोखला होता था और इसके एक या दोनों ही किनारे तीक्ष्ण (तेज़ धारवाले) हो सकते थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसका बेंत (पकड़नेवाला डण्डा) लकड़ी का बना होता था किन्तु शिरःभाग किसी धातु का।

अमत्र—यह एक ऐसा पात्र था जिसमें दबाये जाने के बाद सोम गिराया[1] जाता था और जिसमें से ही देवताओं के तर्पण हेतु इसे (सोम) अर्पित किया जाता था[2]।

[1] ऋग्वेद २. १४, १; ५. ५१, ४; ६. ४२, २ इत्यादि। तु० की० : त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन २७८; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, ६१।

[2] ऋग्वेद १०. २९, ७।

अमला—यह पौधा[1], कदाचित् Emblica officinalis अथवा आमलक-वृक्ष है जिसे आमलक अथवा आमलका[2] भी कहते हैं।

[1] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३८, ६।

[2] छान्दोग्य उपनिषद् ७. ३, १ में इसका पाठ 'वामलके' है।

अमा-जुर—एक उपाधि[1] या विशेषण है जिसका तात्पर्य ऐसी कन्याओं से है जो पति प्राप्त किये बिना 'घर में ही वृद्धा' हो जाती हैं, अथवा जैसा कि अन्यत्र कहा गया है 'जो अपने पिता के साथ ही रह जाती हैं (पितृ-षद्)। ऐसी ही एक प्रसिद्ध कन्या का उदाहरण 'घोषा'[2] है।

[1] ऋग्वेद २.१७, ७; ८.२१, १५; १०.३७, ३

[2] ऋग्वेद १.११७, ७; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३०५।

अमा-वास्य शाण्डिल्यायन का *अंशु धानंजय्य* के गुरु के रूप में वंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४,३७३

अमित्र-तपन शुष्मिण शैब्य—ऐतरेय ब्राह्मण (८.२३) के अनुसार यह उस व्यक्ति का नाम है जिसने *अत्यराति जानंतपि* का वध किया था।

अमूला—(जड़विहीन)—अथर्ववेद[1] में यह एक पौधे (Methonica

[1] ५.३१, ४; तु० की०। वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, २८६; ह्विटने : अथर्ववेद २७९ के अपने अनुवाद में 'जड़विहीन (-पौधा)' स्वीकार करते हैं।

Superba) का नाम है जिसका बाणों को विषयुक्त बनाने के लिये उपयोग किया जाता था। फिर भी, ब्लूमफील्ड[2] इसका अर्थ 'चल सम्पत्ति' करते हैं।

[2] अथर्ववेद के सूक्त ४५७।

अम्बरीष का ऋग्वेद[1] में *ऋज्राश्व, सहदेव, सुराधस्* और *भयमान* के साथ एक 'वार्षागिर' के रूप में उल्लेख है।

[1] १.१००, १७; तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४०

अम्बष्ठ—देखिये *आम्बष्ठ्य।*

अय—देखिये *अक्ष*

अयस्—ऋग्वेद[1] में यह शब्द जब भी प्रयुक्त हुआ है इसका स्वयं ठीक-ठीक किस धातु से तात्पर्य है यह अनिश्चित है। 'लोहे' की अपेक्षा 'काँसे' का आशय स्वीकार करने के लिये त्सिमर[2] के साथ सहमत होकर कदाचित् इस तथ्य का उल्लेख किया जा सकता है कि अग्नि को उसकी ज्वाला के सन्दर्भ में आयो-दंष्ट्र 'अयस के दाँतों वाला'[3] कहा गया है; और मित्र तथा वरुण के रथ में बैठने के स्थान को सूर्यास्त के समय[4] अयःस्थूण[5] 'अयस के स्तम्भोंवाला' कहा गया है। इसके अतिरिक्त वाजसनेयि संहिता[6] में छः धातुओं की एक तालिका में अयस की भी गणना है : स्वर्ण (हिरण्य), अयस, श्याम, लोह, सीसा और टिन (त्रपु)। यहाँ श्याम (कृष्णवर्ण) और लोह (लाल) का अर्थ क्रमशः 'लोहा' और 'ताँबा' ही होना चाहिये; इस प्रकार अयस का अर्थ 'काँसा' ही प्रतीत होता है। अथर्ववेद[7] के अनेक स्थलों पर तथा अन्य पुस्तकों में अयस को दो उप-प्रकारों में विभक्त किया गया है, यथा : श्याम (लोहा) और लोहित (ताँबा अथवा काँसा)। शतपथ ब्राह्मण[8] में 'लोहायस' और अयस में विभेद किया गया है जो या तो लोहे और ताँबे का विभेदक है जैसा कि एग्लिङ्ग[9] ने समझा है, अथवा ताँबे

[1] ऋग्वेद १.५७, ३; १६३, ९; ४.२,१७; ६.३, ५।

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन ५२।

[3] ऋग्वेद १.८८, ५; १०.८७, २।

[4] परन्तु यह सुग्राह्य नहीं प्रतीत होता क्योंकि इसी मन्त्र में इसे 'ऊषा की चमक में स्वर्णिम प्रतीत होनेवाला' कहा है।

[5] ऋग्वेद ५.६२, ८ (तु० की० ७)।

[6] १८.१३।

[7] ११.३, १.७; मैत्रायणी संहिता ४.२, ९

[8] ५.,४, १, २।

[9] से० बु० ई० ४१, ९०।

और काँसे का विभेदक हो सकता है जैसा कि श्रेडर[10] का विचार है। अथर्ववेद[11] के एक स्थल पर लोहे का आशय निश्चित प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि ऋग्वेद[12] में वर्णित वाण जिसका सिरा अयस का था (यस्या अयो मुखम्) वह लोहे से ही नुकीला बनाया गया था। फिर भी इसे तांबे के आशय में भी ग्रहणकिया जा सकता है और काँसा तो बहुत सम्भव है ही।

लोहे को 'श्याम अयस' अथवा केवल 'श्याम' भी कहा गया है।[13] *कार्ष्णायस* भी देखिये। ताँबा *लोहायस* अथवा *लोहितायस* है।

धातुओं को तपाने या गलाने की क्रिया (धमा-फूकना) का भी बहुधा उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[14] में यह कहा गया है कि यदि 'अच्छी तरह तपाया जाय' (बहु-धमातम्) तो यह स्वर्ण के समान हो जाता है, जिसका अत्यन्त आशय 'काँसे' से ही है। वाजसनेयि संहिता[15] में अयस के एक ऊष्णक का उल्लेख और अयस पात्रों की भी चर्चा है।[16]

[10] प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ १८९।
[11] ५. २८, १।
[12] ६. ७५, १५।
[13] अथर्ववेद ९. ५, ४।
[14] ६. १, ३, ५; तु० की०: ६. १, १, १३; ५. १, २, १४; १२. ७, १, ७; २, १०, इत्यादि।
[15] ३०. १४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १०, १।
[16] अथर्ववेद ८. १०, २२; मैत्रायणी संहिता ४. २, १३।

अय-स्थूण—यह उन लोगों के गृहपति (यज्ञ के समय यजमान) थे जिनके अध्वर्यु शौल्वायन थे, और इन्होंने शौल्वायन को कुछ चम्मचों[1] के उपयोग की ठीक विधि सिखाया था।

[1] शतपथ ब्राह्मण ११. ४, २, १७ और बाद।

अयास्य आङ्गिरस—यह ऋषि ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर उल्लिखित प्रतीत होता है और अनुक्रमणी इसे ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (९. ४४–४६; १०. ६७; ६८) का प्रणेता मानती है। ब्राह्मण[2] परम्परा में यह उस राजसूय अथवा राजकीय उद्घाटन यज्ञ के समय उद्गातृ माने गये थे जिसमें शूनःशेप का वध किया जानेवाला था, और इनके उद्गीथ (सामवेद स्तुति) का अन्यत्र[3]

[1] १०. ६७, १; १०८, ८; १०. ९२, १५ भी कदाचित इसी से सम्बद्ध है परन्तु १. ६२, ७ और १०. १३८, ४ नहीं।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १६।
[3] जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण २. ७, २. ६; ८, ३; तु० की० : छान्दोग्योपनिषद १. २, १२।

उल्लेख है। इन्हें अनेक स्थलों पर संस्कारविधि-विशेषज्ञ[४] भी कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद[५] के 'वंशों' में इन्हें 'आभूति त्वाष्ट्र' का शिष्य बताया गया है।

[४] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, २२; १६. १२, ४; ११. ८, १०; बृहदारण्यक उपनिषद १. ३, ८. १९. २४; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ६।

[५] २. ६, ३; ४. ६, ३ (दोनों ही शाखाओं में) तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १३६; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १५९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २५५, नोट; पिशेल : वेदिशे स्टूडियन २. २०४।

अयोगू—वाजसनेयि संहिता[१] के बलिप्राणियों की तालिका में आया यह एक ऐसा शब्द है जिसके अर्थ में पर्याप्त सन्दिग्धता है। सम्भव है इसका तात्पर्य एक मिश्रित जाति (सैद्धान्तिक दृष्टि से वैश्य पत्नी से उत्पन्न शूद्र-वंशज)[२] के सदस्य से हो। वेबर[३] इसका अर्थ 'चरित्र-भ्रष्ट नारी'[४] करते हैं। त्सिमर के विचार से इसका तात्पर्य एक भ्राताविहीन कन्या से है जिसके वैश्या हो जाने की सम्भावना बनी रहती है (तुलना कीजिये 'आयोगव')।

[१] २०. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १, १।

[२] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[३] इन्डिशे स्ट्रीफेन १. ७६, नोट। त्सी० गे० १८, २७७ में इन्होंने इसे पासे (अयस) से सम्बद्ध माना है। पीपुल्स ऑफ इन्डिया २५०, में रिसले 'आयोगवों' को बढ़इयों की एक जाति मानते हैं (तु० की० : मनुस्मृति १०. ४८)

[४] आल्टिन्डिशे लेबेन ३२८।

अर—देखिये *रथ*।

अरटु—एक पौधा[१] (Colosanthes Indica) जिसकी लकड़ी से कभी-कभी रथ का धुरा बनाया जाता था[२]।

[१] अथर्ववेद २०. १३१, १७।

[२] ऋग्वेद ८. ४६. २७। तु० की० : त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६२, २४७।

अरण्य—इस शब्द का गाँव के बाहर की अकर्षित भूमि—अनिवार्यतः बन्जर भूमि ही नहीं—से तात्पर्य है। घर (अमा)[१] और कृषियोग्य भूमि (कृषि)[२] से इसका अन्तर स्पष्ट किया गया है और इसे आबादी से दूर[३] स्थित (तिरस्) कहा गया है। *ग्राम*[४] से भी इसका विभेद किया गया है

[१] ऋग्वेद ६. २४, १०।

[२] अथर्ववेद २. ४, ५।

[३] शतपथ ब्राह्मण १३. ६, २, २०।

[४] अथर्ववेद १२. १, ५६; ऋग्वेद १. १६३, ११; वाजसनेयि संहिता ३. ४५; २०. १७।

और इसे ऐसा स्थान माना गया है जहाँ चोर[5] आदि रहते हैं। वन की प्रकृति का वर्णन ऋग्वेद[6] में वन्यात्मा (अरण्यानी) के एक सूक्त में वर्णित है। इस स्थान पर मृतकों को अन्तिम संस्कार[7] के लिये लाया जाता था और यहाँ तपस्वीजन निवास करते थे।[8] दावाग्नि भी बहुधा लग जाती थी[9]।

[5] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ३, ५; १३. २, ४, ४।
[6] १०. १४६।
[7] बृहदारण्यक उपनिषद ५. ११।
[8] छान्दोग्य उपनिषद ८. ५, ३।
[9] ऋग्वेद १. ६५, ४; ९४, १०. ११; २. १४, २; १०. ९२, १; १४२, ४; अथर्ववेद ७. ५०, इत्यादि।
तु० की० : त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ४८, १४२।

अरत्नि—यह शब्द जिसका प्रमुख अर्थ 'कोहनी' है, ऋग्वेद[1] और उसके बाद बहुधा लम्बाई के एक नाप—कोहनी से लेकर हाथ के छोर तक की दूरी—के रूप में आता है। आरम्भिक मूलपाठों में कहीं भी इसकी ठीक-ठीक लम्बाई का उल्लेख नहीं है।

[1] ऋग्वेद ८. ८०, ८; अथर्ववेद १९. ५७, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५; शतपथ ब्राह्मण ६. ३, १, ३३, इत्यादि; ऋग्वेद ८. ८०, ८ के लिये आर्जि भी देखिये।

अ-राजानः—(जो राजा न हो)—शतपथ ब्राह्मण[1] के दो स्थलों पर और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में यह शब्द व्यक्तियों का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। वेबर[3] इसका अथर्ववेद[4] में उल्लेख पाते हैं जहाँ उनके विचार से उक्त स्थल पर वर्णित *सूतों* (सारथियों) और *ग्रामणीयों* (समूह नेताओं) को इसलिये ऐसा कहा गया है क्योंकि स्वयं राजा न होते हुये भी इन लोगों ने राजाओं की प्रतिष्ठापना में सहायता पहुँचाई थी।

[1] ३. ४, १, ७. ८; १३. ४, २, १७।
[2] ८. २३।
[3] इन्डिशे स्टूडियन १७, १९९।
[4] ३. ५, ७, जहाँ वह 'राजानः' को संशोधित करके 'अ-राजानः' कर देते हैं (देखिये इस पद पर ह्विट्ने की टिप्पणी) तु० की० : ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३३३; वेबर : ऊबर डेन राजसूय २२ और बाद।

अराटकी एक पौधा है जिसका अथर्ववेद[1] में एक बार उल्लेख है और यह प्रत्यक्षतः *अजशृङ्गी* के समान है। *अरटु* से भी तुलना कीजिये।

[1] ४. ३७, ६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४०८।

अराड दात्रेय शौनक—इसका वंश ब्राह्मण[1] में दृति ऐन्द्रोत शौनक के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३८४।

अरित्र—इसका तात्पर्य 'डाड़ों' से है जिससे नौकायें खेयी जाती हैं। ऋग्वेद[1] और वाजसनेयि संहिता[2] में एक सौ डाड़ोंवाली नौका का उल्लेख है और यह भी कहा गया है कि एक नौका डाड़ों से खेई (चलाई) जाती है (अरित्र-परण)[3]। ऋग्वेद[4] के दो स्थानों पर सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार यह शब्द रथ के एक भाग का द्योतक है। नौका चलानेवाले लोगों को अरितृ[5] कहा गया है। देखिये *नौ*।

[1] १. ११६. ५।

[2] २१. ७।

[3] ऋग्वेद १०. १०१, २; तु० की० : शतपथ ब्राह्मण ४. २, ५, १०।

[4] १. ४६, ८; 'दशारित्र', २. १८, १।

[5] ऋग्वेद २. ४२, १; ९. ९५, २; तु० की० : 'त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५६।

अरिं-दम सन-श्रुत—इसका ऐतरेय ब्राह्मण ७.३४ में एक महाराज के रूप में उल्लेख है।

अरिम्-एजय—पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के प्रख्यात सर्पोत्सव में इसके द्वारा अध्वर्यु का कार्य किये जाने का उल्लेख है।

[1] २५. १५; देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

अरुण आट—पञ्चविंश ब्राह्मण (२५.१५) में सर्पोत्सव के समय यह 'अच्छावाक' था।

अरुण-औपवेशि गौतम—यह एक गुरु का पूर्ण प्रकार[1] है जिसका बाद की संहिताओं[2] और ब्राह्मणों[3] में बार-बार उल्लेख है तथा जिसका प्रसिद्ध पुत्र *उद्दालक आरुणि* था। यह उपवेश[4] का शिष्य था और राजा *अश्वपति* का समकालीन, जिसके द्वारा यह उपदेशित हुआ था। तुलना कीजिये *आरुणि*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ९, २; ४, ५, १; मैत्रायणी संहिता १. ४, १०; ३. ६, ४. ६; ७, ४; ८, ६; १०, ५; काठक संहिता २६. १०।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, ५, ११; शतपथ ब्राह्मण २. २, २, २०; ११. ४, १, ४; ५, ३, २।

[3] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५, ३ (दोनों ही शाखाओं में)

[4] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, २; तु० की० : गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, १४६, नोट[4]।

१. *अरुन्धती*—यह एक पौधे का नाम है जो व्रणों का उपशमन करने, ज्वरघ्न होनें, और गायों को दूध देने के लिये प्रवर्तित करने के गुण से युक्त होने के रूप में अथर्ववेद[1] के अनेक स्थानों पर प्रख्यात है। यह पौधा एक लतिका के समान होता था जो *प्लक्ष*, *अश्वत्थ*, *न्यग्रोध* और *पर्ण*[2] जैसे वृक्षों पर चढ़ जाता था। इसका रंग स्वर्णिम (हिरण्य-वर्णा) और तना रोयेंदार (लोमश-वक्षणा) होता था। इसे सिलाची भी कहते थे और *लाक्षा* इसका फल[4] प्रतीत होता है।

[1] ४. १२, १; ५. ५, ५. ९; ६. ५९, १. २; ८. ७, ६; १९. ३८, १।
[2] अथर्ववेद ५. ५, ५।
[3] अथर्ववेद ५. ५, ७; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १७४; ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ४८, ५७४।
[4] तु० की० : अथर्ववेद ४. १२ पर ह्विट्ने की टिप्पणी; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद ६१।

२. *अरुन्धती*—इसका एक तारे के नाम के रूप में सूत्र साहित्य में बहुधा, परन्तु बाद के एक आरण्यक[1] में केवल एक बार ही उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय आरण्यक ३. ९, २।

अर्क—यह एक वृक्ष (Colotropis gigantea, मदार का बड़ा पेड़) के नाम के रूप में कदाचित् अथर्ववेद[1] के एक अस्पष्ट स्थल पर मिलता है।

[1] ६. ७२, १, जहाँ देखिये ह्विट्ने की टिप्पणी। तु० की० : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

अर्गल—यह शब्द जो बाद में बहुधा दरवाज़ों में लगी लकड़ी की सांकलों के लिये प्रयुक्त हुआ है, शाङ्खायन आरण्यक (२.१६) में यौगिक 'अर्गलेषीके' के रूप में मिलता है, जहाँ यह गोगृह के द्वार की कुन्डी और छड़ का द्योतक है। तुलना कीजिये *इषीका*।

अर्गल काहोडि—इसका काठक संहिता (२५.७) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है फिर भी, सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, के संकेत और श्रोडर के संस्करण के पाठानुसार यह नाम 'अर्यल' हो सकता है। कपिष्ठल (३९.५) में 'अयल' है। नीचे देखिये।

अर्चन्त्—जैसा कि लुडविग[1] का विचार है, कदाचित् ऋग्वेद[2] के एक सूक्त के प्रणेता का नाम है; किन्तु यह शब्द केवल साधारण प्रशंसात्मक कृदन्त मात्र हो सकता है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३३।
[2] १०. १४९, ५।

अर्चनानस्—ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर अर्चनानस् की रक्षा के लिये मित्र-वरुण देवों का आश्रय प्राप्त किया गया है। अथर्ववेद[2] में *श्यावाश्व* सहित गिनाये गये अनेक अन्य पूर्वजों के साथ इसका भी आह्वान किया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में यह 'श्यावाश्व' के पिता के रूप में आता है। बाद की परंपरा में इसके अपने पुत्र के विवाह कथा में भी भाग लेने का उल्लेख है जिसके सम्बन्ध में सींग[4] यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि ऋग्वेद भी इससे परिचित है।

[1] ५. ६४, ७।
[2] १८. ३, १५।
[3] ८. ५, ९।
[4] सा० ऋ० ५० और बाद; तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १२७; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३५४।

अर्चा—देखिये *ब्राह्मण*।

अर्जुनी—ऋग्वेद[1] में यह एक *नक्षत्र* का नाम है जिसे अन्यत्र[2] फाल्गुनी कहा गया है। यह विवाह सूक्त में मघा के लिये *अघा* के साथ-साथ आता है और उसी शब्द की भांति यह भी जानबूझ कर किया गया परिमार्जन है।

[1] १०. ८५, १३।
[2] अथर्ववेद १४. १, १३; तु० की० : शतपथ ब्राह्मण २. १, ११, २।

अर्बुद—इसका पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्पोत्सव के समय 'ग्रावस्तुत' पुरोहित के रूप में उल्लेख है। प्रत्यक्षतः यह वही पौराणिक व्यक्ति है जो एक द्रष्टा 'अर्बुद काद्रवेय' के रूप में ऐतरेय[2] और कौषीतकि ब्राह्मणों[3] में मन्त्रों का स्रष्टा कहा गया है।

[1] २५. १५।
[2] ६. १।
[3] २९. १; तु० की० : शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, ९।

अर्य—प्राचीन साहित्य में उन स्थानों पर जहाँ प्रथम स्वर की संख्या अल्प निश्चित की गई है, यह शब्द, विशेषणात्मक आशय के अतिरिक्त अधिक नहीं आया है। गेल्डनर[1] का वास्तव में यह विचार है कि किसी भी स्थान पर इसके अतिरिक्त अन्य आशय की आवश्यकता नहीं है; किन्तु रौथ[2] और

[1] वेदिशे स्टूडियन ३, ९६।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

त्सिमर[3] इस विचार से सहमत हैं कि वाजसनेयि संहिता[4] के अनेक स्थलों पर इस शब्द का *आर्य* जैसा ही आशय है और यही सम्भव भी प्रतीत होता है। इन्द्र द्वारा मुक्त जल के लिये प्रयुक्त यौगिक शब्द 'अर्य-पत्नी'[5] के लिये भी यही आशय प्रदान करना आवश्यक है या नहीं, यह अपेक्षाकृत संदिग्ध है। भाष्यकार महीधर[6] का विचार है कि इस शब्द का तात्पर्य एक *वैश्य* से है जो साधारणतः आर्य नहीं भी हो सकता। शतपथ ब्राह्मण[7] में वाजसनेयि संहिता[8] के एक स्थान की व्याख्या द्वारा इस विचार की पुष्टि होती है। फिर भी, यद्यपि वैश्य के द्योतक के रूप में अर्य का उपयोग बाद में साधारण हो गया, तथापि मूलतः भी यही अर्थ था यह स्पष्ट नहीं है।

[3] आल्टिन्डिशे लेवेन २१४, २१५।

[4] १४. ३०; २०.१७; २३. २१; २६. २, और तु० की० : काठक संहिता ३८. ५; तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, ३; अथर्ववेद १९. ३२, ८, में भी समान रूप आता है जो 'ब्राह्मण', राजन्य' और 'शूद्र' से भिन्न है। किन्तु ह्विटने यहाँ भी इसका अर्थ 'आर्यन्' कहते हैं; तु० की० : १९. ६२, १; ऋग्वेद ८. ९४, ३; पिशल : त्सी० गे० ४०, १२५।

[5] ऋग्वेद ७. ६, ५; १०. ४३, ८।

[6] वासजनेयी संहिता २३. ३० पर।

[7] १३. २, ९, ८; शङ्खायन श्रौत सूत्र १६, ४, ४ और बाद, से अन्तर देखिये जहाँ आर्य एक विस्तृत आशय में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

[8] २३. ३०; तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २१२; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १०. ६; औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, १२६, २६३।

अर्यमणः पन्था—'अर्यमणों का पथ'—यह शब्द, जो ब्राह्मणों[1] में आता है, वेवर[2] के अनुसार 'आकाश गंगा' का, किन्तु हिलेब्रान्ट[3] के अनुसार 'क्रान्तिवृत्ताकार' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ६, ६; पंचविंश ब्राह्मण २५. १२, ३; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, २।

[2] ऊवर डेन राजसूय ४८, २।

[3] वेदिशे माइथौलोजी ३, ७९, ८०।

अर्यल—उन लोगों का, जिनके सर्प-भोजनोत्सव के समय अर्यल गृहपति और *आरुणि* होतृ थे, पञ्चविंश ब्राह्मण (२३. १, ५) में उल्लेख है। *अर्गल* भी देखिये।

अर्वन्त—देखिये *अश्व*।

अर्शस्—एक व्याधि का नाम है जिसका वाजसनेयि संहिता[1] में क्षय

[1] १२. ९८; तु० की० : त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेवेन ३९८; रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

तथा अन्य रोगों के साथ उल्लेख है। यह 'गुदांकुर' (ववासीर) का द्योतक प्रतीत होता है, जैसा कि बाद के चिकित्सा साहित्य में है।

अलज एक प्रकार के पक्षी का द्योतक है जो अश्वमेध[1] के बलिप्राणियों में से एक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ११, १; ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ३.१४,१८; काठक संहिता २१. ४; वाजसनेयि संहिता २४. ३४।

अलजि—अथर्ववेद[1] में एक व्याधि का नाम है। बाद में प्रयुक्त 'अलजी' एक नेत्र रोग का द्योतक है—जिसमें नेत्र के कनीनिका और श्वेतपटल के सन्धिस्थल से स्राव होता है।

[1] ९. ८, २०; तु० की० : तिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३९० : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

अलम्म पारिजानत—इसका एक ऋषि के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण (१३. ४, ११; १०, ८) में उल्लेख है।

अलसाला—यह शब्द अथर्ववेद (६, १६, ४) के केवल एक स्थल पर आता है जहाँ इसे एक धान्य-वल्लरी कहा गया है।

अलाण्डु—अथर्ववेद[1] के पाठ में यह शब्द कृमियों (कीड़ों) की एक जाति के लिये प्रयुक्त हुआ है। ब्लूमफील्ड[2] इस शब्द के 'अलगण्डु' पाठ को इसका शुद्ध रूप मानने के लिये तर्क उपस्थित करते हैं।

[1] २. ३१, २।

[2] अथर्ववेद के सूक्त ३१५।

अलाबु—लौकी (Lagenaria vulgaris)—अथर्ववेद[1] में इसके बने पात्रों का उल्लेख है।

[1] ८. १०, २९. ३०; २०. १३२, १. २; तु० की० : मैत्रायणी संहिता ४. २, १३ में 'अलापु'।

अलाय्य—ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट मंत्र में आया यह शब्द व्यक्तिवाचक नाम प्रतीत होता है। परन्तु हिलेब्रान्ट[2] ने मूल रूप को इस प्रकार संशोधित कर दिया है कि यह नाम ही हट गया है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार इसका तात्पर्य इन्द्र से है। पिशल[3] का विचार है कि यह एक व्यक्ति का

[1] ९. ६७, २०।

[2] त्सी० गे० ४८, ४१८।

[3] त्सी० गे० ४८, ७०१।

नाम है जिसकी कुठार (कुल्हाड़ी) चोरी हो गयी थी और जिसके लिये कुठार की पुनःप्राप्ति के हेतु अभिचार स्वरूप यह सूक्त लिखा गया था।

अलिक्लव—यह अथर्ववेद[1] में वर्णित एक प्रकार का मांसभक्षक पक्षी है।

[1] ११. २, २; ९, ९; तु० की० : त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८८।

अलिन किसी जाति के लोगों का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में केवल एक बार उल्लेख है। रौथ[2] के विचार से अलिन लोग *तृत्सुओं* के मित्र—सम्भवतः उनके एक उपभेद थे। लुडविग[3] के विचार से यह लोग तथा *पक्थों*, *भलानसों*, *शिवों*, और *विषाणिनों*, जिनके साथ ही इनका उल्लेख है, सभी *परुष्णी* में सुदास द्वारा पराजित हुए थे; और त्सिमर[4] का मत है कि ये लोग कफीरिस्तान के उत्तर-पूर्व में रहते थे।

[1] ७. १८, ७।
[2] त्सु० वे ९५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १२६।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०७।
[4] उ० पु० ४३१; इस देश का ह्वेनसांग ने उल्लेख किया है।

अलीकयु वाचस्-पत्य—इसका एक अधिकारी के रूप में कौषीतकि ब्राह्मण (२६.५; २८.४) में दो बार उल्लेख है।

अल्प-शयु—यह अथर्ववेद[1] में उल्लिखित एक प्रकार का कीड़ा (कृमि) है।

[1] ४. ३६, ९। तु० की० : ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४०८; ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद २१०।

अवका—एक जलीय पौधा (Blyxa Octandra) है जिसका अथर्ववेद[1] और बाद की संहिताओं[2] तथा ब्राह्मणों[3] में अक्सर उल्लेख है। गन्धर्व लोग इसे खाते थे ऐसा कहा गया है[4]। इसका बाद का नाम 'शैवल' है और यह *शीपाल*[5] के समान है।

[1] ८. ७, ९; ३७, ८–१०।
[2] तैत्तिरीय संहिता ४. ६, १, १; ५. ४, २, १; मैत्रायणी संहिता २. १०. १।
[3] शतपथ ब्राह्मण ७.५, १, ११; ८.३, २, ५; ९. १, २, २०. २२; १३. ८, ३, १३।
[4] अथर्ववेद ४. ३७, ८।
[5] जिसके साथ इसकी आश्वलायन गृह्य सूत्र २. ८; ४. ४, में व्याख्या है। तु० की० : ब्लूमफील्ड : प्रो० सो० अक्तूबर १८९०, xli–xliii; अ० फा० ११, ३४९; त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन ७१।

अवत शब्द, जो ऋग्वेद[1] में अनेक बार आता है, प्राकृतिक स्रोतों (उत्स) के विपरीत कृत्रिम रूप से बने (खन्) कूपों का द्योतक है; यों कृत्रिम कूपों के लिये भी प्रथम शब्द (उत्स) का प्रयोग हुआ है। ऐसे कूँयें उसके निर्माताओं द्वारा ढाँक कर रक्खे जाते थे[1] और इन्हें समाप्त न होनेवाला (अक्षित) तथा जल से परिपूर्ण[3] कहा गया है। इनसे पत्थर की पहियों (चक्र) द्वारा पानी निकाला जाता था। इन पहियों में एक फीता (वरत्रा) लगा होता था जिससे एक पात्र (कोश)[4] सन्नद्ध रहता था। जब पानी ऊपर खिंच जाता था तो उसे लकड़ी की बाल्टियों (आहाव) में गिरा (सिञ्च) दिया जाता था[5]। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी इन कूपों का सिंचाई के लिये भी उपयोग किया जाता था और इस कार्य के लिये पानी को चौड़ी नालियों (सूर्मी सुषिरा)[6] द्वारा यथा स्थान ले जाया जाता था।

[1] १. ५५, ८; ८५, १०. ११; ११६, ९. २२; १३०, २; ४. १७, १६; ५०, ३; ८. ४९, ६; ६२, ६; ७२, १०. १२; १०. २५, ४; १०१, ५. ७; तु० की० : निरुक्त ५. २६।

[2] ऋग्वेद १. ५५, ८।

[3] ऋग्वेद १०. १०१, ६, इत्यादि।

[4] अंसत्र-कोशम्, ऋग्वेद १०. १०१, ७ का इसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ अनुवाद हो सकता है। पत्थर की पहिया (अश्म-चक्र) के लिये जो (उच्चा-चक्र) के ऊपर होती थी, देखिये ऋग्वेद १०. १०१, ७; ८. ७२, १०; 'वरत्रा' के लिये देखिये ऋग्वेद १०.१०२, ११ में, 'कू-चक्र' पहिये का दूसरा नाम है; किन्तु तु० की० : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०

[5] ऋग्वेद १०. १०१, ६. ७।

[6] ऋग्वेद ८.६९, १२। तु० की०: त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५६,१५७; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १४।

अवत्सार का एक द्रष्टा के रूप में ऋग्वेद[1] में, एक पुरोहित के रूप में ऐतरेय ब्राह्मण[2] में, तथा प्रस्रवण-पुत्र प्रास्रवण (अथवा प्राश्रवण) के रूप में कौषीतकि ब्राह्मण[3] में उल्लेख है। अनुक्रमणी में ऋग्वेद[4] का एक सूक्त इसे आध्यारोपित किया जाना ठीक नहीं।

[1] ५. ४४, १०।

[2] २. २४।

[3] १३. ३।

[4] ९. ५८। तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३८; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १८८; २, ३१५; सा० ऋ० ६२ और बाद।

अ-वध्यता—देखिये ब्राह्मण।

अवस—का विशेषण 'अन-अवस' के रूप में ऋग्वेद[1] में 'शकट' (प्रतिबन्धन) अर्थ हो सकता है।

[1] ६. ६६, ७। तु० की० मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३७२।

अव-स्कव—एक प्रकार का कृमि है जिसका अन्य के साथ ऋग्वेद[1] में उल्लेख है।

[1] २.३१, ४। तु० की० ह्विट्ने ad. loc; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन, १३, २०१; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३१६।

अवात—देखिये वात

अवि—'भेड़' का ऋग्वेद में बार-बार और बाद में अक्सर बकरियों (अज) के साथ भी उल्लेख है। भेड़िया (वृक) इनका बहुत बड़ा शत्रु था[1], और इन्हें गडेरिये[2] पालते थे। भेड़ तथा इसी प्रकार के पशु शत्रुओं[3] से छीने जाते थे। सोम-चलनी भेड़ के ऊन से बनाई जाती थी और इसका बार-बार उल्लेख है (अवि, मेषी, अव्य, अव्यय)[4]। इसके बहुत से यूथ रहे होंगे, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि ऋज्राश्व ने एक सौ मेषों का वध किया था[5], और एक दानस्तुति[6] में एक सौ भेड़ों का दान के रूप में उल्लेख है। मेष[7] और वृष्णि[8] कभी-कभी वधिया (पेत्व)[9] कर दिये जाते थे। भेड़ों का प्रमुख उपयोग उनका ऊन था; इसीलिये भेड़ों के लिये 'ऊर्णावती'[10] व्याहृति का प्रयोग किया गया है। ऊन का मनुष्यों के वस्त्र, तथा पशुओं के आश्रय के सन्दर्भ में वाजसनेयि संहिता[11] में भेड़ का 'ऊनयुक्त' और 'चतुष्पाद अथवा द्विपाद पशुओं का चर्म' के रूप में वर्णन किया गया है। ऐसा कहा गया है कि पूषन्[12] भेड़ के ऊन से वस्त्र बुनते थे। सामान्यतया भेड़ चरागाहों

[1] अथर्ववेद ५.८, ४; ऋग्वेद ८.३४, ३; ६६, ८।

[2] 'अवि-पाल', वाजसनेयि संहिता ३०.११; शतपथ ब्राह्मण ४.१, ५, २; 'अवि-प', तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४, ९, १।

[3] ऋग्वेद ८.८६, २

[4] ऋग्वेद ९.१०९, १६; ३६, ४, इत्यादि। देखिये हिलेब्राण्ट : वेदिशे माइथोलोजी १, २०३।

[5] ऋग्वेद १.११६, १७।

[6] ऋग्वेद ८.६७, ३।

[7] ऋग्वेद १.४३, ६, ११६, १६ इत्यादि।

[8] तैत्तिरीय संहिता २.३, ७, ४ इत्यादि।

[9] ऋग्वेद ७.१८, १७; अथर्ववेद ४.४, ८; तैत्तिरीय संहिता ५.५, २२, १; वाजसनेयि संहिता २९.५८; ५९।

[10] ऋग्वेद ८.६७, ४। तु० की० १०.७५, ८; उरा, १०.९५, ३।

[11] १३.५०।

[12] ऋग्वेद १०.२६, ६।

में ही पड़ी रहती थीं। ऋग्वेद[13] के एक अस्पष्ट स्थल पर भेड़ों को घिरे स्थान में रखने का भी संकेत प्रतीत होता है। गन्धार[14] की भेड़ें अपने ऊन के लिये प्रसिद्ध थीं। पिशल[15] का मत है कि भेड़ों के आधिक्य के कारण वहाँ का नाम *परुष्णी*[16] पड़ा, जिसमें 'परुस्'[17] ऊन के 'ढेरों' का द्योतक है।

[13] १०.१०६, ५।
[14] ऋग्वेद १.१२६, ७।
[15] वेदिशे स्टूडियन २, २१०;
[16] ऋग्वेद ४.२२, २; ५.५२, ९।
[17] ऋग्वेद ९.१५, ६; 'पर्वन्', ४.२२, २; तु० की० त्सिमर : *अल्टिन्डिशे लेवेन* २२९, २३०; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, ३४८।

अशनि—त्सिमर[1] इस शब्द को गोफण-पत्थर के बोधक के रूप में ऋग्वेद[2] से उद्धृत करते हैं और *अद्रि*[3] के एकसमान प्रयोग से इसकी तुलना करते हैं। दोनों ही स्थितियों में यह शस्त्र पौराणिक हैं—जिनका इन्द्र के कौशलों के वर्णन में प्रयोग किया गया है। श्रेडर[4] भी इस आशय में 'अशन्' का उद्धरण देते हैं; किन्तु किसी भी वैदिक स्थल पर इस आशय की आवश्यकता नहीं।

[1] अल्टिन्डिशे लेवेन ३०१।
[2] ६.६, ५। तु० की० १.१२१, ९।
[3] १.५१, ३।
[4] प्रिहिस्टॉरिक ऐण्टिक्विटीज़ २२१।

अश्म-गन्धा—(पत्थर की गन्ध)—शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लिखित एक पौधा है जो कदाचित बाद के 'अश्व-गन्धा' (घोड़े की गन्ध) के समान है।

[1] १३.८, १, १६, पर से० बु० ई० ४४, ४२७ में एग्लिङ्ग की टिप्पणी भी देखिये।

अश्व—वैदिक साहित्य में घोड़े के लिये सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द है। घोड़े को 'दौड़ानेवाला' (अत्य), 'शीघ्रगामी' (अर्वन्त), खींचने के लिये 'शक्तिशाली' (वाजिन्), 'दौड़नेवाला' (सप्ति) और 'द्रुतगामी' (हय), भी कहा गया है। घोड़ी को अश्वा, अत्या, अर्वती, वडवा इत्यादि कहा गया है। घोड़ों के विभिन्न रङ्गों का ज्ञान था, यथा : श्याम (हरित, हरि), लाल (अरुण, अरु, पिशङ्ग, रोहित), गाढ़ा-भूरा (श्याव), सफेद (श्वेत) इत्यादि। अथर्ववेद में काले कानोंवाला श्वेत घोड़ा विशेष महत्त्वपूर्ण कहा गया है[1]। घोड़ों का दाम काफी अधिक था[2], और जैसा कि रौथ[3] का विचार

[1] अथर्ववेद ५.१७, १५।
[2] ऋग्वेद १.८३, १; ४.३२, १७; ५.४, ११; ८.७८, २ इत्यादि।
[3] त्सी० गे० ३५, ६८७।

है यह दुर्लभ भी नहीं थे क्योंकि एक दानस्तुति[४] में ही चार सौ घोड़ियों का उल्लेख है। शुभ अवसरों पर घोड़ों को सोने और मोतियों[५] से सजाया जाता था।

क्षिप्रता और निश्चयता[६] के कारण रथ खींचने के लिये घोड़ियों को ही अधिक अच्छा समझा जाता था। गाड़ियाँ खींचने के लिये भी इनका उपयोग होता था, किन्तु साधारणतया इन्हें इस कार्य के लिये प्रयुक्त नहीं किया जाता था।[७] युद्ध में घुड़सवारी का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु अन्य कार्यों के लिये यह अपरिचित नहीं था।[८]

घोड़ों को बहुधा अश्वशालाओं[९] में रक्खा और वहीं खिलाया जाता था।[१०] किन्तु इन्हें घास[११] चरने के लिये बाहर भी जाने दिया जाता था, और फिर अश्वशाला में लाकर इनका पैर बाँध[१२] दिया जाता था। दौड़ने के बाद[१३] इन्हें ठंडा करने के लिये जल दिया जाता था। इसके सेवकों (सईसों) का

[४] ऋग्वेद ८. ५५, ३। तु. की. ५.३३, ८; ६. ४७, २२-२४; ६३, १०; ८.६, ४७; ४६, २२ और हॉपकिन्स : अ. फा. १५, १५७।

[५] ऋग्वेद १०.६८, ११।

[६] पिशल : त्सी० गे० ३५, ७१२-७१४; वेदिशे स्टूडियन, १, १०, ३०५। तु० की० 'रथोवधूमान्', ऋग्वेद १. १२६, ३; ७. १८, २२; वाजिनीवान् ७.६९,१।

[७] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, ३५।

[८] अश्विन् सवारी करते हैं, ऋग्वेद ५. ६१, १-३। एक अश्वसाद का वाजसनेयि-संहिता ३०.१३; में उल्लेख है; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १; और ऋग्वेद १. १६२, १७; १६३, ९; में सवारी करने से तात्पर्य है। अथर्ववेद ११. १०, २४, संदिग्ध है। तु० की० हॉपकिन्सः ज० अ० ओ० सो० १३, २६२; लुडविग. ऋग्वेद का अनुवाद ३, २२१। त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन २३० इस उपयोग को अस्वीकार करते हैं; किन्तु देखिये पृ. २९५, जहाँ साधारण कार्यों के लिये इसे स्वीकार किया गया है।

[९] तु० की० सम्पन्नता का विशेषण, 'अश्वशालाओं को घोड़ों से भरना (अश्वपस्त्य)' ऋग्वेद ९. ८६, ४१ और देखिये अथर्ववेद ६. ७७, १; १९.५५,१

[१०] अथर्ववेद, उ० स्था०।

[११] त्सिमर उ० पु०, २३२, इसे अस्वीकार करते हैं किन्तु वाजसनेयि-संहिता १५. ४१ का यही स्वाभाविक आशय है।

[१२] इसके लिये व्याहृति 'पड्वींश' है। ऋग्वेद १. १६२, १४. १६; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २, १३; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १, १२; शाङ्खायन आरण्यक ९. ७; तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २३४-२३६।

[१३] ऋग्वेद २. १३, ५; ३४, ३; मैत्रायणी संहिता १. ११, ६; पिशल, उ० पु० १,

भी अवसर उल्लेख है (अश्वपाल,[14] अश्व-प[15], अश्व-पति)[16]; वृष्णाश्वों को बहुधा वधिया (वध्रि)[17] कर दिया जाता था।

लगाम (रश्मयः) के अतिरिक्त अवरोधकों (अश्वाभिधानी)[18] और कोड़ों (अश्वाजनि)[19] का भी उल्लेख है। *रथ* भी देखिये।

सिन्धु और *सरस्वती* के घोड़े विशेष महत्त्वपूर्ण [20] होते थे।

[14] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ४, ५।

[15] वाजसनेयि संहिता ३०. ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ९, १।

[16] वाजसनेयि-संहिता १६. २४; काठक संहिता १७. १३।

[17] ऋग्वेद ८. ४६, ३०।

[18] अथर्ववेद ४. ३६, १०; ५. १४, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३५; शतपथ ब्राह्मण ६. ३, १, २६; १३. १, २, १।

[19] ऋग्वेद ५. ६२, ७; ६. ७५, १३; वाजसनेयि-संहिता २९. ५०।

[20] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. २, १३; शाङ्खायन आरण्यक ९. ७; सिन्धु के विशेषण के रूप में 'वाजिनीवती', ऋग्वेद १०. ७५, ८, सरस्वती के लिये १. ३, १०; २. ४१, १८; ६. ६१, ३. ४; ७. ९६, ३; पिशल, उ० पु० १.१०; तु० की० त्सिमर ३० पु० २३०-२३२

अश्व-तर, अश्व-तरी—क्रमशः पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग ख़च्चरों के नाम हैं। अथर्ववेद[1] से लेकर उसके बाद इन पशुओं का बहुधा उल्लेख है। यह उपयोगी नहीं समझे जाते थे[2] और इन्हें घोड़ों से हीन समझा जाता था[3], परन्तु ख़च्चर-गाड़ियाँ काफी प्रचलित थीं।[4]

[1] ४. ४, ८; ८. ८, २२; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४७; ४. ९; शतपथ ब्राह्मण १२. ४, १, १० इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४, ४।

[2] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १. २. ३; तु० की० : इन्डिशे स्टूडियन में १. ४०, में अद्भुत ब्राह्मण।

[3] गधों की तरह; तैत्तिरीय संहिता ५. १, २, २; शतपथ ब्राह्मण ६. ४, ४, ७।

[4] ऐतरेय ब्राह्मण ४. ९; छान्दोग्य उपनिषद् ४. २, १ (दोनों ही स्थलों पर अश्वतरी-रथ)। तु० की० ऑर्टेल : ट्रा० सा० १५, १७५।

१. अश्व-त्थ—भारतवर्ष के सर्वाधिक विशालकाय वृक्षों में से एक है जिसे पिप्पल[1] (अब पीपल, Ficus religiosa) कहते हैं। अश्वत्थ की लकड़ी के बने पात्रों का ऋग्वेद[2] में उल्लेख है और बाद में[3] स्वयं इस वृक्ष का भी नित्य उल्लेख मिलता है। अग्नि उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त दो लकड़ियों

[1] नपुंसकलिङ्ग में 'पिप्पल' शब्द ऋग्वेद (१. १६४, २०) में एक बार आता है जहाँ पीपल वृक्ष के फल (गोदों) से तात्पर्य है।

[2] १. १३५, ८; १०. ९७, ५।

[3] अथर्ववेद ३. ६, १; ४. ३७, ४, इत्यादि।

(अरणि) में से ऊपरी लकड़ी के लिये इसी वृक्ष की लकड़ी का प्रयोग किया जाता था, तथा निचली लकड़ी *शमी*[4] की बनी होती थी। इसकी जड़ें अन्य वृक्षों, मुख्यतः *खदिर* की शाखाओं से लिपट जाती थीं और उन्हें नष्ट कर देती थीं[5]; अतः इसे 'विनाशक' (वैबाध) कहा गया है। इसके फलों (गोदों) के मीठा होने तथा पक्षियों[6] द्वारा खाये जाने का उल्लेख है। तृतीय स्वर्ग[7] में देवों के इसी वृक्ष के नीचे बैठने का उल्लेख है। इसे तथा *न्यग्रोध* को 'शिखण्डिन्'[8] कहा गया है।

[4] अथर्ववेद ६. ११, १; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १. १३।
[5] अथर्ववेद ३. ६।
[6] ऋग्वेद १. १६४, २०. २२।
[7] अथर्ववेद ५. ४, ३। तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ८.५, ३; कौषीतकि उपनिषद् १. ३।
[8] अथर्ववेद ४. ३७, ४। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन ५७, ५८।

२. *अश्वत्थ*—यह राजा, पायु को दान देने के लिये दानस्तुति[1] में प्रख्यात है। ग्रिफिथ[2] ने इसे *दिवोदास* बताया है किन्तु इस समतुल्यन के विषय में निश्चित रूप से कहना असम्भव है।

[1] ऋग्वेद ६. ४७, २४।
[2] ऋग्वेद के सूक्त १. ६११। मूल पाठ में इस नाम की वर्णरचना 'अश्वथ' है, किन्तु यह केवल 'त्थ' संयुक्ताक्षर का साधारणतया प्रयुक्त संक्षिप्त रूप मात्र है।

अश्व-दावन्—लुडविग[1] ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर, जहाँ पचास अश्वों के दान का उल्लेख है; इसे किसी राजा का नाम मानते हैं; किन्तु यह शब्द इन्द्र (अश्वों का दान करने वाला) का ही एक विशेषण प्रतीत होता है।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २७४।
[2] ५. १८, ३।

अश्व-पति (अश्वों का अधिपति)-*केकयों* के एक राजा का नाम है जिसने *प्राचीनशाल* और अन्य ब्राह्मणों[1] को उपदेश दिया था।

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ४; शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, २।

अश्वमेध (अश्वयज्ञ)—यह एक राजा है जिसका ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उल्लेख है जहाँ *त्र्यरुण* की दानस्तुति है और जिसमें तीन मन्त्र अश्वमेध की प्रशस्ति में भी जोड़ दिये गये हैं। *आश्वमेध* भी देखिये।

[1] ५. २७, ४-६। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, २७५।

अश्व-युजौ—देखिये *नक्षत्र*

अश्वल—*विदेह* के राजा *जनक* के इस होतृ पुरोहित का बृहदारण्यक उपनिषद् (३. १, २. १०) में एक अधिकारी विद्वान् के रूप में उल्लेख है।

अश्व-वार, अश्व-वाल (घोड़े की पूँछ का बाल)—प्रथम रूप मैत्रायणी संहिता[1] में आता है और द्वितीय काठक[2] तथा कपिष्ठल संहिताओं[3] और शतपथ ब्राह्मण[4] में आता है। यह नरकट के एक प्रकार (Saccharum spontaneum) का बोधक है।

[1] ३. ७, ९।
[2] २४. ८।
[3] ३८. १।
[4] ३. ४, १, ७। तु० की० मैत्रायणी संहिता १, ५० xv, फॉन श्रोडर संस्करण।

अश्व-सूक्ति एक द्रष्टा का नाम है जिसे ऋग्वेद-अनुक्रमणी ऋग्वेद[1] के दो मंत्र अध्यारोपित करती है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] 'अश्वसूक्ति' के 'सामन्' से परिचित है।

[1] ८. १४; १५।
[2] १९. ४, १०। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३० नोट ४।

अश्विनी—देखिये *नक्षत्र*

अषाढ उत्तर पाराशर्य—एक गुरु के रूप में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४१, १) के एक वंश में इसका उल्लेख है।

अषाढ कैशिन्—काठक संहिता[1] के एक भ्रष्ट और अस्पष्ट स्थल पर *कुन्तियों* द्वारा *पञ्चालों* की पराजय से सम्बद्ध यह एक व्यक्ति का नाम है।

[1] २६. ९; कपिष्ठल ४१. ७; देखिये वेबर : इण्डिशे स्टूडियन ३, ४७१।

अषाढा—देखिये *नक्षत्र*

अषाढि सौश्रोमतेय एक व्यक्ति था जिसके लिये शतपथ ब्राह्मण (६.२, १, ३७) में यह कहा गया है कि अग्नि-कुण्ड की नींव रखने से सम्बद्ध यज्ञ के हेतु अनुचित रूप से प्राप्त किये गये शिरों के कारण इसकी मृत्यु हो गई थी।

अष्टक—ऐतरेय ब्राह्मण[1] में इसका *विश्वामित्र* के एक पुत्र के रूप में उल्लेख है।

[1] ७. १७। शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २६ में भी।

अष्टका—देखिये *मास*

अष्ट-कर्णी—यह एक व्याहृति है जो ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आई है और रौथ[2] ने ही सर्वप्रथम एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में इसका विवेचन किया था। परन्तु, जैसा कि ग्रासमैन ने विचार व्यक्त किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि इसका अर्थ गाय है, कोई मनुष्य नहीं। एक

[1] १०.६२, ७।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

गाय का इस प्रकार वर्णन क्यों किया गया इसका ठीक ठीक कारण निश्चित नहीं किया जा सकता। बाद में रौथ[3] का विचार इसमें 'छिदे कानों वाला' आशय देखने की ओर प्रवृत्त हुआ और कालान्तर में पाणिनि[4] को भी इसी के समान विशेषण ज्ञात थे (भिन्न-कर्ण, छिन्न-कर्ण)। ग्रासमैन का अधिक स्पष्ट अनुवाद 'कान पर (अंग्रेजी संख्या) 8 की तरह चिह्न बना हुआ', मैत्रायणी संहिता[5] में दिये हुये इस प्रकार के समान विशेषणों द्वारा पुष्ट होता है : 'कान पर वल्लकी का चिह्न' (कर्करि–कर्ण्यः), 'कान पर हँसिया का चिह्न' (दात्र–कर्ण्यः), 'कान पर शङ्कु का चिह्न' (स्थूणा–कर्ण्यः), 'कान में छिद्र किया हुआ' (छिद्र–कर्ण्यः), और 'विष्टय-कर्ण्यः। 'चिह्नित कान' जैसे साधारण अर्थ की मैत्रायणी के उसी स्थल द्वारा पुष्टि होती है जहाँ 'चिह्नित करने' के आशय में क्रिया 'अक्त' का प्रयोग आता है। अथर्ववेद में मिथुन चिह्न का प्रयोग किया गया है, जो निश्चित रूप से गर्भाधान कराने के लिये प्रयुक्त एक अभिचारीय उपाय है।

कानों को चिह्नित करना एक नियमित प्रथा थी। अथर्ववेद[6] में इसका दो बार उल्लेख है। चिह्न को 'लक्ष्मन्'[7] कहा गया है और इसे एक तांबे की छुरी[8] (लोहित) से बनाया जाता था। मैत्रायणी संहिता[9] में बाण की नोक (तेजन) अथवा लोहे के उपयोग का निषेध है, किन्तु ईख के तने (इक्षु–काण्ड) अथवा तांबे की स्वीकृति है।

[3] तु० की० बौटलिङ्क : कोश।
[4] ६.३, ११५।
[5] ४.२, ९।
[6] ६.१४१, १.२; १२.४, ६।
[7] अथर्ववेद ६.१४१, २; मैत्रायणी-संहिता, उ० स्था०।
[8] अथर्ववेद उ० स्था०।
[9] उ० स्था०।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २३४, ३४८; डेलब्रुक : गुरुपूजा कौमुदी ४८, ४९; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १३, ४६६; ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद ३८७।

अष्टा-दंष्ट्र वैरूप—पञ्चविंश ब्राह्मण (८.९, २१) इसे दो सामन् अध्यारोपित करता है।

अष्ट्रा—हल जोतने वाले का 'अंकुश', कृषि का चिह्न है। इसका ऋग्वेद[1] में अनेक बार उल्लेख है।

[1] ४.५७, ४; ६.५३, ९; ५८, २; 'अष्ट्राविन' १०.१०२, ८ में आता है। कौशिक सूत्र ८०, भी देखिये। तु० की० रॉशर : आ० रे० १, ६३; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माईथौलोजी ३, २६४, नोट ८

असमाति राथ-प्रौष्ठ—रथप्रोष्ठ परिवार के इक्ष्वाकु राजा असमाति और उनके पुरोहित गौपायनों के बीच झगड़े की कथा केवल बाद के ब्राह्मणों[1] में ही मिलती है। यह ऋग्वेद[2] के एक त्रुटिपूर्ण पाठ पर आधारित है जहाँ असमाति केवल एक विशेषणमात्र है। बाद की कथा यह है कि इस राजा को अपने पारिवारिक पुरोहितों का बहिष्कार कर देने के लिये किरात और आकुलि नामक दो असुरों ने बहकाया था और जिन्होंने अपने अभिचार द्वारा पुरोहितों के एक भ्राता की मृत्यु भी कराई थी, किन्तु अन्य लोगों ने एक सूक्त (ऋग्वेद १०.५७–६०) द्वारा उसे पुनरुज्जीवित कर लिया था।

[1] जैमिनीय ब्राह्मण ३.१६७ (ज० अ० ओ० सो० १८, ४१ और बाद); ऋग्वेद १०.५७, १; ६०, ७, पर सायण द्वारा उद्धृत साट्यायनक; बृहद्देवता ७.८३ और बाद, पर मैकडानेल की टिप्पणी सहित; पञ्चविंश ब्राह्मण १३.१२, ५।

[2] १०. ६०, २. ५; अथर्ववेद ६. ७९, १। तु० की० व्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४९९: मैक्समूलर : ज० ए० सो० १८६६.४२६-४६५; बौटलिङ्क का कोश; हॉपकिन्स : ट्रा०सा० १५,४८, नोट १।

असि—सामान्यतया यज्ञ की छुरी[1] का द्योतक है, किन्तु कभी-कभी युद्ध में प्रयुक्त[2] छुरी के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया गया है। मियान (वव्रि)[3] का भी उल्लेख है जिसमें एक पेटी (वाल)[4] भी लगी होती थी। 'असि-धारा'[5] शब्द भी 'मियान' का ही द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १.१६२, २०; १०.७९, ६;८६, १८; अथर्ववेद ९.३, ९; १०.१, २०, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ११.९, १। 'तलवार' का उपयोग महाकाव्यों के समय में बढ़ चला था। देखिये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २८४।

[3] काठक संहिता १५.४।

[4] वही; मैत्रायणी संहिता २.६, ५।

[5] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३.१३९।

असिक्नी—(काला) ऋग्वेद[1] में एक नदी का नाम है जो बाद में 'चन्द्र-भागा' के नाम से प्रचलित हुई, और जिसे यूनानी 'अकेसिनेस' के नाम से जानते थे, तथा अब यही पंजाब की 'चेनाब' नदी है।

[1] ८.२०, २५; १०.७५, ५; निरुक्त ९.२६; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १२।

१. *असित*—'काले सर्प' का नाम है जिसका बाद की संहिताओं[1] में उल्लेख है।

[1] अथर्ववेद ३.२७, १; ५.१३, ५.६; ६.५६, २; इत्यादि। तैत्तिरीय संहिता ५.५, १०, १; मैत्रायणी संहिता ३.१४, १८; कदाचित् वाजसनेयि संहिता २४.३७।

२. *असित*—(क):—इस नाम का एक पौराणिक ऋषि *गय*[1] अथवा *जमदग्नि*[2] के साथ एक अभिचारी के रूप में अथर्ववेद में आता है। शतपथ ब्राह्मण[3] में यही 'असित धान्व'[4] के रूप में, और 'दैवल' अथवा 'देवल' के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[5] तथा काठक संहिता[6] में आता है।

[1] अथर्ववेद १.१४.४।
[2] अथर्ववेद ६.१३७, १।
[3] १३.४, ३, ११।
[4] शाङ्खायन.श्रौतसूत्र १६.२, १९ में धान्वन।
[5] १४.११, १८.१९; तु० की० १५.५, २७।
[6] २२.११ तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३२।

(ख):—*असित वार्ष-गण*—बृहदारण्यक उपनिषद्[1] की वंशतालिका के अनुसार *हरित कश्यप* का एक शिष्य है।

[1] ६.५, ३ (काण्व=६.४, ३३, माध्यन्दिन)

असित-मृग—ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उन *कश्यपों* के एक परिवार की उपाधि है, जो *जनमेजय* द्वारा यज्ञ से वहिष्कृत कर दिये गये थे किन्तु जिन्होंने राजा द्वारा नियुक्त *भूतवीरों* को यज्ञ सम्पन्न नहीं करने दिया था। जैमिनीय ब्राह्मण[2] और षड्विंश ब्राह्मण[3] में असितमृगों को 'कश्यपों का पुत्र' कहा गया है, जिनमें से एक का *कुसुरुबिन्दु*[4] *औद्दालकि* के नाम से उल्लेख है।

[1] ७.२७। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३४५।
[2] १.७५।
[3] १.४।
[4] असुरबिन्द, कुसुरबिन्द, कुसुरुबिन्दु, आदि प्रकार से पढ़ा जाता है।

असुर-विद्या—'असुरों का विज्ञान'—शाङ्खायन और आश्वलायन[1] श्रौत सूत्रों में, जहाँ इस व्याहृतिका शतपथ ब्राह्मण[2] में प्रयुक्त 'माया' शब्द के समानार्थी के रूप में प्रयोग हुआ है, स्पष्ट अर्थ जैसा कि प्रोफेसर एग्लिङ्ग[3] ने अनुवाद किया है, 'अभिचार' है।

[1] १०.७।
[2] १३.४, ३, ११; तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १०.६१, २.२१।
[3] से० बु० ई० : ४४, ३६८।

अस्तृ—ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में रथ पर बैठकर युद्ध करनेवाले धनुर्धर के लिये यह शब्द अक्सर प्रयुक्त हुआ है।

[1] १.८, ४; ६४, १०; २.४२, २, इत्यादि।
[2] ६.९३, १.२; ११.२, ७; तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन २९६।

अहन्—'दिन'—अन्य जातियों की भाँति भारतीय भी 'रात्रि' शब्द द्वारा ही समय तथा दिन को भी व्यक्त करते थे किन्तु, प्रमुखतः ऐसा ही नहीं था[१]। प्रकाश (अर्जुन) या दिन के विपरीत रात्रि को अन्धकारमय (कृष्ण) भी कहा गया है[२]। दिन और रात दोनों के संयुक्त बोध के लिये प्रयुक्त नियमित व्याहृति 'अहो-रात्र'[३] है।

स्वयं दिन को विभिन्न प्रकार से विभक्त किया गया है। अथर्ववेद[४] में 'उगता सूर्य' (उदयन् सूर्यः), 'गायों का एक साथ आना' (सं-गव), 'मध्याह्न' (मध्यं-दिन), 'अपराह्ण', और 'सूर्यास्त' (अस्तं-यन्), के आधार पर विभाजन मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[५] में इस क्रम के प्रथम और अन्तिम के स्थान पर 'प्रातः' (प्रातर्) और 'सन्ध्या' (सायाह्न) कर दिया गया है, साथ ही एक संक्षिप्त तालिका में केवल प्रातर, संगव और सायम् ही मिलता है। मैत्रायणी संहिता[६] में यह क्रम इस प्रकार् है : उषस्, संगव, मध्यंदिन, और अपराह्ण।

रिसमर के अनुसार प्रातःकाल को 'अपि-शर्वर'[७]—वह समय जब अन्धकार अभी-अभी समाप्त हुआ हो—भी कहा गया है। इसे 'स्वसर'[८] उस समय के रूप में कहा गया है जब प्रथम दोहन के पूर्व 'संगव' के समय गायें खा रही हों अथवा जब पक्षिगण जग रहे हों[९]। इसे 'प्रपित्व'[१०] भी कहते हैं जैसा कि त्सिमर[११] का विचार है। परन्तु गेल्डनर[१२] के विचार से इसका तात्पर्य मध्याह्नोत्तर समय से है जिसे 'अपि-शर्वर' भी कहते हैं क्योंकि यह वह समय होता है जब मानो भागता हुआ दिन अपनी समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहा होता है। अन्य दृष्टिकोण से संध्या को 'अभि-पित्व'[१३] अर्थात् वह समय जब सभी लोग विश्राम करने लगते हैं, भी कहा गया है।

१ ऋग्वेद ४.१६, १९; ८.२६, ३; १.७०, ४; तु० की० अथर्ववेद १०.७, ४२।
२ ऋग्वेद ६.९, १।
३ ऋग्वेद १०.१९०, २; अथर्ववेद १३.३, ८ इत्यादि; वाजसनेयि संहिता २३.४१ इत्यादि।
४ ९.६, ४५।
५ १.५, ३, १; ४, ९, २। ६ ४.२, ११।
७ ऋग्वेद : ३.९, ७; तु० की० औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १.२३०।
८ ऋग्वेद २.३४, ८; ९.९४, २।
९ ऋग्वेद २.१९, २; ३४, ५।
१० ऋग्वेद ७.४१, ४; ८.१, २९। सा० ऋ० १२७ और बाद में 'परितक्म्यायाम्' (ऋग्वेद १.११६, १५) की इसी प्रकार व्याख्या करते है।
११ आल्टिन्डिशे लेबेन ३६२।
१२ वेदिशे स्टूडियन २, १५५-१७९।
१३ ऋग्वेद १.१२६, ३; ४.३४, ५।

अन्यत्र प्रातःकाल और सन्ध्या को क्रमशः सूर्योदय का समय (उदिता-सूर्यस्य) अथवा उसका अस्त होना (नि-म्रुच) कहा गया है। मध्याह्न के लिये नियमित रूप से 'मध्यम अह्नाम्'[14], 'मध्ये'[15] अथवा 'मध्यंदिन' आता है। प्रातःकाल (प्रातर्) और मध्याह्न (मध्यंदिन) के बीच के पूर्वाह्न के समय के लिये 'संगव'[16] प्रयुक्त हुआ है।

एक दिन से कम के समय का विभाजन कदाचित् ही ठीक-ठीक मिलता है। फिर भी शतपथ ब्राह्मण[17] में एक दिन और रात को मिला कर ३० मुहूर्त; १ मुहूर्त = १५ क्षिप्र; १ क्षिप्र = १५ एतर्हि; १ एतर्हि = १५ इदानि; १ इदानि = १५ उच्छ्वास; १ उच्छ्वास = १ प्रश्वास; १ प्रश्वास = १ निमेष, इत्यादि का उल्लेख है। शाङ्खायन आरण्यक[18] में यह क्रम 'ध्वंसयो', 'निमेषाः', 'काष्ठाः', 'कलाः', 'क्षना', 'मुहूर्ता', 'अहोरात्राः', आदि है। दिन तथा रात का तीस-तीस भागों में विभाजन का उल्लेख ऋग्वेद[19] में त्सिमर के अनुसार मिलता है जिसकी तुलना वह बेबीलोनिया के दिन और रात के साठ भागों के विभाजन से करते हैं। परन्तु इस स्थल पर प्रयुक्त व्याहृति–तीस योजन–वर्गेन[20] के दृढ़ मतानुसार इतनी अस्पष्ट और सन्दिग्ध है कि उसके आधार पर निर्विवाद रूप से कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता।

समय के अपेक्षाकृत बड़े भागों को नियमित रूप से 'अर्ध-मास', 'मास', 'ऋतु' और वर्ष (संवत्सर) कहा गया है जो इस आशय में 'अहोरात्राणि' (दिन और रात) के बाद कभी-कभी[21] आते हैं।

[14] ऋग्वेद ७.४१, ४।

[15] ऋग्वेद ८.२७, २०।

[16] तु० की० ऋग्वेद ५.७६, ३ (संगवे, प्रातर् अह्नो, माध्यन्दिने); तैत्तिरीय ब्राह्मण २.१, १, ३; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १.१२, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ३.१८, १४; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ११२, ११३; त्सिमर : उ० पु० ३६२, में इससे बहुत सुबह गायों को बाहर हाँकने के पहले के समय का तात्पर्य मानते है।

[17] १२.३, २, ५। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०, १, १ और बाद।

[18] ७.२०। तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १४.७८, और बाद; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ९२–९५।

[19] ऋग्वेद १.१२३, ८।

[20] रिलिजन वेदिके ३, २८३ और बाद। तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में 'क्रतु'।

[21] तैत्तिरीय संहिता ७.१, १५; मैत्रायणी-संहिता ३.१२, ७; वाजसनेयि संहिता २२.२८; शाङ्खायन आरण्यक ७.२०; बृहदारण्यक उपनिषद् ३.८, ९, इत्यादि तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३६१–३६३।

अहल्या मैत्रेयी—वस्तुतः एक पौराणिक नाम है और इस स्त्री का अस्तित्व, जिसकी कथा अनेक ब्राह्मणों[1] में मिलती है, इन्द्र के एक विशेषण 'अहल्या का प्रेमी' (अहल्यायै जार) से निष्कृत है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ३.३, ४, १८; जैमिनीय ब्राह्मण २.७९; षड्विंश ब्राह्मण १.१।

अहि—ऋग्वेद[1] और उसके बाद सर्प के अर्थ में बहुधा आता है। अनेक बार[2] इसके द्वारा केचुल छोड़ने का भी उल्लेख है। सर्प की विचित्र चाल[3] का भी उल्लेख है जिसके कारण इसे 'दंतयुक्त रस्सी' (दत्वती रज्जुः) की उपाधि[4] दी गई है। इसके दंश को विषयुक्त होने[5] और शीतकाल में निश्चेष्टता के कारण इसे धरती की विवर में पड़ा रहने[6] का भी उल्लेख मिलता है। इसका छोड़ा हुआ चर्म मार्गतस्कर व्यक्तियों[7] के विरुद्ध कवच-स्वरूप प्रयुक्त होता था। एक काल्पनिक अश्व 'पैद्व' का भी उल्लेख है जिसे अश्विनों ने सर्पों से रक्षा के लिये[8] 'पेदु' को दिया था और जिसका सर्प विनाशक[9] के रूप में आह्वान किया गया है। 'नकुल' को इसका घोर शत्रु, और एक शामक जड़ी[10] के प्रयोग के कारण इसके (सर्प के) विष के प्रभाव से मुक्त समझा जाता था; जब कि मनुष्य सर्प को डंडों[11] से या सर पर आघात[12] करके मारते थे।

सर्पों की अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है: देखिये *अघाश्व, अजगर, असित, कङ्कपर्वन्, करिक्रत, कल्माषग्रीव, कसर्णील, कुम्भीनस, तिरश्चराजि, तैमात, दर्वि, दशोनसि, पुष्करसाद, पृदाकु, लोहिताहि, शर्कोट, श्वित्र, सर्प*।

[1] ७.१०४, ७ इत्यादि। 'सर्प' शब्द जो अथर्ववेद में बहुधा आता है, ऋग्वेद (१०.१६, ६) में केवल एक बार आया है।

[2] ऋग्वेद ९.८६, ४४; अथर्ववेद १.२७; शतपथ ब्राह्मण ११.२, ६, १३; बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४, १०; जैमिनीय ब्राह्मण १.९; २.१३९; काठक उपनिषद् २.६; १७।

[3] ऐतरेय आरण्यक ५.१, ४।

[4] अथर्ववेद ४.३, २।

[5] ऋग्वेद ७.१०४, ७; अथर्ववेद १०.४, ४ और बाद; ६, ५६।

[6] अथर्ववेद १२.१, ४६।

[7] अथर्ववेद १.२७।

[8] ऋग्वेद १.११७–११९।

[9] अथर्ववेद १०.४, ६.१०।

[10] अथर्ववेद ६.१३९, ५; ८.७, २३।

[11] अथर्ववेद १०.४, ९।

[12] अथर्ववेद ६.६७, २; देखिये त्सिमर: अल्टिन्डिशे लेबेन ९४, ९५।

अहीना आश्वत्थ्य—एक मुनि थे जिन्होंने एक संस्कार (सावित्रम्)[1] का ज्ञान अर्जित करके अमरत्व प्राप्त किया था।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०, ९, १०। नाम के प्रथम अंश का स्वरूप विशेष उल्लेखनीय है। दूसरे अंश की अश्वत्थ से तुलना की जा सकती है।

आ

आकुलि—यह पौराणिक पुरोहित *किरात* के साथ *असमाति* और *गौपायनों* की कथा के उत्तरार्ध के एक प्रसंग में कुछ कार्य करता है।

आक्तात्य—इनका एक गुरु के रूप में उल्लेख है जो अग्नि-कृत्य (अग्नि-चिति) के सम्बन्ध में ऐसा विचित्र दृष्टिकोण रखते हैं जिसे शतपथ ब्राह्मण[1] में अस्वीकृत किया गया है।

[1] ६.१, २, २४; तु० की० लेवी : ला डॉक्ट्रिने डु सैक्रीफाइस १४०।

आक्रमण—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१.३) में 'वृक्ष पर चढ़ने की सीढ़ी' के विशेष आशय में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

आखु—इस शब्द का ठीक-ठीक आशय अनिश्चित है। त्सिमर[1] इसका अनुवाद 'छुछुन्दरी' करते हैं, किन्तु रौथ[2] 'चूहा' अधिक उपयुक्त समझते हैं। वाद की संहिताओं[3] में इसका अक्सर प्रयोग है। ऋग्वेद[4] भी इससे परिचित है, जहाँ पिशल[5] के अनुसार यह शब्द 'चोर' का ही एक परवर्ती आशय रखता है। हिलेब्रान्ट[6] इसे अस्वीकार करते हैं।

[1] आल्टिन्डिशे लेवेन ८४, ८५; ब्लूमफील्ड अथर्ववेद के सूक्त १४२ भी इसे स्वीकार करते हैं।

[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; अथर्ववेद ३१७, ३१८ के अपने अनुवाद में ह्विट्ने ने भी इसे स्वीकार किया है।

[3] तैत्तिरीय संहिता ५.५, १४, १; मैत्रायणी संहिता ३.१४, ७; वाजसनेयि संहिता ३.५७; २४.२६; २८; अथर्ववेद ६.५०, १।

[4] ९.६७, ३०।

[5] वेदिशे स्टूडियन २, २४६; त्सी० गे० ४८, ७०१।

[6] त्सी० ४८, ४१८; वेद इन्टरप्रिटेशन ७।

आ-ख्यान—ऐतरेय ब्राह्मण[1] में हम शौनःशेप आख्यान '*शुनःशेप* की कथा' सुनते हैं जिसका राजसूय के समय होतृ पुरोहित ने वर्णन किया है।

[1] ७.१८, १०। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५.२७।

अश्वमेध के समय जब वर्ष भर अश्व को अपनी इच्छानुसार भ्रमण करने दिया जाता है, तब उस अवधि में कही जानेवाली कथा शृङ्खला[2] को 'परि-प्लवम्' कहा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण[3] उन आख्यान-विदों (कथा कहने में प्रवीण व्यक्तियों) का उल्लेख करता है जो 'सौपर्ण कथा' कहते हैं। सौपर्ण कथा अन्यत्र[4] *व्याख्यान* के नाम से प्रचलित है। निरुक्त[5] में यास्क इस शब्द का अक्सर और कभी-कभी इसे ऐतिहासिकों के सिद्धान्त अथवा ऋग्वेद के परम्परा गत विवेचकों[6] के सारगर्भित आशय में भी प्रयोग करते हैं।

[2] शतपथ ब्राह्मण १३.४, ३, २.१५।
[3] ३.२५, १।
[4] शतपथ ब्राह्मण ३.६, २, ७।
[5] ५.२१; ७.७।
[6] ११.१९; २५। तु० की० सा० ऋ० १६ और बाद।

आ-ख्यायिका—यह शब्द प्रत्यक्षतः किन्तु केवल एक बार ही वैदिक साहित्य में—तैत्तिरीय आरण्यक[1] के बाद के अंशों में आता है जहाँ इसका आशय सन्दिग्ध है।

[1] १.६, ३; तु० की० सा० ऋ० २०, नोट १।

आगस्त्य—एक गुरु के रूप में यह ऐतरेय (३.१, १) और शाङ्खायन (७.२) आरण्यकों में आता है।

आग्नि-वेशि शत्रि—ऋग्वेद[1] की एक दानस्तुति में यह किसी राजा का नाम प्रतीत होता है।

[1] ५.३४, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५५।

आग्नि-वेश्य—बृहदारण्यक उपनिषद के वंश में इस नाम के अनेक गुरुओं का उल्लेख है। माध्यन्दिन शाखा[1] में आग्निवेश्य *सैतव* का शिष्य है। कण्वशाखा के एक वंश[2] में यह *शाण्डिल्य* और *आनभिम्लात* का शिष्य है तथा दूसरे वंश[3] में *गार्ग्य* का।

[1] २.५, २१; ४.५, २७।
[2] २.६, २।
[3] ४.६, २।

आ-घाटि—नृत्य की संगत में प्रयुक्त यह एक वाद्य-यन्त्र—मजीरा, है। ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] दोनों ही इससे परिचित हैं।

[1] १०.१४६, २।
[2] ४.३७, ४ (आघाट), तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन २८९।

आङ्गिरस—*अङ्गिरस* परिवार का सदस्य होने के प्रमाण की द्योतक एक उपाधि, जिसे अनेक गुरुओं और ऋषियों ने धारण किया था, यथा : *कृष्ण, आजीगर्ति, च्यवन, अयास्य, संवर्त, सुधन्वन्* इत्यादि।

आज-केशिन्—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१.९, ३) के अनुसार यह एक परिवार का नाम है जिसमें वक ने इन्द्र के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग किया था।

आजनि—अथर्ववेद (३.२५, ५) में यह शब्द 'अंकुश' के लिये प्रयुक्त हुआ है।

आजात-शत्रव—देखिये *भद्रसेन*।

आजि—ऋग्वेद[1] और बाद के साहित्य में नियमित रूप से इसका एक 'दौड़' के आशय में प्रयोग हुआ है, और केवल कभी-कभी ही यह 'युद्ध' का द्योतक है। वैदिक भारतीयों[2] का प्रमुख मनोरंजन घुड़दौड़ और दूसरा पासा (अक्ष) खेलना था। ऐसा प्रतीत होता है कि घुड़दौड़ का पथ, जो काष्ठा[3] अथवा आजि[4] कहा जाता था, अथर्ववेद[5] के अनुसार प्रायः वृत्ताकार होता था, अर्थात् एक स्थान से चल कर पुनः उसी स्थान पर पहुँच जाता था (कार्ष्मन्)[6]। ऋग्वेद में इस पथ को चौड़ा (उर्वी) और इसके विस्तार के नाप को (अपावृक्ता अरत्नयः)[7] कहा गया है। पुरस्कार भी प्रदान (धा)[8] किये जाते थे और इसको प्राप्त करने के लिये लोग सहर्ष प्रतिस्पर्धा में भाग

[1] ५. ३७, ७; ६. २४, ६ इत्यादि।

[2] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २९१; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १२०; २, १ और बाद।

[3] ऋग्वेद ८. ८०, ८; अथर्ववेद २.१४,६।

[4] ऋग्वेद ४. २४, ८; अथर्ववेद १३.२,४।

[5] २. १४, ६; १३. २, ४।

[6] ऋग्वेद ९. ३६, १; ७४, ८।

[7] ऋग्वेद ८. ८०, ८ में आशय सन्दिग्ध है। त्सिमर के विचार से इसका अर्थ यह है कि दौड़ का पथ सीधा और बिना मोड़ वाला होता था; जिसके लिये तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १६०, जहाँ घुड़दौड़ पथ की, ऋग्वेद ३. ५३, २४ के उद्धरण के आधार पर धनुष की प्रत्यञ्चा से तुलना की गई है। इसका यह भी अनुवाद किया गया है कि 'प्रतिबन्ध हटा दिये गये हैं'।

[8] ऋग्वेद १.८१, ३; ११६, १५; ६. ४५, १, और बाद; ८. ८०, ८; ९. ५३, २; १०९, १०; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १२०, नोट २, के अनुसार, 'धन' ('धन्') 'आरम्भ' से बना है। तु० की० पिशल, वही, १७१; तु० की० 'धनसा' ऋग्वेद १.११२, ७.१०; २. १०, ६; ८. ३, १५ इत्यादि।

लेते थे। 'कार'[9] और 'भर'[10] विजय तथा पुरस्कार के लिये अन्य शब्द हैं; और दौड़ दौड़ने का 'आजिम् अज', 'इ', 'धाव्' 'सृ'[11] आदि व्याहृतियों द्वारा वर्णन किया गया है। जिस व्यक्ति ने घुड़दौड़ का आरम्भ किया उसे 'आजि-सृत्',[12] तथा इन्द्र को 'आजि-कृत्'[13] और 'आजि-पति'[14] कहा गया है।

क्षिप्र अश्वों को (वाजिन्, अत्य) जिनका दौड़ के लिये उपयोग होता था अक्सर नहलाया और अलंकृत[15] किया जाता था। पिशल के अनुसार[16] एक क्षिप्र अश्व का नाम भी सुरक्षित है, यथा: विश्पला,[17] जिसका एक दौड़ के समय टूटा एक पैर अश्विनों द्वारा फिर से ठीक कर दिया गया था; परन्तु यह मत अत्यन्त सन्दिग्ध है। गेल्डनर[18] ने ऋग्वेद के मुद्गल सूक्त में अश्व-रथ की दौड़ के एक हास्यात्मक चित्र की चर्चा की है; किन्तु ब्लूमफील्ड[19] ने यह दिखाया है कि यह विवेचन अविश्वसनीय है। पिशल[20] ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि देवताओं के सम्मानार्थ इन दौड़ों का आयोजन किया जाता था; किन्तु इस सिद्धान्त की पुष्टि के प्रमाण अपर्याप्त[21] हैं। फिर भी औपचारिक दौड़ का आयोजन राजसूय संस्कार[22] के समय होता था।

[9] ऋग्वेद ५. २९, ८; ९. १४, १।
[10] ऋग्वेद ५. २९, ८; ९.१६, ५ इत्यादि।
[11] ऐतरेय ब्राह्मण २. २५; ४. २७; शतपथ ब्राह्मण २. ४, ३, ४; ५. १, १, ३; ४, १; ६. १, २, १२; ७. १, २, १ इत्यादि।
[12] शतपथ ब्राह्मण ५. १, ५, १०. २८; ११. १, २, १३।
[13] ऋग्वेद ८. ५३, ६।
[14] वही १४।
[15] ऋग्वेद २. ३४, ३; ९. १०९, १०; १०. ६८, ११।
[16] वेदिशे स्टूडियन १, १७१-१७३; तु० की०, त्सा० ऋ० १२७ और बाद।
[17] ऋग्वेद १. ११६, १५। पिशल यहाँ विवस्वन्त के सम्मान में एक दौड़ का आयोजन समझते हैं, किन्तु इनके द्वारा 'खेल' और 'विवस्वन्त' को एक मानने के दृष्टिकोण को सीग तक, जिन्होंने इनके 'विशाल' के सिद्धान्त को मान लिया है, अस्वीकार करते हैं।
[18] वेदिशे स्टूडियन २, १ और बाद।
[19] त्सी० गे० ४८, ५४१ और बाद। फॉन श्रोडर: मि० ऋ० ३४६ और बाद, गेल्डनर का अनुसरण करते हैं। तु० की० विन्टर्निज: वियना ओरियण्टल जर्नल २३, १२७।
[20] वेदिशे स्टूडियन १, १७२।
[21] सीग: ऊ० पु० १२८।
[22] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ९; काठक संहिता १५. ८; वाजसनेयि संहिता १०. १९ और बाद; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ३; ३; तु० की० औल्डेनबर्ग: ऋग्वेद नोटेन १, ४३।

आजीगर्ति—देखिये *शुनःशेप*, जो ऐतरेय ब्राह्मण[1] में इस पैतृक नाम से विभूषित है। काठक संहिता में इसे आङ्गिरस कहा गया है।

[1] ७. १७; तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ११, २। | [2] १९. ११।

आज्य—देखिये *घृत*

आञ्जन—अथर्ववेद[1] में उल्लिखित एक दास, जो हिमालय के *त्रिककुभ*[2] पर्वत से आया था और जिससे आंखों में अंजन[3] लगाने का कार्य लिया जाता था। यमुना[4] क्षेत्र भी इसका सम्भाव्य मूल निवास कहा गया है' और आँजन या मरहम में पीतरोग, *यक्ष्मा*, *जायान्य* और अन्य रोगों[5] को दूर करने की क्षमता बताई गई है। पुरुषमेध[6] के बलिप्राणियों की तालिका में एक स्त्री अंजन-निर्मातृ का उल्लेख है।

[1] ४.९; ६.१०२, ३; ९.६, ११; १९.४४।
[2] अथर्ववेद ४. ९, ९. १०; १९. ४४, ६।
[3] तु० की० अथर्ववेद ४. ९, १ (अक्ष्यम्); ऐतरेय ब्राह्मण १. ३; अतः तैत्तिरीय संहिता ६.१, १, ५ की कथा; तु० की० १. २, १, २; मैत्रायणी संहिता ३. ६, ३; शतपथ ब्राह्मण ३. १, ३, १५; वाजसनेयि संहिता ४. ३।
[4] अथर्ववेद ४. ९, १०।
[5] अथर्ववेद १९. ४४, १ और बाद।
[6] वाजसनेयि संहिता ३०. १४ (आञ्जनीकारी); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १०, १। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ५, ६९; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ३८१ और बाद; अ० फा० १७, ४०५, ४०६; व्हिटने: अथर्ववेद का अनुवाद १५९।

आटिकी—छान्दोग्य उपनिषद् (१. १०, १) में *उषस्ति* की पत्नी का नाम है।

आट्णार—पर का पैतृक नाम।

आडम्बर—एक प्रकार का 'ढोल' था। वाजसनेयि-संहिता[1] की पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका में ढोल बजाने वाले (आडम्बरा-घात) का उल्लेख है।

[1] ३०. १९। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १४. ४, ८, १।

आणि—इस शब्द का, जो ऋग्वेद[1] में तो पाया जाता है परन्तु बाद[2] में बहुत कम, रौथ[3] और त्सिमर[4] के अनुसार सर्व ग्राह्य आशय रथ के अक्षि या

[1] १. ३५, ६; ५. ४३, ८।
[2] ऐतरेय आरण्यक के एक मंत्र में (२.७), देखिये कीथ का संस्करण पृ० २६६, २६७ और वाणी।
[3] सेन्ट पीटर्स बर्ग कोश, व० स्था०।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन २४७।

धुरे के उस भाग से है जो पहिये की नाभि में अन्तःन्यस्त या प्रविष्ट किया रहता था। सायण इसका अनुवाद 'यातना देने के लिये प्रयुक्त शूल' करते हैं और इसी आशय को रयूमैन[5] ने स्वीकार किया है। निरुक्त[6] में भी यही प्रतीत होता है। ऋग्वेद[7] के एक स्थान पर यह शब्द सहसमापत्ति के आधार पर सम्पूर्ण रथ का द्योतक प्रतीत होता है किन्तु गेल्डनर[8] के अनुसार यह स्थल नितान्त अस्पष्ट है।

[5] इटीमोलौजिशे वर्टरबुख़ ३०।
[6] ६. ३२।
[7] १. ६३, ८। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १. ९६।
[8] गेल्डनर : वही, १, १४१ नोट ३।

आण्डीक—(अण्डा देने वाली)—अथर्ववेद[1] में पाया जाने वाला यह शब्द खाने योग्य एक ऐसे पौधे का द्योतक है जिसकी फल और पत्तियाँ अण्डाकार (आण्ड) तथा कमल के समान होती थीं।

[1] ४. ३४, ५; ५. १७, १६। पैप्पलाद शाखा के प्रथम स्थल पर इसके स्थान पर 'पौण्डरीक' है; हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २०७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ७०; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, १३८।

आता—ऋग्वेद[1] और वाजसनेयि-संहिता[2] में यह शब्द बहुवचन रूप में दरवाज़ों के ढाँचे का बोधक प्रतीत होता है; यद्यपि ऋग्वेद के उक्त सभी स्थलों पर यह 'आकाश के दरवाज़ों' की सहसमापपत्ति द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। त्सिमर[3] इसकी तुलना लैटिन Antae से करते हैं जिससे व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस शब्द का साम्य[4] है।

[1] १. ५६, ५; ११३, १४; ३. ४३, ६; ९. ५, ५ (आतैः)।
[2] २९. ५ (आतैः), तु० की० 'आताभि', निरुक्त ४. १८ में दुर्गा पर।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १५४।
[4] ब्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस १. २०९; २. २१४।

आति—एक जल-पक्षी है। पुरूरवा और उर्वशी की कथा में अप्सरायें उनके सम्मुख 'आतियों', सम्भवतः हंसों[1] के रूप में आती हैं। इस पक्षी का नाम अश्वमेध के[2] पशुओं की तालिका में भी आता है, जहाँ महीधर[3] इसका अनुवाद वाद में प्रचलित 'आडी' (Turdus ginginianus) करते हैं,

[1] ऋग्वेद १०. ९५, ९; तु० की० शतपथ ब्राह्मण ११. ५, १, ४।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १३, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १८; वाजसनेयि संहिता २४. ३४।
[3] वाजसनेयि संहिता उ० स्था०।

और सायण[४] एक मत का उद्धरण देते हैं जिसके अनुसार आति को 'चाप' (Coracias indica) माना गया है।

[४] तैत्तिरीय संहिता उ० स्था०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ८९।

आतिथि-ग्व—*इन्द्रोत* का पैतृक नाम

आत्रेय—बृहदारण्यक उपनिषद्[१] में यह 'माण्टि' के एक शिष्य का पैतृक नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण[२] में *अङ्ग* के पुरोहित के रूप में भी एक आत्रेय आया है। कुछ सांस्कारिक कृत्यों[३] में आत्रेय नित्य ही पुरोहित होते थे, और शतपथ ब्राह्मण[४] के एक अस्पष्ट स्थल पर एक आत्रेयी भी आती है।

[१] २. ६, ३; ४. ६, ३ (दोनों ही पाठों में)
[२] ८. २२।
[३] वही. ७. ७; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, २१; कात्यायन श्रौतसूत्र १०. २, २१ (सदसः पुरस्तात्)।
[४] १. ४, ५, १३; तु० की० रौथः सेन्ट-पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

आत्रेयी-पुत्र—बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ५, २) के दोनों पाठों की वंशतालिका में *गौतमीपुत्र* के शिष्य के रूप में इसका उल्लेख है।

आथर्वण—पौराणिक अथर्वनों के आधार पर निर्मित पैतृक नाम जो नपुंसकलिङ्ग के वहुवचन रूप में अथर्वनों के सूक्तों की उपाधि के रूप में मिलता है। यह प्रयोग अथर्ववेद[१] के उन्नीसवें काण्ड के अन्तिम भाग, तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[२] में आता है। एकवचन रूप में आथर्वण (वेद) यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद्[३] के समय तक नहीं आया है, तथापिय ह 'अथर्ववेद' शब्द से, जो कि सर्वप्रथम सूत्रों[४] में पाया जाता है, पहले का है। निदान सूत्र[५] में 'आथर्वणिकाओं' अथवा 'अथर्ववेद के अनुगामी' आता है।

विशिष्ट, किन्तु मुख्यतः पौराणिक, आथर्वणों के नाम यह हैं : *कबन्ध*, *बृहद्दिव*, *भिषज्* , *दध्यञ्च* और *विचारिन्*।

[१] १९. २३, १।
[२] १२. ९, १०।
[३] ७. १, २. ४; ७, १।
[४] शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. २, १० इत्यादि
[५] २. १२। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्व वेद के सूक्त XXV.; अथर्ववेद, ८ और बाद।

आ-दर्श—(दर्पण) यह शब्द केवल उपनिषदों[1] और आरण्यकों[2] में मिलता है।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद २. १, ९; ३. ९, १५; छान्दोग्य उपनिषद् ८. ७, ४; कौषीतकि उपनिषद् ४. २; ११।

[2] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; शाङ्खायन आरण्यक ८. ७।

आदार—एक प्रकार का पौधा है जिसे *सोम*[1] का स्थानापन्न माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण[2] में इसे *पूतीक* के समतुल्य बताया गया है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १०, ४।

[2] १४. १, २, १२; तु० की० काठक संहिता २४. ३; कात्यायन श्रौतसूत्र १५. १२, १९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७६।

आनन्द-ज चान्धनायन का वंश ब्राह्मण[1] में *शाम्ब* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

आनभि-म्लात—का बृहदारण्यक उपनिषद[1] की वंश तालिका में "आनभिम्लात" के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] २. ६, २ (माध्यन्दिन शाखा में नहीं)।

आनव—देखिये *अनु*।

आनूक—गेल्डनर[1] का विचार है कि ऋग्वेद[2] में केवल एक बार आनेवाले इस शब्द का अर्थ एक आभूषण है। रौथ[3] इसे क्रियाविशेषण मानते हैं। लुडविग तथा ओल्डेनबर्ग ने भी यही ग्रहण किया है।

[1] वेदिशे स्टूडियन ३, ९४।

[2] ५. ३३, ९।

[3] सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

आपया एक नदी का नाम है जिसका केवल एक बार ऋग्वेद[1] में उल्लेख है जहाँ यह *दृषद्वती* और *सरस्वती* के बीच में आता है। लुडविग[2] इसे "आपगा" के समान ही गंगा का नाम मानते हैं, किन्तु त्सिमर[3], जिनका विचार अधिक उचित है, इसे सरस्वती के निकट मानते हैं जो या तो एक छोटी सहायक नदी के रूप में थानेसर अथवा और पश्चिम आधुनिक इन्द्रमती के

[1] ३. २३, ४।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००; किन्तु तु० की० वही ४, ३०४।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १८।

पास से वहती है। किन्तु पिशल[४] इसे कुरुक्षेत्र में स्थित मानते हैं जिस क्षेत्र में महाभारत[५] में "आपया" का एक प्रसिद्ध नदी के रूप में वर्णन है।

[४] वेदिशे स्टूडियन २, २१८।

[५] महाभारत ३. ८३, ६८।

आवयु—अथर्ववेद[१] में यह प्रत्यक्षतः एक पौधे का नाम है जिससे सरसों[२] के पौधे का अर्थ हो सकता है, किन्तु यह आशय सर्वथा अनिश्चित है।[३]

[१] ६. १६, १।

[२] ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ४६५, कौशिक सूत्र में इस सूक्त के प्रयोग के संकेत का अनुगमन करते हुये।

[३] ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद २९२; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ७२।

आभि-प्रतारिण-वृद्धद्युम्न—का पैतृक नाम।

आ-भूति त्वाष्ट्र—बृहदारण्यक उपनिषद्[१] की दो वंशतालिकाओं में यह *विश्वरूप त्वाष्ट्र* के शिष्य के रूप में आता है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि यह दोनों ही गुरु समान रूप से पौराणिक हैं।

[१] २.६, ३; ४.६, ३ (दोनों ही शाखाओं में)

आमलक (नपुंसक) बाद का एक साधारण शब्द है जो छान्दोग्य उपनिषद (७.३,१) में 'आमलकी' के आशय में मिलता है। तुलना कीजिये *अमला*।

आमिक्षा—जमी हुई दही के आगार का द्योतक है। ऋग्वेद में यह अपरिचित है किन्तु बाद की सभी संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] इत्यादि में आता है, और तैत्तिरीय आरण्यक[३] में वैश्य से सम्बद्ध है।

[१] अथर्ववेद १०. ९, १३; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ५, ४; ३. ३, ९, २; ६. २, ५, ३; मैत्रायणी संहिता २. १, ९; वाजसनेयि संहिता १९. २१; २३ इत्यादि।

[२] शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, ७. ९; ३. ३, ३, २ इत्यादि; तैत्तिरीय आरण्यक २. ८, ८; जैमिनीय ब्राह्मण २. ४३८ (ज० अ० ओ० सो० १९, ९९, १०१); छान्दोग्य उपनिषद् ८. ८, ५ इत्यादि।

[३] उ० स्था०; तु० की० मानव श्रौत सूत्र २. २, ४०।

आम्ब—तैत्तिरीय[१] और काठक[२] संहिताओं में यह एक अनाज का द्योतक है जिसे शतपथ ब्राह्मण[३] में *नाम्ब* कहा गया है।

[१] १.८, १०, १।

[२] १५.५।

[३] ५.३, ३, ८।

आम्बष्ठ्य—इसका ऐतरेय ब्राह्मण (८.२१) में एक राजा के रूप में उल्लेख है जिसके राजसूय के समय *नारद* पुरोहित थे। कदाचित् यह नाम स्थानीय

है, जिसका अर्थ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश की विवेचना के अनुसार "अम्बष्ठों का राजा" है। बाद में 'अम्बष्ठ' शब्द का अर्थ 'क्रमशः ब्राह्मण और वैश्य पिता तथा माता से उत्पन्न एक मिश्रित जाति का व्यक्ति' है।

आ-यतन—"घर" अथवा "आवास" सम्बन्धी इसका सामान्य आशय छान्दोग्य उपनिषद् (७.२४,२) के एक स्थान तक ही सीमित है, जबकि "पवित्र स्थान" के आशय में यह महाकाव्यों में भी मिलता है।

आयवस—का ऋग्वेद[1] के एक दुरूह और भ्रष्ट मन्त्र में एक राजा के रूप में उल्लेख मिलता है।

[1] १.१२२, १५; तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०६; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

आयु—ऋग्वेद[1] में इन्द्र की सहायता से *तूर्वयाण*—जो पिशल[2] के अनुसार *पक्थस्* का राजा था—द्वारा *कुत्स* और *अतिथिग्व* के साथ पराजित होने के रूप में आया है। सम्भवतः अन्यत्र[3] इन्द्र की सहायता से इसका *वेश* के विजेता के रूप में भी उल्लेख है। अन्य स्थलों पर यह सर्वथा पौराणिक[4] है।

[1] १.५३, १०; २.१४, ७; ६.१८, ३; ८.५३, २; बर्गेन : रिलिजन वेदिके १, ६०।

[2] वेदिशे स्टूडियन १.७१–७५।

[3] ऋग्वेद १०.४९, ५; किन्तु यह शब्द सम्भवतः व्यक्तिवाचक नहीं है।

[4] तु० की० मैकडॉनल : वैदिक माइथौलोजी १००, १३५, १४०।

आयुत—देखिये द्यूत

आयुध—"अस्त्र"—विस्तृत आशय में इसके अन्तर्गत क्षत्रियों के वह सभी युद्ध-उपकरण आ जाते हैं जिन्हें ऐतरेय ब्राह्मण[1] ने इस प्रकार गिनाया है : अश्व-रथ, धनुष-बाण (इषु-धन्व) और कवच। धनुष और बाण वैदिक योद्धाओं के प्रमुख तथा अनिवार्य शस्त्र थे, अतः ऋग्वेद[2] और उसके बाद जहाँ भी 'आयुध' का अस्त्र के आशय में प्रयोग हुआ है उससे कदाचित् धनुष-बाण का ही तात्पर्य है। ऋग्वेद का युद्ध सूक्त इस दृष्टिकोण की पुष्टि करता है, क्योंकि इसमें योद्धा को धनुष-बाण युक्त कवच पहने हुये (*वर्मन्*), धनुष की प्रत्यञ्चा के घर्षण से बचाने के लिये बाईं भुजा पर एक सुरक्षात्मक आवरण (*हस्तघ्न*) पहने हुये, रथारूढ बताया गया है। कवच एक ही

[1] ७.१९, २,।

[2] १.३९, २; ६१, १३; ९२, १; २.३०, ९ इत्यादि; अथर्ववेद ६.१३३, २ इत्यादि।

[3] ६.७५।

ठोस धातु का नहीं होता था वरन् उसमें कई टुकड़े एक साथ संयुक्त (स्यूत)[4] रहते थे और यह सब या तो धातु की पट्टियों द्वारा बने होते थे, अथवा, जैसा कि अधिक सम्भव है, किसी अन्य ठोस पदार्थ के जिस पर धातु का आवरण चढ़ा रहता था। इनके अतिरिक्त योद्धा शिरस्त्राण (*शिप्रा*) भी पहन रखता था। ढाल के उपयोग का कोई संकेत नहीं है, और न इसी का कोई प्रमाण है कि पैरों के लिये[5] किसी प्रकार के सुरक्षात्मक उपकरण का प्रयोग होता था। अस्त्रों के उपयोग में प्रवीणता का ऋग्वेद[6] में उल्लेख है।

साधारणतया अवलंब पाषाणों (*अद्रि, अशनि*) का उपयोग होता था अथवा नहीं यह सन्दिग्ध है। अंकुश[7] भी केवल एक दिव्य अस्त्र मात्र है, और कुठार (स्वधिति,[8] वाशी, परशु) भी मानवीय युद्धों में नहीं प्रयुक्त हुआ है। तोमर के उपयोग के लिये *ऋष्टि, रम्भिणी, शक्ति, शरु,* और तलवार के लिये *असि, कृत,* देखिये। युद्ध के लिये इन दोनों में से किसी भी अस्त्र का साधारणतया प्रयोग नहीं होता था, और न तो गदा (*वज्र*) ही प्रयुक्त हुआ है। युद्ध की पद्धतियों के लिये देखिये *संग्राम*।

[4] ऋग्वेद १.३१, १५।
[5] ग्रासमैन ऋग्वेद १.१३३, २ में 'वद्दूरिणा पदा' को पैरों के लिये प्रयुक्त सुरक्षात्मक आवरण के अर्थ में ग्रहण करते हैं, किन्तु यह नितान्त असम्भव है।
[6] १.९२, १; तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, १८३; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २९५।
[7] ऋग्वेद ८.१७, १०; १०.४४, ९; १३४, ६; अथर्ववेद ५.८३, ३; तु० की० मुईर : संस्कृत टेक्स्ट् ५, ८७।
[8] ऋग्वेद ५.३२, १०; ९.६७, ३०; १०.४३, ९; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २९८–३०१; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट् ५, ४६९–४७२; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २८१ और बाद।

आयोगव—मरुत्त *आवि-क्षित* नामक आयोगव राजा का शतपथ, ब्राह्मण[1] में याजक के रूप में उल्लेख है जहाँ इसके यज्ञ की प्रख्याति में एक "गाथा" का भी उद्धरण है। तुलना कीजिये *अयोगू*।

[1] १३.५, ४, ६; तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ९, १४-१६।

आरङ्गर—मधुमक्खी का एक नाम जो ऋग्वेद[1] में मिलता है। इसके अन्य नाम *सरह्* और *भृङ्गा* हैं।

[1] १०.१०६, १०; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९७।

आरा—यह शब्द जो बाद[1] में आरी के रूप में जाना जाने लगा, ऋग्वेद[2] में केवल पूषन् के एक अस्त्र का द्योतक है जिसकी पशुपालन विषयक प्रवृत्ति के कारण "चर्म-भेदिनी" के रूप में इसका बाद के प्रयोग का आशय ठीक बैठता है। तुलना कीजिये *वाशी*।

[1] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३,३६५, नोट १।
[2] ६.५३, ८।

आराढि—*सौजात* का पैतृक नाम। तु० की० *अराड*।

आरुण औप-वेशि—इसके प्रथम शब्द को मैत्रायणी संहिता की पाण्डु-लिपियों के आधार पर इसी रूप में पढ़ा जाता है किन्तु यह निःसन्देह *अरुण* का एक अशुद्ध रूप है।

आरुणि—एक पैतृक नाम है जो *अरुण औपवेशि* के पुत्र *उद्दालक* के लिये आता है। कदाचित आरुणि यशस्विन् से भी, जो कि जैमिनीय ब्राह्मण[1] में सुब्रह्मण्या के गुरु के रूप में आता है, उद्दालक का ही अर्थ है। आरुणियों का उल्लेख जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2], काठक संहिता[3] तथा ऐतरेय आरण्यक[4] में भी है।

[1] २.८०।
[2] २.५, १; तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक २०४।
[3] १३.१२।
[4] २.४. १।

आरुणेय—यह *श्वेतकेतु* का एक विशेषण है, जो *उद्दालक आरुणि* और *अरुण औपवेशि* के वंश से इसकी उत्पत्ति का द्योतक है। प्रत्यक्षतः यह शतपथ ब्राह्मण[1] और छान्दोग्य उपनिषद्[2] तक ही सीमित है जिनमें श्वेतकेतु प्रमुख रूप से आया है।

[1] १०.३, ४, १; ११.२, ७, १२; ५,४, १८; ६, २, १; १२.२, १, ९; बृहदारण्यक उपनिषद ६.२,१।
[2] ५. ३, १; ६.१, १।

आर्त्त—यह *श्रुतर्वन्* और *आश्वमेध* का पैतृक नाम है।

आर्जीक[1] और *आर्जीकीय*[2] (पुलिङ्ग), *आर्जीकीया*[3] (स्त्रीलिङ्ग) :—दोनों पुलिङ्ग रूप सम्भवतः किसी जाति या देश के द्योतक हैं, जब कि स्त्रीलिङ्ग शब्द का तात्पर्य उस देश की नदी से है। हिलेब्रान्ट[4] इस देश की स्थिति काश्मीर

[1] एकवचन : ऋग्वेद ८.७, २९; ९.११३, २; बहुवचन : ९.६५, २३।
[2] ऋग्वेद ८.६४, ११।
[3] ऋग्वेद १०.७५, ५।
[4] वेदिशे माईथौलोजी १, १२६-१३७।

के निकट मानते हैं, क्योंकि अर्रियन[5], अभिसारेस के भ्राता असर्सिस क उल्लेख करते हैं जिसने सम्भवतः अपने देशवासियों से ही अपना नाम ग्रहण किया था, और अभिसार काश्मीर की सीमा पर है। पिशल[6] आर्जीक को एक देश का द्योतक मानते हैं, जिसकी स्थिति इनके अनुसार निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। परन्तु न तो रौथ[7] और न त्सिमर[8] ही इस शब्द को व्यक्तिवाचक स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत सभी विद्वान् आर्जीकीया को एक नदी का नाम मानने पर सहमत हैं। रौथ[9] केवल एक स्थल पर[10] ही ऐसा स्वीकार करते हैं, और अन्यत्र इसे सोम पात्र के सन्दर्भ में ग्रहण करते हैं; परन्तु यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस शब्द का सभी स्थलों पर समान अर्थ ही किया जाय। त्सिमर नदी की स्थिति नहीं बताते, और पिशल इसके निश्चय की सम्भावना तक को ही अस्वीकार करते हैं। हिलेब्रान्ट का विचार है कि यह सिन्धु का ऊपरी भाग, *वितस्ता* (झेलम) अथवा कोई अन्य नदी है। ग्रासमैन, यास्क[11] का अनुसरण करते हुये इसे *विपाश* (व्यास) मानते हैं, किन्तु नदियों की स्तुति के सूक्त (नदी-स्तुति)[12] में इसके नाम की स्थिति द्वारा यह विचार असम्भव हो जाता है। ब्रुनहोफर[13] इसे 'अर्घनाब' की सहायक 'अर्घेसन' मानते हैं।

[5] अनाबेसिस, ५.२९, ४।
[6] वेदिशे स्टूडियन २, २०९, २१७।
[7] सेन्टपीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[8] आल्टिन्डिशे लेबेन १२-१४।
[9] उ० पु० सुषोमा, व० स्था०।
[10] ऋग्वेद १०.७५, ५।
[11] निरुक्त ९.२६।
[12] ऋग्वेद १०.७५।
[13] ईरान उन्ट तूरान ५२; तु० की० मैक्स-मूलर : से० बु० ई० ३२, ३९८; ३९९।

आर्जुनेय :—ऋग्वेद[1] में यह *कौत्स* के पैतृक नाम के रूप में आता है।

[1] १.११२, २३; ४.२६, १; ७.१९,२; ८. १, ११।

आर्तभागी-पुत्र—बृहदारण्यक उपनिषद्[1] की वंशतालिका में *शौङ्गी-पुत्र* के शिष्य के रूप में इसका उल्लेख है। आर्तभाग उसी उपनिषद्[2] में जरत्कारव का पैतृक नाम है।

[1] ६ ५, २ (माध्यन्दिन पाठ में भी)
[2] ३.२, १.१३।

आर्तव—यह व्याहृति वर्ष के एक ऐसे भाग की द्योतक है जिसमें एकाधिक ऋतुयें हों। किन्तु इसका ठीक-ठीक आशय "अर्धवर्ष" नहीं है, जैसा कि

त्सिमर[1] का विचार है। ऐसा इस बात से सिद्ध होता है कि यह नित्य ही बहुवचन में आता है, द्विसंख्यक के रूप में नहीं। अथर्ववेद में यह ऋतुओं और वर्षो (हायन)[2] के बीच में आता है; किन्तु साथ ही "ऋतुओं, आर्तवों, मासों, वर्षों"[3]; "अर्धमासों, मासों, आर्तवों, ऋतुओं"[4]; "ऋतुओं, आर्तवों, मासों, अर्धमासों, दिन और रात, दिन"[5], की सम्मिलिति व्याहृति के रूप में भी; और वाजसनेयि संहिता में "मासों, ऋतुओं, आर्तवों, वर्ष[6] अथवा केवल ऋतुओं[7] के साथ ही आता है।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन ३७४;
[2] ३. १०, ९।
[3] ३. १०, १०।
[4] ११.७, २०; तु० की० १५. ६, ६;१७,६;
[5] १६. ८, १८।
[6] २२. २८।
[7] अथर्ववेद ५. २८, २. १३; १०. ६, १८; ७, ५; ११. ३, १७; ६, १७; तैत्तिरीय संहिता ७. २, ६, १. ३। सेन्टपीटर्सवर्ग कोश, द्वारा इस आशय में उद्धृत कौषीतकि उपनिषद (१. ३) को ऐसा ही नहीं समझना चाहिये क्योंकि यहाँ यह शब्द केवल विशेषणात्मक है।

आर्ती—धनुष के किनारे के उस भाग का द्योतक है जिससे धनुष की प्रत्यञ्चा (ज्या) सम्बद्ध[1] रहती थी। प्रत्यञ्चा हर समय धनुष के दोनों सिरों से बँधी नहीं रहती थी वरन् जब बाण चलाना होता था तब इसे तानकर[2] बाँध दिया जाता था। इसके विपरीत, बाद की संहिताओं[3] और ब्राह्मणों[4] में वर्णित विष्णु की मृत्यु कथा में इसका स्पष्ट उल्लेख है कि वह (विष्णु) तनी हुई धनुष पर टिके हुए थे जबकि सहसा प्रत्यञ्चा के टूट जाने से धनुष के दोनों सिरे झटके से सीधे हो गये और प्रत्यञ्चा से उनका सिर भिद गया था।

[1] ऋग्वेद ६. ७५, ४; अथर्ववेद १. १, ३; मैत्रायणी संहिता २. ९, २; काठक संहिता १७. ११; वाजसनेयि संहिता १६. ९ इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १०. १६६, ३; तु० की० अथर्ववेद ६. ४२, १;
[3] मैत्रायणी संहिता ४. ५, ९।
[4] पञ्चविंश ब्राह्मण ७. ५, ६; शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, ७ और बाद।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २९७,२९८; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १३, २७०;

आर्य—ऋग्वेद[1] से लेकर आगे वैदिक साहित्य में यह सामान्यतया आर्य जाति के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो शतपथ ब्राह्मण[2] में दिये हुये औपचारिक विभाजन के अनुसार *ब्राह्मण, क्षत्रिय* और *वैश्य* जाति के सदस्य होते थे।

[1] ऋग्वेद १. ५१, ८; १३०, ८; १५६, ५ इत्यादि।
[2] ४. १, ६ (काण्व शाखा में)।

आर्यों को दासों[3] और शूद्रों का भी विरोधी कहा गया है। कभी-कभी[4] इस व्याहृति का प्रयोग वैश्यों तक ही सीमित है, और ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिये विशेष उपाधियों का प्रयोग किया गया है; किन्तु यह प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं है; और अक्सर ऐसे स्थलों पर *आर्य* से ही तात्पर्य है यह भी निश्चित नहीं। "शूद्रार्यौ"[5] वाकपद मुख्यतः सन्दिग्ध है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः यह शूद्रों और आर्यों का द्योतक था क्योंकि, महाव्रत उत्सव में तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार एक आर्य और शूद्र के युद्ध को ब्राह्मण और शूद्र के बीच का युद्ध कहा गया है, यद्यपि सूत्र इसे एक वैश्य और शूद्र के बीच हुआ युद्ध मानता है।

आर्य शब्द (स्त्रीलिंग 'आर्या' अथवा 'आरी') बहुधा विशेषण के रूप में आर्य वर्गों (विषः),[6] अथवा नामों (नामन्),[7] अथवा वर्णों (वर्ण),[8] अथवा आवास (धामन्),[9] के वर्णन के लिये प्रयुक्त हुआ है। देशों पर आर्यों के प्रभुत्व विस्तार (व्रत)[10] के सन्दर्भ में भी इसका प्रयोग हुआ

[3] ऋग्वेद १. ५१, ८. ९; १०३, ३; ६. २०, १०; २५, २. ३ इत्यादि (दासों के विरोधी); अथर्ववेद ४. २०, ४. ८; मैत्रायणी संहिता ४. ६, ६; वाजसनेयि संहिता १४, ३० इत्यादि (शूद्रों के विरोधी)।

[4] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २०५, २१५ में यह प्रयोग पाते हैं—जैसा कि आर्यों का यह अर्थ अथर्ववेद १९. ३२, ८ और ६२, १ में है—तथा उन स्थलों पर जहाँ 'शूद्रार्यौ' मिलता है। ह्विट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद ९४८, १००३, में लैनमैन को भी इससे सहमत होने का उद्धरण देते हैं; किन्तु ह्विट्ने के अनुवाद द्वारा इस बात में कोई संदेह नहीं कि उन्होंने पाठ को 'आर्य' पढा या समझा न कि 'वैश्य'। ह्विट्ने के दृष्टिकोण के लिये अथर्ववेद ४. २०, ४. ८ का उद्धरण दिया जा सकता है; और रौथ: सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था० में भी इस स्थल को इसी आशय में ग्रहण करते हैं। तैत्तिरीय संहिता ४. ३, १०, ८, में शूद्रार्यौ का आशय निश्चित रूप से शूद्र और वैश्य होना चाहिये; किन्तु पद पाठ इसे आर्य मानता है; और त्सिमर भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं।

[5] देखिये तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ९, ३, साथ ही कात्यायन श्रौतसूत्र १३. ३, ७. ८; काठक संहिता ३४. ५; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ५, १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, ६, ७; लाट्यायन सूत्र ४. ३, ५; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १७. ६, २; अनुपद सूत्र ७. १०।

[6] ऋग्वेद १. ७७, ३; ९६, ३१; १०. ११, ४; ४३, ४ इत्यादि।

[7] ऋग्वेद १०. ४९, ३।

[8] ऋग्वेद ३. ३४, ९; तु० की० वर्ण।

[9] ऋग्वेद ९. ६३, १४।

[10] ऋग्वेद १०. ६५, ११। अग्नि और इन्द्र को आर्य और आर्यों का सहायक कहा गया है (ऋग्वेद ६. ६०, ६);

है। दास शत्रुओं के अतिरिक्त आर्य शत्रुओं (व्रत्र)[11] का उल्लेख है और आर्यों के विरुद्ध आर्यों के युद्ध तथा दासों के विरुद्ध आर्यों के युद्ध के भी अनेक[12] उल्लेख हैं। इन सबसे यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऋग्वेद के समय तक भी आर्य जातियाँ मूल-निवासियों पर साधारण विजय की सीमा से कहीं आगे तक बढ़ चुकी थीं। बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में वर्णित युद्धों का आशय मुख्यतः आर्यों के युद्ध से है जो कि निःसन्देह आर्यों और दासों के सम्मिलन के परिणामस्वरूप एक जाति का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे। वेबर[13] का विचार है कि ऋग्वेद में उल्लिखित पाँच जाति के लोग आर्य थे और चार जाति के लोग पृथ्वी की चार दिशाओं (दिश्) के, किन्तु यह सन्दिग्ध है। ऐतरेय और शांखायन आरण्यकों में आर्यों की बोली (वाच्)[14] का विशेष उल्लेख है।

[11] ऋग्वेद ६. ३३, ३; ७. ८३, १; १०. ६९, ६।

[12] ऋग्वेद १. १०२, ५; ३. ३२, १४; ६. २२, १०; २५, २. ३; ८. २, ४. २७; १०.३८, ३; ८३, १; १०२,३ इत्यादि।

[13] इन्डिशे स्टूडियन १७, २८८। तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में कृष्टि और पञ्चजनासः।

[14] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ५; शाङ्खायन आरण्यक ८. ९; तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक १९६, २५५; और वाच्।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०७ और बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २१४, और बाद।

आर्य—देखिये *माल्य*

आर्ष्टि-षेण—देवापि[1] का पैतृक नाम।

[1] ऋग्वेद १०. ९८, ५. ६. ८; निरुक्त २. ११; बृहद्देवता ७. १५५।

आल—अथर्ववेद[1] में यह "पौधे" का नाम है और सायण के अनुसार तृण लताओं (सस्य-वल्ली) के द्योतक तीन अन्य शब्दों[2], यथाः अलसाला, सिलञ्जाला[3] और नीलागलसाला, का भाग प्रतीत होता है। फिर भी ह्विट्ने[4] का विचार है कि इन शब्दों को कोई निश्चित आशय नहीं प्रदान किया जा सकता।

[1] अथर्ववेद ६. १६, ३; किन्तु ह्विट्ने इस शब्द को ५. २२, ६ से तुलना करते हुये क्रिया मानते है।

[2] अथर्ववेद ६. १६, ४।

[3] सायण इसे सलाञ्जाला पढ़ते हैं और कौशिक सूत्र (६. १६) की पाण्डुलिपियों में यह सिलाञ्जाला है। किन्तु तु० की० सिलाची।

[4] अथर्ववेद का अनुवाद २९२, २९३। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४६६।

आलम्बायनी-पुत्र—बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५,२) के काण्व शाखा की वंशतालिका में इसका *आलम्बी-पुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। माध्यन्दिन शाखा (६.४,३२) में यह संबंध उल्टा हो गया है क्योंकि वहाँ इसे आलम्बी-पुत्र का गुरु तथा *जायन्ती-पुत्र* का शिष्य बताया गया है।

आलम्बी-पुत्र—बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५,२) के काण्व शाखा की वंशतालिका में यह *जायन्ती-पुत्र* का शिष्य है किन्तु मध्यन्दिन शाखा (६.४,३२) के अनुसार *आलम्बायनी-पुत्र* का शिष्य।

आलिगी—अथर्ववेद (५.१३,७) में यह एक प्रकार के सर्प का नाम है। तुलना कीजिये *विलिगी*।

आ-वसथ—(आवास) इस शब्द का ठीक-ठीक आशय[1] भोजनोत्सव और यज्ञ के समय अतिथियों, मुख्यतः ब्राह्मणों और अन्य व्यक्तियों का स्वागत करने का स्थान (एक प्रकार से आधुनिक अर्थ में तीर्थ-यात्रियों के विश्राम के लिये निर्मित धर्मशाला) प्रतीत होता है, जिसका उपयोग "निवास स्थान" के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य आशय[2] से गृहीत हुआ है।

[1] अथर्ववेद ९. ६, ५ (ब्राह्मणों के सत्कार की स्तुति का एक सूक्त); तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १०, ६; ३. ७, ४, ६; शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ४, ६ (जहाँ एग्लिङ्ग इस शब्द का ऐसा अनुवाद करते हैं जैसे इसका आशय केवल 'घर' हो); छान्दोग्य उपनिषद् ४.१,१ इत्यादि। इसका विस्तृत विवरण सूत्रों में मिलता है, यथा : आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ५. ९, ३; धर्म सूत्र २. ९, २५,४;

[2] उदाहरण के लिये, ऐतरेय उपनिषद ३. १२। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १२०, नोट १।

आविक (भेड़ों से प्राप्त "अवि")—ऊन के लिये प्रयुक्त एक शब्द है जो सर्वप्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् (२.३,६) में आता है। तुलना कीजिये *अवि*।

आवि-क्षित—यह *आयोगव मरुत्त*[1] का पैतृक नाम है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ६;

आ-शरीक—अथर्ववेद[1] में *जङ्गिद* पौधे की शक्ति की प्रशस्ति के एक सूक्त में यह एक व्याधि का द्योतक प्रतीत होता है। त्सिमर[2] के विचार से

[1] १९. ३४, १०।

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन ६५, ३९१।

इसका तात्पर्य ज्वर की दशा में उत्पन्न हाथ-पैर की पीड़ा से है। ह्विट्नी[3] इस शब्द को केवल एक विशेषण मात्र मानने के पक्ष में हैं।

[3] अथर्ववेद का अनुवाद ९५३; तु० की० ब्लूमफील्ड ; अथर्ववेद के सूक्त ६७३;

आ-शिर्—(मिश्रण) का तात्पर्य मिश्रित करने और विशेषतः देवों को अर्पित करने से पूर्व सोम रस में दूध मिश्रित करने से है। इस आशय में यह ऋग्वेद[1] और उसके बाद भी दुर्लभ नहीं है। इस कार्य के लिये केवल दूध का ही उपयोग नहीं होता था। सोम[2] के लिये प्रयुक्त विशेषण "तीन मिश्रणों से युक्त" की व्याख्या अन्य विशेषणों द्वारा हो जाती है, जैसे दूध-मिश्रित (गवाशिर्), "दही-मिश्रित" (दध्य्-आशिर्), और "अन्न-मिश्रित" (यवाशिर्), जिन सभी का सोम से ही आशय है।

[1] १. १३४, ६; ३. ५३, १४; ८. २, १०. ११, इत्यादि। अथर्ववेद २. २९, ९ इत्यादि; निरुक्त ६. ८; ३२;

[2] ऋग्वेद ५. २७, ५; तु० की० ८. २, ७; तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथोलोजी १, २०९ और बाद।

आशी-विष—केवल ऐतरेय ब्राह्मण[1] में आनेवाला यह शब्द, जैसा कि रौथ[2] ने समझा है, एक विशेष प्रकार के सर्प का द्योतक है—और सम्भवतः इसका अर्थ दाँतों (आशी) में विष भरा हुआ है।

[1] ६. १।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०। महाकाव्यों और बाद में यह प्रचलित शब्द है।

आशु—"क्षिप्र" गतिवाला, बहुधा *अश्व* के बिना भी ऋग्वेद[1] और बाद में रथ के घोड़ों का द्योतक स्वरूप प्रयुक्त हुआ है।

[1] २. १६, ३; ३१, २; ३८, ३ इत्यादि अथर्ववेद २. १४, ६; ४. २७, १, १३. २, २; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १० शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ३, ३, इत्यादि।

आशुं-ग—अथर्ववेद[1] में यह किसी पशु का द्योतक प्रतीत होता है। इसके विशेष्य के रूप में "युवा" (शिशुक) का प्रयोग हुआ है और रौथ[2] का विचार है कि इसका अर्थ पक्षी (क्षिप्रगति से उड़नेवाली) अथवा "अपनी बाँध पर जानेवाला अश्वपोत" (आशुंग) भी हो सकता है। फिर भी सायण इसके साथ के शब्द को 'शुशुक" पढ़ते हैं। जो उनके विचार से एक

[1] ६. १४, ३।

[2] सेन्टपीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०।

पशु का द्योतक है। ब्लूमफील्ड[3] इन दोनों शब्दों का अनुवाद "एक क्षिप्र (आशुङ्ग) अश्वपोत (शिशुक)" करते हैं और इस प्रकार रौथ के एक विचार के आशय मात्र से सहमत हैं यद्यपि अशुङ्ग की व्याख्या से नहीं।

[3] अथर्ववेद के सूक्त ४५.४ तु० की० ह्विट्ने अथर्ववेद का अनुवाद २९१।

आ-श्रम—(विश्राम-स्थान) यह किसी भी ऐसे उपनिषद् में नहीं आता जिसे पूर्व-बौद्धकालीन कहा जा सके। हिन्दू व्यक्ति के जीवन के एक स्तर के रूप में इसका सबसे प्राचीन प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् के एक स्थल[2] पर केवल *ब्रह्मचारिन्* और गृहस्थ का उल्लेख है जिन्हें अध्ययन के पुरस्कार स्वरूप, सन्तानोत्पत्ति, योगाभ्यास जीवित प्राणियों को क्षति पहुँचाने से बचना, और यज्ञ, करने, तथा पुनर्जन्म से मुक्ति, का आश्वासन दिया गया है। एक अन्य स्थान[3] पर जीवन के तीन स्तरों की कल्पना की गई है किन्तु तीनों एक के बाद एक क्रम से नहीं हैं। अर्थात् ब्रह्मचारी या तो गृहस्थ बन सकता है अथवा सन्यासी, या जीवन पर्यन्त गुरु-गृह में ही रह सकता है। इसी प्रकार सन्यासी के वन में मृत्यु होने अथवा ग्राम में ही यज्ञ करने का भी उल्लेख है[4]; और इन तीनों[5] के विपरीत उस व्यक्ति का भी जी पूर्णतया ब्राह्मनिष्ठ (ब्रह्मसंस्थ) हो। बृहदारण्यक उपनिषद्[6] में आत्मज्ञानी का उनसे भेद दिखाया गया है जो (१) अध्ययन कर रहे हों, अथवा (२) यज्ञ और दान कर रहे हों, अथवा (३) जो सन्यासी हों। और एक अन्य स्थान[7] पर उनसे भेद दिखाया गया है जो यज्ञ तथा उपकार कर रहे हों, और वह जो तपस्या कर रहे हों। 'अश्रमों से यह श्रेष्ठ और भिन्न स्थिति आगे चल कर एक चतुर्थ[8] आश्रम बन गई' और गृहस्थ, जो कि दूसरे स्तर में होता था, उसे केवल *वानप्रस्थ* आश्रम से ही नहीं गुजरना पड़ता था वरन् सन्यास (*भिक्षु, परिव्राजक*) आश्रम से भी। प्रथम स्तर—अर्थात् *ब्रह्मचर्य* आश्रम इस समय तक भी आवश्यक था किन्तु बाद में इसे स्थाई नहीं रहने दिया गया; कदाचित जैसा कि मूलतः था।

[1] 'अत्याश्रमिन्', श्वेताश्वतर उपनिषद ६. २१; मैत्रायणी उपनिषद ४.३, इत्यादि।
[2] ८. ५।
[3] २. २३, १।
[4] ५. १०।
[5] २. २३, १।
[6] ४. २, २२; तु० की० ३. ५।
[7] ३. ८, १०।
[8] जाबाल उपनिषद ४; तु० की० मुण्डक उपनिषद २. १, ७।
तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स ६०, ३६७, और बाद।

आ-श्रेषा, आ-श्लेषा—देखिये नक्षत्र।

आश्व-घ्न—यह नाम ऋग्वेद[1] के एक स्थान पर अत्यन्त अस्पष्ट सूक्त में आता है जहाँ यह एक राजा का द्योतक प्रतीत होता है जिसने इन्द्र को उत्सृज दिया था और जिसे, जैसा कि लुडविग[2] का विचार है, *वितरण* कहा जा सकता है।

[1] १०. ६१, २१।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६५;

अश्वतर अश्वि अथवा *आश्वतराश्वि*—इन दोनों व्याहृतियों का प्रयोग[1] *बुडिल* के पैतृक नाम के रूप में किया गया है, जो सायण[2] के अनुसार, इस बात का द्योतक हैं कि यह (बुडिल) अश्व का पुत्र और अश्वतर का वंशज था।

[1] प्रथम शब्द ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३० में मिलता है, और द्वितीय शतपथ ब्राह्मण ४, ६, १, ९; १०. ६, १, १; बृहदारण्यक उपनिषद ४. १५, ८; छान्दोग्य उपनिषद ५. ११, १; १६, १, में।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण उ० स्था० पर।

आश्व-त्थ्य—अहीना[1] का पैतृक नाम है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ९, १०; सम्भवतः 'आश्वथ्य' पढ़ा जाने से आशय है।

आश्व-मेघ—यह एक बिना नामवाले राजा का पैतृक नाम है जो ऋग्वेद (८.६८,१५.१६) की एक दान स्तुति में आता है।

आश्व-वाल—शतपथ ब्राह्मण (३.४,१,१७;६,३,१०) में एक "प्रस्तर" के लिये प्रयुक्त इस विशेषण ("घोड़े की पूँछ जैसी घास का बना हुआ") द्वारा अश्ववाल तृणं "घास" (Saccharum spontaneum) का अस्तित्व सिद्ध होता है।

आश्व-सूक्ति—का पञ्चविंश ब्राह्मण (१९.४,२, और बाद) में *गौसूक्ति* के साथ-साथ सामन् (सोम स्तुतियों) के प्रणेता के रूप में उल्लेख है।

आश्विन अथवा *आश्वीन*—अथर्ववेद[1] और दो ब्राह्मणों[2] में यह एक अश्वारोही (अश्विन्) द्वारा एक दिन में की गई यात्रा की दूरी का द्योतक है। ठीक-ठीक दूरी निश्चित रूप से नहीं बताई गई है। अथर्ववेद में यह पाँच लीग (एक लीग = लगभग ३ मील) से कुछ अधिक है जिसका तीन अथवा पाँच *योजनों* की दूरी के ठीक बाद उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्वर्गलोक को एक सहस्र *आश्विन* दूर बताया गया है।

[1] ६. १३१, ३।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण २.१७। इन्डिशे स्टूडियन में पञ्चविंश ब्राह्मण १, ३४।

आपाधि सौश्रोमतेय—शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार यह भग्न हो गया था क्योंकि सरों को अग्निचिति पर एक ऐसे प्रकार से रख दिया गया था जो ठीक नहीं था।

[1] ६. २, १, ३७। एग्लिङ्ग ने 'अपाढि' माना है, किन्तु यह अपाढ का पैतृक नाम है, अतः 'आपाढि' रूप ही ठीक है।

आष्ट्रा—काठक संहिता (३७.१) में यह कृषकों के अंकुश का द्योतक प्रतीत होता है।

आष्ट्री—ऋग्वेद[1] में यह शब्द अग्नि-स्थान (चूल्हा) का द्योतक प्रतीत होता है। दुष्ट पक्षी को चूल्हे पर न बैठने देने की अभ्यर्थना की गई है।

[1] १०. १६५, ३; तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३४७;

आसङ्ग प्लायोगि—यह एक राजा है जो ऋग्वेद[1] की दानस्तुति में एक उदार आश्रयदाता के रूप में आता है। किन्तु एक विचित्र लैंगिक मन्त्र के इस सूक्त में जोड़ दिये जाने तथा इसके सम्बन्ध में आरम्भिक मिथ्याधारणओं[2] के कारण एक कथा अविष्कृत हो गई कि इसने अपना पुरुषत्व खो दिया था और स्त्री बन गया, किन्तु *मेध्यातिथि* की मध्यस्थता से पुनः पुरुष बन सका जिससे उसकी स्त्री *शश्वती*, जिसका अस्तित्व भी बाद में जुड़े मन्त्र[3] के वाक्पद "शश्वती-नारी" के मिथ्या ग्रहण पर आधारित है, अत्यन्त प्रसन्न हुई। इस स्तुति[4] सम्बन्धी एक और मिथ्याधारणा के कारण इसे यदु का एक वंशज तथा इसके एक पुत्र 'स्वनद्-रथ', जो कि वास्तव में केवल एक विशेषण मात्र है, होने की बात कही गई है।

[1] ८. १, ३२. ३३।

[2] ८. १, ३४। देखिये हौपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया १५०, नोट १; बृहद्देवता २. ८३; ६. ४१, मैकडॉनेल की टिप्पणी सहित। याद्विवेद वैदिक शब्दों में इस कथा को विस्तार से कहते हैं जो निघण्टु से ली गई है। देखिये : सा. ऋ. ४०, ४१, में दिया गया नीतिमञ्जरी का उद्धरण।

[3] ८. १, ३४।

[4] ८. १, ३१. ३२। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५९; हौपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ८९; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त २, १०६, १०७; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, ३५४;

आ-सन्दी—यह किसी प्रकार के बैठने के स्थान के लिये प्रयुक्त एक

जातिवाचक शब्द है, जो बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में तो अक्सर मिलता है किन्तु ऋग्वेद में नहीं। अथर्ववेद[3] में *व्रात्य* के लिये लाये गये मंच का विस्तृत वर्णन है। इसमें दो पाये थे, इसमें बड़े और तिरछे टुकड़े लगे थे तथा रस्सियों के ताने-बाने से बिना था; इससे यह प्रतीत होता है कि यह लकड़ी और रस्सियों की बिनावट से बना था। इस पर गद्दा (*आस्तरण*) बिछा था और तकिया (*उपबर्हण*) लगा था। एक बैठने का आसन (*आसाद*) और पीछे टिकने के लिये आश्रय (*उपश्रय*) भी बना था। कौशीतकि उपनिषद्[4] और जैमिनीय ब्राह्मण[5] में भी इसी प्रकार के आसनों का वर्णन है। राजकीय प्रतिष्ठापन समारोह के समय राजा के लिये प्रयुक्त आसन का भी ऐतरेय ब्राह्मण[6] में ऐसे ही शब्दों में वर्णन है, जहाँ इसके पायों की ऊँचाई दी हुई है, और बेंड़ी तथा आड़ी लकड़ियों की लम्बाई एक-एक हाथ के लगभग बताई गई है। बैठने का बिना हुआ भाग मूज (विवयन) का और आसन उदुम्बर की लकड़ी का बना हुआ कहा गया है। अथर्ववेद[7] के एक अन्य स्थल पर लैनमैन इस आसन को एक 'ऊँची आराम-कुर्सी' के एक अर्थ में लेते हैं: इस स्थल पर भी एक गद्द (*उपधान*) और चद्दर (*उपवासन*) का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में "आसन्दी" का बार-बार एक विस्तृत आसन के रूप में वर्णन किया गया है। एक स्थान पर[8] इसे खदिर की लकड़ी का बना हुआ कहा गया है जिसमें छिद्र (वि-तृण्णा) बने हुए थे और जो "भारतों" की भाँति फीते से जुड़े (वर्ध्र-युता) हुये थे। सौत्रामणी संस्कार[9] (इन्द्र-यज्ञ) के समय उदुम्बर की लकड़ी के आसन को घुटने तक ऊँचा और असीमित लम्बाई-चौड़ाई वाला, तथा उसका बैठने का स्थान नर्कट से बिना और ढँका हुआ बताया गया है। सम्राटोचित आसन[10] को कंधे के बराबर ऊँचा, उदुम्बर की लकड़ी

[1] अथर्ववेद १४. २, ६५; १५. ३, २, और बाद; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ८. ५; वाजसनेयि संहिता ८. ५६; १९. १६; ८६, इत्यादि।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५; ६; १२; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, २६; ५. २, १, २२; ४, ४, १, इत्यादि।

[3] १५. ३, २ और बाद।

[4] १. ५; तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १,३९७; कीथ: शाङ्खायन आरण्यक १९;

[5] २. २४।

[6] ८. ५; ६; १२।

[7] १४. २, ६५; देखिये ह्विट्ने का अथर्ववेद का अनुवाद ७६५, पर उनकी टिप्पणी।

[8] ५. ४, ४, १।

[9] १२. ८, ३, ४ और बाद।

[10] १४. १, ३, ८ और बाद।

का बना हुआ और चारों ओर 'बल्वज' घास (Eleusina indica) की रस्सियों से बिना हुआ कहा गया है। अन्यत्र[11] इसे एक बित्ता (वितस्ति) ऊँचा तथा एक हाथ चौड़ा और लम्बा, उदुम्बर की लकड़ी का बना हुआ, नर्कट-तृण की रस्सियों से ढँका और मिट्टी से लिपा हुआ बताया गया है।

[11] ६. ७, १, १२, और बाद। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १५५।

आसन्दी-वन्त्—"सिंहासन वाला"–यह *जनमेजय पारिक्षित* के राजनगर की उपाधि है जिसमें उनके प्रसिद्ध अश्वमेध का घोड़ा बाँधा गया था। अधिकारी इस समय के लिये एक गाथा का तो उद्धरण देते हैं, किन्तु किस पुरोहित ने यह संस्कार सम्पन्न कराया था इस पर असहमत हैं। शतपथ ब्राह्मण[1] में इसे 'इन्द्रोत दैवाप शौनक', किन्तु ऐतरेय[2] में *तुर कावषेय* कहा गया है।

[1] १३. ५, ४, २।
[2] ८. २१; तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६.९, १; पाणिनी ८. २, १२ भी इस नाम से परिचित हैं।

आसाद—यह *व्रात्य* के मञ्च (*आसन्दी*) के एक भाग के वर्णन के लिए अथर्ववेद[1] में आता है। जैसा कि ह्विट्ने[2] का विचार है, इसे बैठने के वास्तविक स्थान का द्योतक मानना ही सर्वोपयुक्त है। औफरेख्त,[3] त्सिमर,[4] और रौथ,[5] इसका अनुवाद "बैठने के स्थान का गद्दा" करते हैं, किन्तु इसका तो *आस्तरण* शब्द द्वार ही पर्याप्त रूप से वर्णन हो जाता है।

[1] १५. ३, ८।
[2] अथर्ववेद का अनुवाद, ७७१।
[3] इन्डिशे स्टूडियन १, १३१।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन १५५।
[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

आसुरायण—बृहदारण्यक उपनिषद् की दोनों शाखाओं की प्रथम दो वंशतालिकाओं[1] (गुरुओं की सूची) में इसे *त्रैवणि* का, किन्तु तृतीय वंशतालिका[2] में *आसुरि* का शिष्य कहा गया है।

[1] २. ६, ३; ४. ६, ३।
[2] ६. ५, २; तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १. ४३४ नोट।

आसुरि—बृहदारण्यक उपनिषद् की प्रथम दो वंशतालिकाओं[1] (गुरुओं की सूची) में यह *भारद्वाज* के शिष्य और *औपजन्धनि* के गुरु, किन्तु तृतीय[2] में *याज्ञवल्क्य* के शिष्य और *आसुरायण* के गुरु के रूप में आते हैं। शतपथ

[1] २. ६, ३; ४. ६, ३।
[2] ६. ५, २।

ब्राह्मण[3] की प्रथम दो पुस्तकों में यह संस्कारों के अधिकारी के रूप में, तथा अन्तिम पुस्तक[4] में एक सैद्धान्तिक अधिकारी, मुख्यतः सत्य पर विशेष जोर देने वाले, के रूप में आते हैं।

[3] १. ६, ३, २६; २. १, ४, २७; ३, १, ९; ४, १, २; ६, १, २५. ३३; ३, १७; ४. ५, ८, १४;

[4] १४. १, १, ३३ और नोट १, २, तुलना कीजिये वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४३० और बाद, जिनका इस गुरु और सांख्य-पद्धति के संस्थापक को समान मानने का विचार सर्वथा ग्राह्य नहीं है। देखिये गार्वे : सांख्य फिलॉसफी २९, ३०।

आसुरि-वासिन् बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५,२ दोनों शाखाओं) की एक वंशतालिका (गुरुओं की सूची) में *प्राश्नी-पुत्र* का नाम है।

आ-सेचन—यह तरल पदार्थ, जैसे मांसरस (युषन्)[1] अथवा घी,[2] रखने के एक पात्र का बोधक है। इसके आकार या बनावट के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं।

[1] ऋग्वेद १. १६२, १३।

[2] शतपथ ब्राह्मण २. १, ९, ५; तु० की० : त्सिमर आल्टिन्डिशे लेवेन २७१।

आस्तरण—यह *व्रात्य*[1] के मञ्च (*आसन्दी*) के लिये प्रयुक्त चादर का द्योतक है। राजसूय[2] के समय राजा के आसन के लिये व्याघ्र-चर्म का ही चादर के रूप में प्रयोग होता था। कौषीतकि उपनिषद्[3] में इसके लिये *उपस्तरण* शब्द प्रयुक्त हुआ है।

[1] अथर्ववेद १५. ३, ७।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५।

[3] १. ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १५५;

आस्त्र-बुध्न—एक व्यक्ति का नाम है जिसे ऋग्वेद[1] के अनुसार इन्द्र ने सहायता प्रदान की थी। यह स्पष्ट नहीं है कि *वेन्य*, जिसका उसी पंक्ति में उल्लेख है, इसका मित्र[2] अथवा शत्रु[3] क्या था, और जिसे इन्द्र ने बचाया अथवा इसके लिये पराजित किया था।

[1] १०. १७१, ३।

[2] ग्रासमैन और ग्रिफिथ अपने अपने अनुवादों में मानते हैं।

[3] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३,१६७

आ-स्थातृ—ऋग्वेद[1] में रथारूढ़ योद्धा के लिये एक बार इस शब्द (रथ में खड़ा हुआ) का प्रयोग हुआ है। सामान्यतया इसे *रथिन्* अथवा *रथेष्ठा* कहा गया है।

[1] ६. ४७, २६। तु० की० आल्टिन्डिशे लेवेन २९६;

आ-स्राव—(स्खलन) यह एक व्याधि का द्योतक है जिसका अथर्ववेद[1] में तीन वार उल्लेख है किन्तु इसकी ठीक-ठीक प्रकृति अनिश्चित है। स्कोलियास्ट[2] एक स्थान पर 'कष्टप्रद मूत्र-स्खलन' (मूत्रातिसार) के रूप में इसकी व्याख्या करते हैं, जब कि लैनमैन[3] इसे मधुमेह मानते हैं। ब्लूमफील्ड[4] इसे अतिसार मानते हैं और त्सिमर[5] यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जब इसके उपचार को "घाव भरनेवाला" (अरुस्-स्राण) कहा गया है तो इसका "घावों से कुछ वहने" का आशय है। ह्विट्ने[6] इसका अनुवाद "स्राव" के अर्थ में ही करते हैं और ब्लूमफील्ड के अनुवाद पर शंका प्रकट करते हैं। लुडविग[7] "बीमारी" और "शीत" के रूप में इसका अस्पष्ट सा अनुवाद करते हैं।

[1] १. २, ४; २. ३, २; ६. ४४, २;
[2] अथर्ववेद १. २, ४, पर। तु० की० २. ३, २ पर।
[3] ह्विट्ने : अथर्ववेद के अनुवाद ३, में।
[4] अ० फा० ७, ४६७; ज० अ० ओ० सो० १३, cxiii; अथर्ववेद के सूक्त २३३, २३४।
[5] आल्टिन्डिशे लेवेन ३९२।
[6] ठ० पु० ३, ४१।
[7] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ५०७. ५०९।

आहनस्या—(चरित्र-भ्रष्ट) बहुवचन में यह शब्द अथर्ववेद के "कामुकतापूर्ण" सूक्तों के एक ऐसे अंश (२०.१३६) का द्योतक है जिसका विषय-वस्तु अश्लील[1] है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३६; कौषीतकि ब्राह्मण ३०.७; तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद ९९।

आ-हाव—यह बाल्टी, मुख्यतः कूयें (*अवत*)[1] से सम्बद्ध पात्र का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १. ३४, ८; ६. ७, २; १०. १०१, ५; ११२, ६; निरुक्त ५. २६;

आहेय—यह *शौच* का पैतृक नाम है (तैत्तिरीय आरण्यक २.१२)।

इ

इक्षु—यह ईख का एक जातिवाचक नाम है जो सर्वप्रथम अथर्ववेद[1] और बाद की संहिताओं[2] में मिलता है। वन में स्वतः उगता था अथवा इसकी कृषि होती थी यह उक्त स्थलों द्वारा स्पष्ट नहीं है।

[1] १. ३४, ५।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. ७, ९; ४. २, ९, (इक्षु काण्ड)। वाजसनेयि संहिता २५. १; तैत्तिरीय संहिता ७. ३, १६, १; काठक अश्वमेध ३. ८; "आँख की बरौनियों" का अर्थ है। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ७२; रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०;

इक्ष्वाकु—ऋग्वेद में यह शब्द केवल एक बार[1] आता है और वह भी सन्दिग्ध सन्दर्भ में। फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह किसी राजा का द्योतक है। बाद की व्याख्याओं में *असमाति* को, जिसका इस सूक्त में नाम है, एक इक्ष्वाकु राजा बताया गया है[2]। अथर्ववेद[3] में भी यह नाम केवल एक स्थल पर ही आता है जहाँ, इसका तात्पर्य इक्ष्वाकु के एक वंशज से है अथवा स्वयं इक्ष्वाकु से, यह सन्दिग्ध है। दोनों ही दशाओं में एक प्राचीन योद्धा के रूप में ही इसका उल्लेख किया गया प्रतीत होता है। पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में *त्र्यरुण त्रैधात्व* ऐक्ष्वाक का उल्लेख है जो बृहद्देवता[5] के *त्र्यरुण त्रैवृष्ण* और ऋग्वेद[6] के *त्र्यरुण त्रसदस्यु* के समान हैं। इक्ष्वाकुओं के साथ त्रसदस्यु के सम्बन्ध की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शतपथ ब्राह्मण[7] के अनुसार *पुरुकुत्स* एक ऐक्ष्वाक था। इस प्रकार इक्ष्वाकुओं की वंशपरम्परा मूलतः पूरुस् राजाओं की वंशपरम्परा का ही क्रम थी। त्सिमर[8] इनकी स्थिति सिन्धु के ऊपरी क्षेत्र में मानते हैं, किन्तु यह सम्भव है कि यह लोग उसके कुछ पूर्व तक भी फैले रहे हों[9]। बाद में इक्ष्वाकु को अयोध्या से सम्बद्ध बताया गया है।

[1] १०. ६०, ४।

[2] तुलना कीजिये: जैमिनीय ब्राह्मण ३. १६७; मैक्समूलर: ऋग्वेद ४, c-cvii, १६७ में साट्यायनक, ज० अ० ओ० सो० १८, ४२; बृहद्देवता ७. ८५ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।

[3] १४. ३९, ९. तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त, ६८०; ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद ९६१;

[4] १३. ३, १२।

[5] ५. १४, और बाद।

[6] ५. २७, ३। तु० की० सा० ऋ० ६८-७५; मैकडौनेल: बृहद्देवता २, १७०; औल्डेनबर्ग: वैदिक हिम्स ३६६, और बाद; लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३३, १३८; ४, ३२४;

[7] १३. ५, ४, ५।

[8] आल्टिन्डिशे लेबेन १०४, १३०।

[9] तु० की० पिशल: वेदिशे स्टूडियन २, २१८; गेल्डनर, वही० ३, १५२।

१. इट—अथर्ववेद में यह शब्द दो बार आता है। प्रथम स्थल[1] पर यह उस प्रकार के वेतस का द्योतक है जो एक वर्ष के भीतर ही नष्ट हो जाता है। द्वितीय स्थल[2] पर इससे घर में लगे नरकट का आशय है।

[1] ६ १४. ३; तु० की० ४. १९, १; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ४६४।

[2] ९. ३, १८; तु० की०: पिशल: त्सी० गे० ३५, ७१८।

२. इट—ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में यह एक ऋषि और इन्द्र के एक

[1] १०. १७१, १।

आश्रित के रूप में आता है। फिर भी, रौथ[२] का विचार है कि यह शब्द वास्तव में 'इट्' क्रिया का एक अंश है जिसका अर्थ 'त्रुटि करना, भ्रमण', है और इसे नाम समझना केवल एक मिथ्याधारण होगी। अनुक्रमणी में इसे इसी अर्थ में लिया गया है किन्तु बृहद्देवता[३] में प्रत्यक्षतः ऐसा नहीं प्रतीत होता है।

[२] सेन्टपीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[३] ८. ७३। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३३।

इटन्त् काव्य—कौषीतकि ब्राह्मण[१] में यह *केशिन् दार्भ्य* के एक समकालीन मुनि का नाम है। पञ्चविंश ब्राह्मण[२] में भी इसका 'इढन्त्' के रूप में उल्लेख है।

[१] ७. ४। तु० की : वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २९३; २, ३०८।
[२] १४. ९, १६।

इतिहास—वैदिक काल में *पुराण* के साथ इसका एक साहित्य के रूप बार-बार उल्लेख है। इन दोनों के सम्बन्ध में प्रथम संकेत अथर्ववेद[१] के पन्द्रहवें काण्ड के उत्तरार्ध में मिलता है। इसके बाद शतपथ ब्राह्मण[२], तथा जैमिनीय[३], बृहदारण्यक[४], और छान्दोग्य[५] उपनिषदों में भी 'इतिहास' आता है। इस अन्तिम ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पुराणों सहित यह (इतिहास) मिलकर पञ्चम वेद बन जाते हैं; जब कि शाङ्खायन श्रौतसूत्र[६] इतिहास को एक अलग वेद और पुराण को अलग वेद मानता है। 'इतिहास-वेद' और 'पुराण-वेद' गोपथ ब्राह्मण[७] में भी आते हैं; जबकि शतपथ[८] इतिहास और पुराण दोनों को ही वेद के समान बताता है। एक स्थल पर *अन्वाख्यान* और इतिहास का अलग-अलग वर्ग की कृतियों के रूप में अन्तर स्पष्ट किया गया है[९]। किन्तु इस विभेद का ठीक-ठीक आधार अस्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से प्रथम प्रायः परिपूरक माने गये हैं। तैत्तिरीय आरण्यक[१०] इतिहास और पुराणों का बहुवचन में उल्लेख करता है।

प्राचीन साहित्य में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह पता लग सके कि

[१] १५. ६, ४, और बाद।
[२] १३. ४, ३, १२. १३, और जैसा कि यौगिक रूप कर दिया गया है : ११. ५, ६, ८; ७, ९;
[३] १. ५३।
[४] २. ४, १०; ४. १, २; ५. ११।
[५] ३. ४, १. २; ७. १, २. ४; २, १; ७, १।
[६] १६. २, २१. २७।
[७] १. १०।
[८] १३. ४, ३, १२. १३।
[९] ११. १, ६, ९; तु० की० पृ० २४।
[१०] २. ९।

इतिहास और पुराण में यदि कोई अन्तर था तो वह क्या था; और बाद के साहित्य[11] से भी, जिसका सीग[12] ने विस्तृत परीक्षण किया है, कोई निश्चित परिणाम नहीं निकलता। गेल्डनर[13] ने अनुमान किया है कि इतिहास-पुराण जैसी कोई एक ही कृति थी जिसमें सभी प्रकार की साहसिक, सृष्टि-विषयक, और वंशक्रम इत्यादि सम्बन्धी अनेक प्रकार की प्राचीन कथाओं का संग्रह था। फिर भी, यद्यपि इतिहास की एक कृति तथा एक अन्य पुराण जैसी कृति से सम्भवतः पाणिनि[14] भी परिचित थे, तथापि गेल्डनर का दृष्टिकोण इस बात से ही ठीक-ठीक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यास्क द्वारा ऐसी किसी सम्मिलित कृति से परिचित होने का कोई संकेत नहीं मिलता। यास्क के लिये इतिहास स्वयं मन्त्र-साहित्य[15] का एक भाग रहा हो सकता है, और इतिहासकार केवल ऐसे व्यक्ति होते थे जो उसमें निहित कथा के रूप में ऋग्वेद की व्याख्या करते थे, जब कि अन्य व्यक्ति उनमें केवल पौराणिकता[16] देखते थे। साथ ही साथ यह तथ्य भी कि इस यौगिक रूप (इतिहास-पुराण) का प्रयोग अत्यन्त दुर्लभ है, और यास्क ने भी नियमित रूप से 'इतिहास'[17] का ही प्रयोग किया है, 'इतिहास-पुराण' का नहीं, इनको एक ही कृति मानने के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इतिहास का *आख्यान* से सम्बन्ध भी अनिश्चित है। सीग[18] का विचार है कि 'इतिहास' और 'पुराण' शब्दों द्वारा वैदिक कवियों को उपलब्ध पौराणिक-कथाओं, कथात्मक इतिहासों और सृष्टि विषयक कथाओं के प्रचुर विषय का बोध होता है जिन्हें मोटे तौर पर पञ्चमवेद कहा गया है, यद्यपि इसे अन्तिम रूप से निश्चित नहीं किया गया है। इस प्रकार अन्वाख्यानों, *अनुव्याख्यानों* और *व्याख्यानों* की उत्पत्ति हो सकी, और आख्यानों का अस्तित्व इस क्रम के बाहर भी सम्भव रहा, यों 'आख्यान' इतिहास पुराण का भी एक भाग रहा हो सकता है। सीग का यह भी विचार है कि

[11] देखिये ऋग्वेद (मैक्समूलर संस्करण) पृ० १२, पर सायणभाष्य और शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, ८ पर भी इनका भाष्य; बृहदारण्यक उपनिषद २. ४, १० पर शंकर भाष्य।

[12] सा० ऋ० ३१ और बाद।

[13] वेदिशे स्टूडियन १, २९०। तु० की० सीग : उ० पु० ३३।

[14] पाणिनी ४. २, ६० पर वार्तिक और महाभाष्य (कील्हॉर्न संस्करण) २, २८४।

[15] निरुक्त ४. ६।

[16] वही० २. १६; १२. १।

[17] वही० २. १०; २४; ४. ६; १०. २६; १२. १०।

[18] उ० पु० ३१ और बाद।

आख्यान शब्द का विशेष सम्बन्ध वृत्तान्त-कथन के रूप से है। औल्डेनबर्ग[19] ने, जो विण्डिश[20] का अनुसरण करते हैं, और स्वयं जिनका गेल्डनर[21], सीग, तथा अन्य विद्वानों ने भी अनुसरण किया है, आख्यान के रूप में गद्य और पद्य का सम्मिश्रण देखा है जो वृत्तान्त-कथन में किसी कथा के केवल प्रवर्त्तक अंशों अथवा उसके प्रमुख अंशों से सम्बद्ध होने के अनुसार क्रमान्तरित होते रहे हैं और जिसमें स्वभावतः भावों की, गहनता को व्यक्त करने के लिये ही पद्यात्मक शैली का निर्माण किया गया है। हर्टेल[22] और फान श्रोडर[23] ने इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है। यह दोनों विद्वान, मैक्समूलर[24] और लेवी[25] के पहले के विचारों के अनुसार ऋग्वेद के आख्यान सूक्तों में, जहाँ औल्डेनबर्ग इन्हीं में तथाकथित साहित्यिकिता का वास्तविक उदाहरण देखते हैं जिनमें गद्य यद्यपि नष्ट हो गया है, यह लोग सांस्कारिक नाटक के वास्तविक चिह्न देखते हैं। अन्यत्र[26] ऐसा विचार व्यक्त किया गया है कि यह सूक्त केवल साहित्यिक वार्तालाप मात्र है।

[19] त्सी० गे० ३७, ५४ और बाद ३९, ५२ और बाद। तु० की० गो० १९०८, ६७ और बाद।
[20] व० गे० (१८७९), १५ और बाद।
[21] वेदिशे स्टूडियन १. २८४; २, १ और बाद।
[22] वि० ज० १८, ५९ और बाद; २३, २७३ और बाद; तु० की० विन्टर्निज़: वही, २३, १०२ और बाद।
[23] मि० ऋ० ३ और बाद।
[24] से० बु० ई० ३२, १८३।
[25] ले थियेट्रे इन्डियेन ३०३, ३०७।
[26] कीथ: ज० ए० सो० १९०९, २०० और बाद।

इद्-, इदा-, इदु-वत्सर—देखिये संवत्सर

इन्द्र-गोप (इन्द्र द्वारा रक्षित), पुलिङ्ग, बृहदारण्यक उपनिषद् (२. ३, ६) में यह एक प्रकार के कीटाणु का नाम है।

इन्द्र-द्युम्न भाल्लवेय वैयाघ्र-पद्य का एक गुरु के रूप में उल्लेख है जो अन्य लोगों के साथ अग्नि वैश्वानर की प्रकृति के स्वरूप से सहमत होने में असमर्थ रहा और जिसे *अश्वपति कैकेय*[1] ने उपदेश दिया था। भाल्लवेय के रूप में सांस्कारिक वार्तों के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण[2] ने इसे अनेक बार उद्धृत किया है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, १ और बाद; छान्दोग्य उपनिषद ५. ११, १ और बाद।
[2] १. ६, १, १९; १३. ५, ३, ४; तु० की० २. १, ४, ६।

इन्द्र-भू काश्यप—का वंश ब्राह्मण[1] में *मित्रभू काश्यप* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७४;

१. इन्द्रोत—ऋग्वेद[1] की एक दानस्तुति में इसका दो बार दान देनेवाले के रूप में उल्लेख है। दूसरे स्थल पर इसके पहले 'आतिथिग्व' विशेषण लगा हुआ है जो निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि यह अतिथिग्व का एक पुत्र था, जैसा कि लुडविग[2] का विचार है, न कि 'ऋक्ष' का जैसा रौथ[3] मानते हैं।

[1] ८. ६८, १० और बाद।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

२. इन्द्रोत दैवाप शौनक का शतपथ ब्राह्मण[1] में एक पुरोहित के रूप में उल्लेख है जिसने *जनमेजय* के अश्वमेध यज्ञ में कार्य किया था, यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण[2] में यह सम्मान *तुर कावषेय* को दिया गया है। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण[3] में यह *श्रुत* के शिष्य के रूप में आता है और वंश ब्राह्मण[4] में भी इसका उल्लेख है। इसे *देवापि* से, जो ऋग्वेद[5] में आता है, किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

[1] १३. ५, ३, ५; ४, १; शङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ७, ७; ८, २७।
[2] ८. २१।
[3] ३. ४०, १।
[4] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३८४, ३८५।
[5] १०. ९८। तु० की० : औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २४०।

१. इभ—यह एक ऐसा शब्द है जिसका आशय और विवेचना कुछ सन्दिग्ध है। यह केवल संहिताओं[1] में, और मुख्यतः ऋग्वेद[2] में ही पाया जाता है। रौथ[3] और लुडविग[4] के अनुसार इसका आशय 'अनुचर' है; त्सिमर[5] का विचार है कि इसके अन्तर्गत केवल सेवक और आश्रित व्यक्ति ही नहीं आते वरन् राजकीय परिवार और प्रमुख परिवारों के युवक युद्धकला-विद्यार्थी भी आते हैं। पिशल और गेल्डनर[6] के विचार से यह 'हाथी' का द्योतक है। भाष्यकार सायण[7] और महीधर[8] के आधार पर इसी विचार की

[1] तैत्तिरीय संहिता १. २, १४, १; वाजसनेयि संहिता १३. ९।
[2] १. ८४, १७; ४. ४, १; ९. ५७, ३ और कदाचित ६. २०, ८।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २४६।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन १६७।
[6] वेदिशे स्टूडियन १, xv, xvi।
[7] तैत्तिरीय संहिता उ० स्था०।
[8] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था०।

पुष्टि होती है। निरुक्त[९] भी इस शब्द का एक आशय 'हाथी' देता है। मेगास्थनीज़[१०] और नीयरकस[११] के वर्णनों से पता चलता है कि हाथी राजकीय विशेषाधिकार की वस्तु होते थे, और इस प्रकार व्युत्पन्न शब्द *इभ्य* की स्वाभाविक व्याख्या केवल 'धनी' (अभिधामूलक अर्थ='हाथी रखनेवाला)[१२] के आशय में की जा सकती है।

[९] ६. १२। यह "अनुचर" का आशय भी प्रकट करता है; और अशोक के शिलालेख संख्या ५ में, ब्हूलर : त्सी० गे० ३७, २७९, इसके पालि स्वरूप को एक वैश्य का द्योतक मानते हैं।

[१०] एपुड स्ट्रावो ७०४।

[११] वही ७०५।

[१२] किन्तु इसकी व्याख्या प्राथमिक शब्द के एक दूसरे आशय "(अनेक) अनुचर वाला" के आधार पर भी उतनी ही अच्छी तरह की जा सकती है।

२. *इभ*—ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर यह निश्चित रूप से व्यक्तिवाचक नाम *स्मदिभ* के संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त हुआ है।

[१] ६. २०, ८। तु० की० : पिशल और गेल्डनर, वेदिशे स्टूडियन, १, xvi; रौथ सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०; औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोटेन १. ३८०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १६७, इसे एक "परिचारक" मानते हैं जैसा कि लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २४६, २४७ भी।

इभ्य—यह ऋग्वेद[१] में केवल एक बार बहुवचन के रूप में आता है, जहाँ एक राजा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह अपने इभ्यों का उसी प्रकार भक्षण कर लेता है जैसे अग्नि वन का; यह दो बार छान्दोग्य उपनिषद्[२] में आया है जिसमें से एक स्थल पर एक यौगिक शब्द के प्रथम अंश; तथा दूसरे स्थल पर या तो एक व्यक्तिवाचक नाम अथवा विशेषण के रूप में आता है। रौथ[३], लुडविग[४], और त्सिमर[५], ऋग्वेद में इस शब्द की व्याख्या 'अनुचर' के रूप में करते हैं; किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में रौथ का विचार है कि इसका अर्थ 'धनी' है। पिशल और गेल्डनर[६] सभी स्थलों पर इसी आशय को उपयुक्त समझते हैं। बौटलिङ्क छान्दोग्य के अपने अनुवाद में इस शब्द को केवल

[१] १. ६५, ४।

[२] १. १०, १. २।

[३] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।

[४] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २४७।

[५] आल्टिन्डिशे लेवेन १६८।

[६] वेदिशे स्टूडियन १, xvi। तु० की० : ऋग्वेद, उ० स्था० (धनिनः) पर सायण; और छान्दोग्य उपनिषद, उ० स्था० पर शंकर (ईश्वरो हस्त्यारोहो वा); वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १. ४७६। तु० की० लिटिल : ग्रामेटिकल इन्डेक्स ३५, भी।

एक व्यक्तिवाचक नाम 'इभ्याओं का ग्राम' (इभ्य-ग्राम) और 'इभ्य' मात्र मानते हैं।

इरिण—(नपुंसक) बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'धरती में बना छिद्र', जो बहुधा प्राकृतिक (स्व-कृत) होता था, के आशय में यह शब्द बहुत दुर्लभ नहीं है। जैसा कि पिशल[3] सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, ऋग्वेद[4] के भी तीन स्थलों पर इसका यही अर्थ होना चाहिये, जिसमें से एक[5] स्थान पर यह छिद्र 'जल द्वारा बना' (अपा-कृतम्) कहा गया है। ऋग्वेद[6] के एक अन्य स्थान पर इस शब्द का तात्पर्य ऐसे स्थान से है जहाँ पासा फेंका जाता था। इसलिये पिशल[7] यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पासा-पट को ही इस नाम से पुकारा जाता था क्योंकि उसमें ऐसे छिद्र होते थे जिनके भीतर, यदि सम्भव हो तो, पासे फेंके जाते थे। फिर भी ल्यूडर्स[8] यह व्यक्त करते हैं कि ऐसा मानना आवश्यक नहीं है। पासे (*अक्ष*) केवल एक खुदे हुए स्थान पर फेंके जाते थे जिसे *इरिण* कहा जा सकता है, क्योंकि यह धरती में बना एक छिद्र होता था, जो यद्यपि प्राकृतिक नहीं होता था। सायण-भाष्य[9] तथा निरुक्त[10] पर दुर्गा की टिप्पणी द्वारा भी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

[1] अथर्ववेद ४. १५, १२; तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, ३; ३. ४, ८, ५; ५. २, ४, ३; काठक संहिता ९. १६।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ३, २; ७. २,१,८।
[3] वेदिशे स्टूडियन २, २२२–२२५;
[4] १. १८६, ९; ८. ४, ३; ८७, १. ४।
[5] ८. ४, ३।
[6] १०. ३४, १. ९।
[7] उ० पु० २, २२५।
[8] डा० इ० १४।
[9] ऋग्वेद, उ० स्था० पर (आ-स्फार)।
[10] ९. ८ (आस्फुरक-स्थान)।

इष श्यावाश्वि—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (४·१६, १) की एक वंश-तालिका (गुरुओं की सूची) में 'अगस्त्य' के शिष्य के रूप में इसका उल्लेख है।

इषीका—'नर्कट-तृण की नाल'—अथर्ववेद[1] और उसके बाद अक्सर 'भंगुरत्व के चिह्न' के रूप में बहुधा आता है। शाङ्खायन आरण्यक[2] में यह

[1] अथर्ववेद ७. ५६, ४; १२. २, ५४; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, १६ इत्यादि; जैमिनीय ब्राह्मण १. ९; २. १३४; छान्दोग्य उपनिषद ५. २४, ३; काठक उपनिषद २. ६, १७, इत्यादि; निरुक्त ९. ८;
[2] २. १६।

पशुओं को भीतर रखने के लिये प्रयुक्त अवरोधक छड़ में खुंसी हुई कील (अर्गलेषिके) का द्योतक प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण[3] में इषीका की एक टोकरी (शूर्प) का उल्लेख है।

[3] १. १, ४, १९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ७१; औटॅल : ज० अ० ओ० सो० १९, १२२, नोट ३;

इषु—ऋग्वेद[1] और उसके वाद यह 'वाण' के लिये प्रयुक्त सामान्य नाम है। शर्य, शारी और वाण इसके अन्य नाम हैं। ऋग्वेद[2] के उस सूक्त में, जिसमें शस्त्रसज्जा का विवरण है, दो प्रकार के वाणों का स्पष्ट उल्लेख है : एक विषयुक्त (आलाक्त) होता था और उसका सर सींघ का वना होता था (रुरु-शीर्ष्णी); दूसरा ताँबे, काँसे अथवा लोहे के सरवाला (अयो-मुखम्) होता था। विषयुक्त (दिग्धा) वाणों का अथर्ववेद[3] में भी उल्लेख है। वाणों में पर[4] लगे होते थे। अथर्ववेद[5] में वाण के भागों को इस प्रकार गिनाया गया है : शरदण्ड (शल्य), परवाला भाग (पर्ण-धि), नोक (शृङ्ग), नोक के गले का भाग जिसमें शरदण्ड लगा होता है (कुल्मल), तथा अपस्कम्भ और अपाष्ठ, जिनका तात्पर्य संदिग्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण[6] में वाण के भाग इस प्रकार हैं : नोक (अनीक), शल्य, तेजन, और पंख (पर्णानि), जिसमें शल्य और तेजन का प्रत्यक्ष अर्थ शरदण्ड का ऊपरी और निचला भाग है, क्योंकि यही मानना तर्क-संगत है कि सम्पूर्ण वाण का क्रमानुसार वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद[7] में 'काम' के वाण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसमें पंख, शरदण्ड (शल्य) और दृढ़तापूर्वक सन्नद्ध (कुल्मल)[8] होता था। वाण को कान के पास से छोड़ा जाता था और इस कारण ऋग्वेद[9] में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'कान ही इसका जन्मस्थान है।'

लम्बाई के नाप के लिये इषु को पाँच वित्ता (वितस्ति), लगभग तीन

[1] २. २४, ८; ८. ७, ४ इत्यादि; अथर्ववेद १. १३, ४, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १६.३, इत्यादि; निरुक्त ९.१८;
[2] ६. ७५, १५।
[3] ४. ६, ७; ५. १८, ८. १५; ३१, ४।
[4] ऋग्वेद १०. १८, १४; ६. ७५, ११; अथर्ववेद ५. २५, १।
[5] ४. ६।
[6] १. २५।
[7] अथर्ववेद ३. २५, २।
[8] मैत्रायणी संहिता ३. ८, १. २; काठक संहिता २५. १ भी देखिये।
[9] ऋग्वेद ६.७५, ३; २.२४, ८ (कर्ण-योनि)

फुट[10] कहा गया है। वाण वनाने का नियमित व्यवसाय होता था (इषु-कृत[11], इषु-कार)[12]।

[10] शतपथ ब्राह्मण ६. ५, २, १०।
[11] वाजसनेयि संहिता १६. ४६; तु० की० ऋग्वेद १. १८४, ३।
[12] वही ३०. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ३, १ तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३००; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १८, २९, २८६; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २७५ और वाद; २५, ३३७;

इषु त्रि-काण्डा—यह ऐतरेय ब्राह्मण[1] में किसी तारकपुञ्ज, कदाचित मृगशिरा के कटि भाग का नाम है। *मृग*, *मृगव्याध* और *रोहिणी* के साथ इसका उल्लेख है।

[1] ३. ३३। तुलना कीजिये हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, २०५, नोट।

इषु-धि (वाण रखने का स्थान)—यह तूणीर का नाम है जिसे प्रत्येक धनुर्धर अपने साथ लिये रहता था। ऋग्वेद[1] और उसके वाद भी यह शब्द वहुधा आता है। दो तूणीर[2] रखने के वाद के प्रचलन का वैदिक साहित्य में कोई संकेत नहीं है। पिशल[3] के अनुसार ऋग्वेद[4] की कुछ विचित्र अभिव्यक्ति *'इषु-कृत'* का अर्थ तूणीर ही है।

[1] १. ३३, ३; ६. ७५, ५; १०. ९५, ३; अथर्ववेद २. ३३, २; ४. १०, ६ इत्यादि; निरुक्त, ९. १३;
[2] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २७४। प्रत्येक तूणीर में दस से वीस वाण रक्खा जा सकता था।
[3] वेदिशे स्टूडियन १, १७; किन्तु देखिये औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, १८२;
[4] १. १८४, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३००।

ई

ईषा 'रथ के स्तम्भ' का द्योतक है। सामान्यतया रथ में एक स्तम्भ (एकेषः)[1] होता था, किन्तु कभी-कभी दो स्तम्भों का भी उल्लेख है।[2] यह शब्द अक्सर[3] *युग* के साथ संयुक्त कर दिया गया है जिससे यह सन्नद्ध (देखिये

[1] ऋग्वेद १०. १३५, ३; ३. ५३, १७; ८. ५, २९; अथर्ववेद ८. ८, २३।
[2] तु० की० अथर्ववेद २. ८, ४; शतपथ ब्राह्मण १. १, २, १२ (ईषा युगानि, किन्तु ३. ९, ४, ३ में द्विवाचक); कात्यायन श्रौतसूत्र ७.९,१४ इत्यादि।
[3] अथर्ववेद उ० स्था० इत्यादि।

ख) और रस्सियों[४] से बँधा होता था। रथ के साथ यह किस प्रकार सम्बद्ध किया जाता था इसका ठीक-ठीक पता नहीं[५]। *रथ* भी देखिये।

[४] ऋग्वेद १०. ६०, ८; तु० की० ३. ६, ६;
[५] ऋग्वेद १. ११९, ५ में "वाणी" को त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २४९, में रथ के अग्रभाग का द्योतक मानते हैं, किन्तु यह केवल "वाणी" ही प्रतीत होता है।

उ

उक्षन्—देखिये *गो*।

उक्षण्यायन—इसका ऋग्वेद[१] की एक दानस्तुति में *हरयाण* और *सुषामन्* के साथ-साथ उल्लेख है। लुडविग[२] का विचार है कि यह तीनों समान हैं। रौथ[३] क्रिया 'उक्षण्यति'[४] और विशेषण 'उक्षण्यु'[५] के प्रयोग में स्वयं 'उक्षन्' का ही सन्दर्भ देखते हैं।

[१] ८. २५, २२।
[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६२, २७६।
[३] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।
[४] ऋग्वेद ८. २६, ९।
[५] ऋग्वेद ८. २३, १६।

उक्षणो-रन्ध्र काव्य का एक द्रष्टा के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण (१३.९, १९)[१] में उल्लेख है।

[१] तु० की० मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३९७।

उखा—एक 'पकाने के पात्र' के लिये नियमित रूप से प्रयुक्त इस शब्द का यज्ञ के सम्बन्ध में ऋग्वेद[१] और बाद में बहुधा उल्लेख मिलता है। यह मिट्टी का बना होता था (मृण्-मयी)[२]। *स्थली* भी देखिये।

[१] १. १६२, १३. १५; ३. ५३, २२; अथर्ववेद १२. ३, २३; तैत्तिरीय संहिता, ५. १, ६, ३; इत्यादि।
[२] वाजसनेयि संहिता, ११. ५९; तैत्तिरी संहिता ४. १, ५, ४; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २५३, २७१।

उग्र—बृहदारण्यक उपनिषद्[१] के एक स्थल पर इसका पारिभाषिक प्रयोग प्रतीत होता है जो 'अधिकारी व्यक्ति', अथवा मैक्समूलर के अनुवाद के अनुसार

[१] ४. ३, ३७. ३८।

'पुलिस कर्मचारी' का द्योतक है। रौथ[२] इससे ऋग्वेद[3] के एक स्थान की तुलना करते हैं जहाँ इसका "शक्तिशाली व्यक्ति" जैसा ही एक सामान्य आशय है। बौटलिङ्क[४] उक्त उपनिषद् के अपने अनुवाद में इसको केवल एक विशेषण जैसा ही मानते हैं।

[२] सेन्टपीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ७. ३८, ६।
[४] पृ० ६६ (प्रत्येनसः के साथ)।

उग्र-देव का ऋग्वेद[१] में *तुर्वश* और *यदु* के साथ प्रत्यक्षतः एक शक्तिशाली संरक्षक के रूप में उल्लेख है। यह पञ्चविंश ब्राह्मण[२] और तैत्तिरीय आरण्यक[3] में भी आता है, जहाँ इसे *राजनि* नाम दिया गया है और कुष्ट रोगी (किलास) कहा गया है।

[१] १. ३६, १८ (उग्रादेव)।
[२] १४. ३, १७; २३. १६, ११।
[3] ५. ४, १२।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १४७; रौथ : सेन्टपीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० जिनका मत है कि ऋग्वेद के इस स्थल पर इस शब्द को विशेषण मानना चाहिये।

उग्र-सेन का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (१३.५, ४, ३) में आता है, जहाँ उद्धृत एक गाथा में इन्हें *भीमसेन* और *श्रुतसेन* के साथ एक पारिक्षितीय तथा *जनमेजय* का भ्राता कहा गया है। यह सभी भाई अश्वमेध द्वारा पाप-मुक्त हुए थे।

उच्चैः-श्रवस् कौपयेय जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.२९, १-३) में *कुरुओं* का राजा और *केशिन* के मामा के रूप में आता है। कुरु से इसका सम्बन्ध इस बात से सिद्ध होता है कि *कुरुश्रवण* का पुत्र *उपमश्रवस्* था और इन सभी नामों में अत्यन्त समानता है।

उच्-छीर्षक—यह शब्द, जो कौषीतकि उपनिषद्[१] (१.५) में विश्राम-उपकरण (पर्यङ्क) के वर्णन में आता है, प्रत्यक्षतः सर के लिये प्रयुक्त गद्दे (तकिये) का द्योतक है। *आसन्दी* भी देखिये।

[१] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४०२; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १५५।

उत्तर कुरु—उत्तर कुरु लोग, जो महाकाव्यों तथा बाद के साहित्य में पौराणिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, ऐतरेय ब्राह्मण[१] में एक ऐतिहासिक जाति के लोग हैं जिनका निवासस्थान हिमालय के उस पार बताया गया है (परेण

[१] ८. १४।

हिमवन्तम्)। फिर भी, एक अन्य स्थल[2] पर उत्तरकुरुओं का देश *वासिष्ठ सात्यहव्य* द्वारा 'देवों का देश' (देव-क्षेत्र) कहा गया है, किन्तु *जानंतपि अत्यराति* इस पर विजय प्राप्ति का उत्सुक था जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सर्वथा पौराणिक नहीं है। त्सिमर का यह विचार स्वीकार कर लेना तर्क-संगत प्रतीत होता है कि उत्तर कुरु लोग काश्मीर में बस गये थे; और विशेषतः *कुरुक्षेत्र* ही वह देश है जहाँ काश्मीर से बढ़नेवाली जातियाँ स्वभावतः पाई जा सकती हैं। तुलना कीजिये *उदीच्य*।

[2] ८. २३। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, १६५; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, १०१, १०२; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १३, ७५, नोट।

उत्तर-मद्र—यह एक जाति का नाम है जिसका ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उत्तर कुरुओं के साथ उल्लेख है, और जो हियालय के उस पार रहते थे। त्सिमर[2] यह उल्लेख करते हैं कि वंश ब्राह्मण[3] में *काम्बोज औपमन्यव*, *मद्रगार* का शिष्य है, और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कम्बोजों और मद्रों के रहने के स्थान आपस में बहुत दूर-दूर नहीं थे। काम्बोजों[4] की सम्भावित स्थिति को देखते हुए यह निष्कर्ष पूर्णतया तर्क संगत है।

[1] ८. १४।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन १०२;
[3] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७१।
[4] देखिये पाजिटर का मानचित्र: ज० ए० सो० १९०८, पृष्ठ ३३२; तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, १६५;

उत्-तान आङ्गिरस का तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में एक अर्ध-पौराणिक व्यक्ति के रूप में उल्लेख है जो सभी अच्छी वस्तुएँ ग्रहण कर लेता था, और फिर भी जिसका कोई अहित नहीं हुआ, क्योंकि सायण[2] की व्याख्या के अनुसार यह वास्तव में पृथ्वी का ही एक रूप था। इसका नाम काठक संहिता[3], पञ्चविंश ब्राह्मण[4], और तैत्तिरीय आरण्यक[5] में भी आता है।

[1] २. ३, २, ५। तु० की० २. २, ५, ३।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३, २, ५, पर।
[3] ९. ९।
[4] १. ८, ११।
[5] ३. १०, २. ३।

उदग्-अयन—देखिये *सूर्य*।

उद्-अंक शौल्बायन—'ब्रह्म' सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण, जिसमें इन्होंने ब्रह्म की 'प्राण' से समानता स्थापित की है, बृहदारण्यक उपनिषद् (४. १, ३) में वर्णित है। इस प्रकार यह विदेहराज *जनक* के समकालीन रहे होंगे। तैत्तिरीय संहिता (७. ५, ४, २) में भी इनके इस विचार का

उल्लेख है कि 'दशरात्र' समारोह ही यज्ञ-सत्र की समृद्धि अथवा उसका सर्वश्रेष्ठ भाग है।

उद्-अञ्चन—ऋग्वेद[1] में केवल लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ ब्राह्मणों[2] में 'बाल्टी' या 'पात्र' है।

[1] ५. ४४, १३ (धियाम् उदाञ्चनः, "वस्तुतः स्तुतियों का एक कूप")।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३२; शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ५, २१।

उदमय आत्रेय का ऐतरेय ब्राह्मण (८.२२) में *अङ्ग वैरोचन* के पुरोहित के रूप में उल्लेख है।

उदर-शाण्डिल्य का छान्दोग्य उपनिषद्[1] में एक गुरु के रूप में, तथा वंश ब्राह्मण[2] में *अतिधन्वन् शौनक* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] १. ९, ३।

[2] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३८४।

उदल, एक वैश्वामित्र का पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ११, ३३) में एक सामन् के द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

उद्-आज—मैत्रायणी संहिता[1] में यह शब्द विजय के बाद युद्ध-विजित (संग्रामम् जित्वा) सम्पत्ति में से राजा द्वारा लिये गये भाग का द्योतक है। यह व्याख्या, जो कि डेल्ब्रुक[2] की है, ओडर[3] की पहले की तथा बौटलिङ्क[4] द्वारा स्वीकृत व्याख्या "आगे बढ़ना" की तुलना में अत्यन्त ठीक है। इस प्रकार 'उदाज' होमर के Yepas से बिल्कुल मिलता-जुलता है। यह काठक[5] और कपिष्ठल[6], दोनों ही संहिताओं के विभेदात्मक रूप 'निराज' के भी अनुकूल है।

[1] १. १०, १६; ४. ३, १।

[2] फे० वो० २५।

[3] मैत्रायणी संहिता : १, १५।

[4] डिक्शनरी, व० स्था०।

[5] २८. ३।

[6] ४४. ३।

उदान—जहाँ *प्राण* के पाँच प्रकार गिनाये गये हैं[1] वहाँ यह (उदान)

[1] यथा : मैत्रायणी संहिता ३. १२, ९; काठक संहिता ५. ४; १०; शतपथ ब्राह्मण ९. २, २, ५; ११. ८, ३, ६ (इस क्रम में : प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान); बृहदारण्यक उपनिषद १. ५, ३; ३. ४, १ (इसमें 'समान' नहीं है; ३. ९, २६; छान्दोग्य उपनिषद ३. १३, ५; ५. २३, १. २; ऐतरेय आरण्यक २. ३, ३, इत्यादि।

उस क्रम में पाँचवाँ है। कभी कभी[2] यह दूसरा भी है, जहाँ यह 'प्राण' के बाद और इसके बाद 'व्यान' अथवा 'समान' आता है। अन्यत्र[3] यह केवल 'प्राण' के विपरीत प्रयुक्त हुआ है, अथवा 'प्राण' और 'अपान'[4] के बाद आता है। शतपथ ब्राह्मण[5] में यह एक प्राणवायु के रूप में माना गया है जो भोजन को पचा लेता है। यही विचार बाद के उपनिषदों[6] में भी देखा जा सकता है। साथ ही यह एक ऐसा वायु भी माना गया है जो गले से ऊपर आता है[7] और मृत्यु[8] के समय आत्मा को बाहर निकाल देता है।

[2] वाजसनेयि संहिता १. २०; ७. २७; शतपथ ब्राह्मण ९. ४, २, १० इत्यादि ('व्यान' सहित); ऐतरेय ब्राह्मण १. ७, २ ('समान' सहित)।

[3] वाजसनेयि संहिता ६. २०; शतपथ ब्राह्मण ४. १, २, २; ९. २, ४, ५ इत्यादि।

[4] शाङ्खायन आरण्यक ८. ८; ११. १।

[5] ११. २, ४, ५।

[6] मैत्रायणी उपनिषद् २. ६।

[7] अमृतबिन्दु उपनिषद् ३४;

[8] प्रश्न उपनिषद् ३. ७; तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स २८०;

उदीच्य—उत्तरी भाग के ब्राह्मणों का शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लेख है जिन्होंने अपने प्रतिनिधि वक्ता *स्वैदायन शौनक* सहित कुरु-पञ्चाल ब्राह्मण *उद्दालक आरुणि* के साथ विवाद किया और उसको पराभूत किया था। कुरु-पञ्चालों से इनका सम्बन्ध इस बात से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि उसी ब्राह्मण[2] में ऐसा उल्लेख आता है कि उत्तर की भाषा भी कुरुपञ्चालों के समान ही थी। उत्तरी लोगों की भाषा शुद्धता के लिए प्रख्यात थी; अतः कौषीतकि ब्राह्मण[3] के अनुसार ब्राह्मण लोग अध्ययन के लिए उत्तर देश जाते थे; जब कि बौद्ध ग्रन्थों में तक्षशिला (गन्धार में) विद्यार्थियों[4] के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध है। जैसा कि फ्रैंके[5] ने विचार व्यक्त किया है, यह भी सम्भव है कि काश्मीर में संस्कृत विशेष रूप से विकसित रही हो। कुरु भी देखिये।

[1] ११. ४, १, १; तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. ३, ६।

[2] ३. २, ३, १५; तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. १९१; लेवी: ला' डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ३५;

[3] ७. ६; तु० की० वेबर : उ० पु० १, १५३; २, ३०९;

[4] रीज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया ८, २८, २०३।

[5] तु० की० पालि उन्ट संस्कृत (१९०२), ८८, ८९;

उदुम्बर—(Ficus Glomerata)—यह नाम ऋग्वेद में नहीं आता

किन्तु अथर्ववेद[1] और बाद में अक्सर मिलता है। सभी प्रकार के सांस्कारिक कृत्यों के लिए नित्य इसी लकड़ी का व्यवहार होता था। यज्ञ स्तम्भ (यूप)[2], और यज्ञ के लिए चम्मच[3] इसी के बने होते थे। उदुम्बर के कवचों का भी उल्लेख है।[4] *अश्वत्थ, न्यग्रोध,* और *प्लक्ष* जैसे इसी कोटि के अन्य वृक्षों की भाँति इसकी लकड़ी भी यज्ञ के समय व्यवहार के उपयुक्त समझी जाती थी[5]। ऐतरेय ब्राह्मण[6] में इसका फल मीठा होने का उल्लेख है जहाँ उसे *मधु* के समान ही माना गया है। उसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि यह वर्ष में तीन बार[7] पकता है। पञ्चविंश ब्राह्मण[8] में उदुम्बर के वृक्षों के एक वन का भी उल्लेख है।

[1] १९. ३१, १; तैत्तिरीय संहिता २. १, १, ६, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, ३३; ७. ४, १, ३८ इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. १, १, ६;
[3] वही, ५. ४, ७, ३।
[4] अथर्ववेद १९. ३१, १।
[5] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, ४।
[6] ७. १५।
[7] ५. २४।
[8] १६. ६, ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५९;

उद्दालक-आरुणि—अरुण के पुत्र उद्दालक वैदिक काल के सर्वप्रमुख गुरुओं में से एक हैं। शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार यह एक कुरुपंचाल ब्राह्मण थे। यह विचार इस बात से पुष्ट होता है कि यह कौशाम्बी[2] के *प्रोति कौसुरुविन्दि* के गुरु थे और इनका पुत्र *श्वेतकेतु* पंचालों[3] के बीच विवादग्रस्त देखा जाता है। यह अपने पिता[4] अरुण के तो शिष्य थे ही साथ ही मद्र के पतंचल काप्य[5] के भी शिष्य थे। स्वयं यह, प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य[6] वाजसनेय और कौषीतकि[7] के गुरु भी थे, यद्यपि अन्यत्र[8] इस बात का भी उल्लेख है कि इनमें से प्रथम (याज्ञवल्क्य) ने इन्हें (शास्त्रार्थ में) पराजित कर दिया था। इन्होंने 'प्राचीनयोग्य शौचेय'[9], और ऐसा प्रतीत होता है कि भद्रसेन

[1] ११. ४, १, २; तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. ३, ६।
[2] १२. २, २, १३।
[3] बृहदारण्यक उपनिषद ६. १, १; छान्दोग्य उपनिषद ५. ३, १।
[4] बृहदारण्यक उपनिषद ६. ४, ३३ (दोनों ही शाखाओं में)।
[5] वही ३. ७, १।
[6] वही ६. ३, १५; ४, ३३।
[7] शाङ्खायन आरण्यक १५।
[8] बृहदारण्यक उपनिषद ३. ७, ३१।
[9] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ३, १ और बाद।

आजातशत्रव[10] को भी शास्त्रार्थ में पराभूत कर दिया था, यद्यपि मूल पाठ में इनका नाम आरगि है। यह एक गौतम[11] थे और अक्सर इन्हें ऐसा कहा गया है। सांस्कारिक कृत्यों और दर्शन सम्बन्धी एक आधिकारी विद्वान के रूप में इनका अपने पैतृक नाम 'आरुणि' द्वारा शतपथ ब्राह्मण[12], बृहदारण्यक उपनिषद्,[13] छान्दोग्य उपनिषद्,[14] में बार-बार, और ऐतरेय,[15] कौषीतकि,[16] तथा षड्विंश[17] ब्राह्मणों, और कौषीतकि उपनिषद्[18] में अक्सर उल्लेख है। गेल्डनर[19] के अनुसार मैत्रायणी संहिता में इनका नहीं वरन् इनके पिता 'अरुण' का उल्लेख है। वेबर[20] के अनुसार पञ्चविंश ब्राह्मण में इनका नाम नहीं आता, किन्तु काठक संहिता[21] में आरुणि के रूप में इन्हें *दिवोदास भैमसेनि* का समकालीन, तथा जैमिनीय उपषिद् ब्राह्मण[22] में *वासिष्ठ चैकितानेय* की सेवा करते हुए बताया गया है। तैत्तिरीय परम्परा में इनका कदाचित ही उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[23] में कुसुरुबिन्द औद्दालकि का संकेत है, और तैत्तिरीय ब्राह्मण[24] के अनुसार नाचिकेतस्, 'वाजश्रवस गौतम' का एक पुत्र है जिसे सायण[25] उद्दालक मानते हैं। किन्तु नाचिकेतस् की कथा कुछ अवास्तविक होने के कारण उसे सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तु नहीं माना जा सकता। 'अरुण' से तैत्तिरीय संहिता परिचित है। उद्दालक का एक वास्तविक पुत्र प्रसिद्ध *श्वेतकेतु* था जिसके सम्बन्ध में

[10] ५. ५, ५, १४। एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, १४१ में 'आरुणि' है। किन्तु 'आरुणि' को ऐसा मानने में एक काल-गत कठिनाई है, क्योंकि 'आजातशत्रव' निश्चित रूप से 'अजातशत्रु' का वंशज रहा होगा। और अजातशत्रु 'जनक' का समकालीन था (देखिये कौषीतकि उपनिषद ४. १) तथा स्वयं 'जनक' आरुणि के शिष्य याज्ञवल्क्य के प्रति-पालक थे। किन्तु यह कठिनाई अपरि-हार्य नहीं है।

[11] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ३, २; कौषी-तकि उपनिषद १. १।

[12] १. १, २, ११; २. २, १, ३४; ३. ३, ४. १९; ४. ४, ८, ९: ११. २, ६, १२।

[13] ३. ५, १।

[14] ३.११, ४; ५.११, २; १७, १; ६.८,१।

[15] ८. ७।

[16] २६. ४।

[17] १. ६।

[18] १. १, और बाद।

[19] वेदिशे स्टूडियन ३, १४६;

[20] इन्डियन लिटरेचर ६९; किन्तु तु० की० २३. १, ५।

[21] ७. ८। तु० की० ८. ६।

[22] १. ४२, १।

[23] ७. २, २, १ (बाद का एक स्थल)।

[24] ३ ११, ८, १ और बाद।

[25] तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर। तु० की० काठक उपनिषद १. ११।

आपस्तम्ब[२६] में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वह अपने समय में एक 'अवर' अथवा वाद का एक अधिकारी विद्वान था, और यह वक्तव्य आरुणि का काल-निर्धारण करने के लिये भी महत्त्वपूर्ण है।

[२६] देखिये व्हूलर : से० बु० ई० २, xxxviii; कीथ : ऐतरेय आरण्यक ३९; तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १७०, नोट; २, २०१, २०२; औल्डेनबर्ग : बुद्ध ३९६, नोट; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xl, xli।

उद्दालकायन—बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ६, २) की काण्व शाखा के दूसरे वंश (गुरुओं की तालिका) में 'जाबालायन' के शिष्य के रूप में इनका उल्लेख है।

उद्र—यह एक पशु का नाम है जो केवल यजुर्वेद संहिताओं[१] में दी हुई अश्वमेध के समय के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है। महीधर[२] के अनुसार यह एक केकड़ा है; किन्तु तैत्तिरीय संहिता के भाष्य[३] में जब इसे जल-बिल्ली कहा गया है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक जलमार्जार है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १८; वाजसनेयि संहिता २४. ३७।

[२] वाजसनेयि संहिता उ० स्था० पर।

[३] उ० स्था०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९५, ९६; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ २४७; बौधायन श्रौत सूत्र २. ५ में 'उद्रिन्' आता है।

उद्धि[१]—यह रथ के किसी भाग—सम्भवतः बैठने के स्थान[२] का द्योतक है; किन्तु रौथ[३] के अनुसार यह धुरे पर टिका हुआ रथ का ढाँचा है।

[१] अथर्ववेद ८. ८, २२; शतपथ ब्राह्मण १२. २, २, २; ऐतरेय आरण्यक २. ३, ८।

[२] ह्विट्ने के अथर्ववेद अनुवाद ५०६ में इसी प्रकार है; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, १४९;

[३] सेन्टपीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

उप-केतु—यह एक व्यक्ति का नाम है जिसका काठक संहिता (१३. १) में उल्लेख है।

उप-कोसल कामलायन—एक गुरु और *सत्यकाम जाबाल* के शिष्य के रूप में इनका छान्दोग्य उपनिषद् (४. १०, १; १४, १) में उल्लेख है।

उप-क्वस—अथर्ववेद (६. ५०, २) में यह बीज के लिये हानिकारक एक विनाशक कीटाणु का नाम है। फिर भी सायण इस शब्द को बहुवचन विशेषण (अ-पक्वसः = अ-दग्धाः) पढ़ते हैं, किन्तु पैप्पलाद शाखा 'उपक्वसः' रूप की ही पुष्टि करता है।

तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३७; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४८६; ह्विट्ने का अथर्ववेद अनुवाद ३१८;

उप-गु सौश्रवस—पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ६, ८) में इसका *कुत्स औरव* के पुरोहित के रूप में उल्लेख है, जिसकी इन्द्र की अभ्यर्चना करने के कारण कुत्स औरव ने हत्या कर दी थी।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २६८; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५७।

उप-चित्—वाजसनेयि संहिता[१] में एक रोग के नाम के रूप में आता है, रौथ[२] जिसका अनुवाद "सूजन" करते हैं, और जिसे ब्लूमफील्ड[3] *अपचित्* के समान मानते हैं।

[१] १२. ९७।

[२] सेन्टपीटर्सवर्ग कोश० व० स्था०।

[3] प्रो० सो० अक्तूबर १८८७, xviii।

उप-जिह्विका, उप-जीका, उप-दीका—यह सब एक ही शब्द के विभिन्न रूप हैं जो चींटी[१] की एक जाति के द्योतक हैं। अथर्ववेद[२] में इन चींटियों को ऐसे जल तक पहुँच जाने की शक्ति से युक्त बताया गया है जिसमें व्याधि-नाशक गुण होता है। इस कारण विषाक्तता के विरुद्ध अनेक प्रकार के अभिचारों में इनका उपयोग होता था। इनके शामक गुणों के प्रति विश्वास का कारण निःसन्देह इनके कूलकों की मिट्टी का सुपरिचित गुण था जिसमें इनका जल निहित होता था।

[१] 'उप जिह्विका' रूप ऋग्वेद ८. १०२, २१ में आता है; 'उप-जीका' अथर्ववेद २. ३, ४; ६. १००, २ में; किन्तु पैप्पलाद शाखा के दोनों स्थलों पर 'उप-चीका' है। 'उपदीका' तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ४; तैत्तिरीय आरण्यक ५. १, ४; १०, ९; शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, ८ में आता है।

[२] ६. १००, २। तु० की० ब्लूमफील्ड : अ. फा. ७, ४८२ और बाद; अथर्ववेद के सूक्त ५११; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ४१, ३५४; वर्गेन और हेनरी: मैनुयेल वेदिके १५३।

उप-धान—अथर्ववेद (१४.२, ६५) में बैठने के स्थान (*आसन्दी*) के 'गद्दे' का द्योतक है। यह अन्य ग्रन्थों के *उपबर्हण* से मिलता-जुलता है।

उप-धि—ऋग्वेद[१] और अथर्ववेद[२] में *प्रधि* के साथ आता है जो रथ के पहिये के एक भाग का द्योतक है। ठीक-ठीक यह निश्चित करना असम्भव है

[१] २. ३९, ४।

[२] ६. ७०, ३।

है कि किस भाग से इसका तात्पर्य है। रौथ[3], त्सिमर[4], और ब्लूमफील्ड[5] इस विचार से सहमत हैं कि यह शब्द सामूहिक रूप से सब तीलियों का द्योतक है। ह्विटने[6] ऐसा न स्वीकार करते हुये इसे एक ठोस पहिये का नाम मानना अधिक उचित समझते हैं जिसमें सम्भवतः पहिये की ऊपरी चक्र-परिधि को 'प्रधि' और शेष भाग को 'उपधि' कहा जाता था। अन्य संभावनाएँ[7] यह हैं कि 'उपधि' पहिये के ऊपरी चक्र-परिधि के नीचे का, अथवा आयस (साधारणतया *पवि*) की तुलना में स्वयं ऊपरी चक्र-परिधि ही है।

[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन २४८ (अथर्ववेद के स्थल की उपेक्षा करते हुए)।
[5] अथर्ववेद के सूक्त ४९३।
[6] अथर्ववेद का अनुवाद २३४।
[7] ब्लूमफील्ड, उ० स्था०।

उप-निषद्—ब्राह्मणग्रन्थों[1] में सामान्यतया किसी शब्द अथवा मूलग्रन्थ के 'गुप्त-आशय' का, और कभी-कभी भिक्षुओं के 'गुप्त नियम' का द्योतक है। किन्तु बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में इसका बहुवचन में विशेष प्रकार की ऐसी कृतियों के नाम के रूप में प्रयोग हुआ है जो कि निसन्देह वर्तमान थीं और अपने विषय-वस्तु तथा उसके प्रतिपादन के स्वरूप में उपनिषदों के ही समान थीं। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद की प्रत्येक वल्ली 'इति उपनिषद्' शब्दों के साथ समाप्त होती है। ऐतरेय आरण्यक[3] का तृतीय भाग 'संहिता का उपनिषद्' शीर्षक द्वारा आरम्भ होता है, और यही शीर्षक शांखायन आरण्यक[4] में भी आता है। इस अभिव्यक्ति का ठीक-ठीक आशय सन्दिग्ध है। मैक्समूलर[5] द्वारा स्वाभाविक निष्कर्ष के आधार पर, जो उनके बाद से प्रचलित है, इस शब्द का प्रथम अर्थ 'शिष्यों का सत्र—अतः गुप्त तत्त्व', और दूसरा अर्थ 'गुप्त तत्त्व सम्बन्धी कृति का शीर्षक' प्रतीत होता है। फिर भी ओल्डेनबर्ग[6] इस शब्द को पहले प्रयुक्त (तुलना कीजिये 'उपासन') आशय में ही ग्रहण करते

[1] शतपथ ब्राह्मण १०. ३, ५, १२; ४, ५, १; ५, १, १; १२. २, २, २३ इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद १. १, १०; १३, ४; ८. ८, ४. ५; बृहदारण्यक उपनिषद २ १, २०; ४. २, १; ५. ५, ३; ऐतरेय आरण्यक ३. १, ६; २, ५; कौषीतकि उपनिषद २. १ इत्यादि;
[2] २. ४, १०; ४. १, २; ५, ११।
[3] ३. १, १।
[4] ७. २। तु० की० तैत्तिरीय उपनिषद १. ३, १।
[5] से० बु० ई० १, xxxiii, और बाद। तु० की० सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; मैक्डौनेल : संस्कृत लिटरेचर, २०४।
[6] त्सी० गे० ५०, ४५७; ५४, ७०; डी० इ० ७२।

हैं। ड्यूसन[७] इस शब्द का मूल आशय 'गुप्त शब्द', दूसरा आशय 'गुप्त मूल ग्रन्थ', और तीसरा 'गुप्त अभिप्राय' मानते हैं, किन्तु यह अर्थक्रम असम्भव प्रतीत होता है। हॉपकिन्स[८] का विचार है कि 'उपनिषद्' सहायक रचनाओं का द्योतक है; किन्तु स्वभावतः इस आशय द्वारा इस शब्द के 'गुप्त अर्थ' के आशय में किये गये साधारण प्रयोग का, जिसमें अन्य आशयों की अपेक्षा यह कहीं अधिक प्रयुक्त हुआ है, समाधान नहीं होता।

[७] फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स १६ और बाद।

[८] रिलीजन्स ऑफ इण्डिया २१८।

उप-पति—वाजसनेयि संहिता[१] में पुरुषमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में इसका (उप-पति का) 'जार' (प्रेमी) के साथ उल्लेख है।

[१] ३०. ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ४, १।

उप-बर्हण—'तकिया' अथवा 'गद्दा'—मुख्यतः बैठने के स्थान (आसन्दी) के लिये प्रयुक्त होनेवाले गद्दे अथवा तकिये का द्योतक है जो ऋग्वेद[१], अथर्ववेद[२], और ब्राह्मणों[३] में आता है। इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'उपबर्हणी' भी इसी आशय में ऋग्वेद में मिलता है किन्तु यहाँ यह पृथ्वी के लिये लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[१] १०. ८५, ७।

[२] ९. ५, २८; १२.२, १९. २०; १५. ३,७।

[३] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२; शतपथ ब्राह्मण १३. ८, ४, १०; कौषीतकि उपनिषद १. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ६, १०; ६, ८, ९; काठक संहिता २८. ४, इत्यादि।

उप-मन्थनी—यह बृहदारण्यक उपनिषद्[१] में 'मथनी' के लिये प्रयुक्त हुआ है। वाजसनेयि संहिता[२] के पुरुषमेध के बलि प्राणियों की तालिका में मथनेवाले (उपमन्थितृ) भी सम्मिलित हैं; और इसका क्रिया-रूप 'उप-मन्थ्' तरल पदार्थों[३] को मथने अथवा मिलाने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

[१] ६. ३, १३।

[२] ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ८, १।

[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ८, ४. ५; शतपथ ब्राह्मण २. ६, १, ६; छान्दोग्य उपनिषद ५. २, ४।

उप-मन्यु—लुडविग[१] के अनुसार ऋग्वेद[२] में एक व्यक्ति का नाम है;

[१] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११३।

[२] १. १०२. ९।

किन्तु रौथ[3] ने केवल एक 'विशेषण' के रूप में इसकी अधिक सम्भाव्य व्याख्या की है।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

उपम-श्रवस्—का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में *कुरुश्रवण* के पुत्र और *मेधातिथि* के पौत्र के रूप में उल्लेख है। इनके सन्दर्भ की आवश्यकता प्रायः अनिश्चित है। बृहद्देवता[2] के अनुसार, जिसका लुडविग[3] और लैनमैन[4] भी अनुगमन करते हैं, उक्त सूक्त में कवि, उपमश्रवस् को उसके पितामह मेधातिथि की मृत्यु पर सान्त्वना देता है। इसके विपरीत गेल्डनर[5] का विचार है कि कवि के साथ, जिसका नाम *कवष ऐलूष* था, उसके प्रतिपालक के पुत्र उपम-श्रवस् ने दुर्व्यवहार किया और उसे किसी खंदक या कूयें में फिकवा दिया था, जहाँ से उसने (कवि ने) दया के लिये निवेदन और अनुरोध किया था। किन्तु इस विचार के लिये पर्याप्त आधार नहीं है और बृहद्देवता की परम्परा ही ठीक प्रतीत होती है।

[1] १०. ३३, ६. ७।
[2] ७. ३५. ३६, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित;
[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६५।
[4] संस्कृत रीडर, ३८६, ३८९।
[5] वेदिशे स्टूडियन २, १५०, नोट।

उप-मित्—दो बार ऋग्वेद[1] और एक बार अथर्ववेद[2] में यह 'घर' के किसी भाग के द्योतक के रूप में आया है। ऋग्वेद के उक्त स्थल द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस शब्द का अर्थ सीधा स्तम्भ है। जैसा कि अथर्ववेद में यह शब्द *परिमित्* और *प्रतिमित्* के साथ संयुक्त होकर आया है, इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि यह द्वितीय शब्द (प्रतिमित्) उपमित् को उपस्तम्भित करनेवाले स्थूणों का द्योतक है जो कदाचित् इससे एक कोण पर टिके होते थे; जब कि *परिमित्* उन धरनों (शहतीरों) का द्योतक है जो उपमितों को बेंड़े-बेंड़े सम्बद्ध करते थे। फिर भी यह व्याख्यायें केवल अनुमानात्मक ही हो सकती हैं। *गृह* भी देखिये।

[1] १.५९, १; ४.५, १।
[2] ९.३, १। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन १५३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५९६; व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद ५२१।

उपर—जिसका पिशल[1] के अनुसार साधारणतया 'पत्थर' अर्थ है, उस

[1] वेदिशे स्टूडियन १, १०९। 'उपल' रूप का भी यही आशय है (वाजसनेयि संहिता २५.८ इत्यादि)।

पत्थर का पारिभाषिक नाम है जिस पर रस निचोड़ने के लिये सोम-पौधों को रख कर अन्य पत्थरों (अद्रि, ग्रावन्) से दबाया जाता था। इस शब्द का प्रयोग दुर्लभ है जो ऋग्वेद[2] में तीन बार तथा अथर्ववेद[3] में केवल एक बार ही आता है।

[2] १.७९, ३; १०.९४, ५; १७५, ३।
[3] ६.४९, ३। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १५४; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३१७; फॉन श्रोडर : मि० ४२४।

उपल-प्रक्षिणी—ऋग्वेद[1] में एक बार आता है जहाँ यह एक स्त्री के व्यवसाय का, उसके पुत्र के जो एक कवि (कारु) है, तथा उसके पिता जो एक चिकित्सक (भिषज्) है, के व्यवसायों की तुलना में भिन्नता का द्योतक शब्द है। यास्क[2] इस शब्द का अनुवाद 'ताम्रमुद्रा विशेष का बनानेवाला' (सक्तु-कारिका) करते हैं, और रौथ[3], ग्रासमैन[4], त्सिमर,[5] तथा अन्य विद्वान् इसे अन्न पीसने की क्रिया के साथ सम्बद्ध करते हैं। फिर भी पिशल[6] का, जो इस बात का उल्लेख करते हैं कि अन्न दो पत्थरों के बीच में रख कर नहीं पीसा जाता था वरन् एक पत्थर पर रखकर उसे मूसल (दृषद्) द्वारा कूटा जाता था, यह विचार है कि उपल-प्रक्षिणी एक स्त्री का द्योतक है जो कि सोम निचोड़ने में सहायता करती थी (तुलना कीजिये उपर)। फॉन श्रोडर[7], जो अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त रूप से यह व्यक्त करते हैं कि 'उपल' को एक 'उदूखल' मानने में कोई आपत्ति नहीं जिसमें रखकर अन्न को मूसलों से कूटा जाता था, इस शब्द का इस प्रकार शाब्दिक अनुवाद करते हैं : 'जो (निचले) पत्थर को (अन्न से) भरता है'।

[1] ९.११२, ३।
[2] निरुक्त ६.५।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[4] वही : व० स्था०, 'चक्की के ऊपरी पत्थर को (निचले पर) व्यवस्थित करना'।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन २६९; तु० की० हिलेब्रान्ट : वे०, व० स्था० पर जो 'पृच्' को 'भरने' के आशय में ग्रहण करते हैं, इस यौगिक शब्द की व्याख्या 'चक्की के ऊपरी पत्थर को भरना' करते हैं; परन्तु यह व्याख्या जैसी भी हो, बुद्धि ग्राह्य नहीं है।
[6] वेदिशे स्टूडियन १, ३०८-३१०;
[7] मि० ४१२, और बाद। फॉन श्रोडर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि यहाँ गायक की माता से तात्पर्य है; किन्तु इस स्थल की भाषा से अन्य कोई निष्कर्ष निकलना प्रायः असम्भव प्रतीत होता है; और इस शब्द को एक 'अन्न-माता' के सन्दर्भ में ग्रहण करने की व्याख्या भी नितान्त असम्भव है। तु० की० कीथ : ज० ए० सो० १९०९; २०४।

उपला--ब्राह्मण ग्रन्थों[1] में ऊपरी और अपेक्षाकृत छोटे पत्थर का द्योतक हो सकता है जिसका मूसल के रूप में तथा उसके साथ उलूखल के रूप में दृषद् का प्रयोग होता था; जब कि संहिताओं में उपर उलूखल का और 'दृषद्' मूसल का द्योतक है। किन्तु दृषद् भी देखिये।

[1] शतपथ ब्राह्मण १.१, १, २२; २.१, १४, १७; २.२, २, १, इत्यादि। तु० की० फॉन श्रोडर : मि० ४१३, नोट ३;

उप-वाक—यह अन्न की एक जाति Wrightia antidysenterica, जो बाद में इन्द्र-यव के रूप में जानी जाती थी, के वर्णनार्थ वाजसनेयि संहिता[1] और ब्राह्मणों[2] में आता है। भाष्यकार महीधर[3] इसे केवल अपेक्षाकृत अधिक सामान्य शब्द *यव* के साथ रख देते हैं। वाजसनेयि संहिता के अनुसार यह 'करम्भ' के लिए एक आवश्यक तत्व होता था और उपवाक 'सक्तवः' का शतपथ ब्राह्मण[4] में उल्लेख है।

[1] १९.२२; ९०; २१.३० (शामक के रूप में)।

[2] शतपथ ब्राह्मण १२.७, १, ३; २, ९ इत्यादि।

[3] वाजसनेयि संहिता १९. २२ पर।

[4] १२.९, १, ५; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४०, २७०।

उप-वेशि—इसका बृहदारण्यक उपनिषद (६.५, ३, दोनों ही शाखाओं में) के वंश (गुरुओं की तालिका) में *कुश्रि* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। *औपवेशि* भी देखिए।

उप-श्री, उप-श्रय—यह दोनों एक ही शब्द के दो पाठ हैं। इनमें से प्रथम कौषीतकि उपनिषद्[1] की एक शाखा में पाया जाता है; और द्वितीय कदाचित इसी उपनिषद[2] की एक अन्य शाखा का पाठ है, साथ ही अथर्ववेद[3] के एक स्थल पर भी निश्चित रूप से यही पाठ है, यद्यपि मूल में 'अपश्रयः' है जिसे सम्भवतः रौथ[4] ने भी स्वीकार किया है। दोनों ही दशाओं में इस शब्द का स्पष्टतः विश्राम-उपकरण (अथर्ववेद में *आसन्दी* और कौषीतकि उपनिषद में पर्यङ्क) से सम्बन्धित किसी वस्तु का तात्पर्य है। ऑफरेख्त[5], रौथ[6], और

[1] १.५।

[2] देखिये कीथ : शाङ्खायन आरण्यक २०, नोट ३।

[3] १५.३, ८; तु० की० अपने अनुवाद में व्हिटने की टिप्पणी।

[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० और बौटलिङ्क का कोष, व० स्था०; दोनों ने स्वीकार किया है।

[5] इन्डिशे स्टूडियन १, १३१।

[6] व० स्था० 'अपश्रय'।

मैक्स मूलर[७], इसका अनुवाद 'चद्दर' अथवा 'गद्दा' करते हैं, किन्तु व्हिटने[८] अपने इस विचार में ठीक प्रतीत होते हैं कि इसका अर्थ 'आश्रय-स्थान' अथवा इसी समान कोई वस्तु है।

[७] से० बु० ई० १, २७८।
[८] अथर्ववेद का अनुवाद ७७७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४०२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५५।

उप-स्तरण—विश्राम-उपकरण (पर्यङ्क) के वर्णन में कौषीतकि उपनिषद[१] में यह एक 'चद्दर' का द्योतक है, और इसी आशय में इसका ऋग्वेद[२] में भी लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद[३] में भी इसका यही अर्थ प्रतीत होता है। फिर भी, व्हिटने[४] इसका अनुवाद 'विश्राम-उपकरण' करते हैं जब कि एक समान शब्द *आस्तरण* का अनुवाद[५] एक अन्य स्थल[६] पर 'गद्दा' करते हैं।

[१] १.५।
[२] ९.६९, ५।
[३] ५.१९, १२।
[४] अथर्ववेद का अनुवाद २५४।
[५] वही ७७६।
[६] १५.३, ७। तु० की वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४०३; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५५।

उप-स्ति—ऋग्वेद[१] और अथर्ववेद[२] दोनों में ही यह एक 'पराश्रित' का द्योतक है। बाद में माहाकाव्यों[३] में भी दो अन्य जातियों से वैश्यों की हीनता को क्रिया-शब्द 'उप-स्था' (नीचे रहना) द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी आशय में यह शब्द अपने 'स्ति' रूप में भी आता है, किन्तु केवल ऋग्वेद[४] में ही। इस शब्द द्वारा आश्रित रहने की ठीक ठीक प्रकृति का स्वरूप नितान्त अनिश्चित है। त्सिमर[५] का अनुमान है कि "आश्रित-व्यक्ति" पराजित आर्य जातियों के लोग होते थे जो राजा के अनुगामी बन जाते थे; जैसा कि यूनानी, रोमनों, तथा जर्मनों में भी था। साथ ही इस शब्द के आशय के अन्तर्गत ऐसे व्यक्ति भी आ जाते हैं जो पासे[६] में हार जाने के कारण अपनी स्वतन्त्रता खो देते थे। अथर्ववेद[७] के प्रमाण द्वारा यह व्यक्त होता है कि उपस्तियों में रथ बनाने वाले (रथ-कार), लुहार-सुनार (तक्षण्), और सारथी (सूत) तथा समूह नेता (ग्राम-णी) आते हैं, जब कि ऋग्वेद के स्थल सभी व्यक्तियों के "प्रजा" (स्ति) होने की सम्भावना को नकारात्मक सिद्ध करते हैं। अतः

[१] १०. ९७, २३ (=वाजसनेयि संहिता १२. १०१; अथर्ववेद ६. १५, १)।
[२] ३. ५, ६।
[३] हॉपकिन्स : ज०अ० ओ०सो० १३. ९२।
[४] ७. १९, ११; १०.१४८, ४; 'स्ति-प', ७. ६६, ३; १०. ६९, ४।
[५] आल्टिन्डिशे लेबेन १८४, १८५।
[६] ऋग्वेद १०. ३४।
[७] अथर्ववेद ३. ५, ६.७।

यह मान लिया जा सकता है कि यह लोग राजा के वास्तविक अनुचर होते थे जिनका साधारण जनसंख्या की तुलना में राजा से एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध रहता था। इनके अन्तर्गत केवल त्सिमर द्वारा प्रस्तुत वर्ग ही नहीं रक्खे जा सकते वरन उससे ऊँचे लोग, जैसे कि दूसरी जातियों के शरणार्थी तथा राजकीय सेवा द्वारा प्रसिद्धि के महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति भी, आ सकते हैं। वास्तव में 'सूत' और 'ग्रामणी' राजगृह के अधिकारी होते थे जो अथर्ववेद[८] के वर्णन के अनुसार स्वयं राजा न होते हुए भी राज-निर्माता होते थे। तैत्तिरीय संहिता[९], तैत्तिरीय ब्राह्मण[१०] और काठक[११], तथा साथ ही साथ ऋग्वेद के एक स्थल पर भी जहाँ यह आता है, इस शब्द का प्रयोग सर्वथा लाक्षणिक है। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा[१२] में वैश्य, शूद्र और आर्य को 'उपस्ति' कहा गया है जो कदाचित "प्रजा" के साधारण आशय में ही प्रयुक्त हुआ है।

[८] ३. ५, ७।
[९] ७. २, ५, ४। तु० की० ६. ५, ८, २।
[१०] ३. ३, ५, ४।
[११] ३१. ९।
[१२] ३. ५, ७।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. २४६; ह्विट्ने : अथर्ववेद अनुवाद ९२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, १९६ और बाद।

उप-स्तुत—का ऋग्वेद[१] में अनेक बार उल्लेख है, जहाँ यह सदैव एक प्राचीन ऋषि और बहुधा कण्व के सम्बन्ध में आया है, और जिसकी अग्नि, अश्विनों, तथा अन्य देवताओं ने या तो सहायता अथवा उस पर कृपा की थी। वृष्टिहव्य[२] के पुत्र 'उपस्तुतों' का गायकों[३] के रूप में उल्लेख है।

[१] १. ३६, १०. १७; ११२, १५; ८. ५, २५; १०. ११५, ८।
[२] १०. ११५, ९।
[३] ८. १०३, ८; १०. ११५, ९।
तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०८; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, १५२, १५३।

उप-ह्वर ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर गेल्डनर[२] के अनुसार रथ के मुख्य भाग (उप-स्थ) का द्योतक है।

[१] १. ८७, २।
[२] वेदिशे स्टूडियन ३, ४६।

उपानस अथर्ववेद[१] में *अक्ष* के विपरीत इसका "गाड़ी के मुख्य भाग" जैसा कुछ अर्थ होना चाहिये; यद्यपि सायण का विचार है कि यह "अन्नागार" अथवा "अन्न से भरी गाड़ी" का बोधक है। ऋग्वेद[२] में,- जहाँ

[१] २. १४, २।
[२] १०. १०५, ४।

यह शब्द केवल एक बार ही आता है, इसका आशय सन्दिग्ध है। पिशल[3] यहाँ इसकी एक विशेषण के रूप में नहीं वरन् भाववाचक के रूप में व्याख्या करते हैं।

[3] वेदिशे स्टूडियन १, १९७। तु० की० : ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३०१; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५६।

उपानह्—बाद की संहिताओं[1] तथा उसके पश्चात् यह "चप्पल" या "जूते" के लिए नियमित रूप से प्रयुक्त शब्द है। शतपथ ब्राह्मण[2] में जूता बनाने के उपादान के रूप में वाराह-चर्म का उल्लेख है। यौगिक रूप "दण्डोपानह" कौशीतकि ब्राह्मण[3] तक में मिलता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ४, ४; ६. ६, १, इत्यादि।
[2] ५. ४, ३, १९।
[3] ३. ३।

उपावि जान-श्रुतेय—का ऐतरेय ब्राह्मण (१·२५, १५) में 'उपसदों' (सोम सम्बन्धी एक प्रकार का संस्कार) के एक अधिकारी विद्वान के रूप में उल्लेख है।

उपोदिति गौपालेय—का पञ्चविंश ब्राह्मण (१२·१३, ११) में सामनों के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

उभया-दन्त्—"दोनों ही जबड़े छेदक दन्तों से युक्त"—एक व्याहृति है जिसका पालतू पशुओं जैसे घोड़ों, गदहों, इत्यादि का भेड़-बकरी और गोधन आदि से विभेद स्पष्ट करने के लिए प्रयोग किया गया है। यह विभेद ऋग्वेद[1] के एक बाद के सूक्त में आता है, और बाद की संहिताओं[2] तथा ब्राह्मणों[3] में भी अनेक बार उद्दिष्ट है। तैत्तिरीय संहिता[4] के एक स्थल पर घोड़ों के साथ मनुष्यों को भी 'उभया-दन्त' की श्रेणी में वर्गीकृत किया गया है। इसका विलोम 'अन्यतो-दन्त' (केवल एक जबड़े में ही छेदक दन्त) है, और यह शब्द नियमित रूप से मवेशियों[5] के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनके आठ छेदक-दन्त वास्तव में निचले जबड़े में ही सीमित होते हैं। अथर्ववेद[6] में गधे को 'उभया-दन्त' कहा गया है। फिर भी अथर्ववेद[7] के ही एक अन्य स्थल पर यह विशेषण मेष के लिए प्रयुक्त हुआ है; किन्तु यहाँ का आशय इसे एक आश्चर्य-

[1] १०. ९०, १०।
[2] तैत्तिरीय संहिता २. २, ६, ३; ५. १, २, ६; मैत्रायणी संहिता १. ८, १।
[3] शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३० (उभयतो-दन्त)।
[4] २. २, ६, ३।
[5] तैत्तिरीय संहिता २. १, १, ५; ५. १, २, ६; ५, १, ३।
[6] ५. ३१, ३।
[7] ५. १९, २।

जनक घटना मानना है, ठीक वैसे ही जैसे कि ऋग्वेद[8] में एक मेष एक शेरनी को नष्ट कर देता है। ब्लूमफील्ड[9] अथर्ववेद के इस स्थल के एक अन्य पाठ का विचार प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार इसका अर्थ 'घोड़ा' हो जायगा। पशुओं का इसी के समान एक विभाजन तैत्तिरीय[10] और वाजसनेयि[11] संहिताओं में 'सम्पूर्ण खुर' (एक-शफ) और 'छोटा' (क्षुद्र) के रूप में भी मिलता है।

त्सिमर[12] लैटिन शब्द ambidens[13] के आधार पर यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि भारोपीय भाषा यज्ञ-सम्बन्धी पाँच प्राणियों के दो वर्गों के विभाजन से परिचित थी, जिसमें से मनुष्य और घोड़ा एक वर्ग के अन्तर्गत, तथा मवेशी, भेड़ और बकरी दूसरे के अन्तर्गत थे। किन्तु इस प्रकार की मान्यता की आवश्यकता नहीं है।

[8] ८. १८, १७।
[9] अथर्ववेद के सूक्त : ४३४।
[10] ४. ३, १०, २।
[11] १४. ३०।
[12] आल्टिन्डिशे लेबेन ७४-७६।
[13] फे०।तु० की० : वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ५८।

उरा—'भेड़' के नाम के रूप में यह ऋग्वेद[1] तक ही सीमित है। यह विचित्र सी बात है कि जब दो बार आये स्थानों में से एक स्थान पर भेड़िये का, भेड़ों को भयभीत करनेवाले के रूप में उल्लेख है, तब भेड़िये के लिये प्रयुक्त व्याहृति 'उरा-मथि' (भेड़ों को मारनेवाला) ऋग्वेद[2] में केवल एक वार ही आता है और दोनों ही सन्दर्भ इस संहिता के एक ही मण्डल में हैं, जिससे 'उरा' शब्द के भाषात्मक आरम्भ का संकेत मिलता है। देखिये *अवि* भी।

[1] ८. ३४, ३।
[2] ८. ६६, ८; तु० की० निरुक्त ५. २१।

उरु-कक्ष—केवल ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर ही आता है जहाँ इस शब्द का आशय अत्यन्त विवादास्पद है। इस स्थल का मूलपाठ 'उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः' है जिसका या तो 'उरुकक्ष' नामक व्यक्ति से तात्पर्य हो सकता है जो 'गङ्गा के किनारे' रहता था[2], अथवा एक ऐसे व्यक्ति से जो गङ्गा का पुत्र रहा हो, अथवा एक वन का जिसे इस नाम से पुकारा गया है[3]; अथवा यह केवल 'गङ्गा के किनारे की किसी चौड़ी झाड़ी'[4] मात्र का द्योतक हो सकता है।

[1] ६. ४५, ३१।
[2] ग्रासमैन; सेन्टपीटर्सबर्ग कोश। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर २९१।
[3] लुडविग का अनुवाद ('डेर वाल्ड उरुकक्ष', अथवा 'डास विटे डिकिख्त')।
[4] वेबर : ए० रि० २८, नोट ५; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, ३९६।

उरु-क्षय—उरुक्षयों के परिवार का, जो कि अग्नि के गायक और उपासक थे, ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.११८, ८.९) में उल्लेख है।

तु० की० : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १६७।

उरुञ्जिरा—इसका निरुक्त (९.२६) में *विपाश* (अब व्यास) नदी के एक नाम के रूप में उल्लेख है।

उर्वरा—ऋग्वेद[1] और बाद में यह क्षेत्र के साथ एक नियमित व्याहृति है जो कृषि-भूमि के एक टुकड़े का द्योतक है। उपजाऊ (अप्नस्वती) खेतों[2] तथा बञ्जर भूमियों (आर्तना)[3] की भी चर्चा है। सिंचाई के माध्यम से व्यापक रूप में कृषि का ऋग्वेद[4] और अथर्ववेद[5], दोनों में ही स्पष्ट उल्लेख है; साथ ही साथ खाद[6] के उपयोग का भी संकेत मिलता है। ऋग्वेद[7] के अनुसार खेत (क्षेत्र) सतर्कतापूर्वक नपे होते थे। यह तथ्य कृषि के लिये भूमि पर वैयक्तिक प्रभुत्व का स्पष्ट संकेत करता है। इस निष्कर्ष की ऋग्वेद के एक सूक्त[8] में वर्णित 'अपाला' का अपने पिता की भूमि (उर्वरा) पर प्रभुत्व के उल्लेख द्वारा भी पुष्टि होती है, जिसे उसी समान माना गया है जैसे उसके सर के बाल उसके व्यक्तिगत अधिकार में थे। 'भूमि विजित करना' (उर्वरा-सा; उर्वरा-जित्, क्षेत्र-सा)[9] आदि विशेषण भी इसी मत के अनुकूल हैं, जब कि एक देवता के लिये[10] प्रयुक्त 'भूमि का स्वामी' सम्भवतः मानवीय विशेषण (उर्वरा-पति) का स्थानान्तरण मात्र है। इसके अतिरिक्त इसी सम्बन्ध में खेतों को 'सन्तान'[11] कहा गया है। खेतों की विजय (क्षेत्राणि-सञ्जि) का भी संहिताओं[12] में अक्सर उल्लेख है। जैसा कि पिशल[13] का विचार है, यह अधिक सम्भव है कि कृषि-भूमि के चारों ओर घासयुक्त भूमि होती थी : (कदाचित् *खिल*, *खिल्य* द्वारा व्यक्त), जो अन्यत्र वर्णित सम्पत्ति की तुलना

[1] १. १२७, ६; ४. ४१, ६; ५. ३३, ४; ६. २५, ४; १०. ३०, ३; १४२, ३, इत्यादि; अथर्ववेद १०. ६, ३३; १०, ८; १४ ३, १४. इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १. १२७, ६।

[3] वही।

[4] ७. ४९, २।

[5] १. ६, ४; १९. २, २।

[6] अथर्ववेद ३. १४, ३, ४; १९. ३१, ३।

[7] १. ११०, ५।

[8] ८. ९१, ५।

[9] ऋग्वेद ४. ३८, १ और ६. २०, १; २. २१, १; ४. ३८, १।

[10] ८. २१, ३, तु० की० क्षेत्र।

[11] ऋग्वेद ४. ४१, ६ इत्यादि।

[12] तैत्तिरीय संहिता ३. २, ८, ५; काठक संहिता ५. २; मैत्रायणी संहिता ४. १२, ३।

[13] वेदिशे स्टूडियन २, २०४–२०७।

के आधार पर सम्मिलित सम्पत्ति रही होगी। वैदिक साहित्य में किसी प्रकार के सम्पूर्ण जाति के प्रभुत्व[14] के आशय में किसी जातीय सम्पत्ति का कोई संकेत नहीं है, और न जातीय कृषि का ही। भूमि के वैयक्ति सम्पत्ति होने की मान्यता भी बाद की ही प्रतीत होती है। छान्दोग्य उपनिषद्[15] में सम्पत्ति के उदाहरण स्वरूप दी गई वस्तुओं के अन्तर्गत खेत और घर (आयतनानि) भी आते हैं। यूनानी प्रमाण[16] भी वैयक्तित प्रभुत्व का संकेत करता है। किन्तु 'वैयक्तिक प्रभुत्व' अभिव्यक्ति द्वारा प्रभुत्व की ठीक-ठीक प्रकृति का निर्णय नहीं हो पाता। परिवार के स्वामी तथा अन्य सदस्यों के बीच के वैधानिक सम्बन्ध की कहीं भी व्याख्या नहीं है; इसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है (देखिये *पितृ*)। अधिकांश अवस्थाओं में एक परिवार भूमि के हिस्सों को बिना बाटें ही सम्मिलित रूप से रखता था। भूमि-सम्पत्ति के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम सूत्रों[17] के पहले नहीं मिलते। शतपथ ब्राह्मण[18] में पुरोहितों को पारिश्रमिक के रूप में भूमि देने का उल्लेख है, किन्तु इसके लिये पर्याप्त आधार होना चाहिये था, क्योंकि, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय भी भूमि एक अत्यन्त विशेष प्रकार की सम्पत्ति होती थी जिसे सरलता से किसी को दिया अथवा अलग नहीं किया जा सकता था[19]।

भूमि के स्वामी और राजा तथा अन्य लोगों के बीच के सम्बन्ध के लिये देखिये *ग्राम*; इसकी कृषि के लिये देखिये *कृषि*।

[14] तु० की० बैडेन पावेल : इन्डियन विलेज कम्युनिटी, (१८९९); तिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३६; मिसेज़ रिज़ डेविड्स : ज० ए० सो० १९०१, ८६०।

[15] ७. २४, २।

[16] तु० की० डियोडोरस : २. ४०; अरियन इन्डिका ११; ट्राबो पृ० ७०३; हॉपकिन्स ज० अ० ओ० सो० १३, ८७, और बाद; तु० की० वही २०, २२, २३।

[17] तु० की० गौतम धर्मसूत्र १८. ५ और बाद; बौधायन धर्मसूत्र २. २, ३; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २. ६, १४। निसन्देह इन नियमों का इतिहास अधिक पुराना है, किन्तु कितना यह कहना कठिन है। देश में बसने के बाद भूमि का उत्तराधिकार और विभाजन अनिवार्य हो गया होगा।

[18] १३. ६, २, १८; ७, १, १३. १५।

[19] यह ध्यान देने योग्य बात है कि मनु द्वारा अपनी सम्पत्ति का विभाजन करने की प्रसिद्ध कथा (तैत्तिरीय संहिता ३. १, ९, ४) में जिससे 'नाभानेदिष्ठ' वंचित कर दिया गया था, भूमि से इस प्रकार वंचित रह जाने पर इस पुत्र को मवेशी (पशवः) देकर उसकी प्रतिपूर्ति कर दी गई थी। इससे यह स्पष्ट है कि भूमि नहीं वरन मवेशी ही सम्पत्ति के वास्तविक आधार थे, जैसा कि आयरलैण्ड, इटली (तु० की० पेकूनिया), ग्रीस आदि

में भी था। मवेशियों का वैयक्तिक रूप से उपयोग हो सकता था और किया भी जाता था, किन्तु भूमि किसी एक व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं रहती थी; इसमें सन्देह नहीं कि परिवार अथवा जाति की स्वकृति की आवश्यकता पड़ सकती थी। किन्तु मूल स्रोतों में किसी प्रकार का संकेत न होने के कारण हमें अपना विचार तुलनात्मक प्रमाणों पर ही आधारित रखना है'। तु० की० श्रेडर : प्रिहि-स्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज २८९; जौली : रेख्त उन्ट सिट्टे ९४-९६; रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया ४८ और बाद।

उर्वारू स्त्रीलिङ्ग, *उर्वारुक* संज्ञा, (कर्कटी)—इन शब्दों में से प्रथम[1] एक पौधे का द्योतक है और द्वितीय[2] एक फल का; किन्तु दोनों ही अत्यन्त दुर्लभ हैं। सभी स्थल इस बात का संकेत करते प्रतीत होते हैं कि जब फल पक[3] जाता था तब इसके पौधे का तना ढीला हो जाता था। ब्राह्मणों[4] में इस फल को 'उर्वारु' भी कहा गया है।

[1] अथर्ववेद ६. १४, २।
[2] ऋग्वेद ७. ५९, १२=अथर्ववेद १४. १, १७=मैत्रायणी संहिता १. १०, ४= तैत्तिरीय संहिता १. ८, ६, २=वाजसनेयि संहिता ३. ६०।
[3] अथर्ववेद ६. १४, २ पर सायण।
[4] पंचविंश ब्राह्मण ९. २, १९।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४२।

उल—किसी अज्ञात जंगली पशु, कदाचित्, जैसा कि व्हिट्ने[1] का विचार है, *'शृङ्गाल'* का नाम है। इसका अथर्ववेद[2] और बाद की संहिताओं[3] में उल्लेख है किन्तु भाष्यकारों द्वारा इसकी पहचान निश्चित रूप से नहीं बताई गई है।

[1] अथर्ववेद का अनुवाद ६६९।
[2] १२. १, ४९।
[3] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १ (में 'ऊल' के रूप में); मैत्रायणी संहिता ३. १३, १२; १४, २; वाजसनेयि संहिता २४. ३१; तु० की० बौधायन श्रौत सूत्र २. ५ में 'उलल'।
तु० की० त्सिमर। आल्टिन्डिशे लेबेन ८२।

उल वार्ष्णि-वृद्ध का कौषीतकि ब्राह्मण (७.४) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

उलप[1], घास की एक जाति का नाम है जिसका ऋग्वेद और बाद की संहिताओं[2] में उल्लेख है।

[1] १०. १४२, ३।
[2] अथर्ववेद ७. ६६, १; विशेषण रूप 'उलप्य' द्वारा निर्मित हुआ है (वाजसनेयि संहिता १६. ४५ इत्यादि) और 'उपोलप' (मैत्रायणी संहिता १. ७, २)।

उलुक्य जान-श्रुतेय का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.६, ३) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

उलूक ऋग्वेद[1] और उसके बाद 'उल्लू' के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द है। यह पक्षी अपनी कटु बोली[2] के कारण विशेष रूप से जाना जाता था और दुर्भाग्यसूचक (नैर्ऋत)[3] समझा जाता था। अश्वमेध के समय उल्लू वन्य-वृक्षों[4] को अर्पित किये जाते थे, क्योंकि यह उन्हीं पर वास करते थे।

[1] १०. १६५, ४।
[2] ऋग्वेद, उ० स्था० ।
[3] अथर्ववेद ६. २९, २; तैत्तिरीय संहिता, ५. ५, १८, १; वाजसनेयि संहिता २४. ३८।
[4] वाजसनेयि संहिता २४. २३; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ४।

उलूखल—यह 'उद्खल' के लिये ऋग्वेद[1] और बाद में एक नियमित शब्द है जो अक्सर यौगिक शब्द[2] 'उलूखल-मुसल' के रूप में भी आता है। इस पात्र की ठीक-ठीक बनावट के सम्बन्ध में सूत्रकाल के पहले कुछ भी स्पष्ट नहीं होता।

[1] १. २८, ६; अथर्ववेद १०. ९, २६; ११. ३, ३; १२. ३, १३; तैत्तिरीय संहिता ५. २, ८, ७; ७. २, १, ३; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, ६ इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ९. ६, १५; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, २२।

उल्का—ऋग्वेद[1] और बाद में यह नियमित रूप से उल्काओं का द्योतक है। ब्राह्मणों[2] में यह 'अधजली लकड़ी' का भी बोधक है। इसके अपेक्षाकृत अत्यन्त दुर्लभ रूप 'उल्कुषी'[3] में दोनों ही आशय सम्मिलित हैं।

[1] ४. ४, २; १०. ६८, ४; अथर्ववेद १९. ९, ८; षड्विंश ब्राह्मण ६. ८ इत्यादि।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, १९।
[3] 'उल्का' के रूप में, अथर्ववेद ५. १७, ४; शतपथ ब्राह्मण ११. २, ७, २१; 'अधजली लकड़ी' के रूप में: वही ३.९,२,९।

उल्मुक—ब्राह्मणों[1] में यह 'अधजली लकड़ी' के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द है जिससे अङ्गारे[2] निकाले जा सकते हैं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण २. ११; शतपथ ब्राह्मण १. ८, २, १; २. १, ४, २८ इत्यादि जैमिनीय ब्राह्मण २. ७६ (ज० अ० ओ० सो० १५, २३९)।
[2] शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ३, ३; जैमिनीय ब्राह्मण १. ६१, १ (ज० अ० ओ० सो० २३, ३४२)।

उल्मुकावक्षयण एक व्याहृति है जो शतपथ ब्राह्मण[1] में आग बुझाने (अव-क्षयण) के उपकरण अथवा, सम्भवतः अधिक उपयुक्त अर्थ में, 'कंकमुख', (बेलचा) के लिये अनेक वार प्रयुक्त हुई है। तुलना कीजिये *अङ्गारावक्षयण*।

[1] ४. ६, ८, ७; ५. २, ४, १५; ११. ६, ३, ३; जैमिनीय ब्राह्मण २. ७६; तु० की० बौटलिङ्क; डिक्शनरी, व० स्था०

उशनस् काव्य एक प्राचीन द्रष्टा है जो ऋग्वेद[1] तक में अर्ध पौराणिक हो चला है, जिसमें इसका अक्सर मुख्यतः कुत्स और इन्द्र के साथ सम्बद्ध होने के रूप में उल्लेख है। बाद में[2] देवों के साथ संघर्ष करते हुए यह असुरों का पुरोहित बन जाता है। इसके नाम का एक विभेद कवि 'उशनस्'[3] भी है। ब्राह्मणों में यह एक गुरु के रूप में भी आता है[4]।

[1] १. ५१, १०; ८३, ५; १२१, १२; ४. १६, २; ६. २०, ११; ८. २३, १७; ९. ८७, ३; ९७, ७; १०. ४०, ७; कदाचित १. १३०, ९; ५. ३१, ८; ३४, २; ८. ७, २६; १०. २२, ६; में भी। अथर्ववेद ४. २९, ६ में भी।

[2] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ८, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण ७. ५, २०; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १४. २७, १।

[3] ऋग्वेद ४. २६, १।

[4] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. १२, ५; जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण २. ७, २, ६।

तु० की० रौथ सेन्टपीटर्सवर्ग कोश व० स्था०; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १६७ और बाद; वर्गेन: रिलीजन वेदिके २, ३३९ और बाद; मैकडौनेल वेदिक माइथौलोजी, पृ० १४७।

उशना, शतपथ ब्राह्मण (३.४, ३, १३; ४.२, ५, १५) में एक वृक्ष के नाम के रूप में आता है जिससे सोम बनाया जाता था।

उशीनर—ऐतरेय ब्राह्मण[1] में कुरु-पञ्चालों के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख है कि 'मध्यकालीन शताब्दियों' में वह एक साथ 'वशसों' और उशीनरों के साथ रहते थे। कौषीतकि उपनिषद्[2] में भी उशीनरों को कुरु-पञ्चालों और वशसों से सम्बद्ध किया गया है; किन्तु गोपथ ब्राह्मण[3] में उशीनर और वशस् उत्तरी क्षेत्र के रहने वाले बताये गये है। ऋग्वेद[4] में इन लोगों का इनकी रानी 'उशीनरानी' के सन्दर्भ द्वारा उल्लेख है। त्सिमर[5] का विचार है कि उशीनर

[1] ८. १४।

[2] ४. १; देखिये कीथ: शाङ्खायन आरण्यक ३६।

[3] २. ९।

[4] १०. ५९, १०।

[5] आल्टिन्डिशे लेबेन १३०।

पहले अपेक्षाकृत अधिक उत्तर-पश्चिम में रहते थे, किन्तु इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। इनका सिद्धान्त केवल इसी तथ्य पर आधारित है कि ऋग्वेद अनुक्रमणी एक सूक्त[६] को 'शिवि औशीनर' को अध्यारोपित करती है, और शिवि लोग सिकन्दर के अनुगामियों को Siboi[७] (शिबोई) नाम से, सिन्धु और एकेशिनेस (चेनाब) नदियों के बीच में रहने वालों के रूप में परिचित थे। किन्तु यह किसी भी रूप से प्रमाणिक निष्कर्ष नहीं है, क्योंकि महाकाव्य युग[८] में शिविलोग कुरुक्षेत्र के उत्तरी क्षेत्रमें रहते थे, और वैदिक काल में यह सिद्ध करने के लिये कोई भी आधार नहीं है कि 'मध्यदेश' की अपेक्षा उशीनर लोग और पश्चिम में रहते रहे होंगे।

[६] ऋग्वेद ११. १७९।
[७] डियोडोरस १७. ९१।
[८] देखिये पार्जिटर का मानचित्र : ज० ए० सो० १९०८, पृ० ३२२। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २१३, ४१९; ब्लुश : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी ३४, १७९।

उष—'नमक स्थल'—मैत्रायणी संहिता (१.६, ३) में यह 'ऊष' के विभेद के रूप में आता है।

उपस्त चाक्रायण—बृहदारण्यक (३.५, १) और छान्दोग्य (१.१०, १; ११, १) उपनिषदों में इसका एक गुरु के रूप में उल्लेख है। बाद की कृतियों में यह नाम 'उपस्ति' के रूप में आता है।

उष्टि, उष्ट्र—इन दोनों ही शब्दों का, जिनमें से प्रथम काफी दुर्लभ है[१], एक ही आशय होना चाहिए। रौथ[२] और ऑफरेख्त[३] का विचार है कि ऋग्वेद[४] और ब्राह्मणों[५] में इसका आशय 'उच्चस्कन्ध बैल' अथवा 'भैंसा' है, परन्तु रौथ का विचार है कि वाजसनेयि संहिता[६] में आशय संदिग्ध है, और यहाँ इसका अर्थ 'ऊँट' हो सकता है। हॉकिन्स[७] का तो निश्चित रूप से यह विचार है कि प्रत्येक दशा में इसका आशय 'ऊँट' ही है। यह पशु बोझ ढोने के लिए प्रयुक्त होते थे और एक साथ चार तक जोते जाते थे[८]

[१] कदाचित ऋग्वेद १०. १०६, २; तैत्तिरीय संहिता ५. ६, २१, १; काठक संहिता १५. २ में।
[२] सेन्ट पीटर्स वर्ग कोश व० स्था०।
[३] मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४६८ में उद्धृत। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २२४।
[४] १. १३८, २; ८. ५, ३७; ६, ४८; ४६, २२. ३१; अथर्ववेद २०. १२७, २; १३२, १३; वाजसनेयि संहिता १३. ५०।
[५] शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, ९, इत्यादि, ऐतरेय ब्राह्मण २. ८।
[६] २४. २८. ३९।
[७] ज० अ० ओ० सो० १७, ८३।
[८] अथर्ववेद २०. १२७, २; ऋग्वेद ८. ६, ४८।

उष्णीष—यह वैदिक भारतीयों में स्त्री-पुरुष[1] दोनों ही द्वारा पहनी जाने वाली पगड़ी का द्योतक है। अथर्ववेद[2] और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में व्रात्य की पगड़ी का स्पष्ट उल्लेख है। वाजपेय[4] और राजसूय[5] समारोहों के समय अपने पद की मर्यादा के चिह्न स्वरूप राजाओं द्वारा भी पगड़ी पहनी जाती थी।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ६. १; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, २, ३; ४. ५, २, ७ (यज्ञ के समय भ्रूग को लपेटने के लिये प्रयुक्त)। १४. २, १, ८ (इन्द्राणी का उष्णीष) इत्यादि; काठक संहिता १३. १०।

[2] १५. २, १।

[3] १७. १, १४; तु० की० १६. ६, १३।

[4] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, २३।

[5] मैत्रायणी संहिता ४. ४, ३।

उप्यल अथर्ववेद[1] में मंच अथवा वैवाहिक गाड़ी के प्रसंग में एक बार आता है जहाँ इसका अर्थ गाड़ी के 'ढाँचे के चार खण्ड' प्रतीत होता है। यह रूप संदिग्ध है: 'उप्पल' अधिक सम्भव है[2]।

[1] १४. १, ६०।

[2] ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद ३८५। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १५५; ह्विट्ने उ० पु० ७५२।

उस्र पु.; *उस्रा* स्त्री.; *उस्रिक*, पु.; *उस्रिय*, पु.; *उस्रिया*, स्त्री.—यह सभी शब्द 'बैल' या 'गाय' के द्योतक हैं जो ऋग्वेद[1] में अक्सर और कभी कभी बाद[2] में भी आते हैं; किन्तु सामान्यतया इनका कुछ सन्दर्भ प्रातःकालीन प्रकाश से भी है। कुछ स्थलों पर आशय सन्दिग्ध है। देखिये गो

[1] 'उस्र', ऋग्वेद ६. १२, ४; 'उस्रा' १. ३, ८; ८. ७५, ८; ९६, ८; ९. ५८, २ इत्यादि; 'उस्रिक' १. १९०. ५; 'उस्रिय' ५. ५८, ६ (वृषभाः के साथ); ९. ७४, ३; 'उस्रिया' १. १५३, ४; १८०, ३; २. ४०, २ इत्यादि; ९. ७०, ६ में 'उस्रिय' एक बछड़े के लिये प्रयुक्त हुआ है, और ९. ६८, १; ९३, २, में 'उस्रिया' का अर्थ 'दूध' है।

[2] 'उस्रौ धूर्षाहौ', वाजसनेयि संहिता ४. ३३; 'उस्रा' अथर्ववेद १२. ३, ३७; 'उस्रिय', अथर्ववेद १. १२, १; 'उस्रिया' अथर्ववेद ९. ४, १; वाजसनेयि संहिता ३५. २. ३। अथर्ववेद ५. २०, १; २८, ३ में इसका अर्थ 'गोचर्म' अथवा ५. २८, ३ में कदाचित 'दूध' है।

ऊ

ऊर्जयन्त् औपमन्यव का वंश ब्राह्मण[1] में भानुमन्त् औपमन्यव के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

ऊर्जयन्ती—लुडविग[1] इसे ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर किसी दुर्ग का नाम मानते हैं जो नार्मर का गढ़ था। फिर भी यह मन्त्र बहुत बोधगम्य नहीं है[3]।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५२।
[2] २. १३, ८।
[3] सायण 'उर्जयन्ती' को एक पिशाची, ग्रासमैन सूर्य; और रौथ व० स्था० 'ऊर्जय' को विशेषण मानते है। तु० की० औल्डेनबर्ग: ऋग्वेद नोटेन, १, १०१।

ऊर्जव्य—इस शब्द को, जो ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आता है, लुडविग[2] एक यज्ञ करने वाले का नाम मानते हैं; फिर भी, रौथ[3] इस शब्द को विशेषण मानते हैं जिसका अर्थ 'शक्ति-सम्पन्न' है, और यही व्याख्या अधिक सम्भव भी है।

[1] ५. ४१, २०।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३. १५५।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

ऊर्ण-नाभि[1], *ऊर्ण-वाभि*, *ऊर्णा-वन्त्*—बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में यह सभी 'मकड़ी' के नाम हैं, जिनका इस कीड़े द्वारा ऊन जैसे धागे बनाने के कारण इस प्रकार इंगित है।

[1] 'ऊर्ण नाभि' (जिसके नाभि में ऊन हो) तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, २, ५; बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, २३; ऊर्ण वाभी (ऊन कातनेवाला) काठक संहिता ८. १; शतपथ ब्राह्मण १४. ५, १, २३; ऊर्णा-वन्त् (ऊन युक्त) कौषीतकि ब्राह्मण १९. ३ (एक मन्त्र में)।

ऊर्णा 'ऊन', का ऋग्वेद[1] और उसके बाद बहुत बार उल्लेख है। 'परुष्णी' देश अपने ऊन[2] के लिये, तथा गन्धार[3] अपने भेड़ों के लिये प्रसिद्ध थे। अलग अलग बाल के गुच्छों के लिये 'पर्वन्'[4] और 'परुस्'[5] शब्दों का प्रयोग होता था। 'नरम ऊन (ऊर्ण-म्रदस्)[6] भी एक दुर्लभ विशेषण नहीं है। भेड़ को ऊन-युक्त (ऊर्णावती)[7] कहा गया है। 'ऊनी धागों' (ऊर्णा-सूत्र) का बाद

[1] ४. २२, २; ५. ५२, ९; शतपथ ब्राह्मण १२. ५, १, १३; ७. २, १० इत्यादि ऊर्णायु 'ऊनी' वाजसनेयि संहिता १३. ५०; पञ्चविंश ब्राह्मण १२. ११, १०;
[2] ऋग्वेद उ० स्था० पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २१०। किन्तु तु० की० मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३१५।
[3] ऋग्वेद १. १२६, ७।
[4] ऋग्वेद ४. २२, १०।
[5] ऋग्वेद ९. १५, ६।
[6] ऋग्वेद ५. ५, ४; १०. १८, १०; वाजसनेयि संहिता २. २; ४. १०; २१. ३३, इत्यादि।
[7] ऋग्वेद ८. ५६, ३।

की संहिताओं[८] और ब्राह्मणों[९] में वार वार उल्लेख है। 'ऊर्णा' शब्द केवल भेड़ के ऊन[१०] के लिये ही प्रयुक्त नहीं हुआ है वरन वकरी के वाल का भी द्योतक हो सकता है[११]।

[८] मैत्रायणी संहिता ३. ११, ९; काठक संहिता ३८. ३; वाजसनेयि संहिता १९. ८० इत्यादि। तु० की० 'ऊर्णा-स्तुका', ऐतरेय ब्राह्मण १. २८; काठक संहिता २५. ३।

[९] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ४; शतपथ ब्राह्मण १२. ७, २, ११, इत्यादि।

[१०] तु० की० 'अनैडकीर ऊर्णाः' (भेड़ की एक जाति 'एडक' का ऊन न हो) शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, १५ में।

[११] तु० की०: हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १७, ८३, नोट।

ऊर्णा-वती—ऋग्वेद[१] के उस सूक्त में जिसमें नदियों की प्रशस्ति है, लुडविग[२] इसके द्वारा सिन्धु की एक धारा जिसका नाम ऊर्णावती था, संकेत मानते हैं। फिर भी यह व्याख्या निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती है। रौथ[३] इस शब्द का अनुवाद केवल 'ऊन युक्त' करते हैं; और त्सिमर[४] लुडविग की व्याख्या को इस आधार पर अस्वीकृत कर देते हैं कि इससे सूक्त का सारा स्वरूप ही अस्पष्ट हो जाता है। पिशल[५] इस शब्द को सिन्धु का एक विशेषण 'भेड़ों से परिपूर्ण' मानते हैं।

[१] १०. ७५, ८।

[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।

[३] सेन्ट पीटर्स वर्ग कोश व० स्था०।

[४] आल्टिन्डिशे लेवेन ४२९।

[५] वेदिशे स्टूडियन २, २१०।

ऊर्दर—यह शब्द ऋग्वेद[१] में केवल एक वार आता है जहाँ इन्द्र को सोम से उसी भाँति परिपूर्ण करने का सन्दर्भ है जिस प्रकार एक व्यक्ति 'ऊर्दर' को अन्न (*यव*) से भरता है। सायण इसका अनुवाद 'अन्नागार' करते हैं, किन्तु रौथ[२] और त्सिमर[३] इसे केवल अन्न संचित करने का साधन अथवा 'अन्न कोष्ठ' मानते हुये अधिक ठीक प्रतीत होते हैं।

[१] २. १४, ११।

[२] सेन्ट पीटर्स वर्ग कोश व० स्था०।

[३] आल्टिन्डिशे लेवेन २३८।

ऊल—यह उल का ही एक विभेदात्मक रूप है।

ऊष—वाद की संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में यह मवेशियों के लिये अनुकूल लवणयुक्त भूमि का द्योतक है। तुलना कीजिये उष।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. २, ३, २, इत्यादि।

[२] ऐतरेय ब्राह्मण ४. २७; शतपथ ब्राह्मण ५. २, १, १६, इत्यादि।

ऋ

१—*ऋक्ष*, 'रीछ' ऋग्वेद[1] में केवल एक बार और बाद में भी कभी कभी[2] ही मिलता है। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि वैदिक भारतियों द्वारा अधिकृत भूभाग में यह पशु बहुत कम होते थे। इस शब्द के बहुवचन रूप का प्रयोग भी अधिक बार नहीं हुआ है[3], जहाँ यह 'सात रीछों' के लिए आया है और जो बाद में 'सप्त ऋषि'[4] नक्षत्र पुञ्ज के रूप में प्रचलित हो गये।

[1] ५. ५६, ३।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १७; वाजसनेयि संहिता २४. ३६; जैमिनीय ब्राह्मण १. १८४; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ८१।
[3] ऋग्वेद १.२४,१०; शतपथ ब्राह्मण २.१, २, ४, तैत्तिरीय आरण्यक १. ११, २। तु० की० हिलेब्रान्टः वेदिशे माइथौलोजी ३. ४२२।
[4] तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १४४।

२—*ऋक्ष*—ऋग्वेद[1] की एक दान स्तुति के एक मन्त्र में उल्लिखित यह किसी प्रतिपालक का नाम है, और इसके पुत्र *आर्क्ष* का भी इसी के बाद के ही मन्त्र में संकेत है।

[1] ८. ६८, १५। तु० की० लुडविगः ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।

ऋक्षाका—यह शब्द अथर्ववेद[1] के एक अस्पष्ट स्थल पर केवल एक बार आता है और इसका आशय सर्वथा अज्ञात है। वेवर[2] का विचार है कि यह 'आकाश गंगा' का द्योतक है, किन्तु इनका यह विचार किसी प्रमाण पर आधारित नहीं है। ह्विटने[3] इस स्थल का आशय जान सकने के सम्बन्ध में ही निराशा प्रकट करते हैं।

[1] १८. २, ३१।
[2] फे० रौ० १३८, नोट २, बर्लिन कैटलॉग २, ५९, नोट; प्रो० अ० १८९५, ८५६।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद ८४०।

ऋक्षीका—यह शब्द, जो अथर्ववेद[1], वाजसनेयि संहिता[2], और शतपथ ब्राह्मण[3] में मिलता है, एक राक्षस का द्योतक प्रतीत होता है। फिर भी शतपथ ब्राह्मण पर अपने भाष्य में हरिस्वामिन् इस शब्द को *ऋक्ष* से सम्बद्ध करते हुये इसका अर्थ 'रीछ' मानते हैं।

[1] १२. १, ४९।
[2] ३०. ८।
[3] १३. २, ४, २. ४; तु० की० : एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३०७।

ऋग्-वेद ऋचाओं के एक संग्रह का औपचारिक नाम है जो सर्वप्रथम ब्राह्मणों[1] में और उसके बाद अक्सर आरण्यकों[2] तथा उपनिषदों[3] में आता है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण १. ३२, और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ९, १ में भी यही आशय निहित है; शतपथ ब्राह्मण ६. ५, ४, ६; ८, ३; १२. ३, ४, ९।
[2] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ३. ५; शाङ्खायन आरण्यक ८. ३. ८।
[3] बृहदारण्यक उपनिषद १. ५, १२; २. ४, १०; ४. १, ६; ५, ११; छान्दोग्य उपनिषद १. ३, ७; ३. १, २. ३; १५, ७; ७. १, २. ४; २, १; ७, १।

ऋजिश्वन् का ऋग्वेद[1] में अनेक बार उल्लेख है, किन्तु सदैव एक अस्पष्ट रूप में ही मानों यह बहुत प्राचीन हो। भूताविष्ट लोगों जैसे 'पिप्रु' और 'कृष्ण-गर्भाः' के विरुद्ध युद्ध में यह इन्द्र की सहायता करता है। लुडविग[2] के अनुसार यह औशिज का पुत्र[3] कहा जाता था, किन्तु यह संदिग्ध है। इसे दो बार[4] स्पष्टतः 'वैदथिन' अथवा 'विदथिन्' का वंशज कहा गया है।

[1] १. ५१, ५; ५३, ८; १०१, १; ६. २०, ७; ८. ४९, १०; १०. ९९, ११; १३८, ३।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४३, १४९।
[3] ऋग्वेद १०. ९९, ११, तु० की औशिज
[4] ऋग्वेद ४. १६, १३; ५. २९, ११; तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० १६१।

ऋजूनस् का ऋग्वेद[1] में केवल एक बार छः अन्य सोम-यज्ञ कराने वालों के साथ उल्लेख है।

[1] ८. ५२, २; तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।

ऋज्राश्व—यह ऋग्वेद[1] में एक वर्षागिरस् के रूप में अम्बरीष, सुराधस्, सहदेव, और भयमान के साथ; तथा एक जाति से प्रत्यक्षतः विजेता के रूप में आता है। ऋग्वेद में अन्यत्र[2] यह इस रूप में प्रख्यात है कि एक मादा भेड़िये के लिये 'एक सौ भेड़ों' का वध कर देने के कारण इसके पिता ने इसे अन्धा करा दिया था, और अश्विनों ने इसे पुनः दृष्टिदान दिया था; किन्तु इस कथा का अर्थ अत्यन्त अस्पष्ट है।

[1] १. १००, १६. १७।
[2] १. ११६, १६; ११७, १७. १७। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० ५२।

ऋण—'कर्ज़'-इसका ऋग्वेद[1] और उसके बाद बार बार उल्लेख है तथा यह वैदिक भारतीयों के बीच प्रचलित एक सामान्य व्यवहार था। पासे के

[1] २. २७, ४, इत्यादि, सामान्यतया एक लाक्षणिक आशय में।

सम्बन्ध में भी ऋण लेने का अवसर संकेत मिलता है[२]। ऋण चुका देने को 'ऋणं सं-नी'[३] कहा गया है। ऐसे ऋणों का भी इंगित है जिनको चुका देने की कोई इच्छा नहीं होती थी[४]।

ऋण न चुकाने का परिणाम अत्यन्त गम्भीर हो सकता था; यथाः पासा खेलने वाले को दास[५] तक बनना पड़ सकता था। अन्य बुरे तत्वों, जैसे चोरों आदि की भाँति, ऋण लेने वाले व्यक्तियों को, कदाचित उन पर और उनके मित्रों पर ऋण चुका देने के लिये दबाव डालने के उद्देश्य से, महाजन लोग उन्हें (ऋण लेने वाले व्यक्ति को) खम्भों से बाँध देते थे (द्रु-पद)[६]।

ऋण पर कितना सूद देना पड़ता था इसका अनुमान करना असम्भव है। ऋग्वेद और अथर्ववेद[७] के एक स्थल पर आठवाँ (शफ) और सोलहवाँ (कला) भाग देने का उल्लेख है; किन्तु यहाँ यह निश्चित नहीं है कि वास्तव में इसका तात्पर्य सूद से है अथवा मूलधन की किसी किश्त से। सम्भवतः सूद किसी वस्तु के रूप में दिया जाता था।

ऋण किस सीमा तक उत्तराधिकार की वस्तु थी इसका उल्लेख नहीं है। कौशिक सूत्र[८] अथर्ववेद[९] के तीन सूक्तों में ऐसे अवसरों का उल्लेख करता

[२] ऋग्वेद १०. ३४, १०; अथर्ववेद ६. ११९, १।

[३] ऋग्वेद ८. ४७, १७=अथर्ववेद ६. ४६, ३

[४] अथर्ववेद ६. ११९, १।

[५] ऋग्वेद १०. ३४। तु० की० ल्यूडर्स टा० इ० ६१।

[६] ऋग्वेद १०. ३४, ४ में ऐसा प्रतीत होता है कि उसे दास की भाँति बाँधकर अपने साथ ले जाया जाता था, यद्यपि पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २२८ में एक अस्पष्ट मन्त्र (१. १६९, ७) की व्याख्या की आधार पर यह कहते हैं कि ऋणग्रस्त व्यक्ति द्वारा ऋण न चुकाने की दशा में उसे बाँधा जाता था। किन्तु अथर्ववेद ६. ११५, २. ३ से ऋण का तात्पर्य है. और यदि यही अर्थ ठीक है, तो दण्डस्वरूप खम्भे से बाँध रखने का स्पष्ट संकेत मिलता है। फिर भी देखिये : ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद का अनुवाद ५२८, नोट १; ह्विट्ने : अथर्ववेद के अनुवाद में इस सूक्त की व्याख्या ऐसे रूप में करते हैं कि उससे केवल एक 'पाप' का तात्पर्य प्रकट होता है। ऋग्वेद १. २४, १३. १५; अथर्ववेद ६. ६३, ३=८४, ४; १२१, १ और बाद, सामान्य हैं; जब कि ऋग्वेद ७. ८६, ५; अथर्ववेद १९. ४७, ९; ५०, १, में चोरों को बाँधने का संकेत है। तु० की० **तस्कर**।

[७] ऋग्वेद ८. ४७, १७=अथर्ववेद ६. ४६, ३।

[८] ४६. ३६–४०। देखिये कैलण्ड : आ० त्सा० १५४; ब्लूमफील्ड,उ० पु०,५२८।

[९] ६. ११७–११९। अथर्ववेद ६. ११७, १, में बिना चुकाये गये ऋण का नाम 'अपमित्यम् अप्रतीत्तम्' है। तैत्तिरीय

है जब महाजन की मृत्यु के बाद ऋण चुकाया गया था। ऋणग्रस्त व्यक्ति के किसी सम्बन्धी द्वारा उसका ऋण चुकाने का प्रमाण तो और भी अस्पष्ट[10] है।

त्सिमर[11] का विचार है कि ऋण कुछ गवाहों की उपस्थिति में चुकाया जाता था, जिनसे किसी प्रकार के विवाद की दशा में आवेदन किया जा सके। फिर भी यह निष्कर्ष अत्यन्त अनिश्चित है, और अथर्ववेद[12] के केवल एक अस्पष्ट मन्त्र पर आधारित है।

संहिता ३. ३, ८, १ में 'कुसीदम् अप्रतीत्तम्'; मैत्रायणी संहिता ६. १४, १७ और तैत्तिरीय आरण्यक २. ३, १, ८ में 'कुसीदम् अप्रतीतम्'; मन्त्र ब्राह्मण २. ३, २० में 'अप्रदत्तम्' है।

[10] तु० की० ऋग्वेद ४. ३, १३ (भाई का पाप या ऋण); जौली : रेख्त उन्ट सिटे ९९, १००।

[11] आल्टिन्डिशे लेवेन १८१। ब्लूमफील्ड : उ० पु० ३७५ और ह्विट्ने : उ० पु० ३०४ में इस विचार की उपेक्षा है।

[12] ६. ३२, ३ = ८. ८, २१। तु० की० शाङ्खायन आरण्यक १२. १४, और देखिये ज्ञातृ।

तु० की० त्सिमर : उ० पु० १८१, १८२; २५९।

ऋणं-चय—ऋग्वेद (५.३०, १२.१४) की एक दानस्तुति में बभ्रु नामक एक कवि के प्रति उदारता दिखाने के लिये *रुशमस्* के इस राजा की प्रख्याति है।

तु. की. त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन १२९; बृहद्देवता, मैकडौनेल का संस्करण २, १६९, १७४

ऋतु—ऋग्वेद[1] और उसके बाद इस शब्द का बार बार उल्लेख है। अक्सर वर्ष में तीन ऋतुयें मानी गई हैं[2]; किन्तु साधारणतया इनके नाम निश्चत नहीं किये गये हैं। ऋग्वेद[3] के एक स्थल पर वसन्त, ग्रीष्म और शरद् का उल्लेख

[1] १. ४९, ३; ८४, १८ इत्यादि।

[2] तु० की० ऋग्वेद १. १६४, २ (त्रि-नाभि), ४८ (त्रीणि नभ्यानि); कदाचित ऋभुस् भी तीन ऋतुओं और तीन ऊषाओं के जनक के रूप में। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० १३३; ह्लिब्रान्ट ; वेदिशे माइथौलोजी २, ३३ और बाद; शतपथ ब्राह्मण १४. १, १, २८ और 'चातुर्मास्यानि' अथवा ऋतुओं के आरम्भ के समय प्रति चार मास पर किये जानेवाले सांस्कारिक यज्ञ (वेबर : नक्षत्र २, ३२९, और बाद)।

[3] १०. ९०, ६। ह्लिब्रान्ट, उ० पु० २, ३५, ऋग्वेद ५. १४, ४; ९. ९१, ६ में तीन के समूह 'गावः' (वसन्त ?), 'आपः' (वर्षा), स्वर (=घर्म) में, और सांस्कारिक साहित्य (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ८. ४, २) के 'ऋत', 'घर्म', और 'ओषधि' के रूप में तीन ऋतुओं का सन्दर्भ देखते हैं।

है। ऋग्वेद[४], वर्षा ऋतु (प्रा-वृष्) और शीत (हिमा, हेमन्त) से भी परिचित है। एक अधिक प्रचलित विभाजन में, जो ऋग्वेद में नहीं मिलता, पांच ऋतुओं: वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, और शिशिर, का उल्लेख है; किन्तु कभी कभी इन पांचों का अन्य प्रकार से विभाजन है, जिसमें वर्षा-शरद् को एक ही ऋतु माना गया है[५]। कभी कभी छः ऋतुओं[६] की भी कल्पना है, जहाँ हेमन्त और शिशिर को इसलिये अलग अलग कर दिया गया है, जिससे छः ऋतुयें वर्ष के १२ महीनों के समानान्तर हो जायँ। एक और भी कृत्रिम विभाजन[७] द्वारा ७ ऋतुयें मानी गई हैं जो सम्भवतः मलमास को एक अतिरिक्त ऋतु मान लेने के कारण है, जैसा कि वेबर और त्सिमर[८] का विचार है; अथवा जैसा कि अधिक सम्भव है, रौथ[९] के विचार से सात की संख्या के साथ पूर्वानुराग के कारण हुआ है। कभी कभी ऋतु शब्द 'महीने'[१०] के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण[११] के अनुसार अन्तिम ऋतु हेमन्त होती है। ऋतुओं के विभाजन को क्रमशः तीन से पाँच में विकसित हो जाने के सम्बन्ध में त्सिमर[१२] की उचित

[४] अथर्ववेद ८. २, २२; ९, १५; १३. १, १८; तैत्तिरीय संहिता १. ६, २, ३; ४. ३, ३, १. २; ५. १, १०, ३; ३, १, २; ४. १२, २; ६. १०, १; ७, २, ४; ७. १, १८, १. २; मैत्रायणी संहिता १. ७, ३; ३. ४, ८; १३, १; काठक संहिता ४. १४; ९. १६; वाजसनेयि संहिता १०. १०–१४; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ५, ११; ६. २, २, ३ इत्यादि; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, ४, १; ११, १०, ४ इत्यादि। तु० की० ऋग्वेद १. १६४, १३ देखिये वेबर उ० पु० २, ३५२ भी।

[५] शतपथ ब्राह्मण १३. ६, १, १०. ११।

[६] अथर्ववेद ६. ५५, २; १२. १, ३६ तैत्तिरीय संहिता ५. १, ५, २; ७, ३; २. ६, १ इत्यादि; मैत्रायणी संहिता १. ७, ३; ३. ११, १२; काठक संहिता ८. ६; वाजसनेयि संहिता २१. २३–२८; शतपथ ब्राह्मण १. ७, २, २१; २. ४, २, २४; १२. ८, २, ३४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, १९, इत्यादि। तु० की० ऋग्वेद १. २३, १५ पर भी रौथ द्वारा सेन्टपीटर्सबर्ग कोश व० स्था० 'इन्दु' की व्याख्या।

[७] अथर्ववेद ६. ६१, २; ८. ९, १८; शतपथ ब्राह्मण ८. ५, १, १५; ९. १, २, ३१; २, ३, ४५; ३, १, १९; ५, २, ८; कदाचित अथर्ववेद ४. ११, ९ और तु० की० ऋग्वेद १. १६४, १।

[८] इन्डिशे स्टूडियन १८, ४४; आल्टिन्डिशे लेबेन ३७४।

[९] सेन्ट पीटर्सबर्गकोश व० स्था० पर 'ऋतु'। तु० की० हॉपकिन्स: रिलीजन्स ऑफ इन्डिया १८, ३३;

[१०] अथर्ववेद १५. ४; तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ११, १; वाजसनेयि संहिता १३. २५; १४. ६. १५. २६. २७; १५. ५७ इत्यादि

[११] १. ५, ३, १३

[१२] उ० पु० ३७३

ही व्याख्या के अनुसार यह वैदिक भारतीयों के पूर्व की ओर प्रगति का सूचक है। यह ऋग्वैदिक तो नहीं परन्तु बाद की संहिताओं में प्रमुख है। शीत और ग्रीष्म दो ऋतुओं में वर्ष के आरंभिक विभाजन का ऋग्वेद में कोई स्पष्ट चिन्ह नहीं प्रतीत होता। इस स्थल पर निश्चित शब्द 'हिमा' और 'समा' वर्ष के लिये प्रयुक्त केवल दो सामान्य संज्ञायें हैं, और इन दोनों की अपेक्षा वर्ष के नाम के रूप में 'शरद्'[13] अधिक प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यह शस्यसंग्रहकाल होता है जो नयी-नयी कृषक जाति के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समय है। अथर्ववेद[14] के एक स्थल पर वर्ष का छः छः महीनों का दो विभाजन भी केवल औपचारिक ही है और इससे किसी प्राचीन परम्परा का कोई भी संकेत नहीं मिलता।

[13] हॉपकिन्स अ० फा० १५, १५९, १६०; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २३२; ब्लूलर त्सी० गे० ४१, २८।

[14] ८. ९, १७; तु० की० त्सिमर ३७२;

ऋतु-पर्ण बौधायन श्रौतसूत्र[1] के एक ब्राह्मण ग्रन्थ जैसे स्थल पर 'भङ्गाश्विन' के पुत्र और 'शफाल' के राजा के रूप में आता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[2] में 'ऋतुपर्ण-कयोवधी भङ्गयश्विनौ' का उल्लेख है।

[1] २०. १२

[2] २१. २०. ३। तु० की० कैलैंड त्सी० गे० ५७, ७४५।

ऋत्विज्—यह 'यज्ञ-पुरोहित' के लिये नियमित रूप से प्रयुक्त शब्द है जिसके अन्तर्गत यज्ञ कराने के लिये नियुक्त विभिन्न प्रकार के सभी पुरोहित आ जाते हैं। यह निश्चित प्रतीत होता है कि सभी पुरोहित ब्राह्मण[1] होते थे। विभिन्न प्रयोजनों के यज्ञ के समय कार्य करनेवाले पुरोहितों की संख्या प्रायः निश्चित रूप से सात होती थी। ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर आनेवाली सबसे प्राचीन तालिका में यज्ञ का आयोजन करनेवाले के अतिरिक्त पुरोहितों के नामों की गणना इस प्रकार है : होतृ, पोतृ, नेष्टृ, अग्नीध्, प्रशास्तृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन्। इस सात की संख्या द्वारा ऋग्वेद में बहुप्रयुक्त वाक्पद 'सप्त होतृ'

[1] समस्त वैदिक मूल पाठों में यही माना गया है, और इसके साथ यह नियम है कि कोई भी क्षत्रिय यज्ञोपहारों को नहीं खा सकता था (तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ७. २६); इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा इसीलिये था क्योंकि केवल ब्राह्मण लोग ही इतने पवित्र माने जाते थे कि वह यज्ञ के, जिसमें भाग लेने के लिये देवता का अंश आ जाता है, दिव्य तत्त्वों को ग्रहण कर सकें।

[2] २. १, २। तु० की० ओल्डेनबर्ग : रिलीजन डेस वेद, ३८३।

की व्याख्या हो जाती है जिसका पौराणिक 'सप्त ऋषियों' से सम्बद्ध होना अत्यधिक सम्भव है। इसकी तुलना इरान[3] के आठ (पुरोहितों) से भी की जा सकती है। इन सात पुरोहितों में 'होतृ' प्रधान होता था, जो कि सूक्तों का गायक और आरम्भिक काल में उनका प्रणेता भी होता था। अध्वर्यु यज्ञ का व्यावहारिक कार्य करता था और अपने कार्य के साथ-साथ स्तुति तथा पाप को बहिष्कृत करने के लिये कुछ मन्त्रों का उच्चारण भी करता जाता था। इसका प्रमुख सहायक अग्नीध् होता था, और यही दोनों मिलकर व्यावहारिक कार्यों में बिना किसी सहायता के ही अपेक्षाकृत छोटे यज्ञ स्वयं सम्पन्न करवा देते थे। प्रशास्तृ, जो कि उपवक्तृ अथवा मैत्रावरुण आदि विविध नामों से भी जाना जाता था, केवल बृहत्-यज्ञों के समय होतृ को निर्देशन देने तथा कुछ स्तुति करने के लिये आता था। पोतृ, नेष्टृ, और ब्रह्मन्, सोम यज्ञ के संस्कारों से सम्बद्ध होते थे, जिनमें से अन्तिम को 'ब्राह्मणाच्छंसिन्' कहा जाता था जिससे इसका उस पुरोहित से विभेद स्पष्ट हो सके जो बाद के संस्कारों में पर्यवेक्षक का कार्य करता था। ऋग्वेद[4] में उल्लिखित अन्य पुरोहित सामनों के नायक, उद्गातृ और उसके सहायक प्रस्तोतृ होते थे; जब कि एक अन्य प्रतिहर्तृ भी हो सकता था, जिसका यद्यपि उल्लेख नहीं है। इनका कार्य निस्सन्देह संस्कार सम्बन्धी बाद के कृत्यों से सम्बद्ध होता था, जिसके अन्तर्गत एक ओर यज्ञ सम्बन्धी पुकारों का विस्तृत क्रम होता था, और दूसरी ओर सोम पौधों को सम्बोधित बड़े-बड़े सूक्तों का प्रयोग। अछावाक[5], ग्रावस्तुत्, उन्नेतृ और सुब्रह्मण्य, जैसे अन्य पुरोहितों का बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों में विकसित अधिक विस्तृत संस्कारों के सम्बन्ध में उल्लेख है। यहाँ इस प्रकार सोलह पुरोहित हो जाते हैं, जिन्हें कृत्रिम और केवल औपचारिक रूप से चार समूहों[6] में

[3] डर्मेस्टेटर, ले जेन्ड-अवेस्ता, १, ७० और बाद। [4] ऋग्वेद ८. ८१, ५।

[5] तु० की० 'अछावाक्' के लिए कौषीतकि ब्राह्मण २८. ४; ऐतरेय ब्राह्मण ६. १४, ८, इत्यादि; बर्गेन : रि० वे० ४७; औल्डेनबर्ग : रिलीजन डेस वेद ३९७, नोट २। अन्य तीन, ऐतरेय और अन्य ब्राह्मणों में आते हैं। देखिए सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

[6] आश्वलायन श्रौत सूत्र ४. १, ४-६; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. १४, १ इत्यादि। ऋग्वेद सूत्र में इन चार समूहों का क्रम होतृ, ब्रह्मन्, उद्गातृ और अध्वर्यु है। कभी कभी एक सत्रहवें पुरोहित का भी उल्लेख है किंतु इसे साधारणतया मान्यता नहीं दी गयी है यद्यपि कौषीतकिन् लोग इसे 'सदस्य' मानते रहे। देखिये शतपथ ब्राह्मण १०. ४, १, १९; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३४८, नोट; कीथ : ऐतरेय आरण्यक ३७; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ९, ३७५;

वर्गीकृत किया गया है, यथा : होतृ, मैत्रावरुण, अच्छावाक, और ग्रावस्तुत्; उद्गातृ, प्रस्तोतृ, प्रतिहर्तृ और सुब्रह्मण्य; अध्वर्यु, प्रतिष्ठातृ, नेष्टृ और उन्नेतृ; ब्रह्मन्, ब्राह्मणाच्छंसिन्, अग्नीध्र और पोतृ।

इन सभी पुरोहितों के अतिरिक्त एक ऐसा *पुरोहित* भी होता था जो सभी धार्मिक कर्त्तव्यों में राजा का आध्यात्मिक परामर्शदाता होता था। गेल्डनर[७] का विचार है कि नियमित रूप से जब पुरोहित वास्तव में बड़े-बड़े यज्ञों में भाग लेता था तो वह ब्रह्मन् का कार्य करता था। इससे ऐसे पुरोहित का आशय है जो समस्त सांस्कारिक कृत्यों के अधीक्षक के भी अधीक्षक के रूप में कार्य करता था। (गेल्डनर) अपने इस विचार के लिये ऋग्वेद[८] और बाद के साहित्य[९] में भी, अनेक स्थलों पर प्रमाण पाते हैं जहाँ पुरोहित और ब्रह्मन् एक साथ सम्मिलित कर दिये गये हैं अथवा समान बताये गये हैं। फिर भी औल्डेनवर्ग[१०] अपेक्षाकृत अधिक उचित रूप से इस बात का संकेत करते हैं कि आरम्भिक काल में ऐसी स्थिति नहीं थी : उस समय पुरोहित सामान्यतया होतृ होता था जो कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गीतों का गायक भी होता था; और ब्रह्मन् ने, जो कि पर्यवेक्षक के रूप में ऋग्वेद में नहीं है, बाद में प्रधान अधीक्षक का कार्य ग्रहण किया जिसे, उसके पहले, पुरोहित करते थे जो टोने-टोटके से राजा को सुरक्षित रखने में स्वपदेन् ऐसे अभिचारों के उपयोग में पटु होते थे जिनका दुष्ट राक्षसों द्वारा यज्ञ की रक्षा करने के लिये भी प्रयोग हो सकता था। इसी सिद्धान्त से यह तथ्य भी सहमत है कि प्रमुखतः[११] मनुष्यों का पुरोहित अग्नि, स्वयं होतृ भी है; और 'आप्री' सूक्त के दो दिव्य-

[७] वेदिशे स्टूडियन, २, १४३, और बाद।

[८] ऋग्वेद १. ४४, १०; ९४, ६; ८. २७, १ इत्यादि।

[९] बृहस्पति देवों के पुरोहित हैं, ऋग्वेद २. २४, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १, २; ऐतरेय ब्राह्मण ३. १७, २; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, २; किन्तु ऋग्वेद १०. १४१, ३; कौषीतकि ब्राह्मण ६. १३; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, २१, में 'ब्रह्मन्'। वसिष्ठ, ऋग्वेद १०. १५०, ५ में सुदास् पैजवन, (शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६ ११, ४) के पुरोहित हैं; किन्तु शुनःशेप यज्ञ में ब्रह्मन् है, वही १५. २१।

[१०] उ० पु० ३८० और बाद।

[११] होतृ और पुरोहित के रूप में अग्नि, ऋग्वेद १. १, १; ३. ३, २; ११, १; ५. ११, २ में आता है। ऋग्वेद ८. २७, १; १०. १, ६, में इसके पुरोहितत्व का होतृ जैसे ही वर्णन है। ऋग्वेद १०. ९८ में देवापि पुरोहित और होतृ है।

होतृयों को दिव्य पुरोहित कहा गया है।[12] इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण[13] में यह नियम स्पष्टतः स्वीकार किया गया है कि क्षत्रिय को एक ब्रह्मन् पुरोहित ही रखना चाहिये; और तैतिरीय संहिता[14] में वसिष्ठ परिवार को ब्रह्मन्-पुरोहित होने का विशेष अधिकार प्राप्त है, जो कदाचित् इस बात का द्योतक है कि यही लोग वह थे जिन्होंने पहले पुरोहित होते हुए याज्ञिक-संस्कारों में अपना होतृयों जैसे कार्य को ब्रह्मनों से बदल लिया था।

अधिकतर अवस्थाओं में यज्ञ केवल एक व्यक्ति के लिये किये जाते थे। सत्र[15] अथवा दीर्घकालीन अवधि के यज्ञों का आयोजन केवल उसमें भाग लेने वाले पुरोहितों के लाभ के लिए ही किया जाता था। यद्यपि इसके परिणाम से तभी लाभान्वित हुआ जा सकता था जब इसमें लगे सभी व्यक्ति 'दीक्षित' होते थे। किसी जाति विशेष के लिए किये गये यज्ञ ज्ञात नहीं। यह सत्य है कि राजा के लिए किये गये यज्ञ का उद्देश्य उसकी प्रजा की समृद्धि लाना भी होता था; किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि सुख समृद्धि की स्तुति[16] में केवल पुरोहित और राजा के नाम का ही प्रत्यक्ष प्रयोग होता था, तथा प्रजाजनों का उनके मवेशियों और कृषि की समृद्धि के सबन्ध में केवल परोक्ष रूप से ही संकेत आता था।

[12] ऋग्वेद १०. ६६, १३; १०. ७०, ७ में 'पुरोहिताव् ऋत्विजा'
[13] ७. २६।
[14] ३. ५, २, १ इत्यादि।
[15] औल्डेनबर्ग, ३७१।
[16] वाजसनेयि संहिता २२. २२; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, १८; मैत्रायणी संहिता ३. १२, ६; काठक संहिता ५. ५, १४ इत्यादि।
तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १०, १४१, और बाद; ३७६, और बाद; हिलेब्रान्ट: रिटुअल लिटरेचर ९७; औल्डेनबर्ग: उ० पु० ३७०-३९७; लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, २२४।

ऋश्य—यह एक ऐसे शब्द का शुद्ध[1] अक्षर-विन्यास है जो ऋग्वेद[2] और बाद के साहित्य[3] में आता है, और जिसका अर्थ 'मृग' तथा स्त्रीलिङ्ग *रोहित्*[4]

[1] 'ऋश' के रूप में अथर्ववेद ४. ४, ७ में; 'ऋष्य' के रूप में मैत्रायणी संहिता ३. १४, ९. १८ में।
[2] ८. ४, १०।
[3] अथर्ववेद ४. ४, ५. ७; ५. १४, ३; १. १८, ४ (ऋश्य-पद्); वाजसनेयि संहिता २४. २७. ३७; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३; शाङ्खायन श्रौतसूत्र ८. २५,८ इत्यादि में उद्धृत।
[4] अथर्ववेद ४. ४, ७।

है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृगों को गड्ढों (ऋश्य-द)[5] में पकड़ा जाता था। मृग की प्रजनन शक्ति (आश्यं वृष्ण्य) की भी प्रख्याति है।[6]

[5] ऋग्वेद १०. ३९, ८।
[6] अथर्ववेद ४. ४, ५। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, १८; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८२; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १५०, १५१।

१. ऋषभ—ऋग्वेद[1] और बाद[2] में यह बैल का साधारण नाम है। *गो* भी देखिये।

[1] ६. १६, ४७; २८, ८; १०. ९१, १४ इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ३. ६, ४; २३, ४ इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता २. १, ३, २ इत्यादि; वाजसनेयि संहिता २१. २२ इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ५, १८ इत्यादि।

२. ऋषभ—'श्विक्नस्' का राजा (ऋषभ) शतपथ ब्राह्मण[1] में पैतृक नाम 'याज्ञतुर' के सहित उन लोगों में से एक के रूप में आता है जिन्होंने एक अश्वमेध यज्ञ किया था। यहाँ[2] इसके सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख है कि यह कदाचित् *गौरीविति शाक्त्य* सम्बन्धी एक कहावत का भी जनक है।

[1] १३. ५, ४, १५। तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ९, ८–१०।
[2] १२. ८, ३, ७।

३. ऋषभ का ऐतरेय ब्राह्मण (७. १७) में विश्वामित्र के एक पुत्र के रूप में उल्लेख है।

ऋषि—'द्रष्टा'—यह लोग प्रमुखतः देव-स्तुति सम्बन्धी सूक्तों के रचयिता होते थे। ऋग्वेद[1] में अतीत के गायकों और समकालीन कवियों का अक्सर उल्लेख मिलता है। प्राचीन गीत उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त किये जाते थे और उनके रचयिताओं के परिवार के व्यक्ति[2] इन गीतों का पुनर्मार्जन करते थे। किन्तु गायकों का प्रधान उद्देश्य नवीन और मान्यता प्राप्त सूक्तों[3] की रचना करना ही होता था। ब्राह्मणकाल के आविर्भाव के आस-पास ही सूक्तों की रचना करने की प्रवृत्ति समाप्त होती सी प्रतीत होती है[4], यद्यपि इस समय गीतों की, उदाहरणार्थ *गाथाओं* के रूप में, रचना होती थी। यह रचनायें स्वयं

[1] १. १, २; ४५, ३; ८. ४३, १३ इत्यादि।
[2] १. ८९, ३; ९६, २; ३. ३९, २; ८. ६, ११. ४३; ७६, ६ इत्यादि।
[3] १. १०९, २; २. १८, ३; ३. ६२, ७; ६. ५०, ६; ७. १४, ४; ९३, १; ८. २३, १४, इत्यादि।
[4] गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १५१।

पुरोहितों[५] से कराई जाती थी, तथा पुरोहित ही इन्हें यज्ञ के समय वीणा की संगति के साथ गाते भी थे। ऋषि ब्राह्मणों[६] में सर्वश्रेष्ठ होते थे। इनकी योग्यता की कभी-कभी काष्ठतक्षकों[७] से तुलना की जाती थी और इनके इस गुण को ईश्वर प्रदत्त[८] माना जाता था। चाहे 'होतृ' अथवा 'ब्रह्मन्' (देखिये ऋत्विज्) के रूप में, पुरोहित एक गायक होता था[९]। इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि लोग साधारणतया[१०] वैदिक काल के बड़े अथवा छोटे राजाओं, या राज-परिवार के श्रेष्ठ व्यक्तियों के घरानों से सम्बद्ध होते थे। इस पर भी सन्देह करने की आवश्यकता नहीं कि अक्सर[११] राजा लोग स्वयं भी पद्य-रचना करते थे: जैसे एक राजन्यर्षि, जो बाद के राजर्षि अथवा 'राजकीय द्रष्टा' का प्रतिरूप है, तथा जो पञ्चविंश ब्राह्मण[१२] में आता है जहाँ यद्यपि यह एक पौराणिक पुरुष ही है जैसा कि औल्डेनबर्ग[१३] का विचार है, इस बात का द्योतक है कि राजा लोग भी उसी प्रकार पद्य-रचना[१४] करते थे जैसे बाद में यह लोग दार्शनिक शास्त्रार्थों[१५] में भाग लेते थे। फिर भी सामान्यतया पद्य-रचना का कार्य ब्राह्मणों का ही होता था; और विश्वामित्र तथा अन्य लोग ऋग्वेद में राजा नहीं वरन् केवल ब्राह्मण ही हैं।

५ शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, ८; ३, ५।

६ ऋग्वेद ९. ९६, ६ इत्यादि। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ४, ६ जहाँ एक ऋषि के वंशज ब्राह्मण को प्रमुखता दी गई।

७ ऋग्वेद १. १३०, ६; ५. २, ११; २९, १५; ७३, १०; १०. ३९, १४। इस प्रकार एक कवि एक 'कारु' है (यदि 'कृ', 'निर्माण करना' से; किन्तु साधारणतया 'कृ', 'स्मरण करना' से व्युत्पन्न) और जो सूक्तों का निर्माण ('कृ', ऋग्वेद २. ३९, ८; ८. ६२, ४) तथा सृजन ('जन्' ऋग्वेद ७. १५, ४; ८. ८८, ४) करता है।

८ ऋग्वेद १. ३७, ४; ७. ३६, १. ९; ८. ३२, २७; ५७, ६ इत्यादि।

९ ऋग्वेद १. १५१, ७; गेल्डनर उ. पु० २, १५३; औल्डेनबर्ग: रिलीजन डेस वेद ३८०।

१० गेल्डनर: उ० पु० २, १५४, बृहद्देवता इत्यादि की परम्परा में राजाओं के गुण के लिये दान स्तुतियों का उद्धरण देते हैं।

११ वही, १५४।

१२ १२. १२, ६ इत्यादि।

१३ त्सी० गे० ४५, २३५, नोट ३।

१४ बाद में यह बिलकुल सामान्य और स्वाभाविक माना जाने लगा। देखिये बृहद्देवता ५. ५० और बाद, में 'रथवीति दार्भ्य' की कथा अथवा स्वयं 'दाल्भ्य' जो एक राजकीय द्रष्टा है, और 'तरन्त' तथा 'पुरुमीळ्ह' जो द्रष्टा और राजा भी थे।

१५ तु० की० गार्बे: फिलॉसफी ऑफ ऐन्शेन्ट इन्डिया ७३, और बाद; डयूसन: फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स १६ और बाद; कीथ: ऐतरेय आरण्यक ५०।

बाद के साहित्य में ऋषि लोग केवल संहिताओं में सुरक्षित सूक्तों के कवि माने गये हैं, और ऋषि का उस समय नित्य ही[16] उद्धरण दिया जाता है जब कोई वैदिक संहिता उद्धृत की जाती है। इस समय ऋषि लोग केवल अतीत के प्रतिनिधि मात्र रह जाते हैं जिन्हें पवित्र माना गया है, और उनके कार्यों का उसी प्रकार वर्णन किया गया है जैसे देवों अथवा असुरों[17] का। इनका निदर्शन सात के एक विशेष समूह[18] द्वारा भी किया गया है जिसका ऋग्वेद[19] में चार बार तथा बाद की संहिताओं[20] में अनेक बार उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद्[21] में इनकी, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि, के रूप में गणना कराई गई है। स्वयं ऋग्वेद में ही कुत्स[22], अत्रि[23], रेभ[24], अगस्त्य[25], कुशिकगण[26], वसिष्ठ[27], व्यश्व[28], तथा अन्य लोग ऋषियों के रूप में आते हैं। अथर्ववेद[29] में भी एक लम्बी तालिका है जिसमें अङ्गिरस्, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वसिष्ठ, भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र, कुत्स, कक्षीवन्त्, कण्व, मेधातिथि, त्रिशोक, उशना, काव्य, गोतम और मुद्गल आते हैं।

काव्य शास्त्रियों में प्रतिस्पर्धा होना भी परिचित प्रतीत होता है। यह समस्या-काव्य (*ब्रह्मोद्य*) का एक पक्ष है, जो वैदिक-संस्कार अश्वमेध का एक विशिष्ट कार्यक्रम[30] होता था। उपनिषद् काल में ऐसी प्रतिस्पर्धायें बहुधा होती रहती थी। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य का दृष्टान्त है, जो विदेहराज जनक के दरबार में हुआ था। इसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद्[31]

[16] ऐतरेय ब्राह्मण २. २५; ८. २६; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, ४; २. २, ३, ६; ५, १, ४; ६. १, १, १ इत्यादि; निरुक्त ७. ३ इत्यादि।

[17] ऐतरेय ब्राह्मण १. १७; २. १९; शतपथ ब्राह्मण १. ६, २, ७ इत्यादि।

[18] तु० की० इन्डिशे स्टूडियन ८, १६७।

[19] ४. ४२, ८; १०. १०९, ४; १३०, ७; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १४४।

[20] वाजसनेयि संहिता १४. २४; अथर्ववेद ११. १, १. २४; १२. १, ३९ इत्यादि।

[21] २. २, ६।

[22] १. १०६, ६।

[23] १. ११७, ३।

[24] १. ११७, ४।

[25] १. १७९, ६।

[26] ३. ५३, १०।

[27] ७. ३३, १३।

[28] ८. २३, १६।

[29] ४. २९। तु० की० १८. ३, १५. १६।

[30] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३४५, ३४६; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १७२; रिलीजन डेस वेद २१६ और बाद।

[31] ३. १, १, और बाद।

में मिलता है, और यह *काशी*[32] के राजा *अजातशत्रु* के क्रोध का एक कारण बन गया था। इसी समान प्रचलित पद्धति के अनुसार *उद्दालक आरुणि* जैसा एक ब्राह्मण चारों ओर भ्रमण करता हुआ जिस किसी के भी सम्पर्क में आता था उससे आर्थिक पुरस्कार[33] प्राप्तार्थ प्रतिस्पर्धा (शास्त्रार्थ) करता रहता था।

[32] बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १ और बाद। कौषीतकि उपनिषद् ४. १ और बाद,

[33] शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, १ और बाद; गोपथ ब्राह्मण १. ३, ८ और बाद; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १८५, ३४४;

तु० की०—त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन ३४०–३४७; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स ३, १२० और बाद।

ऋषि-(गण)—'सप्तर्षि' शब्द ऋग्वेद के एक स्थल[1], और कभी-कभी बाद[2] में भी, 'सप्तर्षि तारक-पुञ्ज' (देखिये १-*ऋक्ष*) का द्योतक है। सात ऋक्षों के स्थान पर यह कदाचित् एक परवर्ती प्रयोग है जो बहुधा सात ऋषियों के उल्लेख के लिये किया गया है।

[1] १०. ८२, २;

[2] अथर्ववेद ६. ४०, १ (ह्विटने : अथर्ववेद के अनुवाद ३१०, में इसका अनुवाद केवल 'सात द्रष्टा' करते हैं और इसे किसी अन्य पारिभाषिक आशय में ग्रहण करते नहीं प्रतीत होते); शतपथ ब्राह्मण २. १, २, ४; १३. ८, १, ९; निरुक्त १०. २६, इत्यादि।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, ४२२; रौथ : सेन्टपीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १४४।

ऋष्टि एक ऐसा शब्द है जिसका ऋग्वेद[1] में मरुतों के एक अस्त्र के लिये प्रयोग किया गया है और जो निसन्देह विद्युत (मेघों में चमकनेवाली बिजली) का बोधक है। यह मानवीय युद्धों में प्रयुक्त तोमर का भी द्योतक हो सकता है जैसा कि त्सिमर[2] का विचार है, ऐसा किसी भी स्थल[3] द्वारा प्रकट नहीं होता।

[1] ऋग्वेद १. ३७, १; ६४, ४. ८; १६६, ४; ५. ५२, ६; ५४, ११; ५७, ६; ८. २०, ११। ऋग्वेद १. १६९, ३ में इन्द्र के पास भी एक ऋष्टि है (तु० की० अथर्ववेद ४. ३७, ८); तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० ७९

[2] आल्टिन्डिशे लेबेन ३०१।

[3] ऋग्वेद १. १६७, ३; ७. ५६, २; ८. २८, ५; १०. ८७, ७. २४ : यह सभी स्थल पौराणिक अथवा उपमाओं से युक्त हैं।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टि-क्विटीज २२१।

ऋष्टि-षेण—पैतृक नाम '*आर्ष्टिषेण*' की व्याख्या के हेतु निरुक्त[1] में इसका उल्लेख है; किन्तु यहाँ के अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

[1] २. ११। तु० की० सा० ऋ० १३०, १३६।

ऋष्य-शृङ्ग—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] और वंश ब्राह्मण[2] में यह एक गुरु, काश्यप का शिष्य, और 'काश्यप' पैतृक नाम धारण किये हुये, आता है। इस नाम का अपेक्षाकृत अधिक ठीक अक्षर-विन्यास *ऋश्य-शृङ्ग*[3] है।

[1] ३. ४०, १ (एक वंश तालिका में)।
[2] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७४, ३८५।
[3] इस नाम से सम्बद्ध बाद की कथा में भी पुराने ही तत्त्व निहित हैं (देखिए ल्यूडर्स : डी सेज फॉन ऋश्यशृङ्ग, १८९७; फॉन श्रोडर : मि० २९२–३०१); परन्तु कोई वैदिक ग्रन्थ इससे परिचित नहीं है।

ए

एक-द्यू का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में कवि के रूप में उल्लेख है।

[1] ८. ८०, १०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ११२।

एक-यावन् गां-दम—यह एक व्यक्ति है जिसका पञ्चविंश ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में उल्लेख है।

[1] २१. १४, २०।
[2] २. ७, ११ (कांदम)
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. ३२; हॉपकिन्स ट्रा० सा० १५, ६९

एक-राज्—'एकमात्र राजा'—का अर्थ 'राजा' से अधिक और कुछ प्रतीत नहीं होता। ऋग्वेद[1] में इस शब्द का केवल लाक्षणिक प्रयोग है; किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण[2] तथा अथर्ववेद[3] में भी यह इसी शाब्दिक आशय में मिलता है।

[1] ८. ३७, ३। [2] ८. १५। [3] ३. ४, १। तु० की० वेबर : राजसूय १४१।

एकायन—छान्दोग्य उपनिषद्[1] में यह अध्ययन की किसी वस्तु का द्योतक है। सेन्टपीटर्सबर्ग कोश इसका अनुवाद 'एकता (एक) का सिद्धान्त (अयन)', अथवा 'अद्वैतवाद' करता है, जब कि मैक्स मूलर 'नीतिशास्त्र',

[1] ७. १, २. ४; २, १; ७, १।

और अपने कोश में मौनियर विलियम्स 'सांसारिक ज्ञान'[2] अधिक उपयुक्त अर्थ मानते हैं।

[2] मैक्स मूलर और मौनियर विलियम्स इस प्रकार शंकर द्वारा इसकी 'नीति-शास्त्र' के रूप में की गई व्याख्या का अनुसरण करते हैं। तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २६७, ४८४; लिटिल : ग्रामेटिकल इन्डेक्स ४३।

एकाष्टका—अथर्ववेद[1] से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्णमासी के वाद (कृष्ण पक्ष) के आठवें दिन को 'अष्टका' कहते हैं। एकाष्टका अथवा 'एकमात्र अष्टका' सामान्य रूप से किसी भी 'अष्टका' का द्योतक नहीं है, वरन् इससे किसी विशेष 'अष्टका' का तात्पर्य है। अथर्ववेद[2] पर, जिसके एक सम्पूर्ण सूक्त में 'एकाष्टका' की प्रख्याति है, अपने भाष्य में सायण 'इस शब्द द्वारा उद्दिष्ट तिथि को माघ मास (जनवरी-फरवरी) के कृष्ण पक्ष की अष्टमी निश्चित करते हैं। तैत्तिरीय संहिता[3] में 'एकाष्टका' को उन व्यक्तियों की 'दीक्षा' का समय कहा गया है जो एक वर्ष का यज्ञ करने जा रहे हों। देखिये *मास* भी।

[1] १५. १६, २। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, २३; ४, २, १०।
[2] ३. १०।
[3] ७. ४, ८, १। तु० की० ३. ३, ८, ४; ४. ३, ११, १; ५. ७, २, २; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ९, ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३६५; वेवर : नक्षत्र २, ३४१, ३४२।

एजत्क—अथर्ववेद[1] में यह एक कीटाणु का नाम है।

[1] ५. २३, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८; ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद २६२।

एडक—शतपथ[1] और जैमिनीय[2] ब्राह्मणों में यह एक 'दुष्ट मेष' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] १२. ४, १, ४; तु० की० २. ५, २, १५।
[2] १. ५१, ४ (ज० अ० ओ० सो० २३, ३३२) तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० : ४४, १७८।

एणी—वाद की संहिताओं[1] में यह 'हरिणी', कदाचित *एत* के स्त्रीलिङ्ग का द्योतक है।

[1] अथर्ववेद ५. १४, ११; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १७; वाजसनेयि संहिता २४. ३६; तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेवेन ८२।

एत—बहुवचन (एताः) के रूप में मरुतों के रथ-वाहनों का द्योतक है, जो द्रुतगामी जाति के मृग होते थे और जिनका ऋग्वेद[1] में अनेक बार उल्लेख है, तथा जिनके चर्म के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि मरुतगण अपने कन्धों[2] पर पहनते थे। इनके लिये ऋग्वेद[3] में एक बार प्रयुक्त विशेषण 'पृथुबुध्न', जिसकी 'चौड़े खुरोंवाला'[4], 'चौड़े सीनेवाला'[5], 'जिनका पृष्ठभाग चौड़ा हो'[6] आदि विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है, इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि यह 'हिरन'[7] नहीं थे।

[1] १. १६५, २; १६९, ६. ७; ५. ५४, ५; १०. ७७, २।
[2] ऋग्वेद. १. १६६, १० तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[3] १. १६९,६।
[4] ग्रासमैन और त्सिमर द्वारा।
[5] ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, २३५।
[6] मौनियर विलियम्स : कोश, व० स्था०।
[7] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८३।

१. एतश—ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर रौथ[2] के अनुसार यह एक आश्रित का नाम है जिसकी इन्द्र ने सूर्यदेव के विरुद्ध सहायता की थी। किन्तु इन सभी स्थलों पर 'एतश' केवल सूर्य के अश्वों मात्र का ही द्योतक प्रतीत होता है[3]।

[1] १. ६२, १५; ४. ३०, ६; ५. २९, ५।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[3] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० १४९, १५०।

२. एतश—कौषीतकि ब्राह्मण[1] में यह एक ऋषि का नाम है जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि एक सांस्कारिक कृत्य के समय बीच में टोक देने के फलस्वरूप इसने अपने पुत्रों को श्राप दे दिया था। इस कारण ऐतशायन लोगों (एतश के वंशजों) को भृगुओं में सबसे निकृष्ट घोषित कर दिया गया। यही कथा ऐतरेय ब्राह्मण[2] में भी मिलती है, जहाँ इस ऋषि का नाम 'ऐतश' है और ऐतशायनों को औवों में सबसे निकृष्ट कहा गया है।

[1] ३०. ५।
[2] ६. ६३। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १७३।

एदिधिषुः-पति एक ऐसा शब्द है जो केवल वाजसनेयि संहिता[1] में ही आता है। यहाँ भाष्यकार महीधर 'बड़ी बहन के पहले ही विवाहित छोटी

[1] ३०. ९।

वहन के पति' के अर्थ में इसकी व्याख्या करते हैं। यद्यपि यह आशय सम्भवतः ठीक है, किन्तु इस शब्द का रूप, जैसा कि डेलब्रुक[२] का विचार है, निश्चित रूप से भ्रष्ट है। देखिये *दिधिषूपति*।

[२] डी० व० ५६९, नोट १।

एरण्ड—रेंड़ के वृक्ष (Ricinus communis) के लिये इसका सर्वप्रथम शाङ्खायन आरण्यक (१२.८) में प्रयोग हुआ है।

एवावद—लुडविग[१] ऋग्वेद[२] के एक अत्यन्त अस्पष्ट स्थल पर *वृत्र*, *सनस* और *यजत* के साथ-साथ इसे किसी गायक का नाम मानते हैं। भाष्यकार सायण भी व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ही इसकी व्याख्या करते हैं। फिर भी रौथ[३] 'सत्यवादी' के अर्थ में इसे एक विशेषण मानते हैं।

[१] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८।
[२] ५. ४४, १०।
[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

ऐ

ऐकादशाक्ष मानु-तन्तव्य—यह एक ऐसे राजा के रूप में, जिसने सूर्योदय हो जाने पर यज्ञ (उदित-होमिन्) करने के नियम का पालन किया था, और *नगरिन् जान-श्रुतेय* के समकालीन के रूप में, ऐतरेय ब्राह्मण[१] में आता है।

[१] ५. ३०। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २२३।

ऐक्ष्वाक—'इक्ष्वाकु का वंशज'—शतपथ ब्राह्मण[१] में यह एक पैतृक नाम है जिसे *पुरुकुत्स* ने धारण किया है। दूसरा ऐक्ष्वाक 'वार्ष्णि' है जिसका जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[२] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[३] एक राजा *हरिश्चन्द्र वैधस* ऐक्ष्वाक से परिचित है और पञ्चविंश ब्राह्मण[४] में भी *त्र्यरुण* एक ऐक्ष्वाक है।

[१] १३. ५, ४, ५।
[२] १. ५, ४।
[३] ७. १३, १६।
[४] १३. ३, १२।

ऐतरेय—कदाचित 'इतर' से व्युत्पन्न पैतृक नाम, जिसे यद्यपि भाष्यकार सायण[1] 'इतरा' से निकला एक मातृनामोद्गत मानते हैं, ऐतरेय आरण्यक[2] और छान्दोग्य उपनिषद्[3] में *महिदास* की एक उपाधि है।

[1] ऑफरेख्त द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण ३, में उद्धृत।
[2] २. १, ८; ३, ७।
[3] ३. १६, ७। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, ३८९। 'ऐतरेयिन्' रूप अनुपद सूत्र ८. १; आश्वलायन श्रौत सूत्र १. ३ इत्यादि में; और एक 'महैतरेय' आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४, ४ इत्यादि में आता है।

ऐतश, ऐतशायन—देखिये *एतश, एतशायन*। ऐतश-प्रलाप अथवा 'ऐतश का सम्भाषण' अथर्ववेद[1] का एक भाग है।

[1] २०. १२९–१३२। तु० की० बृहद्देवता ८. १०१, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।

ऐति-हासिक—यह उन लोगों के लिये प्रयुक्त शब्द है जो वैदिक सूक्तों की एक पौराणिक कथा (*इतिहास*) के रूप में व्याख्या करते थे। इन लोगों को सम्बन्ध में सीग[1] निरुक्त[2] के एक स्थल के आधार पर यह दिखाते हैं कि नैरुक्तों से, जो केवल व्युत्पत्ति में ही विश्वास करते थे, इनके विचार भिन्न हैं। सीग[3], निरुक्त[4] के 'नैदानों' में भी इन्हें ही देखते हुये ठीक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि यह सम्भव है कि इनकी मूल पुस्तक का नाम 'निदान' रहा हो :

[1] सा० ऋ० १३, और बाद।
[2] २. १६; १२. १ इत्यादि।
[3] उ० पु० २९।
[4] ६. ९; ७. १२।

ऐभावत, 'इभावन्त् का वंशज', *प्रतीदर्श*[1] का पैतृक नाम है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, २, ३।

ऐरावत—'इरावन्त् का पुत्र'—यह एक सर्प-राक्षस[1] के रूप में अथर्ववेद[2] और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में 'धृतराष्ट्र' का पैतृक नाम है।

[1] बाद के साहित्य में 'ऐरावत' इन्द्र का हाथी है : जो कदाचित् इस वैदिक 'सर्प-राक्षस' से सम्बद्ध है, क्योंकि 'नाग' का अर्थ 'सर्प' और 'गज' दोनों ही है।
[2] ८. १०, २९।
[3] २५. १५, ३।

ऐलूप, 'इलूष का वंशज', कवष का पैतृक नाम है।

ऐष-कृत—देखिये *शितिबाहु*।
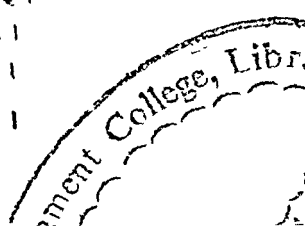
ऐषा-वीर—शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल[1] पर 'ऐषा-वीरों' का यज्ञ करवाते हुए उल्लेख हैं, जहाँ यह आशय है कि यह लोग अच्छे याज्ञिक नहीं हैं। सायण एक घृणित परिवार के सदस्यों के लिए प्रयुक्त इसे एक व्यक्तिवाचक शब्द (एषवीर के वंशज) मानते हैं। किन्तु उपरोक्त स्थल पर, तथा अन्यत्र भी, रौथ इस शब्द की 'निर्बल'[2] अथवा 'तुच्छ व्यक्ति'[3] के अर्थ में व्याख्या करते हुए अधिक ठीक प्रतीत होते हैं।

[1] ११. २, ७, ३२।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] बौटलिङ्क के कोश में व० स्था० (जो एक मनुष्य होना चाहता है किन्तु है नहीं)। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ९. ५, १, १६; कौषीतकि ब्राह्मण १. १, जहाँ लिन्डर के संस्करण में 'सैषा वीर इव' पाठ है। तु० की वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १, २२८; एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, ४४, ४५।

ऐषुमत, 'इषुमन्त् का वंशज', वंश ब्राह्मण[1] में *त्रात* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

ओ

ओगण एक शब्द है जो ऋग्वेद[1] में केवल एक बार बहुवचन रूप में आता है। यहाँ यह ऐसे व्यक्तियों का द्योतक प्रतीत होता है जो सूक्त-द्रष्टा के वैरी और आर्य-धर्म के विरोधी थे। लुडविग[2] इसे एक जाति का व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं, किन्तु पिशल[3] का विचार है कि यह केवल एक विशेषण मात्र है जिसका अर्थ 'निर्बल' (ओगण = अव-गण) है, जैसा कि पालि में भी है।

[1] १०. ८९, १५।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ५, २०९।
[3] वेदिशे स्टूडियन २, १९१, १९२।

ओतु—यह वैदिक साहित्य[1] में बिनाई से सम्बद्ध 'बाणि' का द्योतक है और *तन्तु* 'ताना' से मिलता-जुलता है। धातुयें : 'वा'[2] (बिनना) और 'तन्'[3] (तानना), जिससे यह शब्द निकला है; समानान्तर आशय में प्रयुक्त हुई हैं। बिनने की क्रिया में एक '*तसर*' का प्रयोग होता था। बिनने वाले को

[1] ऋग्वेद ६. ९, २. ३; अथर्ववेद १४. २, ५१; तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, ४ इत्यादि।
[2] ऋग्वेद ६. ९, २ इत्यादि
[3] वाजसनेयि संहिता १९. ८०; ऋग्वेद १०. १३०. २; अथर्ववेद १०. ७. ४२ इत्यादि।

'वाय'[४] कहा गया है और करघे को 'वेमन्'[५]। तन्तु-जाल को खींचने के लिए एक खूँटी (*मयूख*) का, तथा उसे तानने के लिए[६] सीसे के वज़न का प्रयोग होता था।

विनने का काम कदाचित् स्त्रियों की विशेष देख-रेख का कार्य होता था[७] : अथर्ववेद[८] का एक लाक्षणिक प्रयोग रात्रि और दिन को दो बहनों के रूप में व्यक्त करता है जो वर्ष का ऐसा जाल बुनती हैं जिसमें रात्रि 'ताना' और दिन 'बाना' होता है।

[४] ऋग्वेद १०. २६, ६ इत्यादि।
[५] वाजसनेयि संहिता १९. ८३।
[६] वाजसनेयि संहिता १९. ८०।
[७] अथर्ववेद १०. ७, ४२; १४. २, ५१। तु० की० ऋग्वेद २. ९२, ३।
[८] १०. ७, ४२; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५, ५, ३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५४, २५५; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४६५।

ओदन—यह एक साधारण व्याहृति[१] है जो अन्न-भाग, सामान्यतया दूध में पके हुए अन्न (क्षीर-पाकम् ओदनम्)[२] की द्योतक है। इसके विशेष प्रकारों का भी उल्लेख है, जैसे : 'क्षीरौदन',[३] 'दध्य-ओदन',[४] 'मुद्गौदन',[५] 'तिलौदन',[६] 'उदौदन',[७] 'मांसौदन',[८] 'घृतौदन',[९] इत्यादि।

[१] ऋग्वेद ८. ६९, १४ इत्यादि। अथर्ववेद ४. १४, ७ इत्यादि।
[२] ऋग्वेद ८. ७७, १०।
[३] शतपथ ब्राह्मण २. ५, ३, ४; ११. ५, ७, ५; बृहदारण्यक उपनिषद ६. ४, १३।
[४] बृहदारण्यक उपनिषद ६. ४, १४।
[५] शाङ्खायन आरण्यक १२. ८।
[६] वही; बृहदारण्यक उपनिषद ६. ४, १५।
[७] वही, ६. ४, १५।
[८] वही, ६. ४, १६; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ७, ५; शाङ्खायन आरण्यक १२. ८।
[९] शाङ्खायन आरण्यक १२. ८।

ओपश एक सन्दिग्ध आशय का शब्द है जो ऋग्वेद,[१] अथर्ववेद,[२] और कभी कभी बाद[३] में भी जाता है। इसका अर्थ सम्भवतः एक 'वेणी' है जिसका केश-मार्जन के लिए विशेपतः स्त्रियाँ[४] प्रयोग करती थीं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता

[१] १०. ८५, ८। तु० की० १. १७३, ६; ८. १४, ५; ९. ७१, १।
[२] ६. १३८, १. २; ९. ३, ८, जहाँ पर 'घर' की छत का वर्णन करते समय इसका लाक्षणिक प्रयोग हुआ है।
[३] पञ्चविंश ब्राह्मण ४. १, १।
[४] अथर्ववेद ६. १३८, १. २।

है कि पहले पुरुष[५] भी इसका प्रयोग करते थे। देवी 'सिनीवाली' को 'स्वौपशा'[६] कहा गया है जो एक सन्दिग्ध आशय है और जिससे त्सिमर[७] यह अनुमान करते हैं कि वैदिक काल में बालों की कृत्रिम वेणी पहनना अपरिचित नहीं था : 'पृथु-ष्टुक'[८] (चौड़ी प्रवेणीवाला), और 'विपित-ष्टुक'[९] (ढीली प्रवेणीवाला), विशेषणों में इङ्गित प्रवेणी तथा ओपश में क्या अन्तर है यह उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता। गेल्डनर[१०] का विचार है कि इसका मौलिक आशय 'शृङ्ग' था; और जब यह शब्द इन्द्र[११] के लिए भी प्रयुक्त हुआ है तो इसका अर्थ 'मुकुट' हो सकता है।

[५] ऋग्वेद १. १७३, ६; ८. १४, ५।

[६] तैत्तिरीय संहिता ४. १, ५, ३; मैत्रायणी संहिता २. ७, ५; वाजसनेयि संहिता ११. ५६। पाठ अनिश्चित है। ब्लूमफील्ड (देखिए नीचे) इसके ठीक रूप को 'स्व्-ओपशा' (स्वच्छ ओपशवाला) मानते हैं।

[७] आल्टिन्डिशे लेबेन २६४।

[८] ऋग्वेद १०. ८६, ८।

[९] ऋग्वेद १. १६७, ५ ('रोदसी' का)।

[१०] वेदिशे स्टूडियन १. १३१ में पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ४, ३ का उद्धरण देते हुए, जहाँ मवेशियों के लिए 'द्वय-ओपशाः' प्रयुक्त हुआ है; किन्तु यहाँ का आशय लाक्षणिक हो सकता है।

[११] ऋग्वेद ८. १४, ५। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५३८, ५३९; व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद ३४८।

ओषधि—मोटे रूप से वैदिक साहित्य[१] में वनस्पतियों को औषधिक अथवा *वीरुध्* 'पौधों', और *वन* अथवा *वृक्ष* में, विभक्त किया गया है : वीरुध के विपरीत ओषधि का प्रयोग उन पौधों के लिये हुआ है जिनमें उपशमन-शक्ति अथवा कुछ अन्य मानवोपयोगी गुण हों; जब कि 'वीरुध' वनस्पतियों के लिए एक जातीय शब्द है, किन्तु कभी-कभी[२] जब यह ओषधि के साथ आया है तो वहाँ यह ऐसे पौधों का द्योतक है जिनमें कोई औषधिक गुण नहीं है।

पौधों के उपभागों की तालिका बाद की संहिताओं[३] में दी हुई है। इनके अन्तर्गत जड़ 'मूल', 'तूल', तना 'कान्ड', टहनियाँ 'वल्श', 'पुष्प' और 'फल'

[१] ऋग्वेद १०. ९७, और 'पस्सिम्'। 'ओषधि-वनस्पति' एक बहुप्रयुक्त यौगिक शब्द है जो शतपथ ब्राह्मण (६. १, १, १२) और बाद में आता है। पौधों के औषधिक गुण द्वारा उनके लिए अथर्ववेद १२. १, २ में प्रयुक्त विशेषण 'नाना-वीर्या' (विभिन्न शक्ति-युक्त) का समाधान हो जाता है।

[२] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ३, २।

[३] वही, ७. ३, १९, १; वाजसनेयि संहिता २२. २८।

आते हैं, जब कि वृक्षों में[४] इन भागों के अतिरिक्त 'स्कन्ध', 'शाखा', और पत्ते 'पर्ण' भी होते हैं। अथर्ववेद[५] में पौधों का एक विस्तृत विभाजन दिया हुआ है जो बहुत बोधगम्य नहीं है, यथा : जो फैलते हैं (प्र-स्तृणतीः), जो झाड़ीदार होते हैं (स्तम्बिनीः), जिनमें केवल एक खोल होती है (एक शुङ्गाः), जो चढ़नेवाले होते हैं (प्र-तन्वतीः), जिनमें अनेक नाल होती हैं (अंशुमतीः), जिनमें जोड़ होते हैं (काण्डिनीः); अथवा जिनकी शाखायें फैली होती हैं (वि-शाखाः)। ऋग्वेद[६] में पौधों को फलवाला (फलिनीः) फूलनेवाला (पुष्पावतीः) और फूलों से युक्त (प्र-सूवरीः) कहा गया है।

[४] तैत्तिरीय संहिता ७. ३, २०, १। तु० की० ऋग्वेद १. ३२, ५; अथर्ववेद १०. ७, ३८।

[५] ८. ७, ४, ह्विट्ने की टिप्पणी सहित। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५७९; हेनरी : ले० ५८ और बाद।

[६] १०. ९७, ३. १५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन : ५७।

औ

औक्ष-गन्धि (बैल की चर्बी के समान गन्धवाला) अथर्ववेद[१] में एक 'अप्सरस्' के नाम के लिये अन्य नामों के साथ आता है जिनमें से *गुग्गुलू* और *नलदी* स्पष्टतः पौधों के द्योतक हैं। अतः यह भी अनुमानतः किसी प्रकार के गन्धयुक्त पौधे का नाम हो सकता है। इसी संहिता[२] में 'औक्ष' का अर्थ 'बैल की चर्बी' (उक्षन्—बैल से) है।

[१] ४. ३७, ३।

[२] २. ३६, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६९ ; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३२४; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २११, २१२ और 'औक्ष' पर वही, ८२, ८३।

औग्र-सैन्य—'उग्रसेन का वंशज'—यह ऐतरेय ब्राह्मण (८.२१) में राजा *युद्धांश्रौष्टि* का पैतृक नाम है।

औदन्य, 'उदन्य अथवा ओदन का वंशज'—शतपथ ब्राह्मण[१] में 'मुण्डिभ' का पैतृक नाम है जिसे ब्राह्मण-हत्या के एक प्रायश्चित्त का आविष्कार करने का श्रेय दिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[२] में यह नाम 'औदन्यव' के रूप में आता है।

[१] १३. ३, ५, ४,।

[२] ३. ९, १५, ३। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था० 'ओदन'; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३४१, नोट १।

औदमय वेबर[1] द्वारा आत्रेय के नाम का पाठ है जो ऐतरेय ब्राह्मण[2] के अनुसार *अङ्ग वैरोचन* का पुरोहित था। फिर भी, ऑफरेख्त अपने संस्करण में इस नाम का अपेक्षाकृत अधिक ठीक रूप *उदमय* ही मानते हैं।

[1] इन्डिशे स्टूडियन १, २२८।
[2] ८. २२। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'उदमय'।

औद-वाहि—'उदवाह का वंशज'—यह बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिका) में भारद्वाज के गुरु के रूप में आता है।

[1] २. ५, २०; ४. ५, २६ (माध्यदिन शाखा में)।

औद-उम्बरायण—'उदुम्बर का वंशज—निरुक्त (१.१) में यह एक वैयाकरणी का पैतृक नाम है।

औद्-दालकि—'उद्दालक का वंशज'—यह एक गुरु का, जो *असुविन्द*[1] अथवा *कुसुरुविन्द*[2] आदि नामों से सम्बोधित है, और *श्वेतकेतु*[3] का पैतृक नाम है।

[1] जैमिनीय ब्राह्मण १. ७५ (ज० अ० ओ० सो० २३, ३२७)।
[2] षड्विंश ब्राह्मण १. १६; पञ्चविंश ब्राह्मण २२. १५, १०।
[3] शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ३, १३; ४. २, ५, १५। कठ उपनिषद् १. ११ में भी सम्भवतः इसी से तात्पर्य है।

औद्-भारि—'उद्भार का वंशज'—यह शतपथ ब्राह्मण (११.८, ४, ६) में *केशिन्* के गुरु *खण्डिक* का पैतृक नाम है।

औप-जन्धनि—'उपजन्धन का वंशज'—यह एक गुरु का पैतृक नाम है जिसका बृहदारण्यक उपनिषद[1] में *आसुरि* के शिष्य और साथ ही साथ *सायकायन* के भी[2] शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] २. ६, ३; ४. ६, ३ (वंशों में)।
[2] ४. ५, २७ (माध्यंदिन शाखा में)।

औप-तस्विनि—'उपतस्विन का वंशज'—यह शतपथ ब्राह्मण (४.६, १, ७) में *राम* का पैतृक नाम है।

औप-मन्यव—'उपमन्यु का वंशज'—यह विभिन्न व्यक्तियों का पैतृक नाम है : देखिये *काम्बोज*, *प्राचीनशाल*, *महाशाल*। इस नाम का सर्वप्रसिद्ध धारक एक वैयाकरण है जो नामों के निष्पत्तिसम्बन्धी ध्वन्यानुकरणात्मक सिद्धान्त से असहमत था और जिसका यास्क[1] ने उल्लेख किया है। बौधायन श्रौतसूत्र[2] में गुरु के रूप में एक 'औपमन्यवी पुत्र' आता है।

[1] १. १; २. २. ६. ११ इत्यादि।
[2] २२. १, और बाद।

औपर—'उपर का वंशज'—तैत्तिरीय संहिता (६.२, ९, ४) में यह दण्ड का पैतृक नाम है।

औप-वेशि, 'उपवेश का वंशज'—यह उद्दालक[1] के पिता *अरुण* द्वारा धारण किया गया पैतृक नाम है।

[1] देखिये काठक संहिता २६. १०, और अरुण।

औपस्वती-पुत्र, 'उपस्वन्त् के एक स्त्रीवंशज का पुत्र' (?)—का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *पाराशरीपुत्र* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ५, १ (केवल काण्व शाखा में)।

औपावि (उपाव का वंशज) *जान-श्रुतेय* (जनश्रुति का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] और मैत्रायणी संहिता[2] में एक ऐसे याज्ञिक के रूप में आता है जो वाजपेय यज्ञ करता था और परलोक जाना चाहता था।

[1] ५. १, १, ५. ७।
[2] १. ४, ५। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, २२२, २२३।

औपोदिति, 'उपोदित का वंशज' तैत्तिरीय संहिता[1] में *तुमिञ्ज* के लिये, और बौधायन श्रौतसूत्र[2] में कुरुओं के 'स्थपति' (सेनानायक) *व्याघ्रपद्* के पुत्र *गौपालायन* के लिये प्रयुक्त पैतृक नाम है। 'उपोदिता' के मातृनामोद्भत 'औपोदितेय' के रूप में यह नाम शतपथ ब्राह्मण[3] में मिलता है जहाँ काण्व पाठ इसे 'तुमिञ्ज औपोदितेय वैयाघ्रपद्य' कहता है।

[1] १. ७, २, १।
[2] २०. २५
[3] १. ९, ३, १६। तु० की० एग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, २७१, नोट २।

और्ण-वाभ—'ऊर्णवाभि का वंशज'—(१) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में यह *कौण्डिन्य* के एक शिष्य का नाम है। (२) निरुक्त में इसी नाम के एक गुरु का बहुधा उल्लेख है। दो स्थलों[2] पर इसकी व्याख्या, नैरुक्तों अथवा ऋग्वेद की व्युत्पत्ति-जन्य व्याख्या करने वाले लोगों के अनुकूल है। अन्य स्थलों[3] पर यह उन *ऐतिहासिकों* की परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है जो परम्परागत कथाओं पर विश्वास करते थे। इस

[1] ४. ५, २६ (माध्यंदिन शाखा)।
[2] ७. १५; १२. १९।
[3] ६. १३; १२. १।

प्रकार, जैसा कि सीग[४] का विचार है, यह सम्भवतः एक सर्वांशवादी विचार-धारा का व्यक्ति था।

[४] सा० ऋ० १३, नोट १।

और्व, 'उरु अथवा उर्व का वंशज', सम्भवतः स्वयं एक भृगु है जो ऋग्वेद[१] में *भृगु* के निकट सन्दर्भ में आता है। ऐतरेय ब्राह्मण[२] के एक स्थल पर 'ऐतश' के वंशजों को औवों में सबसे निकृष्ट कहा गया है; जब कि कौषीतकि ब्राह्मण[३] का एक समानान्तर स्थल इन्हें भृगुओं में सबसे निकृष्ट कहता है। अतः और्व लोग निश्चित रूप से वृहत्तर भृगु परिवार की ही एक शाखा रहे होंगे। तैत्तिरीय संहिता[४] में स्वयं और्व द्वारा अत्रि से सन्तति प्राप्त करने का उल्लेख है। पञ्चविंश ब्राह्मण[५] में दो औवों का अधिकारी विद्वानों के रूप में उल्लेख है। *कुत्स* भी देखिये।

[१] ८. १०२, ४।
[२] ६. ३३।
[३] ३०. ५।
[४] ७. १, ८, १।
[५] २१. १०, ६। हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५४ में 'ऊर्वौ' पाठ है। तु० की० हिले-ब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १७३. नोट १।

औलान एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[१] के केवल एक स्थल पर आता है, जहाँ यह 'उल के वंशज' के रूप में *शांतनु* का पैतृक नाम हो सकता है। फिर भी लुडविग[२] का अनुमान है कि इसका पाठ 'कौलान' होना चाहिये। सीग[३] 'औलान' को शान्तनु का एक बाद का वंशज[४] मानते हैं जिसने वर्षा कराने की देवापि की कथा का अपने वर्षा-सूक्त के परिचय के रूप में उपयोग किया था।

[१] १०. ९८, ११।
[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६।
[३] सा० ऋ० १४१।
[४] तु० की० ऋग्वेद १०. ९८. ११ पर सायण : 'कुरु-कुल-जातः शांतनवः', 'कुरुवंश में उत्पन्न शांतनु का एक वंशज'।

औलुण्ड्य, 'उलुण्ड का वंशज'—वंशब्राह्मण[१] में यह *सुप्रतीत* का पैतृक नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

औशिज, 'उशिज् का वंशज', एक पैतृक नाम है जो ऋग्वेद[१] में स्पष्ट रूप से *कक्षीवन्त्* के लिये प्रयुक्त हुआ है। *ऋजिश्वन्*[२] के लिये भी यह प्रयुक्त हुआ

[१] १. १८, १।
[२] १०. ९९, ११।

है; किन्तु लुडविग[3] का विचार है कि इस स्थल पर इसका ठीक-ठीक पाठ 'औशिजस्यर्जिश्वा'—'औशिज का पुत्र ऋजिश्वन्', होना चाहिये। एक मन्त्र[4] में औशिज और कक्षीवन्त् दोनों का ही उल्लेख है किन्तु इस रूप में कि इससे प्रत्यक्षतः दो अलग अलग व्यक्तियों का आशय प्रतीत होता है। दूसरे स्थल पर, जहाँ यह पैतृक नाम अकेले ही आता है, इससे किसका तात्पर्य है यह सन्दिग्ध है, यहाँ तक कि इससे किसी व्यक्तिवाचक नाम का ही आशय है यह भी निश्चित् नहीं[5]। 'कक्षीवन्त् औशिज' पञ्चविंश ब्राह्मण[6] में तथा अन्यत्र भी आता है।

[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४३, १४९।
[4] ऋग्वेद १. ११२, ११।
[5] ऋग्वेद १. ११९, ९; १२२, ४; ४. २१, ६. ७; ५. ४१, ५; ६. ४, ६। तु० कौ० सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[6] १४. ११, १६। देखिये हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५. ५६, नोट, और कक्षीवन्त् नोट १५।

औष्ट्राक्षि, 'उष्ट्राक्ष का वंशज', वंश ब्राह्मण[1] में *साति* के पैतृक नाम के रूप में आता है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२। तु० कौ० वेबर : इन्डियन लिटरेचर ७५।

क

कंस—'धातु के वर्तन' अथवा 'पात्र' का द्योतक यह शब्द अथर्ववेद और अन्यत्र[1] आता है।

[1] अथर्ववेद १०. १०, ५; ऐतरेय ब्राह्मण ८, १०; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १, इत्यादि; निरुक्त ७. २३; शाङ्खायन आरण्यक १२. ८।

ककर यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के एक वलि-प्राणी के नाम के रूप में आता है। जैसा कि भाष्यकार महीधर[2] ने इसका अनुवाद किया है, यह सम्भवतः एक प्रकार के 'पक्षी' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १; वाजसनेयि संहिता २०. २४।
[2] वाजसनेयि संहिता उ० स्था० पर। तु० कौ० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ९४।

ककुठ मैत्रायणी संहिता[1] का एक शब्द है जो अनुमानतः एक प्रकार के पशु का द्योतक है। बौटलिङ्क[2] के अनुसार यह ककुट के समतुल्य है।

[1] ३. १४, १३।
[2] कोश, व० स्था०।

ककुह—ऋग्वेद[1] में अनेक बार आनेवाला यह एक ऐसा शब्द है जो रौथ[2] की समझ से रथ के एक भाग, कदाचित बैठने के स्थान का द्योतक है। 'लुडविग[3] एक अन्य स्थल[4] पर इसे किसी यादव राजा का व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं जिसने *तिरिन्दिर-पर्शु* से युद्धजित द्रव्य लिया था; किन्तु यह विचार कदाचित ही सम्भव है।[5] बहुत कुछ यह सम्भव है कि इस शब्द का अर्थ सदैव 'प्रधान', या 'मुख्य' है जिसका अश्वों, रथों, राजाओं इत्यादि[6] के लिये विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। ग्रासमैन[7] द्वारा इसे यही आशय प्रदान किया गया है और बाद में रौथ[8] ने भी इसे ही ग्रहण कर लिया है।

[1] १. ४६, ३; १८१, ५; १८४, ३; २. ३४, ११; ३. ५४, १४; ५. ७३, ७; ७५, ४; ८. ६, ४८।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद २, १८२; ३, १६०, १६१; ५, १४२।
[4] ८. ६, ४८।
[5] वेबर, ए० रि० ३६, ३७।
[6] ऋग्वेद ८. ४५, १४; ९. ६७, ८; और तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ३, १. २ में निश्चित रूप से ऐसा है, और अक्सर प्राचीन 'ककुभ' रूप में भी।
[7] अपने कोश में, व० स्था०।
[8] बौटलिङ्क का कोश, व० स्था०।

कक्कट—यजुर्वेद संहिताओं[1] में यह केकड़े का द्योतक है, जो बाद के साहित्य[2] में बहुप्रयुक्त कर्कट का 'प्राकृत' रूप है। फिर भी रौथ[3] इस शब्द को एक पक्षी के अर्थ में ग्रहण करते हैं और ककर से तुलना करते हैं। ककुठ भी देखिये।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १ (जहाँ वेबर ने 'कक्कट' माना है); वाजसनेयि संहिता २४. ३२।
[2] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९५।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

कक्ष—जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में यह गुरुओं के रूप में उल्लिखित दो व्यक्तियों का नाम है। इनमें से एक प्रोष्ठपद वारक्य[1] का शिष्य 'कक्ष वारक्य' है और दूसरा दक्ष *कात्यायनि आत्रेय* का शिष्य 'कक्ष वाराकि'[2] अथवा 'वारक्य'[3]। उरुकक्ष भी देखिये।

[1] ३. ४१, १।
[2] ३. ४१, १।
[3] ४. १७, १।

कक्षीवन्त् एक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में बहुधा तथा कभी

[1] १. १८, १; ५१, १३; ११२, ११; ११६, ७; ११७, ६; १२६, ३; ४. २६, १; ८. ९, १०; ९. ७४, ८; १०. २५, १०; ६१, १६।

कभी अन्यत्र[2] भी उल्लेख है। यह उशिज्[3] नामक एक दासी का वंशज प्रतीत होता है। परिवार की दृष्टि से यह अवश्य ही एक पज्र रहा होगा क्योंकि इसके साथ पज्रिय[4] विशेषण लगा हुआ है और इसके वंशज पज्रस्[5] कहे गये हैं। ऋग्वेद[6] के एक सूक्त में यह *सिन्धु* नदी के पास के निवासी राजा *स्वनय भाव्य* की इस बात की प्रशस्ति गाता है कि उन्होंने (स्वनय भाव्य ने) इसे बहुत श्रेष्ठ उपहार दिये थे; और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[7] के नाराशंसों (योद्धाओं की प्रशस्ति) की तालिका में भी 'कक्षीवन्त् औशिज' द्वारा 'स्वनय भाव्यस्य' के सम्मान में एक प्रशस्ति का उल्लेख है। अपनी वृद्धावस्था में इसने *वृचया*[8] नामक एक कन्या को पत्नी के रूप में प्राप्त किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सौ[9] वर्ष तक जीवित रहा, जो वेदों में जीवन के लिये निर्धारित अवधि है। सर्वत्र ऐसा ही विचार व्यक्त प्रतीत होता है कि यह अतीत में रहा होगा और ऋग्वेद[10] के चतुर्थ मण्डल के एक सूक्त में इसका अर्ध-पौराणिक *कुत्स* और कवि *उशनस्* के साथ उल्लेख है। बाद में भी यह अतीत[11] का ही एक गुरु कहा गया है।

ऋग्वेद[12] के एक सूक्त में *दीर्घतमस्* के साथ इसका उल्लेख होने के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में यह उससे किसी प्रकार भी सम्बद्ध नहीं है। किन्तु बृहद्देवता[13] में यह 'दीर्घतमस्' के एक दासी स्त्री 'उशिज्' से उत्पन्न पुत्र के रूप में आता है।

वेबर[14] का विचार है कि 'कक्षीवन्त्' मूलतः ब्राह्मण नहीं वरन् एक क्षत्रिय था, और वह अपने इस मत के पक्ष में यह तथ्य उपस्थित करते हैं कि इसका

[2] अथर्ववेद ४. २९, ५, और नीचे उल्लिखित स्थल।

[3] ऋग्वेद १. १८, १; सम्भवतः १. ११२, ११ भी, किन्तु यहाँ 'औशिज' एक अलग नाम भी हो सकता है (देखिये औशिज)। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११, १६।

[4] ऋग्वेद १. ११६, ७; ११७, ६।

[5] ऋग्वेद १. १२६, ४।

[6] १. १२६।

[7] १६. ४, ५।

[8] ऋग्वेद १. ५१, १३।

[9] ऋग्वेद ९. ७४, ८।

[10] ४. २६, १।

[11] अथर्ववेद ४. २९, ५; १८. ३, १५; ऐतरेय ब्राह्मण १. २१, ६. ७; जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण २. ६, ११।

[12] ८. ९, १०।

[13] ४. ११ और बाद।

[14] इ० स्टि० २२–२५।

पर *आट्णार*, *वीतहव्य श्रायस*, और *त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य*,[15] प्रभृत राजाओं के साथ उल्लेख है। परन्तु यह सभी राजा ही हैं यह भी एक अनावश्यक मान्यता है : इन सभी व्यक्तियों का उक्त स्थलों पर निःसन्देह केवल अतीत के प्रसिद्ध व्यक्तियों के रूप में ही उल्लेख है, जिनके सम्बन्ध में पौराणिक यज्ञ कराने का अध्यारोपण है और जिन्होंने इन यज्ञों से बहुत से पुत्र प्राप्त किये थे।

[15] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ५, ३; काठक संहिता २२. ३; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १६, ३। तु० की० १४. ११, १६; तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २२१, २३६, नोट १; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०२; गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर २३, २४।

कङ्क एक पक्षी का नाम है जो सामान्यतया 'क्रौञ्च'[1] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु कुछ स्थलों पर यह किसी हिंसक पक्षी[2] का भी द्योतक है। सर्वप्रथम यह नाम यजुर्वेद संहिताओं[3] में मिलता है।

[1] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९२।
[2] रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०। तु० की० शाङ्खायन आरण्यक १२.१३।
[3] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ११, १ (कङ्क-चित्, एक चैत्य, जो 'एक क्रौञ्च पक्षी के आकार जैसा बना हो'); वाजसनेयि संहिता २४. ३१; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १२; सामवेद २. ९, ३, ६, १।

कङ्कट एक पशु का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में एक बार उल्लेख है। *सायण* के अनुसार यह हानिकर पशु सम्भवतः, जैसा कि *ग्रासमैन* ने इसका अनुवाद किया है, एक 'विच्छू' है।

[1] १. १९१, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८।

कङ्कटीय एक परिवार का नाम है जिसने शतपथ ब्राह्मण[1] के वर्णनानुसार *शाण्डिल्य* से यज्ञ की अग्नि जलाने (अग्नि-चयन) की विधि सीखा था। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र[2] में एक कङ्कटि ब्राह्मण (ग्रन्थ) का उल्लेख है, जो निःसन्देह इस शाखा की मूल पुस्तक है। यह बौधायन श्रौतसूत्र[3] में उद्धृत 'छागलेय ब्राह्मण' के समान रही होगी।

[1] ९. ४, ४, १७।
[2] १४. २०, ४।
[3] २५. ५। तु. की. कैलेण्ड : ऊ. बौ. ४०।

कङ्क-पर्वन् ('क्रौञ्च जैसे जोड़ों वाला' ?)–अथर्ववेद[1] में एक बार आने वाला

[1] ७. ५६, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९४; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ४२६; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५५३; बौटलिङ्क : कोश, व० स्था०।

यह शब्द एक सर्प के लिये प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इसका अर्थ कदाचित 'बिच्छू' है। यह स्थल भ्रष्ट हो सकता है, क्योंकि पैप्पलाद शाखा में इसका एक भिन्न पाठ (अङ्ग-पर्वणः) है।

कट एक चटाई का द्योतक है जो 'वैतस' की वनी होती थी। वैतस से चटाई वनाने वाले (विदल-कारी) का वाजसनेयि संहिता[2] में उल्लेख है, और इस कार्य के लिये 'वैतस' चीरने की विधि अथर्ववेद[3] में वताई गई है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ३, १२, २। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १३. ३, १, ३।
[2] ३०. ८, महीधर भाष्य सहित। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ५, १ में 'विदल कार' पाठ है।
[3] ६. १३८, ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २५५।

कण्टकी-कारी—'काँटों में कार्य करने वाला'—वाजसनेयि संहिता[1] में यह पुरुषमेध के वलिप्राणियों में से एक है। इसमें सन्देह नहीं कि काँटों को काटकर उनका, चटाईयों (कट) को गूँथने अथवा गद्दों को सिलने के लिये, प्रयोग किया जाता था।

[1] ३०. ८। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ५, १ में 'कण्टक-कार' है। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन २५५।

कण्व एक प्राचीन ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद और वाद[1] में वारवार उल्लेख है। इनके पुत्र और वंशज[2] 'कण्वों' का भी अक्सर, मुख्यतः ऋग्वेद के आठवें मण्डल में, उल्लेख है, जहाँ इस मण्डल तथा प्रथम के भी कुछ अंशों का प्रणयन भी इसी परिवार को अध्यारोपित किया गया है। 'कण्व' का

[1] ऋग्वेद १. ३६, ८. १०. ११. १७. १९; ३९, ७. ९; ४७, ५; ११२, ५; ११७, १८; ११८, ७; १३९, ९; ५. ४१, ४; ८. ५, २३. २५; ७, १८; ८, २०; ४९, १०; ५०, १०; १०. ७१, ११; ११५, ५; १५०, ५; अथर्ववेद ४. ३७, १; ७. १५, १; १८. ३, १५; वाजसनेयि संहिता १७. ७४; पञ्चविंश ब्राह्मण ८. २, २; ९. २, ६; कौषीतकि ब्राह्मण २८. ८। 'कण्ववत्' ऋग्वेद ८. ६, ११; ५२, ८; अथर्ववेद २. ३२, ३ में आता है; 'कण्व-मन्त्' ऋग्वेद ८. २, २२ में।
[2] 'कण्वाः' (वहुवचन) के रूप में, ऋग्वेद १. १४, २. ५; ३७, १. १४; ४४, ८; ४६, ९; ४७, २. ४–१०; ४९, ४; ८. २, १६; ३, १६; ४, २. ३; ५, ४; ६, ३. १८. २१. ३१. ३४. ४७; ७, ३२; ८, ३; ९, १४; ३२, १; ३३, ३; ३४, ४; 'कण्वस्य सूनवः' के रूप में, ऋग्वेद १. ४५, ५; 'पुत्राः' के रूप में ८. ८, ४. ८; 'काण्वायनाः' के रूप में ८. ५५, ४। 'काण्व', ८. १, ८; २, ४०; ४, २०; ७, १९; ९, ३. ९; १०, २ में मिलता है।

एक वंशज इसी नाम के एकवचन द्वारा भी व्यक्त किया गया है जो चाहे अकेले,[3] अथवा पैतृक नाम से युक्त 'काण्व नार्षद'[4] और 'कण्व श्रायस'[5] के रूप में, और इसके अतिरिक्त वहुवचन 'कण्वों सौश्रवसों'[6] के रूप में भी आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कण्व परिवार 'अत्रि' परिवार[7] से तो सम्बद्ध रहा होगा, किन्तु वहुत महत्त्वपूर्ण नहीं था[8]। अथर्ववेद[9] के एक स्थल पर तो इन्हें निश्चित रूप से कुटिल दृष्टि से देखा गया प्रतीत होता है।

[3] उदाहरण के लिये ऋग्वेद १. ४८, ४; ८. ३४, १, और सम्भवतः अन्यत्र भी।
[4] ऋग्वेद १. ११७, ८; अथर्ववेद ४. १९, २; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५०।
[5] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ७, ५; काठक संहिता २१. ८; मैत्रायणी संहिता ३. ३, ९।
[6] काठक संहिता १३. १२। शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ११, २० में 'वत्स काण्व' भी है।
[7] औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २१४।
[8] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २८५। तु० की० १, २०७, ४३८।
[9] अथर्ववेद २. २५। तु० की० पाणिनी ३. १, १४ पर वार्तिक; वर्गेन : रिलीजन वेदिके २, ४६५; हिलेब्रान्ट, उ० पु० १, २०७; औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ११०। तु० की० औल्डेनवर्ग उ० पु० २१६ और वाद; लुडविग : उ० पु० ३, १०५।

कथा—'दार्शनिक वादविवाद' के आशय में इस शब्द का वाद का प्रयोग[1] छान्दोग्य उपनिषद्[2] में मिलता है।

[1] कोलब्रुक : मिसलेनियस एसेज़ १, २९३।
[2] १. ८, १ : 'हन्तोद्गीथे कथां वदाम— अब हमलोग उद्गीथ सम्बन्धी वाद-विवाद आरम्भ करें।'

कद्रू—ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आने वाले इस शब्द की लुडविग[2] एक पुरोहित के नाम के रूप में विवेचना करते हैं, किन्तु अधिक सम्भवतः इसका अर्थ एक सोमपात्र[3] है।

[1] ८. ४५, २६।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६२।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

कनक्कक—अथर्ववेद[1] में एक वार आने वाला यह शब्द या तो एक विष का द्योतक है, अथवा विशेषण है जो विष के प्रकार (काण्डा-विष) के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[1] १०. ४, २२। तु० की० व्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६०४; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५७८।

कना, *कन्या*—इन दोनों शब्दों में से प्रथम अत्यन्त दुर्लभ[1] है, और द्वितीय ऋग्वेद[2] तथा उसके बाद से 'कन्या' अथवा युवती के लिये प्रयुक्त सामान्य शब्द है। यह सन्दिग्ध है कि 'कनीनका' का भी यही अर्थ है अथवा वह केवल आँख के 'कनीनिका'[4] भाग का ही द्योतक है, जैसा कि बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में 'कनीनका' अथवा 'कनीनिका' का आशय है। *स्त्री* भी देखिये।

[1] ऋग्वेद १०. ६१, ५ इत्यादि।
[2] १. १२३, १०; १६१, ५; ३. २३, १० इत्यादि; अथर्ववेद १. १४, २; ११. ५, १८; १२. १, २५ इत्यादि।
[3] रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० इस आशय में ऋग्वेद ४. ३२, २३; १०. ४०, ९; निरुक्त ४, १५ उद्धृत करते हैं; किन्तु ऋग्वेद के इन स्थलों में से कोई भी स्पष्ट नहीं हैं।
[4] देखिये, ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४०१; कीथ : ऐतरेय आरण्यक २०७। अन्य दुर्लभ रूप हैं : 'कन्यना', ऋग्वेद ८. ३५, ५; 'कन्यला', अथर्ववेद ५. ५, ३; १४. २, ५२।

कपना—ऋग्वेद[1] में आने वाले इस शब्द का अर्थ कोई कीड़ा प्रतीत होता है जो वृक्ष की पत्तियाँ नष्ट कर देता है। निरुक्त[2] में भी इसकी ऐसी ही व्याख्या है।

[1] ५. ५४, ६।
[2] ६. ४ (तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९७; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३३०।

कपर्द 'वेणी', *कपर्दिन्* 'वेणी लगाना'—इन शब्दों से बालों की वेणी लगाने की वैदिक प्रथा का तात्पर्य है। इस प्रकार एक कन्या के बालों को चार वेणियों से युक्त (चतुष्-कर्पदा)[1], और देवी 'सिनीवाली' को सुन्दर वेणीवाली (सु-कर्पदा)[2] कहा गया है। पुरुष भी अपने बालों को इसी प्रकार रखते थे क्योंकि रुद्र[3] और पूषन्[4] दोनों को ही वेणीयुक्त कहा गया है; जब कि *वसिष्ठों*[5] की विशेषता दाहिनी तरफ वेणी लगाने वालों (दक्षिणतस्-कपर्द) के रूप में स्पष्ट की गयी है। इसके विपरीत बालों को सादा रखने (पुलस्ति)[6] की प्रथा भी थी। *ओपश* भी देखिये।

[1] ऋग्वेद १०. ११४, ३।
[2] वाजसनेयि संहिता ११. ५६।
[3] ऋग्वेद १. ११४, १. ५; वाजसनेयि संहिता १६. १०. २९. ४३. ४८. ५९।
[4] ऋग्वेद ६. ५५, २; ९. ६७, ११।
[5] ऋग्वेद ७. ३३, १। तु० की० ८३, ८।
[6] वाजसनेयि संहिता १६. ४३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २६४, २६५; मूईर: संस्कृत टेक्स्ट्स ५. ४६२; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ४२४।

१—कपि, 'वन्दर', ऋग्वेद[1] में केवल एक बार 'वृषाकपि' की उपस्थिति में इन्द्र और इन्द्राणी के वार्तालाप में वनमानुष 'वृषाकपि' के सन्दर्भ में आता है। इस स्थल पर इस वन्दर को 'हरित' कहा गया है। अथर्ववेद[2] में वन्दर को अनेक बार 'वालों वाला' और कुत्तों का शत्रु वताया गया है। वृषाकपि-सूक्त में इसकी स्थिति, तथा तैत्तिरीय संहिता[3] में जंगल में रहनेवाले एक *मयु* के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वन्दर पालतू था। *मयु*, *मर्कट* और *पुरुष हस्तिन्* भी देखिये।

[1] १०. ८६, ५। तु० की० औल्डेनवर्ग : रिलीजन देस वेद १७४; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २. २२ और वाद; फान श्रोडर : मि. ३०४ और वाद; शर्मेसेन : डी० गो० २१८ और वाद; तिलक : ओरायन १७०-१९७।

[2] ३. ९, ४; ४. ३२, ११; ६. ४९, १। तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् १. ६, ७ (कप्य-आस : वन्दर के वैठने का स्थान) भी।

[3] ४. २, १०, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ८५, ८६।

२—कपि—सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश के अनुसार यह काठक संहिता में 'लुश खार्गलि' का दूसरा नाम है; किन्तु यह नाम कदाचित *लुशाकपि* ही प्रतीत होता है।

कपिञ्जल—'तीतर' (पक्षी) का यह नाम यजुर्वेद की सभी संहिताओं[1] तथा वाद में भी अवसर मिलता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, १; ५. ५, १६, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४. १; काठक संहिता १२. १०; वाजसनेयि संहिता २४. २०. ३८।

[2] शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३; ५. ५, ४, ४; १३. ५, १, १३; जैमिनीय ब्राह्मण १. १५४, २ (ट्रा० सा० १५, १८१) तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९१।

कपिल श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में वेवर[2] और गार्वे[3] के अनुसार एक गुरु के रूप में आते हैं और इन लोगों का विचार है कि 'कपिल ऋषिः' व्याहृति सांख्य दर्शन के प्रवर्त्तक के सन्दर्भमें ही प्रयुक्त हुई है। किन्तु यह सन्दिग्ध है[4]।

[1] ५. २।

[2] इन्डिशे स्टूडियन १. २४ और वाद; ५, ४१२; इन्डियन लिटरेचर २३६।

[3] सांख्य-फिलॉसफी २७, और वाद; सांख्य तत्त्व कौमुदी का अनुवाद ५३१।

[4] मैक्स मूलर से० बु० ई० २, xli, और ड्यूसन अपने अनुवाद (सेक्ज़िग उप, निषद्स ३०४) में इस शब्द को किसी गुरू का नाम नहीं मानते। ड्यूसन 'कपिल ऋषिः' का अनुवाद 'हिरण्य-गर्भ' का वोधक स्वरूप 'लाल ऋषि' करते हैं।

कपि-वन भौवायन—यजुर्वेद संहिताओं[1] तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में इसका एक गुरु के रूप में उल्लेख है। कात्यायन श्रौतसूत्र[3] में 'कपिवन का द्वयह' (दो दिन का उत्सव) नामक एक संस्कार का भी उल्लेख है।

[1] मैत्रायणी संहिता १. ४, ५; काठकसंहिता ३२. २। [2] २०. १३, ४।
[3] २५. २, ३। तु० की० आश्वालायन श्रौतसूत्र १०. २
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २४; ३, ४७३; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५५, नोट २; हिलेब्रान्ट वेदिशे माइथौलोजी २, १५७।

कपोत ऋग्वेद और उसके बाद[1] आने वाला यह एक पक्षी, सम्भवतः 'कबूतर' (बाद की भाषा में इसका यही आशय है) का नाम है। कुछ स्थलों[2] पर यह निर्ऋति सूचक (दुर्भाग्य, विनाश सूचक) के रूप में उल्लू (उलूक) से सम्बद्ध किया गया है। कबूतर को अपशकुन सूचक पक्षी मानना एक प्राचीन विश्वास पर आधारित है जो भारत के बाहर[3] भी पाया जाता है।

[1] ऋग्वेद १. ३०, ४; अथर्ववेद २०. १३५, १२; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ४; वाजसनेयि संहिता २४. २३. ३८।
[2] ऋग्वेद १०. १६५, १–५; अथर्ववेद ६. २९, २।
[3] तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ २५३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८९; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

कबन्ध आथर्वण—का बृहदारण्यक उपनिषद[1] में *सुधन्वन् आङ्गिरस* के साथ-साथ एक गुरु के रूप में उल्लेख है, किन्तु अर्ध-पौराणिक है। *विचारिन् काबन्धि* इसका पुत्र था।

[1] ६. ७, १। तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. २, ९. १८; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १७६, नोट ४; वेबर : इंडियन लिटरेचर १४९, भी।

कम-द्यू—यह ऋग्वेद[1] में एक बार *विमद* की पत्नी के रूप में आती है। सम्भवतः यह *पुरुमित्र* की कन्या (योषा) के समतुल्य और निःसन्देह उसकी पुत्री है। अन्यत्र[2] भी इसका 'विमद' के सम्बन्ध में ही उल्लेख है जिसने (विमद ने) इसके पिता की इच्छा के विरुद्ध इसे अपनी पत्नी बना लिया था।

[1] १०. ६५, १२।
[2] १. ११७, २०; १०. ३९, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३१०।

कम्बल—अथर्ववेद[1] में यह ओढ़ने के ऊनी कम्बल का द्योतक है।

[1] १४. २, ६६. ६७। तु० की० निरुक्त २. २।

कम्बोज—निरुक्त[1] में यास्क कम्बोजों की भाषा को अन्य आर्यों से भिन्न बताते हैं। बाद में कम्बोज सिन्ध के उत्तर-पश्चिम में बस गये थे। यह लोग पुराने फारसी अभिलेखों में 'कम्बुजिय' के रूप में व्यक्त हैं। वंश ब्राह्मण[2] में *मद्रगार* के शिष्य *काम्बोज औपमन्यव* नामक एक गुरु का उल्लेख है। इसके द्वारा मद्रों अथवा अधिक सम्भवतः, *उत्तर मद्रों* और कम्बोजों के सम्भावित सम्बन्ध का संकेत मिलता है जिनका कदाचित ईरानियों और भारतीयों दोनों से भी सम्बन्ध था।

[1] २. २।

[2] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १०२; वेबर: इन्डिशे स्ट्रीफेन २, ४९३; ३, ३८४; इन्डिशे स्टूडियन १०, ७; ए० रि० ४५; मैक्स मूलर: त्सी० गे० ७, ३७३। भारतीयों और ईरानियों के सम्बन्ध पर देखिये जेकोबी: ज० ए० सो० १९०९, ७२१ और बाद; १९१०, ४५७ और बाद; औल्डेनबर्ग: वही, १०९५ और बाद; कीथ: वही ११०० और बाद; केनेडी: वहीं ११०७ और बाद भी; और पर्शु देखिये।

करञ्ज—यह शब्द, जो सूत्रों और बाद में Pongamia glabra नामक वृक्ष का द्योतक है, ऋग्वेद[1] में केवल दो बार इन्द्र के एक शत्रु के नाम के रूप में आता है। किन्तु यहाँ इससे एक मनुष्य[2] अथवा राक्षस किसका तात्पर्य है यह निश्चित नहीं।

[1] १. ५३, ८; १०. ४८, ८।

[2] त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ६३; लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४९; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी ३, २९२।

करम्भ—ऋग्वेद और बाद[1] में यह एक प्रकार के 'जूस' (रस) का नाम है जो अन्न (*यव*) से बनता था और जिसके लिये यव को तृण-रहित करके थोड़ा सुखा कर पीस[2] लिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि कृषि के देवता होने के कारण यह पूषन् का विशेष यज्ञ-भाग होता था। करम्भ 'जौ' (*उपवाक*)[3] अथवा तिल (*तिर्य*)[4] का भी बनाया जाता था।

[1] ऋग्वेद १. १८७, १६; ३. ५२, ७; ६. ५६, १; ५७, २; ८. १०२, २; अथर्ववेद ४. ७, २. ३; ६. १६, १; तैत्तिरीय संहिता ३. १, १०, २; ६. ५, ११, ४ इत्यादि।

[2] शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, १४; ४. २, ४, १८। तु० की० श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३१७; ऐग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, ३९५, नोट १।

[3] वाजसनेयि संहिता १९. २२।

[4] अथर्ववेद ४. ७, ३; किन्तु देखिये ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ३७७; हिट्नेः अथर्ववेद का अनुवाद १५५। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २७०।

करिक्रत—त्सिमर[1] के अनुसार यह अथर्ववेद[2] में एक सर्प का द्योतक है।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन ९५।
[2] १०. ४, १३। पैप्पलाद शाखा के पाठ में 'कनिक्रद' है।

करीर—एक पत्तीविहीन झाड़ी (Capparis aphylla) अथवा उसके फल का नाम है जो सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता[1] में आता है।

[1] २. ४, ९, २; काठक संहिता ११. ११; ३६. ७; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, ११।

करीष—शतपथ ब्राह्मण[1] में यह गोबर के सूखे उपलों का द्योतक है। अथर्ववेद[2] द्वारा यह प्रकट होता है कि खेतों के लिये पशुओं की प्राकृतिक खाद का महत्त्व स्वीकार किया जाता था।

[1] २. १, १, ७।
[2] अथर्ववेद ३. १४, ३. ४; १९. ३१, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३६।

१—कर्कन्धु—यजुर्वेद संहिताओं और उसके बाद[1] से यह 'बदरिक' वृक्ष (Zizyphus jujuba) और उसके फल के लिये सामान्य शब्द है। इसका फल लाल (रोहित)[2] होता है। कुवल और बदर की तुलना कीजिये, जो फल के द्योतक हैं।

[1] काठक संहिता १२. १०; मैत्रायणी संहिता ३. ११, २; वाजसनेयि संहिता १९. २३. ९१; २१. ३२; २४. २; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, १०; १२, ७, २, ९; ९, १, ५ इत्यादि; जैमिनीय ब्राह्मण २. १५६, ५।
[2] वाजसनेयि संहिता २४. २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४२।

२—कर्कन्धु—ऋग्वेद (१. ११२, ६) में यह केवल अश्विनों के एक आश्रित का नाम है। बदरीक के लिये प्रयुक्त शब्द से इसकी समानता से ऐसा प्रकट होता है कि ऋग्वेद के समय में भी यह ज्ञात था, यद्यपि बदरीक का यहाँ उल्लेख नहीं है।

कर्करि, एक वाद्ययंत्र, सम्भवतः 'वीणा' है जो ऋग्वेद और उसके बाद[1] आता है। मैत्रायणी संहिता[2] उन मवेशियों का उल्लेख करता है जिनके कान पर वीणा जैसा चिह्न (कर्करि-कर्ण्यः) लगा दिया जाता था।

[1] ऋग्वेद २. ४३, ३; अथर्ववेद ४. ३७, ४। तु० की० २०. १३२, ३. ८।
[2] ४. २, ९। तु० की० डेलब्रुक : गुरुपूजा कौमुदी ४८, ४९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २८९।

कर्की—अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर रौथ[2] के विचार के अनुसार यह 'श्वेत गाय' का द्योतक हो सकता है।

[1] ४. ३८, ६. ७। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४१४।

[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश और बौटलिङ्क का कोश, व० स्था०।

कर्ण-शोभन—ऋग्वेद[1] में यह किसी 'कान के आभूषण' का द्योतक है जो प्रत्यक्षतः पुरुषों के उपयोग के लिये होता था। ऋग्वेद[2] के एक अन्य स्थल पर किसी देवता को 'स्वर्ण-कर्ण' कहा गया है। हॉपकिन्स[3] का विचार है कि गले और कलाई के आभूषणों की अपेक्षा कान की बालियों का प्रचलन बाद में आरम्भ हुआ।

[1] ८. ७८, ३।

[2] १. १२२, १४। देखिये १. ६४, १० भी।

[3] ज० अ० ओ० सो० १७, ३५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६२।

कर्ण-श्रवस् आङ्गिरस का पञ्चविंश ब्राह्मण (१३. ११, १४) में साम-गानों के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है और इसके सम्बन्ध में भी वही कथा कही गई है जो *दावसु* के सम्बन्ध में है।

कर्मार, "शिल्पी", का मान्यता सहित वैदिक संहिताओं[1] में अनेक बार उल्लेख है। अथर्ववेद[2] में शिल्पी लोग 'मछली मारनेवाले (धीवानः)' और 'रथ बनानेवाले (रथ-काराः) के साथ आते हैं। यहाँ इन सभी को चतुर कार्यकर्त्ता (मनीषिणः) कहा गया है। इनके सहकारी संगठन द्वारा, जो कदाचित उस समय वर्तमान था,[3] शिल्पियों की सम्भवतः एक अर्ध-जाति या वर्ग विकसित हो चला था।

शिल्पियों की कार्य-प्रणाली और उनके औज़ारों के सम्बन्ध में बहुत कम

[1] ऋग्वेद १०. ७२, २; अथर्ववेद ३. ५, ६; काठक संहिता १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ५; वाजसनेयि संहिता १६. २७; ३०. ७। तु० की० 'कर्मार' ऋग्वेद ९. ११२, २। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४, ३, १।

[2] ३. ५, ६। इस स्थल का ठीक ठीक आशय सन्दिग्ध है। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५२; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त १४४; और ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९२, में इस सन्दर्भ को 'पटु रथ बनानेवाले' (धीवानो रथ-काराः) और 'चतुर शिल्पी' मानते हैं, किन्तु ऐसा अपेक्षाकृत बहुत कम सम्भव है। भाष्यकार 'धीवानः' की मछुओं के रूप में व्याख्या करते हैं। (बाद की भाषा में 'धीवर' का अर्थ चतुर व्यक्ति' तथा 'मछुआ' दोनों ही है)

[3] तु० की० फिक : डी० ग्लो० १८२।

ज्ञात है। इसमें सन्देह नहीं कि यह धातु को अग्नि में गलाते (धमा) थे; इसी कारण इन्हें 'धमातृ'[४] कहा गया है। पक्षियों के परों[५] से निर्मित इनकी धौंकनी का भी उल्लेख है। ये लोग आग पर चढ़ाये जा सकने योग्य धातु-पात्र (घर्म अयसमय)[६] बनाते थे : यहाँ तक कि सोम-प्याला भी कभी-कभी पिटी हुई धातु (अयो-हत)[७] का बना होता था।

[४] ऋग्वेद ५. ९, ५।
[५] ऋग्वेद ९. ११२, २।
[६] ऋग्वेद ५. ३०, १५।
[७] ऋग्वेद ९. १, २। तु० की० त्सिमर : उ० पु० २५२, २५३; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, १९६ और बाद; ऊबर डेन राजसूय १९ और बाद।

कर्वर—अथर्ववेद[१] के एक स्थल पर पाये जानेवाले इस शब्द का अर्थ मछुओं द्वारा पकड़ी गई एक प्रकार की मछली[२] (पौलिश) प्रतीत होता है।

[१] १०. ४, १९।
[२] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९६; ह्विट्नेः अथर्ववेद का अनुवाद ५७८।

कर्षू शतपथ ब्राह्मण[१] में पाया जाने वाला एक दुर्लभ शब्द है, जो 'खाई' या 'नाली' का द्योतक है।

[१] १. ८, १, ३; १३. ८, ३, १०। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक एन्टिक्विटीज़ २८३

कलविङ्क 'गौरैया' पक्षी का नाम है जो यजुर्वेद संहिताओं[१] और अक्सर बाद[२] में भी मिलता है।

[१] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, २; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १; काठक संहिता १२. १०; वाजसनेयि संहिता २४.२०.३१।
[२] शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ४; ५. ५, ४, ५; जैमिनीय ब्राह्मण २. १५४, ३: (ट्रा० सा० १५, १८१); तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९१।

कलश—ऋग्वेद और बाद[१] में यह 'पात्र' अथवा 'घट' के लिये एक साधारण शब्द है। यह पात्र सम्भवतः, या तो लौकी के अथवा मिट्टी (पकी या कच्ची) के बने होते थे क्योंकि यह विदित है कि दोनों प्रकार के ही पात्र

[१] ऋग्वेद १. ११७, १२; ३. ३२, १५; ४. २७, ५; ३२, १९ इत्यादि। अथर्ववेद ३. १२, ७; ९. १, ६; ४, १५; १८. ४, १३ इत्यादि। ऋग्वेद १०. ३२, ९, में सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार यह शब्द एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यह स्थल अत्यन्त संदिग्ध है।

प्रयुक्त होते थे[2]। लकड़ी के सोम-पात्र (द्रोण-कलश) का भी संस्कारों में अक्सर उल्लेख है। कोश भी देखिये।

[2] अथर्ववेद ४. १७, ४; तैत्तिरीय संहिता १. १, ८, १; ४. १, ५, ४; ५. १, ७, २; वाजसनेयि संहिता १. २२; ११. ५९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५३; एग्लिङ्ग से० बु० ई० २६, २५७; ऑर्टेल : ट्रा० सा० १५, १८५, नोट ३; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माईथौलोजी १, १८३ और बाद।

कला—ऋग्वेद[1] और बाद[2] में यह एक संख्यांश, सामान्यतया 'सोलहवें भाग' का द्योतक है। इसका अक्सर *शफ* (आठवें भाग) के सम्बन्ध में उल्लेख है।

[1] ८. ४७, १७।
[2] अथर्ववेद ६. ९६, ३; १९, ५७, १; तैत्तिरीय संहिता ६. १, १०, १; मैत्रायणी संहिता ३. ७, ७; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ३, १; १२. ८, ३, १३ इत्यादि; निरुक्त ११. १२। तु० की० हॉपकिन्स ज० अ० ओ० सो० १६, २७८; त्सिमर आल्टिन्डिशे लेबेन २५९।

१-कलि—देखिये *अक्ष*।

२-कलि ऋग्वेद में दो बार एक वचन[1] में अश्विनों के एक आश्रित के नाम के रूप में तथा एक बार बहुवचन[2] में आता है। इस दूसरे स्थल पर जिन व्यक्तियों से तात्पर्य है वह प्रथम से भिन्न प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद[3] में एक वार गन्धर्वों[4] के साथ साथ 'कलियों' का भी उल्लेख है।

[1] १. ११२, १५; १०. ३९, ८।
[2] ८. ६६, १५।
[3] १०. १०, १३।
[4] यह 'कलि' लोग पासे के खेल से सम्बद्ध हो सकते हैं क्योंकि अथर्ववेद में गन्धर्वों की पत्नी अप्परायें पासे की प्रेमी तथा खेल के लिये सौभाग्यसूचक होती थी। देखिये मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १३५। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ८९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।

कल्प—तैत्तिरीय आरण्यक (२. १०) में यह कल्पसूत्र का द्योतक प्रतीत होता है।

कल्माष-ग्रीव—(चितकबरी ग्रीवा) अथर्ववेद[1] में एक सर्प का नाम है।

[1] ३. २७, ५ (जहाँ पैप्पलाद शाखा में 'कुल्माष-' पाठ है); १२. ३, ५९। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १०, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९४, ९५।

कल्याण—यह पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक आङ्गिरस का नाम है जो 'और्णायव सामन्' का द्रष्टा था।

[1] १२. ११, १०। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६८, नोट २।

कवच—अथर्ववेद[1] और बाद[2] में यह एक 'उरस्त्राण' या 'वक्षस्त्राण' का द्योतक है। इस बात को सिद्ध करने के लिये तो कोई आधार नहीं है कि यह धातु का बना होता था—किन्तु ऐसा बहुत सम्भव है (देखिये *वर्मन्*)। अथर्ववेद[3] में एक 'कवच-पाश' का उल्लेख है जिससे ऐसे कपड़े के कवचों का संकेत हो सकता है जिनसे हिरोडोटस[4] भी परिचित था।

[1] अथर्ववेद ११, १०, २२ (कवचिन्)।
[2] शतपथ ब्राह्मण १३. २, २, ७; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १९, २; निरुक्त ५. २५ (कवच); शतपथ ब्राह्मण १३. १, ६; ३; ४, १, ५; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४८; वाजसनेयि संहिता १६. ४५ (कवचिन्)
[3] ११. १०, २२।
[4] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त १२९, और ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ६५९, केवल 'कवच वस्त्र' ही स्वीकार करते प्रतीत होते है।

कवष का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उन लोगों में से एक होने का उल्लेख है, जिसे और राजा *द्रुह्यु* को, इन्द्र ने *तृत्सुस्* के लिये पराजित किया था। अनुक्रमणी में इसे ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का प्रणेता कहा गया है, जिसके अन्तर्गत दो सूक्त (१०.३२.३३) भी आ जाते हैं जिनमें एक राजा *कुरुश्रवण* और उसके वंशज *उपमश्रवस्* का उल्लेख है। इस उक्ति पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है, और इसे ही त्सिमर[2] और गेल्डनर[3] दोनों ने स्वीकार किया है। त्सिमर का विचार है कि कवष *वैकर्ण* नामक उन मिश्रित जातियों का पुरोहित था जिनमें ही इनके अनुसार 'कुरु क्रिवि' (पञ्चाल) लोग थे, और अपने इसी पद के कारण ऋग्वेद में कवष का इस जाति के प्रतिनिधि के रूप में उल्लेख है। इनका विचार है कि ऋग्वेद १०.३३, ४ की भाषा की सर्वोपयुक्त व्याख्या तभी हो सकती है जब तृत्सुस से पराजित हो जाने पर कुरु-क्रिवियों की निम्न स्थिति को स्वीकार कर लिया जाय। इसके विपरीत, लुडविग[4] का विचार है कि 'कवष' पांच जातियों का पुरोहित था। गेल्डनर[5] के विचार से कवष 'कुरुश्रवण' का पुरोहित था जिसके पुत्र 'उपमश्रवस' द्वारा यह अपमानित

[1] ७. १८, १२।
[2] आल्टिन्डिशे लेवेन १२७।
[3] वेदिशे स्टूडियन २. १५०।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३९।
[5] उ० स्था०।

हुआ था तथा अपने राजकीय अधिपति से दण्ड प्रार्थना स्वरूप इसने ऋग्वेद १०.३३ की रचना की थी। हॉपकिन्स[6] का विचार है कि यह एक राजा था।

ऋग्वेद के ब्राह्मणों[7] में 'कवष ऐलूष' का उल्लेख है जो एक दासी से उत्पन्न ब्राह्मण था और इसी कारण अन्य ऋषियों द्वारा निन्दित हुआ था। यह सम्भवतः ऋग्वेद के 'कवष' के समतुल्य है।

[6] ज० अ० ओ० सो० १५, २६१, २६३।
[7] ऐतरेय ब्राह्मण २. १९; कौषीतकि ब्राह्मण १२. १. ३; तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन ३, ४५९; लैनमैन: संस्कृत रीडर ३८६, ३८७; पार्जिटर: ज० ए० सो० १९०१, ५०।

कश एक अज्ञात पशु का नाम है, जिसका अश्वमेध के एक बलि-प्राणी के रूप में यजुर्वेद संहिताओं[1] में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १; १८, १; वाजसनेयि संहिता २४. २६; ३८। तु० की० मैत्रायणी संहिता ३. १४, ७। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ८४।

कशीका एक पशु का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में एक बार उल्लेख है और जिसकी भाष्यकार सायण ने 'नेवला' या 'अंगूष' के रूप में व्याख्या की है। फिक[2] का विचार है कि इसका अर्थ एक प्रकार की बिल्ली (पूतिशारिजा) है। गेल्डनर[3] इसे 'मादा अङ्गूष' मानते हैं।

[1] १. १२६, ५।
[2] वेज़ेनबर्गर: बीट्रेज ३, १६५; श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक एन्टिक्विटीज़ २४७; तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ८४; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १७, ५७।
[3] ऋग्वेद, ग्लॉसर, ४४।

कशिपु 'चटाई' या 'गद्दे' का द्योतक है जिसे अथर्ववेद[1] के अनुसार स्त्रियाँ 'नरकट' (नड) द्वारा बनातीं थीं। इस कार्य के लिये वह नरकट को पत्थर से पीट कर महीन कर लेती थीं। इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण[2] में एक सोने की चटाई का उल्लेख है।

[1] ६. १३८, ५।
[2] १३. ४, ३, १।

कशु एक राजा का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में 'चैद्य' पैतृक नाम के साथ, अथवा चेदि के वंशज के रूप में उल्लेख है जो उस गायक का उदार प्रतिपालक

[1] ८. ५, ३७। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १२९।

है जो 'चेदियों' की दानशीलता की प्रशस्ति गाता है। न तो यह राजा, और न चेदि लोग ही, वैदिक साहित्य में पुनः आते हैं।

कशो-जू—या तो एक व्यक्तिवाचक नाम, अथवा *दिवोदास* के विशेषण के रूप में यह ऋग्वेद (१.११२,१४) में एक बार आता है। इस शब्द का आशय नितान्त अनिश्चित है।

कश्यप—कछुये का द्योतक यह शब्द अथर्ववेद[1] और अक्सर बाद[2] में भी आता है।

[1] ४. २०, ७।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १८; वाजसनेयि संहिता २४. ३७; शतपथ ब्राह्मण ७. ५, १, ५; ऐतरेय ब्राह्मण २. ६। तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १८, ८६; ब्लूमफील्ड : अ० फा० १७, ४०३।

कश्यप एक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में तो केवल एक बार ही उल्लेख है किन्तु बाद की संहिताओं[2] में अनेक बार आता है। यह सदैव एक पौराणिक व्यक्तित्व है जो अतीत में रहा था। ऐतरेय ब्राह्मण[3] के अनुसार इसने राजा *विश्वकर्मन् भौवन* का अनुलेप किया था, और उपनिषदों[4] में इसका एक ऋषि के रूप में उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[5] में *जनमेजय* के सन्दर्भ में काश्यप लोग भी आते हैं।

[1] ९. ११४, २।
[2] सामवेद १. १, २, ४, १०; ४, २, ३, २ (किन्तु इन स्थलों पर सेन्ट पीटर्स, वर्ग कोश, ब० स्था० प्रजापति के समतुल्य एक दिव्य पुरुष का आशय स्वीकार करता है): अथर्ववेद १. १४, ४; २. ३३, ७; ४. २०, ७; २९, ३; ३७, १; मैत्रायणी संहिता ४. २, ९; वाजसनेयि संहिता ३. ६२।
[3] ८. २१; शतपथ ब्राह्मण १३. ७, १, १५।
[4] बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, ६; जैमिनीय ब्राह्मण ४. ३, १ (एक उद्धरण में)।
[5] ७. २७। तु० की० औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २३५, नोट १।

कश्यप नैध्रुवि का शतपथ ब्राह्मण[1] के अंतिम वंश (गुरुओं की तालिका) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] बृहदाण्यक उपनिषद् ६. ४, ३३ (माध्यंदिन=६. ५, ३, काण्व)।

कष्कष—अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के कीड़े का द्योतक है।

[1] ५. २३, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९८।

कसर्णील अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के सर्प का नाम है। इसका 'कसर्णीर' रूप भी आता है जो तैत्तिरीय संहिता[2] में द्रष्टा 'कसर्णीर काद्रवेय' को व्यक्त करता है।

[1] १०. ४, ५, जहाँ पैप्पलाद शाखा में 'कपर्णील' है।

[2] १. ५, ४, १। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ९८; ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद के सूक्त ६०७।

क-स्तम्भी—शतपथ ब्राह्मण[1] में एक लकड़ी के टुकड़े का द्योतक है जिसका गाड़ी के जूये के अग्रभाग को टिकाने के लिये प्रयोग होता था।

[1] १. १, २, ९। तु० की० कैलण्ड और हेनरी: ल' अग्निष्टोम ४९; एग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, १४, नोट १।

कहोड कौषीतकि[1] अथवा *कौषीतकेय*[1] का शतपथ ब्राह्मण[1], बृहदारण्यक उपनिषद्[2], और शाङ्खायन आरण्यक[1] में याज्ञवल्क्य के समकालीन एक गुरु के रूप में उल्लेख है। तुलना कीजिये *काहोडि*।

[1] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ३, १; शाङ्खायन आरण्यक १५।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ५, १।

काकम्बीर—ऋग्वेद[1] में यह एक प्रकार के किसी उपयोगी वृक्ष का नाम है।

[1] ६. ४८, १७। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ६२।

कात्त-सेनि—पञ्चविंश ब्राह्मण (१४.१, १२) में यह *अभिप्रतारिन्* का पैतृक नाम (कत्तसेन का पुत्र) है।

कात्तीवत—देखिये *नोधस्*

काठक 'कठ' परम्परा से सम्बद्ध कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम है, जिसका यास्क के निरुक्त[1] और अनुपद सूत्र[2] में उल्लेख है। इस नाम की संहिता के एक अंश का एल० वी० श्रोडर[3] ने सम्पादन किया है।

[1] १०. ४।

[2] ३. ११; ७. ११।

[3] (प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के समय तक) दो भाग निकल चुके हैं जिनमें से प्रथम में १ से १८, और दूसरे में १९ से ३० काण्ड हैं। तु० की० इन्डिशे स्टूडियन १, ४४; ३, ४५१; फॉन श्रोडर: काठक संहिता, १९००, १९०९; त्सी० गे० ४९, १४५-१७१; डी० ह० वियना १८९८; त्स्वे०, वियना १८९६।

काण्ठे-विद्धि—(काण्ठेविद्ध का वंशज) का एक गुरु के रूप में वंशब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३८२।

काण्ड-वीणा, एक वाद्य यंत्र, एक प्रकार की वीणा का नाम है जो नड़ों के जोड़ों से बनाई जाती थी। काठक संहिता[1] में महाव्रत समारोह के समय इसके उपयोग का उल्लेख है।

[1] ३४. ५ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७७) तु० की० लाट्यायन श्रौतसूत्र ४. २, ६ | कात्यायन श्रौतसूत्र १३. ३, १६; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १७. ३. १२।

काण्ड्विय का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३·१०,२) में एक उद्गातृ के रूप में उल्लेख है।

काण्व—देखिये *कण्व* : अन्य के अतिरिक्त *देवातिथि*, *मेधातिथि*, *वत्स*, कण्व परिवार के प्रमुख सदस्य थे।

काण्वी-पुत्र का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *कापीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ५, १ (काण्व शाखा)।

काण्वायन ('कण्व' का वंशज) और *काण्व्यायन* ('काण्व्य' का वंशज)—यह दोनों ही पैतृक नाम हैं जो क्रमशः ऋग्वेद[1] और षड्विंश ब्राह्मण[2] में आते हैं।

[1] ८. ५५, ४।
[2] इन्डिशे स्टूडियन १, ३८; ऋग्वेद १. ५१, १; ८. २, ४०, पर सायण।

कात्यायनि—देखिये *दक्ष*

कात्यायनी—यह बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *याज्ञवल्क्य* की दो पत्नियों में से एक का नाम है।

[1] २. ४, १; ४. ५, १. २; बैधायन श्रौतसूत्र २: १५ और बाद में भी एक 'कात्य' आता है। देखिये वेबर : इन्डियन लिटरेचर १३८।

कात्यायनी-पुत्र का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *गोतमी पुत्र* और *कौशिकी पुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। शाङ्खायन आरण्यक[2] में एक गुरु के रूप में 'जातूकर्ण्य कात्यायनीपुत्र' का नाम दिया है।

[1] ६. ५. १ काण्व।
[2] ८. १० तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १३८।

कानान्ध का बौधायन श्रौतसूत्र (२१-१०) में *वध्र्यश्व* के पुत्र के रूप में उल्लेख है।

कानीत—यह ऋग्वेद[1] में *पृथुश्रवस्* का पैतृक नाम (कनीत का पुत्र) है।

[1] ८. ४६, २१. २४। तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ११, २३।

कानीन—अथर्ववेद[1] में प्रत्यक्षतः यह 'कन्या के पुत्र' का द्योतक है। देखये *पति*

[1] ५. ५, ८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३३४।

काण्डा-विष—अथर्ववेद (१०.४, २२) में एक प्रकार के विष का द्योतक है। तु० की० *कनकक*

कापटव सु-नीथ का वंशब्राह्मण[1] में *सुतेमनस् शाण्डिल्यायन* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३८३।

कापिलेय—कापिलेयों और *बाभ्रवों* का ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *शुनःशेप* के गृहीत नाम *देवरात वैश्वामित्र* के वंशज के रूप में उल्लेख है।

[1] ७. १७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २१६, नोट, ४३३।

कापी-पुत्र का बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५, १) की काण्व शाखा के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *आत्रेयीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कापेय (कपि का वंशज)—काठक संहिता[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में कापेयों का *चित्ररथ* के पुरोहितों के रूप में उल्लेख है। *शौनक* भी देखिये।

[1] १३. १२।
[2] २०. १२, ५। तु० की हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५२, ५३; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १५७।

काप्य—(कपि का वंशज) 'सनक' और 'नवक' का पैतृक नाम है। जैमिनीय ब्राह्मण[1] में यह दोनों ही व्यक्ति कल्पित प्रतीत होते हैं जिन्होंने विभिन्दुकीयों के यज्ञ सत्र के समय कार्य किया था। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में यह 'पतञ्चल' का भी पैतृक नाम है। *कैशोर्य* भी देखिये।

[1] ३. २३३।
[2] ३. ३, १; ७, १। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १२६, १३७।

काबन्धि—('कबन्ध' का वंशज) गोपथ ब्राह्मण (१.२, ९.१८) में *विचारिन्* का पैतृक नाम है।

काम-प्रि—('कामप्र' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (८.२१) में *मरुत्त* का पैतृक नाम है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में यह विचार व्यक्त किया गया है कि यज्ञ (यज्ञे) के विशेषण के रूप में इस स्थल पर इसका पाठ 'कामप्रे' ('इच्छाओं की पूर्ति') होना चाहिये।

कामलायन—('कमल' का वंशज) छान्दोग्य उपनिषद् (४.१०,१) में यह *उपकोसल* का पैतृक नाम है।

काम्पील—यजुर्वेद संहिताओं[1] के एक स्थल पर 'काम्पील-वासिनी' विशेषण एक स्त्री के लिये प्रयुक्त हुआ है जो सम्भवतः राजा की 'महिषी' अथवा प्रमुख पत्नी थी और जिसका कार्य अश्वमेध के समय बलि किये गये पशु के बग़ल में सोना था। इस स्थल की ठीक-ठीक व्याख्या नितान्त अनिश्चित है; किन्तु वेबर[2] और त्सिमर[3] दोनों ही 'काम्पील' को यह मानने में सहमत हैं कि वह बाद के साहित्य में प्रचलित 'काम्पील्य' नगर और मध्यदेश स्थित पञ्चालों की राजधानी का नाम था।

[1] तैत्तिरीय संहिता ७.४, १९, १; मैत्रायणी संहिता ३.१२, २०; काठक संहिता, अश्वमेध, ४.८; वाजसनेयि संहिता २३.१८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.९.६; शतपथ ब्राह्मण १३.२, ८, ३।

[2] इन्डिशे स्टूडियन १, १८४; इन्डियन लिटरेचर ११४, ११५।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन ३६, ३७। ऐसा ही लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०४; फॉन श्रोडर : मैत्रायणी संहिता १, xxi; इन्डियन्स लिटरेचर उण्ट कल्चर १६४; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३२१, ३२२, में भी।

काम्बोज—(*कम्बोज* का रहनेवाला) *औपमन्यव* (उपमन्यु का वंशज) का वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२; ए० रि० ४५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १०२।

कारपचव—पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में यह *यमुना* पर स्थित एक स्थान का नाम है।

[1] २५.१०, २३। तु० की० आश्वलायन श्रौतसूत्र १२.६; शाङ्खायन श्रौतसूत्र, १३.२९, २५; कात्यायन श्रौतसूत्र २४.६, १०; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३४।

कारस्कर—यह एक जाति के लोगों का नाम है जिसका बौधायन श्रौत सूत्र[1], तथा आपस्तम्ब[2] और हिरण्यकेशि[3] सूत्रों में उल्लेख है।

[1] २०. १३ (१४)। तु० की० बौधायन धर्मसूत्र १. २, १४।
[2] २२. ६, १८।
[3] १७. ६। तु० की० व्हूलर : से० बु० ई० १४, १४८; कैलेण्ड त्सी० गे० ५६, ५५३।

कारि—वाजसनेयि संहिता[1] में यह पुरुषमेध के बलि प्राणियों में से एक का नाम है, और वहाँ इसे 'हँसी' के लिये समर्पित किया गया है। भाष्यकार महीधर इस शब्द की 'कार्य करने वाले' (करण-शील) के रूप में व्याख्या करते हैं। किन्तु सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश का विचार है कि इसका अर्थ एक 'जय प्रशंसा कारी' व्यक्ति है (जैसा कि 'कृ' 'प्रशंसा करना' धातु से व्युत्पन्न होता है)।

[1] ३०. ६, २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १। [2] वाजसनेयि संहिता उ० स्था० पर।

कारीरदि—उद्गीथ (सामवेद गायन) सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण रखने वाले के रूप में यह जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२.४,४) में उल्लिखित एक व्यक्ति का नाम है।

कारु—'कवि', एक शब्द है जो प्रायः ऋग्वेद[1] तक ही सीमित है। इस बात का प्रमाण है कि कवि को उसी प्रकार एक व्यवसायी व्यक्ति समझा जाता था जैसे चिकित्सक (*भिषज्*)[2] को। इसमें सन्देह नहीं कि कवि मुख्यतः राजाओं के दरबार में उनके सेवकों[3] के बीच रहते थे, यद्यपि, सम्भवतः यह लोग धनी व्यापारियों की प्रशंसा में भी गाते रहे होंगे। कवि और पुरोहित में सम्भवतः कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं था। यद्यपि पुरोहित भी अक्सर कवि होता था, तथापि कविता पुरोहित जाति तक कदाचित् ही सीमित रही होगी। यह सत्य है कि अश्वमेध के समय शतपथ ब्राह्मण[4] निश्चित रूप से यह आवश्यक बताता है कि स्तुति वाक्यों का एक गायक 'राजन्य' होना चाहिये जब कि दूसरा ब्राह्मण, और दोनों ही स्वरचित पद्यों को गायें।

[1] १. १४८, २; १६५, १२; १७७, ५; १७८, ३; २. ४३, १; ३. ३३, ८; ३९, ७; ५. ३३, ७; ७. २७; ६८, ९; ७२, ४ इत्यादि; मैत्रायणी संहिता १. ८, ७; गोपथ ब्राह्मण १. २, २१।
[2] ९. ११२, ३।
[3] ७. ७३, १।
[4] १३. १, ५, १; ४, ३, ५।

अनेक दशाओं[5] में अनुक्रमणी ऋग्वेद के सूक्तों को राजाओं को आरोपित करती है; और यद्यपि, यह अक्सर केवल उसी प्रकार की पद्धति[6] हो सकती है जिसने शूद्रक को मृच्छकटिक का अथवा हर्ष को रत्नावली का लेखक बना दिया है, और इस प्रकार हमें ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्तों[7] के राजकीय गुरु प्रदान किये हैं, तथापि अब्राह्मणों के कवि होने में भारतीय परम्परा प्रत्यक्षतः किसी प्रकार की भी असंगति नहीं मानती थी। फिर भी पवित्रेतर अधिकांश काव्य प्रायः लुप्त हो गये क्योंकि, जिसरूप में आज है, महाकाव्य बाद के काल की कृति है। *ऋषि* भी देखिये।

[5] उदाहरण के लिये, १०. ९२ **शार्यात मानव** को आरोपित है।
[6] देखिये पिशल : वेदिशे स्टूडियन ३,२०२
[7] वेबर : ए० रि० २०, नोट ४, अथर्ववेद २० में क्षत्रिय चरित्र की छाया देखते हैं। यह **विश्वामित्र** और **काक्षीवन्त्** को भी क्षत्रिय मानते हैं, किन्तु इसके लिये कदाचित ही आधार है। तु० की० **वर्ण**।

कारोतर—ऋग्वेद[1] और अक्सर बाद[2] में यह *सुरा* नामक द्रव्य को साफ करने के लिये प्रयुक्त 'चलनी' या 'छनने' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] १. ११६, ७।
[2] वाजसनेयि संहिता १९. १६. ८२; शतपथ ब्राह्मण १२. ९, १, २; कौषीतकि ब्राह्मण २. ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २८०।

कारोती का शतपथ ब्राह्मण (९.५,२,१५) में एक स्थान, अथवा सम्भवतः एक नदी के रूप में उल्लेख है जहाँ *तुर कावषेय* ने एक अग्नि-चैत्य—अर्थात् अग्नि-पूजा के एक श्रेष्ठ स्थन का निर्माण कराया था।

कार्शकेयी-पुत्र—(कार्शकेयी का पुत्र) बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में उल्लिखित एक व्यक्ति का नाम है। काण्व (६.५,२) शाखा में यह *प्राचीनयोगीपुत्र* का शिष्य है; माध्यंदिन (६.४,३३) शाखा में इसके गुरु का नाम *प्राश्नीपुत्र आसुरिवासिन्* है।

कार्षणायस (काली धातु) उपनिषदों[1] में मिलने वाले इस शब्द का स्पष्टतः 'लोहा' अर्थ होना चाहिए। देखिये *अयस्*

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७,७; ६. १, ५ जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १७, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५२।

कार्ष्मन्—एक शब्द है जिसका शब्दार्थ 'हलरेखा' (हल की लीक) है और यह केवल ऋग्वेद[1] में ही मिलता है। यह रथ की दौड़ में चरम लक्ष्यस्थान का द्योतक है। प्रतिस्पर्धार्थीगण इसके चारों ओर से घूम कर पुनः आरम्भ-स्थान[2] पर आ जाते थे।

[1] १. ११६, १७; ९. ३६, १; ७४, ८।
[2] अथर्ववेद २. १४, ६। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २९१, २९२।

कार्ष्मर्य—एक वृक्ष (Gmelina arborea) का नाम है जिसका तैत्तिरीय संहिता[1], मैत्रायणी संहिता[2]; और शतपथ ब्राह्मण[3] में अक्सर संकेत है।

[1] ५. २, ७, ३. ४; ६. २, १, ५।
[2] ३. २, ६; ७, ९।
[3] ३. ४, १, ६; ८, २, १७; ४. ३, ३, ६; ७. ४, १, ३७। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ६२।

काल—'समय' के लिए सामान्य व्याहृति सर्वप्रथम ऋग्वेद[1] में आती है जहाँ यह दसवें मण्डल के उत्तरार्ध में केवल एक बार प्रयुक्त हुई है। अथर्ववेद[2] इससे परिचित है जिसमें 'काल' का समय के रूप में 'भाग्य' का आशय विकसित हो चुका था। पहले प्रयुक्त *ऋतु* के स्थान पर ब्राह्मणों[3] में भी यह शब्द बहुधा आता है। समय का अपेक्षाकृत अधिक सामान्य विभाजन अतीत (भूत); वर्त्तमान (भवत्) और भविष्य (भविष्यत्)[4] है। अन्य प्रकार के विभाजनों के लिये देखिये *अहन्, मास, संवत्सर।*

[1] १०. ४२, ९।
[2] १९. ५३. ५४।
[3] शतपथ ब्राह्मण १. ७, ३, ३; २. ४, २, ४; ३. ८, ३, ३६; ७. २, २, २१ इत्यादि।
[4] उदाहरण के लिये शाङ्खायन आरण्यक ७. २०।

कालका—यजुर्वेद संहिताओं[1] में यह अश्वमेध के बलि प्राणियों में से एक का नाम है जिसे विभिन्न प्रकार से कभी पक्षी[2] अथवा कभी एक जीव (Chameleon)[3] के समतुल्य बताया गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १६; वाजसनेयि संहिता २४. ३५।
[2] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर महीधर।
[3] तैत्तिरीय संहिता उ० स्था० पर सायण। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ९९।

काल-काञ्ज—अथर्ववेद[1] में कालकाञ्जों के आकाश में होने का उल्लेख है। रौथ[2] और त्सिमर[3], दोनों का ही विचार है कि इससे किसी नक्षत्रपुञ्ज का अर्थ है। किन्तु इन्द्र के एक विजय अभिमान[4] में कालकाञ्जों की पराजय के कारण अथर्ववेद के उक्त स्थल के सम्बन्ध में इस व्याख्या पर जोर दिया जाय या नहीं यह सन्दिग्ध है। ह्विट्ने[5] ने यह विचार व्यक्त कया है कि इससे मृगशिरा के तीन तारों, और ब्लूमफील्ड[6] के अनुसार सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल अथवा सामान्यतया सभी तारों से तात्पर्य है।

[1] ६. ८०, २।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[3] आल्टिन्डिशे लेवेन ३५३।
[4] काठक संहिता ८. १। तु० की मैत्रायणी संहिता १. ६, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, २, ४-६; कौपीतकि उपनिषद् ३. १, भी।
[5] अथर्ववेद का अनुवाद ३४१।
[6] अथर्ववेद के सूक्त ५००; ज० अ० ओ० सो० १५, १६३-१६९। तु० की० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन १, ४१०, ४१४, और वाद; ऑर्टेल: ज० अ० ओ० सो० १९, १२१।

कावषेय ('कवष' का वंशज)—यह नित्य ही तुर का पैतृक नाम है। ऋग्वेद आरण्यकों[1] में दार्शनिक विषयों के गुरुओं के रूप में भी कावषेयों का उल्लेख है।

[1] ऐतरेय आरण्यक ३. २, ६; शाङ्खायन आरण्यक ८. ११। तु० की० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन १, ३९१, नोट; २, ४१८; कीथ: ऐतरेय आरण्यक २५७।

काव्य ('कवि' का वंशज)—यह नित्य[1] ही उशनस् का पैतृक नाम है। पञ्चविंश ब्राह्मण में यह इढत्[2] और उद्गारोरन्ध्र[3] के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

[1] ऋग्वेद १. ५१, ११; ८३, ५; १२१, १२; ६. २०, ११; ८. २३, १७; अथर्ववेद ४. २९, ६; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ८, ५ इत्यादि।
[2] १४. ९, १६।
[3] १३. ९, १९। तु० की० हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ४८, ४९।

काश—रौथ[1] इस शब्द को ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर चटाइयाँ इत्यादि बनाने के लिए प्रयुक्त घास की एक जाति (Saccharum spontaneum)

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[2] १०. १००, १०।

आदिवासियों पर अपेक्षाकृत कम प्रभुत्व के कारण ब्राह्मण संस्कृति प्रायः खो दिया था। फिर भी यह विचार कम सम्भव प्रतीत होता है; यद्यपि शतपथ ब्राह्मण[15] के आर्यों के देशान्तर गमन की कथा की शाब्दिक व्याख्या द्वारा यह विचार पुष्ट हो सकता है।

[15] तु० की० एग्लिङ्ग उ० स्था० १०४, नोट १। तु० की० ग्रियर्सन ज० ए० सो १९०८, ८३७, ११४३; कीथ, वही ८३१, ११३८; औल्डेनबर्ग: बुद्ध, ४०२ और बाद।

काश्यप—(कश्यप का वंशज) एक साधारण पैतृक नाम[1] है जो मुख्यतः *ऋश्यशृङ्ग*, *देवतरस् श्यावसायन*, *शूष वाह्नेय* के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[1] शतपथ ब्राह्मण ७. ५, १, ५; तैत्तिरीय आरण्यक २. १८; १०. १, ८ इत्यादि।

काश्यपी-बालाक्या-माठरी-पुत्र (काश्यपी, बालाक्या, और माठरी का पुत्र)—यह विचित्र नाम बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में एक गुरु के लिये आया है जो *कौत्सीपुत्र* का शिष्य था।

[1] ६. ४, ३१ (माध्यंदिन शाखा)

काषायण—का बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे वंश (गुरुओं की तालिका) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है, जो कि काण्व (४·६, २) के अनुसार 'सायकायन' का शिष्य है और माध्यंदिन शाखा (४·५, २७) के अनुसार 'सौकरायण' का।

काष्ठा—ऋग्वेद[1] में इससे रथ की दौड़ के 'पथ' का आशय प्रतीत होता है। ऋग्वेद[2] और बाद[3] में इसका अर्थ *कार्ष्मन्* की भाँति दौड़ में घूमने के अभीष्ट स्थल अथवा अन्तिम अभीष्ट (परमा-काष्ठा) भी है।

[1] १. ३७, १०; ६५, ३; ४. ५८, ७; ६. ४६, १; ७. ९३, ३; ८. ८०, ८; ९. २१, ७।

[2] १०. १०२, ९ का यही अर्थ मानना चाहिये।

[3] अथर्ववेद २. १४, ६; तैत्तिरीय संहिता, १. ६, ९, ३; वाजसनेयि संहिता ९. १३; ऐतरेय ब्राह्मण ४. ७; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ७, २ इत्यादि।

तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन २९१, २९२; मैक्स मूलर से० बु० ई० ३२, ७७।

कास्, *कास*, *कासा*, *कासिका*—एक ही शब्द के यह चारों रूप[1] 'खाँसी'

[1] कास्: अथर्ववेद १. १२, ३; ५. २२, १०; कास: अथर्ववेद ५. २२, ११ (सम्भवतः); कासा: अथर्ववेद ६. १०५, १ और बाद; कासिका: अथर्व वेद ५. २२, १२; ११. २, २२।

के द्योतक हैं जिनका अथर्ववेद में सर दर्द[2] के साथ होने, ज्वर (*तक्मन्*)[3] में एक लक्षण के रूप में, और एक स्वतन्त्र रोग[4] के रूप में उल्लेख है।

[2] अथर्ववेद १. १२, ३।
[3] ५. २२, १०।
[4] ६. १०५। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेवेन ३८५; ग्रॉह्लैन : इन्डिशे स्टूडियन ९, ३९४; जॉली : मेडिसिन् ८९।

काहोडि ('काहोड' का वंशज)—काठक संहिता (२५.५) में यह *अर्गल* का पैतृक नाम है।

किंशुक—ऋग्वेद[1] के विवाह सूक्त में एक वृक्ष (Butea Frondosa) का नाम है, जहाँ विवाह-रथ को इसके पुष्पों (सु-किंशुक) से सजाये जाने का वर्णन है।

[1] १०. ८५, २०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ६२। सायण के विचार से इसका अर्थ यह है कि रथ इस वृक्ष की लकड़ी का बना होता था।

किकि-दीवि एक प्रकार के पक्षी, सम्भवतः नीलकण्ठ[1] का द्योतक है। भाष्यकार के अनुसार तैत्तिरीय संहिता[2] में इसका अर्थ तीतर (तित्तिरि) है।

[1] रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। देखिये ऋग्वेद १. ९७, १३।
[2] ५. ६, २२, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९२; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज् २५१।

कितव—'जूआ खेलने वाला'—का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बहुधा उल्लेख है। एक पिता द्वारा अपने पुत्र को जूआ खेलने के कारण[3] ताड़ना देते हुये कहा गया है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि अपने परिवार सहित जूआ खेलने वाला दासत्व के स्तर तक गिर जाता था—जो अनुमानतः अपना ऋण चुकाने के लिये[4] अपने को बेच देने के कारण ऐसा बन जाता था। यजुर्वेद संहिताओं में विभिन्न प्रकार के जूआ खेलने वालों के जो पारिभाषिक नाम[5] दिये हैं वह यह हैं : आदिनव-दर्श, कल्पिन्, अधि-कल्पिन्, और सभा-स्थाणु। इन नामों में से किसी की भी विश्वासपूर्वक[6] व्याख्या नहीं की जा सकती,

[1] २. २९, ५; ५. ८५, ८; १०. ३४, ३. ७. १०. ११. १३।
[2] अथर्ववेद ७. ५०, १; १०९, ३; वाजसनेयि संहिता ३०. ८. १८. २२; ऐतरेय ब्राह्मण २. १९ इत्यादि।
[3] ऋग्वेद २. २९, ५। तु० की० पितृ।
[4] ऋग्वेद १०. ३४। तु० की० मानव धर्म सूत्र ८. ४१५ का सम्भवतः 'भक्त-दास'; फिक : डी० ग्ली० १९७।
[5] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ३, १ और बाद; वाजसनेयि संहिता ३०. १८।
[6] तु० की० वेबर : त्सी० गे० १८, २८२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २८४।

यद्यपि अन्तिम को बहुधा[७] एक उपहासात्मक नाम माना गया है जो कि घूत-कक्ष (*सभा*) के प्रति जूआ खेलनेवाले के मोह के कारण 'घूत कक्ष के स्तम्भ' द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। प्रथम का शाब्दिक अर्थ 'दुर्भाग्य देखना'[८] है और इससे जूआ खेलनेवाले द्वारा अपने प्रतिपक्षी की त्रुटि शीघ्रता पूर्वक देख लेने की क्षमता का, अथवा अपने विपक्षी को पराजय देखने की उत्सुकता का संकेत है।

[७] वाजसनेयि संहिता ३०. १८ पर महीधर और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १६, १ पर सायण, ऐसा ही मानते हैं।

[८] तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०; वेवर : उ० स्था०।

किं-पुरुष—शब्दार्थः 'किस प्रकार का व्यक्ति'—ब्राह्मणों[१] में 'बन्दर' के लिये आता है जो मनुष्य की उपहासत्मक अनुकृति है। सम्भवतः वाजसनेयि संहिता[२] में भी जहाँ यह आता है यही आशय देखना चाहिये, और यहाँ रौथ[३] का विचार है कि यह एक उपहासप्रद व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है। मैक्स मूलर[४] इसका अनुवाद 'जंगली' करते हैं।

[१] ऐतरेय ब्राह्मण २. ८; शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, ९; ७. ५, २, ३२।
[२] ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १
[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[४] ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४२०। तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन ९, २४६; ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा ३५६, एग्लिङ्ग से० बु० ई० १२, ५१, नोट ३।

कियाम्बु एक प्रकार के जलीय पौधे का नाम है जिसे ऋग्वेद[१] के अन्त्येष्टि सूक्त के अनुसार उस स्थान पर विकसित होना चाहिये जहाँ मृतकों का शव जलाया जाता था। इस शब्द का अर्थ 'कुछ जल से युक्त' प्रतीत होता है जो सम्भवतः प्रचलित व्युत्पत्ति जन्य[२] है।

[१] १०. १६, १३ = अथर्ववेद १८. ३, ६।
[२] तु० की० सायण को ऋग्वेद उ० स्था० पर और तैत्तिरीय आरण्यक ६. ४, १, २ जहाँ 'क्याम्बु' रूप है। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६२, ब्लूमफील्ड : प्रो० सो० अक्तूबर १८९०, xl।

1. *किरात* एक जाति के लोगों के लिये प्रयुक्त नाम है जो पर्वतों की गुफाओं में रहते थे। वाजसनेयि संहिता[१] में किरातों को गुफाओं (गुहा) को समर्पित किये जाने, और अथर्ववेद[२] में एक किरात बालिका (कैरातिका)

[१] ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४, १२, १।
[२] १०. ४, १४।

जो पर्वतों पर औषधि खोदती है, के सन्दर्भ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है। बाद में[3] किरातों की स्थिति पूर्वी नैपाल में बताई गई है, किन्तु यह नाम किसी भी पहाड़ी जाति, और निःसन्देह आदिवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, यद्यपि मानव धर्म सूत्र[4] इन्हें च्युत क्षत्रिय मानता है।

[3] लासेन : इ० आ० १[2], ५३०, ५३४।
[4] १०. ४४।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३२; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०७; वी० स्मिथ : ज० ए० सो० १९०९, २५८, नोट १; लेवी : ल, नेपाल २, ७७।

२. *किरात*—*असमाति* की कथा में दो पुरोहित आते हैं जो *गौपायनों* के विरोधी हैं और जिनका नाम पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के अनुसार 'किरात' और अकुलि, अथवा शतपथ ब्राह्मण[2] के अनुसार 'किलात' और 'आकुलि' है। इसमें सन्देह नहीं कि नाम का चुनाव एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में नहीं वरन् एक वैर भाव युक्त पुरोहित की उपाधि के लिये किया गया है; क्योंकि यह सम्भवतः उपरोक्त लेख में वर्णित पर्वतीय लोगों के नाम के समतुल्य है।

[1] १३. १२, ५ (जहाँ मूल पाठ 'किरात-कुल्यौ' है)। बौटलिङ्क : कोश व० स्था०, सायण के साथ ही इस शब्द को विशेषण 'किरात-कुल' (किरात के परिवार का) मानते हैं। बृहद्देवता (७. ८६) का पाठ 'किराताकुली' है।
[2] १. १, ४, १४ (यहाँ 'किलाताकुली' पाठ' है)।
तु० की० शाट्यायनक ब्राह्मण 'अपुद्', ऋग्वेद १०. ५७, १; ६०, १ पर सायण; जैमिनीय ब्राह्मण ३. १६७; ज० अ० ओ० सो० १८, ४१ और बाद; हॉपकिन्स ट्रा० सा० १५, ४८, नोट १; भी।

किलात—यह शतपथ, शाट्यायनक, और जैमिनीय ब्राह्मणों[1] में आनेवाले उपरोक्त द्वितीय *किरात* नाम का एक भिन्न रूप है।

[1] पिछले लेख की टिप्पणी २ देखिये।

किलास—अथर्ववेद[1] और वाजसनेयि संहिता इत्यादि[2] में यह एक व्याधि, 'श्वेतकुष्ठ' का नाम है। इसके परिणाम स्वरूप शरीर की समस्त त्वचा पर भूरे (पलित) और सफेद (शुक्ल, श्वेत) धब्बे पड़ जाते हैं। हॉग ने एतरेय

[1] १. २३, २४।
[2] ३०. २१; पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, १७; २३. ११, ११; तैत्तिरीय आरण्यक ५. ४, १२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३९१; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २६६; जौली : मेडिसिन ९८; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६८।

ब्राह्मण[3] में 'अलस' को भी यही आशय प्रदान किया है, किन्तु यह संदिग्ध है। ऋग्वेद[4] के एक स्थल पर स्त्रीलिङ्ग 'किलासी' को मैक्स मूलर 'चितकबरे मृग' के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

[3] ६. ३३, ५।

[4] ५. ५३, १।

कीकट—इस जाति के लोगों का नाम ऋग्वेद[1] के केवल एक स्थल पर आता है जहाँ यह लोग गायक के प्रति विद्वेषी, तथा *प्रमगन्द* के नेतृत्व में आते हैं। यास्क[2] का निश्चय है कि 'कीकट' एक अनार्य-देश का नाम है, और बाद में[3] मगध के पर्यायवाची के रूप में 'कीकट' दिया गया है। अतः सिमर[4] का निष्कर्ष है कि कीकट एक अनार्य जाति के लोग थे जो उस देश में रहते थे जो बाद में मगध के रूप में प्रचिलित हुआ। वेबर[5] का विचार है कि यह लोग मगध में तो रहते थे किन्तु आर्य थे, यद्यपि अन्य आर्य जातियों से भिन्न थे; जिसका कारण सम्भवतः वैधर्मिक प्रवृत्तियाँ थीं, क्योंकि बाद में मगध बौद्ध मत का केन्द्र बन गया। किन्तु यह समीकरण अनिश्चित है और औल्डेनबर्ग[6] तथा हिलेब्रान्ट[7] ने इस पर सन्देह प्रकट किया है।

[1] ३. ५३, १४।

[2] निरुक्त ६. ३२।

[3] सेन्टपीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।

[4] आल्टिन्डिशे लेबेन ३१, ११८। तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद कमेन्टर ५८।

[5] इन्डिशे स्टूडियन १, १८६; इन्डियन लिटरेचर ७९, नोट *।

[6] बुद्ध ४०२, ४०३; ऋग्वेद-नोटेन १, २५३

[7] वेदिशे माइथौलोजी १, १४-१

कीट—कीड़े की एक जाति का नाम है जिसका अथर्ववेद[1] और अक्सर उपनिषदों[2] में भी उल्लेख है।

[1] ९. ४, १६।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १९; २, १४; छान्दोग्य उपनिषद् ६. ९, ३; १०, २; ७. २, १; ७, १ कौषीतकि उपनिषद् १. २ इत्यादि।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८।

कीनाश—यह हलवाहों अथवा खेती करनेवाले कृषकों का नाम है जो ऋग्वेद[1] और बाद की संहिताओं[2] में आता है। *कृषि* देखिये।

[1] ४. ५७, ८।

[2] अथर्ववेद ४. ११, १०; ६. ३०, १; वाजसनेयि संहिता ३०. ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, ८, ७।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३७; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, ४५; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ८६, नोट।

कीरि—ऋग्वेद[1] में यह 'कवि' की नियमित उपाधि है। तुलना कीजिये *ऋषि*।

[1] १. ३१, १३; २. १२, ६; ५ ५२, १२ (कीरिणः, मैक्समूलर: से० बु० ई० ३२, ३१७)। किन्तु देखिये गेल्डनर: ऋग्वेद ग्लॉसर, ४६; पिशल: वेदिशे स्टूडियन १, २२३।

कीर्शा—एक प्रकार के पशु, अथवा सम्भवतः पक्षी, का नाम है जिसका तैत्तिरीय संहिता[1] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] ५. ५, २०, १। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ९९; सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

कीलाल, एक 'मीठे पेय' का द्योतक शब्द है जो बाद की सभी संहिताओं[1] में तो मिलता है किन्तु ऋग्वेद में नहीं। पुरुषमेध[2] के बलिप्राणियों की तालिका में 'सुरा-कार' (सुरा बनाने वाला) 'कीलाल' को समर्पित किया गया है। अतः यह (कीलाल) भी *सुरा* की ही भाँति किसी प्रकार का पेय, सम्भवतः जैसा कि त्सिमर[3] का विचार है, एक प्रकार की मदिरा रहा होगा।

[1] अथर्ववेद ४. ११, १०; २६, ६; २७, ५; ६. ६९, १; १०. ६, २५; १२. १, ५९; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, १२, १३; मैत्रायणी संहिता २. ७, १२; ३. ११, ३. ४; वाजसनेयि संहिता २..३४; ३. ४३; २०. ६५; ३०. ११, इत्यादि।

[2] वाजसनेयि संहिता ३०. ११; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ९, १।

[3] आल्टिन्डिशे लेवेन २८१।

कीश्मील—बौटलिङ्क[1] के अनुसार अथर्ववेद के पैप्पलाद शाखा[2] में यह एक प्रकार की व्याधि का द्योतक है।

[1] कोश, व० स्था०।

[2] १९. ८, ४।

कीस्त—ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर *कीरि* की भाँति इसका अर्थ 'कवि' है।

[1] १. १२७, ७; ६. ६७, १०। तु० की० यास्क: निरुक्त ३. १५।

कुक्कुट—'मुर्गा', यजुर्वेद[1] मात्र[2] में ही आता है।

[1] वाजसनेयि संहिता १. १६। तु० की० त्सिमर: आल्टिण्डिशे लेवेन ९१।

[2] बाद की भाषा में यह साधारण रूप से पाया जाता है।

कुटरु—भाष्यकार महीधर[1] के अनुसार यह कुक्कुट 'मुर्गा' का पर्यायवाची है। यह शब्द केवल यजुर्वेद संहिताओं[2] में ही मिलता है।

[1] वाजसनेयि संहिता २४. २३ पर।
[2] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १; मैत्रायणी संहिता १. १, ६; ३. १४, ४. २०; ४. १, ६; वाजसनेयि संहिता २४. २३, ३९। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ९३।

कुण्ड-पायिन्—(एक कुम्भ से पीना) यह पञ्चविंश ब्राह्मण[1] और सूत्रों[2] में उल्लिखित एक गुरु का नाम है।

[1] २५. ४, ४।
[2] आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. ४, ६; कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ४, २१।

कुन्ड-पाय्य—('कुण्डपायिन्' का वंशज) ऋग्वेद के एक स्थल[1] पर यह *शृङ्गवृष्* नामक व्यक्ति से सम्बन्धित पैतृक नाम है।

[1] ८.१७,१३। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६१; हॉपकिन्सः ज० अ० ओ० सो० १७, ९०।

कुण्डृणाची—एक अज्ञात प्रकार के पशु का नाम है जो यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में आता है। यह शब्द ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर भी आता है जहाँ इससे किसी पक्षी का तात्पर्य प्रतीत होता है, यद्यपि सायण इसकी व्याख्या 'कुटिल-गत्या' के अर्थ में करते हैं। तैत्तिरीय संहिता[3] के अपने भाष्य में यह इस शब्द को घर में पाई जाने वाली छिपकिली 'गृह-गोधिका' का द्योतक मानते हैं।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १६, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १८; वाजसनेयि संहिता २४. ३७।
[2] १. २९, ६।
[3] ५. ५, १६, १। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ८९।

कुत्स ऋग्वेद में अक्सर उल्लिखित एक योद्धा का नाम है जहाँ यद्यपि इसके सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है; क्योंकि उस समय भी यह निसन्देह एक पौराणिक अतीत का व्यक्तित्व था। अनेक बार[1] इसे 'आर्जुनेय', (अर्जुन का वंशज) कहा गया है, और बहुधा[2] 'शुष्ण' को पराजित करने और सूर्य को जीतने के इन्द्र के अभियानों के साथ इसे भी सम्बद्ध किया

[1] ऋग्वेद ४.२६,१; ७. १९, २; ८. १, ११
[2] ऋग्वेद १. ६३, ३; १२१, १९; १७४, ५; १७५, ४; ४. ३०, ४; ५. २९, ४; ६. २०, ५; ७. १९, २; १०. ९९, ९।

गया है। ऐसा वर्णन[3] है कि इसने *स्मदिभ*, *तुग्र* और *वैतसों* को पराजित किया था, किन्तु, इसके विपरीत अनेक बार[4] इसके *अतिथिग्व* और *आयु* के साथ इन्द्र द्वारा पराजित होने का उल्लेख है। एक स्थल[5] पर इसकी पराजय का कारण *तूर्वयाण* बताया गया है। अन्यत्र[6] यह अतिथिग्व के साथ इन्द्र के मित्र के रूप में आता है। बाद के साहित्य में इसका कदाचित[7] ही उल्लेख है जहाँ केवल इसके द्वारा इन्द्र को बाँधने की कथा के सम्बन्ध में इसकी चर्चा है। यह कथा ब्राह्मणों[8] में मिलती है और ऋग्वेद[9] के एक अस्पष्ट मन्त्र पर आधारित है।

कुत्सों अथवा 'कुत्स' के वंशजों का ऋग्वेद[10] के एक सूक्त में उल्लेख है।

[3] ऋग्वेद १०. ४९, ४।

[4] ऋग्वेद १. ५३, १०; २. १४, ७; ८. ५३, २। तु० की० ४. २६, १।

[5] ऋग्वेद १. ५३, १०।

[6] ऋग्वेद १. ५१, ६; ६. २६, ३।

[7] उदाहरण के लिये अथर्ववेद ४. २९, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११, २६।

[8] पञ्चविंश ब्राह्मण ९. २, २२; ऋग्वेद १०. ३८, ५ के सायण पर शाट्यायनक; जैमिनीय ब्राह्मण १. २२८; ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १८, ३१।

[9] १०. ३८, ५।

[10] ७. २५, ५।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११३, १४८; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१०, २११; हिलेब्रान्टः वेदिशे माइथौलोजी ३, २८४ और बाद, जिनका विचार है कि दो कुत्सों–एक इन्द्र का मित्र और दूसरा इन्द्र का शत्रु, को अलग-अलग माना जा सकता है; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, १७१; हॉपकिन्सः ट्रा० सा० १५, ५७ नोट १।

कुत्स औरव ('उरु' का पुत्र) का पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में अपने पारिवारिक पुरोहित *उपगु सौश्रवस* की इसलिये हत्या कर देने का उल्लेख है क्योंकि उसका (पुरोहित का) पिता इन्द्र की स्तुति करने पर ज़ोर देता था। ऋग्वेद[2] के कुछ स्थलों के अनुसार इन्द्र के प्रति *कुत्स* के वैर भाव के साथ इस तथ्य की तुलना की जा सकती है।

[1] १४. ६, ८।

[2] देखिये कुत्स। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २८४; हॉपकिन्स ट्रा० सा० १५, ५७; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ३२।

कुन्ति—*कुन्तियों* का काठक संहिता[1] के एक भ्रष्ट और अस्पष्ट स्थल पर *पञ्चालों* को पराजित करने के रूप में उल्लेख है।

[1] २६. ९। देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७१, और तु० की० सम्भवतः मैत्रायणी संहिता ४. २, ६।

कुबेर वारक्य का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३·४१, १) के गुरुओं की तालिका में *जयन्त वारक्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कुभा ऋग्वेद[1] में दो बार उल्लिखित एक नदी का नाम है और इसमें सन्देह नहीं कि यह आधुनिक 'काबुल' नदी के ही समतुल्य है।

[1] ५. ५३, ९; १०. ७५, ६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।

कुभ्र—यह मैत्रायणी संहिता (२·५, ३) में किसी पशु का नाम है।

कु-मुद—अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर अन्य जलीय पौधों के साथ उल्लिखित यह भी एक पौधे का नाम है। यह निःसन्देह श्वेतकमल (Nymphæa esculenta) है, और वैदिकोत्तर संस्कृत में भी इस पौधे का यही नाम है।

[1] ४. ३४, ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ७०।

कुम्ब का *ओपश* और *कुरीर* के साथ स्त्रियों के केशीय आभूषण के रूप में अथर्ववेद[1] में उल्लेख है। गेल्डनर[2] का विचार है कि इन्हीं दो शब्दों की भाँति मूलतः इसका भी अर्थ 'सींघ' था, किन्तु यह अत्यन्त सन्दिग्ध है। भारतीय परम्परा[3] इसे केवल स्त्रियों के केश-शृङ्गार से सम्बन्धित एक अलंकार मात्र का द्योतक मानती है।

[1] ६. १३८, ३।
[2] वेदिशे स्टूडियन १, १३१।
[3] अथर्ववेद ६. १३८, ३ पर सायण। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५३८, ५३९; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३४८; कैलेण्ड : ऊ० वौ० ५९।

कुम्ब्या अथवा *कुम्व्या*—एक शब्द है जिसका शतपथ ब्राह्मण[1] में ऋच्, यजुस्, सामन् और गाथा के बाद वाणी के एक रूप के द्योतक के लिये उल्लेख है। ऐतरेय आरण्यक[2] में यह ऋच् और गाथा के साथ-साथ नपी हुई वाणी के रूपों में से एक के लिये आता है। इस शब्द का ठीक ठीक अर्थ अज्ञात है। वेबर[3] के विचार से इसका आशय 'संयम' है।

[1] ११. ५, ७, १०।
[2] २. ३, ६।
[3] इन्डिशे स्टूडियन १०, १११, नोट। तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक २२१; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, १०१।

कुम्भ ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में भी बहुधा आने वाला एक शब्द है जो एक 'पात्र' का द्योतक है। सामान्यतया इसमें सन्देह नहीं कि यह मिट्टी का बना होता था और सरलता से टूट[3] जाता था। *उखा* भी देखिये।

[1] १. ११६, ७; ११७, ६; ७. ३३, १३ इत्यादि।
[2] अथर्ववेद १. ६, ४; ३. १२, ७, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १९. ८७, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १०. ८९, ७। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३६७।

कुम्भी-नस—एक पशु का नाम है जिसका तैत्तिरीय संहिता[1] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। जैसा कि बाद के साहित्य में है, इससे सम्भवतः किसी प्रकार के सर्प का आशय है।

[1] ५. ५, १४, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९५; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

कुय-वाच् (दुष्ट-भाषी) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर इन्द्र द्वारा मारे गये एक राक्षस के लिये आता है, और सम्भवतः आर्यों के नृशंस विपक्षियों का प्रतिरूप है। 'मृध्र-वाच्' (अपमानकारी भाषा) व्याहृति भी ऋग्वेद[2] में समान रूप से नृशंसों के लिये ही प्रयुक्त हुई है।

[1] १. १७४, ७।
[2] ५. २९, १०; ३२, ८। देखिये **दस्यु**।

कुरीर भी, *ओपश* और कुम्ब की भाँति, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] के विवाह सूक्त में 'वधू के अलंकारों' के वर्णन में एक प्रकार के सर के आभूषण का द्योतक है। यजुर्वेद संहिताओं[3] के अनुसार देवी सिनीवाली का सिर पर सुन्दर आभूषण पहने हुए 'सु-कपर्दा' सु-कुरीर, 'स्व्-ओपशा' विशेषणों सहित वर्णन है।

गेल्डनर[4] के अनुसार इस शब्द का मौलिक अर्थ 'सींघ' था; किन्तु यह अनिश्चित है, क्योंकि उन सभी स्थलों पर जहाँ यह शब्द आता है[5] इस आशय की आवश्यकता नहीं।

[1] १०. ८५, ८।
[2] ६. १३८, ३।
[3] तैत्तिरीय संहिता ४. १, ५, ३; मैत्रायणी संहिता २. ७, ५; वाजसनेयि संहिता ११. ५६।
[4] वेदिशे स्टूडियन १. १३१, १३२।
[5] गेल्डनर द्वारा उद्धृत गोपथ ब्राह्मण १. ३, २१ (= वैतानसूत्र ११. २२), नितान्त अस्पष्ट है।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५३९; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३४८; कैलेण्ड : ऊ०बौ० ५९।

कुरीरिन् (*कुरीर* धारण किये हुए) अथर्ववेद[1] के एक सन्दिग्ध स्थल पर आने वाला शब्द है। इस स्थल पर संज्ञा के रूप में इसका 'शिखायुक्त पशु', सम्भवतः जैसा कि त्सिमर[2] का विचार है, 'मोर' अर्थ हो सकता है; अथवा यह *अज* (बकरा) शब्द का विशेषण भी हो सकता है, जिस दशा में इसका अर्थ 'सींघयुक्त' होना चाहिये। किन्तु इस द्वितीय सम्भावना की दशा में भी ठीक उसी प्रकार इस शब्द का एक लाक्षणिक प्रयोग पर्याप्त प्रतीत होता है, जैसा कि पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में पशुओं की सींघ से सम्बद्ध *ओपश* का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार गेल्डनर[4] का यह विचार निरर्थक हो जाता है कि *कुरीर* का मूल अर्थ 'सींघ' है।

[1] ५. ३१, २।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन ९१।
[3] १३. ४, ३।
[4] वेदिशे स्टूडियन १, १३०। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४५७, ५३९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, २८५; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २७९।

कुरु—ब्राह्मण साहित्य में कुरु लोग निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कुरुओं अथवा संयुक्त रूप से कुरु-पञ्चालों के देश में ही प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना[1] हुई थी। कुरुओं का कदाचित ही कभी अकेले उल्लेख है, और बहुधा इनका नाम पञ्चालों के साथ संयुक्त रूप से मिलता है। इसका कारण इन दोनों जाति के लोगों के बीच का घनिष्ट सम्बन्ध ही है। कुरु-पञ्चालों का अक्सर स्पष्ट रूप से एक सम्मिलित राष्ट्र[2] के रूप में उल्लेख है। कुरु-पञ्चालों की भूमि ही वाणी का विशेष गृह[3] कही गयी है; कुरु-पञ्चालों की यज्ञ-पद्धति भी सर्वश्रेष्ठ[4]

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण के लिये, तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ४९, ५०, साथ ही वेबर : इन्डियन लिटरेचर ६७, ६८; ऐतरेय ब्राह्मण और शाङ्खायन ब्राह्मण के लिये वेबर : उ० स्था० ४५; ऐतरेय और शाङ्खायन आरण्यकों के लिये, कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ३८७; शतपथ ब्राह्मण के लिये वेबर : उ० स्था० १३२, ट्रा० ए० १८९५, ८५९। जैमिनीय ब्राह्मण बार बार कुरु-पञ्चालों का उल्लेख करता है, जिनका नाम बाद के और अस्पष्ट गोपथ ब्राह्मण में भी आता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के लिये देखिये १. ८, ४, १. २, और मैत्रायणी संहिता के लिये ४. २, ६।
[2] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ७, ६; ८, ७; ४. ७, २; कौषीतकि उपनिषद् ४. १; गोपथ ब्राह्मण १. २, ९; काठक संहिता १०. ६; वाजसनेयि संहिता ११. ३, ३ (काण्व शाखा)।
[3] शतपथ ब्राह्मण ३. २, ३, १५।
[4] वहीं, १. ७, २, ८; तु० की० 'कुरु-वाजपेय'—शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. ३, १५; लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ११, १८ में।

घोषित की गई है। कुरु-पञ्चाल राजा राजसूय यज्ञ[५] करते थे। इस देश के राजा शिशिर ऋतु में आक्रमण के लिये निकलते थे और ग्रीष्म ऋतु[६] में वापस आते थे। बाद में कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मण-लोगों की उपनिषदों[७] में प्रसिद्धि है। वेबर[८] और ग्रियर्सन[९] ने वैदिक साहित्य में इस बात के चिह्न प्राप्त करने का प्रयत्न किया है कि इन दोनों जातियों में विभेद था। इस तथ्य में बाद के विद्वान् इस सिद्धान्त की पुष्टि देखते हैं कि कुरु भारत में बाद में आकर बसने वाले लोग थे जो ब्राह्मण-विरोधी पञ्चालों के विपरीत मुख्यतः ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। इस मत के समर्थन में वेबर काठक संहिता[१०] में वर्णित *वाक दाल्भ्य* और *धृतराष्ट्र वैचित्रवीर्य* के बीच विवाद की कथा का उल्लेख करते हैं, जिसमें से प्रथम व्यक्ति पञ्चाल माना गया है और द्वितीय एक कुरु। किन्तु इस स्थल पर कुरु और पञ्चालों में किसी प्रकार के संघर्ष का कोई संकेत नहीं मिलता वरन् केवल किसी सांस्कारिक प्रश्न पर एक पुरोहित और एक राजा के बीच हुये विवाद का विवरण मात्र सुरक्षित है। यही स्थल कुरु-पञ्चालों के बीच 'नैमिषीय' यज्ञ का भी उल्लेख करता है और इन दोनों जातियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पर ज़ोर देता है।[११] दूसरे, वाजसनेयि संहिता[१२] में वेबर का अनुमान है कि *काम्पील* की *सुभद्रिका* इस वंश के पड़ोस में रहने वाली जाति के उस राजा की प्रमुख पत्नी थी जिसके लिये इस संहिता में वर्णित्त अश्वमेध यज्ञ किया गया था। किन्तु इस स्थल की वेबर की व्याख्या अत्यधिक सन्दिग्ध[१३] है; और इस संहिता के काण्व शाखा[१४] में राजसूय के समय प्रयुक्त एक स्थल यह स्पष्ट करता है कि कुरु-पञ्चाल दोनों का एक ही राजा था। साथ ही साथ शतपथ ब्राह्मण[१५] में इसका भी प्रमाण है कि पञ्चालों का प्राचीन नाम *क्रिवि* था। यह शब्द

[५] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, २, ३. ५।

[६] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ४, १. २।

[७] जैमिनीय ब्राह्मण २. ७८; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ३०, ६; ४. ६, २; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. १, १; ९, २० इत्यादि।

[८] इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७०; इन्डियन लिट्रेचर ११४।

[९] ज० ए० सो० १९०८, ६०२-६०७; ८३७-८४४।

[१०] १०. ६। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xli।

[११] देखिये कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ८३१-८३६; ११३८-११४२।

[१२] २३. १८।

[१३] एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३२२।

[१४] ११. ३, ३। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर ११४, नोट *।

[१५] १३. ५, ४, ७।

बहुत कुछ 'कुरु' का ही विभेद प्रतीत होता है और त्सिमर[16] ठीक ही अनुमान करते हैं कि—'कुरु' और 'क्रिवि' लोग मिलकर ही ऋग्वेद के *वैकर्ण*[17] थे। ऐसा मानने का मुख्य आधार यह है कि यह दोनों ही लोग सिन्धु और असिक्नी[18] के निकट पाये गये हैं।

कुरुओं द्वारा अधिकृत प्रदेश *कुरुक्षेत्र* के सम्बन्ध में मुख्यतः केवल कुरुओं का ही उल्लेख है। फिर भी कुरुओं और *सृञ्जयों*[19] दोनों की ही सेवा करने वाले एक ही पारिवारिक पुरोहित का उल्लेख मिलता है—जिससे यह स्पष्ट है कि यह दोनों एक समय घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध[20] थे। छान्दोग्य उपनिषद् में एक अश्वा[21] द्वारा कुरुओं की रक्षा और एक भयंकर तूफान[22] में इनके विपत्तिग्रस्त होने का उल्लेख है। सूत्रों में पुनः कुरुओं के वाजपेय कृत्य का उल्लेख है।[23] इनको दिये गये एक श्राप की भी चर्चा है,[24] जिसके फलस्वरूप यह लोग कुरुक्षेत्र से भगा दिये गये थे। यही तथ्य सम्भवतः महाकाव्य परम्परा में कौरवों के दुर्भाग्य को प्रतिबिम्बित करता है।

ऋग्वेद में एक जाति के रूप में 'कुरु' इस नाम से नहीं आते। किन्तु एक राजा *कुरुश्रवण* (कुरुओं का प्रताप)[25] का, और एक *पाकस्थामन् कौरयाण*[26] का उल्लेख है। अथर्ववेद[27] में कुरुओं का एक राजा *परिक्षित्* आता है जिसके पुत्र *जनमेजय* का शत-पथ ब्राह्मण[28] में महान् अश्वमेध करने वालों में से एक के रूप में उल्लेख है।

औल्डेनबर्ग[29] का यह एक सम्भव अनुमान है कि, जैसे यह बाद में प्रचलित थे, कुरुओं के अन्तर्गत ऋग्वेद में अन्य नामों द्वारा उल्लिखित जातियों में से भी कुछ सम्मिलित थीं। कुरुश्रवण, जो अपने नाम द्वारा कुरुओं से सम्बद्ध दिखाया गया है, ऋग्वेद में 'त्रासदस्यव' (*त्रसदस्यु* का वंशज)

[16] आल्टिन्डिशे लेबेन १०३।
[17] ७. १८, ११।
[18] कीथ : ज० रॉ० ए० सो० ८३५।
[19] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ५।
[20] तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १२३।
[21] ४. १७, ९ : 'अश्वा' के लिये अपने संस्करण में बौटलिङ्क 'अक्षणा' पाठ मानते हैं, जिसका लिटिल : ग्रामेटिकल इन्डेक्स १, ने भी अनुगमन किया है।
[22] १. १०, १।
[23] शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. ३, १५।
[24] वही, १५. १६, ११। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १३६।
[25] ऋग्वेद १०. ३३, ४।
[26] ऋग्वेद ८. ३, २१।
[27] २०.१२७,७ और बाद; खिल, ५.१०।
[28] १३. ५, ४।
[29] बुद्ध, ४०३, ४०४।

कहा गया है जो पूरुस् के एक राजा के रूप में प्रसिद्ध है। साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि *तृत्सु-भरत* लोग, जो ऋग्वेद में 'पुरुस्' के शत्रु के रूप में आते हैं, बाद में इनसे मिलकर कुरु बन गये।[30] भरत लोग, ब्राह्मण ग्रंथों में अतीत की एक महान् जाति के रूप में अत्यन्त प्रमुखता से आते हैं; किन्तु बाद का साहित्य राष्ट्रों की तालिका में इनकी उपेक्षा करता है। अतः इस निष्कर्ष का परित्याग कठिन है कि बाद में यह लोग किसी अन्य जाति में विलीन हो गये थे। साथ ही साथ इस बात का भी प्रमाण है कि भरत लोगों ने उस क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था जिसमें बाद में कुरु लोग पाये गये हैं। इनमें से दो (भरतों) के सम्बन्ध में ऋग्वेद[31] के सूक्त में यह कहा गया है कि इन्होंने *दृषद्वती*, *आपया*, और *सरस्वती* पर, अर्थात् बाद के कुरु क्षेत्र के पवित्र स्थानों पर, अग्नि प्रज्वलित किया था। इस प्रकार देवी भारती (भरतों की देवी) का आप्री सूक्तों में सरस्वती[32] के साथ नियमित रूप से उल्लेख है। पुनः, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार एक भरत राजा काशियों का विजेता हुआ था[33], और दूसरे ने गङ्गा और यमुना[34] को पूजा अर्पित की थी। साथ ही *सत्वन्तों* के विरुद्ध भरतों के आक्रमण का ऐतरेय ब्राह्मण[35] में उल्लेख है। और यह बात भी महत्त्वरहित नहीं है कि वाजसनेयि संहिता[36] के एक स्थल पर भरत लोग कुरु-पञ्चालों के विभेद स्वरूप ही आते हैं और अश्वमेध के महान् आयोजकों की तालिका में, जिनके यह शासक थे उनके नाम के उल्लेख के बिना ही, एक कुरु और दो भरत राजाओं का नाम दिया हुआ है; जबकि अन्य दशाओं में उक्त सूचना स्पष्ट रूप से दी गई है।[37]

कुरु-पञ्चालों के देश को ऐतरेय ब्राह्मण में *मध्यदेश*[38] कहा गया है। कुरु लोगों का एक समूह अब भी सुदूर उत्तर, हिमालय के उस पार उत्तर कुरुस् में रह गया था। शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी लोगों—अर्थात् अनुमानतः उत्तरी कुरुओं—की, तथा कुरु-पञ्चालों

[30] वही, ४०६-४०९।
[31] ३. २३।
[32] तु० की० शेफ्टेलोविट्ज़ : डी० ऋ० १४५।
[33] १३. ५, ४, ११।
[34] वही, २१।
[35] ऐतरेय ब्राह्मण २. २५ (तु० की० हॉग का संस्करण, २, १२८, नोट ३); औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०७, नोट*।
[36] ११. ३, ३। देखिये नोट १४; औल्डेनबर्ग, बुद्ध ४०८, ४०९।
[37] औल्डेनबर्ग ४०९, नोट *।
[38] ८. १४। तु० की० औल्डेनबर्ग ३९२, ३९३।

की, बोली समान और विशेषतः शुद्ध मानी जाती थी।[39] इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि ब्राह्मण संस्कृति कुरु-पञ्चालों के देश में ही विकसित हुई, और यहीं से यह पूर्व, दक्षिण और पश्चिम में फैली थी। इस बात के चिह्न पञ्चविंश ब्राह्मण[40] के 'व्रात्य स्तोमों' (अब्राह्मण आर्यों को ग्रहण करने के यज्ञ) में देखे जा सकते हैं, तथा इस सत्य में भी कि शाङ्खायन आरण्यक में एक ब्राह्मण के लिए *मगध*[41] देश में रहना अस्वाभाविक बताया गया है। कुरु-पञ्चाल ब्राह्मणों का बार-बार उल्लेख भी इनके धर्मप्रचारक कार्यों[42] का एक अन्य उदाहरण है।

कुरु-पञ्चालों की भौगोलिक स्थिति भी इस बात को सम्भव बना देती है कि यह लोग *कोसल-विदेह*, अथवा *काशियों*[43] की अपेक्षा भारत में, बाद में आकर बसे थे और पश्चिम से आकर बसने वाले इन नये आर्यों की लहर के कारण उक्त कोसल-विदेह तथा काशि लोग और अधिक पूर्वी क्षेत्रों की तरफ चले गये थे। परन्तु वैदिक साहित्य में यह दिखाने का कोई प्रमाण नहीं है कि इन बाद के लोगों (कोसल-विदेह और काशि) तथा इनके पश्चिमी पड़ोसियों (कुरु-पञ्चालों) के देशान्तरण में समय की दृष्टि से क्या सम्बन्ध था। फिर भी, मुख्यतः बाद के भाषात्मक तथ्यों के आधार पर,

[39] ३. २, ३, १५। इसमें यही आशय निहित प्रतीत होता है क्योंकि कुरु-पञ्चालों को कदाचित ही उत्तरीय माना जा सकता है (औल्डेनबर्ग ३९५), और कौषीतकि ब्राह्मण ७. ६ (इन्डिशे स्टूडियन, २, ३०९) उत्तर की बोली की विशुद्धता के लिये स्वतंत्र प्रमाण है। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xlii, नोट; वेबर : इन्डियन लिटरेचर ४५; इन्डिशे स्टूडियन १, १९१।

[40] १७. १, १। देखिये अथर्ववेद १५ के साथ ह्विट्ने और लैनमैन की टिप्पणी भी; वेबर, इन्डिशे स्टूडियन १, ३३, और बाद; इन्डियन लिटरेचर ६७, ७८, ८०।

[41] ७. १३। तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४००, नोट *, वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ११२, नोट १२६।

[42] उदाहरण के लिये देखिये, शतपथ ब्राह्मण ११.४, १, २, और नोट ६।

[43] उदाहरण के लिये इसे औल्डेनबर्गः बुद्ध ९, ३९१, ३९८, ३९९; लैनमैनः संस्कृत रीडर २९७ इत्यादि ने स्वीकार किया है। शतपथ ब्राह्मण १. ४, १, १० और बाद (वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, १७०) के वर्णन में यह विदित है कि कोसल-विदेह-लोग कुरु-पञ्चालों की शाखा हैं, किन्तु औल्डेनबर्ग और मैकडौनेल (संस्कृत लिटरेचर २१४) इसकी *व्याख्या* यह करते हैं कि इसका तात्पर्य वैदिक परम्परा और संस्कृति के प्रसार से है, राष्ट्रीयता से नहीं।

जिनका वैदिक काल के लिए कोई भी औचित्य नहीं है, यह अनुमान किया गया है[४४] कि कुरु बाद में आये लोग थे जो एक नवीन मार्ग से आने के कारण उन मूल आर्य जातियों के बीच में घुस गये जो इस देश पर पूर्व से पश्चिम तक पहले से ही आधिपत्य जमाये हुये थे। तुलना कीजिये कृत्वन् भी। अन्य कुरु राजाओं के लिये देखिये कौरव्य।

[४४] तु० की० ग्रियर्सन : लैन्ग्वेजेज़ ऑफ इन्डिया ५२, और बाद; ज० ए० सो० १९०८, ८३७ और बाद। इसके विपरीत सम्भवतः यह मानना एक त्रुटि होगी कि भरत लोग मूलतः कुरुक्षेत्र के सुदूर पश्चिम में स्थित थे और ऋग्वेद की क्रिया पंजाब में ही सीमित थी। जब वसिष्ठ 'विपाश' और 'शुतुद्री' को पार करने का उत्सव करते हैं (ऋग्वेद ३. ३३) तो वह सम्भवतः पूर्व से आये थे, जैसा कि पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २१८ में व्यक्त करते हैं, न कि पश्चिम से। साधारण दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए, हॉपकिन्स : इन्डिया, ओल्ड एण्ड न्यू, ५२, यह मत व्यक्त करना आवश्यक समझते हैं कि परुष्णी का ही दूसरा नाम ऋग्वेद में यमुना है। किन्तु इस विचार की आवश्यकता, जो स्वयं उपयुक्त नहीं है, उस समय समाप्त हो जाती है जब यह स्वीकार कर लिया जाय कि भरत लोगों के आधिपत्य में वही क्षेत्र था जो मोटे तौर पर कुरुक्षेत्र है, और जिसकी पूर्वी सीमा पर यमुना थी। इसके विपरीत हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १४२, १४३, कुरुओं की स्थिति काश्मीर में आर्जीकीया के निकट मानते हैं, जो इनकी स्थिति अत्यधिक सुदूर उत्तर निश्चित कर देता है। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १०३, और एग्लिङ्ग से० बु० ई० १२, xlii, भी यही मानते हैं। यह सम्भव प्रतीत होता है कि अत्यधिक आरम्भिक काल में कुरु लोग हिमालय के उत्तर, कुरुक्षेत्र, और सिन्धु के आस पास तथा असिक्नी तक विस्तृत रूप से फैले हुये थे।
तु० की० ओल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०० और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १५२-१५७; फान श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर १६४, और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १८७ और बाद; इन्डियन लिटरेचर, ११४, १३५, १३६; रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया २७; पार्जिटर : ज० ए० सो० १९०८, ३३३ और बाद; हॉपकिन्स ज० अ० ओ० सो० १३, २०५, नोट।

कुरु-क्षेत्र ('कुरुओं का देश') ब्राह्मण ग्रन्थों[१] में सदैव एक विशेष रूप से

[१] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १०; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, १३; ११. ५, १, ४; १४. १, १, २; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३०; मैत्रायणी संहिता २. १, ४; ४. ५, ९; जैमिनीय ब्राह्मण ३. १२६ (ज० अ० ओ० सो० ११, cxlvi); शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १५. १६, ११ इत्यादि।

पवित्र देश माना गया है। इसकी सीमा के भीतर *दशद्वती* और *सरस्वती* तथा *आपया*[2] नदियाँ बहती थीं। *शर्यणावन्त्*[3] भी यहीं स्थित था, जो शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित *अन्यतः-प्लक्षा*[4] के समान ही एक झील प्रतीत होती है। पिशल के अनुसार कुरु-क्षेत्र में एक *पस्त्या*[5] नामक नदी थी, जिसका वह ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर संकेत पाते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक[6] में कुरुक्षेत्र की सीमा के लिये इसके दक्षिण में 'खाण्डव', उत्तर में 'तूर्घ्न' और पश्चिम में 'परीणह्' दिया गया है। मोटे रूप से यह आधुनिक सरहिन्द का क्षेत्र था।

[2] तु० की० ऋग्वेद ३.२३; पिशल, वेदिशे स्टूडियन, २.२१८। १४

[3] देखिये पिशल, उ० स्था०, और तु० की० आर्जीकीया।

[4] शतपथ ब्राह्मण ११.५, १, ४।

[5] पिशल: उ० स्था० २१९।

[6] ५.१, १। इन स्थानों को अधिक निश्चित रूप से नहीं पहचाना जा सकता। मरु भी देखिये।

तु० की० फॉन श्रोडर: इण्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, १६४, १६५; मैक्समूलर: से बु० ई० ३२, ३९८, ३९९; वेबर इन्डिशे स्टूडियन १, ७८, ७९; मैकडौनेल: संस्कृत लिटरेचर १७४। एग्लिङ्ग से० बु० ई०, १२, xli, कुरुक्षेत्र को यमुना और गङ्गा के बीच बहुत सूदूर पूर्व में स्थित मानते हुये प्रतीत होते हैं।

कुरुङ्ग का ऋग्वेद[1] में एक राजा और प्रतिपालक के रूप में उल्लेख है। लुडविग[2] का विचार है कि यह *अनुओं* का एक राजा था किन्तु इस मत के लिये कोई आधार प्रतीत नहीं होता, और क्योंकि उसी मंत्र में *तुर्वशों* का भी उल्लेख है, यह सम्भवतः इन्हीं का एक राजा रहा हो सकता है। यह नाम *कुरुओं* से सम्बन्ध व्यक्त करता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि शतपथ ब्राह्मण[3] में तुर्वशों को *पञ्चालों* (*क्रिवियों*) से सम्बद्ध किया गया है।

[1] ८.४, १९; निरुक्त ६.२२।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६०।

[3] ११.५, ४, १६। देखिये औल्डेनबर्ग, बुद्ध, ४०४।

कुरु-श्रवण त्रासदस्यव को ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में मृत कहा गया है। यहाँ इसके पुत्र *उपमश्रवस्* और इसके पिता *मित्रातिथि* का भी सन्दर्भ है। एक अन्य सूक्त[2] में यह उस समय जीवित कहा गया है। इसका नाम इसे

[1] १०.३३, ४। तु० की० बृहद्देवता ७.३५, ३६।

[2] १०.३२, ९।

तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३.१६५; गेल्डनर वेदिशे-स्टूडियन २.१५०, १८४; लैनमैन: संस्कृत रीडर ३८६।

एक ओर तो *कुरुओं* से सम्बद्ध करता है और दूसरी ओर *त्रसदस्यु* और *पूरुस्* से ।

कुरूरु का, जो कीड़े की एक जाति का नाम प्रतीत होता है, अथर्ववेद[1] में दो वार उल्लेख है ।

[1] २. ३१, २; ९. २, २२ । तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८ ।

कुर्कुर—यह अथर्ववेद[1] में कुत्ते के लिए एक ध्वन्यानुकरणात्मक नाम है । *श्वान्* भी देखिये ।

[1] ७. ९५, २ । तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३३ ।

कुल, कुल-पा—अ-यौगिक शब्द के रूप में 'कुल' ब्राह्मण ग्रन्थों[1] के समय से पहले नहीं आता । यह 'घर' अथवा 'परिवार के आवास' और वर से सम्बद्ध होने के रूप में अजहल्लक्षणा स्वयं परिवार का द्योतक है । 'कुल-पा' (शब्दार्थ 'गृहरक्षक') अथवा परिवार के प्रधान का ऋग्वेद[2] में युद्ध के समय *व्राजपति* से हीन और उसके सेवक के रूप में उल्लेख है—*व्राजपति* सम्भवतः गाँव या कुल की सेना का नेता होता था । अथर्ववेद[3] में एक कन्या को उपहासात्मक रूप से 'कुलपा' कहा गया है क्योंकि वह इस संसार में विना पति के ही रह गई थी, और केवल यम (मृत्यु देवता) ही उसका प्रेमी था ।

'कुल' शब्द का प्रयोग वैयक्तिक परिवार-पद्धति का स्पष्ट संकेत करता है । इसमें भी सन्देह नहीं कि प्रत्येक परिवार में कई कई सदस्य होते थे जो पिता या बड़े भाई की प्रधानता के नीचे रहते थे और जिनका आवास 'कुल' होता था । *गोत्र* से अलग, 'कुल' से परिवार का संकुचित अर्थ प्रतीत होता है जिसमें सभी सदस्य एक ही घर में अविभक्त कुटुम्ब के रूप में रहते थे । तुलना कीजिये *गृह, ग्राम, जन, विश्* ।

[1] शतपथ ब्राह्मण १. १, २, २२; २. १, ४, ४; ४, १, १४; ११. ५, ३, ११; ८, १, ३; १३. ४, २, १७; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, ३२; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १३, ६ इत्यादि ।

[2] १०. १७९, २ ।

[3] १. १४, ३ ।

तु० की० व्हिट्ने अथर्ववेद का अनुवाद, १५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २५२, त्सिमर : आल्टिन्डिशे-लेबेन ३१३ को शुद्ध करते हुये ।

तु० की० त्सिमर : उ० पु० १६२ ।

कुलाल—पात्र बनाने वाले का द्योतक यह शब्द यजुर्वेद[1] में एक 'शत-रुद्रिय' में आता है।

[1] वाजसनेयि संहिता १६. २७।
तु० की० कुलाल-कृत, 'पात्र बनाने वाले द्वारा बनाया गया'–मैत्रायणी संहिता १. ८, ३, और कौलाल।

कुलिश 'कुल्हाड़ी' का रथ बनाने के लिये[1] और युद्ध[2] में प्रयुक्त होने के रूप में ऋग्वेद में उल्लेख है। अथर्ववेद वृक्ष काटने[3] के लिये इसके उपयोग का उल्लेख करता है।

[1] ३. २, १।
[2] १. ३२, ५।
[3] २. १२, ३। तु० की० त्सिमर आल्टिन्डिशे लेबेन २५२।

कुलीकय तैत्तिरीय संहिता[1] में किसी पशु के नाम का रूप है जो सम्भवतः एक प्रकार की मछली होती थी जैसी कि अपने भाष्य में महीधर ने व्याख्या की है, और जिसे वाजसनेयि संहिता[2] में 'कुलीपय', तथा अथर्ववेद[3] में 'पुरीकय' कहा गया है। यह विभेद सम्भवतः एक अपरिचित नाम की दोषपूर्ण परम्परा के कारण उत्पन्न हुआ है।

[1] ५. ५, १३, १।
[2] २४. २१, ३५।
[3] ११. २, २५। भाष्यकार इसे 'पुलीकय' पढ़ता है जैसा कि मैत्रायणी संहिता ३. १४, २ में है। देखिये ह्विट्ने : अथर्व वेद का अनुवाद ६२४।
तु० की० त्सिमर : आल्टिण्डिशे लेबेन ९६।

कुलीका एक पक्षी का नाम है जिसका वाजसनेयि संहिता[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता[2] में इसके स्थान पर 'पुलीका' है।

[1] २४. २४।
[2] ३. १४, ५।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९४।

कुलुङ्ग—एक पशु, सम्भवतः मृग का नाम है जिसका यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ९.१३ (कुलङ्ग, विभेद के साथ); वाजसनेयि संहिता २४. २७, ३२।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८३।

कुल्मल—अथर्ववेद[1], मैत्रायणी संहिता[2] और शतपथ ब्राह्मण[3] में यह बाण की ग्रीवा का द्योतक प्रतीत होता है जिसमें शरकाण्ड सन्नद्ध किया जाता है।

[1] ४. ६, ५; ५. १८, १५।
[2] ३. ८, १. २।
[3] ३. ४, ४, १४।

कुमल-बर्हिस् का पञ्चविंश ब्राह्मण (१५.३, २१) में एक सामन् के द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

कुमार-हारित का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम वंश (गुरुओं की तालिका) में *गालव* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] २. ५, २२ (माध्यंदिन=२. ६, ३, काण्व)

कुल्माष—छान्दोग्य उपनिषद्[1] में उल्लिखित एक बहुवचन शब्द है जिसकी भाष्यकार ने 'कुत्सिता माषाः' (खराब माष) व्याख्या की है और बौटलिङ्क ने भी अपने कोश[2] में यही अर्थ ग्रहण किया है। लिटिल[3] इसका निरुक्त[4] के अनुसार 'खट्टा कुल्माष' अनुवाद करते हैं।

[1] १. १०, २. ७।
[2] तु० की० भागवत पुराण ५. ९, १२ जहाँ इसकी व्याख्या 'कीड़ों द्वारा नष्ट माष' की गयी है।
[3] ग्रामेटिकल इन्डेक्स ५२।
[4] १. ४।

कुल्या—ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर मूईर[2] के अनुसार यह सम्भवतः जलाशय (ह्रद) में गिरने वाली कृत्रिम जलधाराओं का द्योतक है।

[1] ३. ४५, ३; १०. ४३, ७।
[2] संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४६५, ४६६।

कुवय—देखिये *कयि*।

कुवल—यह बदरिक फल (बैर, Zizyphus jujuba) का नाम है जो यजुर्वेद संहिताओं[1] और बृहदारण्यक उपनिषद्[2] में *कर्कन्धु* और *बदर* के संबंध में अक्सर आता है। *कोल* भी देखिये।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. ११, २; वाजसनेयि संहिता १९. २२, ८९; २१. २९; काठक संहिता १२. १०।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ४, १०; १२. ७, १, २; २, ९; ९, १, ५, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४२।

कुश—बाद में एक पवित्र तृण (Poa cynosuroides) के द्योतक इस शब्द को सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश द्वारा शतपथ ब्राह्मण[1] के स्थलों पर जहाँ यह आता है, केवल 'घास' के अर्थ में ग्रहण किया गया है।

[1] २. ५, २, १०; ३. १, २, १६; ५. ३, २, ७ इत्यादि। 'कुशा' और 'कुशी' मैत्रायणी संहिता ४. ५, ७; शतपथ ब्राह्मण ३. ६, २, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १०, १. २. ७, में लकड़ी अथवा धातु की कीलों के द्योतक स्वरूप आते हैं जिनका, पाठ की एक विशेष पद्धति में चिह्नों के रूप में प्रयोग किया जाता था।

कु-शर का, *शर* और अन्य घासों के साथ ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में सर्पों के रहने के सुलभ स्थान के रूप में उल्लेख है।

[1] १. १९१, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ७२।

कुशिक, सम्भवतः कुशिकों का पौराणिक पूर्वज[1] और मुख्यतः इस परिवार के सर्वाधिक प्रसिद्ध सदस्य *विश्वामित्र*[2] का पिता है। ऋग्वेद[3] के तृतीय मण्डल में कुशिकाओं का बार-बार उल्लेख है और यह लोग ऐतरेय ब्राह्मण[4] में शुनःशेप की कथा में आते हैं। यह लोग स्पष्टतः पुरोहितों के ही परिवार थे जिन्होंने अपने को *भरत* राजाओं की सेवा में लगा रक्खा था। यह लोग मुख्यतः इन्द्र के उपासक थे, अतः ऋग्वेद[5] तक में इसे 'कौशिक' कहा गया है।

[1] निरुक्त २. २५।

[2] ऋग्वेद ३. ३३, ५।

[3] ३. २६, १; २९, १५; ३०, २०; ३३, ५; ४२, ९; ५०, ४; ५३, ९. १०।

[4] ७. १८; शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १५. २७।

[5] १. १० ११, सायण की टिप्पणी सहित। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. ५, ७; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १९; तैत्तिरीय आरण्यक १. १२, ४; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० ६२,६३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. ३८; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ३४२ और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०१, १२१; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १५५; औल्डनेबर्ग : त्सी० गे० ४२, २०९।

कुश्रि वाज-श्रवस शतपथ ब्राह्मण[1] में पवित्र अग्नि के ज्ञान से सम्बद्ध एक गुरु के रूप में आता है और बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में इसका *वाजश्रवस्* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। यह स्पष्ट नहीं है कि यह बृहदारण्यक[3] के काण्व शाखा के अन्तिम वंश तथा

[1] १०. ५, ५, १।

[2] ६. ४, ३३ (माध्यंदिन = ६. ५, ३, काण्व)।

[3] ६. ५, ४ (केवल काण्व में)

शतपथ ब्राह्मण[४] के दसवें भाग की वंश तालिका में आनेवाले उस 'कुश्रि' के समतुल्य है या नहीं, जिसका *यज्ञवचस् राजस्तम्बायन* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[४] १०. ६, ५, ९। वंशों में यह नाम 'कुश्रि' है किन्तु १०.५, ५, १ में 'कुश्री' है; फिर भी इस बात पर ज़ोर नहीं दिया जा सकता।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ७०; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xxxiii.

कु-षण्ड—पञ्चविंश ब्राह्मण[१] में वर्णित सर्पोत्सव के समय इसका पण्ड के साथ एक पुरोहित के रूप में उल्लेख है।

[१] २५. १५, ३।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३४; लाट्यायन श्रौत सूत्र, १०. २०, १०।

१-*कुषीतक*—तैत्तिरीय संहिता[१] के एक स्थल पर, जहाँ यह मिलता है, भाष्य के अनुसार समुद्री कौवे (समुद्र-काक) का द्योतक है।

[१] ५. ५, १३, १। तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ७२।

२-*कुषीतक साम-श्रवस* का पञ्चविंश ब्राह्मण में[१] कौषीतकियों के एक यज्ञ सत्र के समय गृहपति के रूप में उल्लेख है।

[१] १७. ४। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३४।

कुषुम्भक—इसके द्वारा ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर किसी विषयुक्त कीड़े का अर्थ प्रतीत होता है क्योंकि अथर्ववेद[२] में 'कुषुम्भ' से एक विष के थैले का स्पष्ट आशय है। सायण इसका अनुवाद 'नकुल' करते हैं।

[१] १. १९१, १६। १. १९१, १५ में विष के थैले का आशय सम्भव है और बौटलिंक द्वारा अपने कोश में यही स्वीकार किया गया है।

[२] २. ३२, ६। तु० की० रिसमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९९; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, २५७।

१-कुष्ठ—एक पौधे (Costus speciosus अथवा arabicus)[१] का नाम है जो अथर्ववेद[२] में प्रमुख रूप से आता है। यह सोम के साथ-साथ विशेषतः पर्वतों और हिमालय (हिमवन्त्) के उन उच्च शिखरों पर उगता था जहाँ उत्क्रोशों के घोसले होते थे, और जहाँ से यह पूर्व में मनुष्यों[3] के पास लाया जाता था। सोम की ही भाँति इसके भी तृतीय स्वर्ग में प्रसिद्ध

[१] अथवा Saussurea auriculata, हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १. ६५।

[२] ५. ४; ६. १०२; १९. १३९।
[3] ५. ४, १. २. ८; १९. ३९, १।

अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उगने की बात कही गई है जहाँ देवगण इसका संग्रह करते थे और वहीं से यह एक स्वर्ण-यान[४] में लाया जाता था। औषधि के रूप में इसका जड़ी बूटियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान था। इसे 'नघ-मार' और 'नघा-रिष' जैसे शुभ नामों से पुकारा जाता था, तथा 'जीवल' और 'जीवला' (जीवित लोगों)[५] की सन्तान कहा जाता था। यह सर दर्द (शीर्षामय), नेत्र रोगों, शारीरिक व्याधियों[६] और विशेषतः ज्वर को शान्त करता था—अतः इसे ज्वर नाशक (तक्म-नाशन) कहा गया है—तथा *यक्ष्म* को अच्छा करता था। अपने सामान्य गुणों के कारण इसका 'विश्व-भेषज'[७] नाम भी रखा गया था। इसका सुगन्ध सम्बन्धी गुण भी प्रत्यक्षतः ज्ञात था, क्योंकि इसे *आञ्जन* और *नलद*[८] के साथ वर्गीकृत किया गया है।

[४] ५. ४, ३-६; ६. ७५, १. २; १९. ३९, ६-८।
[५] ५. ४, १; १९. ३९, ४।
[६] ५. ४, १०।
[७] १९. ३९, ९।
[८] ६. १०२, ३।

तु० की० ऑह्मैन : इन्डिशे स्टूडियन ९, ४२० और बाद; त्सिमर : आल्टिण्डिशे लेबेन ६३, ६४; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४१५, ६८०; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २२७, २२८

२—कुष्ठ—मैत्रायणी संहिता[१] के एक स्थल पर संख्यांशों की, *कला*, *कुष्ठ*, *शफ*, *पद्* जैसी एक तालिका है जिसमें यह चारों शब्द क्रमशः सोलहवें, बारहवें आठवें और चौथे भाग के द्योतक प्रतीत होते हैं।

[१] ३. ७, ७। तु० की० बौटलिङ्क : कोश, व० स्था०।

कुसीदिन्—यह 'कुसीदिक' की उपाधि है जो शतपथ ब्राह्मण[१] और निरुक्त[२], तथा अक्सर सूत्रों में भी मिलती है। जौली[३], निःसन्देह 'अनृ-ऋण' (ऋण से मुक्त) के सम्बन्ध में आनेवाली व्याहृति 'कुसीद-अप्रतीत्त'[४] (एक ऋण जो अभी चुकाया न गया हो) के सन्दर्भ में यह मानते हुये ठीक प्रतीत होते हैं कि तैत्तिरीय संहिता में 'कुसीद' का आशय ऋण है। ऋण पर सूद की दर सूत्र काल[५] के पहले निर्धारित नहीं है। तुलना कीजिये *ऋण*।

[१] १३. ४, ३, ११।
[२] ६. ३२।
[३] रेख्त उन्ट सिट्टे ९८, ९९।
[४] ३. ३, ८, १. २।
[५] उदाहरण के लिये गौतम सूत्र १२. २९ और बाद। तु० की० त्सिमर : आल्टिण्डिशे लेबेन २५९।

कुसुरुबिन्द औद्दालकि—पञ्चविंश ब्राह्मण[1], तैत्तिरीय संहिता[2], जैमिनीय ब्राह्मण[3] और षड्विंश ब्राह्मण[4] में यह सांस्कारिक विषयों के एक आधिकारी विद्वान् के रूप में आता है। जैसा कि वेबर[5] का विचार है, यह श्वेतकेतु का भ्राता रहा हो सकता है।

[1] २२. १५, १. १०।
[2] ७. २, २, १।
[3] १. ७५ (ज० अ० ओ० सो० २३, ३२७) जहाँ "असुर्विन्द" पाठ प्रतीत होता है।
[4] १. १६। देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३९। यहाँ इस नाम को "कुसुरुविन्दु" पढ़ा गया है; और शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. २२, १४ में यह "कुसुरविन्दु" है।
[5] इन्डिशे स्टूडियन ५. ६१, नोट।

कुहू—देखिये *मास*।

कूचक्र, एक शब्द है जो केवल एक बार ही ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट मन्त्र में आता है। त्सिमर[2] का विचार है कि यहाँ इसका उस पहिये से आशय है जिसके द्वारा कूयें से पानी ऊपर खींचा जाता है। परन्तु इसकी अपेक्षा रौथ[3] की व्याख्या अधिक सम्भव प्रतीत होती है जो यह समझते हैं कि इसका अर्थ स्त्रियों का 'कुच' है।

[1] १०. १०२, ११।
[2] आल्टिन्डिशे लेबेन १५७। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १४।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

कूट—ऋग्वेद[1], अथर्ववेद[2] और ब्राह्मणों[3] में पाये जाने वाले इस शब्द का आशय संदिग्ध है। फिर भी इसका सर्वाधिक सम्भव आशय हथौड़ा[4] है, जो सभी स्थलों के अर्थ के उपयुक्त है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश इसका अनुवाद 'सींग' करता है, जो अथर्ववेद पर उस स्थल के लिये जहाँ यह आता है, ह्विटने[5] द्वारा भी ग्रहण किया गया है। गेल्डनर[6] का विचार है कि इसका अर्थ 'जाल' या 'फन्दा' है।

[1] १०. १०२, ४।
[2] ८. ८, १६।
[3] ऐतरेय ब्राह्मण ६. २४; शतपथ ब्राह्मण ३. ८, १, १५; जैमिनीय ब्राह्मण १. ४९, ९; ५०, २ (ज० अ० ओ० सो० १९, ११४)।
[4] ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ४८, ५४६; अथर्ववेद के सूक्त ५८५, में ऐसा ही मानते हैं।
[5] अथर्ववेद का अनुवाद ५०५।
[6] वेदिशे स्टूडियन १, १३८; २, ७। तु० की० फॉन श्राड्के : त्सी० गे० ४६, ४५५; कुन : त्सी० ३४, १५६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, २२२।

कूदी, जिसे पाण्डुलिपियों में 'कूटी' भी लिखा गया है, अथर्ववेद[1] और कौशिकसूत्र[2] में एक लकड़ी की टहनी का द्योतक है जिसे विद्वानों ने *बदरी* की टहनी माना है। इस टहनी को मृतकों के सभी चिह्न समाप्त कर देने के लिये उनके शव में बाँध दिया जाता था; सम्भवत, इसलिये कि उनकी (मृतकों की) आत्मा के लिये अपने पुराने घर में पुनः लौट आना कठिन हो जाय।

[1] ५. १९, १२।
[2] ब्लूमफील्ड का संस्करण xliv। तु० की० ब्लूमफील्ड: अ० फा० ११, ३५५; १२, ४१६; रौथ: फे० वो० ९८; ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद २५४; मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी पृ० १६५।

कूप ऋग्वेद[1] और बाद के साहित्य[2] में आता है और पृथ्वी के एक कृत्रिम छिद्र या गर्त का द्योतक है। कुछ दशाओं में यह गहरे रहे होंगे क्योंकि पौराणिक कथा में 'त्रित' के एक ऐसे ही गड्ढे में गिर जाने की बात कही गई है जिसमें से वह बिना सहायता के स्वयं नहीं निकल सके थे।[3]

[1] १. १०५. १७।
[2] अथर्ववेद ५. ३१, ८; शतपथ ब्राह्मण ३. ५. ४, १; ४. ४, ५, ३; ६. ३, ३, २६, इत्यादि; जैमिनीय ब्राह्मण १. १८४, इत्यादि। विशेषण 'कूप्य' बाद की संहिताओं में अक्सर मिलता है।
[3] मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी, पृ. ६७।

कूबर मैत्रायणी संहिता (२.१, ११) में, और *कूबरी* शतपथ ब्राह्मण (४.६, ९,११.१२) तथा कौषीतकि ब्राह्मण (२७.६) में गाड़ी के स्तम्भ का द्योतक है।

कूर्च तैत्तिरीय संहिता[1] और बाद[2] में मिलता है। यह बैठने के लिए प्रयुक्त घास के गट्टर का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण[3] के एक स्थल पर एक स्वर्ण कूर्च का उल्लेख है।

[1] ७. ५, ८, ५।
[2] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ३, ४. ७, बृहदारण्यक उपनिषद् २. ११, १; ऐतरेय आरण्यक ५, १, ४।
[3] १३. ४. ३, १।

कूर्म, 'कछुआ'—इसका बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में अक्सर

[1] अथर्ववेद ९. ४, १६; तैत्तिरीय संहिता २. ६, ३, ३; ५. २, ८, ४. ५; ७, १३, १; मैत्रायणी संहिता ३. १५, ३; वाजसनेयि संहिता २४. ३४, इत्यादि।
[2] शतपथ ब्राह्मण १. ६, २, ३; ६. १, १, १२, इत्यादि। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ९५; मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी पृ० १५३।

उल्लेख है, किन्तु इसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। कश्यप भी देखिये।

कूशाम्ब स्वायव लातव्य का पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में एक पुरोहित के रूप में उल्लेख है। प्रत्यक्षतः इसके नाम का अर्थ[2] लातव्य कुलीय, स्वायु-पुत्र 'कूशाम्ब'[3] है।

[1] ८. ६, ८।

[2] यह रूप विचित्र है क्योंकि "कुशाम्ब" होना चाहिये था।

[3] हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५५, नोट २।

कृकलास एक प्रकार का पशु है जिसका यजुर्वेद[1] और बाद[2] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। ब्राह्मणों[3] में मादा 'कृकलासी' का भी उल्लेख मिलता है। देखिये *गोधा*, और *शयण्डक*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५.५, १९. १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २१; वाजसनेयि संहिता २४. ४०।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, २२।

[3] जैमिनीय ब्राह्मण १. २२१ (ज० अ० ओ० सो० १८, २९); ऋग्वेद ८. ९१ पर सायण में साह्यायनक। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९५।

कृक-वाकु—'मुर्गा'—का अथर्ववेद[1] में भेड़, बकरी और अन्य पालतू पशुओं के साथ उल्लेख है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी पाला जाता था।[2] यजुर्वेद[3] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में यह 'सवितृ' को अर्पित प्रतीत होता है: यास्क[4] इसकी इस तथ्य के आधार पर व्याख्या करते हैं कि यह दिन के समय की घोषणा (कालानुवाद) करता है। भाष्यकार महीधर[5] इस नाम की व्याख्या 'ताम्र-चुड' (लाल छत्रवाला) करते हैं। इसे 'कृक कहना'[6] निसन्देह ध्वन्यानुकरणात्मक ही है। कुक्कुट भी देखिये।

[1] ५. ३१, २। तु० की० १०. १३६, १०।

[2] तु० की० तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १८, १ पर सायण, जिनका कहना है कि यह 'वन' कुक्कुट है।

[3] तैत्तिरीय संहिता उ० स्था०; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १५; वाजसनेयि संहिता २४. ३५।

[4] निरुक्त १२. ३।

[5] वाजसनेयि संहिता उ० स्था० पर।

[6] श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, २५१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, २८५। तु०की० त्सिमर : आल्टिन्डिशेलेबेन ९१;

कृत—देखिये २-*अक्ष* और २-*युग*।

कृति—ऋग्वेद[1] के एक स्थल के आधार पर, जहाँ मरुतों को 'कृतियों' से

[1] १. १६८, ३।

युक्त कहा गया है, त्सिमर[2] यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस शब्द का अर्थ युद्ध में प्रयुक्त 'कटार' है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि 'कृति' कभी मानवीय अस्त्र भी था। देखिये *असि*।

[2] आल्टिन्डिशेलेबेन ३०१। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज २२१।

कृत्तिका—देखिये *नक्षत्र*।

कृत्वन्—ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर बहुवचन रूप में 'कृत्वन्' शब्द का *आर्जीकों* तथा पाँच जातियों के साथ उल्लेख है। पिशल[2] का विचार है कि इसका अर्थ एक जाति है, और सायण निश्चित रूप से यह कहते हैं कि 'कृत्वन' एक देश[3] का द्योतक है। इस दशा में यह नाम *कुरुओं* और *क्रिवियों* के साथ अपने कुछ सम्बन्ध का संकेत करेगा। फिर भी हिलेब्रान्ट[4] का विचार है कि यह शब्द आर्जीकों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है और इन लोगों को अभिचारी बताता है। इन पर इनके किसी विपक्षी ने ही यह आरोप किया होगा। इस मत के समर्थन में हिलेब्रान्ट, ह्वेनसाङ्ग का यह मत[5] उद्धृत करते हैं कि आस-पास के राजा लोग निम्न-काश्मीरियों को इतनी घृणा से देखते थे कि उनके साथ सभी प्रकार के सहयोग अस्वीकृत कर दिये गये थे और इन्हें 'कि-लि-तो' अथवा 'कृत्यों' के नाम से पुकारते थे। इनका विचार है कि आर्जीक लोग, जो प्राचीन काल में काश्मीर में बसे थे, वैसे ही कुख्यात थे जैसे कि बाद के इनके उत्तराधिकारी।

[1] ९. ६५, २३।
[2] वेदिशे स्टूडियन २, २०९।
[3] कृत्वान इति देशाभिधानम्।
[4] वेदिशे माइथौलोजी १, १३६, १३७।
[5] कनिंघम : ऐन्शेन्ट ज्याग्रफी ऑफ इन्डिया ९३। तु० की० रौथ, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व. स्था.।

कृप का ऋग्वेद[1] में *रुशम* और *श्यावक* के साथ इन्द्र के एक आश्रित के रूप में उल्लेख है।

[1] ८. ३, १२; ४, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६२।

कृमि—बाद की संहिताओं[1] में और विशेषतः अथर्ववेद[2] में कृमियों का

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ११; वाजसनेयि संहिता २४. ३०; मन्त्र ब्राह्मण २. ७; तैत्तिरीय आरण्यक ४. ३६; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, १, २; और तु० की० ऋग्वेद १. १९१।
[2] २. ३१. ३२; ५. २३।

बहुत उल्लेख है। इन्हें विषमय माना गया है, और पर्वतों, वनों, जल, पौधों, और मानव शरीर में इनके पाये जाने की बात कही गई है। व्यापक प्राचीन विचारों के अनुसार इन्हें मनुष्यों तथा पशुओं के रोगों का कारण माना गया है। अथर्ववेद में इनके विरुद्ध अभिचारों के तीन सूक्त[२] हैं। इन सूक्तों में से प्रथम सर्व-सामान्य प्रकृति का है। दूसरा मवेशियों के कृमियों को नष्ट करने के लिये, और तीसरा बालकों को कृमियों से मुक्त करने के लिये है। मनुष्यों में पाये जाने पर इन कृमियों की स्थिति सर और पसलियों[३] में कही गई है। यह आँखों, नाक और दांतों[४] में रेंग कर चले जाते हैं। इन्हें गाढे भूरे रंग का किन्तु शरीर का अग्रभाग श्वेत, कान काले, और तीन सरवाला[५] बताया गया है। इनके अनेक जाति विषयक नाम दिये गये हैं, यथा: *अलाण्डु, एजत्क, कष्कष, कीट, कुरूरु, निलङ्गु, येवाष, वघा, वृक्षसर्पी, शलुन, शवर्त, शिपवित्नुक, स्तेग*।

[३] अथर्ववेद २. ३१, ४।
[४] अथर्ववेद ५. २३; ३।
[५] अथर्ववेद ५. २३, ४ और बाद। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९८, ३९३; कुनः त्सी० स्प्रे० १३, ४९ और बाद; ११३ और बाद; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३१३ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १९९; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ७३।

क्रुमुक—यह काठक संहिता[१] और शतपथ ब्राह्मण[२] में जलाने की लकड़ी की एक जाति[३] का नाम है।

[१] १९. १०।
[२] ६. ६, २, ११।
[३] वहीं ('समिध्' के लिये प्रयुक्त 'क्रामुक')।

कृश—ऋग्वेद[१] के वालखिल्य सूक्तों में से एक सूक्त में इसका *संवर्त* के साथ इन्द्र के प्रति पवित्र याज्ञिक के रूप में, और दूसरे[२] सूक्त में सत्य बोलने वाले के रूप में उल्लेख है; और तीसरे सूक्त का परम्परानुसार[३] इसे ही प्रणेता कहा गया है। *शयु* के साथ अश्विनों के एक आश्रित के रूप में ऋग्वेद[४] के एक अन्य सूक्त में भी इसका उल्लेख प्रतीत होता है, किन्तु यहाँ यह शब्द केवल एक 'दुर्बल व्यक्ति'[५] का ही द्योतक हो सकता है।

[१] ८. ५४, २।
[२] ८. ५९, ३।
[३] इन्डिशे स्टूडियन १, २९३, नोट।
[४] १०. ४०, ८।
[५] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३२, १६४।

कृशन (मोती)—ऋग्वेद में मोतियों का, सवितृ[1] के रथ को अलंकृत करने और साथ ही घोड़ों को भी अलंकृत[2] करने के लिये प्रयोग होने के रूप में उल्लेख है। अतः घोड़े को 'मोतियोंवाला' (कृशनावन्त्)[3] कहा गया है। अथर्ववेद[4] भी मोतियों का संकेत करता है और ऐसा उल्लेख करता है कि समुद्र से निकाले हुये मोती के सीपों (शङ्खः कृशनः) का कवच[5] के रूप में प्रयोग होता था। निघण्टु[6] इस शब्द का अनुवाद 'स्वर्ण' करता है।

[1] १. ३५, ४।
[2] १०. ६८, १।
[3] १. १२६, ४। तु० की० 'कृशनिन्' ७. १८, २३।
[4] १०. १, ७।
[5] ४. १०, १. ३।
[6] १. २। तु० की० साम मन्त्र ब्राह्मण १, ६, २२।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५३, ५४; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १६१, में लैनमैन।

कृशानु ऋग्वेद में एक पौराणिक व्यक्तित्व[1] के रूप में आता है। फिर भी एक मन्त्र[2] में रौथ[3] इस शब्द को किसी धनुर्धर का नाम मानते हैं; किन्तु इस स्थल को शेष सन्दर्भ से पृथक् करके अर्थ करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

[1] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ७४, ११२, १३७; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ४४८।
[2] १. ११२, २१।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

कृषि—इसमें सन्देह नहीं कि ईरानियों से पृथक् होने के पहले से ही भारतीय 'कृषि' से परिचित थे। यह ऋग्वेद के 'यवं कृष्' और 'सस्य', तथा अवेस्ता की 'यओ करेश्' और 'हह्य' व्याहृतियों की समानता से स्पष्ट होता है, जिनसे जोत कर बोये हुये बीज और उससे उपजे हुये अन्न[1] का आशय है। किन्तु यह बात भी महत्त्वहीन नहीं कि जोतने से सम्बद्ध व्याहृतियाँ प्रमुखतः ऋग्वेद के केवल प्रथम[2] और दशम[3] मण्डलों में ही आती हैं, और यह तथाकथित 'पारिवारिक' मण्डलों (२.–७.)[4] में अत्यन्त

[1] त्सिमर : आल्टिन्डिशेलेबेन २३५; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ८५।
[2] 'कृष' धातु के रूप ऋग्वेद १. २३, १५; १७६, २, में मिलते हैं।
[3] ऋग्वेद १०. ३४, १३; ११७, ७। १०. १४६, ६ में 'अकृषीवल' आता है।
तु० की० १०. १०१, ४।
[4] ८. २०, १९; २२, ६ में भी 'कृष्' मिलता है; पारिवारिक मण्डलों में से केवल ४. ५७, ४ में और 'वि-कृष्' के रूप में ४. ५७, ८ में ही मिलता है।

दुर्लभ हैं। अथर्ववेद में कृषि आरम्भ करने का श्रेय[5] *पृथी वैन्य* को दिया गया है, और ऋग्वेद तक में भी अश्विनों को 'हल' जोत कर बीज बोते हुये कहा गया है।[6] बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में कृषि का बार-बार उल्लेख है।[7]

ऋग्वेद[8] तक में भी कृषि को महत्त्वपूर्ण समझने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। पञ्चविंश ब्राह्मण[9] में अब्राह्मणवादी हिन्दू *व्रात्यों* द्वारा भूमि की कृषि न करने का वर्णन है।

कृषियोग्य भूमि को *उर्वरा* अथवा *क्षेत्र* कहा गया है; खाद (*शकन्*, *करीष*) का उपयोग होता था और सिंचाई भी की जाती थी (*खनित्र*)। हल (*लाङ्गल*, *सीर*) बैलों द्वारा खींचा जाता था जिसके लिये छ, आठ, और कभी-कभी बारह बैल तक प्रयुक्त होते थे।[10] कृषि सम्बन्धी विभिन्न क्रियाएँ शतपथ ब्राह्मण[11] में स्पष्टतापूर्वक इस प्रकार वर्णित हैं : 'जोतना, बोना, काटना और दवाँई करके अन्न अलग करना' (कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः)। पकी फसल को हँसिया (*दात्र*, *सृणि*) से काटा जाता था, उन्हें गट्ठरों में बाँधा जाता था[12] (*पर्ष*), और अन्नागार (*खल*)[13] की भूमि पर पटका जाता था। इसके बाद या तो चलनी (*तितौ*) से अथवा 'ओसा' कर (*शूर्प*)[14] तृण और भूसे से अनाज को अलग कर लिया जाता था।

[5] ८. १०, २४।

[6] १. ११७, २१।

[7] उदाहरण के लिये इन स्थलों पर 'कृषि' मिलता है : अथर्ववेद २. ४, ५; ८. २, १९; १०, २४; १०. ६, १२; १२. २, २७, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ७. १, ११, १ इत्यादि; मैत्रायणी संहिता १. २, २; ३. ६, ८; वाजसनेयि संहिता ४. १०; ९. २२; १४. १९. २१, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ७. २, २, ७; ८. ६, २, २ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, २, ५, इत्यादि। अथर्ववेद ६. ११६, १ में 'कार्षीवण' एक कृषक का द्योतक है। **कार्षमन्** भी देखिये।

[8] १०. ३४, १३; ११७, ७। तु० की० हॉपकिन्स : इन्डिया, ओल्ड एण्ड न्यू, २०८।

[9] १७. १।

[10] अथर्ववेद ६. ९१, १; काठक संहिता १५. २। तु० की० ऋग्वेद ८. ६, ४८; १०. १०१, ४।

[11] १. ६, १, ३।

[12] ८. ७८, १०; १०. १०१, ३; १३१, २।

[13] ऋग्वेद १०. ४८, ७।

[14] ऋग्वेद १०. ७१, २; अथर्ववेद १२. ३, १९। पारिभाषिक शब्द, अथर्ववेद ११. १, १२ में 'तुषैर वि-विच्', और १२. ३, १९ में 'पलावान् अप-विच' है।

ओसानेवाले को *धान्याकृत्*[15] कहा जाता था। एक पात्र में, जिसे *उर्दर*[16] कहते थे, अन्न को भर कर नापा जाता था।

उपार्जित अन्न के प्रकारों के सम्बन्ध में ऋग्वेद हमें अनिश्चित रखता है, क्योंकि *यव* एक सन्दिग्ध आशय का शब्द है और *धाना* भी अस्पष्ट है। बाद की संहिताओं[17] में वस्तुस्थिति भिन्न है। यहाँ चावल (*व्रीहि*) भी आता है, और 'यव' का अर्थ 'जौ', तथा इसकी एक जाति का नाम *उपवाक* है। *मुद्ग*, *माप*, *तिल* तथा अन्य प्रकार के अन्न, जैसे *अणु*, *खल्व*, *गोधूम*, *नीवार*, *प्रियङ्गु*, *मसूर*, *श्यामाक*, का भी उल्लेख है और *उर्वारू*, *उर्वारूक*, भी परिचित था। यह निश्चित नहीं है कि फलों के *वृक्ष* लगाये जाते थे अथवा वह वनों में स्वतः उगते थे[18]; किन्तु *कर्कन्धु*, *कुवल*, *वदर*, का अक्सर उल्लेख है।

कृषि की ऋतुओं का तैत्तिरीय संहिता[19] के एक स्थल पर संक्षिप्त उल्लेख है : जौ ग्रीष्म ऋतु में पकता था, और इसमें सन्देह नहीं कि जैसा आधुनिक भारत में होता है, इसे जाड़े में बोया जाता था; चावल शरद् ऋतु में पकता था, और वर्षा के आरम्भ में बोया जाता था; माप और तिल ग्रीष्म ऋतु की वर्षा के समय लगा दिया जाता था और जाड़े में पकता था। तैत्तिरीय संहिता[20] के अनुसार वर्ष में दो बार फसल (*सस्य*) काटी जाती थी। कौषीतकि ब्राह्मण[21] के अनुसार जाड़े की फसल चैत्र महीने तक पक जाती थी।

कृषकों को अनेक कठिनाइयाँ होती थीं : बिल में रहने वाले जीव (जैसे : चूहे, छछून्दर) बीजों को नष्ट कर देते थे; पक्षी और विभिन्न प्रकार के सर्प-श्रेणी के अन्य जीव (*उपक्वस*, *जभ्य*, *तर्द*, *पतङ्ग*) नये अङ्कुरों को हानि पहुँचाते थे; अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि से भी फसल को क्षति पहुँचती थी। अथर्ववेद में इन विपत्तियों[22] से बचाव के लिये अभिचारीय मन्त्र दिये गये हैं।

[15] ऋग्वेद १०. ९४, १३।

[16] ऋग्वेद २. १४, ११। स्थिवि भी देखिये।

[17] एक तालिका के लिये वाजसनेयि संहिता १८. १२ देखिये।

[18] ऋग्वेद ३. ४५, ४ में पके फल तोड़ने का उल्लेख है। तु० की० 'पक्का शाखा' ऋग्वेद १. ८, ८; 'वृक्ष-पक्व' ऋग्वेद ४. २०, ५; अथर्ववेद २०. १२७, ४। किन्तु यह फलों की खेती होने की बात प्रमाणित नहीं करता।

[19] ७. २, १०, २।

[20] ५. १, ७, ३।

[21] १९. ३। तु० की० कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ८१, नोट १।

[22] देखिये, अथर्ववेद ६.५०, १४२; ७,११। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३५–२४३।

कृष्टि—ऋग्वेद[1] और बाद में यह सामान्य रूप से 'व्यक्तियों' का द्योतक है। इस आशय में इसका बहुधा और नियमित प्रयोग यह सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है कि आर्य लोग भारत पर आक्रमण करने के पहले से ही कृषक थे, यद्यपि कृषि के अन्तर्गत वर्णित खेती करने से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि सभी लोग समान रूप से इस कार्य में लिप्त नहीं होते थे। इन्द्र और अग्नि, मनुष्यों (कृष्टि)[2] के अत्यन्त श्रेष्ठ अधिपति थे। कभी-कभी इस शब्द को 'मनुष्यों का' (मानुषीः[3], मानवीः)[4] विशेषण जोड़ कर और अधिक स्पष्ट रूप से पारिभाषित कर दिया गया है।

अक्सर[5] 'पाँच जाति के लोगों' (पञ्च कृष्टयः) का उल्लेख है। इस व्याहृति का ठीक-ठीक आशय संदिग्ध है। *पञ्च जनासः* देखिये।

[1] १. ५२, ११; १००, १०; १६०, ५; १८९, ३; ३. ४९, १; ४. २१, २ इत्यादि; अथर्ववेद १२. १, ३. ४।

[2] १. १७७, १; ४. १७, ५; ७. २६, ५; ८. १३, ९ (इन्द्र); १. ५९, ५; ६. १८, २; ७. ५, ५ (अग्नि)।

[3] ऋग्वेद १. ५९, ५; ६. १८, २।

[4] अथर्ववेद ३. २४, ३।

[5] ऋग्वेद २. २, १०; ३. ५३, १६; ४. ३८, १०; १०. ६०, ४; ११९, ६; १७८, ३; अथर्ववेद ३. २४, २; १२. १, ४२।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १४१।

१. कृष्ण (काला)—किसी श्यामवर्ण पशु या पक्षी का द्योतक है। जैसा कि इसके सन्दर्भ से प्रकट होता है, कुछ स्थलों[1] पर इसके द्वारा निश्चित रूप से एक 'मृग' का अर्थ है। कुछ अन्य स्थलों[2] पर हिंसक पक्षी का तात्पर्य प्रतीत होता है। *कृष्णाजिन* भी देखिये।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. २, ६, ५; ६. १, ३, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १; ३. २, १, २८। 'कृष्ण-विषाणा', (काले मृग की सींग), देखिये वही, ३. २, १, १८. २८; २, २०; ४. ४, ५, २; ५. ४, २, ५; तैत्तिरीय संहिता ६. १, ३, ७। देखिये अवशेष स्थलों को : मैत्रायणी संहिता ३. १४, १७; वाजसनेयि संहिता २४. ३६ (तु० की० २. १)।

[2] ऋग्वेद १०. ९४, ५; अथर्ववेद ११. २, २; शाङ्खायन आरण्यक १२. २७।

२. कृष्ण ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में एक ऋषि के नाम के रूप में आता है। परम्परा इसको, अथवा कृष्ण (कार्ष्णि) के पुत्र 'विश्वक' को बाद के सूक्त[2] का प्रणेता मानती है। 'कृष्णिय' शब्द भी इसी नाम से निष्पन्न पैतृक नाम[3]

[1] ८. ८५, ३. ४।

[2] ८. ८६।

[3] १. ११६, २३; ११७, ७।

हो सकता है जो ऋग्वेद[४] के दो अन्य सूक्तों में मिलता है जहाँ यह कहा गया है कि अश्विनों ने *विष्णापू* को, 'विश्वक कृष्णिय' को प्रत्यार्पित कर दिया था। इस दशा में 'कृष्ण', विष्णापू', का दादा रहा हो सकता है। यह 'कृष्ण' कौषीतकि ब्राह्मण[५] में उल्लिखित 'कृष्ण आङ्गिरस' के समतुल्य हो सकता है।

[४] 'कार्ष्ण्य' की अपेक्षा पैतृक नाम के रूप में यही एक मात्र रूप होगा (फिर भी तु० की० 'पज्रिय')।
तु० की० मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर २२८a और २००।

[५] ३०. ९।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०८; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ. ५२।

३. *कृष्ण देवकी-पुत्र* का छान्दोग्य उपनिषद्[१] में पौराणिक *घोर आङ्गिरस* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। परम्परा[२], और अनेक आधुनिक लेखक, जैसे ग्रियर्सन, गार्वे और फॉन श्रोडर, इसे महान् लोक-नायक 'कृष्ण' ही मानते हैं जो बाद में देवता के रूप में आता है। इन लोगों के विचार से ब्राह्मणवाद[३] के विपरीत यह नीति का एक क्षत्रिय गुरु है। किन्तु यह विचार अत्यन्त संदिग्ध है। ऐसा मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि या तो नामों का यह साम्य आकस्मिक है, अथवा इसका सन्दर्भ केवल एक सदूक्ति मात्र है। इस 'कृष्ण' को पहले के 'कृष्ण' के समतुल्य मानना, जैसा कि सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश मानता है, नितान्त निराधार है।

[१] ३. १७, ६।
[२] तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १६९।
[३] फॉनश्रोडर : वि० ज०, १९, ४१४, ४१५; ग्रियर्सन : एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन्स में 'भक्ति' पर लेख; गार्वे : भागवत गीता।
तु० की० वेबर : उ० पु० ७१; १४८; हॉपकिन्स : ज० ए० सो० १९०५, ३८६।

४. *कृष्ण हारीत* का ऐतरेय आरण्यक[१] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है। शाङ्खायन आरण्यक[२] के एक समानान्तर स्थल पर 'कृत्स्न' है।

[१] ३. २, ६।
[२] ८. १०।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३९१, नोट; इण्डियन लिटरेचर ५०।

कृष्ण-दत्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *श्यामसुजयन्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कृष्ण-धृति सात्यकि ('सत्यक' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *सत्यश्रवस्* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कृष्ण-रात लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *श्यामैजयन्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कृष्णल—यह घुँघुँची (Abrus precatorius) के बीज-फल का द्योतक है, जिसका बाद के विद्वानों के अनुसार बटखरे के रूप में प्रयोग होता था। एक माष (उर्द की फली) को चार कृष्णलों[1] के बराबर कहा गया है। बटखरे के आशय में यह तैत्तिरीय[2] और अन्य संहिताओं[3], तथा बाद[4] में भी आता है।

[1] मनु ८. १३४।
[2] २. ३, २, १ और बाद।
[3] मैत्रायणी संहिता २. २, २; काठक संहिता ११. ४ (हिरण्य कृष्णल)।
[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ६, ७; अनुपद सूत्र ९. ६। बाद की भाषा में इसे 'रक्तिका' अथवा 'गुञ्जा' भी कहा गया है (यह चिकनी और लाल रंग की होती है जिसके एक किनारे पर काला सा धब्बा या चिह्न होता है)।
तु० की० ज्योतिष ८२ और बाद, वेबर का संस्करण; इन्डिशे स्ट्रीफेन १, १०२, १०३।

कृष्णाजिन—यह काले मृग (कृष्ण) के चर्म (अजिन) का द्योतक है। सांस्कारिक कृत्यों में इसके उपयोग का बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में बार-बार उल्लेख है।

[1] अथर्ववेद ९. ६, १७; तैत्तिरीय संहिता २. ४, ९, २; ५. ४, ४, ४; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, २२; ४, १; ९, ७, ३५, इत्यादि।

कृष्णायस, (काली धातु), लोहा—इसका छान्दोग्य उपनिषद् (६. १, ६) में उल्लेख है। *अयस्* और *कार्ष्णायस* भी देखिये।

कृसर—सूत्रों में बहुधा उल्लिखित चावल और तिल की उष्णिका का द्योतक यह शब्द षडविंश ब्राह्मण[1] में आता है।

[1] ५. २। तु० की० वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३१५ और बाद।

केकय—यह एक जाति का नाम है जो बाद में और सम्भवतः वैदिक

काल में भी, उत्तर-पश्चिम में *सिन्धु* और *वितस्ता*[1] के बीच बसी थी। वैदिक ग्रन्थों में 'केकयों' का केवल उनके राजा *अश्वपति कैकेय*[2] के नाम द्वारा परोक्ष रूप से ही उल्लेख है।

[1] पार्जिटर : ज० ए० सो० १९०८, ३१७, ३३२।

[2] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, २ और बाद; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ४। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १२०; इन्डिशे स्टूडियन १, १२६।

१. **केतु**—यह एक ऐसा शब्द है जिसे अद्भुत ब्राह्मण में वेबर[1] एक 'उल्का' अथवा 'धूमकेतु' के आशय में ग्रहण करते हैं।

[1] इन्डिशे स्टूडियन १, ४१; 'अरुणा : केतव :' (अथर्ववेद ११. १०, १. २.७) जिसका सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में इसी आशय में उल्लेख है, किन्तु बौटलिङ्क द्वारा अपने कोश में इसका यह अर्थ स्वीकार नहीं किया गया है।

२. **केतु** *वाज्य* ('वाज' का वंशज) का वंश ब्राह्मण[1] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२।

केवर्त, कैवर्त—वाजसनेयि संहिता[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] के पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका में यह दोनों ही शब्द-रूप 'मछुये' के द्योतक हैं।

[1] ३०. १६, महीधर भाष्य सहित।

[2] ३. ४, १२, १, सायण भाष्य सहित।

केश, 'सर के बाल', का बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में बार-बार उल्लेख है। वैदिक भारतीयों के लिये केशों की सुरक्षा का बहुत महत्त्व था और केशों की प्रचुर मात्रा (सघन केश) प्राप्त करने के लिये अथर्ववेद[2] में अनेक सूक्त दिये गये हैं। केशों को कटवाने या मुड़वाने (वप्) का भी अक्सर उल्लेख है[3]। पुरुषों के लिये लम्बे बाल रखना स्त्रैण[4] माना जाता था। बालों

[1] अथर्ववेद ५. १९, ३; ६. १३६, ३ इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १९. २२; २०. ५; २५. ३; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, ४८ इत्यादि।

[2] ६. १३६, १३७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५३६, ५३७।

[3] अथर्ववेद ८. २, १७; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ३, १ इत्यादि। तु० की० औल्डेनबर्ग : रिलीजन डेस वेद ४२५ और बाद।

[4] शतपथ ब्राह्मण ५. १, २, १४। किन्तु तु० की० विन्सेन्ट स्मिथ : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी ३४, २०३।

को सँवारने की पद्धति के लिये देखिये *ओपश* और *कपर्द*, दाढ़ी के लिये देखिये *श्मश्रु*।

१. केशिन्, शतपथ ब्राह्मण[1] में आने वाली एक जाति का नाम है, जहाँ इसके राजा का *खण्डिक* से यज्ञ के समय किसी अपशकुन के उपशमन की विधि सीखने का उल्लेख है।

[1] ११. ८, ४, ६।
तु० की० पाणिनि ६. ४, १६५; एग्लिङ्ग : से०बु०ई० ४४, १३१,१३४।

२. *केशिन् दार्भ्य*[1] अथवा दाल्भ्य[2] ('दर्भ' का वंशज), कुछ अस्पष्टार्थक व्यक्तित्व है। शतपथ ब्राह्मण[3] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[4] के अनुसार यह एक राजा था। उक्त द्वितीय ग्रन्थ के अनुसार यह *उच्चैःश्रवस्* की बहन का पुत्र भी कहा गया है। इसकी जाति के लोग *पञ्चाल* थे; अतः 'केशिन्' लोग भी जिन्हें 'त्र्यनीक'[5] कहा गया है, इसी की एक शाखा रहे होंगे। मैत्रायणी संहिता[6] में *पण्डिक* के साथ इसके एक सांस्कारिक विवाद की कथा मिलती है और यही कथा एक भिन्न रूप से शतपथ ब्राह्मण[3] में भी आती है। मैत्रायणी[7] और तैत्तिरीय संहिताओं[8] के अनुसार यह एक अन्य सजातीय ऋषि, *केशिन सात्यकामि* का समकालीन था। पञ्चविंश ब्राह्मण[9] इसे एक 'सामन्' आरोपित करता है और कौषीतकि ब्राह्मण[10] यह वर्णन करता है कि किस प्रकार यह एक स्वर्ण पक्षी द्वारा शिक्षित किया गया था।

इस तथ्य को ध्यान में रखने पर कि आरम्भिक साहित्य 'दार्भ्य' का उल्लेख सदैव एक ऋषि के रूप में ही करता है, भाष्यकार का यह विचार

[1] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, कौषीतकि ब्राह्मण, और बाद में, बृहद्देवता में भी इस नाम का यही रूप है।

[2] काठक संहिता और पञ्चविंश ब्राह्मण में यह रूप है। बादमें ऋग्वेद अनुक्रमणी में भी यही आता है।

[3] ११. ८, ४, १ और बाद, जैसी कि सायण ने व्याख्या की है।

[4] ३. २९, १ और बाद।

[5] काठक संहिता ३०. २ (वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७१); जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण उ० स्था०; बौधायन श्रौतसूत्र २०. २५।

[6] १. ४, १२ (फान श्रोडर कोई अन्य पाठ नहीं देते; किन्तु 'प' और 'ख' पाण्डुलिपियों में नित्य ही अत्यधिक सङ्कुल और अस्पष्ट हैं)।

[7] १. ६, ५।

[8] २. ६, २, ३।

[9] १३. १०, ८।

[10] ७. ४।

सन्दिग्ध प्रतीत होता है कि शतपथ इसे एक राजा और जाति के सन्दर्भ में स्वीकार करता है; जब कि इसमें भी स्पष्टतः एक ऋषि मात्र का ही आशय हो सकता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण बहुत आधिकारिक प्रमाण नहीं है; इस ग्रन्थ ने यह मान लिया हो सकता है कि काठक संहिता[11] में 'केशिन्' जाति के राजा का द्योतक है; किन्तु यह कदाचित् ही आवश्यक है।

[11] ३०. २। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १९३, २०९; २, ३०८; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५८, ५९; सा० ऋ० ६२, नोट २।

३. *केशिन् सात्य-कामि* ('सत्यकाम' का वंशज) का एक गुरु और *केशिन् दार्भ्य* के समकालीन के रूप में तैत्तिरीय (२.६, २, ३) और मैत्रायणी (१.६, ५) संहिताओं में उल्लेख है।

केसर-प्राबन्धा—अथर्ववेद[1] में वर्णित *वैतहव्यों* के अपराधों की तालिका में 'केसरप्राबन्धा'—जो सम्भवतः एक 'वेणीयुक्त केशोंवाली'[2] स्त्री थी—की अन्तिम बकरी को पका देना (चरमाजाम्) भी एक अपराध बताया गया है। लुडविग[3], जिनका ह्विट्ने[4] ने भी अनुसरण किया है, इस स्थल को परिमार्जित (चरम-जाम्) करते हुए प्रतीत होते हैं जिससे इसका अर्थ एक गाय 'केसरप्राबन्धा' की 'अन्तिम उत्पन्न बछिया' हो जाता है। किन्तु यह व्याख्या इस नाम के अधिक अनुकूल नहीं है।

[1] ५. १८, ११।
[2] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४३२, ४३३।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद २, ४४७।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद २५२।

कैकेय (केकयों का राजा), *अश्वपति*[1] की एक उपाधि है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, २; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ४।

कैरात—अथर्ववेद[1] में यह एक सर्प, सम्भवतः आधुनिक 'करैत' का नाम है।

[1] ५. १३, ५। तु० की० अथर्ववेद २४३।

कैरातिका—'*किरात* जाति की एक कन्या' का अथर्ववेद (१०.४, १४) में औषधिक उपयोग के लिये जड़ें (मूल) खोदते हुये उल्लेख है।

कैरिशि 'किरिश' का वंशज—ऐतरेय ब्राह्मण (८. २८) में *सुत्वन्* का पैतृक नाम है।

कैवर्त—देखिये *केवर्त*।

कैशिनी—'कैशिन्यः प्रजाः' (केशिन् की सन्तान या जाति के लोगों)[1], का शतपथ ब्राह्मण[2] के एक अस्पष्ट स्थल पर उल्लेख है जो या तो इस ब्राह्मण[3] के समय में वर्तमान थे अथवा तब तक लुप्त हो चुके थे।

[1] सायण ऐसा ही मानते है।
[2] ११. ८, ४, ६।
३. तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, १३४ तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, २०८।

कैशोर्य—('कैशोरि' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिका) में यह *काप्य* का पैतृक नाम है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यन्दिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।

१. कोक—ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में आनेवाला यह शब्द 'कोयल' का द्योतक प्रतीत होता है। तीनों स्थलों पर जहाँ यह मिलता है, सायण इसकी *चक्रवाक* के रूप में व्याख्या करते हैं। अथर्ववेद में जहाँ यह आया है, रौथ[3] इसे एक विनाशकारी परोपजीवी पशु मानते हैं। तु० की० *अन्यवाप*।

[1] ७. १०४, २२ ('कोक-यातु' कोयल के रूप में एक प्रेत')।
[2] ५. २३, ४; ८. ६, २।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, ६। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४५४; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २६२; गेल्डनर : ऋग्वेद ग्लॉसर ४९; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९२।

२. *कोक* का शतपथ ब्राह्मण (१३.५, ४, १७) में पञ्चाल राजा *त्रासाह* के एक पुत्र के रूप में उल्लेख है।

कोकिल—कोयल का द्योतक यह शब्द, जो महाकाव्यों और बाद में बहुधा [आ]ता है, काठक अनुक्रमणी[1] में एक राजपुत्र का नाम होने के कारण वैदिक [का]ल में इसके (कोयल के) अस्तित्व का केवल अनुमान मात्र ही किया जा [स]कता है।

[1] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६०।

कोशेय, कौशेय—देखिये *रजन*।

कोल—बदरीक फल *कुवल* (Zizyphus jujuba) का दूसरा रूप है जिसका छान्दोग्य उपनिषद् (७.३, १) में उल्लेख है।

१. *कोश*—ऋग्वेद[1] में यह 'बाल्टी' का नाम है जिसका रस्सी की सहायता द्वारा कूयें (*अवत*) से जल खींचने के लिये उपयोग होता था। संस्कारों[2] में यह '*कलश*' से भिन्न, सोम रखने के एक पात्र का द्योतक है।

[1] १. १३०, २; ३. ३२, १५; ४. १७, ६। तु० कौ० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५६।

[2] ऋग्वेद ९. ७५, ३; अथर्ववेद १८. ४, ३०, इत्यादि। तु० कौ० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १. १८३ और बाद।

२. *कोश*—यह रथ[1] के शरीर भाग का द्योतक है। अनुमानतः यह धुरियों से बँधा रहता था; किन्तु सम्भवतः यह बहुत सुरक्षित नहीं होता था, क्योंकि 'पूषन्' के रथ के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है कि उसका कोश गिर न पड़े[2]। कोश को बाँधने के लिये प्रयुक्त रस्सियों[3] का सम्भवतः 'अक्षा-नः'[4] शब्द द्वारा संकेत है। उपलक्षणात्मक दृष्टि से यह शब्द समस्त रथ का भी द्योतक है[5]। *वन्धुर*, *रथ*, भी देखिये।

[1] ऋग्वेद १. ८७, २; १०. ८५, ७, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद ६. ५४, ३।

[3] 'गावः' ऋग्वेद ८. ४८, ५।

[4] १. अक्ष के अन्तर्गत देखिये।

[5] ऋग्वेद ८. २०, ८; २२, ९। तु० कौ० त्सिमर : उ० पु० २४६।

३. *कोश*—पुरुषमेध[1] के एक स्त्रीलिङ्ग बलिप्राणी की उपाधि *कोश-कारी* में इस शब्द (कोश) का ठीक-ठीक आशय अनिश्चित है। यह 'मियान' का द्योतक हो सकता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १०, १।

कोष—एक पुरोहित-परिवार के रूप में कोष-गण शतपथ ब्राह्मण[1] में आते हैं, जहाँ इनमें से एक, *सुश्रवस*, के नाम का भी उल्लेख है।[2]

[1] १०. ५, ५, ८।

[2] १०. ५, ५, १।

कोसल—एक जाति के लोगों का नाम है जो प्राचीनतम वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण[1] में वर्णित आर्य सभ्यता के प्रसार की कथा में *विदेघ माथव* की सन्तान के रूप में 'कुरु-पञ्चालों' की अपेक्षा 'कोसल-विदेह', ब्राह्मणवाद के प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत बाद में आते हैं। इसी स्थल पर 'कोसल' और 'विदेह', इन दोनों जातियों की सीमा *सदानीर* दी गई है।

[1] १. ४, १, १ और बाद।

अन्यत्र[२] इस बात का वर्णन है कि 'कौसल्य' अथवा 'कोसल' के राजा, *पर आट्णार हैरण्यनाभ* ने महान अश्वमेध यज्ञ किया था। शाङ्खायन श्रौतसूत्र[३] के एक स्थल के अनुसार इन लोगों का *काशि* और *विदेह* लोगों के साथ भी सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। वेबर[४] इस बात का उल्लेख करते हैं कि विदेह के होतृ-पुरोहित 'आश्वलायन' को, जो बहुत सम्भव है *अश्वल* का वंशज रहा हो, प्रश्न उपनिषद्[५] में एक कोसल कहा गया है। बाद में किया गया, उत्तर और दक्षिण कोसल का विभेदीकरण, वैदिक और बौद्ध दोनों ही साहित्यों[६] में अज्ञात है।

'कोसल' गंगा के उत्तर-पूर्व में लगभग उसी स्थान पर स्थित था जहाँ आधुनिक 'अवध' का क्षेत्र है।

[२] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ४।
तु० की० एक राजपुत्र 'हिरण्य-नाभ', प्रश्न उपनिषद् ३. २ में, और शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ९, १३ में एक 'कौसल्य' के रूप में, जब कि वही ११, में 'पर' को एक वैदेह बताया गया है।
[३] १६. २९, ५।
[४] इन्डिशे स्टूडियन १, १८२, ४४१।
[५] ६. १।
[६] औल्डेनबर्ग : बुद्ध ३९३, नोट।
तु० की० फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर १६७; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xlii; वेबर : इन्डियन लिटरेचर ३९, १३२ और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर २१३-२१५; रिज डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया २५।

कौकूस्त का शतपथ ब्राह्मण[१] में यज्ञ करने वाले पुरोहितों को 'दक्षिणा' देने वाले के रूप में उल्लेख है। काण्व शाखा में इस नाम का पाठ *कौक्थस्त*[२] है।

[१] ४. ६, १, १३।
[२] एग्लिङ्ग : से०बु०ई० २६, ४२६ नोट १।
तु० की० वेबर : इण्डियन लिटरेचर १३४।

कौशेय—देखिये रजन।

कौण्ठ-रव्य का एक गुरु के रूप में ऐतरेय[१] और शाङ्खायन[२] आरण्यकों में उल्लेख है।

[१] ३. २, २।
[२] ७. १४; ८. २।
तु० की० कीथ : ऐतरेय आरण्यक २४९।

कौण्डिनी—देखिये *पाराशरीकौण्डिनीपुत्र*।

कौण्डिन्य का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *शाण्डिल्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

विदर्भीकौण्डिन्य और नीचे का नाम भी देखिये।

[1] २. ५, २०; ४. ५, २६ (माध्यंदिन = २. ६, १; ४. ६, १ काण्व)

कौण्डिन्यायन का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के माध्यन्दिन शाखा के प्रथम वंश (गुरुओं की तालिका) में ''कौण्डिन्य' और 'आग्निवेश्य' के शिष्य के रूप में उल्लेख है। दूसरे वंश[2] में दो कौण्डिन्यों के शिष्य, 'और्णवाभ' के शिष्य, कौण्डिन्य' के शिष्य, 'कौण्डिन्य' के शिष्य, और 'कौण्डिन्य' तथा 'अग्निवेश्य' के शिष्य के रूप में इसका उल्लेख है। इन दोनों में से कोई भी वंश विशेष महत्व नहीं रखता[3]।

[1] २. ५, २०।

[2] ४. ५, २६।

[3] एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xxxiv।

कौतस्त—यह शब्द, जो एक बार द्वन्द्व में आता है, प्रत्यक्षतः पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्प-यज्ञ के दो अध्वर्यु पुरोहितों : *अरिमेजय* और *जनमेजय* का पैतृक नाम है।

[1] २५. १५, ३।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

कौत्स, ('कुत्स' के वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[1] में *माहित्थि* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। निरुक्त[2] में भी एक 'कुत्स' पर वेदों के महत्त्व को अस्वीकार करने का आक्षेप, तथा कुत्सों[3] के विरुद्ध आक्रमक भावना की एक तीव्र सांस्कारिक परम्परा है।

[1] १०. ६, ५, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ५, ४ (केवल काण्व शाखा में)।

[2] १. १५।

[3] उदाहरण के लिये आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १०. २०, १२; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २८५। तु० की० वेबर : इण्डियन लिटरेचर ७७, १४०।

कौत्सी-पुत्र (कुत्स के किसी स्त्री वंशज के पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद् के माध्यन्दिन शाखा (६. ४, ३१) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *बौधीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कौपयेय—यह *उच्चैःश्रवस्* का पैतृक नाम है।

कौम्भ्य ('कुम्भ्य' का वंशज) *बभ्रु* का पैतृक नाम है।

कौरम—देखिये कौरव।

कौरयाण ऋग्वेद[1] में प्रत्यक्षतः पाकस्थामन् का पैतृक नाम है। हॉपकिन्स[2] का विचार है कि इससे 'कौरायण' का तात्पर्य है।

[1] ८. ३, २१। तु० की० निरुक्त ५. २५। | [2] ज० अ० ओ० सो० १७, ९०, नोट २।

कौरव—यह 'खिलों'[1] के मूलपाठों और शाङ्खायन श्रौतसूत्र[2] की कुछ पाण्डुलिपियों में अथर्ववेद[3] के 'कौरम' का पाठ है जो कि एक दानस्तुति में रुशमों में से एक उदार दानी है।

[1] ५. ८, १ (शेफ्टेलोविट्ज़ : डी० ऋ० १५५)।
[2] १२. १४, १।
[3] २०. १२७, १। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६८९।

कौरव्य, (कुरुओं से सम्बद्ध), कुरु जाति के इस व्यक्ति का, राजा परिक्षित[1] के शासन के अन्तर्गत, अपनी पत्नी के साथ समृद्ध जीवन व्यतीत करते हुए वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण[2] में भी एक 'कौरव्य' राजा, बल्हिक प्रातिपीय का उल्लेख है, और बाद के आख्यान में आर्ष्टिषेण और देवापि को भी 'कौरव्य'[3] कहा गया है।

[1] १०. १२७, ८; खिल, ५. १०, २; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १२. १७, २। तु० की० वैतान सूत्र ३४. ९ में एक मन्त्र।
[2] १२. ९, ३, ३।
[3] निरुक्त २. १०।

कौरव्यायणी-पुत्र (कुरु के एक स्त्री वंशज का पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद् (५. १, १) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

कौरु-पञ्चाल (कुरु-पञ्चालों से सम्बन्धित), शतपथ ब्राह्मण (११. ४, १, २) में आरुणि का एक विशेषण है। इस जाति के एक प्रचलन का इसी शब्द द्वारा इसी ग्रन्थ (१. ७, २, ८) में उल्लेख है।

कौलकावती दो व्यक्ति हैं, जिनका मैत्रायणी संहिता (२. १, ३) में पुरोहितों के रूप में रथप्रोत दार्भ्य को परामर्श देने का उल्लेख है।

कौलाल—यह एक शब्द है, जो वाजसनेयि संहिता[1] के भाष्यकार महीधर के अनुसार एक वंशानुगत कुम्हार ('कुलाल' अथवा 'कुम्हार' का पुत्र) का द्योतक है। अन्य संहिताओं[2] में कुलाल है।

[1] ३०. ७।
[2] मैत्रायणी संहिता २. ९, ५; काठक संहिता १७. १३, और तु० की० वाजसनेयि संहिता १६. २७।

कौलितर का ऋग्वेद[1] में एक *दास* के रूप में उल्लेख है। प्रत्यक्षतः यह नाम *शम्बर* की एक उपाधि है, जिसका अर्थ "'कुलितर' का पुत्र' है : यह इस बात का संकेत करता है कि शम्बर एक पार्थिव शत्रु था, न कि केवल एक राक्षस[2]।

[1] ४. ३०, १४।
[2] तु० की हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २७३; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ६४, १६१।

कौलीक भी, *कुलीका* की ही भाँति, यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में एक प्रकार के पक्षी का नाम है।

[1] वाजसनेयि संहिता २४. २४; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ५।

कौशाम्बेय ('कुशाम्ब' का वंशज), शतपथ ब्राह्मण[1] में सेन्टपीटर्स वर्ग कोश के अनुसार यह *प्रोति* के एक गुरु का नाम है : इस दृष्टिकोण की पुष्टि इस तथ्य द्वारा की गई है कि वास्तव में *कूशाम्ब* एक व्यक्ति के नाम के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में आता है। फिर भी, यह सम्भव है कि इस शब्द का अर्थ 'कौशाम्बी नगर का रहने वाला' हो, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण[3] पर अपने भाष्य में हरिस्वामिन् ने माना है।

[1] १२. २, २, १३; गोपथ ब्राह्मण, १. २. २४।
[2] ८. ६, ८। यह नाम बाद (महाकाव्य) में भी 'कुशाम्ब' के रूप में मिलता है।
[3] एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, १५३, नोट ५।
तु० की वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. १९३; रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, ३, ३६; ओल्डेनबर्ग : बुद्ध ३९७।

कौशिक—यह 'कुशिकों से सम्बन्धित' होने के रूप में इन्द्र का, और 'कुशिक-पुत्र'[1] होने के रूप में *विश्वामित्र* की भी उपाधि है। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *कौण्डिन्य* के शिष्य के रूप में 'कुशिक' नामक एक गुरु का उल्लेख है।

[1] बाद के एक खिल में, शेफ्टेलोवित्ज़, डी० ऋ० १०४।
[2] २. ६, १; ४. ६, १ (काण्व शाखा)।

कौशिकायनि ('कौशिक' का वंशज) का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में एक गुरु, और *घृतकौशिक* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] २. ५, २१; ४. ५, २७ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)।

कौशिकी-पुत्र ('कुशिक' के एक स्त्री वंशज का पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद् (६. ५, १) के काण्व शाखा के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *आलम्बीपुत्र* और *वैयाघ्रपदीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

कौश्रेय ('कुश्रि' का वंशज) काठक संहिता (२०.८; २१.९) में *सोमदत्त* का पैतृक नाम है।

कौषारव ('कुषारु' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (८. २८) में *मैत्रेय* का पैतृक नाम है।

कौषीतकि ('कुषीतक' का वंशज) एक गुरु अथवा गुरुओं की एक परम्परा का पैतृक नाम है, जिनको कौषीतकि ब्राह्मण[1] और शाङ्खायन आरण्यक[2], तथा श्रौत और गृहसूत्रों[3] द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त आरोपित किये गये हैं। अन्यत्र इसका बहुत कम उल्लेख है[4]। कौषीतकि के सिद्धान्तों को कौषीतक[5] कहा गया है। कौषीतकि के शिष्य निदानसूत्र[6] में कौषीतकिगण के रूप में व्यक्त हैं, और पञ्चविंश ब्राह्मण[7] में कुषीतक के साथ यह लोग *लुशाकपि* द्वारा शापित कहे गये हैं। अन्यत्र[8] इन्हें कौषीतकिन् कहा गया है। यदि शाङ्खायन आरण्यक[9] पर विश्वास किया जा सकता है, तो इनमें दो प्रमुख गुरु, *कहोड* और *सर्वजित्* थे, जिनमें से प्रथम का अन्यत्र[10] उल्लेख है।

[1] २. ९; ७. ४. १०; ८. ८; ११. ५. ७; १४. ३. ४; १५. २; १६. ९; १८. ५; २२. १. २; २३. १. ४; २४. ८. ९; २५. ८. १०.१४. १५, इत्यादि।

[2] २. १७; १५. १; कौषीतकि उपनिषद् २. १. ७।

[3] शाङ्खायन श्रौतसूत्र ४. १५,११; ७. २१, ६; ९. २०, ३३; ११. ११, ३. ६, इत्यादि।

[4] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ३, १; छान्दोग्य उपनिषद् १. ५, २।

[5] कौषीतकि ब्राह्मण ३. १; १९. ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ४. २, १३; ११. १४, २६; अनुपद सूत्र। २. ७; ७. ११; ८. ५, इत्यादि।

[6] ६. १२।

[7] १७. ४, ३।

[8] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १०. १, १०। आश्वलायन गृह्य सूत्र १. २३।

[9] तु० की० कीथ : शाङ्खायन आरण्यक १४, २४, ७१।

[10] शतपथ ब्राह्मण २.४,३, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १; आश्वलायन गृह्य-सूत्र ३. ४।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १. २५९; २, २८९ और बाद; इन्डियन लिटरेचर ४४ और बाद; लिन्डनर : कौषीतकि ब्राह्मण ९।

कौष्य—('कोष' का वंशज) *सुश्रवस्* का पैतृक नाम है।

कौसल्य, (कोसल का राजा) शतपथ ब्राह्मण[1] में *पर आट्णार* की, और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में *हिरण्यनाभ* की उपाधि है। 'कोसल देश के रहने-

[1] १३. ५, ४, ४।

[2] १६. ९, १३। तु० की० १६. २९, ५।

वाले के रूप में' 'आश्वलायन' को प्रश्न उपनिषद्[3] में 'कौसल्य' कहा गया है, और 'काशि-कौसल्याः' अथवा 'काशियों और कोसल के लोगों' का गोपथ ब्राह्मण[4] में उल्लेख है।

[3] १. १।

[4] १. २,९ (अक्षर-विन्यास 'कौशल्याः' है)।

कौसित—यह 'कुसितायिन्' दैत्य के सन्दर्भ में, एक झील के नाम के लिये मैत्रायणी संहिता (२.१, ११) में आता है। काठक संहिता (१०.५) में इसके स्थान पर 'कौसिद' है।

कौसुरुविन्दि, '*कुसुरुविन्द* का वंशज'—शतपथ ब्राह्मण (१२.२, २, १३) में *प्रोति कौशाम्बेय* का पैतृक नाम है। गोपथ ब्राह्मण (१.४, २४) में इसका रूप 'कौसुरविन्दु' है।

कौहाड, 'कोहड का वंशज'—यह एक गुरु *मित्रविन्द* का, जिसका वंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है, और साथ ही *श्रवणदत्त* का भी, पैतृक नाम है।

[1] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२, ३८२, और बाद। 'कौहडीयों' की एक परम्परा से गोभिल गृह्यसूत्र ३. ४, ३४ भी परिचित है।

क्रतु-जित् जानकि (*जनक* का वंशज) यजुर्वेद[1] में *रजन कौणेय* के पुरोहित के रूप में उल्लेख है। *क्रतुविद्* भी देखिये।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ३, ८, १; काठक संहिता ११. १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३. ४७४।

क्रतु-विद् जानकि (*जनक* का वंशज) का ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४) में अग्नि से 'सोम' सम्बन्धी एक सिद्धान्त सीखे होने के रूप में उल्लेख है।

क्रय, एक ऐसा शब्द है जो वस्तुतः ऋग्वेद में नहीं आता, यद्यपि 'क्री' क्रिया, जिससे यह संज्ञा शब्द व्युत्पन्न हुआ है, ऋग्वेद[1] में मिलती है। बाद की संहिताओं[2] में इसके संज्ञा और क्रिया दोनों ही रूप सामान्य रूप से मिलते हैं। ऋग्वेद[3] में नियमित रूप से क्रय, विनिमय के रूप में किया जाता था : उपासना के लिये इन्द्र की (प्रतिमा) का सम्भव मूल्य दस

[1] ४. २४, १०।

[2] 'क्रय' : तैत्तिरीय संहिता ३. १, २, १; ६. १, ३, ३; वाजसनेयि संहिता ८. ५५; १९. १३; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, २, १० इत्यादि; 'क्री' : अथर्ववेद ३. १५, २; तैत्तिरीय संहिता ६. १, १०, ३; ७. १, ६, २, इत्यादि; 'अप-क्री' : अथर्ववेद ८. ७, ११; 'परि-क्री' : अथर्ववेद ४. ७,६, इत्यादि; 'वि-क्री' : वाजसनेयि संहिता ३. ४९, इत्यादि।

[3] ४. २४, १०।

गायें माना जाता था, जब कि अन्यत्र यह भी कहा गया है कि (स्वयं) इन्द्र[४] को क्रय करने के लिये एक सौ, एक सहस्र, अथवा असंख्य गायें भी पर्याप्त मूल्य (शुल्क) नहीं हैं। अथर्ववेद[५], परिधान (दूर्श), चादरें (पवस्त), बकरे के चर्म (अजिन) आदि का वाणिज्य की सम्भाव्य वस्तुओं के रूप में उल्लेख करता है। बाज़ारों में मोल-भाव होने की बात ऋग्वेद[६] के समय में भी परिचित थी, और अथर्ववेद[७] के एक विशेष सूक्त का उद्देश्य ही व्यवसाय में सफलता प्रदान करना है। 'मूल्य' को *वस्न* कहा जाता था, तथा व्यवसायी को *वणिज्*, और इनके लोभी होने की बात भी सुपरिचित थी[८]।

मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में किसी प्रामाणिक प्रतिमान के प्रचलन का विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जहाँ किसी प्रामाणिक प्रतिमान का निश्चित उल्लेख नहीं है वहाँ इसकी इकाई सम्भवतः एक गाय[९] है। फिर भी शतपथ ब्राह्मण[१०] के अनेक स्थलों पर, तथा अन्यत्र[११], 'हिरण्यं शत-मानम्' व्याहृति द्वारा यह व्यक्त होता है कि गायों के अतिरिक्त भी कोई प्रतिमान रहा होगा; यद्यपि इन सभी स्थलों पर इसका अर्थ 'सौ गायों के मूल्य के बराबर स्वर्ण' भी किया जा सकता है। किन्तु तौल के एक बटखरे[१२] के रूप में *कृष्णल*

[४] ऋग्वेद ८. १, ५।

[५] ४. ७, ६।

[६] ४. २४, ९। देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १. ४१९, ४२०, सा० ऋ० ९१ को शुद्ध करते हुए, और ४. २४ पर गेल्डनर का कम्मेन्टर।

[७] ३. १५। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३५२; ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद १११, ११२।

[८] ऋग्वेद १. ३३, ३ और देखिये **पणि**।

[९] तु० की० शतपथ ब्राह्मण १३.४, २, १ पर हरिस्वामिन् जहाँ यह 'साहस्राहं' का अनुवाद 'एक सहस्र गायों के मूल्य के बराबर' कहते हैं और जिनका एग्लिङ्ग ने भी अनुगमन किया है; कात्यायन श्रौत्रसूत्र २२. १०, ३३ पर संक्षिप्तसार।

[१०] १२. ७, २, १३; ९, १, ४; १३. १, १, ४; २, ३, २; ४, १, १३; १४. ३, १, ३२।

तु० की० ५. ५, ५, १६; १३. ४, १, ६।

[११] पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ३, २, जहाँ '—मान' के साथ संख्यात्मक यौगिक शब्दों की एक लम्बी तालिका आती है; काठक संहिता ८. ५; १४. ८; २२. ८।

[१२] तु० की० काठक संहिता ११. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ६, ७; अनुपद सूत्र ९. ६; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ९९-१०३।

तु० की० तिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५५-२६०। अधिक अंशों में 'विनिमय' पद्धति जातकों के समय तक समाप्त हो गई थी जो (जातक) आधुनिक समाज के स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। देखिये श्रीमती रिज़ डेविड्स : ज० ए० सो० १९०१, ८७४ और बाद।

का प्रयोग इस बात का संकेत करता है कि उक्त व्याहृति का अर्थ 'एक सौ कृष्णलों की तौल के बराबर स्वर्ण' है, और यही अधिक सम्भव व्याख्या भी है। ऋग्वेद में यह इकाई परिचित प्रतीत नहीं होती, जहाँ केवल एक बार आनेवाले शब्द *मना* का अर्थ दुर्बोध है, तथा जहाँ आधुनिक भारत में आभूषणों की भाँति कण्ठहार (*निष्क*) सम्पत्ति का एक अधिक सुवहनीय रूप रहा प्रतीत होता है जो सम्भव है विनिमय का माध्यम भी रहा हो।

क्रवण—ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आनेवाले इस शब्द को लुडविग[2] यज्ञ करनेवाले 'होतृ' पुरोहित का नाम मानते हैं। पहले[3] तो रौथ इसे कोई आशय प्रदान किये बिना ही एक विशेषण मानते थे, किन्तु बाद में[4] इसका अर्थ 'भीरु' माना। सायण इसकी व्याख्या 'उपासना करना' करते हैं। औल्डेनवर्ग[5] इसका अर्थ अनिश्चित मानते हुये 'बलिप्राणी को मारनेवाला' एक सम्भव अर्थ बताते हैं।

[1] ५. ४४, ९।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[4] बौटलिङ्क का कोश व० स्था०।
[5] ऋग्वेद-नोटेन १, ३४२।

क्रव्य (कच्चा मांस), मनुष्यों द्वारा खाये जाने का वैदिक साहित्य में कभी भी उल्लेख नहीं है। केवल राक्षसों को ही इसे खानेवाला कहा गया है।[1] इनके अतिरिक्त मृतक शवों को आत्मसात कर लेनेवाले के रूप में अग्नि को 'क्रव्याद्' (कच्चा मांस खानेवाला) कहा गया है[2]। ऋग्वेद में जो एक व्यक्ति भूख के कारण कुत्ते का मांस खाने के लिये विवश होता है वह भी उसे पका लेता है[3]।

[1] ऋग्वेद ७. १०४, २; १०. ८७, २. १९; १६२, २; अथर्ववेद ३. २८, २; ४. ३६, ३; ५. २९, १० इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १०. १६, ९. १०। देखिये मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० ९७, १६५।
[3] ४. १८. १३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७०, २७१।

क्रातु-जातेय जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २; ४. १६, १) में *राम क्रातुजातेय वैयाघ्रपद्य* का पैतृक नाम है।

क्रिमि—देखिये *कृमि*।

क्रिवि को शतपथ ब्राह्मण[1] में *पञ्चालों* का एक पुराना नाम बताया गया

[1] १३. ५, ४, ७।

है। यह कथन वहाँ उल्लिखित राजा के नाम क्रव्य *पाञ्चाल* द्वारा पुष्ट होता है। ऋग्वेद[2] में क्रिविगण *सिन्धु* और *असिक्नी* के किनारे बसे हुये लोगों के रूप में आते हैं। त्सिमर[3] का यह एक उपयुक्त अनुमान है कि कुरुओं के साथ मिलकर यही लोग *वैकर्ण* बन गये[4]। पञ्चालों का महत्त्व और क्रिवियों की नगण्यता की आंशिक व्याख्या इस तथ्य द्वारा होती है कि बाद के कुरु-पञ्चाल सम्मिलन के अन्तर्गत *भरत* लोग भी सम्मिलित थे। जैसा कि औल्डेनबर्ग[5] का विचार है, शतपथ ब्राह्मण[6] द्वारा यह भी सम्भव है कि *तुर्वश* लोग तो पञ्चालों के अन्तर्गत थे, साथ ही इसके नाम से यह भी व्यक्त होता है कि सम्भवतः इसके अन्तर्गत अन्य जातियाँ भी थीं। अथवा, यदि हॉपकिन्स का यह दृष्टिकोण[7] स्वीकार कर लिया जाय कि तुर्वश 'यदुओं' का राजा था तो यह सम्भव है कि यदु लोग क्रिवियों के साथ अंशतः सम्बद्ध होकर पञ्चाल बन गये।

[2] ८. २०, २४; २२, १२। अन्यत्र 'क्रिवि' का आशय सन्दिग्ध है। अनेक स्थलों (१. ३०, १; ८. ८७, १; ९. ९, ६, और कदाचित- १. १६६, ६ जहाँ 'क्रिविर्-दती' विद्युत (चपला) का एक विशेषण है) पर औल्डेनबर्ग ऋग्वेद-नोटेन १, १६६, ३४१ में इस शब्द का अर्थ 'घोड़ा' समझते हैं। अन्यत्र (२. १७, ६; २२, २; ८. ५१, ८) यह इसे एक व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं, जब कि ५. ४४, ४ में इन्हें इसके अर्थ पर सन्देह है। अन्त में उद्धृत स्थलों पर यही दृष्टिकोण अत्यन्त ठीक हो सकता है।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १०३।

[4] तु० की० कवष।

[5] बुद्ध, ४०४।

[6] १३. ५, ४, १६।

[7] ज० अ० ओ० सो० १५, २५८ और बाद। यह दृष्टिकोण कदाचित् ही विश्वसनीय है, जब कि 'तुर्वशों' के लुप्त हो जाने का, उनका 'क्रिवियों' के साथ पाञ्चालों में विलीन हो जाने के द्वारा सरलता से समाधान हो जाता है। महाकाव्य में क्रिवियों का नाम भी उसी प्रकार पूर्णतया लुप्त हो गया है जिस प्रकार तुर्वशों का (पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, ४८, नोट ४, ५)। तु० की० मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १५५, १५७; ग्रियर्सन : ज० ए० सो० १९०८, ६०२-६०७; कीथ : वही ८३१ और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५२, १५३; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, xli; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ४०७।

क्रीत वैत-होत्र ('वीतहोत्र' का वंशज) का मैत्रायणी संहिता (४.२,६) में कुरुओं के सन्दर्भ में उल्लेख है।

१—क्रुञ्च्[1], क्रुञ्च[2], क्रौञ्च[3],—यह सभी क्रौंच पक्षी के नाम के विभिन्न रूप है। यजुर्वेद[1] में इस पक्षी को दूध और पानी मिला देने पर उसमें से से दूध मात्र खींच लेने के गुण से युक्त बताया गया है, जिसे ही बाद में हंस का गुण कहा गया है।[4]

[1] मैत्रायणी संहिता ३.११,६; काठक संहिता ३८. १; वाजसनेयि संहिता १९. ७३ और बाद; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, २, १–३।

[2] वाजसनेयि संहिता २४. २२. ३१ (२५. ६ में आशय अत्यन्त अनिश्चित है); मैत्रायणी संहिता ३. १४, ३।

[3] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १।

[4] लैनमैन : ज० अ० ओ० सो० १९, १५१–१५८; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १५०।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९१, ९२।

२—क्रुञ्च् आङ्गिरस, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में 'क्रौञ्च' नामक एक सामन् के द्रष्टा का नाम है। सामन् के नाम की व्याख्या करने के लिये इसका आविष्कार निश्चित रूप से इस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर किया गया है कि सामनों का नामकरण उनके रचयिताओं के नाम पर किया जाता था, यद्यपि इस सिद्धान्त के अनेक अपवाद[2] हैं।

[1] १३. ९, ११; ११, २०।

[2] हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६८। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १६०।

क्रुमु एक नदी का नाम है जिसका ऋग्वेद में दो बार—एक बार पञ्चम मण्डल[1] और एक बार अन्तिम के 'नदी-स्तुति'[2] में, उल्लेख है। इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि यह सिन्धु[3] नदी में पश्चिम से आकर मिलने वाली सहायक नदी, आधुनिक 'कुरुम' के ही समतुल्य है।

[1] ५. ५३, ९।

[2] १०. ७५, ६।

[3] रौथ : निरुक्त (टिप्पणी) ४३; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।

क्रुमुक—'लकड़ी' के नाम के रूप में यह क्रमुक का ही एक भिन्न रूप है।[1]

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. १, ९, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ७, ३।

क्रैव्य—क्रिवियों[1] के राजा पाञ्चाल के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण[2] में यह उल्लेख है कि इन्होंने परिवक्रा के निकट अश्वमेध यज्ञ किया था। फिर भी,

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० में यही है; वेबर : इन्डियन लिटरेचर १२५, नोट; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०९, नोट।

[2] १३. ५, ४, ७।

एग्लिङ्ग[3] इस शब्द को व्यक्ति वाचक नाम 'क्रैव्य' मानते हैं जो एक पाञ्चाल राजा था।

[3] से० बु० ई० ४४, ३९७ (किन्तु तु० की० पृ० ३९८ का शीर्ष भाग भी।

क्रोश—यह दूरी के नाप के रूप में (शब्दार्थः 'ज़ोर से चिल्लाने की ध्वनि' द्वारा मौखिक ध्वनि के सुनाई देने की दूरी को व्यक्त करते हुये) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में मिलता है।

[1] १६. १३, १२। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ८, ४३२-और बाद। बाद के साहित्य में यह लगभग दो मील के बराबर है। लोक भाषा में 'कोस' के रूप में यह शब्द आज भी प्रयुक्त होता है और भारतवर्ष में दूरी का सर्व प्रचलित नाप है।

क्रोष्टृ, (शब्दार्थः 'कोलाहल करनेवाला') 'गीदड़', को ऋग्वेद[1] में जङ्गली सूअर (*वराह*) की तुलना में कायर प्रकृति का जीव बताया गया है। अथर्ववेद[2] में इसे शव भक्षण करनेवाला कहा गया है। यह शब्द वाजसनेयि संहिता[3] में भी आता है जहाँ भाष्यकार इसे गीदड़ के दूसरे नाम 'शृगाल' के साथ रखते हैं। *लोपाश* भी देखिये।

[1] १०. २८, ४।
[2] ११. २, २।
[3] २४. ३२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८४।

१—क्रौञ्च—देखिये *क्रुञ्च्*।

२—क्रौञ्च—एक पर्वत के नाम के रूप में यह केवल सबसे बाद के वैदिक साहित्य[1] में आता है।

[1] तैत्तिरीय आरण्यक १. ३१, २। देखिये वेबर : इन्डियन लिटरेचर ९३; इन्डिशे स्टूडियन १, ७८।

क्रौञ्चिकी-पुत्र, ('क्रौञ्च' के एक स्त्री वंशज का पुत्र) का *वैदृभतीपुत्र*[1] के शिष्य के रूप में बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के अन्तिम वंश में उल्लेख है।

[1] माध्यंदिन शाखा ६. ४, ३२ में 'वैद-भृतीपुत्र है।
[2] ६. ५, २ (काण्व)।

क्रौष्टुकि, ('क्रोष्टुक' का वंशज) का निरुक्त[1], बृहद्देवता[2] और छन्दों[3] में

[1] ८. २।
[2] ४. १३७। तु० की० इन्डिशे स्टूडियन १, १०५।
[3] ५।

एक वैयाकरण के रूप में, किन्तु अथर्ववेद परिशिष्ट[४] में एक ज्योतिषी के रूप में उल्लेख है।

[४] वेबर : वर्लिन कैटलॉग ऑफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, १, ९४। देखिये, वॉलिङ्ग और फॉन नेगेलेन : परिशिष्ट ऑफ अथर्ववेद २, ४३८ और बाद, जहाँ परिशिष्ट lxviii (स्वप्नाध्यायः) १. २; २. ८, में यह नाम 'क्रोष्टुकि' के रूप में आता है। तु० की० वेबर : ज्योतिष १२; इन्डियन लिटरेचर ६१।

कयि—यह यजुर्वेद[१] में एक प्रकार के पक्षी का नाम है जो अश्वमेध के वलिप्राणियों की तालिका में आता है। मैत्रायणी संहिता[२] में इसका रूप 'कुवय' है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १; वाजसनेयि संहिता २४. २९।
[२] ३. १४, १८।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९९।

कल एक पदार्थ, कदाचित्[१] 'वदरीक' फल कुवल के समतुल्य है, जिसका तैत्तिरीय संहिता[२] के अनुसार दूध को जमाने के लिये प्रयोग किया जाता था।

[१] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[२] २. ५, ३, ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २२७।

क्षत—त्सिमर[१] इसे अथर्ववेद[२] में एक विशेष प्रकार की व्याधि (एक प्रकार का फुफ्फुसीय यक्ष्मा, Phthisis pulmonalis) का द्योतक मानते हैं, किन्तु यह शब्द सम्भवतः एक विशेषण[३] मात्र है।

[१] आल्टिन्डिशे लेवेन ३७७।
[२] ७. ७६, ४ (जहाँ पाठ सन्दिग्ध है, और मूल 'अक्षित' है। देखिये अक्षत।
[३] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५०९; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ४४२।

क्षत्तृ वाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में बहुधा आनेवाला एक शब्द है जो राजकीय परिचारकवर्ग के एक सदस्य का द्योतक है; किन्तु इसका आशय कुछ अनिश्चित सा है। ऋग्वेद[१] में अपने उपासकों को अच्छे पदार्थों के 'वितरक' के रूप में इसका एक देवता के लिये प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद[२] तथा अन्यत्र[३]

[१] ६. १३, २।
[२] ३. २४, ७; ५. १७, ४।
[३] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ६; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ९, १६।

भी यही आशय निहित प्रतीत होता है। वाजसनेयि संहिता[४] के एक स्थल पर भाष्यकार महीधर ने 'द्वारपाल' के रूप में इसकी व्याख्या की है और अन्य स्थलों[५] पर भी यही आशय सम्भव प्रतीत होता है; जब कि सायण शतपथ ब्राह्मण[६] के एक स्थल पर इसको अधिक प्रतिष्ठित अर्थ 'अन्तःपुराध्यक्ष' प्रदान करते हैं। एक अन्य स्थल[७] पर 'सारथि' का आशय भी असम्भव नहीं है। बाद में 'क्षत्तृ' एक मिश्रित जाति का व्यक्ति माना जाने लगा।[८]

[४] ३०. १३। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ३, ५।

[५] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ४, २; मैत्रायणी संहिता २. ९, ४; काठक संहिता १७. १३; छान्दोग्य उपनिषद् ४, १, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १, ४।

[६] ५. ३, १, ७। तु० की० १३. ४, २, ५, (आयव्ययाध्यक्ष) पर और १३. ५, ४, ६ (कोशाध्यक्ष) पर हरिस्वामिन्। कात्यायन श्रौतसूत्र १५. ३, ९ पर टीकाकार 'मंत्री दूतो वा', और २०. १, १६ पर 'प्रतीहारो दूतो वा' मानते हैं। एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ६१ इत्यादि, में इसका 'अन्तःपुराध्यक्ष' के अर्थ में अनुवाद करते हैं।

[७] वाजसनेयि संहिता १६. २६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १ (टीकाकार की टिप्पणी सहित) और वही, 'अनुक्षत्तृ' की 'सारथेर अनुचर' के रूप में व्याख्या; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. १, २० (टीकाकार की टिप्पणी सहित)।

[८] मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], ४८१। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन २, ३६; १७, २१०; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

१. क्षत्र—देवों और मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त 'प्रभुत्व', 'शासन', 'शक्ति', आदि के सामान्य आशय में यह शब्द ऋग्वेद[१] और उसके बाद बहुधा मिलता है। ऋग्वेद[२] और बाद[३] में यह शब्द 'शासक' के विशेष अर्थ में भी मिलता है; किन्तु ऋग्वेद में निश्चित[४] रूप से पुरोहितों (*ब्रह्मन्*), प्रजाजन (*विश्*, *वैश्य*), और सेवक वर्ग (*शूद्र*) के विपरीत यह 'शासक वर्ग' के उस आशय

[१] १. २४, ११; १३६, १. ३; ४. १७, १; ५. ६२, ६ इत्यादि; अथर्ववेद ३. ५, २; ५. १८, ४ इत्यादि। इसी आशय में 'क्षत्र-श्री', ऋग्वेद १. २५, ५; ६. २६, ८; 'क्षत्र-भृत', प्रभुत्व प्रदान करने वाला। तैत्तिरीय संहिता २. ४, ७, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, ६, १२; ७, ६, ३ वाजसनेयि संहिता २७, ७ इत्यादि।

[२] एक वचन : १. १५७, २; ८. ३५, १७

[३] बहुवचन : अथर्ववेद ४. २२, २; वाजसनेयि संहिता १०. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, ६, ३।

[४] देखिये रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, और **वर्ण**।

में कहीं भी नहीं प्रयुक्त हुआ है जिसका यह वाद की संहिताओं[५] में नियमित रूप से द्योतक है। *क्षत्रिय* भी देखिये। 'राजा' के समानार्थी के रूप में एक 'क्षत्र-पति' का अनेक वार उल्लेख है[६]।

[५] अथर्ववेद २. १५, ४; ९. ७, ९; १२. ५, ८; १५. १०, ५ इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता १. ६, १, २; २. २, ११, २ इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ५. २७; १४. २४; १८. ३८ इत्यादि। अन्य उद्धरण **वर्ण** के अन्तर्गत देखिये।

[६] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १४, २; वाजसनेयि संहिता १०. १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७. ८, ५; शतपथ ब्राह्मण ५. ४, २, २।

२. *क्षत्र* एक व्यक्ति का नाम प्रतीत होता है जिसका *मनस*, *यजत*, और *अवत्सार* सहित अन्य के साथ ऋग्वेद[१] के एक अस्पष्ट स्थल पर उल्लेख है।

[१] ५, ४४, १०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३८।

क्षत्र-विद्या, (शासक वर्ग का शास्त्र), का छान्दोग्य उपनिषद्[१] में उल्लेख है। शङ्कर इस शब्द को 'धनुर्-वेद' के साथ रखते हैं जो कि इसका सर्वाधिक सम्भव आशय है[२]।

[१] ७. १, २. ४; २, १; ७, १।

[२] हॉपकिन्स : ज०अ०ओ०सो० १३,१०४।

क्षत्रिय—जातियों का आरम्भ, उनका परस्पर सम्बन्ध, अन्तर-जातीय विवाह, और अन्य सजातीय विषयों का वर्णन *वर्ण* के अन्तर्गत अधिक सुविधापूर्वक किया जा सकता है। अतः प्रस्तुत लेख को यथासाध्य 'क्षत्रिय', अथवा सामूहिक रूप से *क्षत्र* कहे जानेवाले वर्ग की वास्तविक प्रकृति के निर्धारण तक ही सीमित रक्खा जायगा।

जातकों[१] में उपलब्ध प्रमाण इस वात का संकेत करते हैं कि 'खत्तिय' शब्द एक तो पुरानी आर्य जाति के उन कुलीन या विशिष्ट सदस्यों का द्योतक है जो इस जाति के विजय अभियानों का नेतृत्व करते थे, और दूसरे उन आदिवासी परिवारों का जो इस विजय के विपरीत भी अपना राजकीय स्तर सुरक्षित रखने में सफल रहे। महाकाव्य[२] में 'क्षत्रिय' शब्द के अन्तर्गत भी यह लोग सम्मिलित प्रतीत होते हैं, किन्तु यहाँ 'खत्तिय' की अपेक्षा सम्भवतः

[१] देखिये फिक : डी०ग्ली० ५९ और वाद; रिज़ डेविड्स : डायलॉग्स ऑफ दि बुद्धा १,९५ और वाद; बुद्धिस्ट इन्डिया ५२ और वाद।

[२] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ७३ और वाद।

इसका आशय अधिक विस्तृत है और इसके अन्तर्गत सभी राजकीय सैनिक-अनुचर और सामन्तगण भी आ जाते हैं। इस प्रकार इसका (क्षत्रिय का) आशय वास्तव में बहुत कुछ आरम्भिक आंग्ल इतिहास के 'बेरन्स' जैसा ही प्रतीत होता है। जातकों[3] में, और महाकाव्य[4] में भी सभी योद्धा इसी शब्द के आशय के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि सेना में क्षत्रियों के अतिरिक्त अनेक अन्य लोग भी केवल साधारण सैनिक होने की अपेक्षा नेता अथवा पदाधिकारी होते थे।

बाद की संहिताओं[5] तथा ब्राह्मणों[6] में 'क्षत्रिय' एक निश्चित सामाजिक समूह का द्योतक है जो पुरोहितों, प्रजाजनों और दासों, अर्थात् *ब्राह्मण*, *वैश्य*, और *शूद्र* से स्पष्टतः भिन्न थे। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि 'क्षत्रियों' का एक पहले का विभेद 'राजन्य' है। अतः यह स्वीकार कर लेना युक्ति संगत प्रतीत होता है कि क्षत्रिय और राजन्य दोनों का आरम्भ समान, और राजकीयता अथवा उससे सम्बन्धित है। साथ ही ऋग्वेद[7] में 'क्षत्रिय' का आरम्भिक प्रयोग सर्वथा राजकीय सत्ता अथवा अलौकिक सत्ता से ही सम्बन्धित है।

यह कहना असम्भव है कि 'क्षत्रिय' शब्द के आशय के अन्तर्गत ठीक-ठीक कौन लोग आते हैं। इतना तो निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया जा सकता है कि राजगृह और राज-परिवारों की विभिन्न शाखाओं के लोग उसमें सम्मिलित थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि विशिष्टजन भी इसके अन्तर्गत थे—इस तथ्य के द्वारा 'राजन्य' और 'क्षत्रिय' के कभी-कभी के परस्पर विरोध की, जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण[8] में व्यक्त है, व्याख्या की जा सकती है जहाँ एक 'राजन्य' एक क्षत्रिय से 'देव-यज्ञ' के लिये स्थान माँगता है। इस प्रकार यदि बिल्कुल ठीक-ठीक आशय में प्रयोग किया जाय तो 'राजन्य' की अपेक्षा क्षत्रिय का आशय अधिक विस्तृत हो जायगा। फिर भी नियमित रूप से यह दोनों ही शब्द समतुल्य हैं और नीचे दी गई बातों के प्रमाण स्वरूप प्रयुक्त हुये हैं।

[3] फिक : उ० पु० ५२, नोट २।
[4] हॉपकिन्स : उ०पु० १८४ और बाद, १९०
[5] अथर्ववेद ६. ७६, ३. ४; १२. ५, ५. ४४. ४६, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ३०. ५, इत्यादि। देखिये वर्ण और राजन्य।
[6] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २४ इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण १. ३, २, १५; ४. २, ४, ५. ६, इत्यादि। देखिये वर्ण।
[7] ४. १२, ३; ४२, १; ५.६९, १; ७. ६४, २; ८. २५, ८; ५६, १; १०. १०९, ३। तु० की० वाजसनेयि संहिता ४.१९; १०. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, ७, ७।
[8] ७. २०। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १८, २; काठक संहिता २०. १।

क्षत्रिय के अन्तर्गत कभी भी केवल युद्ध करनेवाले व्यक्ति ही आते थे ऐसा सिद्ध नहीं होता। ऋग्वेद[9] और बाद[10] में क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी नियमित रूप से युद्ध करते हैं। यदि विशिष्टजन भी अपने साथ राजाओं की ही भाँति अनुचर रखते रहे हों तो 'क्षत्रिय' के अन्तर्गत सम्भवतः वैसे सभी अनुचर भी आ जायेंगे जिनका कुछ सैनिक कार्य रहा हो। राजकीय परिचारक वर्ग के सभी सदस्यों के लिये यह शब्द नहीं प्रयुक्त होता था। उदाहरण के लिये *ग्रामणी* बहुधा वैश्य होता था।

ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियों का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ था। दोनों की ही समृद्धि, और मुख्यतः राजा (*राजन्*) और *पुरोहित* के सम्बन्ध को बार-बार अविच्छिन्न रूप से संयुक्त[11] कहा गया है। कभी-कभी क्षत्रिय और ब्राह्मण[12]

[9] निम्नलिखित स्थलों पर साधारण लोगों (विश्) का युद्ध करनेवालों के रूप में उल्लेख है: १. ६९, ३; १२६, ५ (फिर भी तु० की० पिशल: वेदिशे स्टूडियन २, १२१); ४. २४, ४; ६. २६, १; ७. ७९, २; ८. १८, १८; ९६, १५; कदाचित ७. ३३, ६ भी जहाँ 'तृत्सूनां विशः' का अर्थ 'तृत्सु राजाओं की प्रजा' है, जैसा कि गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १३६ का विचार है। इसके विपरीत ६. ४१, ५ में साधारण लोगों और युद्ध में भेद स्पष्ट करते हुये साधारण लोगों का सामान्य नियम शान्ति बताया गया है।

[10] अथर्ववेद ९. ७, ९ में साधारण लोगों को स्पष्ट रूप से 'बलम्' अथवा 'शक्ति' कहा गया है जो कि बाद में सैनिकों के लिये एक नियमित शब्द है। बाद के नीति ग्रन्थ (जैसे, गौतम ७. ६; वसिष्ठ २. २२) ब्राह्मणों तक को आवश्यकता पड़ने पर क्षत्रियों का कार्य करने को स्वीकृति देते हैं। महाकाव्य के लिये, तु० की० हॉपकिन्स: उ० पु० ९४, ९५; १८४ और बाद।

[11] तैत्तिरीय संहिता ५. १, १०, ३; मैत्रायणी संहिता २. २, ३; ३. १, ९; २, ३; ४. ३, ९; काठक संहिता २९. १०; वाजसनेयि संहिता ५. २७; ७. २१; १८. १४; १९. ५; ३८. १४, इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ११, ९; ऐतरेय ब्राह्मण ७. २२; शतपथ ब्राह्मण १. २, १, ७; ३. ५, २, ११; ६, १, १७; ६. ६, ३, १४। अन्य सभी जातियों से 'राजन्यों' की श्रेष्ठता तैत्तिरीय संहिता २. ५, १०, १ इत्यादि में बताई गई है। कभी-कभी ब्राह्मणों को क्षत्रियों से श्रेष्ठ बताया गया है—उदाहरण के लिये: अथर्ववेद के ५. १८. १९ सूक्तों में; मैत्रायणी संहिता ४. ३, ८; वाजसनेयि संहिता २१. २१; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ९, १; ३, ७, ८। इसी प्रकार राजा का 'राजसूय' यज्ञ, ब्राह्मण के सर्वोच्च यज्ञ (वाजपेय) से हीन है (वही ५. १, १, १२) और यद्यपि ब्राह्मण राजा का आश्रित होता है तथापि वह राजा से अधिक शक्ति शाली है (५. ४. २, ७ और ५. ४, ४, १५)। तु० की० हॉपकिन्स: उ० पु० ७६।

[12] काठक संहिता २८. ५; अथर्ववेद ५. १८. १९।

में संघर्ष भी होता था। ऐसी दशा में यज्ञ की व्यवस्था ब्राह्मण को इस बात की शक्ति देता था कि वह सर्वसाधारण[13] अथवा अन्य क्षत्रियों[14] को ही विक्षुब्ध कराकर क्षत्रियों को विनष्ट कर सके।

इसके विपरीत सामान्य व्यक्तियों से क्षत्रियों का निर्विवाद रूप से प्रायः श्रेष्ठता[15] का ही सम्बन्ध होता था। फिर भी, सामान्य लोगों और विशिष्टजनों के बीच संघर्ष का भी कहीं-कहीं संकेत है,[16] जिसमें विशिष्टजनों की संख्या की कमी की, उनके शास्त्रास्त्रों की श्रेष्ठता और पराक्रम द्वारा निश्चित रूप से प्रतिपूर्ति हो जाती थी। ऐतरेय ब्राह्मण[17] में वैश्य को दूसरों द्वारा उपभुक्त होनेवाला (अन्यस्य बलि-कृत्), दूसरों द्वारा आत्मसात (अन्यस्याद्य) और इच्छानुसार उत्पीड़ित (यथाकाम-ज्येय) किया जानेवाला कहा गया है। यह सभी विशेषण कदाचित् राजा और उसकी प्रजा के सम्बन्ध के ही लिये प्रयुक्त हुये हैं। यह स्थल इस बात को तो व्यक्त करता ही है कि प्रजाजन बहुत सीमा तक विशिष्टजनों की दया पर ही निर्भर रहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि इन विशिष्टजनों को राजा ही सामान्य लोगों द्वारा पोषित होने का अधिकार प्रदान करता था जो वंशानुगत भी होता था। इस प्रकार यह लोग साधारण लोगों पर सामन्तशाही श्रेष्ठता प्राप्त कर लेते थे। काठक संहिता[18] के एक अस्पष्ट स्थल द्वारा ऐसा प्रतिभासित होता है कि अपने इन अधिकारों के बदले में क्षत्रियों को सम्भवतः प्रजाजनों को सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व वहन करना, और कुछ न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी कार्य भी करना पड़ता था।

वैदिक काल के छोटे राज्यों[19] में क्षत्रियों का प्रधान कर्त्तव्य युद्ध के लिये

[13] उदाहरण के लिये तैत्तिरीय संहिता २. २. ११, २; मैत्रायणी संहिता १. ६, ५; २. १, ९; ३. ३, १०; काठक संहिता २९. ८ इत्यादि।

[14] मैत्रायणी संहिता ३. ३, १० इत्यादि।

[15] काठक संहिता १६. ४; २१. १०; २२. ९; २९. ९. १०; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३३; शतपथ ब्राह्मण ११. २, ७, १५. १६ इत्यादि; मैत्रायणी संहिता ४. ४, ९. १०; ६, ८ इत्यादि।

[16] तु० की० नोट १३; तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ६, ७; मैत्रायणी संहिता ४. ६, ७।

[17] ७. २९। तु० की० **राजन्**।

[18] २७. ४ (तस्माद् राजन्येनाध्यक्षेण वैश्यं घ्नन्ति (इस प्रकार एक 'राजन्य' के अधीक्षकत्व में [?] वह एक 'वैश्य' को पीटते हैं)। यह स्पष्ट नहीं है कि यहाँ 'हन्' का अर्थ 'पीटना' है अथवा 'जान से मार डालना'।

[19] देखिये हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३०, नोट २।

तत्पर रहना होता था। अतः धनुष रखना इनका उसी प्रकार एक विशेष गुण[20] माना जाता था जिस प्रकार अंकुश रखना एक कृषक का; क्योंकि वेदों में धनुष ही प्रधान अस्त्र है। क्षत्रिय लोग बौद्धिक कार्यों पर अधिक ध्यान देते थे अथवा नहीं यह अनिश्चित है। ब्राह्मण साहित्य के सबसे बाद के अंशों में कुछ विद्वान् राजाओं का उल्लेख है; जैसे *विदेह* के जनक, जिनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह ब्राह्मण (ब्रह्मा) हो गये थे, जो प्रत्यक्षतः इसी आशय में कहा गया है कि इन्हें वह सम्पूर्ण ज्ञान हो चुका था जो ब्राह्मणों को प्राप्त होना चाहिये[21]। *प्रवाहण जैवलि*,[22] *अश्वपति कैकेय*,[23] और *अजातशत्रु*[24] इस काल के अन्य विद्वान क्षत्रिय थे। गार्बे,[25] ग्रियर्सन[26], और अन्य विद्वानों को अपने इस विचार के औचित्य का विश्वास

[20] अथर्ववेद १८. २, ६०; काठक संहिता १८. ९; ३७. १; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, ३०; तैत्तिरीय आरण्यक ६. १, ३। ऐतरेय ब्राह्मण ७. १९ में यह तालिका और बड़ी है—रथ, कवच, धनुष और बाण (इषु-धन्वन्)—और अश्वमेध यज्ञ के समय क्षत्रिय (जिसे प्राचीन मूल ग्रन्थों में सामान्यतया 'राजन्य' कहा गया है) की समृद्धि की प्रार्थना में यह कहा गया है कि 'राजन्य' एक धनुर्धर और श्रेष्ठ महारथी योद्धा होता है; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, १८, १; मैत्रायणी संहिता ३. १२, ६; काठक संहिता, अश्वमेध, ५. १४; वाजसनेयि संहिता २२. २। इसी प्रकार इन्द्र को क्षत्रियों का देवता कहा गया है, मैत्रायणी संहिता २. ३, १; ४. ५, ८ इत्यादि।

[21] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, २, १। तु० की० कौषीतकि उपनिषद् ४. १। देखिये मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४२१ और बाद; म्यूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १^{2}, ४२६ और बाद। इसी प्रकार दीक्षा के समय एक क्षत्रिय अल्पकाल के लिये ब्राह्मण बन जाता है, ऐतरेय ब्राह्मण ७. २३। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ३. ४, १, ३।

[22] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १; छान्दोग्य उपनिषद् १. ८, १; ५. ३, १; म्यूइर : उ० पु० ४३३-४३५; ५१५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ११७; मैक्स मूलर : से० बु० ई० १, lxxv।

[23] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, २ और बाद।

[24] बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १; कौषीतकि उपनिषद् ४. १।

[25] बी० कु० १ और बाद। तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ दी उपनिषद्स १७ और बाद; विन्टर्निज़ : गे० लि० १, १९९।

[26] एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन ऐण्ड इथिक्स में 'भक्ति' पर लेख; ज० ए० सो० १९०८, ८४३।

है कि क्षत्रियों ने स्वयं अपना एक अलग 'दर्शन' विकसित कर लिया था और वह उस ब्राह्मणवाद से भिन्न था जो बाद में 'भक्ति' के रूप में प्रकट हुआ है। दूसरी ओर इस बात का स्पष्ट प्रमाण[२७] है कि ऐसे विषयों पर क्षत्रियों के विचारों को विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, और साथ ही इसे भी स्मरण रखना चाहिये कि एक राजा को विद्वान कहना खुशामद (मिथ्या प्रशंसा) का एक मृदु और प्रभावशाली रूप है। राज-ऋषियों (राजन्-यर्षि)[२८] के आरम्भिक संकेत तो हैं किन्तु इन पर अधिक बल देना चाहिये या नहीं यह अत्यन्त सन्दिग्ध है, और सायण[२९] की बाद की परम्परा में तो कुछ भी नहीं दिया जा सकता। पुनः, एक राजा का पुत्र *देवापि* किस प्रकार अपने अनुज *शंतनु* का पुरोहित बना था, इस सम्बन्ध में निरुक्त[३०] एक परम्परा का उल्लेख करता है; किन्तु सीग[३१] के साथ ऋग्वेद[३२] में इस कथा को ढूँढ़ा भी जा सकता है, इसमें अत्यधिक सन्देह है। अस्तु, किसी भी दशा में यह कथायें कुछ थोड़े से चुने हुये उच्च पदस्थ क्षत्रियों का ही संकेत करती हैं, जब कि इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि औसत क्षत्रिय लोग भी किसी प्रकार के ज्ञानार्जन से सम्बन्ध रखते थे। और न तो इसी बात का कोई सन्दर्भ उपलब्ध है कि क्षत्रिय लोग कृषि, वाणिज्य या व्यापार में लगते थे। ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि केवल प्रशासन और युद्ध सम्बन्धी उनके कर्त्तव्य ही उनका समस्त ध्यान आकर्षित करने के लिये पर्याप्त थे। इसके विपरीत एक 'राजन्य' को हम

[२७] शतपथ ब्राह्मण ८. १, ४, १०। तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ७३, नोट १; कीथ : ऐतरेय आरण्यक ५०, २५७; ज० ए० सो० १९०८, ८६८, ८८३, ११४०–११४२। प्रोफेसर एग्लिङ्ग इस मत से सहमत हैं कि धार्मिक आन्दोलन में क्षत्रिय का योगदान बहुत वास्तविक नहीं होता था।

[२८] उदाहरण के लिये, पञ्चविंश ब्राह्मण १२. १२, ६ में; किन्तु इस पर देखिये औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३५, नोट, और **वर्ण**।

[२९] मूईर : ऊ० पु० १[२], २६५ और बाद में उद्धृत।

[३०] २. १०।

[३१] सा० ऋ० ९१ और बाद। देखिये **देवापि**।

[३२] १०. ९८। **विश्वामित्र** का उदाहरण भी यहाँ उद्धृत किया जा सकता है; किन्तु इनका राजकीय पद, जिसकी पुष्टि इन्हें ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७, में 'राज-पुत्र' कहने से होती है, अधिक से अधिक एक वंशानुगत क्रम की ही बात हो सकती है और इसकी प्रामाणिकता अत्यन्त सन्दिग्ध है। **वर्ण** के अन्तर्गत देखिये।

अश्वमेध के समय वीणा वादक अथवा गायक के रूप में भी देखते हैं।[33]

क्षत्रियों की शिक्षा और प्रशिक्षण के सम्बन्ध में हमारे पास कोई सामग्री नहीं है। सम्भवतः, जैसा कि वस्तुतः तो था चाहे बाद में सिद्धान्ततः न रहा हो, इन्हें मुख्यः रूप से युद्धकला, धनुर्विद्या और भविष्य में वहन किये जानेवाले साधारण प्रशासनिक कार्यों की शिक्षा दी जाती थी। विशिष्टजनों के विकास की इस आरम्भिक अवस्था में जैसी कि यह ऋग्वेद में व्यक्त होती है, किसी वैश्य के लिये क्षत्रिय हो जाना कदाचित असम्भव अथवा असाधारण बात नहीं थी। कम से कम इस मान्यता द्वारा 'क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्' (मिथ्या रूप से क्षत्रिय बन जाना) उक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या[34] हो जाती है।

राजा और क्षत्रियों में विशेषरूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। राजा के एक विशिष्ट क्षत्रिय होने के कारण हमें शतपथ ब्राह्मण[35] जैसे स्थलों पर साधारण क्षत्रियों की अपेक्षा इन्हीं लोगों (राजाओं) से अधिक तात्पर्य समझना चाहिये, जहाँ यह कहा गया है कि क्षत्रिय मुखियों की स्वीकृति से ही किसी व्यक्ति को भूमि का बन्दोबस्त कर सकता है। यह व्यवस्था अनेक जातियों में प्रचिलित उस नियम के समकक्ष है जिसके अन्तर्गत इन जातियों का प्रधान केवल वहाँ के लोगों की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर ही किसी व्यक्ति को अनधिकृत भूमि प्रदान कर सकता है। इसी ब्राह्मण[36] में यह भी कहा गया है कि एक क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय का प्रतिष्ठापन करता है; जिससे, जैसी कि भाष्यकार व्याख्या करते हैं, वृद्ध राजा द्वारा अपने उत्तराधिकारी राजकुमार का प्रतिष्ठापन करने की प्रणाली का स्पष्ट संकेत मिलता है। पुनः[37], अन्य व्यक्तियों के विपरीत केवल क्षत्रिय और पुरोहित को ही पूर्ण कहा गया है। इस स्थान पर पुरोहित से क्षत्रिय की समानता इस बात का संकेत करती

[33] शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, ५। यह उल्लेख, इस बात का प्रमाण है कि क्षत्रिय-चारणों (पुरोहित गायकों से भिन्न) के एक अलग वर्ग का भी अस्तित्व था जिनकी कृतियों से महाकाव्य स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५. २५८।

[34] ७. १०४, १३। तु० की० ब्राह्मण होने के इसी समान एक अन्य मिथ्या दावे को : १०. ७१, ८।

[35] ७. १, १, ८।

[36] १२. ८, ३, १९; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, २५४, नोट १।

[37] तु० की० एग्लिङ्ग : वही, ४१, २५९।

है कि यहाँ विशिष्ट क्षत्रिय से ही तात्पर्य है। इसके विपरीत, कभी-कभी राजा की 'राजन्य' से विपरीतता भी दिखाई गई है।[38]

सूत्र साहित्य में क्षत्रियों की शिक्षा और कार्यों के सम्बन्ध में विस्तृत नियम[39] मिलते हैं। किन्तु इनके विषय को ब्राह्मण साहित्य में सदैव ही नहीं ढूँढ़ा जा सकता, साथ ही इनका महत्त्व भी सन्देहास्पद है।

[38] शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, १७, और देखिये **राजन्य**।

[39] देखिये बूहलर : से० बु० ई० १४, ३९५, ३९६, में इसके सन्दर्भ।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २१२ और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २३१ और बाद; फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, १५१ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ४ और बाद (जहाँ वस्तुतः इस विषय के सभी स्थल उद्धृत हैं); हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ९८ और बाद (महाकाव्य के समानान्तर स्थलों के लिये)।

क्ष्-पावन्, (धरती का रक्षक)[1] ऋग्वेद में किसी राजा[2] की उपाधि अथवा एक राजा[3] का द्योतक है। अपने जातीय प्रदेश के रक्षक के रूप में राजा के कर्त्तव्य को व्यक्त करने के कारण यह शब्द महत्त्वपूर्ण है।

[1] 'क्षपावान्' के रूप में यह शब्द केवल एकवचन में आता है जो कि 'क्षपावन्त्' से निकला एक नियमित रूप होगा; किन्तु यह सम्भवतः 'क्षपावा' का ही अनियमित रूप है। तु० की० ओल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ७२।

[2] ३. ५५, १७।

[3] १. ७०, ५; ७. १०, ५; ८. ७१, २; १०. २९, १।

तु० की० बाद के संस्कृत में 'क्षितिप', 'धरती का संरक्षक', 'राजा'।

क्षिति ऋग्वेद[1] में 'आवास' के लिये एक नियमित शब्द है, और विशेषतः 'क्षितिर् ध्रुवा' (सुरक्षित आवास) का उल्लेख[2] एक ऐसे सन्दर्भ में किया गया है जहाँ यह प्रकट होता है कि यह *वृजन* अथवा *ग्राम* के समान है जिन्हें सुरक्षित गढ़ माना जाता था। इसी आशय से लोगों द्वारा,[3] और विशेषतः पाँच लोगों[4] (जिनके लिये देखिये *पञ्च जनासः*) द्वार प्रदेशों पर अधिकार का आशय विकसित हुआ है।

[1] १. ६५, ३; ३. १३, ४; ५. ३७, ४ इत्यादि।

[2] १. ७३, ४ (तु० की० २); ७. ८८, ७। देखिये। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १४२।

[3] ऋग्वेद ३. ३८, १; ४. २४, ४; ३८, ५; ५. १, १० इत्यादि।

[4] १. ७, ९; १७६, ३; ५. ३५, २; ६. ४६, ७; ७. ७५, ४; ७९, १।

क्षिप्त, 'एक घाव' (किसी वस्तु के विंध जाने से उत्पन्न), अथवा 'छिलजाना' (किसी फेंकी गई वस्तु के लग जाने से उत्पन्न), का अथर्ववेद[1] में उल्लेख है और साथ ही इसके लिये एक औषधि—*पिप्पली*, का भी संकेत है।

[1] ६. १०९, १. ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३८९।

क्षिप्र-श्येन, (तीव्रगामी बाज़ पक्षी)—यह मैत्रायणी संहिता (३.१४, ११) और शतपथ ब्राह्मण (१०.५, २, १०) में एक पक्षी का नाम है।

क्षीर, 'दूध', जिसे *गो* अथवा *पयस्* भी कहते हैं, वैदिक भारतीयों की आर्थिक व्यवस्था में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।[1] गाय से दुहने के बाद दूध को गर्म करके पीया जाता था[2], अथवा किसी अन्न के साथ पकाकर खीर के रूप में (क्षीर-पाकम् ओदनम्)[3] प्रयुक्त होता था। सोम में मिश्रित करने के लिये भी दूध (*अभिश्री*, *आशिर्*) का व्यवहार होता था। इससे *घृत* बनाया जाता था। दूध की दही भी जमाई जाती थी और इस कार्य के लिये अन्य पौधों के अतिरिक्त *पूतीका* और *कल* पौधों का भी प्रयोग होता था।[4] जमाया हुआ दूध (*दधि*) निश्चित रूप से खाने के लिये प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद[5] के एक स्थल पर सम्भवतः एक प्रकार के 'पनीर' का संकेत है। बकरी के दूध (अज-क्षीर) का भी उल्लेख है।[6]

[1] 'क्षीर' शब्द ऋग्वेद २.-७. में नहीं आता। यह १. १०९, ३; १६४, ७; ८. २, ९; ९. ६७, ३२; १०. ८७, १६ (= अथर्ववेद ८. ३, १५) में मिलता है। देखिये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १७, ६४, ७३ और बाद। अथर्ववेद २. २६, ४; ५. १९, ५; १०. ९, १२ इत्यादि, तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, ७ इत्यादि, भी देखिये।

[2] १. ६२, ९; १८०, ३; ३. ३०, ४।

[3] ऋग्वेद ८. ७७, १०; अथर्ववेद १३. २, २०, । तु० की० 'क्षीर-श्री' (दूध मिला हुआ), तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ९, १; वाजसनेयि संहिता ८. ५७, इत्यादि।

[4] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ३, ५।

[5] ६. ४८, १८।

[6] शतपथ ब्राह्मण १४. १, २, १३; देखिये अज। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६३, २२६, २६८।

क्षीरौदन—'दूध के साथ पकाया हुआ चावल' (खीर) का शतपथ ब्राह्मण (२.५,३,४; ११.५,७,५ इत्यादि) में अक्सर उल्लेख है।

क्षुद्र-सूक्त—'छोटे सूक्तों के रचयिता'—ऐतरेय आरण्यक[1] में यह ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के रचयिताओं का नाम है। तु० की० *महासूक्त*।

[1] २. २, २। तु० की० कीथ ; ऐतरेय आरण्यक २१२, और मैकडौनेल : बृहद्देवता ३. ११६ पर टिप्पणियाँ।

क्षुम्प ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आनेवाला शब्द है जहाँ इसका अर्थ 'झाड़ी' प्रतीत है। निरुक्त[2] इसे अहिछत्रक (कुकुरमुत्ता) बताता है।

[1] १. ८४, ८।

[2] ५. १६। तु० की० बेनफे : सामवेद ग्लॉसर, ५३।

क्षुर ऋग्वेद में तीन बार आता है। एक स्थल[1] पर इस शब्द का सामान्य आशय 'छुरा'[2] प्रतीत होता है। सम्भवतः दूसरे स्थल[3] पर भी यही आशय है जहाँ यह कहा गया है कि खरगोश 'क्षुर' को निगल गया, और जहाँ 'छुरा' आशय ही पर्याप्त है। तीसरे स्थल[4] पर सान रखनेवाले पत्थर[5] (भुरिजोस्, जिनका ठीक-ठीक आशय, जैसा पिशल[6] व्यक्त करते हैं, इस यन्त्र के उन दोनों पार्श्व खण्डों का द्योतक है जिनके बीच आधुनिक सान के यन्त्र की ही भाँति उसका पत्थर घूमता था) पर छुरे को तेज करने का संकेत प्रतीत होता है। किन्तु मूईर,[7] रौथ[8] के एक भिन्न मत का अनुसरण करते हुये इसका आशय 'कैंची की धार' मानते हैं, जो कि एक दूसरे, अथर्ववेद[9] के स्थल के कदाचित ही अनुकूल है जहाँ एक 'क्षुर' को 'भुरिजोस्'[10] पर

[1] १. १६६, १० (मरुतों के रथ के चक्र-धारों पर 'पविषु क्षुराः'; कदाचित 'छुरों' से ही तात्पर्य है, जैसा कि इस स्थल पर टिप्पणी करते हुये मैक्स मूलर व्यक्त करते हैं, से० बु० ई० ३२, २३५, नोट ४)।

[2] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ६१, ६८। तु० की० १३, २९२ (महाकाव्य में 'चाकू' के अर्थ में)।

[3] १०. २८, ९, जहाँ सायण इसका अनुवाद 'नख-युक्त' करते हैं। बाद की परम्परा में इसे किसी बकरे द्वारा 'निगलना' कहा गया है।

[4] ८. ४, १६ (सं नः शिशिहि भुरिजोर् इव क्षुरम्—'सान पर अथवा सान-चर्म पर रक्खे गये छुरे की भाँति हमें तेज़ करें)।

[5] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[6] वेदिशे स्टूडियन १. २४३।

[7] संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४६६।

[8] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर 'भुरिज्'।

[9] २०. १२७, ४।

[10] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त १९७ में 'भुरिजोस्' का अनुवाद 'सान रखने के चर्मपट पर' करते हैं।

उसी प्रकार चलते हुये बताया गया है जिस प्रकार ओठ पर जिह्वा चलती है। अथर्ववेद[11] में 'क्षुरे' का अर्थ सर्वथा स्पष्ट है जहाँ इसके द्वारा दाढ़ी बनाने का उल्लेख है। अनेक अन्य स्थलों[12] पर दोनों में से कोई भी आशय पर्याप्त है। यजुर्वेद[13] में एक 'क्षुरो-भृज्वान्' आता है, और यह, जैसा कि ब्लूमफील्ड[14] का विचार है, एक चर्मपट (धार रखने के एक छोटे से उपकरण के रूप में) सहित एक क्षुरे का द्योतक है। क्षुरधारा[15] भी, 'क्षुरस्य धारा'[16] की भाँति 'क्षुरे की धार' का द्योतक है। उपनिषदों[17] में क्षुरा रखने के एक उपकरण (क्षुर-धान) का उल्लेख मिलता है। श्मश्रु भी देखिये।

[11] ६. ६८, १. ३; ८. २, ७।

[12] शतपथ ब्राह्मण २. ६, ४, ५; ३. १, २, ७; 'क्षुर-पवि', अथर्ववेद १२. ५, २०. ५५; तैत्तिरीय संहिता २. १, ५, ७; ५, ५, ६; ५. ६, ६, १; शतपथ ब्राह्मण ३. ६, २, ९ इत्यादि; मैत्रायणी संहिता १. १०, १४; काठक संहिता ३६. ८; निरुक्त ५. ५।

[13] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, १२, ३। तु० की० मैत्रायणी संहिता २. ८, ७; वाजसनेयि संहिता १५. ४; शतपथ ब्राह्मण ८. ५, २, ४।

[14] अ० फा० १७, ४१८।

[15] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १३, ९।

[16] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३, २।

[17] कौषीतकि उपनिषद् ४. २०।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६६; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २३९-२४३; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३८, और बाद।

क्षेत्र, 'खेत'। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि अलग-अलग खेतों[1] का अस्तित्व था जो सतर्कतापूर्वक नपे होते थे,[2] यद्यपि कुछ स्थलों पर इस शब्द का अर्थ अपेक्षाकृत निश्चित नहीं है और सामान्य रूप से कृषित भूमि का द्योतक है।[3] अथर्ववेद[4] और बाद में एक अलग खेत का आशय स्पष्ट है, यद्यपि अधिक सामान्य प्रयोग भी मिलता

[1] १०. ३३, ६। तु० की० ३. ३१, १५; ५. ६२, ७।

[2] १. ११०, ५।

[3] १. १००, १८; ९. ८५, ४; ९१, ६; 'क्षेत्र-जेष', १. ३३, १५, 'भूमि अर्जित करना'; 'क्षेत्रा-सा' ४. ३८, १, 'भूमि प्राप्त करना'; 'क्षेत्र जय', 'कृषित भूमि विजय करना', मैत्रायणी संहिता २. २, ११। 'स्थान' का विस्तृत आशय भी मिलता है, ५. २, ३; ४५, ९; ६. ४७, २० इत्यादि, और अक्सर बाद में भी।

[4] ४. १८, ५; ५. ३१, ४; १०. १, १८; ११. १, २२; तैत्तिरीय संहिता २. २, १, २; छान्दोग्य उपनिषद् ७. २४, २ इत्यादि।

है।[5] 'क्षेत्रस्य पति'[6] नामक देवता को सम्भवतः उसी प्रकार प्रत्येक खेत का अधिपति देवता समझना चाहिये जिस प्रकार 'वास्तोष पति' प्रत्येक आवास[7] का अधिपति देवता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भिक वैदिक काल[8] में भी अलग-अलग खेतों की पद्धति का अस्तित्व था। *उर्वरा*, और *खिल्य* भी देखिये।

[5] अथर्ववेद २.२९, ३; १४. २, ७; शतपथ ब्राह्मण १. ४, १, १५. १६ इत्यादि।

[6] ऋग्वेद ४. ३७, १. २; ७. ३५, १०; १०. ६६, १३; अथर्ववेद २. ८, ५; 'क्षेत्रस्य पत्नी', १२, १; क्षेत्राणां पतिः, वाजसनेयि संहिता १६. १८।

[7] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १३८।

[8] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २३६; शतपथ ब्राह्मण ७. १, १, ८, जहाँ प्रजा की स्वीकृति से क्षत्रिय किसी व्यक्ति को भूमि का बन्दोवस्त करता है : अर्थात् उसे उसके लिये एक निश्चित क्षेत्र दे देता है, जो कि सम्भवतः नपा होता है, जैसा कि ऋग्वेद १. ११०, ५ में मिलता है।

क्षेत्रिय एक प्रकार की व्याधि है जिसका अथर्ववेद में अनेक बार उल्लेख है, और विशेषतः तीन सूक्त इसके प्रतिरोध के लिये उद्दिष्ट हैं।[1] काठक संहिता[2] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में भी इसका उल्लेख है। अथर्ववेद के भाष्यकार इसे एक वंशानुगत व्याधि मानने पर सहमत हैं। इसके आरम्भ के सिद्धान्त-स्वरूप, इस शब्द का अर्थ 'आंगिक',[4] अथवा सम्भवतः 'खेत में उत्पन्न', हो सकता है। इससे वास्तव में किस व्याधि का तात्पर्य है यह सर्वथा अनिश्चित है। वेबर[5] का विचार है कि इन अथर्वन् सूक्तों का उद्देश्य खेतों को क्षति पहुँचाने वाले तत्त्वों को भगाना है, किन्तु यह असंभव प्रतीत होता है। ब्लूमफील्ड[6] का विचार है कि यह 'गण्डमाला' या 'उपदंश' है। जिन उपचारों का उल्लेख है वह इसके लक्षण पर कोई प्रकाश नहीं डालते।

[1] २. ८. १०; ३. ७। तु० की० २. १४, ५; ४. १८, ७।

[2] १५. १।

[3] २. ५, ६, १-३, जहाँ इसका रूप 'क्षेत्री' है, जिसकी व्याख्या व्याधि उत्पन्न करने वाले एक दैत्य के रूप में की गई है। यह अथर्ववेद ३. १०, का केवल एक त्रुटिपूर्ण पाठ है।

[4] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

[5] इन्डिशे स्टूडियन ५, १४५; १३, १५० और बाद, : १७, २०८; नक्षत्र, २, २९२।

[6] अथर्ववेद ६०।

तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २८६ और बाद; व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद ४८, ४९; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३९१, ३९२; स्पीजर : डी० वो० ७६-८३; पाणिनि ५. २, ९२, काशिका वृत्ति सहित।

क्षेम-धृत्वन् पौण्डरीक ('पुण्डरीक' का वंशज) का *सुदामन्* नदी के तट पर यज्ञ करने वाले के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] २२. १८, ७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३२। बाद में यह नाम 'क्षेम-धन्वन्' है, हरिवंश ८२४ इत्यादि

क्षैमि—('क्षेम' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ६, ३; ७, १) इत्यादि; ८, ६) में *सुदक्षिण* का पैतृक नाम है।

क्षोणी—यह शब्द जब बहुवचन रूप में प्रयुक्त हुआ है तब सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश और लुडविग[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] के अनेक स्थलों पर राजा के मुक्त अनुचरों का द्योतक है। एक समय में गेल्डनर[3] का विचार था कि यह राजा की पत्नियों का द्योतक है, जो 'बहुपत्नीकत्व' का संकेत करता है; किन्तु बाद[4] में इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इसका अर्थ कुछ दिव्य पत्नियाँ हैं।

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २४७।
[2] १. ५७, ४; १७३, ७; ८. ३, १०; १३, १७; १०. ९५, १९। २. ३४, १२; १०. २२, ९ में आशय संदिग्ध प्रतीत होता है।
[3] बेज़ेनबर्गर : बीट्रेज, ११, ३२७।
[4] वेदिशे स्टूडियन १, २७९, २८३।

क्षौम—'एक मलमल का परिधान,' का मैत्रायणी संहिता (३. ६, ७ इत्यादि) और सूत्रों में उल्लेख है।

क्ष्विङ्का का एक हिंसक पक्षी के रूप में एक बार ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। यह शब्द तैत्तिरीय संहिता[2] में दी हुई अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में भी आता है, जहाँ कि भाष्य एक 'लाल मुख वाली माँदा बन्दरियाँ (रक्तमुखी वानरी) के रूप में इसकी एक असंगत व्याख्या करता है।

[1] १०. ८७, ७।
[2] ५. ५, १५, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९३।

ख

ख, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में, पहिये के उस नाभि-छिद्र का द्योतक है जिसमें

[1] ऋग्वेद ८. ७७, ३; ९१, ७; १०. १५६ ३, जहाँ केवल 'ख' का संकेत है। तु० की० विशेषण 'सु-ख', उत्कृष्ट धुरे के छिद्र वाला', 'जिसमें धुरा सरलता से चल सके'; बाद में 'अनुकूल छिद्रों वाला'।
[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ५. १२, १ (माध्यन्दिन; ५. १०, १ काण्व)।

धुरा प्रविष्ट रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक गाड़ी (*अनस्*) और *रथ*[3] के पहियों के छिद्रों के आकार में अन्तर होता था। देखिये *१. युग* भी।

[3] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३, ६; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, ३३३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४७।

खङ्ग—देखिये *खड्ग*।

खड्ग—यह मैत्रायणी संहिता[1] में एक ऐसे पशु के नाम का पाठ है जो वाजसनेयि संहिता[2] के पाठ में 'खङ्ग' और 'खड्ग' के विभिन्न रूपों में आता है। इससे 'गैंडे' का स्पष्ट तात्पर्य प्रतीत होता है।[3] शांखायन श्रौत सूत्र[4] में गैंडे की खाल का रथ के आवारण के रूप में उल्लेख है।

[1] ३. १४, २१।
[2] २४. ४०।
[3] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८६।
[4] १४. ३३, २६ (खाड्ग-कवच अश्वरथ)।

खण्डिक औद्भारि ('उद्भार' का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[1] में केशिन के गुरु के रूप में, और मैत्रायणी संहिता[2] में एक याज्ञिक के रूप में केशिन् द्वारा पराजित होने के रूप में उल्लेख है। बौधायन श्रौतसूत्र[3] में केशिन् के शत्रु के रूप में भी एक 'खाण्डिक' आता है।

[1] ११. ८, ४, १।
[2] १. ४, १२, जहाँ पाण्डुलिपियों में 'षण्डिक' पाठ है।
[3] कैलेन्ड : ऊ० बौ० २०।

खदिर का ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] एक कड़ी लकड़ी वाले[3] वृक्ष (Acacia catechu) के रूप में उल्लेख है। अथर्ववेद[4] में *अश्वत्थ* को इस पर वृक्षान्तरित होकर उगने का उल्लेख है, और *अरुन्धती* नामक लता का आविर्भाव[5] भी इसी से बताया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी लकड़ी कड़ी होने के कारण ही यज्ञ के समय प्रयुक्त होने वाला चम्मच 'स्रुव' भी इसी का बना हुआ[6] बताया गया है। इसी स्थल पर इसे 'गायत्री' के

[1] ३. ५३, १९।
[2] अथर्ववेद ३. ६, १; ५. ५, ५; ८. ८, ३; १०. ६, ६; मैत्रायणी संहिता ३. ९, ३ इत्यादि। इसी प्रकार 'खादिर' ('खादिर की लकड़ी का बना हुआ) तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ७, १; ऐतरेय ब्राह्मण २. १; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ३, २०; ३. ६, २, १२ इत्यादि।
[3] अथर्ववेद १०. ६, ६।
[4] ३. ६, १। तु० की० ८. ८, ३।
[5] अथर्ववेद ५. ५, ५।
[6] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ७, १।

रस से उत्पन्न कहा गया है। इसके सार[7] से कत्था बनाने का कोई स्पष्ट सन्दर्भ नहीं है, जैसा कि बाद में मिलता है। इसके 'सार' का 'चार'[8] बनाने के लिये प्रयोग होता था।

[7] शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ४, ९ में इसे 'बहु-सार' (बहुत शक्तिवाला) कहा गया है।

[8] शाङ्खायन आरण्यक १२. ८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५८, ५८।

खद्योत (आकाश को प्रकाशित करने वाला), 'जुगनू', का छान्दोग्य उपनिषद् (६. ७, ३. ५) में उल्लेख है।

खनित्र 'बेलचा' या 'फरसा', का खोदने के उपकरण के रूप में ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है।

[1] १. १७९, ६ (सम्भवतः लाक्षणिक है : देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद—नोटेन १, १७२; यह स्थल अस्पष्ट है)।

[2] लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. २, ४ इत्यादि।

खनित्रिम, 'खोदने से उत्पन्न'—यह 'आपः' (जल) के लिये प्रयुक्त शब्द है, जो कि ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] के समय में सिंचाई के लिये व्यवहार में लाये जाने वाले कृत्रिम जलाशयों का स्पष्ट संकेत करता है।

[1] ७. ४९, २।

[2] १. ६, ४; १९. २, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३६; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४६६।

खर, 'गदहा', ऐतरेय आरण्यक[1] में आता है जहाँ गदहों के एक पूरे दल का उल्लेख है। सम्भवतः शतपथ ब्राह्मण[2] के उस स्थल पर भी, जहाँ यह शब्द मिट्टी के एक ऐसे टीले के लिये प्रयुक्त हुआ है जिस पर यज्ञ के घट या पात्र रक्खे जाते थे, इसमें एक गदहे का आशय निहित है, क्योंकि कदाचित् उस टीले को गदहे के आकार का ही बनाया जाता था।[3]

[1] ३. २, ४।

[2] ५. १, २, १५; १४. १, २, १७; २, २, ३०।

[3] तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

खर्गला एक 'उल्लू' अथवा कोई अन्य अशुभ-सूचक पक्षी है जिसका ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर उल्लेख है।

[1] ७. १०४, १७। तु० की० कौशिक सूत्र १०७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९३।

खर्जूर एक वृक्ष (Phoenix silvestris) का नाम है जिसका यजुर्वेद[1] में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २.४, ९, २; काठक संहिता ११. १०; ३६.७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६३।

खल 'खलिहान' का ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में उल्लेख है। देखिये कृषि।

[1] १०.४८, ७; निरुक्त ३.१०।
[2] ११.३, ९; 'खल-ज,' खलिहान की भूमि पर उत्पादित', ८.६, १५; 'खल्य' 'खलिहान की भूमि पर रक्खा हुआ', मैत्रायणी संहिता २.९, ६।
तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन २३८।

खल-कुल एक शब्द है जो बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में आता है जहाँ सायण इसे एक प्रकार की दाल 'कुलट्ठ' (Dolichos uniflorus) के साथ रखते हैं।

[1] ६.३, २२ (माध्यन्दिन = ६. ३, १३ काण्व)। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५५।

खल्व एक प्रकार का अन्न अथवा शिम्बिकोत्पादक (छीमी फलने वाला) पौधा, सम्भवतः जैसा कि वेबर[1] का विचार है, Phaselus radiatus है। अनेक अन्य प्रकार के अन्नों के साथ इसका वाजसनेयि संहिता[2] में, और दृषद् से इसके दले जाने का अथर्ववेद[3] में उल्लेख है। यह बृहदारण्यक उपनिषद्[4] में भी आता है, जहाँ शंकर इसे 'निष्पाव' के साथ रखते हैं।

[1] इन्डिशे स्टूडियन १. ३५५।
[2] १८.१२, जहाँ महीधर इसका 'चणक' अर्थ करते हैं।
[3] २.३१, १; ५.२३, ८।
[4] ६.३, २२ (माध्यन्दिन = ६. ३, १३ काण्व)।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४१।

खाण्डव का तैत्तिरीय आरण्यक[1] में कुरुक्षेत्र की एक सीमा के रूप में उल्लेख है। इसे महाभारत का प्रसिद्ध 'खाण्डव' वन ही मानने में सन्देह का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। यह नाम पञ्चविंश ब्राह्मण[2] और शाट्यायनक[3] में भी आता है।

[1] ५.१, १।
[2] २५.३, ६।
[3] मैक्स मूलर : ऋग्वेद,[2] iv, ci।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ७८।

खादि ऋग्वेद में अक्सर आता है जहाँ यह कभी पैर के कड़े[1], अथवा बाजूबन्द[2], अथवा कभी-कभी हाथ के कड़ों[3] का द्योतक है। मैक्समूलर[4] के विचार से इस शब्द का अर्थ 'वलय' है जिसे बाद में चक्र[5] कहते थे। यह कड़े कभी-कभी स्वर्ण[6] के होते थे।

[1] ५. ५४, ११, और कदाचित ५३, ४।
[2] कन्धों पर 'खादियों' का यही अर्थ होना चाहिये, १. १६६, ९; ७. ५६, १३।
[3] १. १६८, ३: 'खादि-हस्त', (हाथ में कड़े पहने हुये) ५, ५८, २। ६. १६, ४० में रौथ 'खादिन्' को यही मानते हैं; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था। 'खादिन्' २. ३४, २; १०. ३८, १ में भी आता है।
[4] से० बु० ई० ३२, १२०, २३०।
[5] तु० की० 'वृष-खादि', ऋग्वेद १. ६४, १०
[6] 'हिरण्य-खादि', शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. ५, १२; ८. २३, ६।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २६२; मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स ५. १४९।

खारी ऋग्वेद[1] के स्थल पर सोम के एक नाप का द्योतक है।

[1] ४. ३२, १७। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २८०।

खार्गलि, ('खार्गल' अथवा 'खर्गल' का वंशज) यह लुशाकपि[1] का मातृ-नामोद्गत और पैतृक नाम है।

[1] काठक संहिता ३० २; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. ४, ३।

१. खिल[1], *खिल्य*[2], दोनों का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। रौथ[3] के अनुसार यह शब्द कृषित भूमि के बीच पड़ी बंजर भूमि का द्योतक है। किन्तु आप (रौथ) स्वीकार करते हैं कि यह आशय ऋग्वेद[4] के उस स्थल के अनुकूल नहीं है जहाँ यह कहा गया है देवता अपने उपासकों को एक अक्षत खिल्य (अभिन्ने खिल्ये) पर रखता है। अतः आप 'अखिल्य-भिन्ने' (ऐसी भूमि जो बंजर भूमियों से बीच-बीच में विच्छिन्न न हो) पाठ होने का अनुमान करते हैं। पिशल[5] का विचार है कि इसका 'चौड़ी भूमियों' से आशय है जिनका समुदाय के मवेशियों के लिए ऐसे चरागाह के रूप में प्रयोग किया जाता था जो बीच-बीच में कृषित भूमि के कारण अलग-अलग टुकड़ों में न

[1] अथर्ववेद ७. ११५, ४; शतपथ ब्राह्मण ८. ३, ४, १।
[2] ऋग्वेद ६. २८, २; १०. १४२, ३।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। अथर्ववेद, उ० स्था० पर ह्विटने भी यही मानते हैं।
[4] ६. २८, २।
[5] वेदिशे स्टूडियन २, २०५।

बँट गये हों। फिर भी, औल्डेनबर्ग[६] यह विचार प्रकट करते हैं कि इसका आशय ऐसी भूमि से है जो कृषित भूमियों के बीच में पड़ती थी किन्तु जिसे बंजर या अनउपजाऊ मानने की आवश्यकता नहीं जैसा कि रौथ का विचार है। यह इस तथ्य के अनुकूल है कि वैदिक काल में भी अलग अलग खेतों की प्रणाली सुपरिचित थी : देखिये क्षेत्र।

[६] ऋग्वेद-नोटेन, १, ३८५, ३८६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३६; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ४९९; कीथ : ज० ए० सो० १९१०, २२८।

२. *खिल*—मूल ऋग्वेद के कुछ पूरक सूक्तों के नाम के अर्थ में यह शब्द केवल सूत्रकाल[१] में ही मिलता है। यह उपरोक्त शब्द का ही एक लाक्षणिक प्रयोग है जिसका अर्थ 'एक स्थान जो भरा न हो', अथवा 'एक परिपूरक', है।

[१] देखिये शेफ्टेलोवित्ज़ : डी० ऋ० १६ और बाद।

खृगल, अथवा जैसी कि अथर्ववेद[१] के पैप्पलाद शाखा में 'खुगिल' एक अस्पष्ट व्याहृति है, केवल दो स्थलों पर ही मिलता है—एक बार तो ऋग्वेद[२] में, और एक बार अथर्ववेद[२] में। प्रथम स्थल पर इसका 'वैसाखी' अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है; और दूसरे स्थल पर सायण इसे 'तनु-त्राण' (कवच) के साथ रखते हैं, किन्तु यहाँ आशय सर्वथा अनिश्चित है।

[१] ३. ९, ३।
[२] २. ३९, ४।
तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३४०; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९८।

खेल ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर आता है जहाँ पिशल[२] का विचार है कि इससे एक देवता, 'विवस्वन्त्', से तात्पर्य है जिनके सम्मान में दौड़-प्रतियोगिताओं का आयोजन होता था, और इस प्रकार आप 'आजा खेलस्य' (खेल के दौड़ में) वाक्पद की व्याख्या करते हैं। रौथ[३] के विचार से इसका किसी व्यक्ति से तात्पर्य है, और सायण का अनुसरण करते हुए सीग[४] भी इसे एक राजा मानते हैं जिनके पुरोहित *अगस्त्य* थे। *अंशु* भी देखिये।

[१] १, ११६, १५।
[२] वेदिशे स्टूडियन १, १७१-१७३।
[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[४] सा० ऋ० १२७, १२८। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ४, २८।

ग

गङ्गा (आधुनिक गंगा नदी) का ऋग्वेद के 'नदी-स्तुति'[1] में केवल एक बार ही स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु इसके व्युत्पन्न रूप 'गाङ्ग्य'[2] द्वारा भी, जो कि *उरुकक्ष*[3] का विशेषण है, इसका उल्लेख मिलता है। इस नदी का नाम अन्य संहिताओं में तो नहीं मिलता किन्तु शतपथ ब्राह्मण[4] में आता है जहाँ गङ्गा और *यमुना* दोनों पर *भरत दौःषन्ति* की विजय का उल्लेख है। तैत्तिरीय आरण्यक[5] में गंगा तथा यमुना के बीच के क्षेत्र में रहने वालों को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की गई है, और इसमें भी सन्देह नहीं कि यही वह क्षेत्र है जहाँ इस ग्रन्थ (तैत्तिरीय आरण्यक) का सृजन हुआ था। गंगा और अपया[6] नदियों में लुडविग[7] द्वारा स्थापित साम्य अस्वीकृत कर देना चाहिये : देखिये *आपया*।

[1] १०. ७५, ५।

[2] ६. ४५, ३१।

[3] इस स्थल पर 'गंगा' का सन्दर्भ उस स्थिति में भी बना रहता है, जब कि हम औल्डेनबर्ग (ऋग्वेद-नोटेन १, ३९६) के अनुसार यह मान लें कि इससे किसी व्यक्तिवाचक नाम का नहीं वरन एक 'वन' का अर्थ है (तु० की० वाकरनॉगल, आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक्, २, २८८)। वेबर : प्रो० अ० १८९८, ५६३, नोट १, भी देखिये।

[4] १३. ५, ४, ११। गंगा पर विजय, भरत अथवा कुरु शासन के विस्तार की अन्तिम सीमा का द्योतक है। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ८. २३, और वैतान सूत्र ३४. ९ का एक मन्त्र, जहाँ 'सरस्वती' का भी उल्लेख है।

[5] २. २०।

[6] ऋग्वेद ३. २३, ४।

[7] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ४, ५।

गज—महाकाव्य[1] और बाद के संस्कृत में यह हाथी का सामान्य नाम है जो केवल अद्भुत ब्राह्मण[2] के बाद के अंशों में ही मिलता है। देखिये *हस्तिन्*।

[1] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २६५, २६९।

[2] इन्डिशे स्टूडियन १, ३९।

गणक, (ज्योतिषी)—यह यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका में आता है। *नक्षत्रदर्श* भी देखिये।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १५, १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ७८।

गन्धर्वायण वालेय ('वलि' का वंशज) *आग्निवेश्य* का एक पञ्चाल के रूप में वौधायन श्रौतसूत्र (२०·२५) में उल्लेख है।

गन्धार, ऋग्वेद और अथर्ववेद में *गन्धारि* कहे गये लोगों के नाम का एक वाद का रूप है। छान्दोग्य उपनिषद्[1] में गन्धारों की स्थिति लेखक से वहुत दूर कही गयी है। *गान्धार* भी देखिये।

[1] ६. १४, १. २। देखिये औल्डेनवर्ग : वुद्ध, ३९९, नोट; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, २१९, नोट। इसके विपरीत, मैक्स मूलर : से० वु० ई० १५, १०६, में यह विचार व्यक्त करते हैं कि इस स्थल का अर्थ है कि 'गन्धार' लोग लेखक के निकट हैं।

गन्धारि—यह भारत के उत्तर-पश्चिम में वसी एक जाति का नाम है। ऋग्वेद[1] में गन्धारियों की भेड़ों के श्रेष्ठ ऊन का उल्लेख है। अथर्ववेद[2] में भी गन्धारियों का, *मूजवन्तों*, *अङ्गों* और *मगधों* के साथ उल्लेख है। गन्धारियों[3] अथवा गान्धारियों[4] की श्रौत सूत्रों[5] में भी चर्चा है। त्सिमर[6] का विचार है कि वैदिक काल में यह लोग *कुभा* नदी के दक्षिणी तट पर सिन्धु नदी में उसके (कुभा के) मुहाने तक, और उसके कुछ नीचे भी स्वयं सिन्धु के पूर्वी तट पर कुछ दूर तक वसे हुये थे। वाद में यह लोग पर्शियन साम्राज्य के एक अंग वन गये थे, और गन्धारियों की एक सैनिक टुकड़ी यूनान के विरुद्ध 'ज़र्क्सेस' के अभियान में उसके साथ भी सम्मिलित हुई थी।[7]

[1] १. १२६, ७।
[2] ५. २२, १४। प्रत्यक्षतः कवि के ज्ञान के अनुसार वाद वाली दोनों जातियाँ पूर्वी सीमा और प्रथम दोनों उत्तरी सीमा व्यक्त करती हैं।
[3] हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र १७. ६; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २२. ६, १८।
[4] वौधायन श्रौत सूत्र २१. १३।
[5] देखिये कैलेण्ड : त्सी० गे० ५६, ५५३।
[6] आल्टिन्डिशे लेवेन ३०, ३१।
[7] कीथ : ऐतरेय आरण्यक २३। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०६।

गभस्ति—रौथ[1] के अनुसार 'स्यूम-गभस्ति' (खम्भे की तरह लगाम वाला) विशेषण में यह शब्द रथ के एक खम्भे का द्योतक है जो ऋग्वेद[2] में देवों की गाड़ी में लगा हुआ, तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में स्वतन्त्र रूप से

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[2] १. १२२, ५; ७. ७१, ३।
[3] २. ७, १३, ४।

बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इसका अर्थ सन्दिग्ध[4] है। स्वयं रौथ[5] यह विचार व्यक्त करते हैं कि 'स्यूम-गभस्ति' से एक प्रकार की दुहरी लगाम (वल्गा) का आशय हो सकता है।

[4] देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ५५।

[5] उ० पु० व० स्था०।

१. गय, 'घर', ऋग्वेद[1] में एक साधारण शब्द है और कभी-कभी बाद[2] में भी आता है। यतः इसके आशय के अन्तर्गत घर के प्राणी और उनके सामान आदि सभी आ जाते हैं, अतः यह 'गृहस्थी' के आशय के समान है।

[1] १. ७४, २; ५. १०, ३; ४४, ७; ६. २, ८, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ६. ३, ३; ८४, १; वाजसनेयि संहिता २७. ३।

२. गय प्लात ('प्लति' का पुत्र) का ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। ऋग्वेद के दो सूक्तों की रचना का श्रेय यह स्पष्टतः स्वयं लेता है और इन दोनों का सृजन सर्वानुक्रमणी तथा ऐतरेय ब्राह्मण[2] में भी इसे ही आरोपित है। अथर्ववेद[3] में यह *असित* और *कश्यप* के साथ एक अर्ध-पौराणिक ऐन्द्रजालिक[4] के रूप में आता है।

[1] १०. ६३, १७; ६४, १७ ('प्लुति' के पुत्र के रूप में)।

[2] ५. २।

[3] १. १४, ४। तु० की० ऋग्वेद ५. ५१, १५ की परम्परा में 'खिल'; इण्डिशे स्टूडियन ३, २१४.।

[4] ब्लूमफील्ड : अ० फा० १७, ४०३। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३३; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६०।

१–गर (विष) का यौगिक शब्द 'गर-गीर्ण' के रूप में अथर्ववेद[1] में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[2] में इसका अर्थ केवल एक 'तरल पदार्थ' है।

[1] ५. १८, १३। तु० की० केवल 'गर', पञ्चविंश ब्राह्मण १९. ४, २ (देखिये इन्डिशे स्टूडियन १, ३३); तैत्तिरीय आरण्यक १. ९, १०; 'गर-गिर्' (विषयुक्त) पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, ९; १९. ४, २. १०।

[2] ११. ५, ८, ६।

२–गर का एक सामन् के प्रणेता और इन्द्र के एक मित्र के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] ९. २, १६। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५२।

गर्ग एक ऋषि का नाम है जिसका किसी भी संहिता[1] में उल्लेख नहीं हैं, किन्तु इसके वंशज 'गर्गाः प्रावरेयाः' का काठक संहिता[2] में उल्लेख मिलता है। स्वयं 'गर्ग' सूत्र काल[3] के पहले नहीं आता।

[1] अनुक्रमणी में ऋग्वेद ६. ४७ का प्रणेता 'गर्ग भारद्वाज' बताया गया है।
[2] १३. १२। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ३७४।
[3] 'गर्ग-त्रिरात्र', 'गर्ग-त्र्यह्'. अर्थात् तीन रात अथवा तीन दिन का गर्ग का भोजनोत्सव। देखिये आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. २; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २२, २; कात्यायन श्रौत सूत्र २३. २, ८।

गर्गर का, जो कि प्रत्यक्षतः एक प्रकार के वाद्य-यन्त्र का नाम है, ऋग्वेद[1] में एक बार उल्लेख है।

[1] ८. ६९, ९। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १४४, नोट १; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २८९।

गर्त—यह ऋग्वेद[1] में प्रमुखतः रथ में बैठने के उस स्थान का द्योतक है जहाँ धनुर्धर बैठता था। यह आकार में काफी बड़ा होता था क्योंकि इसे 'बृहन्त्'[2] कहा गया है। इस प्रकार चाहे वास्तव में[3] अथवा लाक्षणिक[4] रूप से ही, यह शब्द सम्पूर्ण रथ का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ६. २०, ९। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४६, २४७। त्सिमर त्रुटिपूर्ण रूप से इस स्थल का गाड़ी में खड़ा होना जैसा आशय ग्रहण करते हैं। देखिये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २३८, २३९; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ४८, और तु० की० 'गर्त-सद्' (गाड़ी के आसन पर बैठना) ऋग्वेद २. ३३, ११।
[2] ५. ६२, ८; ६८, ५।
[3] ५. ६२, ५, में सम्भवतः ऐसा ही है; ऋग्वेद १. १२४, ७ में 'गर्ता-रुह्' (रथ पर चढ़ना); निरुक्त ३. ५ में केवल आसन पर चढ़ने मात्र का आशय हो सकता है; देखिये गेल्डनर : ऋग्वेद कमेन्टर, २२।
[4] ७. ६४, ४ (सूक्त का)।

गर्दभ—'गदहा' का ऋग्वेद[1] में घोड़े से हीन होने के रूप में उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता में पुनः इसे घोड़े से हीन,[2] किन्तु साथ ही साथ पशुओं में सबसे उत्तम भार-वाहक[3] (भार-भारितम) भी कहा गया है। इसी ग्रन्थ

[1] ३. ५३, २३। ऐतरेय ब्राह्मण ४. ९ में 'गदहों' द्वारा खींची जाने वाली एक गाड़ी का उल्लेख है; खर भी देखिये।
[2] ५. १, २, १. २।
[3] ५. १, ५, ५।

में गदहे को 'द्वि-रेतस्'[४] बताया गया है जो कि 'घोड़ी' और 'गदही' दोनों से ही सन्तान उत्पन कर सकने की इसकी क्षमता का संकेत करता है। गदहे के बच्चे की छोटाई और उसके खाने की क्षमता, दोनों का ही उल्लेख है।[५] इस पशु के कर्णकटु चीत्कार का अथर्ववेद[६] में उल्लेख है और इसी को उद्दिष्ट करके ऋग्वेद[७] में एक गायक के लिये भी 'गदहे' शब्द का अनादरात्मक प्रयोग किया गया है। वालखिल्य सूत्र[८] में एक गायक को 'सौ गदहों का उपहार देने का उल्लेख है। खच्चर (अश्वतर) गदहे और घोड़ी के संसर्ग द्वारा उत्पन्न होता है, और इसलिये घोड़ी को भी गदहे की ही भाँति समान कारणों से 'द्वि-रेतस्'[९] कहा गया है। नर गदहे के लिये अक्सर *रासभ* शब्द का भी प्रयोग मिलता है। गदही (गर्दभी) का अथर्ववेद[१०] और बृहदारण्यक उपनिषद्[११] में उल्लेख है।

[४] ५. १, ५, ५; ७. १, १, २; जैमिनीय ब्राह्मण १. ५७, ४ (ऑर्टेल : ट्रा० सा० १५, १७७–१८०): 'रासभ' शतपथ ब्राह्मण, ६. ३, १, २३।

[५] तैत्तिरीय संहिता ५. १, ५, ५।

[६] ८. ६, १०।

[७] १. २९, ५।

[८] ८. ५६, ३।

[९] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १, २. ३; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. १, ६; जैमिनीय ब्राह्मण १. ५७, ४।

[१०] १०. १, ४।

[११] १. ४, ८; 'गदर्भ' के रूप में गदहे के अन्य सन्दर्भों के लिए देखिये अथर्ववेद ५. ३१, ३; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १, ९; १२. ७, १, ५।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे २३२, २३३।

गर्दभी-मुख का वंश ब्राह्मण[१] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३८४।

गर्दभी-विपीत, अथवा *गर्दभी-विभीत* एक गुरु का नाम है जो कि एक भारद्वाज थे और *जनक* के समकालीन थे। इसका बृहदारण्यक उपनिषद्[१] में उल्लेख है।

[१] ४. १, ११, (माध्यन्दिन = ४. १, ५ काण्व)।

गर्मुत् एक प्रकार की जंगली फली का नाम है जिसका तैत्तिरीय संहिता[१] में उल्लेख है। काठक संहिता[२] में इसका 'गन्मुत्' रूप है जो सम्भवतः एक

[१] २. ४, ४, १. २।

[२] १०. ११।

त्रुटिपूर्ण पाठ है। इसका विशेषण रूप 'गार्मुत' (गर्मुत् की फलियों से बना हुआ) मैत्रायणी संहिता[3] में मिलता है।

[3] २. २, ४। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ७१।

गलुन्त एक शब्द है जो अथर्ववेद[1] में केवल एक बार ही, प्रत्यक्षतः 'सूजन'[2] के आशय में मिलता है, किन्तु ह्विटने[3] इसका अनुवाद 'गला' करते हैं।

[1] ६. ८३, ३।
[2] ब्लूमफील्ड : प्रो० सो०, अक्तूबर १८८७, xvi; अथर्ववेद के सूक्त ५०५।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद ३४३।

गलूनस आर्क्षाकायण—('ऋक्षाक' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१.३८, ४) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

गवय—यह बैल की एक जाति (Bos gavaeus) का नाम है जो ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] अक्सर आता है। इसका, *गौर* और *महिष* के साथ वाजसनेयि संहिता[3] में उल्लेख है, जहाँ एक जंगली 'गवय' की भी चर्चा है[4]।

[1] ४. २१, ८।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १०; काठक संहिता १६. १७; वाजसनेयि संहिता २४. २८; ऐतरेय ब्राह्मण २. ८; ३. ३४; शतपथ ब्राह्मण १. २, ३, ९; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ३, १४, इत्यादि।
[3] २४. २८।
[4] १३. ४९; तैत्तिरीय संहिता ४. २, १०, ३; मैत्रायणी संहिता २. ७, १७; काठक संहिता १६. १७।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८३, ८४।

गवाशिर्—(दूध-मिश्रित) ऋग्वेद[1] में अक्सर *सोम* के लिये प्रयुक्त विशेषण है।

[1] १. १३७, १; १८७, ९; २. ४१, ३; ३. ३२, २; ४२, १. ७; ८. ५२, १०; १०१, १०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७९।

गव्-इष्टि—(शब्दार्थ : 'गायों की इच्छा')—ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर, प्रत्यक्षतः मवेशियों के आक्रमण के सन्दर्भ में, यह 'संघर्ष' या 'युद्ध' का द्योतक है।[2]

[1] १. ९१, २३; ३. ४७, ४; ५. ६३, ५; ६. ३१, ३; ४७, २०; ५९, ७; ८. २४, २; ९. ७६, २। अथर्ववेद ४. २४, ५ में भी ऐसा ही है।
[2] ऋग्वेद ७. १८, ७।

गवि-ष्ठिर आत्रेय (*अत्रि* का वंशज) का ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में एक *ऋषि* के रूप में उल्लेख है।

[1] ५. १, १२; १०. १५०, ५।
[2] ४. २९, ५। देखिये आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. १४, १ भी।
तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२६।

गवीधुका,[1] *गवेधुका*,[2]—यह घास की एक जाति (Coix barbata) का नाम है। इसके विशेषण रूपों, 'गावीधुक'[3] और 'गावेधुक'[4], का भी उल्लेख है। 'यवागू' अथवा 'उष्णिका' पकाने के लिये इसे चावल[5] (गवीधुका-यवागू) अथवा जौ[6] (गवेधुका-सक्तवः) के साथ उबाला जाता था।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ३, २।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, १३; ३, १, १०; १४. १, २, १९।
[3] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ७, १; ९, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ६; मैत्रायणी संहिता २. ६, ५; ४. ३, ८; वाजसनेयि संहिता १५. ५।
[4] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, ११. १३; ३, १, १०; ३, ७।
[5] तैत्तिरीय संहिता ५. ४, ३, २।
[6] शतपथ ब्राह्मण ९. १, १, ८।

गव्य—देखिये *गव्यूति*।

गव्या—देखिये *गविष्टि*।

गव्यूति—ऋग्वेद[1] में रौथ[2] के अनुसार इसका अर्थ घास का मैदान अथवा मवेशियों का चरागाह है, और इसी आशय में 'गव्य' का प्रयोग भी मिलता है[3]। यहीं से दूरी के एक नाप का आशय भी व्युत्पन्न हुआ है जो पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में मिलता है। इसके विपरीत, गेल्डनर[5] इसका वास्तविक[6] अथवा लाक्षणिक[7] अर्थ 'सड़क' और इसी से दूरी का एक नाप[8], और अन्ततः 'भूमि'[9] मानते हैं।

[1] १. २५, १६; ३. ६२, १६; ५. ६६, ३; ७. ७७, ४, इत्यादि।
[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ऐतरेय ब्राह्मण ४. २८; सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, ३ व।
[4] पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १३, १२।
[5] वेदिशे स्टूडियन २. २९०, २९१।
[6] ऋग्वेद १. २५, १६।
[7] ऋग्वेद ६. ४७, २०; १०. १४, २।
[8] ऋग्वेद ८. ६०, २० और नोट ४।
[9] ऋग्वेद ३. ६२, १६; ७. ६२, ५; ६५, ४; ८. ५, ६।

गाङ्ग्य (गंगा के किनारे स्थित)—यह उरुकक्ष[1] अथवा एक वन[2] के लिये ऋग्वेद[3] में प्रयुक्त विशेषण है।

[1] रौथ : सेन्ट पीटर्स वर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, २, २८८; वेवर : ए० रि०, २८।

[2] औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३९८।

[3] ६. ४५, ३१।
तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन २, २९१, नोट।

गाङ्ग्यायनी ('गाङ्ग्य' का वंशज)—यह कौषीतकि उपनिषद्[1] में *चित्र* के पैतृक नाम के रूप में आता है।

[1] १. १। एक 'गार्ग्यायणी' भी है। तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १,३९५।

गातु—देखिये *गाथा*।

गाथा—ऋग्वेद[1] में 'गातु'[2] की भाँति बहुधा इसका अर्थ केवल 'गीत' या मंत्र है। फिर भी, एक स्थल[3] पर इसका अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट आशय भी है क्योंकि इसे *नराशंसी* और *रैभी* के साथ वर्गीकृत किया गया है, तथा यह सहवर्गीकरण बाद[4] में बहुधा मिलता है। भाष्यकार इन तीनों शब्दों को अथर्ववेद[5] के कुछ मन्त्रों के साथ समीकृत करते हैं, किन्तु औल्डेनबर्ग[6] ने यह दिखाया है कि यह समीकरण ऋग्वेद की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। 'गाथाओं'

[1] ८. ३२, १; ७१, १४; ९८, ९; ९. ९९, ४; 'गाथ', १. १६७, ६; ९. ११, ४; 'गाथ-पति', १. ४३, ४; 'गाथा-नी' (एक गीत का नायकत्व करते हुये), १. १९०, १; ८. ९२, २; 'ऋजु-गाथ' (शुद्ध रूप से गाते हुये), ५. ४४, ५; 'गाथिन्' (गायक), १. ७, १। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ६५।

[2] १. १५१, २; २. २०, ५; ३. ४, ४; ४. ४, ६; ५. ८७, ८; १०. २०, ४; १२२, २।

[3] १०. ८५, ६।

[4] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ११, २; काठक संहिता, अश्वमेध ५. २; ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, ८, जहाँ 'रैभी' नहीं आता; गोपथ ब्राह्मण २. ६, १२।

[5] जैसे, गाथा = अथर्ववेद २०. १२७, १२ और बाद; नाराशंसी = अथर्ववेद २०. १२७, १-३; रैभी = अथर्ववेद २०. १२७, ४-६; जब कि वही, ७-१०, में 'पारिक्षित्यः' के रूप में परिचित हैं।

[6] त्सी० गे० ४२, २३८। ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ६८९ और बाद, में यह इस समीकरण को ऋग्वेद के लिये भी स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

का अन्यत्र[7] भी अक्सर उल्लेख है। ऐतरेय आरण्यक[8] में उस स्थल पर इसके पद्यबद्ध होने का उल्लेख है, जहाँ *ऋच्*, *कुम्ब्या* और 'गाथा' को मन्त्रों का अलग-अलग स्वरूप कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[9] में 'ऋच्' और 'गाथा' का क्रमशः दैवी और मानवीय होने के रूप में विभेद किया गया है। ब्राह्मण और सांस्कारिक साहित्य में प्रचलन का जैसा सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में उल्लेख है, उसके अनुसार विषय-वस्तु की दृष्टि से गाथायें यद्यपि धार्मिक होती थीं, तथापि 'ऋच्', 'यजुस्' और 'सामन्' की तुलना में इन्हें अवैदिक कहा गया है—अर्थात् यह मन्त्र नहीं हैं। यह दृष्टिकोण इस तथ्य के भी अनुकूल है कि *यज्ञ-गाथा* वाक्पद (जिसका अर्थ याज्ञिक-प्रचलन का सारांश व्यक्त करनेवाला पद्य है) बहुत दुर्लभ नहीं है। शतपथ ब्राह्मण[10] में अनेक गाथायें सुरक्षित हैं, जो सामान्य रूप से इसके इसी वर्णन से सहमत हैं कि इनमें प्रसिद्ध राजाओं के यज्ञों के विवरण के सारांश सुरक्षित हैं। मैत्रायणी संहिता[11] यह व्यक्त करता है कि विवाह के समय 'गाथा' आनन्दप्रद होती है। कभी-कभी[12] 'गाथा' का '*नाराशंसी*' के रूप में भी विशेषीकरण किया गया है, जिस दशा में इसका तात्पर्य अवश्य ही एक उदार दानी की प्रशस्ति होना चाहिये।

[7] अथर्ववेद १०. १०, २०; १५. ६, ४ ('नाराशंसी' से भिन्न); शतपथ ब्राह्मण ३. २, ४, १६; ११. ५, ७, १०; १३. १, ५, ६; ४, २, ८; ५, ४, २; तैत्तिरीय आरण्यक २. १० ('नाराशंसी' से भिन्न); छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ९, इत्यादि।

[8] २. ३, ६, कीथ की टिप्पणी सहित; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ७, १०।

[9] ७. १८। 'शुनःशेप' की कथा को 'शत-गाथम्' (सौ गाथाओं में कही गई) बताया गया है।

[10] १३. ५, ४ इत्यादि, और देखिये १३. ४, २, ८, जहाँ 'गाथायें' भी उसी प्रकार केवल दान-स्तुतियाँ है जिस प्रकार बृहद्देवता ३. १५४ में 'नाराशंसी' मन्त्रों को भी कहा गया है।

[11] ३. ७, ३।

[12] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, २, ६। एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४४, ९८ में शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, ८ को इसी प्रकार मानते हैं, किन्तु यहाँ सायण इन दोनों में समीकरण करने अथवा विभेद दिखाने में संकोच करते है। यह मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि 'गाथा' एक विस्तृत आशय का शब्द है जिसके अन्तर्गत 'नाराशंसी' भी आ जाता है, न कि इन दोनों का अलग-अलग आशय है। तु० की० सायण द्वारा ऐतरेय आरण्यक २. ३, ६ पर अपने भाष्य में गाथा का उदाहरण : 'प्रातः प्रातर् अनृतं ते वदन्ति' (वह प्रति दिन प्रातःकाल एक असत्य कहते हैं), जो कि स्पष्टतः 'नाराशंसी' नहीं है।

तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६८९ और बाद; वेबर : ए० रि० ४ और बाद; मैक्समूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४९३।

गाथिन्—इसका *कुशिक* के पुत्र और *विश्वामित्र* के पिता के रूप में सर्वानुक्रमणी में उल्लेख है। यह परम्परा ठीक है अथवा नहीं यह कहना कठिन है। ऐतरेय ब्राह्मण (७.१८) से इसकी कुछ पुष्टि होती है जहाँ 'गाथिनों' की दिव्य विद्या (दैव वेद) का सन्दर्भ है, जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि *विश्वामित्र* द्वारा दत्तक ले लिये जाने के कारण उसमें *शुनःशेप* का भी भाग था। देखिये *गाथिन*।

गाथिन—ऐतरेय ब्राह्मण[1] में विश्वामित्र के पुत्रों को 'गाथिन' अथवा 'गाथिन्' का वंशज कहा गया है। परम्परा के अनुसार गाथिन् इन पुत्रों का पितामह[2] था; और सर्वानुक्रमणी में स्वयं *विश्वामित्र* को भी 'गाथिन' ही कहा गया है।

[1] ७. १८। तु० की० आश्वलायन श्रौतसूत्र ७. १८; वेबर : ए०रि० १६, नोट ३।
[2] तु० की० मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ३४८ और बाद; पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, ३२ और बाद।

गां-दम—यह पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *एकयावन्* के नाम का रूप है, जिसका तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में 'कांदम' पाठ है।

[1] २१. १४, २०।
[2] २. ७. ११, २। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६९।

गान्धार, 'गन्धार का एक राजा'—*नग्नजित्* नामक गन्धार के एक राजा का ऐतरेय ब्राह्मण[1] में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[2] में यही अथवा इसका कोई वंशज *स्वर्जित् नाग्नजित* अथवा 'नग्नजित' के रूप में संस्कार पर अपना मत प्रदर्शित करते हुये आता है। इस मत को इस दृष्टि से अस्वीकृत कर दिया गया है कि इसको व्यक्त करने वाला केवल एक राजपुरुष (राजन्य-बन्धु) है।

[1] ७. ३४, गुरुओं की तालिका में, जिसने 'सोम' के स्थानापन्न का ज्ञान परम्परा को प्रदत्त किया था।
[2] ८. १, ४, १०।

गार्गी वाचक्नवी का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *याज्ञवल्क्य* की एक समकालीन और प्रतिद्वन्द्वी महिला के रूप में उल्लेख है।

[1] ३. ६, १; ८, १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ११८।

गार्गी-पुत्र ('गार्गी' का पुत्र)—बृहदारण्यक उपनिषद् (६.४, ३०) के माध्यन्दिन शाखा के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में यह तीन गुरुओं के नाम के रूप में आता है। इन तीनों में से सबसे पहले वाला गुरु *वाडेयीपुत्र*

का शिष्य और द्वितीय 'गार्गीपुत्र' का गुरु था। यह द्वितीय गुरु, तृतीय गार्गीपुत्र के गुरु *पाराशरीकौण्डिनीपुत्र* का भी गुरु था।

गार्ग्य ('गर्ग' का वंशज)—यह बृहदारण्यक[1] और कौपीतकि[2] उपनिषदों में *बालाकि* का पैतृक नाम है। बृहदारण्यक उपनिषद्[3] के द्वितीय वंश (गुरुओं की तालिका) में दो गार्ग्यों का उल्लेख है: इनमें से एक गार्ग्य का शिष्य है, और स्वयं 'गार्ग्य' गौतम का शिष्य है। अन्य लोग तैत्तिरीय आरण्यक[4] और निरुक्त[5] तथा बाद के सांस्कारिक सूत्रों में भी आते हैं। इस प्रकार यह परिवार बहुत बड़ा और संस्कारों तथा व्याकरण के विकास से सम्बन्धित था।

[1] २. १, १।
[2] ४. १।
[3] ४. ६, २ (काण्व)
[4] १. ७, ३।
[5] १. ३. १२; ३, १३।

गार्ग्यायण, ('गार्ग्य' का वंशज), का बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ६, २ काण्व) के द्वितीय वंश (गुरुओं की तालिका) में *उद्दालकायन* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

गार्ग्यायणि, ('गार्ग्य' का वंशज)—यह कौपीतकि उपनिषद् (१.१) में *चित्र* के पैतृक नाम *गाङ्गयायनि* का एक भिन्न पाठ है।

गालव का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *विदर्भीकौण्डिन्य* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है। कदाचित यह वही व्यक्ति है जिसका किसी सांस्कारिक विषय के सम्बन्ध में ऐतरेय आरण्यक[2] में उल्लेख है। निरुक्त[3] में इस नाम के एक वैयाकरण का उल्लेख है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यन्दिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)
[2] ५. ३, ३।
[3] ४. ३। तु० की० पाणिनि ६. ३, ६१; ७. १, ७४; ३, ९९; ८. ४, ६७।

गिरि, 'पर्वत' अथवा 'ऊँचाई', एक शब्द है जो ऋग्वेद[1] में बार-बार आता है। पर्वत पर उगनेवाले वृक्षों का उल्लेख है, और इस कारण इसे (गिरि को) 'वृक्ष-केशाः'[2] अर्थात् 'वृक्षरूपी बाल वाला' कहा गया है। पर्वत से निकल कर 'समुद्र'[3] तक जाने वाली नदियों का भी उल्लेख है। इस शब्द को अक्सर

[1] १. ५६, ३; ६१, १४; ६३, १; ४. २०, ६; ६. २४, ८, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद ५. ४१, ११।
[3] ऋग्वेद ७. ९५, २।

विशेषणात्मक शब्द 'पर्वत'[४] के साथ संयुक्त किया गया है। ऋग्वेद में पर्वतों से आने वाले जल[५] का, और अथर्ववेद[६] में हिमाच्छादित पर्वतों का उल्लेख है। *मूजवन्त्*, *त्रिककुद्*, *हिमवन्त्*, आदि जैसे पर्वतों के वास्तविक नाम अत्यन्त दुर्लभ हैं। *क्रौञ्च*, *महामेरु*, और *मैनाग* का सन्दर्भ केवल तैत्तिरीय आरण्यक तक ही सीमित है, और *नावप्रभ्रंशन* को एक 'व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं माना जा सकता[७]।

[४] ऋग्वेद १. ५६, ४; ८. ६४, ५; अथर्ववेद ४. ७, ८; ६. १२, ३; १७, ३; ९. १, १८, इत्यादि।

[५] ऋग्वेद ६. ६६, ११, जिस स्थल पर देखिये औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ४११; ८. ३२, ४; १०. ६८, १ इत्यादि।

[६] १२. १, ११। देखिये **हिमवन्त्**।

[७] अथर्ववेद १९. ३७, ८, अपने अनुवाद में व्हिट्नी की टिप्पणी सहित; मैकडौनेल : ज० ए० सो० १९०९, ११०७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ४७।

गिरि-क्षित् औच्चा-मन्यव, ('उच्चामन्यु' का वंशज) का पञ्चविंश ब्राह्मण (१०.५, ७) में *अभिप्रतारिन् काक्षसेनि* के एक समकालीन व्यक्ति के रूप में उल्लेख है।

गिरि-ज बाभ्रव्य ('बभ्रु' का वंशज) को ऐतरेय ब्राह्मण (७.१) में *श्रौत* द्वारा बलि-पशु के विभाजन की विधि (पशोर् विभक्ति) सिखाये जाने का उल्लेख है।

गुग्गुलु को अथर्ववेद[१] के एक स्थल पर 'सिन्धु'[२] और सागर से उत्पादित कहा गया है। जैसा कि त्सिमर[३] का भी विचार है, उक्त वाद के स्थल पर सम्भवतः समुद्रीय व्यापार का आशय है और 'गुग्गुलु' किसी वृक्ष का गोंद है, समुद्र से उत्पादित कोई पदार्थ नहीं। फिर भी, यह सम्भव है कि इस स्थल पर किसी अन्य वस्तु का ही अर्थ हो। इसी रूप में यह शब्द अथर्ववेद[४] में अन्यत्र तथा बाद[५] में भी आता है। अक्सर[६] इसके पुराने रूप *गुग्गुलु* का भी

[१] १९, ३८, २।

[२] अथवा 'सैन्धव' (नदी की धारा से), जैसा कि रौथ : सैन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० पर 'गुग्गुलु' के अन्तर्गत व्यक्त करते हैं।

[३] आल्टिन्डिशे लेबेन २८।

[४] २. ३६, ७।

[५] ऐतरेय ब्राह्मण १. २८।

[६] तैत्तिरीय संहिता ६. २. ८, ६; मैत्रायणी संहिता ३. ८, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १३; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, २, १६। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ६७५; लासन : इ० आ० १^{2}, ३३९; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९५७, ९५८।

उल्लेख है, और इस रूप तथा 'गुग्गुलु' के बीच ही पाण्डुलिपियों में नित्य ही इसके पाठ की भिन्नता मिलती है।

गङ्गु—'गङ्गु' के वंशजों को, गङ्गुओं के रूप में ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में प्रत्यक्षतः *अतिथिग्व* का मित्र कहा गया है। सम्भवतः इससे एक जाति के लोगों का आशय है।

[1] १०.४८, ८। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६५।

गुप्त, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४२) में *वैपश्चित् दार्ढजयन्ति गुप्त लौहित्य* का नाम है। इस नाम के तीनों अन्य शब्द पैतृक नाम हैं जिससे यह प्रकट होता है कि यह (गुप्त) 'विपश्चित्', 'दार्ढजयन्त', और 'लोहित' के परिवारों का वंशज था।

गुल्गुलु—देखिये *गुग्गुलु*।

गृत्स-मद—एक द्रष्टा का नाम है जिसे सर्वानुक्रमणी, ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का प्रणेता मानती है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] और ऐतरेय आरण्यक[2] द्वारा इस परम्परा की पुष्टि होती है। कौषीतकि ब्राह्मण[3] इसे *भार्गव* ('भृगु' का वंशज) और एक अन्य विभेदात्मक रूप *बाभ्रव* ('बभ्रु' का वंशज) मानता है; किन्तु बाद की परम्परा प्रथम पैतृक नाम[4] को ही सुरक्षित रखती है। 'गृत्समदों' का ऋग्वेद[5] के द्वितीय मण्डल में अक्सर उल्लेख है और इन्हें 'शुनहोत्र'[6] भी कहा गया है; किन्तु इन्हें 'गार्त्समद'-गण अथवा 'शौनहोत्र'-गण कभी भी नहीं बताया गया, और 'गृत्समद' स्वयं इस स्थल पर कभी भी नहीं आता[7]।

[1] ५. २, ४।
[2] २. २, १।
[3] २२. ४। तु० की० 'गार्त्समदी', २८. २।
[4] मूईर: संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], २२६ और बाद।
[5] २. ४, ९; १९, ८; ३९, ८; ४१, १८।
[6] २. १८, ६; ४१, १४. १७।
[7] औल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ४२, २००, २०१ तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११८; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, ३, २८७।

गृध्र, 'गिद्ध', का ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] अक्सर उल्लेख है। इसके

[1] १. ११८, ४; २. ३९, १; ७. १०४, २२; १०. १२३, ८।
[2] अथर्ववेद ७. ९५, १; ११. २, २; ९, ९; १०. ८. २४; तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ७. १; ५.५, २०, १; मैत्रायणी संहिता ४. ९, १९; तैत्तिरीय आरण्यक ४. २९; इन्डिशे स्टूडियन १, ४० में अद्भुत ब्राह्मण; इत्यादि।

उड़ने की गति[3] और सड़ा हुआ मांस-भक्षण करने के इसके प्रेम का विशेष रूप से उल्लेख है[4]। अधिक सामान्य आशय में इस शब्द का प्रयोग किसी भी हिंसक पक्षीमात्र के लिये किया गया है और श्येन को गृध्रों में प्रमुख[5] बताया गया है।

[3] ऋग्वेद २. ३९, १।
[4] अथर्ववेद ११. १०, ८. २४; मैत्रायणी संहिता, उ० स्था०।
[5] ऋग्वेद ९. ९६, ६।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ८८; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, २२५।

गृष्टि, 'एक कम अवस्था वाली गाय', जिसने अभी केवल एक मात्र बच्चा ही दिया हो, का बोधक यह शब्द ऋग्वेद[1], अथर्ववेद[2] और बाद के सूत्र-साहित्य[3] में आता है।

[1] ४. १८, १०।
[2] २. १३, ३; ८. ९, २४; १९. २४, ५।
[3] कौशिक सूत्र १९. २४ इत्यादि।

गृह—वैदिक आर्यों के 'घर' के अर्थ में इस शब्द का एकवचन[1] अथवा अपेक्षाकृत अधिकतर बहुवचन[2] में प्रयोग किया गया है। दम अथवा दम् का भी यही आशय है, जब कि पस्त्या और हर्म्य अधिक विशेष रूप से घर और उसके आस-पास परिवार की अन्य सम्पत्ति के भी द्योतक हैं। केवल परिवार, जो काफी बड़ा हो सकता था, के लोग ही घर में नहीं रहते थे वरन् रात के समय मवेशी[3] और भेड़[4] भी उसी में रहते थे। जैसा कि इसके बहुवचन रूप के प्रयोग से व्यक्त होता है इसमें अनेक कमरे होते थे, तथा इसे सुरक्षित रूप से बन्द भी किया जा सकता था[5]। द्वार्, द्वार, का भी

[1] ऋग्वेद ३. ५३, ६; ४. ४९, ६; ८. १०, १, इत्यादि; अथर्ववेद ७. ८३, १; १०. ६, ४; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१।
[2] ऋग्वेद २. ४२, ३; ५. ७६, ४; १०. १८, १२; ८५, २६; १४२, ४; १६५, २; अथर्ववेद १. २७, ४; ३. १०, ११; ६. १३७, १; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३१; ८. २६; वाजसनेयि संहिता २. ३२; ४. ३३; १८. ४४; शतपथ ब्राह्मण १. १, २, २२; ६, १, १९, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ७. ५६, १६; अथर्ववेद १. ३, ४; ९. ३, १३।
[4] ऋग्वेद १०. १०६, ५; अथर्ववेद ३. ३।
[5] ऋग्वेद ७. ८५, ६।

अक्सर उल्लेख है और इसी से घर को *दुरोण* कहते थे। प्रत्येक घर में हर समय अग्नि प्रज्वलित रक्खी जाती थी[६]।

घर की बनावट के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है। सम्भवतः पत्थर का उपयोग नहीं होता था[७]। घर लकड़ी के ही बनाये जाते थे, जैसा कि मेगस्थनीज़ के समय में भी प्रचलित था[८]। अथर्ववेद[९] के कुछ सूक्त घर की बनावट के सम्बन्ध में सामग्री प्रस्तुत करते हैं, किन्तु उनमें दिये गये विवरण अत्यन्त अस्पष्ट हैं, क्योंकि अधिकांश व्याहृतियाँ जिनका वहाँ प्रयोग किया गया है, अन्य किसी भी ऐसे मूलग्रन्थ में उपलब्ध नहीं जिनमें उनका आशय स्पष्ट हो। त्सिमर[१०] के अनुसार एक अच्छे स्थान पर स्तम्भ (*उपमित्*) स्थापित कर दिये जाते थे और उनके सहारे धरनों या 'काणियों' (*उतिमित्*) को एक कोण पर रख दिया जाता था। इस प्रकार, सीधे खड़े स्तम्भों को उनके आधार पर रक्खी तिरछी 'काणियों' (*प्रतिमित्*) से सम्बद्ध कर दिया जाता था। छाजन के लिये काणियों के कोण भाग पर एक धरन (*विषूवन्त*) रक्खी जाती थी और उसके तथा काणियों के ऊपर बाँस (वंश)[११] के फट्टे बिछा दिये जाते थे।

[६] ऋग्वेद १. ६९, २। तु० की० 'गार्हपत्य अग्नि', अथर्ववेद ५. ३१, ५; ५, १२०, १; १२१, २; ८. १०, २; ९. ६, ३०; १२. २, ३४; १८. ४, ८; वाजसनेयि संहिता ३. ३९; १९. १८; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ६. १२; कौषीतकि ब्राह्मण २. १; ३. ६, १, २८; ७. १, १, ६, इत्यादि।

[७] त्सिमर, आल्टिन्डिशे लेबेन १५३। संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४६१, में मूईर का यह दृष्टिकोण कि 'मिट्टी' का प्रयोग होता था, केवल घर की दीवारों को साधारण रूप से चिकना करने की बात के लिए ही उपयुक्त हो सकता है।

[८] अर्रियन, इन्डिका १०. २।

[९] ३. १२; ९. ३। देखिए ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३४३ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २३४ और बाद; व्हिटने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५२५, और बाद।

[१०] उ० पु०, १५३। इन शब्दों के अनुवाद के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

[११] ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि, जब छाजन के लिए बाँस के फट्टों का प्रयोग होता था और इन्हें धरनों पर टिकाया जाता था, तब समस्त छाजन का आकार गाड़ी की छत की भाँति बीच में उठा और दोनों ओर ढालू होता रहा होगा, जैसा कि अधुनिक 'टोडा' जाति के लोगों की झोपड़ियों में होता है (देखिये चित्र, रिवर्स : दि टोडाज, पृ० २५, २७, २८, ५१), और पश्चिमी भारत के बौद्धों के गुफा चैत्य अथवा प्रार्थना कक्ष, जिनमें से कुछ प्राचीनतम रूपों में उनके अर्धगोलाकार छाजनों में लगी लकड़ी की कूणियाँ आज भी सुरक्षित हैं, देखिए फर्गुसन : हिस्टरी ऑफ इन्डियन आर्किटेक्चर, २² २, १३५, तु० की० १२६।

इन सब के ऊपर एक जाल (अदु) डाल दिया जाता था, जिसका आशय यह हुआ कि बाँस के फट्टों पर एक छप्पर[12] डाल दिया जाता था। दीवारों का निर्माण घास के गट्ठरों (पलद) को एक दूसरे पर रख कर किया जाता था और अनेक प्रकार के बन्धनों (नहन, प्राणाह, संदंश, परिष्वञ्जल्य)[13] द्वारा घर के सम्पूर्ण ढाँचे को सन्नद्ध करके खड़ा रक्खा जाता था। घर के सम्बन्ध में चार ऐसे शब्दों का उल्लेख है जिनका अर्थ प्रमुखतः तो यज्ञ से सम्बद्ध है, किन्तु यह सभी घर के विभिन्न भागों के भी द्योतक प्रतीत होते हैं, यथा : 'हविर्धान'; 'अग्निशाल'[14] (अग्निस्थान); 'पत्नीनां सदन' (पत्नी का कमरा); और 'सदस्' (बैठने का कमरा)। सिकहरों (*शिक्य*) अथवा लटकते हुए पात्रों का भी उल्लेख है[15]। नरकट (इट) की भी चर्चा है, जिसका निःसन्देह घर की दीवारों को सुडौल बनाने के लिये उपयोग होता था[16]। बाहरी दीवारों को *पक्ष*, तथा चौखट-बाजू सहित दरवाज़ों को *आता* कहा गया है।

[12] अथर्ववेद ९. ३, ८, जहाँ ब्लूमफील्ड : उ० पु० ५९८, के विचार से छाजन बेत की चटाई का होता था; और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १३६, के विचार से एक खम्भे का जिसमें असंख्य छिद्र होते थे।

[13] अथर्ववेद ९. ३, ४. ५।

[14] त्सिमर अनुमान के आधार पर 'अग्निशाल' को बीच का कमरा, 'हविर्धान' को ऐसा स्थान जहाँ अन्न इत्यादि रक्खा जाता था (यथा : अथर्ववेद ३. ३, ४), 'पत्नीनां सदन' को स्त्रियों का कक्ष, और 'सदस्' को घर के अन्य उपभागों का द्योतक मानते हैं।

[15] अथर्ववेद ९. ३, ६। देखिये ह्विटने; उ० पु० ५२६; ब्लूमफील्ड : उ० पु० ५९७।

[16] अथर्ववेद ९. ३, १७।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १४८–१५६।

गृह-प[1] अथवा *गृह-पति*[2], ऋग्वेद और उसके बाद, नियमित रूप से घर के प्रधान या स्वामी का द्योतक है। इसी प्रकार गृहस्वामिनी को

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. ११।

[2] ऋग्वेद ६. ५३, २; अथर्ववेद १४. १, ५१; १९. ३१, १३; शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ८, ५; ८. ६, १, ११, और अग्नि की उपाधि के रूप में बार बार : ऋग्वेद १. १२, ६; ३६, ५; ६०, ४; ६. ४८, ८; वाजसनेयि संहिता २. २७; ३. ३९; ९. ३९; २४. २४, इत्यादि।

'गृह-पत्नी'[3] कहा गया है। 'गृहपति' के अधिकार और स्थिति के लिये देखिये *पितृ*।

[3] ऋग्वेद १०. ८५, २६; अथर्ववेद ३. २४, ६। तु० की० 'गार्हपत्य', ऋग्वेद १. १५, १२; ६. १५, १९; १०. ८५, २७. ३६।

गृह्य, शतपथ ब्राह्मण[1] में गृह अथवा परिवार के सदस्यों का द्योतक है।

[1] २. ५, २, १४; ३, १६; ६, २, ४; ३. ४, १, ६; १२. ४, १, ४। तु० की० 'गृहाः', १.७, ४, १२।

गैरि-क्षित (*गिरिक्षित्* का वंशज)—यह ऋग्वेद[1] में *त्रसदस्यु* का, तथा काठक संहिता[2] में *यस्कस्* का पैतृक नाम है।

[1] ५. ३३, ८; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५५, १७४।

[2] १३. १२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७४, ४७५।

१. गो—(क) 'बैल' अथवा 'गाय'[1]। यह वैदिक आर्यों की सम्पत्ति के प्रधान साधनों में से थे और इनका ऋग्वेद तथा उसके बाद[2] बार-बार उल्लेख है। दूध (*क्षीर*) को या तो ताज़ा ही पीया जाता था अथवा उसका *घृत* या *दधि* बना लिया जाता था। कभी-कभी उसे *सोम* में मिलाया या अन्न के साथ पकाया भी जाता था (*क्षीरौदन*)। गायों को दिन में तीन बार दूहा जाता था। एक बार प्रातःकाल (प्रातर्-दोह), दूसरी बार मध्याह्न के पहले (*संगव*), और उसके बाद सन्ध्या समय (सायं-दोह)[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] के अनुसार इन्हें तीन बार (प्रातः, संगवे, सायम्) चरने के लिये बाहर कर दिया जाता था। प्रथम दोहन अधिक उत्पादक होता था और शेष

[1] १. ८३, १; १३५, ८; २. २३, १८, इत्यादि; 'गाव उक्षणः', १. १६८, २; अथर्ववेद ३. ११, ८; वाजसनेयि संहिता २१. २०; 'गावो धेनवः', ऋग्वेद १. १७३, १; ६. ४५, २८; १०. ९५, ६; वाजसनेयि संहिता २१. १९; इत्यादि।

[2] पाँच बलि-पशुओं के नाम यह है : 'मनुष्य, बकरा, भेड़ा, बैल, घोड़ा', शाङ्खायन श्रौत सूत्र ९. २३, ४; शतपथ ब्राह्मण २. ४, ३, १३; ३. १, २, १३; ४. ५, ५, १०; १४. १, १, ३२।

[3] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ३, १।

[4] १. ४, ९.२। इस सूचना का ठीक ठीक आशय अस्पष्ट है। जैसा कि अक्सर उल्लेख है, वस्तुतः गायों को प्रातःकाल पशुगृह से बाहर कर दिया जाता था, दिन की गर्मी वह 'संगविनी' में व्यतीत करती थीं, फिर सन्ध्या समय उन्हें चरने के लिये बाहर कर दिया जाता था, और अन्त में वह स्वतः घर आ जाती थीं, अथवा उन्हें हाँक कर लाया जाता था : ऋग्वेद १. ६६, ५; १४९, ४; वाजसनेयि संहिता १५. ४१।

से अपेक्षाकृत कम[३]। ऐतरेय ब्राह्मण[५] के अनुसार भरतों के पशु-समूह सन्ध्या समय गोष्ठ में, और मध्याह्न के समय संगविनी में रहते थे। इस स्थल की व्याख्या करते हुए सायण यह व्यक्त करते हैं कि ऐसे सभी पशु जो दूध देते थे वह रात्रि के समय 'शाला' अथवा पशु-गृह में चले जाते थे, जब कि अन्य प्रकार के पशु 'गोष्ठ' अथवा खुले चरागाह में ही रहते थे; किन्तु दिन की गर्मी में दोनों प्रकार के पशु एक साथ पशु-गृह में ही रक्खे जाते थे। 'संगव' के पूर्व का समय, जब कि गायें चरागाहों में मुक्त रूप से चरती रहती थीं, स्वसर[६] कहते थे। जब गायें बाहर चरने के लिये जाती थीं तो उन्हें उनके बछड़ों से अलग कर दिया जाता था। इन बछड़ों को संगव[७] के समय, और कभी-कभी सन्ध्या[८] समय पुनः गायों से मिलने दिया जाता था।

चरते समय यह पशु एक चरवाहे (*गोपा, गोपाल*) की देखरेख में रहते थे जिसके पास एक अंकुश या डण्डा[९] होता था। फिर भी इन पशुओं के लिये अनेक संकट उत्पन्न हो सकते थे, जैसे : खो जाना, गड्ढों में गिर जाना, पैर टूट जाना,[१०] अथवा चोरी चले जाना, आदि। पशुओं के कान पर चिह्न बना देने की विधि का बार-बार प्रयोग होता था जो कि स्वामित्व व्यक्त करने के लिये ही किया जाता था[११]।

मवेशियों के बड़े समूह भी भली प्रकार परिचित थे, जैसा कि राजाओं

[५] ३. १८, १४।

[६] ऋग्वेद २. २, २; ३४, ८; ५. ६२, २; ८. ८८, १; ९. ९४, २। प्रातःकाल गायों के चरागाह में जाने का अक्सर उल्लेख है, यथा, ऋग्वेद १. २५, १६; १०. ९७, ८।

[७] ऋग्वेद २. २, २; ८. ८८, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, १, ३; छान्दोग्य उपनिषद् २. ९, ४ पर शंकर; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. १२, ४; आश्वलायन श्रौत सूत्र ३. १२, २ पर नारायण।

[८] गोभिल गृह्य सूत्र ३. ८, ७; ऋग्वेद २. २, २। देखिये गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १११-११४।

[९] 'पवीरवान्', का ऋग्वेद १०. ६०, ३, में कदाचित ऐसा ही अर्थ है। इसका सामान्य नाम अष्ट्रा था, जो कि **वैश्य** का प्रमुख चिह्न है। तु० की० ऋग्वेद ७. ३३, ६।

[१०] ऋग्वेद १. १२०, ८; ६, ५४, ५-७। पूषन् ही वह विशेष देवता थे जिनके द्वारा मवेशियों की रक्षा करने की आशा की जाती थी, और इसी कारण इन्हें 'अनष्ट-पशु' भी कहा गया है। देखिये ऋग्वेद १०. १७, २ और मैकडौनेल: वेदिक माइथोलोजी पृ० ३६।

[११] ऋग्वेद ६. २८, ३; मैत्रायणी संहिता ४. २, ९ और तु० की० **अष्टकर्णी** तथा **स्वधिति**।

के उदारता सम्बन्धी अतिरंजित वर्णन को ध्यान में रखने पर भी ऋग्वेद्[12] की दान स्तुतियों से प्रकट होता है। पशु रखने का महत्त्व उन अनेक स्थलों द्वारा स्पष्ट होता है[13] जिनमें देवों से पशुओं की वृद्धि के लिये निवेदन और इनके विकास द्वारा जाति की समृद्धि के लिये वार-वार स्तुतियाँ[14] की गई हैं। अतः पशुओं के लिये उपद्रव (*गविष्टि*) होना भी सुपरिचित था। ऋग्वेद[15] में भरत दल को 'गव्यन् ग्रामः' कहा गया है; और ऋग्वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थ में ही नाम धातु 'गो-पाय' (गायों की रक्षा करना) से एक क्रियात्मक धातु 'गुप'[16] (रक्षा करना) का निर्माण हुआ है। वैदिक कविगण[17] अपने गायनों की गायों के रेभण से तुलना करने, अथवा गीत गाती हुई अप्सराओं को गायों के समान[18] बताने में संकोच नहीं करते थे।

वैदिक काल के मवेशी अनेक रंगों के : लाल (रोहित), हल्के श्वेत रंग (शुक्र), चितकबरे (पृश्नि) और काले (कृष्ण)[19] रंग तक के होते थे। त्सिमर[20], ऋग्वेद[21] के एक स्थल पर ऐसी गायों का सन्दर्भ मानते हैं जिनके मुख पर श्वेत दीप्तिमान धब्बे होते थे, किन्तु यहाँ यह अत्यन्त अनिश्चित है।

हल जोतने अथवा गाड़ी (अनड्वाह्) खींचने के लिये नियमित रूप से

[12] ऋग्वेद ८. ५, ३७ इत्यादि। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १४, २; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१. २३; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ८ और बाद।

[13] ऋग्वेद १. ४३, २; १६२, २२; ५. ४, ११; ९. ९, ९, इत्यादि; अथर्ववेद १. ३१, ४; २. २६, ४; ५. २९, २; ६. ६८, ३; ८. ७, ११; १०. १, १७. २९; ११. २, ९. २१, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ३. २, ३, १; ५. ५, ५, १; ६. ५, १०, १; वाजसनेयि संहिता ३. ५९।

[14] ऋग्वेद १. ८३, १; ४. ३२, १७; ५. ४, ११; ८. ८९, २ इत्यादि।

[15] ३. ३३, ११।

[16] ऋग्वेद ७. १०३, ९; अथर्ववेद १०. ९, ७, ८; १९, २७, ९. १०। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर, पृ० ३५८, नोट १३।

[17] ऋग्वेद ७. ३२, २२; ८. ९५, १; १०६, १; ९. १२, २, इत्यादि।

[18] ऋग्वेद १०. ९५, ६। फिर भी, इस स्थल पर अप्सराओं के ही नाम से तात्पर्य है यह सन्दिग्ध है। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, ५१७।

[19] ऋग्वेद १. ६२, ९। यजुर्वेद में अश्वमेध के समय के बलि-पशुओं की तालिका में अनेक अन्य रंगों का उल्लेख है, किन्तु प्रत्यक्षतः यह सभी अपवादात्मक हैं।

[20] आल्टिन्डिशे लेबेन २२६।

[21] १. ८७, १। इसका अनुवाद 'तारों से भरा आकाश', भी किया गया है।

बैलों का ही प्रयोग होता था, और ऐसा प्रतीत होता है कि इस कार्य के लिये बैलों को वधिया[22] कर दिया जाता था। गाड़ियाँ खींचने के लिये गायों का प्रयोग नहीं होता था, यद्यपि कभी-कभी इनसे भी यह कार्य[23] लिया गया है। गाय अथवा बैल, दोनों का ही *मांस* कभी-कभी खाया जाता था। मवेशी निश्चित रूप से व्यक्तिगत स्वामित्व की वस्तु होते थे और यह विनिमय तथा मूल्यांकन के एक प्रमुख प्रतिमान भी थे (देखिये *क्रय*)।

[22] अथर्ववेद ३. ९, २; ६. १३८, २; तैत्तिरीय संहिता १. ८. ९, १; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १५१, नोट। देखिये महानिरष्ट।

[23] शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, १३।

(ख) *गो* शब्द का प्रयोग अक्सर गाय से उत्पादित पदार्थों को व्यक्त करने के लिये भी किया गया है। बहुधा इसका अर्थ दूध[1] किन्तु कदाचित् ही कभी इस पशु का मांस[2] है। बहुत से स्थलों पर इसका आशय उस चर्म से भी है जिसका विभिन्न वस्तुओं के लिये प्रयोग होता था, जैसे धनुष की प्रत्यञ्चा[3], अथवा लटकाने का फन्दा[4], अथवा रथ के कुछ भागों को बांधने का ताँत या चमड़े की डोरी[5], अथवा लगाम[6], अथवा प्रतिष्कश (चाबुक) में लगी चमड़े की डोरी[7], आदि। *चर्मन्* भी देखिये, जिसके समानार्थी के रूप में कभी-कभी 'गो' का प्रयोग हुआ है।[8]

[1] ऋग्वेद १. ३३, १०; १५१, ८; १८१, ८; २. ३०, ७; ४. २७, ५; ९. ४६, ४; ७१, ५।

[2] ऋग्वेद १०. १६, ७ (अन्त्येष्टि संस्कार में)

[3] ऋग्वेद ६. ७५, ११; १०. २७, २२; अथर्ववेद १. २, ३।

[4] ऋग्वेद १. १२१, ९।

[5] ऋग्वेद ६. ४७, २६; ८. ५९, ५।

[6] ऋग्वेद ६. ४६, १४।

[7] ऋग्वेद ६. ५३, ९।

[8] ऋग्वेद १०. ९४, ९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २२८।

(ग) *गावः* का ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर रौथ[2] के अनुसार 'आकाश के तारे' अर्थ है।

[1] १. १५४, ६; ७. ३६, १।

[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

२. **गो आङ्गिरस** (अङ्गिरस् का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सामनों

[1] १६. ७, ७। तु० की० लाट्यायन श्रौत सूत्र ६. ११, ३।

का प्रसिद्ध प्रणेता है। इसके पौराणिक होने का कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है।[2]

[2] हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, २, १६०; हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ६८।

गो-घात (गाय-मारने वाला) का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के वलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। देखिये *मांस*।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १६, १।

गोतम का ऋग्वेद[1] में अनेक वार उल्लेख है, किन्तु किसी भी स्थल पर इस रूप में नहीं कि यह किसी सूक्त का व्यक्तिगत प्रणेता प्रतीत हो।[2] यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अङ्गिरसों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध था, क्योंकि गोतम-लोग *अङ्गिरसों* का अक्सर उल्लेख करते हैं[3]। इसने कभी 'राहूगण' पैतृक नाम भी धारण किया था ऐसा ऋग्वेद[4] के एक सूक्त द्वारा सम्भव प्रतीत होता है, और शतपथ ब्राह्मण[5] ने भी इसे माना है, जहाँ यह *माथव विदेघ* के पुरोहित और वैदिक सभ्यता के वाहक के रूप में आता है। इसी ब्राह्मण[6] में इसे *विदेह* के *जनक*, और *याज्ञावल्क्य* का समकालीन तथा एक स्तोम[7] का प्रणेता भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त यह अथर्ववेद[8] के दो स्थलों पर भी आता है।

गोतमों का ऋग्वेद[9] के अनेक स्थलों पर उल्लेख है, जहाँ *वामदेव* और

[1] ऋग्वेद १. ६२, १३; ७८, २; ८४, ५; ८५, ११; ४. ४, ११।

[2] औल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ४२, २१५।

[3] तु० की० ऋग्वेद १. ६२, १; ७१, २; ७४, ५; ७५, २; ७८, ३; ४. २, ५; १६, ८, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद १. ७८, ५। तु० की० औल्डेनबर्ग: उ० स्था० २३६, नोट १।

[5] १. ४, १, १० और वाद; ११. ४, ३, २०। ऋग्वेद १. ८१, ३ पर सायण ने उक्त प्रथम स्थल का ग़लत उदाहरण दिया है। देखिये वेबर: इन्डिशे स्टूडियन २, ९, नोट।

[6] ११. ४, ३, २०।

[7] १३. ५, १, १; आश्वलायन श्रौतसूत्र ९, ५, ६; १०, ८ इत्यादि।

[8] ४. २९, ६; १८. ३, १६। इन्डिशे स्टूडियन १, ३८ में षड्विंश ब्राह्मण; बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, ६; भी देखिये।

[9] १. ६०, ५; ६१, १६; ६३, ९; ७७, ५; ७८, १; ८८, ४; ९२, ७; ४. ३२, ९. १२; ८. ८८, ४। तु० की० आश्वलायन श्रौतसूत्र १२. १०।

तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११०, १२३; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, १७०, १८०; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन ३, १५१, १५२।

नोधस् को गोतम का पुत्र कहा गया है। *वाजश्रवस्-गण* भी गोतमों के अन्तर्गत आ जाते हैं। *गौतम* भी देखिये।

गोतमी-पुत्र का बृहदारण्यक उपनिषद् (६.५, १) के काण्व शाखा में *भारद्वाजी-पुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। *गौतमी-पुत्र* भी देखिये।

गोत्र—ऋग्वेद[1] में इन्द्र के पौराणिक अभियानों के विवरण में 'गोत्र' अनेक बार आता है। रौथ[2] इस शब्द की 'गोशाला' के रूप में व्याख्या करते हैं, जब कि गेल्डनर[3] के विचार से इसका 'यूथ' से अर्थ है। यह द्वितीय आशय ही इस शब्द के बाद के साहित्य में 'परिवार' अथवा 'गोत्र' के अर्थ में प्रयोग की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या करता है, और यही छान्दोग्य उपनिषद्[4] में भी मिलता है।

गृह्य सूत्रों[5] में एक ही गोत्र के लोगों, अथवा वधू की माता के सपिण्ड के साथ विवाह के निषेध पर बल दिया गया है। सेनार्ट[6] ने इस तथ्य को जाति का आधार मानने के लिये इस आधार पर जोर दिया है कि एक जाति (वर्ण) के भीतर विवाह-सम्बन्ध की प्रथा उसी प्रकार भा-रोपीय थी जिस प्रकार सगोत्र और सपिण्ड वर्ग के बाहर के लोगों के बीच। किन्तु इस बात को सिद्ध करने के लिये कोई भी प्रमाण[7] नहीं है कि यह प्रथा भा-रोपीय थी, जब कि भारत में शतपथ ब्राह्मण[8] दोनों पक्षों की तीसरी अथवा चौथी पीढ़ी के बीच विवाह को स्पष्टतः स्वीकार करता है। सायण के अनुसार 'काण्वों' ने तृतीय पीढ़ी में और 'सौराष्ट्रों' ने केवल चतुर्थ पीढ़ी में ही विवाह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया था, जब कि 'वज्रसूची'[9] के टीकाकार ने 'काण्वों' के साथ

[1] १. ५१, ३; २. १७, १; २३, १८; ३. ३९, ४; ४३, ७; ८. ७४, ५; १०. ४८, २; १०३, ७।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था।

[3] वेदिशे स्टूडियन २, २७५, २७६, जहाँ वास्तविक अथवा पौराणिक यूथों के अर्थ के अनुसार वह विभिन्न स्थलों को अलग करते है।

[4] ४. ४, १। शाङ्खायन श्रौत सूत्र १. ४, १६ इत्यादि; आश्वलायन गृह्य सूत्र ४. ४, इत्यादि; कौषीतकि ब्राह्मण २५. १५; आदि में भी यही है।

[5] गोभिल गृह्य सूत्र ३. ४, ४; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ३८७ में आपस्तम्ब धर्मसूत्र २. ५, ११, १५. १६। 'सपिण्ड' के लिए देखिये 'गौतम धर्म सूत्र १४. १३; वासिष्ठ धर्म सूत्र ४. १७-१९।

[6] ल० इ० २१० और बाद। तु० की० ड० वे० १५।

[7] कीथ : ज० ए० सो० १९०९, ४७१, ४७२।

[8] १. ८, ३, ६।

[9] देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ७३-७६।

'अन्ध्रों' और 'दाक्षिणात्यों' को भी सम्मिलित कर लिया है तथा यह टिप्पणी भी की है कि वाजसनेयि लोग माता के भाई (मामा) की पुत्री के साथ विवाह निषिद्ध मानते थे। प्रत्यक्षतः यह सभी पितृपक्ष में चाचा की पुत्री से विवाह की अनुमति देते थे, जिसे बाद में सर्वथा निषिद्ध कर दिया गया। गोत्र परिवर्तन सर्वथा सम्भव था, जैसा कि *शुनःशेप* और *गृत्समद* के दृष्टान्तों से विदित है, जो पहले एक 'अङ्गिरस' थे और बाद में 'भार्गव'[१०] बन गये।

[१०] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथोलोजी २, १५७; फे० रौ० १०८। तु० की० जौली : रेख्त उन्ट सिट्टे ६१ और बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३२३।

गो-दान—शतपथ ब्राह्मण[१] में यह 'मूँछों' का द्योतक प्रतीत होता है जहाँ वह व्यक्ति, जिसका प्रतिष्ठापन समारोह हो रहा है, पहिले दाहिनी ओर की 'मूँछ' मुड़वाता है और उसके बाद बायीं ओर की। बाद में गोदान-विधि अथवा सर मुड़वाने का संस्कार एक युवक के पूर्णतया प्रौढ़ मनुष्य हो जाने पर दीक्षा के समय, तथा विवाह[२] के समय का, एक नियमित समारोह है; किन्तु अथर्ववेद[३] में यद्यपि यह संस्कार स्वीकृत है तथापि इसमें यह नाम[४] नहीं आता।

[१] ३. १, २, ५. ६।

[२] आश्वलायन गृह्यसूत्र १. १९; शांखायन गृह्यसूत्र १. २८ इत्यादि।

[३] ६. ६८। देखिए कौशिक सूत्र liii. १७–२०। किन्तु अथर्ववेद २. १३ को उसी श्रेणी में नहीं रखना चाहिये जैसा कि कौशिक है; वरन् इसका सन्दर्भ एक बालक को नूतन परिधान देने तथा पहले के वस्त्रों का त्याग करने से है। देखिए ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद ५६, ५७, जहाँ यह वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १७३, और त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३२२, ३२३, को संशोधित करते हैं। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३०६, ५७४, ६६५।

[४] इसका 'मूँछ' अर्थ गौण है, जो कि निःसन्देह मूँछ अथवा केश मुड़वाने के संस्कार के समय गायें दान (गो-दान) करने के कृत्य से व्युत्पन्न होता है।

गोधा—(क) इससे 'धनुष की प्रत्यञ्चा' का आशय ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर निश्चित, तथा दूसरे स्थल[२] पर सम्भव, प्रतीत होता है। रौथ[३] भी

[१] १०. २८, १०. ११।

[२] ८. ६९, ९। देखिए हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ५३।

[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० १।

इसका अथर्ववेद[४] के एकमात्र स्थल पर जहाँ यह शब्द आता है, यही आशय ग्रहण करते हैं।

[४] ४. ३, ६।

(ख) ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर रौथ और हिलेब्रान्ट[२] द्वारा इस शब्द का आशय 'वाद्य-यन्त्र' स्वीकार किया गया है।

[१] ८. ६९. ९।

[२] वेदिशे माइथौलोजी, १, १४४, नोट १।

(ग) अन्यत्र[१] इससे एक पशु, सम्भवतः 'मगर' का अर्थ प्रतीत होता है; जैसा कि लुडविग[२] और वेबर[३] का विचार है, अथवा सम्भवतः एक बड़ी 'छिपकिली' है जैसा रौथ और त्सिमर[४] मानते हैं। अथर्ववेद[५] में भी कदाचित एक पशु का ही आशय है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १; वाजसनेयि संहिता २४. ३५; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. २, १४; बौधायन श्रौत सूत्र २. ५; जैमिनीय ब्राह्मण १. २२१; ऋग्वेद ८. ९१ पर सायण में शाट्यायनक; ज० अ० ओ० सो० १८, २९।

[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ४९९।

[३] इन्डिशे स्टूडियन १८, १५, १६। ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३६८, में इस शब्द का अस्पष्ट रूप से एक 'व्याल' के अर्थ में अनुवाद करते हैं।

[४] आल्टिन्डिशे लेबेन ९५।

[५] ४. ३, ६, जहाँ ह्विटने इसका कोई अनुवाद प्रस्तुत ही नहीं करते।

गो-धूम, 'गेहूँ' का बहुवचन रूप में यजुर्वेद संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में अक्सर उल्लेख है, तथा चावल (*व्रीहि*) अथवा जौ (*यव*)[३] से इसकी स्पष्ट रूप से भिन्नता बताई गई है। इस अन्न से बने सत्तू (सक्तवः) का भी उल्लेख है[४]। शतपथ ब्राह्मण[५] में यह शब्द एकवचन रूप में आता है।

[१] मैत्रायणी संहिता १. २, ८; वाजसनेयि संहिता १८. १२; १९. २२. ८९; २१. २९, इत्यादि।

[२] शतपथ ब्राह्मण १२. ७, १, २; २, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, २२ (माध्यन्दिन = ६. ३, १३ काण्व), इत्यादि।

[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ७, २।

[४] शतपथ ब्राह्मण १२. ९, १, ५।

[५] ५. २, १, ६।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४१।

गो-पति—(गायों का स्वामी) का किसी भी स्वामी अथवा अधिपति के द्योतक के रूप में ऋग्वेद[१] में मुक्त रूप से प्रयोग हुआ है, जो इस बात

[१] १. १०१. ४; ४. २४, १; ६. ४५, २१; ७. १८, ४, इत्यादि। ~~अथर्ववेद ३. १४.~~ ६ इत्यादि।

को ध्यान में रखते हुए कि पशु ही सम्पत्ति के प्रमुख अंग होते थे, एक स्वाभाविक प्रयोग है।

गोप-वन ऋग्वेद[1] में 'अत्रि' वंश के एक कवि का नाम है। देखिये *गौपवन*।

[1] ८. ७४, ११। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २१५; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०७।

गो-पा और गो-पाल—(गायों का रक्षक), ऋग्वेद[1] तथा बाद में आता है। किन्तु प्रथम शब्द बहुधा लाक्षणिक आशय में किसी भी प्रकार के रक्षक के लिये प्रयुक्त हुआ है, जब कि द्वितीय का वास्तविक आशय गायों के यूथ के रक्षक से है।

[1] 'गोपा' : ऋग्वेद १. १६४, २१; २. २३, ६; ३. १०, २; ५. १२, ४, इत्यादि; 'गोपाल' : वाजसनेयि संहिता ३०. ११; शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, ४। एक रक्षक के अर्थ में 'गोपा' पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १८ में एक यौगिक शब्द के रूप में आता है। 'संरक्षण' के आशय में 'गोपीठ' : ऋग्वेद ५. ६५, ६; १०. ३५, १४, इत्यादि में आता है। 'गोप्तृ' (रक्षक) सबसे पहले अथर्ववेद १०. १०, ५ में आता है और उसके बाद से सामान्य हो गया है।

गो-बल (बैल की शक्ति) *वार्ष्ण* ('वृष्णि' का वंशज) का तैत्तिरीय संहिता (३.११, ९, ३) और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१.६, १·) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

गो-मती—(गायों से युक्त) का ऋग्वेद[1] के दसवें मण्डल के नदी-स्तुति में एक नदी के रूप में उल्लेख है। इस सूक्त में सिन्धु नदी में मिलनेवाली किसी नदी का अर्थ हो सकता है, और सिन्धु की एक पश्चिमी सहायक नदी 'गोमल' के साथ इसके समीकरण[2] पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। ऋग्वेद[3] के एक अन्य स्थल पर भी 'गोमती' पर लगा स्वर यह व्यक्त करता है कि इससे एक नदी का ही अर्थ है। यह सम्भव है कि एक तीसरे स्थल[4] पर 'गोमतीर' पाठ को 'गोमतिर' कर दिया जाना चाहिये। गेल्डनर[5] का विचार है कि इन दो अन्तिम स्थलों पर 'गुम्ति' अथवा इसकी चार ऊपरी भुजाओं (इसीलिये

[1] १०. ७५, ६।
[2] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २००।
[3] ८. २४, ३०।
[4] ५. ६१, १९। देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ३५५, ३५६।
[5] वेदिशे स्टूडियन ३, १५२, नोट २।

बहुवचन का प्रयोग है) का अर्थ है। यह मत इस नाम के बाद के प्रयोग, तथा इसके द्वारा उद्दिष्ट नदी, जो कि सम्भवतः कुरुक्षेत्र में स्थित थी, के वैदिक सभ्यता के केन्द्र होने के विचार[६] के बहुत कुछ अनुकूल है।

[६] पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २१८; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १९, १९ और बाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १७४; कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ११४१।

गो-मायु (गाय की भाँति रेभना)—यह 'शृगाल' के नाम के रूप में अद्भुत ब्राह्मण[१] के बाद के अंशों के पूर्व कभी नहीं आता।

[१] इन्डिशे स्टूडियन १, ४०।

गो-मृग, बैल की एक जाति का, जिसे अब 'गयल्' (Bos gavaeus) कहते हैं, यजुर्वेद संहिताओं[१] और ब्राह्मणों[२] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[३] में इसे न तो पालतू और न जंगली पशु ही कहा गया है। इसका सम्भवतः ऐसा अर्थ हुआ कि यह अर्ध-पालतू था, अर्थात् इसे पाला भी जाता था और जंगलों में भी मिलता था। इस पशु के नाम के साथ 'मृग महिष' की भी तुलना की जा सकती है जिसे ऋग्वेद[४] में स्पष्ट रूप से जंगली कहा गया है। *गयव* भी देखिये।

[१] मैत्रायणी संहिता ३.१४, ११; वाजसनेयि संहिता २४. १, ३०।
[२] शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ४, ३; ५, २, १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ८, २०, ५।
[३] २. १, १०, २।
[४] ९. ९२, ६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८३, ८४; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ३३८, नोट १।

गोलत्तिका—यह यजुर्वेद[१] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में किसी अज्ञात पशु का नाम है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १६, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १८; वाजसनेयि संहिता २४. ३७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।

गो-विकर्तन (गाय-मारने वाला)—यह शतपथ ब्राह्मण (५.३, १, १०)[१] में एक 'आखेटक' का द्योतक है। देखिये *गोघात*।

[१] तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १६, १; वाजसनेयि संहिता ३०. १८; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ८२।

गो-व्यच—देखिये *व्यच*।

गोशर्य—यह ऋग्वेद (८.८, २०; ४९, १; ५०, १०) में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है।

गो-श्रु जाबाल का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.७, ७) में एक ऋषि के रूप में उल्लेख है।

गो-श्रुति वैयाघ्र-पद्य ('व्याघ्रपद्' का वंशज) का छान्दोग्य उपनिषद् (५.२, ३) में *सत्यकाम* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है। शाङ्खायन आरण्यक (९.७) में यह नाम 'गोश्रुत' के रूप में आता है।

गो-षादी (गाय पर बैठा हुआ)—यह यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में एक पक्षी का नाम है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ५; वाजसनेयि संहिता २४. २४। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ९४।

गो-षूक्तिन् का सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद ८.१४ और १५ के प्रणेता के रूप में उल्लेख है। पञ्चविंश ब्राह्मण (१९.४, ९) में 'गौषूक्त' शीर्षक के अन्तर्गत इसके एक सामन् का भी उल्लेख प्रतीत होता है। किन्तु देखिये *गौषूक्ति।*

गोष्ठ (गायों के खड़ा होने का स्थान)—जैसा कि गेल्डनर[1] ऐतरेय ब्राह्मण[2] के एक स्थल, तथा वाजसनेयि संहिता[3] पर महीधर की टिप्पणी के आधार पर व्यक्त करते हैं, इससे 'गायों के खड़ा होने के स्थान' का उतना अर्थ नहीं जितना कि 'गायों के चरने के स्थान' का। यही आशय ऋग्वेद[4] के उन सभी स्थलों के भी अनुकूल है जहाँ यह शब्द आता है, और यही अथर्ववेद[5] के एक सूक्त की व्याख्या बहुत कुछ परिमार्जित कर देता है, साथ ही अन्यत्र[6] भी ग्राह्य है। *गो* भी देखिये।

[1] वेदिशे स्टूडियन ३, ११२, ११३।
[2] ३. १८, १४।
[3] ३. २१।
[4] १. १९१, ४; ६. २८, १; ८. ४३, १७।
[5] ३. १४, १. ५. ६, जहाँ ह्विट्ने द्वारा 'गोशाला' अनुवाद अत्यन्त असंतोषजनक है, और ब्लूमफील्ड का 'गो-गृह' भी बहुत अच्छा नहीं है।
[6] अथर्ववेद २. २६, २; वाजसनेयि संहिता ३. २१; ५. १७; शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, २ इत्यादि; काठक संहिता ७. ७; मैत्रायणी संहिता ४. २, ११।

गौतम ('गोतम' का वंशज) एक साधारण पैतृक नाम है जो *अरुण*[1],

[1] शतपथ ब्राह्मण १०. ६, १, ४।

उद्दालक आरुणि[2], कुश्रि[3], साति[4], हारिद्रुमत[5] के लिये प्रयुक्त हुआ है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के वंशों (गुरुओं की तालिका) में आग्निवेश्य[6] के, सैतव और प्राचीनयोग्य[7] के, सैतव[8] के, भारद्वाज[9] के, गौतम[10] के और वात्स्य[11] के शिष्यों के रूप में अनेक 'गौतमो' का उल्लेख है। अन्यत्र भी एक गौतम का उल्लेख मिलता है।

[2] वही, ११. ४, १, ३; ५, १, २; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, ७; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, ६ और बाद; कौषीतकि उपनिषद् १. १; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ४२, १।

[3] शतपथ ब्राह्मण १०. ५, ५, १।

[4] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३ में वंश ब्राह्मण।

[5] छान्दोग्य उपनिषद् ४. ४, ३।

[6] बृहदारण्यक उपनिषद् २. ६, १ (काण्व)।

[7] वही, २. ६, २।

[8] वही, ४. ६, २।

[9] वही, २. ६, २ (काण्व = २. ५, २२; ४. ५, २७ माध्यन्दिन)।

[10] वही, २. ६, ३; ४. ६, ३ (काण्व = २. ५, २२; ४. ५, २८ माध्यन्दिन)।

[11] वही, २. ६, ३; ४. ६, ३ (काण्व = २. ५, २०. २२; ४. ५, २६ माध्यन्दिन)। माध्यन्दिन २. ५, २०; ४. ५, २६, बैजवापायन और वैष्टपुरेय के शिष्य एक गौतम से परिचित हैं।

गौतमी-पुत्र ('गोतम' के एक स्त्री वंशज का पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद् की काण्व शाखा (६.५, २) में *भारद्वाजीपुत्र* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है। माध्यन्दिन शाखा (६.४, ३१) में एक 'गौतमी पुत्र' का, *वात्सीपुत्र* के शिष्य गौतमी पुत्र के एक शिष्य *आत्रेयीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। *गोतमीपुत्र* भी देखिये।

गौपवन (गोपवन का वंशज) का बृहदारण्यक उपनिषद् (२.६, १; ४.६, १) की काण्व शाखा के वंशों (गुरुओं की तालिका) में *पौतिमाष्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

गौपायन ('गोप' का वंशज)—गौपायन लोग, *असमाति*, *किरात* और *आकुलि* की कथा में आते हैं जो (कथा) सर्वप्रथम ब्राह्मणों[1] में मिलती है।

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण १३. १२, ५; जैमिनीय ब्राह्मण ३. १६७ (ज० अ० ओ० सो० १८, ४१); ऋग्वेद १०. ५७ (मैक्स मूलर का संस्करण, ४², ० और बाद) पर सायण में शाट्यायनक; बृहद्देवता ७. ८३ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।

गौपालायन ('गोपाल' का वंशज)—यह मैत्रायणी संहिता[1] में *शुचिवृक्ष* का पैतृक नाम है। यह बौधायन श्रौत सूत्र[2] में *कुरुओं* के स्थपति *औपोदिति*

[1] ३. १०, ४ (पृ० १३५, पंक्ति ९)। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४८, ९, जहाँ ऑफरेख्त 'गौपलायन' पढ़ते हैं।

[2] २०. २५।

का, तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में 'गौपालेय' के रूप में 'उपोदिति' अथवा 'औपोदिति' का भी पैतृक नाम है।

[3] १२. १३, ११, जहाँ इनके संस्करण में 'उपोदिति' है।

गौर का, जो कि बैल की एक जाति (Bos gaurus) है, ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] से *गवय* के साथ बहुधा उल्लेख है। वाजसनेयि संहिता[3] स्पष्ट रूप से जंगली (आरण्य) गौरों का उल्लेख करती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह पालतू रहे होंगे। माँदा 'गौरी' का भी अक्सर उल्लेख है[4]। यौगिक शब्द 'गौर-मृग' (जंगली पशु 'गौर') भी कभी-कभी मिलता है[5]।

[1] १. १६, ५; ४. २१, ८; ५८, २; ५.७८, २; ७. ६९, ६; ९८, १, इत्यादि।

[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १०; वाजसनेयि संहिता २४. २८; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४, इत्यादि।

[3] १३. ४८।

[4] ऋग्वेद १. ८४, १०; ४. १२, ६; ९. १२, ३; और अस्पष्ट से मंत्र १. १६४, ४१ में।

[5] वाजसनेयि संहिता २४. ३२; ऐतरेय ब्राह्मण २. ८।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८३, २२४।

गौरि-वीति शाक्त्य (शक्ति का वंशज) अथवा जैसा कि *गौरीविति* भी इस नाम का अक्षर-विन्यास[1] है, ऋग्वेद[2] के एक सूक्त का ऋषि अथवा द्रष्टा है, और इसका ब्राह्मणों[3] में बहुधा उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण[4] के अनुसार यह उस यज्ञ-सत्र के समय 'प्रस्तोतृ' था जिसे *विभिन्दुकीयों* ने आयोजित किया था और जिसका इसी ब्राह्मण में उल्लेख है।

[1] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ७; पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ५; १२. १३; २५. ७।

[2] ५. २९, ११।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण ३. १९; ८. २; और देखिये नोट १।

[4] २. २३३ (ज०अ०ओ० सो० १८, ३८)

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १२६; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१५।

गौश्र ('गुश्रि' का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका कौषीतकि ब्राह्मण (१६.९; २३.५) में उल्लेख है। देखिये *गौश्ल*।

गौश्रायणि ('गौश्र' का वंशज), कौषीतकि ब्राह्मण (२३.५) में एक गुरु, *चित्र*, का पैतृक नाम है।

गौश्ल—यह *गौश्र* का एक विभेदात्मक रूप है और एक ऐसे गुरु का नाम है जिसे ऐतरेय ब्राह्मण[1] में बुडिल *आश्वतर आश्वि* से असहमत बताया गया है।

[1] ६. ३०। तु० की० गोपथ ब्राह्मण २. ६, ९ (गोश्ल)।

गो-पूक्ति—यह जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में एक वंश (गुरुओं की तालिका) के अनुसार इष *श्यावाश्वि* के एक शिष्य का नाम है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में भी यह एक ऐसे गुरु का नाम है जिसका 'गौपूक्त सामन्' की व्याख्या करने के लिये व्यर्थ में ही आविष्कार किया गया है, क्योंकि यह सामन् वास्तव में *गोपूक्तिन्* का है।

[1] ४. १६, १।

[2] १९. ४, ९। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३०।

ग्रह (पकड़ना)—शतपथ ब्राह्मण[1] में सूर्य के लिये प्रयुक्त यह शब्द बहुत सम्भवतः अपने बाद के 'ग्रह' (सौरमण्डल का तारा) के आशय में नहीं वरन् अभिचारीय प्रभाव रखनेवाली एक शक्ति[2] के आशय में ही प्रयुक्त हुआ है। ग्रह (तारा) सर्वप्रथम बाद के साहित्य, जैसे कि मैत्रायणी उपनिषद्[3], में आता है। वैदिक भारतीय 'ग्रहों' (सौरमण्डल के तारों) से परिचित थे अथवा नहीं यह प्रश्न आज भी सन्दिग्ध है। औल्डेनबर्ग[4] 'आदित्यों' में इनका आभास देखते हैं जिनकी (आदित्यों की) संख्या आपके अनुसार सात थी, यथा : सूर्य, चन्द्रमा, और पाँच अन्य सौर-ग्रह। किन्तु यह विचार जिसे यद्यपि असम्भव अथवा अनुचित नहीं कहा जा सकता, प्रमाण द्वारा पुष्ट नहीं होता, और हिलेब्रान्ट[5], पिशल[6], फॉन श्रोडर[7], मैकडौनेल[8] तथा ब्लूमफील्ड[9] प्रभृत विद्वानों द्वारा यह अस्वीकृत कर दिया गया है। हिलेब्रान्ट[10] ऋग्वेद[11] में उल्लिखित पाँच 'अध्वर्युओं' में ग्रहों का आभास देखते हैं, किन्तु यह केवल अनुमान मात्र है। ऋग्वेद[12] के एक अन्य स्थल पर पाँच बैलों

[1] ४. ६, ५, १।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व०स्था०; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ४३२, नोट २।

[3] ६. १६। देखिये वेबर : इन्डियन लिट-रेचर ९८, नोट।

[4] रिलीजन देस वेद १८५ और बाद; त्सी० गे० ५०, ५६ और बाद।

[5] वेदिशे माइथौलोजी ३, १०२ और बाद।

[6] गो० १८९५, ४४७।

[7] वि० ज० ९, १०९।

[8] वेदिक माइथौलोजी, पृ० ४४।

[9] रिलीजन ऑफ दि वेद, १३३ और बाद।

[10] वेदिशे माइथौलोजी ३, ४२३।

[11] ३. ७, ७।

[12] १. १०५, १०। तु० की० औल्डेनबर्ग की टिप्पणी सहित। तु० की० १. १०५, १६ भी।

(उत्ताणः) की भी ऐसी ही व्याख्या की गई है, जो उसी प्रकार अनिश्चित[13] है; और दुर्गा भी अपने निरुक्त[14] के भाष्य में 'भूमिज' (भूमि से उत्पन्न) शब्द तक की व्याख्या करते हैं जिसका केवल मंगल ग्रह[15] के अर्थ में ही यास्क ने उल्लेख किया है। थिवो[16] का, जो कि वेदों में ग्रहों (सौरमण्डल के तारों) के उल्लेख को सामान्यतया सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, विचार है कि इनमें उल्लिखित बृहस्पति से 'जुपीटर' का आशय है; 'किन्तु यह अत्यन्त सन्दिग्ध है, यद्यपि तैत्तिरीय संहिता[17] में बृहस्पति को 'तिष्य' का राज-प्रतिनिधि बनाया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक[18] के बाद के स्थलों पर 'सप्त सूर्याः' में ग्रहों का सन्दर्भ बहुत कुछ सम्भव है। इसके विपरीत, ऋग्वेद में पाँच ग्रहों सहित सूर्य, चन्द्रमा और सत्ताइस नक्षत्रों को लुडविग द्वारा ज्योति[19] (ज्योतिस्), तथा बलि के घोड़े की पसलियों[20] के सम्बन्ध में प्रयुक्त चौंतीस की संख्या को समान मानना बहुत दूर का निष्कर्ष है। *शुक्र*, *मन्थिन्*, *वेन* भी देखिये।

[13] हॉपकिन्स : ज०अ०ओ०सो० २४, ३६।
[14] १. १४।
[15] देखिये वेबर : ज्योतिष, १०, नोट २।
[16] ऐस्ट्रोनौमी, ऐस्ट्रोलौजी, उन्ट मैथमेटिक, ६।
[17] ४. ४, १०, १। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १०२–१०४।
[18] १. ७। इन पर देखिये वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३३९; इन्डिशे स्टूडियन २, २३८; ९, ३६३; १०, २४०, २७१; ज्योतिष, १०; रामायण २८, नोट २।
[19] १०. ५५, ३।
[20] १. १६२, १८।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १८३ और बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३५४ और बाद; मैक्स मूलर : ऋग्वेद ४[2]., ३०. और बाद; ह्विटने : ओरियण्टल ऐण्ड लिन्गुइस्टिक एसेज़, २, ४१२, नोट। ज० अ० ओ० सो० १६, lxxxviii।

ग्राभ (शब्दार्थ पकड़ना)—ऋग्वेद[1] में यह पासे के 'फेंक' का द्योतक है। *ग्लह* भी देखिये।

[1] ८. ८१, १; ९. १०६, ३। तु० की० ल्यूडर्स : डा० ३०, ४९, ५०।

ग्राम—इस शब्द का, जो ऋग्वेद[1] और उसके बाद से बहुधा मिलता है, प्राचीन आशय एक 'गाँव' प्रतीत होता है। वैदिक भारतीय गाँवों में ही

[1] १. ४४, १०; ११४, १; २. १२, ७ (कदाचित उसी अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिये जैसा नोट १० में है); १०. १४६, १; १४९, ४, इत्यादि; अथर्ववेद ४. ३६, ७. ८; ५. १७, ४; ६. ४०, २, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ३. ४५; २०. १७ इत्यादि।

रहते रहे होंगे जो देश भर में यत्र-तत्र स्थित थे। कुछ गाँव एक दूसरे के निकट[2] थे, कुछ काफी दूर-दूर, और वह सड़कों द्वारा सम्बद्ध थे[3]। गाँव का वन (अरण्य) से सदैव विभेद स्पष्ट किया गया है तथा इसके पशुओं और पौधों को वन में रहने या उगने वाले पशु-पौधों से सदैव भिन्न कहा गया है[4]। गाँवों में मवेशी, घोड़े, और अन्य पालतू पशु, तथा मनुष्य[5] रहते थे। इनमें ही अनाज भी संग्रहीत रक्खा जाता था[6]। सन्ध्या समय मवेशी जंगलों से गाँव में लौट आते थे[7]। गाँव कदाचित् खुले होते थे, यद्यपि इनके भीतर कभी-कभी गढ़ (पुर्) भी बना लिया जा सकता था।[8] सम्भवतः गाँवों में सभी घर अलग-अलग बने, तथा उनमें अपने अहाते होते थे; किन्तु वैदिक साहित्य में घरों के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं हैं। बड़े गाँव (महाग्रामाः) भी परिचित थे[9]।

ग्रामवासियों का ठीक-ठीक सम्बन्ध जान सकना कठिन है। अनेक स्थलों[10] पर यह शब्द इस रूप में आता है कि इससे 'मनुष्यों के समूह' का आशय व्यक्त होता है। यह आशय सम्भवतः '*ग्रामीण लोगों*' के द्योतक स्वरूप इस शब्द के प्रयोग द्वारा आरम्भ हुआ है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण[11] के उस स्थान द्वारा व्यक्त होता है जहाँ शर्यात मानव को अपने गाँव (ग्रामेण) के साथ इधर-उधर भ्रमण करते हुये बताया गया है। किन्तु, जैसा कि त्सिमर[12] व्यक्त करते हैं, यह सीमित आशय ऋग्वेद[13] में कहीं भी स्पष्ट रूप

[2] शतपथ ब्राह्मण १३. २, ४, २; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४४।

[3] छान्दोग्य उपनिषद् ८. ६, २।

[4] पशु : ऋग्वेद १०. ९०, ८; अथर्ववेद २. ३४, ४; ३. १०, ६; ३१, ३; तैत्तिरीय संहिता ७. २, २, १; काठक संहिता ७. ७; १३. १; वाजसनेयि संहिता ९. ३२; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. १, ९; शतपथ ब्राह्मण ३. ८, ४, १६ इत्यादि। पौधे : तैत्तिरीय संहिता ५. २, ५, ५; ७. ३, ४, १ इत्यादि।

[5] अथर्ववेद ४. २२, २; ८. ७, ११ इत्यादि।

[6] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १३ (काण्व = २२, माध्यन्दिन)।

[7] ऋग्वेद १०. १४९, ४; मैत्रायणी संहिता ४. १, १।

[8] जैसा कि आजकल है। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १४४, ड्रुगेल के कश्मीर, २, ४५ को उद्धृत करते हुये।

[9] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १३, ४।

[10] ऋग्वेद १. १००, १०; ३. ३३, ११; १०. २७, १; १२७, ५; अथर्ववेद ४. ७, ५; ५. २०, ३ (जहाँ, फिर भी, 'गाँव' बहुत सम्भव है); शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, २; ६. ७, ४, ९; १२. ४, १, ३। तु० की० नोट १।

[11] ४. १, ५, २. ७।

[12] आल्टिन्डिशे लेबेन १६१।

[13] नोट १०, में उद्धृत स्थलों को देखिये।

से नहीं प्रकट होता, जिसमें वास्तव में भरतों के 'जनों'[14] (लोगों) को एक स्थल[15] पर 'गाय ढूंढ़ने वाला दल' (गव्यन् ग्रामः) कहा गया है। परिवार और जाति (*विश्*) के बीच की एक श्रृंखला के रूप में ग्राम को त्सिमर[16] एक वंश का द्योतक मानते हुये प्रतीत होते हैं। फिर भी ग्राम को कदाचित् अधिक उपयुक्त रूप से[17] अनेक ऐसे परिवारों का समूह मानना चाहिये, जो अनिवार्यतः एक ही वंश के नहीं वरन् एक जाति (*विश्*) के अंग होते थे, जैसा कि आधुनिक काल में भी अक्सर मिलता है।[18]

गाँव की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में वैदिक-साहित्य बहुत कम विवरण प्रस्तुत करता है। इस बात को सिद्ध करने के लिये कोई भी सामग्री नहीं है कि लोग भूमि पर सामुदायिक अधिकार रखते थे। जो कुछ भी थोड़ा प्रमाण उपलब्ध है उससे यही व्यक्त होता है कि भूमि पर वैयक्तिक अधिकार ही परिचित था (देखिये *उर्वरा, क्षेत्र*); किन्तु विधानतः तो नहीं, फिर भी व्यवहारतः इसका आशय भूमि पर एक व्यक्ति की अपेक्षा एक परिवार के अधिकार से है। फिर भी 'गाँव की इच्छा रखने वाला' (ग्राम-काम) व्याहृति, जो बाद की संहिताओं[19] में अक्सर मिलती है, इस प्रचलन का संकेत करती है कि जहाँ तक फसली विषयों का सम्बन्ध था राजा गाँवों पर के अपने राजकीय विशेषाधिकार अपने प्रिय पात्रों को प्रदान कर देता था।

[14] ऋग्वेद ३. ५३, १२।

[15] ऋग्वेद ३. ३३, ११।

[16] उ० पु०, १५९, १६०, जहाँ, भाषा बहुत स्पष्ट नहीं है। तु० की० हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इंडिया, २७, जो इस बात का उल्लेख करते हैं कि 'जाति' को 'विश' के समान मानने का त्सिमर का विचार त्रुटिपूर्ण है। यह एक 'कुल' या 'गोत्र' है जो कि जाति (जन) के अन्तर्गत एक भाग मात्र है।

[17] एक गाँव में एक सम्पूर्ण गोत्र या कुल के ही लोग हो सकते हैं, किन्तु सम्भवतः इसमें एक कुल या गोत्र का एक भाग ही रहता था। परिवार द्वारा एक सम्मिलित हिन्दू-कुटुम्ब का अर्थ है। किन्तु किस सीमा तक ऐसे परिवार थे; और इनके अन्तर्गत कितने व्यक्ति होते थे इसका उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अनुमान मात्र तक नहीं किया जा सकता। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक एन्टिक्विटीज़, ३९३; लीस्ट : अल्टारिशे जुस जेन्टियम, ३४।

[18] तु० की० बैडेन पावेल : विलेज कम्यूनिटीज़ इन इन्डिया, ८५ और बाद।

[19] तैत्तिरीय संहिता २. १, १, २; ३, २; ३, ९, २; मैत्रायणी संहिता २, १, ९; २, ३; ४. २, ७ इत्यादि; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३२, का विचार है कि यहाँ 'ग्राम' का अर्थ (मवेशियों का) 'यूथ' है।

वाद[२०] में यह विचार विकसित हो गया कि राजा सभी भूमि का स्वामी है और इसी विचार के समानान्तर यह दृष्टिकोण भी विकसित हुआ कि उक्त प्रकार से भूमि प्राप्त करने वाले लोग जमींदार होते हैं। किन्तु इन दोनों में से किसी भी विचार को पुष्ट करने के लिये वैदिक-साहित्य में 'ग्राम-काम' शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई संकेत नहीं है। और अधिक सम्भव यह है कि 'ग्राम-काम' वस्तुतः भूमि प्रदान करने की अपेक्षा राज-चिह्न प्रदान करने का द्योतक है, जैसा कि समानान्तर ट्यूटनिक प्रचलनों द्वारा भी प्रकट होता है।[२१] ऐसे अनुदान सम्भवतः वास्तविक कृषकों की स्थिति को निम्न तथा उन्हें केवल काश्तकार मात्र बना देते थे; किन्तु उस आरम्भिक काल में उन पर ऐसा प्रभाव कदाचित् ही उत्पन्न हुआ होगा।

आरम्भिक काल में वैधानिक कार्यों के लिये गाँव का एक इकाई होना नहीं प्रतीत होता[२२], और इसे एक राजनैतिक इकाई भी कदाचित् ही कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि, जैसा कि वाद में था, गाँव के सदस्यों के अन्तर्गत अनेक प्रकार के निम्न कार्य करने वालों के अतिरिक्त कृषक लोग और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी आ जाते हैं, जो राजकीय अनुदान अथवा प्रचलन के आधार पर विना भूमि की कृषि किये ही, गाँव पर अपना स्वार्थाधिकार रखते थे। इनके अतिरिक्त रथ बनाने वाले (*रथ-कार*), बढ़ई (*तक्षन्*), और धातु का कार्य करने वाले (*कर्मार*), तथा अन्य लोग भी होते थे; किन्तु यह

[२०] तु० की० वैडेन पावेल : इन्डियन विलेज कम्युनिटी २०७ और वाद। यही विचार मनु ९. ३४ में पहले से ही निहित है अथवा नहीं यह अनिश्चित तथा विवादग्रस्त है। देखिये **राजन्।** इसका स्रोत दूसरे—कुल का गोत्र की स्वीकृति से भूमि प्रदान करने के **क्षत्रिय** के अधिकार (शतपथ ब्राह्मण ७. १, १, ८) के क्षेत्र में निहित है।

[२१] तु० की०, पोलक और मेटलैण्ड : हिस्ट्री ऑफ इङ्गलिश लॉ, २, २३७ और वाद; वैडेन पावेल : विलेज कम्युनिटीज ऑफ इन्डिया ८३; रिज डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया ४८। यह उल्लेखनीय है कि हम लोगों के पास परिवार के सदस्यों द्वारा भूमि विक्रय न करने के सम्बन्ध में **उर्वरा** के अन्तर्गत कुछ संकेत के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वाद में गाँव के अर्थ में 'ग्राम' के लिये प्रचुर प्रमाण हैं। तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ४. २, ४; शाङ्खायन गृह्य सूत्र १. १४; कौशिक सूत्र ९४।

[२२] तु० की० फॉय : डी० गे०, २०, नोट; जौली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ९३; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ७८ १२८।

सभी सम्भवतः किसी भी दशा में बिरादरी के अंग नहीं माने गये हैं।[२३] राजनैतिक दृष्टि से सभी लोग समान रूप से राजा के आधीन होते थे; और जब तक कि राजा आंशिक अथवा सम्पूर्ण रूप से अपने अधिकार राजकीय परिवार या राजगृह के किसी अन्य व्यक्ति को स्थानान्तरित नहीं कर देता था, जैसा कि निश्चित रूप से अक्सर होता था, यह सभी लोग उसकी सेवा करने अथवा अन्य प्रकार का कर देने के लिये बाध्य होते थे। गाँव में राजा के अंश का इतना पहले तक उल्लेख है जितना अथर्ववेद।[२४]

गाँव के प्रधान के रूप में एक 'ग्राम-णी' अथवा गाँव का नायक भी होता था जिसका ऋग्वेद[२५] में, और अक्सर बाद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों[२६] में उल्लेख है। इस पद का ठीक-ठीक अर्थ निश्चित नहीं। त्सिमर[२७] 'ग्रामणी' को एक सैनिक कर्तव्यवहन करने वाला व्यक्तिमात्र मानते हैं और यह अक्सर ही *सेनानी* अथवा 'सेना के नायक' से निश्चित रूप से सम्बद्ध है। किन्तु इसके आशय को इस प्रकार सीमित कर देने का कोई कारण नहीं। सम्भवतः नागरिक और सैनिक दोनों ही प्रकार के कार्यों की दृष्टि से 'ग्रामणी' एक गाँव का प्रधान होता था। शतपथ ब्राह्मण[२८] में इसे *सूत* अथवा 'सारथी' से नीचा बताया गया है। फिर भी, 'सूत' के साथ इसको राजकीय वैभव के एक *रत्निन्* के रूप में सम्बद्ध[२९] किया गया है। यह पद एक वैश्य के लिए विशेष महत्व रखता था, क्योंकि इसे प्राप्त कर लेने पर वह समृद्धि के शिखर पर (गतश्री)[३०] पहुँच जाता था। राजकीय व्यक्तित्व से ग्रामणी का सम्बन्ध इस बात का संकेत करता प्रतीत होता है कि यह लोकमत के आधार पर चुने गये अधिकारी की अपेक्षा

२३ तु० की० बैडेन पावेल : इन्डियन विलेज कम्युनिटी १७, १८।

२४ ४. २२, २। तु० की० नोट २०।

२५ १०. ६२, ११; १०७, ५।

२६ अथर्ववेद ३. ५, ७; १९. ३१, १२; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ४, ४; मैत्रायणी संहिता १. ६, ५ (ग्राम-णीथ्य, 'ग्रामणी का पद' : तु० की० तैत्तिरीय संहिता ७, ४, ५, २); काठक संहिता ८. ४; १०. ३; वाजसनेयि संहिता १५. १५; ३०. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ४, ८; ७, ३, ४; २. ७, १८, ४; शतपथ ब्राह्मण ३. ४, १, ७; ५. ४, ४, ८; ८. ६, २, १ (ग्राम-णीथ्य); बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, ३७. ३८, इत्यादि।

२७ आल्टिन्डिशे लेबेन, १७१।

२८ ५. ४, ४, १८।

२९ शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ५।

३० तैत्तिरीय संहिता २. ५, ४, ४; मैत्रायणी संहिता १. ६, ५। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, २०, नोट २।

राजा द्वारा ही नियुक्त व्यक्ति होता था। किन्तु यह पद कभी वंशानुगत और कभी नियुक्त अथवा निर्वाचित दोनों ही रहा हो सकता है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस शब्द का एक वचन प्रयोग कठिनाई प्रस्तुत करता है। सम्भवतः उस गाँव अथवा नगर का ग्रामणी विशेष रूप से सम्मानित और प्रभावशाली होता था, जहाँ राजकीय-आवास स्थित होता था।[३१]

[३१] सम्भवतः एक राज्य में अनेक 'ग्रामणी' रहे होंगे, किन्तु मूल ग्रन्थ राजकीय परिचारकगणों में केवल एक ही ग्रामणी की कल्पना करता है। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ६०, नोट; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ९६; रिज डेविड्स : उ० पु० ४८, का विचार है कि ग्रामणी, गाँव-सभा अथवा एक वंशानुगत अधिकारी द्वारा निर्वाचित किया जाता था, क्यों कि मनु ७. ११५, आदि जैसे बाद के प्रमाणों में नियुक्ति को केवल राजा के लिये ही स्वीकृत किया गया है। किन्तु निर्वाचन अथवा वंशानुक्रम के लिए इतना भी प्रमाण नहीं है, और वास्तव में हम यह नहीं कह सकते कि आरम्भिक राजाओं के अधिकारों को किस सीमा तक विस्तृत किया जाय। सम्भवतः इन अधिकारों में बहुत भिन्नता थी। तु० की० **राजन्** और **चित्ररथ**।

ग्राम्य-वादिन् का यजुर्वेद[१] में प्रत्यक्षतः 'गाव का न्यायाधीश' अर्थ प्रतीत होता है। इसकी *सभा* (कचहरी) का मैत्रायणी संहिता में उल्लेख है।

[१] तैत्तिरीय संहिता २. ३, १, ३; काठक संहिता ११. ४; मैत्रायणी संहिता २. २, १।

ग्राह (पकड़नेवाला)—यह शतपथ ब्राह्मण[१] में एक व्याधि का नाम है। अथर्ववेद[२] में यह इसका अर्थ सम्भवतः जाँघों का 'पक्षाघात'[३] है।

[१] ३. ५, ३, २७; ६, १, २५।

[२] ११. ९, १२।

[३] यदि भाष्य के 'ऊरु-ग्राहैः' पाठ को स्वीकार कर लिया जाय तब; किन्तु ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ६५३, मूल के 'उरु-ग्राहैः' पाठ को मानते हुए इस यौगिक शब्द का एक विशेषण के रूप में 'चौड़ी पकड़ वाला' के अर्थ में अनुवाद करते हैं। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूत्र, ६३५।

ग्राहि (पकड़नेवाला) ऋग्वेद[१] और अथर्ववेद[२] में व्याधि के किसी स्त्री दैत्य के रूप में आता है। इसका पुत्र निद्रा[३] (स्वप्न) है।

[१] १०. १६१, १।

[२] २. ९, १; १०, ६. ८; ६. ११२, १; ११३, १; ८. २, १२; ३, १८; १६. ७, १; ८, १; १९. ४५, ५।

[३] १६. ५, १; अथवा कदाचित 'स्वप्न' से तात्पर्य है।

तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन, १३, १५४।

ग्रीष्म—देखिये *ऋतु* ।

ग्रैव्य—अथर्ववेद[1] में यह 'गले (ग्रीवाः) पर निकले शोथ' का द्योतक प्रतीत होता है ।

[1] ६. २५, २; ७. ७६, २ । तु० की० ब्लूमफील्ड : प्रो० सो०, अक्तूबर, १८८७, xix; अथर्ववेद के सूक्त' ४७२ ।

ग्लह भी, *ग्राभ* की भाँति जिसका यह एक बाद का रूप है, पासे की 'फेंक' का द्योतक है और अथर्ववेद[1] में आता है ।

[1] ४. ३८, १ और बाद । तु० की० ल्यूडर्सः डा० इ०, ४९ ।

ग्लाव मैत्रेय ('मैत्री' का वंशज) का छान्दोग्य उपनिषद्[1] में उल्लेख है, जहाँ इसे *वाक दाल्भ्य* के ही समान कहा गया है । पञ्चविंश ब्राह्मण[2] के सर्पोत्सव के समय यह प्रतिस्तोतृ के रूप में आता है और षड्विंश ब्राह्मण[3] में भी इसका उल्लेख है ।

[1] १. १२, १. ३ । तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. १, ३१ ।
[2] २५. १५, ३ ।
[3] १. ४ ।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५, ३८ ।

ग्लौ, अथर्ववेद[1] और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में किसी व्याधि, सम्भवतः जैसा कि ब्लूमफील्ड[3] का विचार है, 'फोड़ों' के किसी लक्षण का नाम है । वाजसनेयि संहिता[4] के एक स्थल पर जहाँ यह एक अस्पष्ट आशय में मिलता है, इससे सम्भवतः बलिप्राणी के किसी भाग का अर्थ है ।[5] तु० की० *गलुन्त* ।

[1] ६. ८३, ३ ।
[2] १. २५ ।
[3] प्रो० सो०, अक्तूबर, १८८७, xv; अथर्ववेद के सूक्त १७, ५०३; ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३४३ ।
[4] २५. ८; मैत्रायणी संहिता ३. १५, ७ ।
[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; लुडविग : ऋग्वेद के अनुवाद ३, ५००, में 'ग्लौ' को 'उल्लू' के अर्थ में ग्रहण करते हैं ।

घ

घर्म—ऋग्वेद[1] और बाद[2] में यह उस पात्र का द्योतक है जिसमें मुख्यतः

[1] ३. ५३, १४; ५. ३०, १५; ४३, ७; ७६, १, इत्यादि ।
[2] अथर्ववेद ७. ७३, ६; वाजसनेयि संहिता ८. ६१; ऐतरेय ब्राह्मण १. १८. २२, इत्यादि ।

अश्विनों को अर्पित करने के लिये दूध गरम किया जाता था। इसी कारण यह अक्सर[3] स्वयं गरम दूध अथवा किसी भी अन्य गरम पेय का भी द्योतक है।

[3] ऋग्वेद १. ११९, २; १८०, ४; ७. ७०, २; ८. ९, ४, इत्यादि; अथर्ववेद ४, १, २; वाजसनेयि संहिता ३८. ६, इत्यादि। तु० की० निरुक्त, ६. ३२; ११. ४२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २७१; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

घास का अथर्ववेद[1] और बाद में[2] पशुओं का 'चारा' अर्थ है। ऋग्वेद[3] में अश्वमेध के समय बलि दिये जानेवाले अश्व के 'चारे' के लिये 'घासि' का प्रयोग हुआ है।

[1] अथर्ववेद ४. ३८, ७; ८. ७, ८; ११. ५, १८ इत्यादि।

[2] वाजसनेयि संहिता ११. ७५; २१. ४३; तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ९, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ३, १०, इत्यादि।

[3] १. १६२, १४।

घृणीवन्त्—वाजसनेयि संहिता[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में यह किसी पशु का नाम है। मैत्रायणी संहिता[2] के समानान्तर स्थल पर 'घृणावन्त्' पाठ है। अन्यत्र यह शब्द विशेषणात्मक[3] है।

[1] २४. ३९।

[2] ३. १४, २०।

[3] ऋग्वेद १०. १७६, ३।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ९९।

घृत का, जो आधुनिक 'घी' है, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में सामान्य और यज्ञ में प्रचलित, दोनों ही रूपों से प्रयुक्त होने का बार-बार उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] पर सायण के भाष्य में एक उद्धरण के अनुसार 'घृत' और *सर्पिस्* में यह अन्तर बताया गया है कि यह द्वितीय पदार्थ पूर्णतया गला हुआ मक्खन होता था जब कि प्रथम मक्खन को गला देने के बाद उसका पुनः जमा हुआ (घनी-भूत) रूप होता था; किन्तु इस विभेदीकरण पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। यतः मक्खन का अग्नि में हवन दिया जाता था, अतः अग्नि को विविध रूप से 'घृत-प्रतीक'[4], 'घृत-पृष्ठ'[5], 'घृत-प्रसत्त'[6], और

[1] १. १३४, ६; २. १०, ४; ४. १०, ६; ५८, ५. ७. ९; ५. १२, १, इत्यादि।

[2] वाजसनेयि संहिता २. २२, इत्यादि; अथर्ववेद ३. १३, ५, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, ७ (दधि, मस्तु, अमिक्षा के साथ); ९. २, १, १ (दधि, मधु, घृत), इत्यादि।

[3] १. ३ (पृ० २४०, ऑफरेख्त का संस्करण)

[4] ऋग्वेद १. १४३, ७; ३. १, १८; ५. ११, १; १०. २१, ७, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद १. १६४, १; ५. ४, ३; ३७, १; ७. २, ४, इत्यादि।

[6] ऋग्वेद ५. १५, १।

'घृत-प्री'[7] आदि नाम दिये गये हैं। मक्खन को शुद्ध करने के लिये जल का प्रयोग होता था: इस कारण जल को मक्खन शुद्ध करनेवाला (घृत-पू)[8] कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[9] में यह कहा गया है कि 'आज्य', 'घृत', 'आयुत', और 'नवनीत', क्रमशः देवों, मनुष्यों, पितरों और भ्रूणों की वस्तुएँ हैं।

[7] अथर्ववेद १२. १, २०; १८. ४, ४१।
[8] १. ३।
[9] तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २२७।

घृत-कौशिक—माध्यन्दिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिका) में *पाराशर्यायण* के शिष्य के रूप में इसका उल्लेख है।

[1] २. ५, २१; ४. ५, २७। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन ४, ३४८।

घोर-आङ्गिरस—यह कौषीतकि ब्राह्मण[1] और छान्दोग्य उपनिषद्[2] में एक पौराणिक गुरु का नाम है, जहाँ यह एक विचित्र व्यक्तित्व *कृष्ण देवकीपुत्र* का गुरु है। यह नाम केवल एक कोरा सृजन मात्र है, ऐसा इस बात से प्रकट होता है कि यह 'अङ्गिरसों के भयङ्कर वंशज' का एक प्रतिरूप *भिषज् आथर्वण*[3] (अथर्वनों का शामक वंशज) है, जब कि ऋग्वेद सूत्रों[4] में 'अथर्वाणो वेदः' को 'भेषजम्' से, तथा 'अङ्गिरसो वेदः' को 'घोरम्' से सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार यह अथर्ववेदीय[5] व्यवहारों के गुप्त-पक्ष का वैयक्तीकृत रूप है। काठक संहिता[6] के अश्वमेध खण्ड में भी इसका उल्लेख है।

[1] ३०. ६। तु० की० आश्वलायन श्रौतसूत्र १२. १०।
[2] ३. १७, ६।
[3] वेबर: इण्डिशे स्टूडियन ३, ४५९।
[4] आश्वलायन श्रौतसूत्र १०. ७; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. २; ज० अ० ओ० सो० १७, १८१।
[5] ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूत्र xx, xxi xxxviii; अथर्ववेद ८, २३; मैक्डोनेल: संस्कृत लिटरेचर १८९, १९०; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माईथौलोजी, २, १६०, नोट ४।
[6] १. १।

घोष—देखिये *घोषा*।

घोषवन्त्—देखिये *स्वर*।

घोषा—ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर इसका अश्विनों के एक आश्रित, और सम्भवतः एक पति प्राप्त करने वाले के रूप में उल्लेख है। एक अन्य स्थल[2]

[1] १. ११७, ७; १०. ४०, ५। तु० की० १०. ३९, ३. ६।
[2] १. १२२, ५। देखिये औल्डेनबर्ग: ऋग्वेद नोटेन, १, १२३।

पर इसके पति के रूप में 'अर्जुन' का उल्लेख है जो यद्यपि सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस स्थल पर सायण किसी चर्म रोग का सन्दर्भ देखते हैं जिसे बृहद्देवता[3] की बाद की परम्परा द्वारा इसके (घोषा के) अविवाहित रह जाने का कारण माना गया है; किन्तु यह विचार उपयुक्त नहीं है। सायण के अनुसार ऋग्वेद[4] के एक अस्पष्ट मन्त्र में इसके पुत्र 'सुहस्त्य' का उल्लेख है; फिर भी औल्डेनबर्ग[5] यहाँ स्वयं घोषा का ही सन्दर्भ देखते हैं, जब कि पिशल[6] का विचार है कि 'घोषे' रूप वास्तव में संज्ञा नहीं वरन् क्रियात्मक है।

[3] ७. ४१-४८, मैकडौनेल के नोट के साथ।

[4] १. १२०, ५।

[5] उ० पु० ११९। 'सुहस्त्य' को प्रत्यक्षतः १०. ४१, ३ के आधार पर आविष्कृत किया गया है, और इस तथ्य द्वारा इसमें सहायता मिली है कि अश्विनों द्वारा 'वध्रिमती' को एक पुत्र, हिरण्य-हस्त, प्राप्त हुआ था (ऋग्वेद १. ११७, २४)।

[6] वेदिशे स्टूडियन १, ४; २, ९२।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४३; ऊ० ऋ० ४३; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, २४७; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ५२।

च

चक का, 'पिशङ्ग' के साथ, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में सर्पोत्सव के समय के दो 'उन्नेतृ' पुरोहितों में से एक के रूप में उल्लेख है।

[1] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३५, जो 'चक्र' पढ़ते हैं; १०, १४२, नोट ३, १४४।

चक्र अथवा रथ या गाड़ी के 'पहिये' का, ऋग्वेद[1] और उसके बाद से बराबर और अक्सर लाक्षणिक आशय में भी उल्लेख है। जब रथ को व्यवहार में लाना होता था तब पहिये को उसके धुरे (*अक्ष*) पर सन्नद्ध कर दिया जाता था। जैसा कि ऋग्वेद[2] के एक सन्दर्भ से प्रकट होता है, इस कार्य के लिये पर्याप्त शक्ति-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती थी। पहिये में सामान्यतया तीलियाँ (*अर*), और एक *नाभि*[3] होती थी जिसके छिद्र (*ख*) में धुरे का सिरा (*आणि*) प्रविष्ट रहता था। पहिये की मज़बूती को कितना महत्त्व दिया जाता था इसका इस बात से संकेत मिलता है कि पूषन् देव की गाड़ी के पहियों के सम्बन्ध में यह प्रशस्ति कही गई है कि

[1] १, १३०, ९; १५५, ६; १६४, २. ११. १४; १७४, ५; ४. १, ३ इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ११. ७, ४; १९. ५३, १. २, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद ८. ४१, ६।

उन्हें (पहियों को) किसी प्रकार की भी क्षति नहीं पहुँच सकती।[४] साधारणतया पहिये की संख्या दो[५] होती थी, किन्तु ऋग्वेद[६] के सात स्थलों पर एक रथ को 'तीन पहियों वाला', तथा कुछ अन्य पर 'सात पहियों वाला'[७] भी कहा गया है, जब कि अथर्ववेद[८] के एक स्थल पर इसे 'आठ पहियोंवाला' कहा गया है। त्सिमर[९] यह तर्क उपस्थित करते हैं कि इन विशेषणों से वास्तविक रथों का तात्पर्य नहीं है। आपका विचार है कि उन सभी स्थलों पर जहाँ 'त्रि-चक्र' आता है, एक पौराणिक सन्दर्भ है। इसके विपरीत वेबर[१०] का यह विचार है कि तीन पहियोंवाले रथ भी रहे हो सकते हैं, जिनमें से एक पहिया मध्य में, रथ पर बैठनेवाले दोनों व्यक्तियों के बीच स्थित रहा होगा। यह विचार निर्णायक नहीं है। किसी भी प्रकार, 'सात पहियोंवाले' और 'आठ पहियोंवाले' रथों के उल्लेख को इस बात का द्योतक कदाचित ही माना जा सकता है कि वास्तव में भी इतनी अधिक पहियोंवाली गाड़ियाँ रही होंगी।

शतपथ ब्राह्मण[११] में कुम्हार के चक्र (कौलाल-चक्र) का भी उल्लेख है।

[४] ऋग्वेद ६. ५४, ३।
[५] ऋग्वेद ८. ५, २९; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १६, ५; कौषीतकि उपनिषद् १. ४।
[६] १. ११८, २; १५७, ३; १८३, १; ८. ५८, ३; १०. ४१, १; ८५, १४ (सभी अश्विनों के रथ के); ४. ३६, १ (ऋभुओं द्वारा, जिनकी संख्या तीन है, बनाये एक रथ के)।
[७] ऋग्वेद १. १६४, ३. १२; २. ४०, ३।
[८] ११. ४, २२।
[९] आल्टिन्डिशे लेवेन viii, ix।
[१०] प्रो० अ०, १८९८, ५६४, वर्शाऊः त्सी० इ०, ५, २०० को उद्धृत करते हुये।
[११] ११. ८, १, १।
तु० की० त्सिमर: उ० पु०, २४७।

चक्र-वाक्—यह प्रत्यक्षतः उसकी बोली के आधार पर निष्पन्न एक प्रकार के जलीय पक्षी (Anas casarca) का नाम है, जिसे आजकल की हिन्दी में 'चकवा' और अंग्रेज़ी[१] में 'ब्रह्मनी डक' कहते हैं। इसका ऋग्वेद[२] में, तथा यजुर्वेद[३] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में, उल्लेख है; जब कि अथर्ववेद[४] में यह पहले से ही दम्पति की उस परस्पर निष्ठा के एक प्रकार के रूप में आता है, जो कि अभिजात वाङ्मय में इसकी प्रमुख चारित्रिक विशेषता है।

[१] ग्रिफिथ: ऋग्वेद के सूक्त, १, ३०९, नोट ४।
[२] २. ३९, ३।
[३] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ३. १३; वाजसनेयि संहिता २४. २२. ३२; २५. ८।
[४] १४. २, ६४।
तु० की०, त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन ८९।

चक्षुस् (आँख)—'दुष्ट दृष्टि' (घोरं चक्षुस्) अथर्ववेद में सुपरिचित है, और इस ग्रंथ में इसके दुष्प्रभाव को निष्फल करने के लिये अभिचार दिये गये हैं।[1] इसके विरुद्ध उपचारों के रूप में *त्रिककुभ्*[2] पर्वत के आँजन, और जङ्गिड पौधे[3] का उल्लेख है। विवाह संस्कार के समय वधू के 'अघोर-चक्षुस'[4] होने की अभ्यर्थना की जाती है। आँख की बनावट, तथा 'शुक्ल', 'कृष्ण', और 'कनीनिका' आदि के रूप में उसके भागों का बाद के ब्राह्मणों[5] में बार-बार उल्लेख है। *अलजि* नामक व्याधि आँख का ही कोई रोग प्रतीत होता है।

[1] २. ७; १९. ४५ का संस्कारों में इसी प्रकार उपयोग है।

[2] अथर्ववेद ४. ९, ६।

[3] अथर्ववेद १९. ३५, ३।

[4] पारस्कर गृह्य-सूत्र, १. ४; शाङ्खायन गृह्यसूत्र १. १६।

[5] शतपथ ब्राह्मण १२. ८, २, २६; जैमिनीय ब्राह्मण १. २५४. ३२४; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. २६, १; ३४, १; बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, २; ऐतरेय आरण्यक २. १, ५; इत्यादि। इसी प्रकार नेत्रों में 'पुरुष' का बार-बार उल्लेख है: छान्दोग्य उपनिषद् १. ७, ५; ४. १५, १; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३, ५; ४. २, २; ५. ५, २. ४, इत्यादि; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. २७. २। बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, ३, नेत्रों में जल (आपः), ऊपरी और नीचे की पलकें (वर्तनी) और सात लाल रेखायें (लोहिन्यो राजयः) भी जोड़ देता है।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १४९।

चण्डाल,[1] *चाण्डाल*[2]—यह दोनों ही एक ऐसी घृणित जाति के नाम हैं जो आरम्भ की दृष्टि से सम्भवतः एक कबायिली[3] जाति थी; किन्तु ब्राह्मण-वादी सिद्धान्त के अनुसार यह शूद्र पिता और ब्राह्मण माता द्वारा उत्पन्न सन्तान थे।[4] यजुर्वेद संहिताओं में और उपनिषदों में भी जाति के सन्दर्भों द्वारा स्पष्ट व्यक्त होता है कि यह एक निम्न जाति के लोग थे, किन्तु इनके सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

[1] छान्दोग्य उपनिषद ५. १०, ७; २४, ४; आश्वलायन गृह्यसूत्र ४. ९; शाङ्खायन गृह्यसूत्र २. १२; ६. १ इत्यादि।

[2] वाजसनेयि संहिता ३०. २१; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १७, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, २२।

[3] फिक : डी० ग्ली०, २०४ और बाद।

[4] आल्टिन्डिशे लेबेन, २१७, में प्रत्यक्षतः त्सिमर द्वारा वैदिक काल के लिये स्वीकृत।

तु० की० फान श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४३३।

चतुष्-पद् (चार पैरोंवाला)—यह ऋग्वेद[1] और उसके बाद सदैव पशुओं की संज्ञा है और अक्सर *द्विपद्*[2] से इसका विभेद स्पष्ट किया गया है। पशुओं (पशवः) के लिये प्रयुक्त एक विशेषण के रूप में भी 'चतुष्-पाद्' मिलता है[3]।

[1] ऋग्वेद १. ४९, ३; ९४, ५; ११९, १; ३. ६२, १४ इत्यादि; अथर्ववेद ४. ११, ५; १०. ८, २१; वाजसनेयि संहिता ८. ३०; ९. ३१; १४. ८, २५, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण ६. २; ८. २० इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १०. ११७, ८; अथर्ववेद ६. १०७, १, इत्यादि।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण २. १८; ६. २; शतपथ ब्राह्मण ३. ७, ३, २; ६. ८, २, १७, इत्यादि।

१. चन्द्र,[1] *चन्द्र-मास्*[2]—यह दोनों ही 'चन्द्रमा' के नाम हैं, जिनमें से द्वितीय शब्द ऋग्वेद और उसके बाद से मिलता है, किन्तु प्रथम इस आशय में सर्व प्रथम अथर्ववेद में ही प्रयुक्त हुआ है। इसकी *सोम*[3] से समानता स्थापित करने, तथा दोनों के समान रूप से घटते-बढ़ते रहने के वर्णन के अतिरिक्त, वैदिक साहित्य में चन्द्रमा के सम्बन्ध में बहुत कुछ नहीं कहा गया है। फिर भी, चन्द्रमा के नियमित रूप से परिवर्तित होते रहने[4] और इसे तथा सूर्य को एक दूसरे के बाद प्रकट होते रहने[5] का उल्लेख है। ऋग्वेद में, सोम की ही भाँति, चन्द्रमा को भी सूर्य के साथ विवाहित[6] कहा गया है। (शुक्ल-पक्ष की प्रतिपदा के दिन) नवीन चन्द्रमा उदय होने के पूर्व (अमावस्या को) इसके सम्पूर्ण रूप के समाप्त हो जाने[7] और सूर्य के प्रकाश से ही इसके जन्म[8]

[1] अथर्ववेद २. १५, २; २२, १; ३. ३१, ६, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता २२. २८; ३९. २; शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, १६, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १. १०५, १; ८. ८२, ८; १०. ६४, ३; ८५, १९; अथर्ववेद ११. ६, ७; वाजसनेयि संहिता १. २८; २३. १०. ५९, इत्यादि।

[3] देखिये, मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ११२, ११३। यह समीकरण ऋग्वेद के बाद के अंशों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

[4] ऋग्वेद १०. ५५, ५। तु० की० अथर्ववेद १०. ८, ३२।

[5] ऋग्वेद १०. ६८, १०। तु० की० १. ६२, ८; ७२, १०।

[6] १०. ८५, १८. १९।

[7] शतपथ ब्राह्मण १. ६, ४, १८; ४. ६, ७, १२; ११. १, ६, १९; १४. ४, २, १३; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २८, ८; कदाचित ऋग्वेद १०. १३८, ४।

[8] ऋग्वेद ९. ७१, ९; ७६, ४; ८६, ३२; सामवेद २. ९, २, १२, १; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ४६३ और बाद। तु० की० **सूर्य**।

का भी उल्लेख है। अथर्ववेद[1] में चन्द्रमा को ग्रसित करने वाले दैत्यों (ग्रहाश् चान्द्रमासाः) का भी सन्दर्भ मिलता है।

चन्द्रमा की कलाओं, और समय के एक नाप के रूप में महीने के लिये देखिये *मास*। चन्द्रमा और उसके नक्षत्रों के लिये देखिये *नक्षत्र*।

[1] १९. ९, १०। कौशिक सूत्र, ०. ३, भी, अथर्ववेद ६. १२८, में चन्द्रमा के ग्रहण का ही सन्दर्भ मानता है। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५३३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३४९, ३५०, ३५२।

२. चन्द्र—ऋग्वेद और उसके बाद[1] से कुछ स्थलों पर यह 'स्वर्ण' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ऋग्वेद २. २, ४; ३. ३१, ५; अथर्ववेद १२. २, ५३; तैत्तिरीय संहिता १. २, ७, १; काठक संहिता २. ६; वाजसनेयि संहिता ४. २६; १९. ९३; पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ६; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ३, ४, इत्यादि। तु० की० वाजसनेयि संहिता २०. ३७; ३१. ३१, में विशेषण 'चन्द्रिन्'

चाप्य—यज्ञ से सम्बन्धित किसी पात्र (बर्तन) के नाम के रूप में यह वाजसनेयि संहिता[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में मिलता है।

[1] १९. ८८; मैत्रायणी संहिता ३. २, ९; काठक संहिता ३८. ३।

[2] १२. ७, २, १३; ९, १, ३।

चमस 'पीने के एक पात्र' का द्योतक है, जिसका बहुधा यज्ञ के समय *सोम* रखने के लिये प्रयोग होता था। ऋग्वेद[1] और उसके बाद से इसका अक्सर उल्लेख है। यह लकड़ी (वृक्ष)[2] का बना होता था और इसी कारण इसे 'द्रु'[3] कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[4] के अनुसार यह उदुम्बर की लकड़ी का बना होता था।

[1] ऋग्वेद १. २०, ६; ११०, ३; ८. ८२, ७; १०. १६, ८; ६८, ८; ९६, ९, इत्यादि; अथर्ववेद ७. ७३, ३; १८. ३, ५४; वाजसनेयि संहिता २३. १३, इत्यादि; निरुक्त ११. २; १२. ३८।

[2] ऋग्वेद १०. ६८, ८।

[3] ऋग्वेद १. १६१, १।

[4] ७. २, ११, २।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २८०; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १६७, १६८।

चमू एक संदिग्ध आशय का शब्द है जो ऋग्वेद में बार-बार आता है

और सोम बनाने से सम्बद्ध है। त्सिमर[1] का विचार है कि एक द्विवाचक के रूप में यह उन दो पटरों का द्योतक है जिनके बीच में रखकर सोम को दबाया जाता था (तु० की० *अधिषवण*)। फिर भी अपने इस विचार में रौथ[2] ठीक ही प्रतीत होते हैं कि सामान्य आशय में यह शब्द उस पात्र (बर्तन) का द्योतक है जिसमें दबाने के उपकरण से सोम उँडेला जाता था; और हिलेब्रान्ट,[3] स्पष्ट रूप से दिखाते हैं कि जब भी यह शब्द बहुवचन[4] में आता है इसका यही आशय है तथा यह बाद के संस्कार से सम्बद्ध 'ग्रह-पात्रों' जैसा ही है। कभी-कभी एकवचन[5] अथवा द्वि-वाचक[6] रूप में भी यह इसी आशय में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी कुछ स्थलों पर[7] हिलेब्रान्ट यह स्वीकार करते हैं कि यह उस उदूखल का द्योतक हो सकता है जिसमें सोम दबाया जाता था। इन स्थलों के सम्बन्ध में आपका विचार ठीक भी हो सकता है, क्योंकि सोम बनाने की यह पद्धति सम्भवतः भारतीय-ईरानी थी।[8]

शतपथ ब्राह्मण[9] के एक व्युत्पन्न आशय में 'चमू' ऐसे गड्ढे का द्योतक प्रतीत होता है, जो या तो ठोस पत्थर का अथवा ईंटों का बना होता था और जिसे पूर्वी देश के लोग शव को उसी प्रकार भूमि के सम्पर्क से बचा रखने के लिये व्यवहार में लाते थे जिस प्रकार आधुनिक युग में पत्थर की बनी कब्रों अथवा शव दफनाने के तहखानों में होता है।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन २७७, २७८।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० ग्रासमैन : ऋग्वेद १, १५।
[3] वेदिशे माइथौलोजी, १, १६४-१७५।
[4] ऋग्वेद ३.४८, ५; ८. २, ८; ८२. ७, .८; ९. २०, ६; ६२, १६; ६३, २; ९२, २; ९३, ३; ९७, २१. ३७. ४६; ९९, ६. ८।
[5] ऋग्वेद ९, १०७, १८; १०. ९१, १५।
[6] ऋग्वेद ९. ६९, ५; ७१, १; ७२, ५ ८६, ४७; ९६, २०. २१; ९७, २. ४८; १०३, ४; १०७, १०; १०८, १०
[7] एकवचन : ऋग्वेद ५. ५१, ४; ८. ४, ४; ७६, १०; ९. ४६, ३; १०. २४, १। द्विवाचक : १. २८, ९; ४. १८, ३; ६. ५७, २; ९. ३६, १।
[8] हिलेब्रान्ट : उ० पु० १, १५८–१६४।
[9] १३. ८, २, १; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ४३०, नोट १। शाङ्खायन श्रौतसूत्र १४. २२, १९ में आशय सन्दिग्ध है। तु० की० मैक्डौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १०५ और बाद।

चरक—मुख्यतः एक 'भ्रमणकारी विद्यार्थी' का द्योतक है। वास्तव में बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में यही आशय मिलता है। अधिक विशेष रूप से

[1] ३. ३, १।

यह कृष्ण यजुर्वेद की एक परम्परा के सदस्यों का द्योतक है जिनके व्यवहारों का शतपथ ब्राह्मण[2] में अग्राह्य होने के रूप में अनेक वार उल्लेख है। वाजसनेयि संहिता[3] में 'चरक' गुरु (चरकाचार्य) को पुरुषमेध यज्ञ के बलिप्राणियों में से एक बताया गया है। यहाँ इसे कुकर्म में लिप्त मानना एक सांस्कारिक विद्वेष-भावना का स्पष्ट संकेत करता है।

[2] ३. ८, २, २४ (जहाँ तैत्तिरीय संहिता ६. ३, ९, ६; १०, २, अथवा कुछ अन्य समानान्तर स्थलों का सन्दर्भ है); ४. १, २, १९; २, ३, १५; ४, १. १०; ६. २, २, १. १०; ८. १, ३, ७; ७, १, १४. २४।

[3] ३०. १८; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४, १६, १। बाद के मूल ग्रन्थों में इसका आना, फान श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर १८८, के इस विचार को असम्भाव्य बना देता है कि 'चरक' के अन्तर्गत कृष्ण यजुर्वेद की सभी शाखायें आ जाती हैं।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन २; २८७, नोट २; ३, २५६, २५७, ४५४; इन्डियन लिटरेचर ८७; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २१२।

चरक-ब्राह्मण उस ग्रन्थ का नाम है जिसमें से सायण ऋग्वेद[1] के अपने भाष्य में उद्धरण देते हैं।

[1] ८. ६६, १०; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ४१ :

चराचर (इधर-उधर घूमना) एक शब्द है जो यजुर्वेद संहिताओं[1] में *सरीसृप* के साथ वर्गीकृत किया हुआ मिलता है। प्रत्यक्षतः यह किसी पशु का द्योतक होना चाहिये।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १३, ३; काठक संहिता १५. ३; मैत्रायणी संहिता ३. १२, १०; वाजसनेयि संहिता २२. २९।

चरु—यह ऋग्वेद[1] और उसके बाद से एक 'केतली' या 'घट' का द्योतक है। इसमें एक ढक्कन (अपिधान) होता था और एक अँकुसी (अङ्क) लगी होती थी जिससे इसे आग पर लटकाया जा सके।[2] यह लोहे अथवा काँसे[3]

[1] ऋग्वेद १. ७, ६; ७. १०४, २; ९. ५२, ३; १०. ८६, १८; १६७, ४; अथर्ववेद ४. ७, ४; ९. ५, ६; ११. १, १६; ३, १८; १८. ४, १६ और बाद, इत्यादि। तैत्तिरीय संहिता १. ६, १, २; काठक संहिता ५. ६; ३२. ६; और मैत्रायणी संहिता १. ४, ४. ९, इत्यादि में इसे 'पञ्च-बिल' (पाँच छिद्रों वाला) भी कहा गया है।

[2] ऋग्वेद १. १६२, १३; अथर्ववेद १८. ४, ५३।

[3] शतपथ ब्राह्मण १३. ३, ४, ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २७१।

(अयस्मय) का बना होता था। गौण रूप से यह शब्द पात्र की सामग्री, अथवा उसमें पके अन्न की उष्णिका के द्योतक के रूप में भी प्रयुक्त[४] हुआ है।

[४] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १०, १; ऐतरेय ब्राह्मण १. १; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, ७; २. ५, ३, ४; ३. २, ३, १, इत्यादि
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, २१६।

चर्मन्, जो कि सामान्य रूप से 'चर्म' (चमड़ा) का द्योतक है, ऋग्वेद और उसके बाद[१] से एक साधारण व्याहृति है। वैल के चर्म का अनेक कार्यों के लिये प्रयोग होता था, जैसे धनुष की प्रत्यञ्चा, लटकाने के फन्दे, और लगाम (वल्गा) इत्यादि; (देखिये गो)। अक्सर यह विशेष रूप से उन पटरों[२] पर रखने के लिये भी व्यवहार में लाया जाता था जिन पर रख कर सोम को पत्थरों से दबाया जाता था।[३] सम्भवतः चमड़े के थैले बनाने के लिये भी इसका प्रयोग होता था।[४] साधारणतया ऐतरेय ब्राह्मण[५] में 'चर्मण्य', चर्मकारी का द्योतक है।

चमड़े को सिझाने की कला (म्ला) इतने पूर्व तक परिचित थी जितना ऋग्वेद,[६] जिसमें ही सिझाने वाले के लिये प्रयुक्त 'चर्मम्न' शब्द भी आता है।[७] इस कार्य की विधि के सम्बन्ध में विवरण उपलब्ध नहीं है किन्तु शतपथ ब्राह्मण[८] में खूँटियों द्वारा चमड़े के ताने जाने (शङ्कुभिः) का, और ऋग्वेद[९] में चमड़े को भिगाने का उल्लेख है।

[१] ऋग्वेद १. ८५, ५; ११०, ८; १६१, ७; ३. ६०, २; ४. १३, ४, इत्यादि; अथर्ववेद ५. ८, १३; १०. ९, २; ११. १, ९, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ३. १, ७, १; ६. १, ९, २, इत्यादि। 'चर्म' (क्लीवः 'चर्मे') तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, २, २ में मिलता है।

[२] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १४८–१५०; १८१–१८३।

[३] ऋग्वेद १०. ९४, ९; ११६, ४।

[४] ऋग्वेद १०. १०६, १० को त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २२८ में ऐसा ही मानते हैं और ओडेसी, १०. १९ से इसकी तुलना करते हैं।

[५] ५. ३२। तु० की० 'परिचर्मण्य' शाङ्खायन आरण्यक २. १।

[६] ८. ५५, ३ (एक बाद का सूक्त)।

[७] ८. ५, ३८; वाजसनेयि संहिता ३०. १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १३, १। इस रूप के लिए, तु० की०, मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० ३८, नोट १; पृ० २४९, नोट ४।

[८] ३. १, १, ९।

[९] १. ८५, ५।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २२८, २५३।

चर्षणि—बहुवच प्रयोग में ऋग्वेद[1] में यह साधारणतया 'मनुष्यों' या 'लोगों' का द्योतक है जिन्हें या तो सक्रिय लोग[2] अथवा खानाबदोशों के विपरीत कृषक जन[3] माना गया है। 'मनुष्यों का राजा' (राजा चर्षणीनाम्) व्याहृति बहुधा मिलती है।[4] जनों या लोगों का युद्ध के सम्बन्ध में भी उल्लेख है।[5] अथर्ववेद[6] में पशुओं (पशु) और मनुष्यों (चर्षणि) की एक साथ चर्चा है। पाँच 'चर्षणयः'[7] के लिये देखिये *पञ्च जनासः*।

[1] ऋग्वेद १.८६, ५; १८४, ४; ३.४३, २; ४.७, ४; ५.२३, १; ६.२, २; १०.१८०, ३, इत्यादि।

[2] यदि 'चर्' (हिलना) से व्युत्पन्न हुआ हो, जो सम्भव है।

[3] यदि 'कृष्' (हल जोतना या मिट्टी खोदना) से व्युत्पन्न हुआ हो।

[4] ऋग्वेद ३.१०, १; ५.३९, ४; ६.३०, ५; ८.७०, १; १०.१३९, १, इत्यादि

[5] ऋग्वेद १.५५, १; १०९, ६; ४.३१, ४; ३७, ८; ६.३१, १, इत्यादि।

[6] १३.१, ३८।

[7] ऋग्वेद ५.८६, २; ७.१५, २; ९.१०१, ९। व्युत्पत्ति के लिए देखिए, मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर १८५, और विशेषतः १२२, २a ('चर्' से); मौनियर विलियम्स : कोश, व० स्था० ('कृष' से)।

चषाल का, जो यज्ञ स्तम्भ (यूप) का मूसलाकार ऊपरी भाग है, ऋग्वेद और उसके बाद[1] से उल्लेख मिलता है। शतपथ-ब्राह्मण[2] के एक स्थल पर 'गोधूम' द्वारा इसके निर्माण का निर्देश है।

[1] ऋवेद १.१६२, ६; तैत्तिरीय संहिता ६.३, ४, २.७; काठक संहिता २६, ४, इत्यादि। मैत्रायणी संहिता १.११, ८, इत्यादि।

[2] ५.२, १, ६।
तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, १६८, नोट १; ४१, ३१, नोट १।

चाक्र एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जिसे विभिन्न रूप से 'रेवोत्तरस् स्थपति पाटव चाक्र'[1] और 'रेवोत्तरस् पाटव चाक्र स्थपित,'[2] कहा गया है और जिसका केवल शतपथ ब्राह्मण में ही उल्लेख है। यहाँ यह वर्णन है कि इसे *सृञ्जयों* द्वारा निष्कापित कर दिया गया था, किन्तु इसने उनके राजा *दुष्टरीतु* को, कौरव्य राजा *बाह्लिक प्रातिपीय* के विरोध के विपरीत भी उनको पुनः समर्पित कर दिया था।[2] यह एक योद्धा की अपेक्षा कोई ऋषि रहा होगा, क्योंकि शतपथ

[1] शतपथ ब्राह्मण १२.८, १, १७।

[2] वही, १२.९, ३, १ और बाद।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २०५–२०७; १०, ८५, नोट १; इन्डियन लिटरेचर १२३; एग्लिङ्ग : सें० बु० ई० ४४, २६९ और बाद, जिसके पाठ का ही ऊपर अनुसरण किया गया है।

ब्राह्मण[1] का प्रथम स्थल इसे केवल एक गुरु के रूप में ही व्यक्त करता है। तु० की० *स्थपति*।

चाक्रायण ('चक्र' का वंशज)—यह *उषस्त* अथवा *उषस्ति*[1] का पैतृक नाम है।

[1] बृहदारण्यक उपनिद् ३. ५, १; छान्दोग्य उपनिषद् १. १०, १; ११, १।

चाण्डाल—देखिये *चण्डाल*।

चातुष अथर्ववेद[1] में ही केवल एक बार आने वाला शब्द है जो सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार (एक वैयक्तीकरण, 'सुयामन्' का) पैतृक नाम है। ह्विटने[2] इसे संभवतः केवल ('दृष्टि' का) एक विशेषण मात्र मानते हैं।

[1] १६. ७, ७।

[2] अथर्ववेद का अनुवाद ८००।

चातुर्-मास्य (चार-मासीय) उस वैदिक संस्कार के उत्सव का द्योतक है जो चार-चार महीनों की तीनों उन ऋतुओं के, आरम्भ में आयोजित किया जाता था जिनमें वैदिक वर्ष को कृत्रिम रूप से विभक्त कर लिया गया था।[1] यह स्पष्ट है कि प्रत्येक ऋतु के आरम्भ में यह यज्ञ किये जाते थे,[2] और यह भी निश्चित है कि इनमें से प्रथम 'वैश्वदेव' यज्ञ फाल्गुनी की पूर्णिमा को,[3] द्वितीय 'वरुण-प्रघासस्' आषाढ़ी पूर्णिमा को,[4] और तृतीय 'साक-मेध' कार्त्तिकी पूर्णिमा को,[5] आरम्भ होते थे। फिर भी, दो अन्य वैकल्पिक तिथियाँ भी निर्धारित थीं, यथा: यह यज्ञ-समारोह चैत्री, श्रावणी और आग्रहायणी (मार्गशीर्षी) पूर्णिमाओं को,[6] अथवा वैशाखी, भाद्रपदी और पौषी पूर्णिमाओं को,[7] भी हो

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ६, १०, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ९, ५; २. २, २, २; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३६; २. ५, २, ४८; ६, ४, १; ५. २, ३, १०; १३. २, ५, २; कौषीतकि ब्राह्मण ५. १, इत्यादि।

[2] शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३६ (तु० की० १४. १, १, २८); कौषीतकि ब्राह्मण ५. १।

[3] फाल्गुन अथवा फरवरी-मार्च महीने में।

[4] आषाढ़, अथवा जून-जुलाई महीने में।

[5] अर्थात्, कार्त्तिक महीने में, जब चन्द्रमा 'कृत्तिका' नक्षत्र में होती है: शतपथ ब्राह्मण २.६, ३, १३; कौषीतकि ब्राह्मण ५. १, इत्यादि।

[6] शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. १३, १; १४, १. २; १५, १। यह सभी क्रमशः चैत्र (मार्च-अप्रैल), श्रावण (जुलाई-अगस्त), और मार्गशीर्ष (नवम्बर-दिसम्बर) महीनों की पूर्णिमायें हैं।

[7] कात्यायन श्रौत सूत्र पृ० ४३०, ४५०, ४९७, पर देव की पद्धति। यह सभी वैशाख (अप्रैल-मई), भाद्रपद (अगस्त सितम्बर) और पौष (दिसम्बर-जनवरी) महीनों की पूर्णिमायें हैं।

सकते थे। इन दोनों बाद के तिथि-क्रमों में से कोई भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में नहीं मिलता, परन्तु यह दोनों ही बहुत पहले से ही ज्ञात रहे होंगे क्योंकि तैत्तिरीय[८] संहिता और पञ्चविंश ब्राह्मण,[९] दोनों ही वर्ष आरम्भ होने की तिथि के रूप में फाल्गुन पूर्णिमा के विकल्प के रूप में चैत्र की पूर्णिमा को स्वीकार करते हैं।

जेकोबी का विचार है कि फल्गुनी नक्षत्र में पूर्णिमा से वर्ष का आरम्भ होना, जो अन्य प्रमाणों द्वारा भी पुष्ट होता है,[१०] इस बात का द्योतक है कि एक समय में वर्ष का आरम्भ मकर-संक्रान्ति से होता था जब कि चन्द्रमा फल्गुनी में रहता था, और यह उसी स्थिति के समान था जब कि कर्क संक्रान्ति में सूर्य फल्गुनी में होता था। आपके विचार से ऐसी ज्योतिष-शास्त्रीय स्थिति ऋग्वेद[११] के समय, चार सहस्र वर्ष ईसा पूर्व में थी। इस दशा में उक्त वैकल्पिक तिथियाँ उन समयों की द्योतक होंगी जब मकर संक्रान्ति चैत्री अथवा वैशाखी पूर्णिमा को पड़ती रही होगी। किन्तु औल्डेनबर्ग[१२] और थिबो[१३] यह मानने में स्पष्टतः ठीक प्रतीत होते हैं कि फाल्गुनी का वसन्त ऋतु[१४] के आरम्भ होने के साथ पड़ना, जो कि निश्चित है, इस मत के लिये घातक है। अतः इस तिथि को माघ के नव-चन्द्रमा के समय मकर-संक्रान्ति के अनुरूप मानने में कोई कठिनाई नहीं है, जैसा कि कौषीतकि ब्राह्मण[१५] व्यक्त करता है, और जो ज्योतिषीय गणना का आधार भी प्रस्तुत करता है।[१६] इस स्थिति में फाल्गुन पूर्णिमा को

[८] ७. ४, ८, १. २।

[९] ५. ९, ८. ११।

[१०] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, १५६ और बाद; त्सी० गे० ४९, २२३ और बाद, ५०, ७२–८१।

[११] ७, १०३, ९; १०. ८५, १३। तु० की० फे० रौ० ६८ और बाद।

[१२] त्सी० गे० ४८, ६३० और बाद; ४९, ४७५, ४७६; ५०, ४५३–४५७।

[१३] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, २४, ८६ और बाद।

[१४] देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, २, ६. ८; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, २–४। इसीलिये फाल्गुनी पूर्णिमा को 'ऋतुओं का मुख' (ऋतूनां मुखम्) कहा गया है—उदाहरण के लिये पञ्चविंश ब्राह्मण २१, १५, २; काठक संहिता ८. १; मैत्रायणी संहिता १. ६, ९; और प्रथम ऋतु सदैव वसन्त ही होती है : शतपथ ब्राह्मण १. ५. ३, ८–१४; २. १, ३, १; ७. २, ४, २६; ११. २, ७, ३२; १२. ८, २, ३४; १३. ५, ४, २८; तैत्तिरीय संहिता २. १, २, ५; काठक संहिता १३. १. ७, इत्यादि। देखिये वेबर : नक्षत्र, २, ३५२।

[१५] १९. ३।

[१६] थिबो : ऐस्ट्रौनमी, ऐस्ट्रौलोजी, उन्ट मैथमेटिक, १७, १८।

तु० की०, वेबर : नक्षत्र २. ३२९, और बाद; ह्विटने : ज० अ० ओ० सो० १६, lxxxvi, lxxxvii.; कीथ ज० ए० सो० १९०९, ११०१–११०४

मकर-संक्रान्ति के लगभग डेढ़ महीने बाद, अथवा दूसरे शब्दों में, फरवरी के प्रथम सप्ताह में माना जायगा, और थिबो के अनुसार इसी तिथि को लगभग ८०० ई० पू० के भारत में एक नवीन ऋतु के आरम्भ का समय मानना तर्क संगत प्रतीत होता है। साथ ही साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह तिथि इस कारण अनिवार्यतः कृत्रिम थी क्योंकि वर्ष को चार-चार महीनों की तीन ऋतुओं में विभक्त किया गया था, और भारतीय वर्ष में इन तीनों ऋतुओं की अवधि बिल्कुल बराबर-बराबर नहीं होती। इसलिये उक्त तिथियों में भिन्नता होना अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि अन्य परम्परा के लोग अपना वसन्तोत्सव अथवा 'वैश्वदेव' समारोह ऐसे समय में रखना चाहते रहे होंगे जब वसन्त ऋतु का वास्तविक आरम्भ हो गया रहे। *संवत्सर* भी देखिये।

चान्धनायन, वंश ब्राह्मण[1] में *आनन्दज* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२, ३८३।

चायमान, ऋग्वेद (६. २७, ५. ८) में *अभ्यावर्तिन्* का पैतृक नाम है।

चाष (नीला कठफोड़वा, Coracias indica) का ऋग्वेद[1] में, तथा साथ ही साथ यजुर्वेद[2] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] १०. ९७, १३।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ४; १५, ९; वाजसनेयि संहिता २४. २३; २५. ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९२।

चिच्चिक एक पक्षी है जिसका समान रूप से ही अज्ञात *वृषारव* के साथ ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उल्लेख है। दारिल द्वारा कौशिक सूत्र[2] पर अपने भाष्य में उल्लिखित 'चिटक' के साथ सम्भवतः इसकी तुलना की जा सकती है।

[1] १०. १४६, २।
[2] २६. २०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २६६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९०; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त, २, ५८९।

चित्र अनेक व्यक्तियों का नाम है। (क) ऋग्वेद[1] में राजा 'चित्र' की एक दानस्तुति है। बाद की कथा-परम्परा[2] यह स्तुति 'सोभरि' को आरोपित करती है और 'चित्र' का चूहों का राजा के रूप में वर्णन करती है।

[1] ८. २१, १८।
[2] बृहद्देवता, ७. ५८ और बाद, मैकडौनेल के नोट के साथ।

(ख) चित्र गाङ्ग्यायनि अथवा गार्ग्यायणि का कौषीतकि उपनिषद्[1] में आरुणि और श्वेतकेतु के समकालीन के रूप में उल्लेख है।

[1] १. १। तु० कौ०, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३९५; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक १६, नोट १।

(ग) चित्र गौश्रायणि का कौषीतकि ब्राह्मण[1] में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

[1] २३. ५। तु० कौ० वेबर : उ० स्था०।

चित्र-रथ (एक जाज्वल्यमान रथवाला) दो व्यक्तियों का नाम है :

(क) यह एक आर्य राजा का द्योतक है, जिसे 'अर्ण' के सहित ऋग्वेद (४. ३०, १८) के अनुसार तुर्वश-यदुस' के लिये इन्द्र ने *सरयू* (सम्भवतः अवध में स्थित आधुनिक सरजू) के तट पर पराजित किया था। यह स्थान तुर्वश और *क्रिवि* अथवा *पञ्चाल* के बीच निकट सम्बन्ध का द्योतक है।

(ख) चित्ररथ एक राजा का भी नाम है जिसके लिये *कापेयों* ने एक विशेष प्रकार का यज्ञ (द्विरात्र) किया था। पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के अनुसार इस यज्ञ का यह परिणाम हुआ कि चैत्ररथि परिवार में केवल एक ही व्यक्ति 'क्षत्र- पति' था और शेष उसके आश्रित। प्रत्यक्षतः इसका यही अर्थ है कि अन्य राज-परिवारों की अपेक्षा चित्ररथी इस अर्थ में भिन्न थे कि इस गोत्र में प्रधान का स्थान अधिकांश अन्य की अपेक्षा अधिक ऊँचा था और उसमें सम्भवतः परिवार के प्रधान, किसी राजा और उसके आश्रितों की अपेक्षा, एक प्रकार के अल्पजनाधिपति व्यक्ति होते थे। देखिये *राजन्*।

[1] २०. १२, ५। तु० कौ० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५२, ५३; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३२; इन्डियन लिटरेचर, ६८, नोट।

चित्रा—देखिये *नक्षत्र*।

चिल्वटि—गोपथ ब्राह्मण (१. २, ७) में यह किसी अज्ञात पशु का नाम है।

चीपुद्रु का अथर्ववेद[1] के एक सूक्त में किसी ऐसी वस्तु का नाम है जिसका घाव भरने की औषधि के रूप में प्रयोग होता था। भाष्यकार सायण इसे 'चीपद्रु' पढ़ते हुए इसकी एक प्रकार के वृक्ष के रूप में व्याख्या करते

[1] ६. १२७, २।

हैं। यह व्याख्या इस तथ्य द्वारा भी पुष्ट होती है कि कौशिक सूत्र[2] इस सूक्त[3] के सांस्कारिक प्रयोग में पलाश की लकड़ी के टुकड़ों के व्यवहार का उल्लेख करता है। ह्विटने[4] का विचार है कि इस शब्द का रूप 'चीपुद्रु' ही होना चाहिये।

[2] २६. ३४।
[3] अथर्ववेद ६. १२७।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद ३७६।
तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३५०-३५२; अथर्ववेद ६२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३८६। रौथ और ह्विट्ने के पाठ में त्रुटि के कारण इसे 'शीपुद्रु' मान लिया गया है।

चुमुरि—यह *दभीति* के एक शत्रु का नाम है। ऋग्वेद[1] में इसे अपने मित्र *धुनि* सहित, इन्द्र द्वारा 'दभीति' के लिये पराजित किये जाने का उल्लेख है। अन्यत्र,[2] *शम्बर*, *पिप्रु* और 'शुष्ण' सहित, इन दोनों के भी इन्द्र द्वारा पराभूत तथा इनके दुर्गों के विनष्ट होने का उल्लेख है। यह कहना असम्भव है कि इससे वास्तविक मनुष्यों अथवा दैत्यों, किससे तात्पर्य है, किन्तु इस नाम का 'चुमुरि' रूप एक ऐसे मनुष्य का द्योतक होने के पक्ष में है जो आर्य प्रतीत नहीं होता।[3]

[1] ६. २०, १३; ११३, ९। ६. २६, ६ में केवल अकेले 'चुमुरि' का ही उल्लेख है, और 'दभीति' के लिए 'दासों' अथवा दस्युओं के पराभूत होने का उल्लेख ४. ३०, २१; २. १३, ९, में है। २. १५, ९; ७. १९, ४, आदि भी देखिये।
[2] ऋग्वेद ६. १८, ८।
[3] वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १, २२।
तु० की हिलब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, २७५; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६२।

चूड *भागवित्ति* ('भगवित्त' का वंशज) का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *मधुक पैङ्ग्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] ६. ३, ९ (काण्व = ६. ३, १७. १८ माध्यन्दिन)। काण्व पाठ में सदैव 'चूल' है।

चूर्ण—कौषीतकि उपनिषद् (१. ४) के 'चूर्ण-हस्त' वाक्पद से यह अप्सरसों द्वारा प्रयुक्त किसी सुगन्धित चूर्ण का द्योतक प्रतीत होता है।

चेदि, एक जाति के लोगों का नाम है जिनका, अपने राजा *कशु* 'चैद्य' के साथ ऋग्वेद[1] के एक सूक्त के अन्तिम भाग में आने वाली केवल एक दानस्तुति में उल्लेख है। यहाँ इन लोगों की उदारता के अद्वितीय होने की

[1] ८. ५, ३७-३९।

प्रशस्ति है। बाद में यह लोग *मत्स्यों* के साथ महाकाव्य में आते हैं, और बन्देल खण्ड (बुन्देलखण्ड) में रहते थे।[2] वैदिक काल में यह लोग संभवतः बहुत कुछ इसी क्षेत्र में स्थित थे।

[2] लासन : इ० आ०, १[2], ६८८, नोट ३; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२९; पार्जिटर : ज०ए० सो० १९०८, ३३२; औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०२।

चेलक शाण्डिल्यायन (*शाण्डिल्य* का वंशज) का एक गुरु के रूप में शतपथ ब्राह्मण (१०. ४, ५, ३) में उल्लेख है।

चैकितानेय ('चेकितान' का वंशज) का एक गुरु के रूप में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में उल्लेख है। यहीं[2] पर चैकितानेयों का उस सामन् के सम्बन्ध में भी उल्लेख है जिसकी यह लोग उपासना करते थे। इसी सामन् के सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में *ब्रह्मदत्त* चैकितानेय का उल्लेख है, तथा षड्विंश[4] और वंश ब्राह्मण[5] *वासिष्ठ* चैकितानेय से परिचित हैं। यह शब्द एक पैतृक नाम है जो शंकर[6] के अनुसार तो 'चैकितान' से, किन्तु अधिक सम्भवतः महाकाव्य में मिलने वाले नाम 'चेकितान'[7] से बना है।

[1] १. ३७, ७; ३. ५, २।
[2] १. ४२, १।
[3] १. ३, २४।
[4] ४. १।
[5] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३, ३८४।
[6] बृहदारण्यक उपनिषद्, उ० स्था, पर।
[7] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

चैकितायन ('चिकितायन'[1] अथवा 'चेकित'[2] का वंशज)—यह छान्दोग्य उपनिषद्[3] में *दाल्भ्य* का पैतृक नाम है।

[1] छान्दोग्य उपनिषद् १. ८, १, पर शङ्कर।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।
[3] १. ८, १।

चैत्र—यह काठक संहित (२१. ४) में *यज्ञसेन* का पैतृक नाम है।

चैत्र-रथि—देखिये *चित्ररथ* और *सत्याधिवाक*।

चैत्रियायण—यह तैत्तिरीय संहिता (५. ३, ८, १) में *यज्ञसेन* नामक गुरु का पैतृक अथवा मातृनामोद्भूत नाम है।

चैद्य—देखिये चेदि।

चैलकि (चेलक का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (२. ३, १, ३४) में 'जीवल' का पैतृक नामाहै

चोर (चुराने वाला)—यह अपेक्षाकृत एक बाद के ग्रंथ, तैत्तिरीय आरण्यक, के अन्तिम खण्ड (१०. ६५) में ही मिलता है। इसके लिये वैदिक शब्द यह है : *तस्कर*, *तायु*, *स्तेन* और *परिपन्थिन्*।

च्यवतान मारुताश्व ('मरुताश्व' का वंशज)—यह ऋग्वेद[1] की एक दान स्तुति में प्रत्यक्षतः किसी राजा का नाम है। फिर भी इससे दो सर्वथा भिन्न व्यक्तियों का तात्पर्य हो सकता है।

[1] ५. ३३, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १५५।

च्यवन,[1] *च्यवान*[2]—यह दोनों ही एक प्राचीन ऋषि के नाम के विभिन्नरूप है। ऋग्वेद[3] में इसे एक वृद्ध और जराक्रान्त व्यक्ति के रूप में दिखाया गया है, जिसे अश्विनों ने पुनः युवावस्था और शक्ति प्रदान की था तथा इस प्रकार इसे अपनी पत्नी के लिये स्वीकार्य और कन्याओं का पति, बना दिया था।

शतपथ ब्राह्मण[4] में इसकी कथा एक भिन्न प्रकार से दी हुई है, जहाँ *शर्यात* की पुत्री 'सुकन्या' के साथ इसके विवाह का वर्णन है। यहाँ इसे एक भृगु अथवा आङ्गिरस कहा गया है, और ऐसा वर्णन है कि एक तालाब में डुबकी लगाने के कारण—सर्वप्रथम यहीं यह सिद्धान्त मिलता है, जो बाद के प्राच्य साहित्य में अत्यन्त सामान्य है—यह पुनः युवा हो गया था। ऋग्वेद[5] के बाद के एक अस्पष्ट सूक्त में च्यवन के सम्बन्ध में प्रत्यक्षतः भिन्न कथा का ही उल्लेख मिलता है, जहाँ यह इन्द्र के उपासक एक *पक्थ* राजा *तूर्वयाण* का विरोधी और स्वयं अश्विनों से विशेषतः सम्बद्ध प्रतीत होता है। पिशल[6] द्वारा प्रस्तुत इस सूक्त की यह व्याख्या जैमिनीय ब्राह्मण[7] द्वारा पुष्ट होती है जिसमें भृगु के अन्य पुत्र *विदन्वन्त्* द्वारा इन्द्र के विरुद्ध च्यवन की सहायता करने का वर्णन है क्योंकि इन्द्र च्यवन से रुष्ट हो गये थे। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि शतपथ ब्राह्मण,[8] में 'सुकन्या' के परामर्श के अनुसार ही अश्विनगण

[1] यह रूप निरुक्त (४. १९) तक में, और नियमित रूप से ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य सभी वैदिक मूल पाठों, तथा महाकाव्य में मिलता है।

[2] ऋग्वेद में सर्वत्र यही रूप है।

[3] १. ११६, १०; ११७, १३; ११८, ६; ५. ७४, ५; ७. ६८. ६; ७१, ५; १०. ३९, ४।

[4] ४. १, ५, १ और बाद।

[5] १०. ६१, १-३।

[6] वेदिशे स्टूडियन १, ७१-७७; जिसे ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त २, ४६५, ने स्वीकृत किया है।

[7] ३. १२१-१२८; ज० अ० ओ० सो० ११, cxlvi; २६, ४३ और बाद।

[8] ४. १, ५, १३ और बाद।

यज्ञ-भाग ग्रहण करने वालों के रूप में आते हैं। किन्तु इन्द्र और च्यवन में निश्चित रूप से संधि हो गई होगी क्योंकि ऐतरेय ब्राह्मण[९] च्यवन द्वारा इन्द्र महाभिषेक (ऐन्द्रेण महाभिषेकेण) के साथ *शार्यात* के उद्घाटन का वर्णन करता है। पञ्चविंश ब्राह्मण[१०] में च्यवन का सामनों के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

९ ८. २१, ४; पिशल : वे० स्टु० १, ७५।

१० १३. ५, १२; १९. ३, ६; १४. ६, १०; ११. ८, ११।

तु० की० मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २४३. २५०-२५४; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५६; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० ५१, ५२, हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० २६, ४३ और बाद; ट्रा० सा० १५, ५६, ५७।

छ

छग—यह तैत्तिरीय संहिता (५. ६, २२, १) में 'बकरी का नाम है। तु० की० *अज* और *छाग*।

छदिस् का ऋग्वेद[१] में एक बार प्रयोग हुआ है और बाद[२] में भी यह बहुत दुर्लभ नहीं है। यह गाड़ी का ऊपरी आच्छादन, अथवा घर का छाजन, या इसी प्रकार की ही किसी वस्तु का द्योतक है। वेबर[३] का विचार है कि अथर्ववेद[४] के एक स्थल पर यह शब्द किसी तारक-पुञ्ज का द्योतक है; और ह्निट्ने[५] बिना इस बात का निश्चय किये ही कि उक्त व्याख्या आवश्यक है अथवा नहीं, यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि इससे कुम्भ राशि के तारक-पुञ्ज का अर्थ हो सकता है क्योंकि दूसरे ही मंत्र में *विचृतौ* का उल्लेख है जो वृश्चिक राशि के तारक-पुञ्ज का द्योतक है और कुम्भ से बहुत दूर स्थित नहीं होता। *छर्दिस्* भी देखिये।

१ १०. ८५, १० ('सूर्या' के विवाह-रथ का)।

२ तैत्तिरीय संहिता ६. २, ९, ४; १०. ५. ७; वाजसनेयि संहिता ५. २८; ऐतरेय ब्राह्मण १. २९; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, ३, ९, इत्यादि।

३ इन्डिशे स्टूडियन १७, २०८।

४ ३. ७, ३।

५ अथर्ववेद का अनुवाद, ९५। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३३६।

१. *छन्दस्*—ऋग्वेद में यह बहुधा 'प्रशस्ति गीत' अथवा 'सूक्त'[१] का द्योतक है। जैसा कि 'छन्द्' (प्रसन्न करना) क्रिया से निष्पन्न होता है, इस

१ ऋग्वेद १०. ८५, ८ (एक अस्पष्ट मंत्र); ११४, ५; अथर्ववेद ४. ३४, १; ५, २६, ५; ६. १२४, १; ११. ७, ८, इत्यादि।

शब्द का मौलिक आशय सम्भवतः ऐसा 'आकर्षक अभिचार', या 'अभिचारीय सूक्त'[2] था जो देवों को भी वशीभूत कर सकता था। ऋग्वेद[3] के एक बहुत बाद के सूक्त, और साथ ही साथ अथर्ववेद[4] के एक सूक्त में भी, ऋचः, सामानि, और यजुस् के अतिरिक्त इस शब्द का बहुवचन (छन्दांसि) रूप में उल्लेख है, तथा यहाँ यह अपना ऐसा मूल आशय सुरक्षित रखता हुआ भी प्रतीत होता है जिसमें अथर्ववेद के अभिचारीय विषय-वस्तु का सन्दर्भ असम्भव नहीं। ऋग्वेद[5] के एक बहुत बाद के मंत्र में, जिसमें 'गायत्री', 'त्रिष्टुम्', और अन्य सभी (सर्वा) छन्दों (छन्दांसि) का उल्लेख है, इसका एक (छन्द-बद्ध) सूक्त के द्योतक के रूप में 'छन्द' अर्थ हो जाता है। बाद की संहिताओं में तीन,[6] अथवा सात;[7] तथा शतपथ ब्राह्मण[8] में आठ छन्दों की गणना कराई गयी है। ऋग्वेद प्रतिशाख्य[9] के समय तक छन्दों का विस्तृत अध्ययन हो चुका था, यद्यपि बहुत से छन्दों में आने वाले अक्षरों की संख्या के संबंध में अपेक्षाकृत पहले के भी सन्दर्भ मिलते हैं।[10] जैसा कि शतपथ ब्राह्मण[11] में है, बाद में यह शब्द निश्चय ही सामान्य रूप से वैदिक मूलपाठ का द्योतक है।

[2] तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ऋग्वेद १०. ९०, ९।
[4] अथर्ववेद ११. ७, २४।
[5] १०. १४, १६।
[6] अथर्ववेद १८. १, १७; वाजसनेयि संहिता १. २७, इत्यादि।
[7] अथर्ववेद ८. ९, १७. १९, इत्यादि।
[8] ८. ३, ३, ६, इत्यादि।
[9] १६. १ और बाद। तु० की० मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, xcv. और बाद।
[10] काठक संहिता १४. ४; तैत्तिरीय संहिता ६. १, २, ७।
[11] ११. ५, ७, ३। इसी प्रकार गोभिल गृह्य सूत्र ३. ३, ४. १५ इत्यादि।

२. *छन्दस्*, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर विशेषणात्मक यौगिक शब्द 'बृहच्-छन्दस्' में आता है जो 'वट' के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है और जिसका अर्थ 'एक बड़ी छत वाला' होना चाहिये। ब्लूमफील्ड[2] इस पाठ को शुद्ध मानते हैं, किन्तु ह्विटने[3] इसका *छदिस* के रूप में संशोधन आवश्यक समझते हैं।

[1] ३. १२, ३।
[2] अथर्ववेद के सूक्त ३४५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५०।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद १०५।

छन्दो-ग (छन्द-गायन)—यह शब्द सामन के गायकों के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो निःसन्देह इसीलिये कि यह गायन सामवेद के 'छन्दार्चिक' के

अनुसार ही गाये जाते थे। यह केवल शतपथ ब्राह्मण[1], और अक्सर सूत्रों[2] में ही मिलता है।

[1] १०. ५, २, १०।
[2] बौधायन श्रौत सूत्र २. २; २२. ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १०. ८, ३३; १३. १, इत्यादि।
तु० की० औल्डेनबर्ग : गो०, १९०८, ७२०।

छर्दिस्--यह ऋग्वेद[1] में अक्सर, और बाद[2] में भी कभी-कभी आता है तथा एक सुरक्षित आवास-स्थान का द्योतक है। यह शब्द अशुद्ध रूप से लिखा प्रतीत होता है क्योंकि 'छन्द' यह स्पष्ट करता है कि प्रथम अक्षर सदैव लघु होता है। इसी कारण रौथ[3] यह व्यक्त करते हैं कि इसके स्थान पर छदिस पढ़ा जाना चाहिये। किन्तु 'छदिस्' का अर्थ 'छत' है, जब कि 'छर्दिस्' का कहीं भी यह आशय नहीं है। इसीलिये बार्थोलोमाइ[4] यह व्यक्त करते हुये सम्भवतः ठीक प्रतीत होते हैं कि इसका कुछ दूसरा रूप, जैसे 'छडिस्' होना चाहिये।

[1] १. ४८, १५; ११४, ५; ६. १५, ३: ४६, ९. १२, इत्यादि।
[2] तैत्तिरीय संहिता ४. २, ९, २; ३, ६, १; वाजसनेयि संहिता १३. १९; १४. १२
[3] सेन्टपीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; औल्डेनबर्ग : प्रोलिगोमेना, ४७७।
[4] स्टूडियन, १, ४७; २, ५८। तु० की०, वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १, १२, नोट २; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५५, ३१२।

छाग (बकरा) ऋग्वेद[1] में मिलता है, और बाद में भी दुर्लभ नहीं है।[2] देखिये अज और छग।

[1] १. १६२, ३।
[2] वाजसनेयि संहिता १९. ८९; २१. ४०. ४१; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ३, ४; ५. १, ३, १४; मैत्रायणी संहिता ३. ११, २।

ज

जगत् (गतिशील)—कभी-कभी यह अथर्ववेद और बाद में, जंगली पशुओं (श्वपद्) के विपरीत, विशेषतः पालतू पशुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1]

[1] अथर्ववेद ८. ५, ११, इत्यादि।

अक्सर गाय का अलग उल्लेख है, जब कि अन्य सभी पालतू पशु 'जगत्' शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं।[२]

[२] अथर्ववेद १. ३१, ४; १०. १, २९; १९. ४७, १०; वाजसनेयि संहिता ३, ५९। ऋग्वेद में बहुधा इससे सामान्य रूप से पशुमात्र का आशय पर्याप्त है; किंतु तु० की० १. १५७, ५; और ६. ७२, ४ में 'जगती'।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे, लेबेन, १५०, नोट।

जङ्गिड—यह एक उप-शामक गुण वाले पौधे का नाम है जिसका अथर्ववेद[१] के सूक्तों में उल्लेख है। *तक्मन्*, *बलास*, *आशरीक*, *विशरीक*, *पृष्ट्यामय*,[२] वातज पीड़ा और ज्वर, *विष्कन्ध*, *संस्कन्ध*,[३] *जम्भ*, इत्यादि रोगों, अथवा इनके लक्षणों के विरुद्ध, इसका सुरक्षात्मक कवच के रूप में उपयोग होता था। किन्तु इसे सभी व्याधियों के विरुद्ध एक सविशेष औषधि, और शामक गुणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।[४] इसे 'कृषि'[५] के 'रस' द्वारा उत्पन्न कहा गया है, किन्तु इसका केवल इतना ही अर्थ होना चाहिये कि यह कृषित भूमि में उगता था, न कि स्वयं इसकी खेती होती थी। यह नाम किस पौधे का द्योतक है यह सर्वथा अनिश्चित है, क्योंकि बाद के साहित्य में यह लुप्त हो गया है। कौशिक सूत्र में कैलेण्ड[६] इसे Terminalia arjuneya मानते हैं।

[१] २. ४; १९. ३४. ३५।
[२] अथर्ववेद १९. ३४, १०।
[३] अथर्ववेद २. ४, १; १९. ३४, १. ५।
[४] अथर्ववेद १९. ३४, ९. ७।
[५] अथर्ववेद २. ४, ५।
[६] कौशिक सूत्र ८. १५ का अनुवाद करते हुये, आ० त्सा०, १५।

तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४३३; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १४१; गॉल्ड्मैन : वही, ९, ४१७; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६५, ६६, ३९०।

जतू (चमगादड़) अथर्ववेद[१] में आता है, और यजुर्वेद[२] में अश्वमेध के एक बलिप्राणी के रूप में इसका उल्लेख है।

[१] ९. २, २२।
[२] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ६; वाजसनेयि संहिता २४. २५. २६।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८६।

जन—एक व्यक्ति के रूप में 'मनुष्य' के अर्थ में, जिसमें कुछ-कुछ सामूहिकता का भी आशय निहित है, यह शब्द ऋग्वेद और बाद में एक

'जाति' (या कबीले) के लोगों, या 'व्यक्तियों' का द्योतक है। इस प्रकार 'पाँच जातियों (पञ्च जनाः अथवा जनासः) का अक्सर उल्लेख है, और ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में 'यदु के लोग' (याद्व जन) और यदु-गण (याद्वाः) समनार्थी हैं। पुनः, राजा (राजन्) को 'जनों (जनस्य) का रक्षक (गोपा)' कहा गया है,[2] और राजा तथा 'जन' के सम्बन्ध में अन्य सन्दर्भ भी उपलब्ध हैं।[3] भरतों के लोगों (भारत जन) का भी उल्लेख है;[4] परन्तु यहाँ हॉपकिन्स[5] के इस मत से सहमत होने का कोई आधार नहीं है कि इस स्थल पर 'जन' का 'क़बीले के लोगों' से भिन्न, किसी गोत्र या दल (ग्राम) के लोगों का आशय है।

ठीक-ठीक यह कहना अत्यन्त कठिन है कि 'जनों' को किस प्रकार विभाजित किया जाता था। त्सिमर,[6] ऋग्वेद[7] के एक स्थल के आधार पर यह मत व्यक्त करते हैं कि 'जनों' को विशों में, 'विशों' को सम्मिलित परिवारों अथवा गोत्रों में या ग्रामीण समुदायों (ग्राम, वृजन) में, और इन्हें भी पुनः अलग-अलग परिवारों में विभक्त किया जाता था। आपका यह विचार है कि यह चार सूत्रीय विभाजन उक्त स्थल पर मिलने वाले 'जन', 'विश्', 'जन्मन्', और 'पुत्राः' शब्दों द्वारा प्रतिबिम्बित होता है, और इसी आधार पर आप यह मन्तव्य उपस्थित करते हैं कि प्रत्येक ग्राम-समुदाय की, मूलतः परस्पर सम्बन्ध के आधार पर ही, स्थापना होती थी। किन्तु ठीक-ठीक इसी विभाजन पर ज़ोर दिया जाना चाहिये अथवा नहीं, यह अत्यन्त सन्दिग्ध है। 'जन' का अनेक 'विशों' में विभाजन तो सम्भव माना जा सकता है, क्योंकि यह ऋग्वेद[8]

[1] ८. ६, ४६. ४८।

[2] ऋग्वेद ४. ४३, ५। इसी प्रकार सोम को 'गोपति जनस्य' (लोगों का रक्षक) कहा गया है, ऋग्वेद ९. ३५, ५।

[3] ऋग्वेद ५. ५८, ४।

[4] ऋग्वेद ३. ५३, १२। **भरत** भी देखिये तु० की० १०. १७४, ५ = अथर्ववेद १. २९, ६ भी।

[5] रिलीजन्स ऑफ इन्डिया २६, २७। यह सत्य है कि ऋग्वेद ३. ३३, ११, में भरतों को 'गव्यन् ग्रामः' ('लूट का अंश प्राप्त करने के लिये उत्सुक दल) कहा गया है; किन्तु यहाँ 'ग्राम' का एक सर्वसामान्य प्रयोग है। देखिये नोट १०।

[6] आल्टिन्डिशे लेबेन १५९, १६०।

[7] २. २६, ३।

[8] १०, ८४, ५। अनेक अन्य स्थलों पर भी 'विशः' का यही आशय हो सकता है, यथा ४. २४, ४; ५. ६१, १; ६. २६, १; ७. ७९, २; ८. १२, २९— किन्तु इसमें यही आशय निहित रहना आवश्यक नहीं है। किन्तु १०. ९१, २ में 'विश्' और 'जन' में स्पष्ट विभेद किया गया है।

के ही एक अन्य ऐसे स्थल पर उपलब्ध प्रमाण द्वारा पुष्ट होता है जहाँ सैनिकों की टुकड़ी के रूप में 'विश्' का उल्लेख है और इस प्रकार इससे यह व्यक्त होता है कि, जैसा कि होमर के समय तथा प्राचीन जर्मनी में भी था, परस्पर सम्बन्ध सैनिक व्यवस्था का एक उत्कृष्ट सिद्धान्त माना जाता था। किन्तु 'विश्' का अनेक 'ग्रामों' के रूप में और अधिक उप-विभाजन अत्यन्त अनिश्चित है। त्सिमर[९] यह भी स्वीकार करते हैं कि जहाँ युद्ध के लिये प्रयुक्त हुए हैं वहाँ ग्राम[१०] अथवा वृजन[११] दोनों में से किसी का भी विशेष आशय 'विश्' का उप-विभाग नहीं है, क्योंकि यह दोनों शब्द केवल एक सशस्त्र दल के ही द्योतक हैं। आप ग्रा[१२] और ग्राज[१३] शब्दों में भी ग्रामीण-समुदाय की दो अन्य उपाधियाँ देखते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है कि इनमें से प्रथम स्थल पर आशय अत्यन्त सन्दिग्ध है,[१४] और द्वितीय में युद्ध का कोई भी सन्दर्भ नहीं है। अतः यह कह सकना असम्भव है कि वैदिक काल में 'ग्राम' का 'विश्' अथवा परिवार (कुल या गोत्र) के साथ क्या सम्बन्ध था। ग्राम और 'विश्' दोनों के आशयों की अस्पष्टता के कारण यह सन्दिग्धता और भी बढ़ जाती है। यदि 'विश्' को एक स्थानीय विभाजन मान लिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि 'ग्राम' जिले का एक भाग रहा होगा। किन्तु यदि 'विश्' परस्पर सम्बन्धित लोगों की एक इकाई रही हो तब 'ग्राम' के अन्तर्गत अनेक विभिन्न 'विशों' के परिवार भी रहे हो सकते हैं; अथवा यह कभी-कभी 'विश्' के समान ही या उसका एक भाग मात्र ही रहा हो सकता है। किन्तु किसी भी दशा में जाति-व्यवस्था के आरम्भ, तथा राजनैतिक दृष्टिकोण के स्थान पर सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण की स्थापना के फलस्वरूप कालान्तर में मौलिक वस्तुस्थिति अवश्य ही अत्यधिक परिवर्तित हो गई होगी। 'जनों' के विभिन्न तत्त्व परिवार (चाहे एक ही घर में रहने वाले एक परिवार के रूप में (कुल) जो निःसन्देह अक्सर भ्राताओं का सम्मिलित परिवार होता था, अथवा पितृसत्ता-प्रधान ऐसे पुत्रों का परिवार

[९] उ० पु०, १६१। यह भी ऋग्वेद ५. ५३, ११ पर आधारित है, जहाँ मरुतों को 'शर्ध', 'व्रात', और 'गण' में विभक्त किया गया है। किन्तु यह सभी शब्द अस्पष्ट हैं।

[१०] ऋग्वेद ३. ३३, ११। देखिये नोट ५।

[११] ऋग्वेद ७. ३२, २७; १०. ४२, १०।

[१२] ऋग्वेद १. १२६, ५ (विश्या इव व्राः)।

[१३] ऋग्वेद १०. १७९, २ = अथर्ववेद ७. ७२, २।

[१४] तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, १२१, ३१९।

जो अपने पिता के साथ ही रहता था) और गोत्र (जिसके अन्तर्गत ऐसे सभी लोग आ जाते थे जिनके पूर्वज एक ही रहे हों) द्वारा व्यक्त होते थे। मोटे रूप से 'गोत्र' को क्रमशः लैटिन 'जेन्स' और यूनानी 'गेनोस γενος' के समान; 'विश्' को सम्भवतः 'क्युरिया' और 'फ्रेट्रे φρητρη' के समान; और 'जन' को 'ट्राइवस' और 'फुलोन φυλον' अथवा 'फुले φυλη' के समान माना जा सकता है।[15] यही तीनों विभाजन ईरानी समाज के 'विश्', 'ज़न्टु', और 'दक्यु' शब्दों में भी देखे जा सकते हैं, जहाँ 'विश्' का प्रयोग यह व्यक्त करता है कि भारतीय 'विश्' से स्थान की अपेक्षा रक्त पर आधारित सम्बन्ध का अर्थ है; और सम्भवतः टेसिटस के जर्मेनिया[16] में वर्णित प्राचीन जर्मन राजतन्त्र के 'वाइकस', 'पेगस', और 'सिविटस' शब्दों में भी उक्त विभाजन से समानता देखी जा सकती है। ऋग्वेद[17] के एक स्थल पर, जहाँ वर (गृह) का 'जन' और 'विश्' से विभेद स्पष्ट किया गया है, किसी न किसी रूप में परिवार, 'जन' का तृतीय तत्त्व प्रतीत होता है। सम्भवतः एक दूसरा स्थल[18] भी 'अध्वर' अथवा पारिवारिक-यज्ञ का, 'जन' अथवा 'विश' से ही विभेद स्पष्ट करता है, न कि 'ग्राम' और दो वृहत्तर इकाईयों से, जैसा कि त्सिमर[19] का विचार है। किन्तु वैदिक भारतीयों के स्वपक्षार्थानुराग के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण है कि, जब कि राजा एक ऐसी अग्नि प्रज्वलित रखता था जिसे जाति या कबीले भर की पवित्र अग्नि कहा जा सकता है, तब भी राजा के अपने और व्यक्तिगत गृहपति के बीच की किसी मध्यवर्ती अर्चन-पद्धति का कोई भी निश्चित चिह्न[20] प्राप्त नहीं है। राज्य के वास्तविक तत्त्व ठीक उसी प्रकार 'गोत्र' और 'जन' थे, जिस प्रकार अन्ततोगत्वा 'जेन्स' और 'ट्राइवस', 'गेनोस' और 'फुलोन' महत्त्वपूर्ण रह जाते हैं। ऐसा हो सकता है कि कभी-

[15] तु० की० इलियड, २, ३६२।

[16] अध्याय ७। त्सिमर अन्य समीकरण प्रस्तुत करते हैं, जिसके लिये तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३९३ और बाद। फिर भी इनके बिल्कुल ही समानान्तर होने की बात पर ज़ोर नहीं दिया जा सकता।

[17] १०. ९१, २, जहाँ 'जनं जनम्' और 'विशं विशम्' आते हैं, और जहाँ एक विरोधी आशय ही होना चाहिये।

[18] ऋग्वेद ७. ८२, १।

[19] आल्टिन्डिशे लेवेन ४३५।

[20] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १२६।

तु० की० मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १५८; फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ३२, ३३; जौली : त्सी० गे० ५०, ५१२ और बाद।

कभी अपेक्षाकृत प्राचीन ग्रंथों में 'विश्' उसका प्रतिनिधित्व करता रहा हो जो वाद में 'गोत्र' के रूप में प्रचलित हो गया। देखिये *विश्*।

ब्राह्मणकाल में समाज के गठन पर विचार करते समय यह और स्पष्टतया व्यक्त होता है कि जाति अथवा 'जन' के लोगों का इस समय भी अस्तित्व था, और यह बात पहले से ही मान ली गई है; किन्तु 'विश्' के रूप में 'जन' का विभाजन इस समय लुप्त हो गया है। इस काल का वास्तविक विभाजन अलग-अलग जातियों (*वर्ण*) में हुआ है, किन्तु वह अनेक वर्ग जिनमें यह प्रत्येक वर्ण विभाजित किये गये हैं, अंशतः प्राचीन 'गोत्र' पर ही आधारित प्रतीत होते हैं।

२. *जन शार्कराक्ष्य* (*शर्कराक्ष* का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण (१०. ६, १, १ और वाद) और छान्दोग्य उपनिषद् (५. ११, १; १५, १) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है। यह *अश्वपति कैकेय* और *अरुण औपवेशि* तथा उसके पुत्र *उद्दालक आरुणि* का समकालीन था।

जनक—'विदेह' का यह राजा शतपथ ब्राह्मण[1] और बृहदारण्यक उपनिषद्[2], और साथ ही साथ जैमिनीय ब्राह्मण[3] और कौषीतकि उपनिषद्[4] में विशेषरूप से प्रख्यात है। यह *याज्ञवल्क्य वाजसनेय*,[5] *श्वेतकेतु आरुणेय*, और अन्य ऋषियों का समकालीन था।[6] अपनी उदारता, और चरम सत्य के रूप में ब्रह्म सम्बन्धी वाद-विवाद में अभिरुचि के कारण यह काशि[7] के *अजातशत्रु* के जीवन काल में, अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया था। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इसका कुरु-पञ्चाल ब्राह्मणों, जैसे याज्ञवल्क्य और श्वेतकेतु आदि से, घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता था; क्योंकि यह तथ्य यह व्यक्त करता है कि उपनिषद्-दर्शन का गृह कुरु-पञ्चाल देश में ही था न कि पूर्व में। शतपथ ब्राह्मण[8] में एक कथन है कि यह ब्राह्मण (ब्रह्मा) हो गया था। फिर भी, यह कथन जाति-परिवर्त्तन का द्योतक नहीं है, वरन् इससे केवल इतना ही व्यक्त

[1] ११. ३, १, २; ४, ३, २०; ६, २, १ और वाद।

[2] ३. १, १; ४. १, १; २, १; ४, ७; ५. १४, ८।

[3] १. १९, २ (ज० अ० ओ० सो०, २३, ३२९); २. ७६ (वही, १५, २३८)।

[4] ४. १।

[5] शतपथ ब्राह्मण ११. ३, १, २; ४, ३, २०; बृहदारण्यक उपनिषद् उ० स्था०; जैमिनीय ब्राह्मण उ० स्था०।

[6] शतपथ ब्राह्मण ११. ६, २, १ और वाद।

[7] कौषीतकि उपनिषद् उ० स्था०; बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, १।

[8] ११. ६, २, १०।

होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में यह ब्राह्मण हो गया था (देखिये क्षत्रिय)। बाद के ग्रंथों में भी अक्सर 'जनक' का उल्लेख है : तैत्तिरीय ब्राह्मण[९] में यह सर्वथा पौराणिक हो गया है; शाङ्खायन श्रौतसूत्र[१०] में एक 'सप्त-रात्र' (सात रातों का संस्कार) इसे ही आरोपित है।

अजातशत्रु का समकालीन होने, और 'अजातशत्रु' तथा पालि ग्रन्थों[११] के 'अजातसत्तु' के समीकरण के आधार पर जनक का काल-निर्धारण करने का प्रयास स्वाभाविक है, और यह तथ्य जनक का समय छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व का उत्तरार्ध निश्चित करता है।[१२] किन्तु उक्त समीकरण की पुष्टि की जाय या नहीं यह अत्यन्त सन्दिग्ध है, क्योंकि 'अजातशत्रु' काशि का राजा था, जब कि 'अजातसत्तु' मगध का, और काशि के साथ इसके सम्बन्ध का एकमात्र आधार केवल कोसल के 'पेसेनदि' की पुत्री से इसका विवाह मात्र था।[१३] इसके अतिरिक्त इस तिथि-क्रम को स्वीकार कर लेने पर भी विचार-दर्शन के विकास के इतिहास के साथ इसका समन्वय कठिन हो जायगा; क्योंकि इस दशा में बौद्धमत का आविर्भाव उपनिषदों का समसामयिक हो जायगा, जब कि यह अपेक्षाकृत निश्चित सा है कि पुराने उपनिषद् बौद्धमत के पहले के हैं।[१४] इसके अतिरिक्त वैदिक संहितायें न तो किसी बिम्बसार अथवा पसेनदि से ही परिचित हैं और न बौद्ध-ग्रन्थों में प्रचिलित किसी अन्य राजा के सम्बन्ध में ही कुछ जानती हैं।

विदेह के जनक, और सीता के पिता के बीच समीकरण[१५] स्थापित करने के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत कम आपत्ति है; किन्तु इसे भी सिद्ध नहीं किया जा सकता और यह कुछ सन्दिग्ध ही है। सूत्रों में जनक एक प्राचीन राजा

[९] ३. १०, ९, ९।
[१०] १६. २६, ७।
[११] विन्सेन्ट स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, २६ और बाद।
[१२] हार्नले : ऑस्टिऔलोजी, १०६।
[१३] रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, ३ और बाद।
[१४] देखिये, यथा : फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, २४३; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर २२४; ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स, पृ० २३ और बाद; कीथ : ऐतरेय आरण्यक २५, २९।
[१५] तु० कौ० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १३५; फॉन श्रोडर : उ० पु० १८९; मैकडौनेल : उ० पु० २१४।

के रूप में आते हैं, जो ऐसे समय से परिचित थे जब पत्नी का सम्मान बाद की अपेक्षा कम आदरित था।[56]

[56] जौली : रेख़्त उन्ट सिट्टे, ४८। तु० की० मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४२६ और बाद; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४२१ और बाद; फ़ॉन श्रोडर : उ० पु० १८७-१८९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, १७५, २३१; ओल्डेनबर्ग : बुद्ध ३१, नोट, जो कि उपनिषदीय विचारों के प्रवर्त्तकों के नाम को बहुत अधिक महत्त्व देने की कठिनाई पर उचित रूप से बहुत ज़ोर देते है।

जनता—एक ऐसा शब्द है जो बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में अक्सर मिलता है। यह एक समुदाय (तु० की० *सभा*) अथवा एक धार्मिक इकाई के रूप में लोगों (व्यक्तियों) का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. २, १, ४; ६, ४; ३, ४, २; काठक संहिता ११. १७; अथर्ववेद ५. १८, १२, इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ४, ६, १; २. ३, १, ३; ऐतरेय ब्राह्मण १. ७. ९; ३. ३१; ५. ९, इत्यादि।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १३, १५३, नोट।

जन-पद—ब्राह्मणों में यह 'राजा' के विपरीत सामान्य 'लोगों'[1] का, और 'भूमि' अथवा 'प्रदेश'[2] का द्योतक है। 'प्रजाजन', विशेषणात्मक शब्द 'जानपद'[3] द्वारा भी व्यक्त होते हैं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४ (बहुवचन); शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, १७।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ३, ९, ९; बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, २०; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ५; ८. १, ५।

[3] शतपथ ब्राह्मण १४. ५, १, २०।

१. जनम्-एजय, एक *पारिक्षित*[1] राजा का नाम है जो ब्राह्मण-काल के उत्तरार्ध में प्रख्यात हुआ था। शतपथ ब्राह्मण[2] में ऐसे अश्वों के स्वामी के रूप में, जिन्हें थक जाने पर पुनः शक्ति अर्जित करने के लिये मीठे पेय दिये जाते थे, और अश्वमेध[3] करनेवाले के रूप में, इसका उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[4] में 'उद्धृत' गाथा, और ऐतरेय ब्राह्मण[5] के अनुसार इसकी राजधानी *आसन्दीवन्त्* थी। *उग्रसेन*, *भीमसेन*, और *श्रुतसेन* आदि इसके भ्राताओं

[1] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, १ और बाद; ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३४; ८. ११. २१; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. ८, २७, इत्यादि।

[2] ११. ५, ५, १३।

[3] १३. ५, ४, १-३।

[4] १३. ५, ४, २।

[5] ८. २१।

के अश्वमेध द्वारा पापमुक्त होने का उल्लेख है। इसका यज्ञ सम्पन्न कराने वाले पुरोहित का नाम *इन्द्रोत दैवापि शौनक*[६] था। इसके विपरीत ऐतरेय ब्राह्मण[७], जिसमें भी इसके अश्वमेध का उल्लेख है, इसके पुरोहित का नाम *तुर कावषेय* बताता है। इसी ग्रंथ में एक अस्पष्ट सी कथा यह भी है कि अपने एक यज्ञ के समय इसने *कश्यपों* को न नियुक्त करके *भूतवीरों* को नियुक्त किया था, किन्तु *असितमृगों* के समझाने पर पुनः कश्यपों को ही रख लिया।[८] यह एक कुरु राजा था; देखिये *परिक्षित्*। गोपथ ब्राह्मण[९] इसके सम्बन्ध में एक निरर्थक कथा कहता है जिसमें इसे प्रत्यक्षतः एक प्राचीन योद्धा के रूप में दर्शाया गया है।

[६] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, १; शाङ्खायन श्रौतसूत्र, उ० स्था०।
[७] ८. २१। तु० की० ४. २७; ७. ३४।
[८] ७. २७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २०४; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], ४३८, नोट २२९; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३४५, नोट।
[९] १. २, ५।

तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, १२३-१२५; १३४-१३६; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ३७, ६५ और बाद; ४२, २३९; पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, २८ और बाद।

२. *जनम्-एजय*—पञ्चविंश ब्राह्मण[१] में यह एक पुरोहित का नाम है, जिसने सर्प-यज्ञ सम्पन्न कराया था।

[१] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

जन-श्रुत (मनुष्यों में प्रख्यात) *काण्ड्विय*—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में यह *हृत्स्वाश्य* के एक शिष्य का, और इसी ब्राह्मण में (३. ४१, १; ४. १७, १) *जयन्त* के शिष्य 'वारक्य' के एक शिष्य का नाम है। तु० की० *जानश्रुति*।

जनि, जनी—यह दोनों ही शब्द 'पत्नी' के द्योतक प्रतीत होते हैं जो सामान्यतया *पति* से उसके सम्बन्ध के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुये हैं। इनमें 'नारी' मात्र का अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत आशय सन्दिग्ध है; क्योंकि जब 'उषस्' को एक सुन्दर 'जनी'[१] कहा गया है तो उससे एक 'पत्नी' का आशय हो सकता है, और इसी आशय के लिए डेलब्रुक[२] द्वारा एक अन्य स्थल[३] पर

[१] ऋग्वेद ४. ५२, १।
[२] डी० व० ४१३।
[३] ५. ६१, ३।

भी जहाँ सन्तान उत्पन्न करने का सन्दर्भ है, 'पत्नियों' का ही आशय आवश्यक माना गया है। यतः यह शब्द सामान्यतया बहुवचन में ही आते हैं,[४] अतः ऐसा सम्भव है कि यह विशिष्टतः 'पत्नियों' के नहीं वरन् 'रखेलियों' के वाचक हों। फिर भी, यह असम्भव है; क्योंकि ऋग्वेद[५] में 'पत्युर् जनित्वम्' वाक्पद का, जो एक 'पति की पत्नी' का द्योतक है, तथा 'जनयो न पत्नीः'[६] वाक्पद के (पत्नी की भाँति स्त्रियाँ)[७] प्रयोग तो हैं ही, इनके अतिरिक्त अन्य स्थल भी हैं जहाँ इन शब्दों का विवाह से सन्दर्भ है।[८] एकवचन रूप 'यम' और 'यमी' के वार्तालाप में आता है।[९]

[४] १. ८५, १; ४. ५, ५; १९, ५; ७. १८, २; २६, ३; ९. ८६, ३२; वाजसनेयि संहिता १२. ३५; २०. ४०. ४३, इत्यादि। तु० की० ऋग्वेद १०. ४३, १। १०. ११०, ५ में यह वाक्पद 'पतिभ्यो न जनयः' है, जहाँ दोनों बहुवचन जातिवाचक हो सकते हैं।

[५] १०. १८, ८। तु० की० ८. २, ४२ में 'जनित्वन'।

[६] १. ६२, १०; १८६, ७।

[७] आशय का विभेद संम्भवतः यह था: 'जनि' का सन्तान उत्पन्न करनेवाली के रूप में 'पत्नी' का अर्थ था ('जन्', जनना से), जब कि 'पत्नी' का अर्थ ऐसी 'पत्नी' था जो 'गृह स्वामिनि' ('पति', स्वामी का स्त्रीलिंग) होती थी।

[८] ५. ६१, ३। इसी प्रकार १०. ४०, १० में इस शब्द द्वारा निश्चित रूप से विवाह का सन्दर्भ है।

[९] १०. १०, ३।

जनितृ[१] और *जनित्री*[२], ऋग्वेद और बाद में बहुधा आनेवाले शब्द हैं जो 'सन्तान उत्पन्न करनेवाले' और 'सन्तान धारण करनेवाले' के रूप में क्रमशः 'पिता' और 'माता' के लिये प्रयुक्त हुये हैं। देखिये *पितृ*, *मातृ*।

[१] ऋग्वेद १. १२९, ११; १६४, ३३; ३. १, १०; ५४, ९, इत्यादि; अथर्ववेद ४. १, ७; वाजसनेयि संहिता १९. ८७, इत्यादि।

[२] ऋग्वेद ३. ४८, २; ५४, १४; अथर्ववेद ६. ११०, १३; ९. ५, ३०, इत्यादि।

जन्तु—इसके द्वारा 'मनुष्य' के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य आशय के अतिरिक्त, कुछ स्थलों[१] पर 'अनुगामी' अथवा 'प्रजा' का अपेक्षाकृत सीमित आशय भी है। *श्वैतरेय*[२] के अनुगामियों' की '*तृणस्कन्द* की प्रजा (विशः)'[३] से तुलना की जा सकती है।

[१] ऋग्वेद १. ९४, ५; १०. १४०, ४।

[२] ऋग्वेद ५. १९, ३।

[३] ऋग्वेद १. १७२, ३।

जन्मन्—ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर इसका आशय 'सम्बन्धीजन' प्रतीत होता है, जिनमें से दूसरे स्थल पर यह सामूहिक रूप से प्रयुक्त हुआ है।

[1] ३. १५, २; २. २६, ३ (जहाँ 'जनेन', 'विशा', 'जन्मना', 'पुत्रैः' क्रम है)। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १६०, और देखिये **जन** और **विश्**।

जन्य—ऋग्वेद (४. ३८, ६) और अथर्ववेद (११. ८, १) में इससे 'कन्यापक्ष के लोगों' का विशेष आशय है।

जबाला—छान्दोग्य उपनिषद् (४. ४, १. २. ४) में यह *सत्यकाम* नामक एक अवैध पुत्र की माता का नाम है।

जम्य—अथर्ववेद[1] में यह एक अन्न-नाशक कीड़े का द्योतक है।

[1] ६. ५०, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २३७

जमद्-अग्नि ऋग्वेद के कुछ-कुछ पौराणिक प्रतीत होनेवाले ऋषियों में से एक है और इस ग्रंथ में इसका बहुधा उल्लेख है। कुछ सूक्तों[1] में इसका नाम इस रूप में आता है जैसे यह उन सूक्तों का प्रणेता ही हो; एक वार[2] यह इसी रूप में *विश्वामित्र* से सम्बद्ध है। अन्य स्थलों[3] पर केवल इसका उल्लेख मात्र है, और 'जमदग्नियों' का केवल एक बार[4] उल्लेख है। अथर्ववेद,[5] और साथ ही साथ यजुर्वेद संहिताओं[6] तथा ब्राह्मणों[7] में यह बहु-प्रयुक्त व्यक्तित्व है। यहाँ यह विश्वामित्र[8] के एक मित्र तथा *वसिष्ठ* के एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आता है[9]। इसकी समृद्धि का कारण इसका 'चतूरात्र' (चार रात्रियों का

[1] ऋग्वेद ३. ६२, १८; ८. १०१, ८; ९. ६२, २४; ६५, २५।

[2] ऋग्वेद १०. १६७, ४।

[3] ऋग्वेद ७. ९६, ३; ९. ९७, ५१।

[4] ऋग्वेद ३. ५३, १५. १६।

[5] २. ३२, ३ (तु० की० तैत्तिरीय आरण्यक ४. ३६; मन्त्र ब्राह्मण २. ७, १); ४. २९, ३; ५. २८, ७; ६. १३७, १; १८. ३, १५. १६।

[6] तैत्तिरीय संहिता २. २, १२, ४; ३. १, ७, ३; ३, ५, २; ५. २, १०, ५; ४, ११, ३; मैत्रायणी संहिता २. ७, १९; ४. २, ९; काठक संहिता १६. १९; २०. ९; वाजसनेयि संहिता ३. ६२; १३. ५६।

[7] पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ४, १४; १३. ५, १५; २१. १०, ५-७; २२. ७, २; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १६; शतपथ ब्राह्मण १३. २, २, १४; तैत्तिरीय आरण्यक १. ९, ७; बृहदारण्यक उपनिषद् २. २, ४; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ३, ११; ४. ३, १, इत्यादि।

[8] तैत्तिरीय संहिता ३. १, ७, ३; ५. ४, ११, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ५, १५।

[9] तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था०।

संस्कार) था और इसी से इसका परिवार भी अत्यन्त सफल हुआ था।[10] अथर्ववेद[11] में जमदग्नि को *अत्रि* और *कण्व*, तथा साथ ही साथ *असित* और *वीतहव्य* से भी सम्बद्ध किया गया है। *शुनःशेप* के प्रस्तावित यज्ञ के लिये यह अध्वर्यु पुरोहित था।[12]

[10] पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १०, ५-७।
[11] २. ३२, ३; ६. १३७, १।
[12] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १६।
तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५३, ५४; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३१९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ९५।

जम्भ, अथर्ववेद में दो वार किसी व्याधि, अथवा व्याधि के दैत्य के नाम के रूप में आता है। एक स्थल[1] पर *जङ्गिड* पौधे द्वारा इसका उपचार होना सम्भव कहा गया है; दूसरे स्थल[2] पर 'संहनुः' (जबड़ों को जकड़ देनेवाला) के रूप में इसका वर्णन है। बेवर[3] ने कौशिक सूत्र[4] के आधार पर यह तर्क उपस्थित किया है कि यह बालकों की कोई पीड़ात्मक व्याधि, सम्भवतः दाँत निकलने के समय की पीड़ा है। ब्लूमफील्ड[5] इसका अर्थ 'उत्कम्पात्मक दौरा' मानते हैं, जब कि कैलेण्ड[6] के विचार से यह 'धनुर्वात' है। व्हिटने[7] का निर्णय है कि यह 'जबड़े जकड़ जाना' अथवा 'उत्कम्पात्मक दौरा' है।

[1] २. ४, २।
[2] ८. १, १६।
[3] इन्डिशे स्टूडियन १३, १४२।
[4] ३२. १।
[5] अथर्ववेद के सूक्त २८३।
[6] त्सी० गे० ५३, २२४; आ० त्सा० १०३।
[7] अथर्ववेद का अनुवाद ४२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३९२।

जम्भक—एक दैत्य के नाम के रूप में, जो सम्भवतः *जम्भ* उत्पन्न करनेवाले दैत्य के समतुल्य ही है, इसका वाजसनेयि संहिता[1] और शाङ्खायन आरण्यक[2] में उल्लेख है।

[1] ३०. १६।
[2] १२. २५। तु० की० कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ६७, नोट ७।

जयक लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *यशस्विन् जयन्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

जयन्त—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में यह अनेक गुरुओं का नाम है :

(क) जयन्त पाराशर्य (*पराशर* का वंशज) का *विपश्चित्* के शिष्य के रूप में एक वंश (गुरुओं की तालिका)[1] में उल्लेख है।

[1] ३. ४१, १।

(ख) जयन्त वारक्य ('वरक' का वंशज) भी उक्त वंश[1] में ही कुबेर वारक्य के शिष्य के रूप में आता है (यहीं इसके दादा का भी कंस वारक्य के शिष्य के रूप में उल्लेख है ।

(ग) सुयज्ञ शाण्डिल्य का शिष्य एक 'जयन्त वारक्य', जो सम्भवतः उपरोक्त (ख) के समतुल्य है, एक दूसरे वंश[2] में मिलता है ।

(घ) जयन्त, यशस्विन् लौहित्य[3] का एक नाम है ।

दक्ष जयन्त लौहित्य भी देखिये ।

[2] ४. १७, १ ।
[3] ३. ४२, १ । न केवल नाम का स्वरूप ही बहुत बाद का है (तु० की० ह्विटने : संस्कृत ग्रामर, १२०९d, और मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर १९१d), वरन् वह उपनिषद् भी, जिसमें यह मिलता है, बाद का ही है ।

जरा-बोध—ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आने वाले इस शब्द का अर्थ सन्दिग्ध है । लुडविग[2] इसे एक द्रष्टा का नाम मानते हैं । रौथ[3] इसे केवल एक विशेषण मानते हैं जिसका अर्थ 'प्रार्थना के लिये सम्मिलित होना' है, और कदाचित यही इसकी सर्वसम्भाव्य व्याख्या है । फिर भी औल्डेनबर्ग[4] का विचार है कि यह शब्द एक व्यक्तिवाचक नाम है जिसका शब्दार्थ 'वृद्धावस्था में भी क्षिप्र और 'तत्पर' है ।

[1] १. २७, १० ।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३. १०३ ।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० । तु० की० निरुक्त १०. ८ ।
[4] ऋग्वेद-नोटेन, १, २३ । आप अथर्ववेद ५. ३०, १० के 'ऋषी बोध-प्रतीबोधौ' की तुलना करते हैं ।

जरायु—अथर्ववेद[1] में केवल एक बार 'सर्प-चर्म' के आशय में मिलता है । सामान्यतया[2] यह भ्रूण के आन्तरिक वेष्ठन (उल्वा) के विपरीत उसके ऊपरी वेष्ठन का द्योतक है ।

जीवित वस्तुओं को अक्सर उनकी उत्पत्ति-पद्धति के आधार पर वर्गीकृत किया गया है । छान्दोग्य उपनिषद्[3] में इन्हें इस प्रकार विभाजित किया गया है : (क) 'आण्ड-ज' (अण्डे से उत्पन्न); (ख) 'जीव-ज,' (जो

[1] १. २७, १ ।
[2] ऋग्वेद ५. ७८, ८; अथर्ववेद १. ११, ४; ६. ४९, १; ९. ४, ४; तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ६, ३; वाजसनेयि संहिता १०. ८; १९. ७६; ऐतरेय ब्राह्मण १. ३; शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, ११, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १९, २, इत्यादि ।
[3] ६. ३, १ ।

जीवित अथवा गर्भाशय से जन्मे हों); (ग) 'उद्भिज्-ज' (अङ्कुर द्वारा उत्पन्न)। ऐतरेय आरण्यक[४] में यह विभाजन चारसूत्रीय है : (क) 'आण्ड-ज'; (ख) 'जारु-ज', अर्थात् 'जरायु-ज' (जो अथर्ववेद[५] में मिलता है, और यहाँ बौटलिङ्क[६] द्वारा व्यर्थ में ही पढ़ा गया है); (ग) 'उद्भिज्-ज'; और (घ) 'स्वेद-ज' अर्थात् स्वेद से उत्पन्न, जिसकी 'कीटाणुओं' के रूप में व्याख्या की गई है।

[४] २. ६।
[५] १. १२, १।
[६] देखिये, जैमिनीय ब्राह्मण २. ४३०, ६ में 'जारु'। तु० की० ड्यूसन : फिलॉसफी ऑफ दि उपनिषद्स १९६, २९२; कीथ : ऐतरेय आरण्यक २३५।

१. *जरितृ*—प्रशस्ति सूक्तों के गायक अथवा उपासक के लिये यह नियमित रूप से ऋग्वेद[१] और अक्सर बाद[२] में प्रयुक्त हुआ है।

[१] १. २, २; १६५, १४; २. ३३, ११; ३. ६०, ७, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद ५. ११, ८; २०. १३५, १, इत्यादि।

२. *जरितृ*—सीग[१] के अनुसार ऋग्वेद[२] के एक सूक्त में 'शार्ङ्गों' में से एक 'जरितृ' का उल्लेख है। यह सूक्त महाकाव्य[३] की परम्परा के उस ऋषि 'मण्डपाल' के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है जिसने 'जरिता' नामक एक मादा 'शार्ङ्ग' पक्षी—प्रत्यक्षतः एक मादा गौरैया (चटका)—के साथ विवाह कर उससे चार पुत्र उत्पन्न किये थे। इसके द्वारा इन पुत्रों का परित्याग कर दिये जाने तथा इनके लिये दावानल में भस्म हो जाने का संकट उपस्थित हो जाने पर इन्होंने (पुत्रों ने) ऋग्वेद १०. १४२ सूक्त द्वारा अग्नि की स्तुति की थी। यह व्याख्या अत्यन्त सन्दिग्ध है, यद्यपि सायण[४] इसे ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं।

[१] सा० ऋ० ४४ और बाद।
[२] १०. १४२।
[३] महाभारत १. २२२, १ और बाद।
[४] ऋग्वेद १०. १४२, ७. ८ पर।

जरूथ, जिसका ऋग्वेद[१] के तीन स्थलों पर उल्लेख है, अग्नि द्वारा पराजित एक दानव का द्योतक प्रतीत होता है।[२] फिर भी, लुडविग, जिनका ग्रिफिथ[३] ने भी अनुसरण किया है, इसमें एक ऐसे शत्रु का आभास देखते हैं

[१] ७. १, ७; ९, ६; १०. ८०, ३।
[२] रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०: निरुक्त ६. १७।
[३] ऋग्वेद के सूक्त २. ११, नोट।

जिसका उस युद्ध में वध किया गया था जिसमें ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के परम्परानुसार प्रणेता वसिष्ठ, पुरोहित थे।

जर्तिल (जंगली 'तिल', साराल) का, तैत्तिरीय संहिता (५. ४, ३, २) में यज्ञ में आहुति देने के लिये अनुपयुक्त होने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (९. १, १, ३) में तिल में, कृषि का गुण (यथा, खाद्य पदार्थ होने का गुण) और जंगल में स्वतः उगने का गुण (क्योंकि यह अकृपित भूमि में उत्पन्न होता है), इन दोनों का सन्निवेश बताया गया है।

जर्वर, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्पोत्सव के समय गृहपति था।

[1] २५. १५, ३। तु० की० : वेवर : इन्डिशे स्टूडियन; १, ३५।

जल जातूकर्ण्य ('जातूकर्ण' का वंशज) का तीन जाति अथवा काशि, विदेह, और कोसल के राजाओं के पुरोहित का पद प्राप्त कर लेनेवाले के रूप में, शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१६. २९, ६) में उल्लेख है।

जलाश-भेषज (जिसका उपचार 'जलाष' है) ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में रुद्र की एक उपाधि है। अथर्ववेद[3] के एक सूक्त में 'जालाष' शब्द आता है, जहाँ यह कदाचित एक शोथ या फोड़े के उपचार का द्योतक है।[4] इस स्थल के भाष्यकार, और कौशिक सूत्र[5] 'जालाष' को 'मूत्र' के आशय में ग्रहण करते हैं जो इसकी एक सम्भव व्याख्या प्रतीत होती है।[6] किन्तु गेल्डनर[7] का विचार है कि वर्षा के जल को ही 'मूत्र' के अर्थ में ग्रहण किया गया है। नैघण्टुक[8], 'जलाष' और 'उदक' (जल) में समीकरण स्थापित करता है।

[1] १. ४३, ४; ८. २९, ५।

[2] २. २७, ६। (एक बहुत बाद की कृति) नीलरुद्र उपनिषद् ३, में भी यह मिलता है, और एक विशेषण के रूप में 'जलाष' ऋग्वेद २. ३३, ७; ८. ३५, ६ में आता है।

[3] ६. ५७।

[4] ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३२१ और बाद, अथर्ववेद के सूक्त ४८९।

[5] ३१, ११।

[6] ब्लूमफील्ड : अ० फा० १२, ४२५ और बाद।

[7] वेदिशे स्टूडियन ३, १३९, नोट २।

[8] १. १२।

तु० की० ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद ३२३, ३२४; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ७६, ७७; हॉपकिन्स : प्रो० सो० १८९४, cl।

जष—यह अथर्ववेद[1] और तैत्तिरीय संहिता[2] में किसी जलीय पशु अथवा

[1] ११. २, २५। इसके अनेक पाठ हैं, यथा : 'झष', 'जख', 'जघ'।

[2] ५. ५, १३, १।

मछली का नाम है। तैत्तिरीय संहिता का भाष्यकार 'मकर' के रूप में इसकी व्याख्या करता है, जिसका अर्थ कदाचित 'डोल्फिन' (बड़े आकार का समुद्री मत्स्य) है। गोपथ ब्राह्मण[3] में भी यह शब्द आता है। तु० की० मप।

[3] २. २, ५।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ९६; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ६२४।

जहका का यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में उल्लेख है। सायण[2] का विचार है कि इसका अर्थ विवर में रहनेवाला शृगाल है (विल-वासी क्रोष्टा)।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १८, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १७; वाजसनेयि संहिता २४. ३६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ८६।
[2] तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था० पर।

जह्नु केवल बहुवचन में *शुनःशेप* की कथा में आता है। यहाँ शुनःशेप के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसने 'देवरात' के रूप में जह्नुओं का आधिपत्य और गाथिनों का दिव्य गायन, दोनों ही प्राप्त किया था।[1] पञ्चविंश ब्राह्मण[2] के अनुसार एक *जाह्नव* अथवा 'जह्नु' का वंशज *विश्वामित्र* था, जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसने 'चतू-रात्र' अथवा चार रात्रियों के संस्कार द्वारा *वृचीवन्तों* के साथ जह्नुओं के संघर्ष में जह्नुओं के लिये उनका राज्य प्राप्त कर लिया था। यहाँ इसका एक राजा के रूप में वर्णन किया गया है। पुनः ऐतरेय ब्राह्मण[3] में विश्वामित्र को 'राजपुत्र' और 'भरतर्षभ' के रूप में सम्बोधित किया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि चाहे संहिताओं में न हो किन्तु ब्राह्मणों में आरम्भ की दृष्टि से इसे एक पुरोहित और राजा दोनों ही माना गया है; यद्यपि यहाँ इसे एक ऐसा राजा मानने के लिये कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है जिसने ब्राह्मणत्व अर्जित कर लिया था जैसा कि बाद के ग्रंथों[4] में इसके सम्बन्ध में माना गया है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८ (जह्नूनां चाधिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम्); आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. १४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २७ (पृ० १९५, हिलेब्रान्ट का संस्करण, जहाँ पाठ भिन्न है और आशय भी बदल गया है : जह्नूनां चाधितस्थिरे दैवे वेदे च गाथिनः।' यहाँ दोनों 'च' का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः मूल पाठ अवश्य अशुद्ध है।)
[2] २१. १२। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५४, जो इस स्थल की, जिसे सायण ने गलत समझा है, शुद्ध व्याख्या करते हैं।
[3] ७. १७, ६. ७।
[4] म्यूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ३३७ और बाद।

ऋग्वेद[५] में भी एक 'जह्नावी' का दो बार उल्लेख, जो या तो जह्नु की पत्नी, अथवा, जैसा कि सायण का विचार है, जह्नु की जाति का द्योतक है। स्पष्टतः यह परिवार किसी समय काफी बड़ा रहा होगा जो बाद में 'भरतों' में विलीन गया।

[५] १. ११६, १९; ३. ५८, ६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५३।

जात-शाकायन्य ('शाक' का वंशज) का संस्कारों के एक अधिकारी और *शङ्ख* के समकालीन होने के रूप में काठक संहिता (२२·७) में उल्लेख है।

जात-रूप (जातीय सौन्दर्य से युक्त) बाद के ब्राह्मणों[१] और सूत्रों[२] में 'स्वर्ण' का नाम है।

[१] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १२ (जातरूप-मय, 'स्वर्ण का बना हुआ'); बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, २५; नैघण्टुक १. २।

[२] 'रजत-जातरूपे', अर्थात् 'रजत और स्वर्ण', लाट्यायन श्रौत सूत्र १. ६, २४। तु० की० ८. १, ३; कौशिक सूत्र १०. १६; १३. ३, इत्यादि; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. १९, ९।

जाति, जो कि पालि[१] ग्रन्थों में जाति का द्योतक शब्द है। आरम्भिक वैदिक साहित्य में बिलकुल नहीं आता। जहाँ यह मिलता भी है, जैसा कि कात्यायन श्रौतसूत्र[२] में है, वहाँ इसमें केवल 'परिवार' (जिसके लिये तु० की० *कुल*, *गोत्र*, और *विश्*) का ही आशय निहित है। जाति के विकास पर पारिवारिक पद्धतियों के प्रभाव के लिये देखिये *वर्ण*। जैसा सेनार्ट[३] का मत है, यह मानना कि यह जाति का आधार था, कठिन है, क्योंकि बाद में पारिवार के लिये, और परिवार पर ज़ोर देने वाले, भिन्न शब्द मिलते हैं।[४]

[१] फिक : डी० ग्ली०, २२, नोट ४।

[२] १५. ४, १४। इसी प्रकार २०. २, ११, इत्यादि में 'जातीय'।

[३] ल० इ०।

[४] फिक : उ० पु०, २; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ५१, २६७ और बाद।

जातू-कर्ण्य (जातूकर्ण का वंशज) अनेक व्यक्तियों का पैतृक नाम है।

(क) काण्व शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद्[१] के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *आसुरायण* और *यास्क* का एक शिष्य यह नाम धारण करता है। माध्यन्दिन शाखा[२] में यह *भारद्वाज* का शिष्य है।

[१] २. ६, ३; ४. ६, ३।

[२] २. ५, २१; ४. ५, २७।

(ख) शाङ्खायन आरण्यक[3] में एक 'कात्यायनी-पुत्र' यह नाम धारण करता है।

(ग) कौषीतकि ब्राह्मण[4] में *अलीकयु वाचस्पत्य*, तथा अन्य ऋषियों के समकालीन के रूप में एक 'जातूकर्ण्य' का उल्लेख है।

(घ) सूत्रों[5] में 'जातूकर्ण्य' बहुधा ऐसे गुरुओं का पैतृक नाम है जिनका परिचय निश्चित नहीं है। यहाँ एक ही अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से अर्थ हो सकता है।

[3] ८. १०।

[4] २६. ५ (लिन्डर्स के इन्डेक्स, १५९, मे 'जातुकर्ण्य' मुद्रण की अशुद्धि है)।

[5] ऐतरेय आरण्यक ५. ३, ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १. २, १७; ३. १६, १४; २०, १९; १६. २९, ६ (जल); कात्यायन श्रौत सूत्र ४. १, २७; २०. ३, १७; २५. ७, ३४, इत्यादि।

तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर १३८-१४०।

जातू-ष्ठिर ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है जहाँ सायण और लुडविग[2] इस शब्द की एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में व्याख्या करते हैं। रौथ[3] इसका एक विशेषण के रूप में 'स्वभावतः शक्तिशाली'[4] अनुवाद करते हैं।

[1] २. १३, ११।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५२।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० (२. २३, ११, का त्रुटिपूर्ण सन्दर्भ संकेत करते हुये)।

[4] ग्रासमैन : वर्टरबुख, में इसी प्रकार इस शब्द की 'स्वभावतः अथवा जन्म से शक्तिशाली' (जातू) के रूप में व्याख्या करते हैं।

जान ('जन' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में, और प्रत्यक्षतः शाट्यायनक[2] में भी, *वृश* का पैतृक नाम है।

[1] १३. ३, १२।

[2] ऋग्वेद ५. ५ पर सायण में।

तु० की० बृहद्देवता, ५, १४ और बाद, पर मैकडौनेल की टिप्पणी सहित; सीग : सा० ऋ० ६४, और बाद।

जानक ('जनक' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण[1] की कुछ पाण्डुलिपियों में *क्रतुविद्* का पैतृक नाम है। तैत्तिरीय संहिता[2] में यही नाम *क्रतुजित् जानकि* के स्थान पर आता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[3] की कुछ पाण्डुलिपियों के अनुसार 'जानक', *आयस्थूण* का भी पैतृक नाम है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ यह *जानकि* का ही एक त्रुटिपूर्ण पाठ है।

[1] ७. ३४।

[2] २. ३, ८, १; काठक संहिता ११. १।

[3] ६. ३, १० (काण्व)।

जानकि ('जनक' का वंशज)—यह तैत्तिरीय संहिता[१] में *क्रतुजित्* का, ऐतरेय ब्राह्मण[२] में *क्रतुविद्* का, और बृहदारण्यक उपनिषद्[३] में *अयस्थूण* का, पैतृक नाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् के इस स्थल पर *चूड भागवित्ति* के शिष्य, और *सत्यकाम जाबाल* के गुरु के रूप में इसका उल्लेख है।

[१] २. ३, ८, १; काठक संहिता ११. १।
[२] ७. ३४।
[३] ६. ३, १० (काण्व = ६. ३, १८. १९, माध्यन्दिन)।

जानं-तपि ('जनंतप' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (८·२३) में *अत्यराति* का पैतृक नाम है।

जान-पद—देखिये *जनपद*।

जान-श्रुति ('जानश्रुत' का वंशज) छान्दोग्य उपनिषद् (४·१, १ २, १) में *पौत्रायण* का पैतृक नाम है।

जान-श्रुतेय ('जानश्रुति' अथवा 'जनश्रुता' का वंशज) अनेक व्यक्तियों का पैतृक अथवा मातृनामोद्गत नाम है, यथा : *उपावि*[१] अथवा *औपावि*[२], *उलुक्य*[३], *नगरिन्*[४], और *सायक*[५]।

[१] ऐतरेय ब्राह्मण १. २५, ११५।
[२] शतपथ ब्राह्मण ५. १, १, ५. ७; मैत्रायणी संहिता १. ४, ५।
[३] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ६, ३।
[४] वही, ३. ४०, २।
[५] वही।

जाबाल (*जबाल* का वंशज)—यह *महाशाल*[१] और *सत्यकाम*[२] का मातृनामोद्गत नाम है। 'जाबाल' का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[३] में एक गुरु के रूप में भी उल्लेख है, जहाँ 'जाबालों[४]' का भी सन्दर्भ है। कौषीतकि ब्राह्मण[५] में 'जाबाल गृहपतियों' की चर्चा है।

[१] शतपथ ब्राह्मण १०. ३, ३, १; ६, १, १।
[२] वही० १३. ५, ३, १; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, १४; ६. ३, १९; छान्दोग्य उपनिषद् ४. ४, १, इत्यादि, ऐतरेय ब्राह्मण ८. ७।
[३] ३. ९, ९।
[४] ३. ७, २।
[५] २३. ५।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडिएन, १, ३९५।

जाबालायन ('जाबाल' का वंशज)—यह *माध्यंदिनायन* के शिष्य, एक गुरु का पैतृक नाम है, जिसका काण्वशाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (४·६, २) के द्वितीय वंश (गुरुओं की तालिका) में उल्लेख है।

जामदग्निय—यह तैत्तिरीय संहिता[1] में 'जमदग्नि' के दो वंशजों का पैतृक नाम है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] से ऐसा प्रकट होता है कि इससे *औवों* का आशय है, और 'जमदग्नि' के वंशज सदैव समृद्ध थे।

[1] ७. १, ९, १।
[2] २१. १०, ६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १२, २५१, नोट; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५४।

जामातृ—यह 'दामाद' का द्योतक एक दुर्लभ शब्द है जो ऋग्वेद[1] में मिलता है। यहीं 'असंतोषजनक दामाद' का द्योतक *विजामातृ* शब्द भी मिलता है जिसका अर्थ यह है कि 'एक ऐसा जामातृ जो पर्याप्त मूल्य नहीं चुकाता' अथवा 'ऐसा जो, अन्य दोषों से युक्त है और जिसे वधू का क्रय करना चाहिये'। ऋग्वेद[2] में 'दामाद' और 'श्वसुर' के बीच मित्रवत सम्बन्धों की चर्चा है।

[1] ८. २, २०। ८. २६, २१. २२ में 'वायु' को 'त्वष्टृ' का जामातृ कहा गया है। तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ५१७; पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ७८, ७९।
[2] १०. २८, १। तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, २५५।

जामि एक ऐसा शब्द है जिसका मूलतः 'रक्त-सम्बन्धी' अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु अक्सर इसका 'बहन' (*स्वसृ*) की उपाधि के रूप में प्रयोग हुआ है, और कभी कभी तो यह स्वयं 'बहन' का ही द्योतक है, जिस दशा में रक्त-सम्बन्ध पर विशेष जोर दिया गया है।[1] इसी आशय में यह अथर्ववेद[2] के एक स्थल पर आता है जहाँ 'भ्राताहीन बहनों' (अभ्रातर इव जामयः) का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में एक संस्कार के समय 'राका' अथवा देवों की पत्नियों को प्राथमिकता देने से सम्बन्धित विवाद में भी यह शब्द इसी आशय में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ एक पक्ष यह कहता हुआ वर्णित है कि—*प्रत्यक्षतः* किसी संस्कार सम्बन्धी पारिवारिक भोजन के समय—पत्नी की अपेक्षा बहन को ही इस दृष्टि से प्राथमिकता मिलनी चाहिये (जाम्यै वै पूर्व-पेयम्) कि वह व्यक्ति के ही रक्त की होती है, जब कि पत्नी से व्यक्ति का कोई रक्त-सम्बन्ध नहीं

[1] तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ४६३, ४६४। 'सम्बन्धी' के आशय में भी आता है, यथा : ऋग्वेद १. ३१, १०; ७५, ३. ४; १००, ११; १२४, ६, इत्यादि। 'बहन' के आशय में : ऋग्वेद १, ६५, ७; १०. १०, १०, इत्यादि। 'स्वसा' के साथ : १. १२३, ५; १८५, ५; ३. १, ११; ९. ६५, १; ८९, ४, इत्यादि।
[2] १. १७, १।
[3] ३. ३७।

होता क्योंकि वह 'अन्योदर्या' (दूसरे के गर्भ से उत्पन्न) होती है।[४] क्लीव लिङ्ग[५] में इस शब्द का, ऋग्वेद[६] में ही मिलने वाले एक अन्य शब्द 'जामि-त्व' की भाँति, 'सम्बन्धी' अर्थ है।

[४] डेलब्रुक, उ० स्था०।

[५] ऋग्वेद ३. ५४, ९; १०. १०, ४। 'जामि-कृत्' अर्थात् 'सम्बन्ध बनाने वाला', अथर्ववेद ४. १९, १। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण, उ० स्था०।

[६] १. १०५, ९; १६६, १३; १०, ५५, ४; ६४, १३।

जामि-शंस, अर्थात् 'बहन या किसी सम्बन्धी द्वारा दिया गया अभिशाप' का अथर्ववेद[१] में उल्लेख है, जिससे यह प्रकट होता है पारिवारिक कलह दुर्लभ नहीं थे। यह तथ्य *भ्रातृव्य* शब्द द्वारा भी व्यक्त होता है, जिसका वास्तविक अर्थ तो 'पिता के भ्राता का पुत्र' है किन्तु यह नियमित रूप से केवल 'शत्रु' का द्योतक है।

[१] २. १०, १ (=तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५, ६, ३), और ९. ४, १५ में यही मूर्तीकृत रूप में आता है। तु० की० 'जाम्याः शपथः', अथर्ववेद २. ७, २; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३६२।

जाम्बिल (घुटने का गड्ढा)[१] एक बार मैत्रायणी संहिता[२] में आता है। 'जाम्बील' रूप में यही शब्द काठक संहिता[३] और वाजसनेयि संहिता[४] में भी मिलता है। इस द्वितीय ग्रन्थ पर अपने भाष्य में महीधर इस शब्द की 'घुटने का पात्र' के रूप में व्याख्या करते हैं, जिसका इनके अनुसार इस लिये यह नाम रक्खा गया है क्योंकि यह 'जाम्बीर' के समान है।

[१] कदाचित 'जानु-बिल' के लिये। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर, पृ० ११, नोट ४।

[२] ३. १५, ३।

[३] ५. १३, १।

[४] २५. ३।

जायन्ती-पुत्र ('जायन्ती' का पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद्[१] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *माण्डूकायनीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[१] ६. ५, २ (काण्व = ६. ४, ३२ माध्यन्दिन)।

जाया नियमित रूप से 'स्त्री' का द्योतक है, और *पत्नी* के विपरीत, 'स्त्री' को वैवाहिक प्रेम की वस्तु तथा जाति के विकास का साधन[१] माना गया है।

[१] डेलब्रुक : डी० व० ४११, ४१२। तु० की० ऋग्वेद १. १०५, २; १२४, ७; ३. ५३, ४; ४. ३, २; १८, ३; ९. ८२, ४; १०. १०, ७; १७, १; ७१, ४, इत्यादि; अथर्ववेद २. ३०, २; ६. ६०, १, इत्यादि।

इसी आशय में यह ऋग्वेद[२] में जूआ खेलने वाले की स्त्री और ब्राह्मण की स्त्री के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद,[३] और बाद के साहित्य[४] में भी अक्सर इसे *पति* के साथ संयुक्त किया गया है। इसके विपरीत 'पत्नी' का यज्ञ के समय एक सहयोगी स्त्री के आशय में प्रयोग किया गया है[५]। जब यज्ञ में कोई भी भाग नहीं दिया जाता था तब इसे 'जाया'[६] कहते थे। यह विभेद निःसन्देह केवल सापेक्षिक ही है और इसी लिये एक ग्रन्थ[७] मनु की स्त्री को 'जाया' कहता है और दूसरा[८] 'पत्नी'। बाद में 'जाया' के स्थान पर 'दार' हो गया।

[२] १०. ३४, २. ३. १३ और १०. १०९।
[३] ऋग्वेद ४. ३, २; १०. १४९, ४।
[४] ऐतरेय ब्राह्मण ३. २३, १। तु० की० ७. १३, १०; शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ७, ९। तु० की० मैत्रायणी संहिता १. ६, १२।
[५] शतपथ ब्राह्मण १. ९, २, १४।
[६] १. १, ४, १३।
[७] वहीं, १. १, ४, १६।
[८] मैत्रायणी संहिता ४. ८, १।

जायान्य,[१] *जायेन्य,*[२]—यह दोनों ही अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित किसी व्याधि के नाम के विभिन्न स्वरूप हैं। अथर्ववेद[३] के एक स्थल पर इसका, पीत रोग (हरिमा), और हाथ पैर की पीड़ा (अङ्ग-भेदो विसल्पकः), के साथ उल्लेख है। त्सिमर[४] का विचार है कि यह दोनों (पीत रोग, और हाथ-पैर की पीड़ा) इस रोग के लक्षण हैं, और आप इसे 'यक्ष्मा' रोग के साथ समीकृत करते हैं। ब्लूमफील्ड,[५] कौशिक सूत्र[६] में वर्णित एक संस्कार के संकेतों के आधार पर, इसे 'उपदंश' के साथ समीकृत करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। रौथ का विचार है कि यह 'गठिया' है, किन्तु ह्विट्ने[७] इस रोग की प्रकृति को असन्दिग्ध ही छोड़ देते हैं।

[१] अथर्ववेद ७. ७६, ३-५; १९. ४४, २।
[२] २. ३, ५, २; ५, ६, ५।
[३] १९. ४४, २।
[४] आल्टिन्डिशे लेबेन, ३७७, जो, वाइज़ : हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन में 'अक्षत' के वर्णन का अनुगमन करता है।
[५] अ० फा० ११, ३२० और बाद : अथर्ववेद के सूक्त ५५९-५६१।
[६] ३२. ११। तु० की० अथर्ववेद ७. ७६, और तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था०, के भाष्य।
[७] अथर्ववेद का अनुवाद ४४२। तु० की० हेनरी : ले० ९८।

जार, 'प्रेमी', का आरम्भिक ग्रन्थों[१] में कोई गर्हित आशय नहीं है और

[१] ऋग्वेद १. ६६, ८; ११७, १८; १३४, ३; १५२, ४; ९. ३२, ५, इत्यादि। इस शब्द का कभी-कभी पुराकथाशास्त्रीय अर्थ में भी प्रयोग हुआ है, यथा : 'जार उषसाम्' अर्थात 'उषाओं का प्रेमी', ७. ९, १। तु० की० त्सिमर। आल्टिन्डिशे लेबेन ३०८।

इनमें यह शब्द किसी भी प्रेमी के लिये व्यवहृत हुआ है। किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि पुरुषमेध[2] के समय 'जार' को अवैध प्रेमी समझा गया हो। बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में भी यही आशय मिलता है और इन्द्र को *गौतम*[4] की पत्नी *अहल्या* का प्रेमी कहा गया है।

[2] वाजसनेयि संहिता ३०. ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ४, १।
[3] ६. ४, ११।
[4] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ६५

जारत्-कारव ('जरत्कारु' का वंशज) *आर्तभाग* ('ऋतभाग' का वंशज) एक गुरु का नाम है, जिसका शाङ्खायन आरण्यक (७·२०) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (३, २, १, दोनों शाखाओं में) में उल्लेख है।

जारु—देखिये *जरायु*।

जाल, अथर्ववेद[1] तथा सूत्रों[2] में एक जाल के आशय में आता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में 'जालक' का एक बिने हुये जालाकार उपकरण के आशय में प्रयोग हुआ है।

[1] ८. ८, ५. ८ (शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त होने के रूप में); १०. १, ३०।
[2] कात्यायन श्रौतसूत्र ७. ४, ७, इत्यादि।
[3] ४. २, ३।

जालाप—देखिये *जलाष*, जिसे सायण ने अथर्ववेद (६·५७, २) में 'जालाष'[1] के बदले पढ़ लिया है।

[1] तु० की० ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३२०।

जाष्कमद, अथर्ववेद[1] में किसी अज्ञात पशु का नाम है।

[1] ११. ९, ९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८८।

जास्-पति—यह 'गृहपति' के आशय में ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आता है। इस शब्द से बनी भाववाचक संज्ञा 'जास्-पत्य' भी, जो प्रत्यक्षतः 'बालकों के अभिभावकत्व' का द्योतक है, इसी ग्रन्थ[2] में मिलती है।

[1] १. १८५, ८।
[2] ऋग्वेद ५. २८, ३; १०. ८५, २३।

जाहुष ऋग्वेद[1] में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है।

[1] १. ११६, १०; ७. ७१, ५। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५९।

जाह्नव (*जह्नु* का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *विश्वामित्र* का पैतृक नाम

[1] २१. १२। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३२; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५४।

है। यह तथ्य ऑफरेख्त के इस सिद्धान्त[2] को मिथ्या सिद्ध करने में पर्याप्त महत्व रखता है कि जह्नुगण *शुनःशेप* के पिता *अजीगर्त* के गोत्र के लोग थे।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ४२४।

जित्वन् शैलिनि, बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में एक गुरु का नाम है जो *जनक* और *याज्ञवल्क्य* के समकालीन थे। इनका यह विचार था कि 'वाच्' ही ब्रह्म है।

[1] ४. १, २ (काण्व = ४. १, ५ माध्यन्दिन, जिसमें 'शैलिन' एक पैतृक नाम के रूप में आता है।

जिह्वावन्त् वाध्योग बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में एक गुरु का नाम है जो *असित वार्षगण* का शिष्य था।

[1] ६. ५, ३ (काण्व = ६. ४, ३३ माध्यन्दिन)।

जीव-गृभ् (जीवित पकड़ना), रौथ[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] में एक पुलिस जैसे कर्मचारी के लिये प्रयुक्त शब्द है। किन्तु, यद्यपि उसी स्थल[3] पर *मध्यमशी* (मध्यस्थता करने वाला) के उल्लेख द्वारा यह आशय हो सकता है, तथापि न तो यह आवश्यक है और न सम्भव।[4]

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; सीबेन-जिग़ लीडर, १७४।
[2] १०. ९७, ११।
[3] ऋग्वेद १०. ९७, १२।
[4] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १८०।

जीव-ज—देखिये *जरायु*।

जीवन्त् अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर किसी पौधे का द्योतक प्रतीत होता है, जहाँ रौथ और ह्विट्ने के संस्करण में इसका *जीवल*[2] के रूप में एक अनुचित संशोधन कर दिया गया है।

[1] १९. ३९, ३। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ९६०।
[2] इस अनुमानात्मक रूप में, तु० की० 'जीवला', जो कि अथर्ववेद ६. ५९, ३; ८. २, ६; ७, ६; १९. ३९, ३ में एक पौधे की उपाधि है।

जीवल चैलकि ('चेलक' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[1] में *तक्षन्* को अवक्षिप्त करने वाले के रूप आता है।

[1] २. ३, १, ३१–३५। तु० की० लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस १४०।

जुहू, ऋग्वेद[1] और बाद में उस जिह्वाकार चमस् का नियमित नाम है जिसका देवों को मक्खन अर्पित करने के लिये प्रयोग होता था।

[1] ऋग्वेद ८. ४४, ५; १०. २१, ३; अथर्ववेद १८. ४, ५.६, इत्यादि।

जूर्णि (उल्का) को त्सिमर[1] वैदिक भारतीयों का एक शस्त्र मानते हैं। किन्तु, यतः इसका केवल ऋग्वेद[2] में ही दैत्यों द्वारा प्रयुक्त एक शस्त्र के रूप में उल्लेख है, अतः साधारण युद्ध में इसके प्रयुक्त होने की बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

[1] आल्टिन्डिशे लेबेन ३०१।

[2] १. १२९, ८। तु० की० निरुक्त ६. ४।

जूर्णी, अथर्ववेद के एक सूक्त (२·२४, ५) में सर्पों के लिये व्यवहृत नाम है, जिन्हें केंचुल छोड़ने के आधार पर ही यह नाम दिया गया है। देखिये *अहि*।

जेतृ—देखिये *सृणि*।

जैत्रायण सहो-जित्—काठक संहिता[1] में प्रत्यक्षतः उस राजा का नाम है जिसने राजसूय यज्ञ किया था। 'जैत्रायण' को एक व्यक्तिवाचक नाम सिद्ध करने के लिये फॉन श्रोडर[2] व्युत्पन्न शब्द 'जैत्रायणि' ('जैत्र' का वंशज) का उद्धरण देते हैं जो कि पाणिनि[3] द्वारा उल्लिखित 'गण कर्णादि' के अनुसार बना है; किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि कपिष्ठल संहिता[4] के एक समानान्तर स्थल पर इसका पाठ भिन्न है और इससे किसी व्यक्तिवाचक नाम का ही आशय प्रतीत होता, क्योंकि यहाँ यह इन्द्रदेव के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। यह पाठ ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि मंत्र की प्रकृति सर्वसामान्य है तथा उसमें आया यह शब्द उक्त यज्ञ करने वाले किसी भी राजा के लिये प्रयुक्त हो सकता है।

[1] १८. ५।

[2] त्सी० गे० ४९, १६८।

[3] ४. २, ८०।

[4] ८. ५, फॉन श्रोडर द्वारा उद्धृत काठक १, पृ० २६९।

जैमिनि सूत्रकाल के पहले नहीं मिलता[1]। किन्तु सामवेद की एक

[1] आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४; शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४. १०; ६. ६, इत्यादि। षडविंश ब्राह्मण में सर्वत्र ही यह व्यास के एक शिष्य के रूप में भी आता है; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७७। तु० की० इन्हीं का 'इन्डियन लिटरेचर ५६।

जैमिनीय संहिता वर्तमान है, जिसका कैलेण्ड[2] ने सम्पादन तथा अध्ययन किया है। साथ ही एक जैमिनीय ब्राह्मण भी, जिसका एक विशेष खण्ड जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] है, ज्ञात है, तथा ऑर्टेल[4] के अनेक अनुसन्धानात्मक निबन्धों का विषय वस्तु बन चुका है।

[2] हिलेब्रान्ट के 'इण्डिशे फौर्शुन्गेन, ब्रेसलॉ, १९०७, के भाग दो के रूप में। देखिये, औल्डेनबर्ग: गो०, १९०८, ७१२ और बाद।

[3] ऑर्टेल द्वारा सम्पादित, ज० अ० ओ० सो०, १६, ७८-२६०।

[4] ज० अ० ओ० सो० १८, १५ और बाद; १९, ९७; २३, ३२५; २६, १७६, ३०६; २८, ८१; ऐ० ओ० १, २२५; ट्रा० सा० १५, १५५, और बाद।

जैवन्तायन ('जीवन्त' का वंशज) का *रौहिरायण* के *शौनक* और *रैभ्य* के साथ बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में उल्लेख है।

[1] ४. ५, २६ (माध्यन्दिन)। पाणिनि, ४. १, १०३, इसी नाम को स्वीकार करते हैं।

जैवल अथवा *जैवलि* ('जीवल' का वंशज)—यह बृहदारण्यक[1] और छान्दोग्य उपनिषदों[2] में *प्रवाहण* का पैतृक नाम है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] का 'जैवलि' नामक राजा भी यही व्यक्ति है।

[1] ६. २, १ (काण्व = ६. १, १ माध्यन्दिन) जहाँ 'जैवल' रूप है।

[2] १. ८, १. २. ८; ५. ३, १।

[3] १. ३८, ४।

ज्ञातृ, अथर्ववेद के दो स्थलों,[1] और शाङ्खायन आरण्यक[2] के एक स्थल पर, कुछ अस्पष्ट-से आशय में आता है। त्सिमर[3] का यह अनुमान बहुत अस्वाभाविक नहीं है कि यह कानून के क्षेत्र से गृहीत एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ 'गवाह' है। जैसा कि अन्य पुरातन समाजों में भी होता था, इससे सम्भवतः उस प्रचलन का सन्दर्भ है जिसके अनुसार व्यावसायिक लेन-देन गवाहों की उपस्थिति में ही किया जाता था।[4] रौथ[5] का विचार है कि इस शब्द का आशय 'साक्षी' या 'ज़मानतदार' है। किन्तु ब्लूमफील्ड[6] और ह्विट्नी[7] इन व्याख्याओं की उपेक्षा करते हैं।

[1] ६. ३२, ३; ८. ८, २१।

[2] १२. १४। तु० की० कीथ: शाङ्खायन आरण्यक ६६, नोट ४।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १८१।

[4] मनु० ८. ५७ में यह शब्द 'साक्षिन्' का ही एक भिन्न रूप है। तु० की० जॉली: रेख़्त उन्ट सिट्टे, १४०।

[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[6] अथर्ववेद के सूक्त, ४७५।

[7] अथर्ववेद का अनुवाद, ३०६।

ज्ञाति (पुलिङ्ग) एक शब्द है जिसका मूल आशय तो सम्भवतः 'परिचित व्यक्ति'[1] था, किन्तु ऋग्वेद[2] और उसके बाद[3] यह ऐसे 'सम्बन्धी' का द्योतक है जो प्रत्यक्षतः पितृ पक्ष से रक्त-सम्बन्धी होता था, यद्यपि इन स्थलों पर इसके आशय को इस प्रकार सीमित करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु वैदिक समाज का आधार पितृ-प्रधान होने के कारण स्वभावतः यह आशय ही निष्पन्न होता है।[4]

[1] सर्वाधिक सम्भावना यह है कि यह 'ज्ञा' द्वारा व्युत्पन्न हुआ है, 'जन्' द्वारा नहीं जैसा कि प्रथम दृष्टिपात में इसके आशय के कारण सम्भव प्रतीत हो सकता है। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[2] ७. ५५, ५, पितृ-गृह में ही सोने वाले सम्मिलित परिवार के सदस्यों का संकेत करता प्रतीत होता है; १०. ६६, १४; ८५, २८ (यहाँ वधू के सम्बन्धियों का अर्थ है); ११७, ९ ('ज्ञाती' द्वारा यहाँ सम्भवतः 'भाई और बहन' का अर्थ है, किन्तु 'संबंधी-जन' का आशय भी पर्याप्त है; तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४३२)।

[3] अथर्ववेद १२. ५, ४४ (जहाँ अपने अनुवाद में ह्निटने इसका 'परिचित व्यक्ति' अनुवाद करते हैं, जो अत्यन्त अप्रचलित और अपर्याप्त प्रतीत होता है); तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ५, २; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ४, ३ ('ज्ञातिभ्यां वा सखिभ्यां वा; जहाँ 'मित्रों' अथवा 'साथियों' का 'सम्बन्धियों' से विभेद स्पष्ट किया गया है); २. २, २, २०; ५, २, २०; ११. ३, ३, ७ इत्यादि।

[4] व्युत्पत्तिजन्य आशय के स्रोत के लिये, तु० की० यूनानी शब्द 'ग्नोतोस' (γνωτος) और 'ग्नोते' (γνωτη), जो होमर के ग्रन्थों में 'भाई' और 'बहन' के द्योतक हैं; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

ज्या, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में धनुष की 'प्रत्यञ्चा' के लिये नियमित शब्द है। प्रत्यञ्चा का निर्माण एक विशेष कला थी, जैसा कि यजुर्वेद[3] में पुरुषमेध के बलिप्राणियों की तालिका में एक 'ज्या-कार' के उल्लेख द्वारा स्पष्ट है। प्रत्यञ्चा वृषभ-चर्म[4] के ताँत की बनी होती थी। इसे हर समय तान कर

[1] ४. २७, ३; ६. ७५, ३; १०. ५१, ६, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १. १, ३; ५. १३, ६; ६. ४२, १; वाजसनेयि संहिता १६. ९; २९, ५१, इत्यादि।

[3] वाजसनेयि संहिता ३०. ७; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४, ३, १।

[4] ऋग्वेद ६. ७५, ३; अथर्ववेद १. १, ३। महाकाव्य में प्रत्यञ्चा 'मौर्वी' की बनी बताई गई है; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २७१।

नहीं रक्खा जाता था,[5] वरन् जब धनुप का उपयोग करना होता था तब विशेष रूप से तान लिया जाता था[6]। अथर्ववेद[7] में प्रत्यञ्चा के स्वर (ज्या-घोष) का भी उल्लेख है ।·तु० की० *आर्त्नी*।

[5] अथर्ववेद ६. ४२, १ ।
[6] ऋग्वेद १०. १६६, ३ ।
[7] ५. २१, ९ ।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २९८, २९९ ।

ज्याका—इसका ऋग्वेद[1] में एक उपेक्षात्मक आशय में, तथा अथर्ववेद[2] में साधारण आशय में, 'प्रत्यञ्चा' अर्थ है ।

[1] १०. १३३, १, जहाँ 'अन्यकेषां ज्याकाः' निश्चित रूप से उपेक्षात्मक है। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर : पृ० १३७ ।
[2] १. २, २ ।

ज्या-पाश का अथर्ववेद (११·१०, २२) में 'प्रत्यञ्चा' अर्थ है ।

ज्या-ह्रोड, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *व्रात्य* के अस्त्रों के वर्णन में आता है, और सूत्रों[2] में भी इसका उल्लेख मिलता है। इसका आशय कुछ अस्पष्ट है, क्योंकि एक सूत्र इसका 'ऐसी धनुष जो व्यवहार के लिये न हो' (अयोग्यं धनुस्) के रूप में वर्णन करता है,[3] जब कि दूसरा इसे 'बिना बाण का धनुप' (धनुष्क अनिषु)[4] बताता है। अतः इससे किसी न किसी प्रकार के धनुप का ही अर्थ प्रतीत होता है ।

[1] १७. १, १४ (मूल में इसका पाठ '-ह्नोड' है, और भाष्य में, '-ह्रोड') ।
[2] कात्यायन श्रौत सूत्र २२. ४, ११ (जहाँ 'ह्रोड' है); लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ६, ८ (यहाँ-'ह्रोड' है; इसके सम्पादक यह उल्लेख करते हैं कि द्राह्यायण सूत्र में भी यही पाठ है) ।
[3] कात्यायन, उ० स्था० ।
[4] लाट्यायान, उ० स्था० ।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्टिशे लेवेन, ३८; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३२; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३३, ५२ ।

ज्येष्ठ का, जिसका साधारण अर्थ 'सबसे बड़ा' है, ऋग्वेद[1] में 'सबसे बड़े'[2] भाई के विशिष्ट आशय में प्रयोग हुआ है। इसका 'पुत्रों में सबसे बड़ा' अर्थ भी है, जो कि उक्त आशय का ही एक भिन्न कथन है ।[3]

[1] ४. ३३, ५; १०. ११, २ ।
[2] भिन्न स्वर के साथ। तु० की० मैकडौनेल वैदिक ग्रामर, पृ० ८३, १४ ।
[3] अथर्ववेद १२. २, ३५; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७; शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ३, ८, और तु० की० ज्यष्ठिनेय ।

ज्येष्ठ-घ्नी ('सबसे बड़े' का वध करने वाला)—यह अथर्ववेद[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में एक नक्षत्र का नाम है जिसे सामान्यतया *ज्येष्ठा* कहते हैं।

[1] ६. ११०, २। तु० की० ६. ११२, १।
[2] १, ५, २, ८। तु० की० ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३६१।

ज्येष्ठा—देखिये नक्षत्र।

ज्यैष्ठिनेय—यह ज्येष्ठ के साथ, ब्राह्मणों[1] में 'सबसे बड़ा', 'पिता के प्रथम पत्नी (ज्येष्ठा) का पुत्र', का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, ८, १ ('कनिष्ठ' और 'कानिष्ठिनेय' के विपरीत); पञ्चविंश ब्राह्मण २. १, २; २०. ५, २।

ज्योतिष—यह बात बहुत महत्त्व रखती है कि संहिताओं अथवा ब्राह्मणों में 'ज्योतिष-विषयक किसी भी कृति का कोई उल्लेख नहीं है। जो वेदों के ज्योतिष-विज्ञान का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है, उस मूल ग्रन्थ का वेबर[1] ने सम्पादन किया है, और तब से इस पर अनेक विवेचनायें हो चुकी हैं[2]। इस ग्रन्थ का काल अज्ञात है, किन्तु यह निश्चित रूप से बहुत बाद का है, क्योंकि इसका विषयवस्तु तथा स्वरूप दोनों ही ऐसा प्रकट करता है।

[1] ऊ० ज्यो०।
[2] थिबो : ऐस्ट्रौनमी, ऐस्ट्रौलोजी, उन्ट मैथमेटिक, २०, २९, में दिये सन्दर्भ देखिये।

ज्वालायन ('ज्वाल' का वंशज)—यह *गौषूक्ति* के किसी शिष्य का नाम है, जिसका जैमिनीय-उपनिषद् ब्राह्मण (४·१६, १) में एक गुरुओं की तालिका में उल्लेख है।

झ

झष का शतपथ ब्राह्मण[1] में वर्णित मनु की कथा में उल्लेख है, जहाँ भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ एक 'महा-मत्स्य' है। एग्लिङ्ग[2] का विचार है कि इससे एक सींघयुक्त मत्स्य का अर्थ है, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता[3] में 'इडा' को एक गाय कहा गया है, और इसी के द्वारा एक प्राचीन आख्यान के बाद के रूप में सींघयुक्त मत्स्य का विचार आ गया हो सकता है। किन्तु तु० की० जष।

[1] १. ८, १, ४।
[2] से० बु० ई० १२, २१७, नोट ३; २६, xxxi।
[3] १, ७, १; २. ६, ७।

त

तकवान – यह 'तकु'[1] से बना पैतृक नाम प्रतीत होता है और ऋग्वेद[2] में ऐसे द्रष्टा का नाम है जो सम्भवतः 'तकु कक्षीवन्त्' का एक वंशज था, क्योंकि यह नाम काक्षीवतों[3] द्वारा रचित सूक्तों में आता है।

[1] तु० की० 'भृगु' से बना 'भृगवाण'; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। एक विशेषण (?) के रूप में 'तकु' ऋग्वेद ९. ९७, ५२ में आता है।

[2] १. १२०, ६।

[3] औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २२१। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ९२; लुडविग : ऋ० ऋ० ४७।

तक्मन् एक व्याधि है जिसका अथर्ववेद में तो बार बार उल्लेख है किन्तु बाद में इसका यह नाम परिचित नहीं है। यह अथर्ववेद[1] के पाँच सूक्तों का प्रतिपाद्य विषय है और अन्यत्र[2] भी उल्लिखित है। वेबर[3] ने पहले इसे 'ज्वर' माना था, और ग्रॉहमैन[4] ने भी यही दिखाया कि इसके सभी लक्षण इसे 'ज्वर' ही सिद्ध करते हैं।[5] इससे पीड़ित रोगी को गर्मी या 'जूड़ी' के दौरे आना[6], इस ज्वर के साथ-साथ पीलापन आ जाना,[7] तथा एक विशेष अवधि के पश्चात् होते रहना, आदि का सन्दर्भ मिलता है। इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन करने के लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है वह इस प्रकार है—अन्ये-द्युः,[8] उभय-द्युः,[9] तृतीयक,[10] वि-तृतीय,[11] और 'सदं-दि'[12],

[1] १. २५; ५. २२; ६. २०; ७. ११६; १९. ३९, (तु० की० ५. ४)।

[2] अथर्ववेद ४. ९, ८; ५. ४, १. ९; ३०, १६; ९. ८, ६; ११. २, २२. २६, इत्यादि।

[3] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ११९; रौथ : त्सु० वे०, ३९, में इसके उपचार के रूप में 'कुष्ठ' के उल्लेख द्वारा इसे कुष्ठ रोग का द्योतक माना गया है, और इसे ही पिक्टेट, कुन : त्सी० ५, ३३७, आदिने स्वीकार किया है। मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ४, २८०, के विचार से इसका अर्थ 'यक्ष्मा' है।

[4] इन्डिशे स्टूडियन ९, ३८१ और बाद।

[5] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४५१ बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३७९-३८५, आदि भी देखिये, और प्राचीन चिकित्साशास्त्र के 'ज्वर' (एक वैदिकेतर शब्द) से तु० की०, वाइज : हिन्दू सिस्टम ऑफ मेडिसिन, २१९ और बाद; जॉली : मेडिसिन, ७०-७२ कौशिक सूत्र के भाष्यकार दारिल और केशव सर्वत्र 'तक्मन्' और 'ज्वर' को समान मानते हैं।

[6] अथर्ववेद १. २५, २-४; ५. २२, २. ७. १०; ६. २०, ३; ७. ११६, १।

[7] अथर्ववेद १. २५, २; ५. २२, २; ६. २०, ३।

[8] अथर्ववेद १. २५, ४; ७. ११६, २।

[9] वही।

[10] अथर्ववेद १. २५, ४; ५. २२, १३; १९. ३९, १०।

[11] अथर्ववेद ५. २२, १३।

[12] अथर्ववेद ५. २२, १३; १९. ३९, १०।

किन्तु इनमें से अधिकांश शब्दों का ठीक-ठीक आशय अनिश्चित है। इस बात को स्वीकार कर लिया गया है[13] कि इनमें से प्रथम शब्द एक ऐसे ज्वर का द्योतक है जो प्रतिदिन किसी एक निश्चित समय पर चढ़ता है, यद्यपि यह शब्द कुछ विचित्र सा ही है; (शब्दार्थ—'दूसरे पर', या 'दूसरे दिन')। 'उभय-द्युः' (दोनों दिन) प्रकार द्वारा एक ऐसी व्याधि का आशय प्रतीत होता है जो लगातार दो दिनों तक बनी रहती है किन्तु तीसरे दिन आवेग नहीं होता। यह rhythmus quartanus complicatus[14] के समान है। किन्तु सायण का विचार है कि इसका ऐसे ज्वर से तात्पर्य है जो प्रति तीसरे दिन आता है। किन्तु इस प्रकार के ज्वर का द्योतक 'तृतीयक' प्रतीत होता है,[15] यद्यपि त्सिमर[16] का विचार है कि इसका (तृतीयक का) तात्पर्य ऐसे ज्वर से है जिसकी तृतीय आवृत्ति घातक होती है। 'वि-तृतीयक' को ग्रॉहमैन[17] दक्षिणी देशों में साधारणतया व्याप्त एक ऐसी व्याधि का द्योतक मानते हैं जिसमें ज्वर तो प्रतिदिन रहता है किन्तु उसके आवेग की तीव्रता या समय में प्रति दूसरे दिन एक समानता रहती है। ब्लूमफील्ड[18] का विचार है कि यह भी 'उभय-द्युः' प्रकार के ही समान है। 'सदं-दि'[19] वही व्याधि प्रतीत होती है जिसे बाद में संतत-ज्वर कहते थे तथा जिसमें एक आवेग में कई दिनों तक ज्वर बना रहता था, किन्तु फिर थोड़े अन्तर के बाद उतनी ही तीव्रता का पुनः आवेग हो जाता था। विभिन्न ऋतुओं में जैसे 'शारद', 'ग्रैष्म', और 'वार्षिक'[20] में भी ज्वर का प्रकोप होता था; किन्तु

[13] ग्रॉहमैन : उ० पु०, ३८७; त्सिमर : उ० पु०, ३८२; ब्लूमफील्ड : उ० पु० २७४।

[14] ग्रॉहमैन, ३८८; त्सिमर, ३८२; ब्लूमफील्ड, २७४। यह सम्भवतः उस व्याधि के ही समान हो सकती है जिसे 'चातुर्थक विपर्यय कहा गया है (वाइज़ उ० पु० २३२) और जिसमें रोग का आवेग प्रति चतुर्थ दिन पर होता है और दो दिनों तक बना रहता है।

[15] अथर्ववेद १. २५, ४ पर सायण; ब्लूमफील्ड : ४५१। यह सुश्रुत (२, ४०४, ७) का 'ज्वर तृतीयक' है।

[16] उ० पु० ३८३, में हूगेल : काश्मीर, १; १३३ का उद्धरण।

[17] उ० पु०, ३८८।

[18] उ० पु०, ४५१।

[19] यहाँ इसकी निष्पत्ति सन्दिग्ध है : या तो 'सदैव काटने वाला' (तु० की० अथर्ववेद १९. ३९, १०, पर सायण), अथवा 'सदैव आबद्ध करनेवाला' (रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०), अथवा 'प्रतिदिन होने वाला' = सदं-दिन (त्सिमर : ३८३, नोट; ब्लूमफील्ड : ४५२)।

[20] अथर्ववेद ५. २२, १३।

विशेषतः उक्त प्रथम ऋतु में ही इसका आधिक्य पाया जाता था, जैसा कि 'विश्व-शारद' व्याहृति द्वारा स्पष्ट होता है।[२१]

इस रोग का प्रकोप उस दशा में होना माना गया है जब अग्नि जल में प्रविष्ट हो जाते हैं।[२२] इससे वेबर[२३] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसे बहुत अधिक गर्मी के बाद ठंढक लग जाने का, अथवा दल-दल भूमि पर गर्मी के प्रभाव का परिणाम माना गया है। ग्रॉहमैन[२४], अग्नि के जल में प्रवेश करने[२५] से सम्बन्धित इस रोग के आरम्भ होने के कथन में इस तथ्य की लक्षणात्मक अभिव्यञ्जना देखते हैं कि यह ज्वर वर्षा-ऋतु में आरम्भ होता था, जब विद्युत के रूप में मानों अग्नि देव वर्षा के साथ पृथ्वी पर उतर आते हैं। इसी दृष्टिकोण से सहमत होते हुये त्सिमर[२६], यह भी बताते हैं कि तराई क्षेत्रों में इस रोग का अधिक प्रसार होता था। साथ ही अथर्ववेद[२७] में मिलनेवाले ज्वर के एक विशेषण 'वन्य' की इस रूप में व्याख्या करते हुये कि उसका अर्थ 'वन से उत्पन्न' है, आप इस बात का संकेत करते हैं कि *मूजवन्त्* और *महावृष* नामक पश्चिमी हिमालय की दो पर्वतीय जातियों में इस ज्वर के अपेक्षाकृत अधिक प्रसार का उल्लेख मिलता है।[२८] गन्दे पानी में जन्म लेने वाले मलेरिया के मच्छरों के काटने से इस ज्वर की उत्पत्ति का कहीं भी कोई संकेत नहीं मिलता, यद्यपि बिना किसी आधार के ही यह मान लिया गया है कि भारतीय चिकित्साशास्त्र को इस ज्वर के कारण के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त ज्ञात था।[२९]

'तक्मन्' के लक्षणों, अथवा इससे सम्बद्ध अन्य रुग्ण जटिलताओं के अन्तर्गत *पामन्* (खुजली), 'शीर्ष-शोक'[३०] (सर-दर्द), *कासिका* (खाँसी), और यक्ष्मा अथवा सम्भवतः एक प्रकार की खुजली (*बलास*), आते हैं।

यह द्रष्टव्य है कि 'तक्मन्' अथर्ववेद से पहले नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि वैदिक आर्य जब भारत में पहले पहल बसे तो यह व्याधि उन्हें ज्ञात

[२१] अथर्ववेद ९. ८, ६; १९. ३४, १०।
[२२] अथर्ववेद १. २५, १।
[२३] इन्डिशे स्टूडियन ४, ११९।
[२४] वही, ९, ४९३।
[२५] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ९२।
[२६] उ० पु० ३८४।
[२७] अथर्ववेद ६. २०, ४।
[२८] अथर्ववेद ५. २२, ५।
[२९] जॉली : ज० ए० सो० १९०६, २२२।
[३०] अथर्ववेद १९. ३९, १०।
भारत में इस व्यधि की वर्तमान स्थिति के लिये देखिये शिमला कन्फरेन्स की रिपोर्ट, १९०९।

नहीं थी, क्योंकि इसकी स्थानीयता से परिचित होने तथा इसके घातक परिणाम से अवगत होने में अनेक पीढ़ियों का समय लगा होगा। प्राचीन आर्य लोग इसका किस प्रकार उपचार करते थे यह सर्वथा अनिश्चित है, क्योंकि अथर्ववेद में केवल अभिचारों और कुष्ठ का ही उल्लेख मिलता है जो यद्यपि बाद के समय तक व्यवहृत होते थे, तथापि कदाचित ही प्रभावशाली उपचार रहे होंगे। अथर्ववेद के समय में भी इस ज्वर का अनेक व्यक्तियों पर घातक परिणाम हुआ होगा, अन्यथा इसका इतनी प्रमुखता से उल्लेख न होता।

तक्वन्[1], और *तक्वरी*[2], दोनों ही ऋग्वेद में एक क्षिप्र गति से उड़ने वाले पक्षी के द्योतक प्रतीत होते हैं। सायण[3] 'तक्वन्' की एक तीव्रगामी अश्व के रूप में व्याख्या करते हैं।

[1] ऋग्वेद १.६६, २। तु० की० १. १३४, ५, और त्सारिन्।

[2] वही, १. १५१, ५; १०. ९१, २। किन्तु इन दोनों स्थलों पर यह शब्द विशेषणात्मक हो सकता है।

[3] ऋग्वेद १. ६६, २, पर।

तक्षक वैशालेय ('विशाला' का वंशज) एक पौराणिक व्यक्तित्व है, जिसका 'विराज्' के पुत्र के रूप में अथर्ववेद[1] में, तथा सर्प-यज्ञ के समय 'ब्राह्मणाच्छंसिन्' पुरोहित के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में उल्लेख है।

[1] ७. १०, २९।

[2] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

१. तक्षन् (बढ़ई) का ऋग्वेद[1] में तथा अक्सर बाद[2] में भी उल्लेख है। सभी प्रकार की लकड़ी की वस्तुयें, जैसे *रथ* और *अनस्* आदि बनाने का कार्य इनसे ही लिया जाता था। महीन और नक्काशी के कार्य भी यही लोग करते थे।[3] इनके यन्त्रों के अन्तर्गत 'कुलिश'[4], 'परशु'[5], तथा कुछ सन्दिग्ध आशय के शब्द *भुरिज्* का उल्लेख है। ऋग्वेद[6] के एक स्थल पर झुक

[1] ९. ११२, १।

[2] अथर्ववेद १०. ६, ३; काठक संहिता १२. १०; १८. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ५; वाजसनेयि संहिता १६. २७; ३०. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १; शतपथ ब्राह्मण १. १, ३. १२; ३. ६, ४, ४, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १०. ८६, ५; अथर्ववेद १९. ४९, ८। तु० की० ऋग्वेद १. १६१, ९; ३. ६०, २।

[4] ऋग्वेद ३. २, १।

[5] काठक संहिता १२. १०।

[6] ऋग्वेद १. १०५, १८। तु० की० रौथ : निरुक्त पर जर्मन भाषा में टिप्पणी, ६७; औलडेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, १००।

कर कार्य करने के कारण बढ़इयों को कष्ट होने का भी उल्लेख प्रतीत होता है। बढ़ई निम्न जाति के अथवा एक अलग वर्ग के ही लोग होते थे, ऐसा वैदिक काल में निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होता।[७]

[७] फिक : डी० ग्ली० २१०, नोट १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४५, २५३।

२. *तक्षन्* का शतपथ ब्राह्मण[१] में एक ऐसे गुरु के रूप में उल्लेख है जिसके दृष्टिकोण को *जीवल चैलकि* ने स्वीकार नहीं किया था।

[१] २. ३, १, ३१–३५। तु० की० लेवी : ल डाक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, १४०।

३. *तक्षन्*—देखिये *वृबु*।

तण्डुल ('अन्न', मुख्यतः 'चावल') का ऋग्वेद में तो नहीं, किन्तु अथर्ववेद[१] और बाद[२] में बहुधा ही उल्लेख है। इससे ऐसा प्रकट होता है ऋग्वेद[३] के समय में चावल की कृषि कदाचित ज्ञात नहीं थी। तृण रहित (कर्ण) और तृण-सहित (अकर्ण) चावल का तैत्तिरीय संहिता[४] में उल्लेख है।

[१] १०. ९, २६; ११. १, १८; १२. ३, १८. २९. ३०।
[२] मैत्रायणी संहिता २. ६, ६; काठक संहिता १०. १, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण १. १; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, ३; २. ५, ३, ४; ५. २, ३, २; ६. ६, १, ८, इत्यादि; 'श्यामाक-तण्डुल', वही, १०. ६, ३, २; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १४, ३; 'अपामार्ग-तण्डुल', ५. २, ४, १५, इत्यादि।
[३] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३९। देखिये **व्रीहि**।
[४] १. ८, ९, ३। देखिये, पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, १९०।

तत—यह ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'पिता' को पुकारने का एक नाम है। तु० की० *तात* और *पितृ*।

[१] ८. ९१, ६; ९. ११२, ३।
[२] अथर्ववेद ५. २४, १६; तैत्तिरीय संहिता ३. २, ५, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ९, ७; सम्बोधन कारक के रूप में, अथर्ववेद ८. ४, ७७; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४; ७. १५; ऐतरेय आरण्यक १. ३, ३, मे। तु० की० डेल्ब्रुक : डी० व० ४४९।

ततामह (दादा) अथर्ववेद[१] में मिलता है।

[१] ५. २४, १७; ८. ४, ७६। इसका शब्दार्थ 'दादा' है और यह 'पितामह', रूप के ही समान है। डेल्ब्रुक : उ० पु० ४७३, ४७४।

तनय, ऋग्वेद[1] में 'सन्तान' या 'वंशज' का द्योतक है, और इसी ग्रन्थ में यह कभी-कभी *तोक*[2] के साथ विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टिकोण[3] को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं कि 'तोक' का अर्थ 'पुत्र' है और 'तनय' का 'पौत्र'।

[1] १.९६, ४; १८३, ३; १८४, ५; २. २३, १९; ७. १, २१, इत्यादि; 'तोकं च तनयं च', १. ९२, १३; ९. ७४, ५। तु० की० ६. २५, ४; ३१, १; ६६, ८; और १. ३१, १२, जैसी कि पिशल : वेदिशे स्टूडियन, ३,१९३ में व्याख्या है।

[2] ऋग्वेद १. ६४, १४; ११४, ६; १४७, १; १८९, २; २. ३०, ५, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण २. ७।

[3] निरुक्त १०. ७; १२. ६।
तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर 'तन्', 'तन', और 'तनस्' आदि का 'तनय' जैसा ही आशय है। देखिये ऋग्वेद ६. ४६, १२; ४९, १३; ७. १०४, १०; ८. ६८, १२, इत्यादि, (तन्); ८. २५, २ (तन); ५. ७०, ४ (तनस्)।

तन्ति ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है, जहाँ रौथ[2] इस शब्द के बहुवचन का 'बछड़ों' की 'पंक्ति' के अर्थ में अनुवाद करते हैं। किन्तु इसका यहाँ भी वही अर्थ प्रतीत होता है जो बाद के साहित्य में मिलता है, अर्थात् इसका तात्पर्य उस रस्सी से है जिससे बछड़े बाँधे जाते हैं।

[1] ६. २४, ४।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

तन्तु, (वास्तविक अर्थ 'धागा') मुख्यतः किसी बिनावट में लगे *ओतु* (बाना) के विपरीत 'ताने' का धागा, है। अथर्ववेद[1] में इसके यह दोनों ही आशय मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण[2] में 'ताने' को 'अनुछाद', बाने को 'पर्यास', तथा धागों को 'तन्तवः' कहा गया है। इसके विपरीत तैत्तिरीय संहिता[3] में 'प्राचीन-तान' ताना है और 'ओतु' बाना। कौषीतकि उपनिषद्[4] में सिंहासन (पर्यङ्क) के धागों अथवा रस्सियों का उल्लेख है।

ऋग्वेद में इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है, और ब्राह्मणों[5] में भी बहुधा ऐसा ही प्रयोग मिलता है। *वाय* भी देखिये।

[1] १४. २, ५१ ('ओतु' के विपरीत); १५. ३, ६ ('व्रात्य' के सिंहासन **(आसन्दी)** के 'प्राञ्चः' और 'तिर्यञ्चः' धागे अथवा रस्सियाँ)।

[2] ३. १, २, १८; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ८, ९।

[3] ६. १, १, ४।

[4] १. ५; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, २०, नोट २।

[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। ऋग्वेद १०. १३४, ५ में पौधों के रेशों, तथा बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, २३ में मकड़ी के जाले के रेशों के लिये इसका प्रयोग हुआ है।

तन्त्र का भी *तन्तु* की भाँति किसी बिनावट, या अधिक सामान्य रूप से स्वयं बिनावट के जाले का 'ताना' अर्थ है। यह ऋग्वेद[1] और बाद[2] में भी मिलता है।

[1] १०. ७१, ९।
[2] अथर्ववेद १०. ७, ४२; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ५, ५, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण १०. ५; शतपथ ब्राह्मण १४. २, २, २२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५४।

तपस्, *तपस्य*—देखिये *मास*।

तपो-नित्य (तप में निरन्तर रत) *पौरु-शिष्टि* ('पुरुशिष्ट' का वंशज) तैत्तिरीय उपनिषद् (१. ९, १) में ऐसे गुरु का नाम है जो तप (तपस्) के महत्त्व में विश्वास करते थे।

तयादर एक पशु का नाम है जिसका केवल विशेषणात्मक 'तायादर' रूप में अथर्ववेद[1] में *परस्वन्त्* (जङ्गली गदहा ?) के साथ उल्लेख है।

[1] ६. ७२, २। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३३५।

तरक्षु (लकड़बग्घा) का यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि प्राणियों की तालिका में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १९, १, जहाँ सायण इसकी एक प्रकार के ऐसे व्याघ्र के रूप में व्याख्या करते हैं जिसकी आकृति गदहे से मिलती है (व्याघ्र-विशेषो गर्दभाकारः); मैत्रायणी संहिता ३. १४, २१; वाजसनेयि संहिता २४. ४०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८१।

तरन्त, ऋग्वेद[1] में *पुरुमीढ* के साथ *श्यावाश्व* के एक प्रतिपालक के रूप में आता है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] तथा अन्य ब्राह्मणों[3] में 'पुरुमीढ' के साथ इसका *ध्वस्त्र*[4] और *पुरुषन्ति* से दान प्राप्त करने वालों के रूप में उल्लेख है। किन्तु क्षत्रियों के लिये दान ग्रहण करने का निषेध होने के कारण यह दोनों आपात-काल में ही ऋषि हो गये थे तथा इन्होंने अपने दान-कर्त्ताओं की प्रशस्ति

[1] ५. ६१, १०।
[2] १३. ७, १२।
[3] जैमिनीय ब्राह्मण ३. १३९; शाट्यायनक, ऋग्वेद ९. ५८, ३ पर सायण = साम-वेद २. ४१०।
[4] ऋग्वेद ९. ५८, ३।

वनायी थी।[४] पुरुमीढ की भाँति यह भी एक 'वैदिदश्वि', अथवा 'विददश्व' का पुत्र था।[५]

[५] तु० की० ऋग्वेद ५. ६१, १०; नोट २ और ३। यह केवल ऋग्वेद के स्थल के आशय का मिथ्या ग्रहण है। तु० की० ऑर्टेल: ज० अ० ओ० सो० १८, ३९; सीग : सा० ऋ० ५०, और बाद; ६२, ६३; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २३२, नोट १; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३५३, ३५४, जहाँ आप यह मत व्यक्त करते हैं कि ब्राह्मण-परम्परा तथा बृहद्देवता (५. ५०-८१, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित), को ऋग्वेद की वास्तविक व्याख्या के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिये।

तरु, जो बाद के संस्कृत में 'वृक्ष' के लिये एक सामान्य शब्द है, वैदिक साहित्य में कभी भी नहीं आता। अपवाद स्वरूप ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर कदाचित यह मिलता है जहाँ सायण ने इसे इसी रूप में पढ़ा है, और जहाँ इसका उक्त आशय में ही अनुवाद किया जा सकता है। किन्तु इसके रूप (तरुभिः) की सम्भवतः एक भिन्न प्रकार से ही व्याख्या होनी चाहिये।[२]

[१] ५. ४४, ५।
[२] रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० पर ऋग्वेद, २. ३९, में 'तरोभिः' के इसके समानान्तर होने का उद्धरण है। और इसी प्रकार औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, ३४१ में भी।

तरुक्ष ऋग्वेद[१] में एक मनुष्य का नाम है जिसका एक *दास*, *बल्बूथ* के साथ, दान-स्तुति में उल्लेख है।

[१] ८. ४६, ३२। तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३९१; त्सिमर : आल्टि-न्डिशे लेवेन ११७।

तर्कु (चरखे का तँकुआ)—केवल यास्क के निरुक्त (२. १) में अक्षरों के विपर्यास के उदाहरण-स्वरूप इसके उल्लेख द्वारा ही वैदिक साहित्य में इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। यास्क के अनुसार यह शब्द 'कर्त्' (कातना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है।

तर्द (छिद्र करने वाला) अथर्ववेद[१] के एक सूक्त में आता है जहाँ अन्न-नाशक कीटाणुओं की गणना कराई गई है। ह्विट्ने[२] का विचार है कि इससे किसी प्रकार के चूहे का अर्थ है, किन्तु रौथ[३] की दृष्टि में यह किसी पक्षी का द्योतक है।

[१] ६. ५०, १. २।
[२] अथर्ववेद का अनुवाद ३१८।
[३] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ४८५।

तर्द्मन्, अथर्ववेद[1] में *युग* में बने छिद्र के लिये व्यवहृत हुआ है। शतपथ ब्राह्मण[2] में यह चर्म में बने एक छिद्र का द्योतक है।

[1] १४. १, ४०।
[2] ३. २, १, २; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, २६, नोट १।

तर्य—यह सायण के अनुसार ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर किसी मनुष्य का नाम है, किन्तु यह मन्त्र अत्यधिक अस्पष्ट है।[2]

[1] ५. ४४. १२। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५८, १५९।
[2] औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ३४२।

तलाश, अथर्ववेद[1] में एक वृक्ष का नाम है। ह्विट्ने[2] का विचार है कि यह 'तालीश' (Flacourtia cataphracta) ही हो सकता है।

[1] ६. १५, ३।
[2] अथर्ववेद का अनुवाद, २९१। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशेलेबेन ६२।

तल्प—यह ऋग्वेद, अथर्ववेद[1], तथा उसके बाद[2] से शैय्या के लिये नियमित रूप से प्रयुक्त शब्द है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में इसके *उदुम्बर* की लकड़ी के बने होने का उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद्[4] में गुरु की शैय्या के उलङ्घन का तो उल्लेख है, जब कि विशेषण 'तल्प्य' (वैवाहिक शैय्या पर उत्पन्न) शतपथ ब्राह्मण[5] में 'वैद्य' का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद ७. ५५, ८; अथर्ववेद ५. १७, १२; १४. २, ३१. ४१।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ६, ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, ५, ३; पञ्चविंश ब्राह्मण २३. ४, २; २५. १, १०।
[3] १. २, ६, ५।
[4] ५. १०, ९।
[5] १३. १, ६, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १५४।

तलव, यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में एक प्रकार के 'सङ्गीतज्ञ' का द्योतक है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १५, १। तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १, ८३, नोट १५।

तष्ट ऋग्वेद[1] में एक बढ़ई के आशय में मिलता है, और यह भी *तक्षन्* की ही भाँति 'तक्ष्' (बनाना) धातु से बना है।

[1] १. ६१, ४; १०५, १८; १३०, ४; ३. ३८, १; ७. ३२, २०; १०. ९३, १२; ११९. ५। तु० की० निरुक्त ५. २१।

तसर—यह ऋग्वेद[1] और यजुर्वेद संहिताओं[2] में जुलाहों द्वारा प्रयुक्त 'ढरकी' का द्योतक है।

[1] १०. १३०, २।
[2] वाजसनेयि संहिता १९. ८३; मैत्रायणी संहिता ३. ११, ९; काठक संहिता ३८. ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ४, २। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २५४।

तस्कर ऋग्वेद[1] में, और बहुधा बाद[2] में भी आता है तथा 'चोर' या 'डाकू' का द्योतक है। यह *स्तेन* का, जिसके सम्बन्ध में ही इसका अक्सर उल्लेख[3] है, प्रायः समानार्थी प्रतीत होता है। वाजसनेयि संहिता[4] में 'स्तेन' और 'तस्कर' का *मलिम्लु* से विभेद किया गया है। 'मलिम्लु' साधारण चोर अथवा घरों में चोरी करनेवाले होते थे जब कि 'स्तेन' और 'तस्कर' डकैती करते थे; अथवा जैसा कि ऋग्वेद[5] में है, यह ऐसे व्यक्ति होते थे जो जङ्गलों में छिपे रहते थे तथा अपने जीवन को सङ्कट में डाल रखते थे (तनू-त्यजा वनर्-गू)। फिर भी, ऋग्वेद[6] के एक अन्य स्थल पर ऐसा कहा गया है कि तस्कर और स्तेन को देख कर कुत्ते भूँकते हैं। अतः यह घरों में चोरी करने के इनके प्रयास का स्पष्ट संकेत करता है। चोर रात्रि के समय निकलते थे[7], और उन पथों से परिचित[8] रहते थे जिन पर यह लोगों पर आक्रमण करते थे। ऋग्वेद[9] के एक स्थल पर रस्सियों के व्यवहार का उल्लेख है, किन्तु इससे पकड़े गये चोरों को बाँधा जाता था अथवा लुटे हुये व्यक्ति को, यह स्पष्ट नहीं है।[10] अथर्ववेद[11] स्तेन और तस्कर का मवेशियों तथा अश्वों के चोरों के रूप में उल्लेख करता है।[12]

तायु चोरों का दूसरा नाम था, किन्तु यह कदाचित् मार्ग-तस्करों की

[1] १. १९१, ५; ६. २७, ३; ७. ५५, ३; ८. २९, ६।
[2] अथर्ववेद ४. ३, २; १९. ४७, ७; ५०, ५; वाजसनेयि संहिता ११. ७७. ७८; १२. ६२; १६. २१, इत्यादि; निरुक्त ३. १४।
[3] ऋग्वेद ७. ५५, ३; अथर्ववेद १९. ४७, ७; ५०, ५; वाजसनेयि संहिता ११. ७९; १६. २१ इत्यादि।
[4] ११. ७९ (यहाँ 'मलिम्लु' को 'जनेषु' अर्थात् 'मनुष्यों के बीच', कहा गया है; और अन्य को 'वने' अर्थात् वन में रहने वाला)। तु० की० 'मलिम्लु' के लिये, तैत्तिरीय संहिता ६. ३, २, ६; अथर्ववेद १९. ४९, १०।
[5] १०. ४, ६।
[6] ७. ५५, ३।
[7] ऋग्वेद १. १९१, ५।
[8] ऋग्वेद ८. २९, ६।
[9] १०. ४, ६।
[10] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १७८, नोट।
[11] १९. ५०, ५। तु० की० ऋग्वेद १०. ९७, १० (स्तेन)।
[12] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ९८४।

अपेक्षा कम विशिष्ट और अधिक घरेलू चोरों के लिये ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि, यद्यपि मवेशियों[13] के चोरों के रूप में इसका उल्लेख है, तथापि इसे वस्त्र चुरानेवाला (वस्त्र-मथि)[14] और ऋण-ग्रस्त[15] बताया गया है। एक स्थल पर उषा (जिसे अन्यत्र 'यावयद्-द्वेषस्', अर्थात् आक्रामकों को भगाने वाला, और 'ऋत-पा' अर्थात् 'नियमों का रक्षक' भी कहा गया है) के आगमन के साथ तायुओं के भी उसी प्रकार अन्तर्ध्यान हो जाने का उल्लेख है जिस प्रकार आकाश के तारे (नक्षत्र)।[16]

वाजसनेयि संहिता[17] के शतरुद्रिय महामन्त्र में 'रुद्र' को 'वध करनेवालों' (आ-व्याधिन्), चोरों (स्तेन), डाकुओं (तस्कर), जेबकतरों (स्तायु), चुरानेवालों (मुष्णन्त्) और काटनेवालों (वि-कृन्त) का अधिपति कहा गया है; और प्रत्यक्षतः डाकुओं के 'गृत्स' तथा 'गण' और 'व्रात' का भी उल्लेख है।[18] अतः ऋग्वेद[19] में गृह अथवा मार्ग में व्यक्ति की सुरक्षा के लिये अनेक स्तुतियों का होना, और अथर्ववेद में चोरों तथा डाकुओं के आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिये रात्रि को ही अनेक सूक्तों का समर्पित किया जाना[20] आश्चर्यजनक बात नहीं है।

पिशल[21] यह मत व्यक्त करते हैं कि ऋग्वेद[22] के एक स्थल पर *वसिष्ठ* को एक चोरी करनेवाले के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु आप यह भी स्वीकार करते हैं कि यतः वसिष्ठ अपने पिता वरुण के गृह पर आक्रमण करते हैं, अतः वह केवल वही प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं जो वह अपना

[13] ऋग्वेद १. ६५, १; ७. ८६, ५।
[14] ऋग्वेद ४. ३८, ५।
[15] ऋग्वेद ६. १२, ५। इसमें सन्देह नहीं कि यह चोरी ऋण-ग्रस्त होने के फल-स्वरूप की गई है क्योंकि ऋण-ग्रस्त होने पर हर प्रकार की स्वतंत्रता समाप्त हो सकती है।
[16] ऋग्वेद १. ५०, २। तु० की० मैक-डौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ४७।
[17] १६. २०, २१। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ४, १; काठक संहिता १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ४।
[18] १६. २५।
[19] १. १२९, ९; २. २३, १६; ६. २४, १०; ४१, ५; ५१, १५; १०. ६३,१६।
[20] अथर्ववेद १९. ४७-५०।
[21] वेदिशे स्टूडियन २, ५५, ५६। १, १०६ से इसकी विपरीतता देखिये।
[22] ऋग्वेद ७. ५५।

समझते हैं। किन्तु इस सूक्त की ऐसी व्याख्या निश्चित नहीं है।[23]

ऋग्वेद[24] के एक स्थल पर, पञ्जाब के 'खोजियों' की भाँति, मवेशियों का पीछा करनेवाले व्यवसायियों का सन्दर्भ होने के रूप में सायण द्वारा प्रस्तुत व्याख्या बहुत सम्भव प्रतीत होती है।[25]

चोरों को दण्डित करने का कार्य प्रमुखतः लुटे हुये व्यक्ति की इच्छा पर ही छोड़ दिया गया प्रतीत होता है। चोरों को खम्भों[26] से बाँधने की प्रथा का स्पष्ट संकेत है। किन्तु बाद में—जैसा कि पहले भी सम्भव रहा हो सकता है, और जो दूसरे देशों में भी था—इन्हें अधिक कड़ा दण्ड, अथवा राजा द्वारा मृत्यु-दण्ड भी दिया जा सकता था।[27] वैदिक साहित्य में दण्डित करने की विधि के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। अग्नि-यातना अथर्ववेद[28] में ज्ञात नहीं है, और छान्दोग्य उपनिषद्[29] में उपलब्ध 'यातना'

[23] तु० की० ऑफरेख्त : इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३३७ और बाद; लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३७०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३०८; बृहद्देवता ७. ११ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।

[24] ६. ५४, १।

[25] त्सिमर : उ० पु० १८२, १८३, जहाँ इलियट : मेमॉयर्स १, २७६ का उद्धरण है; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे १२३।

[26] तु० की० ऋग्वेद १. २४, १३. १५; ७. ८६, ५; अथर्ववेद ६. ६३, ३ = ८४, ४; ११५, २. ३; १२१; १९. ४७, ९; ५०, १, इन सभी स्थलों का त्सिमर, १८१, १८२ द्वारा इस प्रथा की पुष्टि में उद्धरण दिया गया है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि केवल ऋग्वेद ७. ८६, ५, ही निर्णायक प्रमाण नहीं माना जा सकता, यद्यपि अथर्ववेद १९. ४७, ९; ५०, १ (द्रुपदे आहन्) का सम्भवतः यही अर्थ हो सकता है। व्हिट्ने अथर्ववेद के अनुवाद, ९७६, ९८३ में इस स्थल का 'चोर को जाल में आबद्ध कर देने के रूप में' अनुवाद करते हैं, जब कि पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १, १०६ में ऋग्वेद ७. ८६, ५ को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि 'मवेशी-चोर (पशु-तृप्) जिस बछड़े को चुराना चाहता था उसकी रस्सी खोलकर ले जाता था। ऋग्वेद १०. ४, ६, के लिये ऊपर नोट १० देखिये। त्सिमर १८२ नोट, में उद्धृत जर्मन और स्लेवोनिक समानान्तर बातें इनके मत की पुष्टि करती हैं। ऋण के सम्बन्ध में एक समान दण्ड के लिये भी इसे ही देखिये।

[27] गौतम धर्म सूत्र १२. ४३-४५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १. ९, २५, ४. ५; जॉली : उ० पु० १२४।

[28] अथर्ववेद २. १२, को, डी० इन्ड०, ९ और बाद में ग्लेजिनवीट इसी प्रकार व्याख्या करते हैं; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १६४ और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ४४५; त्सिमर : १८३ और बाद; किन्तु देखिये ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३३० और बाद; अथर्ववेद के सूक्त २९४-२९६; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५४; ग्रिल : हुन्डर्ट लीडर २, ४७, ८५; जॉली : उ० पु० १४६।

[29] ६. १६; जॉली : उ० स्था०।

चोरों को ही दी गई नहीं कही जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि लुटा हुआ व्यक्ति यदि प्राप्त कर सकता था तो, अपना चोरी गया सामान वापस ले लेता था। चोरी गया समान यदि वास्तविक चोर के पास से दूसरे व्यक्ति के पास चला गया हो तो उस दशा में क्या होता था इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

तस्तुव, अथवा *तस्तुव* जैसा कि पैप्पलाद शाखा में है, सर्प-विष के विरुद्ध प्रयुक्त एक औषधि का नाम है, और *ताबुव* के साथ-साथ इसका अथर्ववेद[1] में उल्लेख है।

[1] ५. १३, १०. ११। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४२८; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २४४।

ताजद्-भङ्ग (सरलता से भग्न हो जानेवाला) अथर्ववेद[1] में प्रत्यक्षतः किसी वृक्ष अथवा पौधे का नाम है। कौशिक सूत्र[2] इसे एक यौगिक शब्द मानता है, और उसके भाष्यकार इसे रेण (एरण्ड) का पौधा निश्चित करते हैं। फिर भी, ह्विट्ने[3] इसे दो अलग-अलग शब्द मानते हैं और यह विचार व्यक्त करते हैं कि इस स्थल का अर्थ 'वे अकस्मात (ताजत्) पटसन (भङ्ग) की भाँति टूट जाँय' है।

[1] ८. ८, ३ (एक युद्ध-सूक्त)।
[2] १६. १४। तु० की० ब्लूमफील्ड का संस्करण xliv; अथर्ववेद के सूक्त ५८३, ५८४; कैलेण्ड : आ० त्सा० ३५; ह्विट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, ५०२ में लैनमैन; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ७२।
[3] उ० पु० ५०४।

ताण्ड किसी ऋषि का नाम प्रतीत होता है जिसकी परम्परा के ताण्ड ब्राह्मण का लाट्यायन श्रौत सूत्र[1] में उल्लेख है।

[1] ७. १०, १७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४९।

ताण्ड-विन्द अथवा *ताण्ड-विन्दव* एक गुरु का नाम है जिसका शाङ्खायन आरण्यक[1] में उल्लेख है।

[1] ८. १०। पाण्डुलिपियों में इस नाम के रूप में अन्तर है।

ताण्डि—सामविधान ब्राह्मण[1] के अन्त के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में यह *बादरायण* के एक शिष्य के नाम के रूप में आता है।

[1] देखिये कोनो का अनुवाद, ८०, नोट २।

ताण्ड्य, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक गुरु का नाम है जिसका 'अग्निचिति' से सम्बन्धित किसी विषय पर उद्धरण दिया गया है। वंश ब्राह्मण[2] में भी इसका उल्लेख है। सामवेद का ताण्ड्य महाब्राह्मण अथवा पञ्चविंश ब्राह्मण[3] ताण्डिनों की परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

[1] ६. १, २, २५। तु० की० लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, १४०।
[2] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३, ३८४।
[3] बिबल्योथेका इण्डिका सिरीज़ में सम्पादित, १८६९-७४। देखिये, वेबर : इन्डियन लिटरेचर ६६ और बाद, ७४, १२३; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर २०३, २१०; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, २३ और बाद।

तात—पिता द्वारा (तु० की० *तत*) पुत्र को पुकारने के लिये वात्सल्यपूर्ण यह सम्बोधन केवल ब्राह्मणों[1] में ही मिलता है। किन्तु 'तत' के साथ सन्दिग्धता के कारण 'पिता' के आशय में यह इतना पहले तक मिलता है जितना ऐतरेय आरण्यक।[2]

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १४, ४; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, ६; छान्दोग्य उपनिषद् ४. ४, २।
[2] १. ३, ३ जहाँ 'तत' और 'तात' दोनों ही पुत्र द्वारा पिता को सम्बोधित करने के विभिन्न रूप माने गये हैं। लिटिल : ग्रामॅटिकल इंन्डेक्स, ७५ में प्रमुखतः 'तात' को 'पिता' के अर्थ में ग्रहण किया गया है, किन्तु यह असम्भाव्य प्रतीत होता है।
तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ४४९, ४५४।

तादुरी का एक मेंढकी (*माण्डूकी*) के साथ-साथ अथर्ववेद[1] के एक मन्त्र में उल्लेख है। इससे इसी प्रकार के किसी पशु का अर्थ हो सकता है[2]। किन्तु रौथ[3] निरुक्त[4] के भाष्यकार दुर्ग के साथ सहमत होते हुये इस शब्द को मेंढक का वर्णन करने वाला एक विशेषण मानते हैं।

[1] ४. १५, १४।
[2] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १७५।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० जहाँ यह इसके 'तादुरी' होने का मत व्यक्त करते हैं जो कि उस 'तद्' धातु से बना है जिसमें पानी में छपका मारने का आशय निहित है।
[4] ९. ७।

१. *तान्व*—ऋग्वेद[1] के अस्पष्ट स्थल पर इसका ऐसा 'वैध पुत्र' अर्थ प्रतीत होता है जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह अपने पिता के उत्तराधिकार (रिक्थ) को अपनी बहन (जामि) के लिये नहीं छोड़ता।

[1] ३. ३१, २

इसका ठीक-ठीक अर्थ सम्भवतः निश्चित ही नहीं किया जा सकता,[२] किन्तु इस स्थल द्वारा ऐसा आशय प्रस्तुत होता है और जो निःसन्देह सत्य भी है, कि पैतृक सम्पत्ति में पुत्री का कोई भी अधिकार नहीं था। पुत्री यदि अविवाहित रह जाती थी तो उसका भाई ही जीवन पर्यन्त उसका भरण-पोषण करता था, किन्तु सम्पत्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अधिकार नहीं रहता था।[३] (देखिये *दाय*)।

[२] तु० की० ग्रिफिथः ऋग्वेद के सूक्त १, ३४८; औल्डेनवर्गः ऋग्वेद नोटेन, १, २४०; गेल्डनरः वेदिशे स्टूडियन, ३, ३४।
[३] तु० की० जॉलीः रेख्त उन्ट सिट्टे, ८७, पंजाब के आधुनिक कानून के लिये।

२. *तान्व* ऋग्वेद[१] के एक मन्त्र में कोई पैतृक नाम ('तन्व' का वंशज) प्रतीत होता है। लुडविग[२] का विचार है कि यह उसी *दुःशीम* का पैतृक नाम है जिसका पिछले मन्त्र में उल्लेख है, किन्तु यह अनिश्चित है।

[१] १०. ९३, १५
[२] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६६।

१. *तापस* (तपस्वी)—यह उपनिषदों[१] के पूर्व वैदिक साहित्य में नहीं मिलता।

[१] बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, २२ तु० की० फिक : डी० ग्लो० ४०

२. *तापस*—यह दत्त का नाम है जो कि पञ्चविंश ब्राह्मण (२५. १५) में वर्णित सर्पोत्सव के समय होतृ पुरोहित था।

तावुव अथर्ववेद[१] में सर्प-विष के विरुद्ध एक उपचार का नाम है। पैप्पलाद शाखा में इसके स्थान पर 'तावुच' है। वेबर[२] का विचार है कि इसका मूल रूप 'स्था' धात से व्युत्पन्न 'ताथुव' था, और इसका अर्थ 'रोकना'; किन्तु यह कदाचित ही सम्भव है।[३]

[१] ५. १३, १०।
[२] प्रो० अ० १८९६, ६८१।
[३] वार्थः रे० रि० ३९, २६। तु० की० व्हिट्नेः अथर्ववेद का अनुवाद, २४४; ब्लूमफील्डः अथर्ववेद के सूक्त ४२८।

तायादर—*तयादर* की सम्पत्ति (अथर्ववेद ६. ७२, २)

तायु, (चोर), का ऋग्वेद[१] में अनेक वार उल्लेख है। देखिये *तस्कर*।

[१] १. ५०, २; ६५, १; ४. ३८, ५; ५, १५, ५; ५२, १२; ६. १२, ५; ७. ८६, ५ (पशु-तृप्, अर्थात 'मवेशियों का चोर', पिशलः वेदिशे स्टूडियन, १, १०६)।

तारका तारों का द्योतक है और अथर्ववेद[1] में अनेक वार मिलता है। इसका पुलिङ्ग रूप 'तारक' तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में आता है।

[1] २. ८, १; ३. ७, ४; ६. १२१, ३; १९. ४९, ८।
[2] १. ५, २, ५।

तारुक्ष्य—ऐतरेय[1] और शाङ्खायन आरण्यकों[2] में यह एक गुरु का नाम है। प्रथम स्थल पर 'तार्क्ष्य' इसका विभेदात्मक पाठ है, और द्वितीय स्थल पर 'तार्क्ष्य' पाठ तो है किन्तु वह सम्भवतः ऋग्वेद के एक सूक्त[3] के प्रख्यात प्रणेता 'तार्क्ष्य' के साथ सन्दिग्धता उत्पन्न हो जाने के कारण हुआ है।

[1] ३. १, ६।
[2] ७. १९।
[3] ऐतरेय आरण्यक १. ५, २, कीथ के नोट सहित; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ११, १४, २८; १२. ११, १२; आश्वलायन श्रौत सूत्र ९. १।

तार्क्ष्य का ऋग्वेद[1] में एक दिव्य अश्व के रूप में उल्लेख है, और प्रत्यक्षतः सूर्य की ही अश्व के रूप में इसकी कल्पना की गई है।[2] किन्तु, फॉय[3] इस नाम के आधार पर निर्णय करते हुये, जो *त्रसदस्यु* के एक वंशज के रूप में ऋग्वेद[4] और उसके वाद से परिचित *तृक्षि* का नाम प्रतीत होता है, यह विचार व्यक्त करते हैं कि इससे ऐसे वास्तविक अश्व का ही अर्थ है जो 'तृक्षि' की सम्पत्ति था; किन्तु यह वहुत सम्भव नहीं है।[5] *तारुक्ष्य* भी देखिये।

[1] १. ८९, ६; १०. १७८।
[2] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १४९।
[3] कुन : त्सी०, ११, ३६६, ३६७।
[4] ८. २२, ७।
[5] खिल २. ४, १ में तार्क्ष्य को एक पक्षी (वायस) के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सूर्य का एक प्रतीक भी है। वाजसनेयि संहिता १५. १८ में इसका 'अरिष्टनेमि' के साथ उल्लेख है जो कि मूलतः इसकी एक व्यक्ति के रूप में उपाधि है (ऋग्वेद १. ८९, ६; १०. १७८, १); और शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, १३ में यह पक्षियों के राजा 'वैपश्यत' (आश्वलायन श्रौतसूत्र १०. ७ में 'वैपश्चित') के रूप में आता है तु० की० एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४४, ३६९।

ताप्यं अथर्ववेद[1] और वाद[2] में किसी ऐसे पदार्थ के वने परिधान का द्योतक है जिसकी प्रकृति अनिश्चित है। कात्यायन श्रौत सूत्र और शतपथ

[1] १८. ४, ३१।
[2] तैत्तिरीय संहिता २.४, ११, ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ७, १; ७, ६, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, २०; कात्यायन श्रौत सूत्र १५. ५, ७ और वाद; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १२, १९।

ब्राह्मण[3] के भाष्यकारों का यह मत है कि इससे एक मलमल का परिधान, या तीन बार घी में भीगा हुआ, या 'तृपा' अथवा 'त्रिपर्ण' पौधे से बना हुआ परिधान, अर्थ है; परन्तु यहाँ यह भी सन्दिग्ध है कि स्वयं उक्त ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रणेता को ही इसका आशय ज्ञात था या नहीं। गोल्डस्टूकर[4] ने इस शब्द का 'रेशमी वस्त्र' अनुवाद किया है, और एग्लिङ्ग[5] भी इसे ही स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं।

[3] ५. ३, ५, २०। तु० की० कात्यायन, उ० स्था०; अथर्ववेद, उ० स्था० पर सायण; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ८७९।
[4] डिक्शनरी, व० स्था० पर 'अभिषेचनीय'
[5] से० बु० ई०, ४१, ८५, नोट।

तार्ष्टाघ एक प्रकार का वृक्ष है जिसका कौशिक सूत्र[1] में उल्लेख है, जब कि इससे बना विशेषण रूप 'तार्ष्टाघी' ('तार्ष्टाघ' वृक्ष से उत्पन्न) अथर्ववेद[2] में मिलता है। वेबर[3] का विचार है कि इससे 'सर्षप' या सरसों के पौधे का अर्थ है।

[1] २५. २३।
[2] ५. २९, १५। तु० की० अपने अथर्ववेद के अनुवाद में ह्विट्ने की टिप्पणी।
[3] इन्डिशे स्टूडियन १८, २८०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६२।

तितउ[1] ऋग्वेद[2] में केवल एक बार मिलता है और 'सूप' या सम्भवतः 'ओसाने के लिये प्रयुक्त उस पंखे' का द्योतक है जिसका अन्न (सक्तु) को परिष्कृत करने के लिये प्रयोग होता था।

[1] इस शब्द के विचित्र रूप पर टिप्पणी के लिये तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, २०, ३।
[2] १०. ७१, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३८।

तित्तिर, तित्तिरि—यह बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'तीतर' पक्षी का नाम है, जो कदाचित ध्वन्यानुकरणात्मक आधार पर निर्मित हुआ है। इस पक्षी के पंखों को विभिन्न रूपों वाला (बहु-रूप) कहा गया है और इसे बहुधा *कपिञ्जल* और *कलविङ्क* के साथ सम्बद्ध किया गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, २; ५. ५, १६, १; मैत्रायणी संहिता २. ४, १; काठक संहिता १२. १०; वाजसनेयि संहिता २४. ३०. ३६। 'तित्तिर' रूप मैत्रायणी संहिता ३. १४, १ में आता है।
[2] शतपथ ब्राह्मण १.६, ३, ५; ५.५,४, ६; जैमनीय ब्राह्मण २. १५४, ६ (ऑर्टेल : ट्रा० सा०, १५, १८१)। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९१; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ २५१।

तिथि—एक चान्द्र-दिवस के नाम के रूप में, जो कि सत्ताइस दिन से अधिक अवधि के चान्द्र-मास का तीसवाँ भाग होता है, यह केवल बाद के सूत्रों[1] में ही मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में, जिनमें दिन मात्र की ही अवधि प्राकृतिक मानी गई है[2], यह नाम सर्वथा अज्ञात है। देखिये *मास*।

[1] गोभिल गृह्य सूत्र १. १, १३; २. ८, १२. २०; शाङ्खायन गृह्यसूत्र १. २५; ५. २ इत्यादि।

[2] थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक, ७, ८।

तिमिर्घ दौरे-श्रुत ('दूरेश्रुत' का वंशज) का पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्प-यज्ञ के समय अग्नीध् (अग्नि प्रज्वलित करनेवाले) पुरोहित के रूप में उल्लेख है।

[1] २५. १५। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५।

तिरश्च—अथर्ववेद[1] की कुछ पाण्डुलिपियों में 'व्रात्य' के सिंहासन (*आसन्दी*) के वर्णन में 'बेंड़ी लकड़ियों' के अर्थ में इसे इस प्रकार पढ़ा गया है। किन्तु इसका 'तिरश्च्ये' पाठ होना चाहिये जो कि विशेषणात्मक है और इसी समान आशय में प्रयुक्त हुआ है।

[1] १५. ३, ५। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ७७६; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक १९, नोट ३।

तिरश्च-राजि[1], *तिरश्चि-राजि*[2], *तिरश्चीन-राजि*[3]—यह तीनों ही एक 'सर्प' के नाम (शब्दार्थ : बेंड़ी धारियों वाला) के विभिन्न रूप हैं और बाद की संहिताओं में मिलते हैं।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १०, २; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९४, ९५, अथर्ववेद से यही रूप प्रस्तुत करते हैं, परन्तु मूल पाठ और रौथ (सेन्ट पीटर्स कोश, व० स्था०) इसे 'तिरश्चि-राजि' पढ़ते हैं।

[2] अथर्ववेद ३. २७, २; ६. ५६, २; ७. ५६, १; १०. ४, १३; १२. ३, ५६।

[3] मैत्रायणी संहिता २. १३, २१; शाङ्खायन आरण्यक १२. २७।

तु० की ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४८८, ५५३; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ६८, नोट २; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २९५–२९७।

तिरश्ची—अनुक्रमणी के अनुसार यह ऋग्वेद के उस सूक्त[1] का रचयिता

[1] ८. ९५, ४।

है जिसमें यह इन्द्र से अपनी विनती सुनने की प्रार्थना करता है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] इस नाम के सम्बन्ध में इसी दृष्टिकोण को ग्रहण करता हुआ एक 'तिरश्ची आङ्गिरस' का उल्लेख करता है। किन्तु रौथ[3] का विचार है कि यह शब्द व्यक्तिवाचक नाम है ही नहीं।

[2] १२. ६, १२।

[3] त्सी० गे० ४८, ११५। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, १८७; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ९०; मैकडोनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० २७३।

तिरश्चीन-वंश (बेंड़ी-धरन) का छान्दोग्य उपनिषद्[1] में 'मधु-मक्खी के छत्ते' का द्योतक होने के रूप में प्रयोग किया गया है। *वंश* भी देखिये।

[1] ३. १, १। तु० की० लिटिल : ग्रामेटिकल इण्डेक्स ७५

तिरिन्दिर का, किसी गायक को उपहारों का दान देनेवाले के रूप में, *पर्शु* के साथ-साथ, ऋग्वेद[1] की एक दान-स्तुति में उल्लेख है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में इस वक्तव्य को इस कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि 'कण्व वत्स' ने 'तिरिन्दिर पारशव्य' से उपहार प्राप्त किये थे। इस प्रकार यहाँ 'तिरिन्दिर' तथा 'पर्शु' को एक ही और समान व्यक्ति माना गया प्रतीत होता है। ऋग्वेद के उक्त स्थल पर लुडविग[3] इस बात का प्रमाण देखते हैं कि यदुओं ने तिरिन्दिर पर विजय प्राप्त करके विजित धन का कुछ अंश गायकों को दान-स्वरूप दे दिया था; किन्तु इस व्याख्या का औचित्य सिद्ध करने के लिये कोई भी प्रमाण नहीं है, और त्सिमर[4] तो इसे सर्वथा असम्भव बताते हैं। यहाँ निश्चित रूप से तिरिन्दिर और पर्शु द्वारा ही यदु राजाओं का अर्थ होना चाहिये, यद्यपि वेबर[5] का विचार है कि वास्तव में गायक-गण ही यदु थे, न कि यह राजा। इन राजाओं को वेबर ईरानी मानते हैं (तु० की० 'तिरी बाज़ोस' Τιρίβαζος और देखिये *पर्शु*) और यह मत व्यक्त करते हैं कि इसके द्वारा भारत और इरान के बीच सतत घनिष्ट

[1] ८. ६, ४६–४८।

[2] १६. ११. २०।

[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६०, १६१; ५, १४२।

[4] आल्टिन्डिशे लेबेन १३६, १३७।

[5] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३५६, नोट; इन्डियन लिटरेचर ३, ४; ए० रि० ३७, ३८।

सम्बन्ध का प्रमाण मिलता है। यह सर्वथा सम्भव तो है, किन्तु इसके लिये प्रमाण अपर्याप्त है।[६]

[६] बोघाज़-कियोई में प्राप्त ईरानी नामों के सम्बन्ध में आधुनिक वाद-विवाद के लिए तु० की० याकोवी : ज० ए० सो० १९०९, ७२१, और बाद; औल्डेनबर्ग : १०९५-११००; कीथ : वही, ११००-११०६; सेस : वही, ११०६, ११०७; केनेडी : वही, ११०७-१११९। हिले-ब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ९४ और बाद, जो आर्कोसिया में, जहाँ आप ऋग्वेद के अंशों का सृजन हुआ भी मानते हैं, भारतीयों और ईरानियों के आरम्भिक सम्पर्क के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, १६, २७७, का यह विचार है कि ईरानियों से सम्पर्क के चिह्न बहुत बाद के ही हैं; आर्नोल्ड : वही, १८, २०५ और बाद, में इस मत का विरोध करते हैं।

तिरीट[१] एक दैत्य के लिये प्रयुक्त विशेषणात्मक 'तिरीटिन्' रूप में अथर्ववेद[२] में मिलता है, और सम्भवतः इसका 'तिअर द्वारा अलंकृत' अर्थ है।

[१] बाद के देशीय कोशकारों के अनुसार इसका अर्थ 'सर का परिधान' अथवा 'किरीट' है।

[२] ८. ६, ७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६५; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ४९५।

तिर्य अथर्ववेद[१] में करम्भ (उष्णिका) के एक विशेषण के रूप में आता है। जैसा कि रौथ[२] और ह्विट्ने[३] ने इसका अनुवाद किया है, यह सम्भवतः 'तिल्य' (तिल का बना हुआ) के समतुल्य है; किन्तु रौथ[४] ने राज-नैघण्टु में 'तिरिय' को चावल का एक प्रकार माना है।

[१] ४. ७, ३।

[२] सेन्ट पीर्सबर्ग कोश, व० स्था।

[३] अथर्ववेद का अनुवाद १५५।

[४] देखिये, ह्विट्ने, उ० स्था०, पर लैनमैन की टिप्पणियों के साथ। ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३७७, में इस विशेषण का 'विषम्' के साथ अन्वय करते हैं, और इसका अनुवाद 'वह विष जो अनुप्रस्थ दिशा में जाता है' करते है (तु० की० तिर्यञ्च्)। ग्रिल : हुन्डर्ट लीडर, २, १२१, इसे 'अतिरिय' के रूप में संशोधित कर लेते हैं।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २७०; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०१।

तिर्यञ्च् आङ्गिरस का पञ्चविंश ब्राह्मण[१] में सामनों के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है। निसन्देह यह एक कृत्रिम नाम है।

[१] १२. ६, १२। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १६०।

तिल, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में तिल के पौधे और विशेषतः उसके दानों का द्योतक है जिससे एक उत्कृष्ट तेल (*तैल*) निकाला जाता था। इसका *माष* (उर्द) के सम्बन्ध में भी अक्सर[3] उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[4] में उर्द और तिल को हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में उगनेवाला बताया गया है। तिल के पौधे का काण्ड (तिल-पिञ्जी[5], तिल्-पिञ्ज[6]) जलाने के ईंधन के रूप में प्रयुक्त होता था और इसके दानें को खाने के लिये उबालकर 'तिलौदन'[7] बनाया जाता था।

[1] २. ८, ३; ६. १४०, ७२; १८. ३, ६९; ४, ३२।

[2] तैत्तिरीय संहिता ७. २, १०, २; मैत्रायणी संहिता ४. ३, २; वाजसनेयि संहिता १८. १२; शतपथ ब्राह्मण ९. १, १, ३, इत्यादि।

[3] अथर्ववेद ६. १४०, २; वाजसनेयि संहिता, उ० स्था०; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, २२; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १०, ६, इत्यादि।

[4] उ० स्था०।

[5] अथर्ववेद २. ८, ३।

[6] अथर्ववेद १२. २, ५४।

[7] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १६; शाङ्खायन आरण्यक १२. ८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४०।

तिल्वक का शतपथ ब्राह्मण[1] में एक वृक्ष (Symplocos racemosa) के रूप में उल्लेख है, जिसके निकट क़ब्र बनाना अशुभ माना जाता था। इसका विशेषणात्मक रूप 'तैल्वक' ('तिल्वक' की लकड़ी का बना हुआ) मैत्रायणी संहिता[2] में मिलता है और षड्विंश ब्राह्मण[3] में 'यूप' (यज्ञस्तम्भ) का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[1] १३. ८, १, १६। [2] ३. १, ९। [3] ३. ८।

तिष्य ऋग्वेद[1] में दो बार प्रत्यक्षतः किसी तारे[2] के नाम के रूप में आता है, यद्यपि सायण इसे सूर्य के अर्थ में ग्रहण करते हैं। यह निःसन्देह अवेस्ता के 'तिष्ट्र्य' के ही समतुल्य है। बाद में यह एक नक्षत्र का नाम है। देखिये *नक्षत्र*।

[1] ५. ५४, १३; १०. ६४, ८ (एक लक्षर के रूप में 'कृशानु' के साथ)।

[2] वेबर : नक्षत्र, २, २९०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३५५; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३३१; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ७७, नोट १।

तिसृ-धन्व, (तीन बाणों सहित एक धनुष), का तैत्तिरीय संहिता[1] और ब्राह्मणों[2] में यज्ञ के समय पुरोहित को दिये जाने वाले एक उपहार के रूप में उल्लेख है।

[1] १. ८, १९, १।

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ३, ४; २. ७, ९, २; शतपथ ब्राह्मण ११. १, ५, १०; १४, १, १, ७।

तुग्र अश्विनों के आश्रित एक भुज्यु नामक व्यक्ति के पिता के नाम के रूप में ऋग्वेद[1] में आता है और इसी कारण भुज्यु को 'तुग्र्य'[2] अथवा 'तौग्र्य'[3] कहा गया है। ऋग्वेद[4] के अन्य स्थलों पर इन्द्र के शत्रु के रूप में एक भिन्न 'तुग्र' का ही आशय प्रतीत होता है।

[1] १. ११६, ३; ११७, १४; ६. ६२, ६।
[2] ऋग्वेद ८. ३, २३; ७४, १४।
[3] ऋग्वेद १. ११७, १५; ११८, ६; १८२, ५. ६; ८. ५, २२; १०. ३९, ४।
[4] ६. २०, ८; २६, ४; १०. ४९, ४। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८, ३२९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५७।

तुग्र्य ऋग्वेद में भुज्यु[1] के पैतृक नाम के रूप में आता है। किन्तु यह एक अन्य स्थल[2] पर भी मिलता है जहाँ भुज्यु का कोई भी सन्दर्भ प्रतीत नहीं होता और इसका 'तुग्र के गृह का एक व्यक्ति' अर्थ हो सकता है। ऋग्वेद[3] में सप्तमी विभक्ति के एक स्त्रीलिङ्ग बहुवचन प्रयोग में भी यही आशय निहित प्रतीत होता है जहाँ ('विक्षु' की पूर्ति करते हुये) इसका अर्थ 'तुग्रियों के बीच' होना चाहिये। यही व्याख्या इन्द्र[4] और सोम[5] की उपाधि 'तुग्र्या-वृध्' (तुग्रियों के बीच आनन्द मनाते हुये) के लिये भी उपयुक्त हो सकती है।

[1] जिसे ऋग्वेद ६. ६२, ६ में 'तुग्रस्य-सूनु' कहा गया है। तु० की० 'वृद्धि' के विना ही, पैतृक नाम के आशय में 'पज्रिय' और कदाचित् 'कृष्णिय'।
[2] ८. ३२, २०।
[3] १. ३३, १५। तु० की० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ४७।
[4] ८. ४५, २९; ९९, ७।
[5] ८. १, १५, जहाँ रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, इससे इन्द्र का सन्दर्भ प्राप्त करने के लिये परिवर्तन कर देने का विचार व्यक्त करते हैं। तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेवेन १२८।

तुच् ऋग्वेद[1] में कभी-कभी 'बालकों' का द्योतक है। इसी आशय में तुज् अपेक्षाकृत अधिक बार आता है।[2] तु० की० *तनय* और *तोक*।

[1] ८. १८, १८; २७, १४; ६. ४८, ९।
[2] ३. ४५, ४; ४. १, ३; ५. ४१, ९; ८. ४, १५।

तुजि ऋग्वेद[1] में इन्द्र के एक आश्रित का नाम है, जिसे एक अन्य सूक्त[2] में 'तूतुजि' कहा गया प्रतीत होता है।

[1] ६. २६, ४; १०, ४९, ४।
[2] ६. २०, ८। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५६; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८।

तुमिञ्ज औपोदिति का यज्ञसत्र के समय होतृ पुरोहित के रूप में, तथा *सुश्रवस्* के साथ विवाद-रत होने के रूप में तैत्तिरीय संहिता (१.७, २, १) में उल्लेख है।

तुर कावषेय का शतपथ ब्राह्मण[1] के दसवें काण्ड के अन्त के एक वंश में इसी काण्ड के सिद्धान्तों के स्रोत के रूप में, और गुरुओं के उत्तराधिकार क्रम में *यज्ञवचस्* और *कुश्रि* द्वारा *शाण्डिल्य* से पृथक कर दिये गये होने के रूप में, उल्लेख है। *कारोती* में अग्नि-वेदिका की स्थापना करने वाले के रूप में इसी ब्राह्मण[2] में शाण्डिल्य ने इसका उद्धरण दिया है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में यह *जनमेजय पारिक्षित* के, जिनका राज्याभिषेक इसने ही सम्पन्न किया था, एक पुरोहित के रूप में आता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] और खिल[5] में यह एक प्राचीन ऋषि के रूप में मिलता है। निःसन्देह उपयुक्ततः ही, औल्डेनबर्ग[6] इसे वैदिक काल के अन्तिम चरण में वर्तमान मानते हैं। कदाचित[7] यह उस 'देव-मुनि' के ही समतुल्य है जिसका पञ्चविंश ब्राह्मण[8] में उल्लेख है।

[1] १०. ६, ५, ९।
[2] ९. ५, २, १५।
[3] ४, २७; ७. ३४; ८. २१।
[4] ६. ५, ४ (काण्व शाखा में, माध्यन्दिन में नहीं)।
[5] १. ९, ६; शेफ्टेलोवित्स: डी० ऋ० ६५, १९०।
[6] त्सी० गे० ४२, २३९।
[7] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, में इसी प्रकार है।
[8] २५. १४, ५। देखिये हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ६८।
तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, २०३, नोट ; इन्डियन लिटरेचर १२०, १३१; एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४३, xviii।

तुर-श्रवस् का, अपने दो सामन्तों द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करने वाले एक द्रष्टा के नाम के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है। प्रतिदान-स्वरूप इन्द्र इसे *यमुना* पर स्थित *पारावतों* का उपहार देते हुये प्रतीत होते हैं।

[1] ९. ४, १०। तु० की० हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ५३; मैक्समूलर: से० बु० ई० ३२, ३१६।

तुर्य-वाह्, पुल्लिङ्ग; *तुर्यौही*, स्त्रीलिङ्ग, (एक चारवर्षीय बैल या गाय) का बाद की संहिताओं[1] में उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ३, २; मैत्रायणी संहिता ३. ११, ११; १३, १७; वाजसनेयि संहिता १४. १०; १८. २६, इत्यादि।

तुर्व ऋग्वेद (१०,६२, १०) में केवल एक वार आता है, और यह निःसन्देह *तुर्वश* लोगों अथवा उनके राजा का नाम है।

तुर्वश ऋग्वेद[1] में अक्सर ही एक व्यक्ति अथवा जाति के लोगों के नाम के रूप में आता है, जिसका सामान्यतया *यदु* के सम्वन्ध में उल्लेख किया गया है। यह दोनों ही शब्द सामान्यतया एकवचन में ही विना किसी सम्वन्धात्मक अव्यय के 'तुर्वश यदु' अथवा 'यदु तुर्वश'[2] के रूप में आते हैं। तुर्वश का वहुवचन रूप केवल एक वार यदुओं[3] के साथ और एक वार अकेले[4] एक ऐसे सूक्त में आता है जिसमें इसका एकवचन रूप भी प्रयुक्त हुआ है। एक स्थल[5] पर वस्तुतः युगल 'तुर्वशा-यदू', और एक अन्य[6] पर 'यदुस् तुर्वश् च', (यदु और तुर्व) आता है। दूसरे स्थल पर[7] 'तुर्वश' अकेले मिलता है, जव कि एक अन्य पर[8] 'तुर्वश' और 'याद्व' आते हैं।

इन तथ्यों के आधार पर हॉपकिन्स[9], एक साधारण त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण[10] की भाँति ही ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं जिसके अनुसार तुर्वश एक ऐसी जाति के लोगों का नाम है जिसका एकवचन उसके राजा का द्योतक है। आप तुर्वश को यदु राजा का नाम मानते हैं। किन्तु इस मत के पक्ष में सर्वथा निर्णायक प्रमाण नहीं है। इस सिद्धान्त[11] पर आधारित तर्क पर ज़ोर दिये विना ही कि ऋग्वेद की पाँच जातियों के अन्तर्गत अनु, द्रुह्यु, तुर्वश, यदु, और पूरु, लोग आते हैं, यह मान लेना सर्वथा युक्तिसंगत है कि तुर्वश और यदु दो अलग-अलग किन्तु घनिष्ठ रूप से सम्वद्ध जातियाँ थी। कम से

[1] १. ३६, १८; ५४, ६; १७४, ९; ६. २०, १२; ४५, १; ८. ४, ७; ७, १८; ९, १४; ४५, २७; १०. ४९, ८। ७. १८, ६ में तुर्वश को 'यक्षु' के साथ संयुक्त किया गया है, जो प्रत्यक्षतः यदु का एक उपेक्षात्मक विभेद प्रतीत होता है (हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६१)। तु० की० तृत्सु।

[2] ५. ३१, ८।

[3] १. १०८, ८।

[4] ८. ४, १८; ८. ४, १ में 'आनव' के साथ एकवचन में।

[5] ४. ३०, १७।

[6] १०. ६२, १०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २२०, नोट १।

[7] १. ४, ७७; ६. २७, ७। तु० की० ८. ४, १।

[8] ७. १९, ८।

[9] उ० पु०, २५८ और वाद।

[10] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १२२, १२४; औल्डेनवर्ग, वुद्ध, ४०४; लुडविग : उ० पु०, १५३; मैक्डौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ६४; संस्कृत लिटरेचर, १५३ और वाद, इत्यादि।

[11] त्सिमर : १२२, १२४; मैकडौनेल, १५३, १५४।

कम उन सूक्तों के द्रष्टाओं की दृष्टि में इनका यही आशय था जो इनका युगल 'तुर्वशा-यदू' के रूप में उल्लेख और 'यदुस् तुर्वश् च' के रूप में इनकी चर्चा करते हैं।

ऋग्वेद में तुर्वश का प्रमुख अभियान *सुदास्* के विरुद्ध उस युद्ध में भाग लेना था जिसमें यह स्वयं पराजित हो गया था।[१२] हॉपकिन्स[१३] का ऐसा विचार है कि इस युद्ध से भागकर (तुर) बच निकलने के कारण इसका नाम 'तुर्वश' पड़ गया। इस प्रकार बच निकलने में इन्द्र ने इसकी सहायता की हो सकती है, क्योंकि कुछ स्थलों पर[१४] इन्द्र द्वारा तुर्वश (और) यदु की सहायता करने का उल्लेख है। यह भी द्रष्टव्य है कि अनु, और प्रत्यक्षतः द्रुह्यु राजाओं का पराजय के समय जल में डूब जाने का उल्लेख है जब कि तुर्वश और यदु राजाओं का नहीं, तथा यह भी कि, ऋग्वेद के आठवें मण्डल में कदाचित डूब गये 'अनु' राजा के उत्तराधिकारी एक अनु राज कुमार के साथ ही तुर्वश, इन्द्र के एक उपासक के रूप में आता है।[१५] फिर भी ग्रिफिथ[१६] इन स्थलों पर तुर्वश और यदु द्वारा *सरयु* के तट पर 'अर्ण' और 'चित्ररथ' के पराजित होने का सन्दर्भ मानने का विचार व्यक्त करते हैं[१७]; किन्तु इस मान्यता के पक्ष में प्रमाण अत्यन्त अपर्याप्त हैं।

ऋग्वेद के दो स्थानों[१८] पर तुर्वश और यदु द्वारा सुदास् के पिता *दिवोदास* पर किये गये आक्रमण का सन्दर्भ मिलता है। इस सम्बन्ध में ऐसा स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि यह दिवोदास पर किया गया उक्त दो जाति के लोगों का आक्रमण था; क्योंकि यहाँ तुर्वश (व्यक्ति) का ही, जो कि दिवोदास के पुत्र सुदास् पर किये गये आक्रमण से सम्बद्ध था सन्दर्भ होने में कुछ सन्दिग्धता है।

त्सिमर[१९] का विचार है कि तुर्वशों को ही *वृचीवन्तों* के नाम से भी

[१२] ७. १८, ६।

[१३] उ० पु० २६४।

[१४] ऋग्वेद १. १७४, ९; ४, ३०, १७; ५. ३१, ८; ८. ४. ७।

[१५] हॉपकिन्स : २६५।

[१६] ऋग्वेद के सूक्त, २, ४३३, नोट।

[१७] यह सूक्त बहुत बाद का है और मन्त्र १८ का, जिसमें 'अर्ण' और 'चित्ररथ' का उल्लेख है, सम्बन्ध अस्पष्ट है। तु० की० हॉपकिन्स, २५९।

[१८] ६. ४५, २; ९. ६१, २ (जहाँ 'दिवोदास' का उल्लेख है); ७. १९, ८ (यहाँ यह 'अतिथिग्व' के रूप में आता है)।

[१९] उ० पु० १२४।

पुकारा जाता था। यह दृष्टिकोण उस सूक्त[20] पर आधारित है जिसमें 'दैवरात' की सहायता करने में *यव्यावती* और *हरियूपीया* के तट पर वृचीवन्तों की पराजय, और *सृञ्जय* की सहायता करने में तुर्वश की, जिसे अन्यत्र[21] स्पष्ट रूप से देवरात का पुत्र कहा गया है, पराजय का सन्दर्भ है। किन्तु तुर्वशों और वृचीवन्तों को निर्दिष्ट करनेवाला यह प्रमाण स्पष्ट न होने के कारण ऐसा मान लेना पर्याप्त[22] है कि यह दोनों ही परस्पर मित्र या एक दूसरे के सहायक थे।

बाद में शतपथ ब्राह्मण[23] में तुर्वश लोग पञ्चालों के सहायक के रूप में आते हैं, जहाँ तैंतीस तुर्वश-अश्वों और छह हज़ार सशस्त्र सैनिकों का उल्लेख है;[24] किन्तु, अन्यथा यह नाम लुप्त हो गया है। यही तथ्य औल्डेनबर्ग के इस अनुमान[25] को भी सम्भावना प्रदान करता है कि तुर्वश लोग अन्ततः पञ्चालों में विलीन हो गये थे। हॉपकिन्स[26] का विचार है कि शतपथ ब्राह्मण के उक्त स्थल पर केवल तुर्वश परिवार के अश्वों का ही नाम दिया गया है; किन्तु यह विचार अपेक्षाकृत कम सम्भव है, क्योंकि वहीं मनुष्यों का भी सन्दर्भ होने से उत्पन्न कठिनाई की यह सर्वथा उपेक्षा कर देता है।

सुदास् के साथ संघर्ष के समय तुर्वशों के निवास-स्थान के सम्बन्ध में निश्चित मत हो सकना असम्भव है। प्रत्यक्षतः इन लोगों ने *परुष्णी*[27] को पार किया था, किन्तु किस दिशा से, यह विवादग्रस्त है। पिशल[28] और गेल्डनर[29] का यह विचार अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि यह लोग पश्चिम से पूर्व में उस दिशा की ओर बढ़े थे जहाँ *भरत* लोग (देखिये कुरु) रहते थे।

[20] ६. २७, ५-७।
[21] ४. १५, ४।
[22] औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०४, नोट। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, १०५।
[23] १३. ५, ४, १६।
[24] आशय अस्पष्ट है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश इसे (सशस्त्र सैनिकों के) ६,०३३ अश्व मानता हुआ प्रतीत होता है; एग्लिङ्ग : से० बु०, ई०, ४४, ४००, इसे ३३ अश्व और ६००० व्यक्ति मानते हैं; औल्डेनबर्ग : उ० स्था० इसे ६०३३ सैनिक मानते हैं; एग्लिङ्ग द्वारा उद्धृत हरिवंश का भाष्य अस्पष्ट है।
[25] बुद्ध ४०४।
[26] ज० पु० २५८, नोट। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २२०।
[27] ऋग्वेद ७. १८।
[28] वेदिशे स्टूडियन, २, २१८। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२६।
[29] वेदिशे स्टूडियन ३, १५२। यदि ऋग्वेद ८. २०, २४ में 'तूर्वय' के स्थान पर लुडविग के साथ 'तुर्वश' पढ़ा जाय तो यह लोग सिन्धु से सम्बद्ध होंगे।

तु० की० औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, १६७; मूईर: संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २८६; बर्गेन : रिलीजन वेदिके, २, ३५४ और बाद।

तुर्वीति का ऋग्वेद में 'वय्य'[1] के साथ और अकेले,[2] दोनों ही प्रकार से बहुधा उल्लेख है। तीन स्थलों[3] पर किसी बाढ़ के समय इन्द्र द्वारा इसकी सहायता करने का उल्लेख मिलता है। लुडविग[4] ने ऐसा अनुमान किया है कि यह तुर्वशों और यदुओं का राजा था। किन्तु इस मत के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं, यद्यपि, सम्भवतः यह भी तुर्वश जाति का ही एक व्यक्ति था।

[1] १. ५४, ६; २. १३, १२; ४. १९, ६।
[2] ऋग्वेद १. ३६, १८; ६१, ११; ११२, २३।
[3] १. ६१, ११; २. १३, १२; ४. १९, ६।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४७; ४, २५४। तु० की० तुर्वश, और वर्गेन : रिलीजन वेदिके, २, ३५८; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४२, ३६।

तुला (तराजू) का वाजसनेयि संहिता[1] में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[2] भी परलोक तथा इसी संसार में मनुष्य के भले-बुरे कर्मों को तौलने के सन्दर्भ में तराजू की चर्चा करता है। यह बाद के उस 'तुला-सत्यपरीक्षण' पद्धति[3] से अत्यधिक भिन्न है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को दो बार तौला जाता था और इस द्वितीय अवसर पर वह प्रथम की अपेक्षा भारी या हल्का जो हुआ उसी के आधार पर उसके अपराधी अथवा निर्दोष होने का निर्णय किया जाता था। बाद के इस प्रचलन को आरम्भिक[4] स्रोतों में ढूँढना सम्भव नहीं है।

[1] ३०. १७।
[2] ११. २, ७, ३३।
[3] जौली : रेख्त उन्ट सिट्टे, १४५।
[4] वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, २१; २, ३६३, में श्लेजिनवीट का उद्धरण देते हैं जो इस स्थान पर 'तुला-सत्यपरीक्षण' पद्धति का ही उदाहरण मानते हैं। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ४५, नोट ४।

तुष, अथर्ववेद[1] और बाद में[2] नियमित रूप से जलाने के लिये प्रयुक्त[3] अन्न की 'भूसी' का द्योतक है।

[1] ९. ६, १६; ११. १, १२. २९; ३, ५; १२. ३, १९।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ५, ५; ऐतरेय ब्राह्मण २. ७, ९ इत्यादि।
[3] 'तुष-पक्व', तैत्तिरीय संहिता ५. २, ४, २; मैत्रायणी संहिता ३. २, ४; शतपथ ब्राह्मण ७. २, १, ७।

तूणव—बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में यह एक वाद्य-यन्त्र, सम्भवतः 'वंशी', का द्योतक है। एक 'वंशी वादक' की पुरुषमेध के बलि-प्राणियों के अन्तर्गत भी गणना कराई गई है।[3]

[1] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ४, १; मैत्रायणी संहिता ३. ६, ८, काठक संहिता २३, ४; ३४. ५ (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७७)।

[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ६. ५, १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १३, १; १५, १; निरुक्त १३. ९।

[3] वाजसनेयि संहिता ३०. १९. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था०। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन, २८९।

तूतुजि—देखिये *तुजि*।

तूपर (विषाण-विहीन) अथर्ववेद और बाद में यह अक्सर यज्ञ के लिये उद्दिष्ट पशुओं, मुख्यतः बकरे, का द्योतक है।[1]

[1] अथर्ववेद ११. ९, २२; तैत्तिरीय संहिता २. १, १, ४, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता २४. १. १५; २९. ५९ इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ५. १, ३, ७ इत्यादि।

तूर्घ्न का कुरुक्षेत्र[1] के उत्तरी भाग के रूप में तैत्तिरीय आरण्यक (५.१) में उल्लेख है। फिर भी, इसकी ठीक-ठीक स्थिति निश्चित नहीं की जा सकती।

[1] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ७८।

तूर्णाश ऋग्वेद[1] में एक 'पर्वतीय नदी' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ८. ३२, ४। तु० की० निरुक्त ५. १६।

तूर्वयाण, ऋग्वेद में उल्लिखित एक राजा का नाम है। दो स्थलों[1] पर यह इसी नाम से आता है, साथ ही एक तृतीय स्थल[2] पर भी *अतिथिग्व*, *आयु* और *कुत्स* के शत्रु के रूप में स्पष्टतः यही उद्दिष्ट है। इसी के अनुकूल यह तथ्य भी है कि दस राजाओं के युद्ध में पक्थ-गण 'तृत्सुओं' के विरुद्ध थे,[3] और यह कि तूर्वयाण को ऋग्वेद[4] के एक अन्य स्थल पर एक पक्थ राजा के रूप में

[1] १. ५३, १०; ६. १८, १३।

[2] २. १४, ७ (जैसा कि दो पिछले स्थलों की तुलना से व्यक्त होता है); कदाचित् ८. ५३, २, भी। १. १७४, ३ में 'तूर्वयाण' व्यक्तिवाचक नाम भी प्रतीत होता है, यद्यपि यहाँ रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, इस शब्द को एक विशेषण मानते हैं।

[3] ७. १८।

[4] १०. ६१, १ और बाद; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ७१-७७।

ही दिखाया गया है। यहाँ इसे इन्द्र के एक आश्रित के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसकी *च्यवान* और उनके रक्षक मरुतों के विरुद्ध इन्द्र ने सहायता की थी। इसका *सुश्रवस्* के समतुल्य होना सम्भव नहीं।[5]

[5] १. ५३, ९. १०, में उल्लिखित। तु० की० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ७५, नोट।

तूष बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में मिलता है, और किसी परिधान के 'किनारे' अथवा 'आँचल' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १, १; २. ४, ९, १; ६. १, १, ३; काठक संहिता २३. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण, १. ६, १, ८; पञ्चविंश ब्राह्मण १७. १, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : अल्टिन्डिशे लेबेन, २६२।

तृक्षि ऋग्वेद[1] में ऐसे राजा का नाम है जो एक 'त्रासदस्यव' (*त्रसदस्यु* का वंशज) था। एक अन्य सूक्त[2] में यह 'द्रुह्युओं' और 'पूरुओं' के साथ आता है। ऐसा अनुमान किया गया है कि *तार्क्ष्य* ('तृक्षि' की सम्पत्ति) नामक अश्व इसी का था, किन्तु यह सम्भव नहीं है।[3]

[1] ८. २२, ७।
[2] ६. ४६, ८। यह निश्चित नहीं कि यह दोनों लोग समतुल्य हैं (तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, ११३, नोट ३, ४), किन्तु ऐसा सम्भव हो सकता है।
[3] मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १४९।

तृण (घास) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अक्सर ही उल्लेख है। किसी गृह अथवा झोपड़े की छत पर बिछाने के लिये यह पुआल की भाँति प्रयुक्त होता था।[3]

[1] १. १६१, १; १६२, ८. ११; १०. १०२, १०, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद २. ३०, १; ६. ५४, १, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२; ८. २४ इत्यादि।
[3] अथर्ववेद ३. १२, ५; ९. ३, ४. ७।

तृण-जलायुक (कोशकार-कृमि) का बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ४, ४) में उल्लेख है।

तृण-स्कन्द ऋग्वेद[1] में एक बार किसी राजा के नाम के रूप में आता है, जहाँ इसकी प्रजा (विशः) का भी उल्लेख है।[2] मूलतः इस शब्द का अर्थ 'पतंगा' रहा हो सकता है।[3]

[1] १. १७२, ३।
[2] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५९, 'विशः' को 'प्रदेश' के अर्थ में ग्रहण करते हैं, किन्तु देखिये विश्।
[3] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

तृतीयक (प्रति तीसरे दिन आनेवाला ज्वर) का अथर्ववेद (१. २५, ४; ५. २२, १३; १९. ३९, १०) में उल्लेख है। देखिये *तक्मन्*।

तृत्सु—एक व्यक्तिवाचक नाम के रूप में यह ऋग्वेद में एक बार एकवचन[1] में और अनेक बार बहुवचन[2] में आता है। *शिम्यु, तुर्वश, द्रुह्यु, कवष, पूरु, अनु, भेद, शम्बर,* दोनों *वैकर्ण,* और सम्भवतः उस *यदु* जिसने इन राजाओं के सहयोगी के रूप में[3] *मत्स्यों, पक्थों भलानों, अलिनों, विषाणिनों, शिवों, अजों, शिग्रुओं* और सम्भवतः यक्षुओं[4] का नेतृत्व किया था, आदि राजाओं

[1] ७. १८, १३।

[2] ७. १८, ७. १५. १९; ३५, ५. ६; ८३, ४. ६. ८।

[3] रौथ : त्सु० वे०, ९५, और त्सिमर : ३० पु० १२६, द्वारा इन्हें राजाओं का शत्रु माना गया है। फिर भी त्सिमर ने बाद में अपना विचार बदल दिया (देखिये पृ० ४३०, ४३१, जिसकी हॉपकिन्स : ३० पु० २६० ने उपेक्षा की है), और इसमें सन्देह नहीं कि इनका यह बाद का मत ही ठीक है। तु० की०, लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७३; हॉपकिन्स, २६०, २६१। इन जातियों में से पक्थ, अलिन, भलान, विषाणिन् और शिव, सम्भवतः सिन्धु नदी के पश्चिम, भारत के उत्तर-पश्चिमी भू-भाग में काबुल नदी के आस-पास बसी थीं; अणु, पूरु, तुर्वश, यदु और द्रुह्यु, कदाचित् पंजाब में बसी जातियाँ थीं; अज, शिग्रु और 'यक्षु' जातियाँ 'भेद' के अधीनस्थ पूर्व के क्षेत्रों में बसी थीं; शम्बर भी पूर्व की ही एक जाति हो सकती है; शिम्यु और कवष की स्थिति संदिग्ध है; और 'वैकर्णौ' सम्भवतः उत्तर-पश्चिम में बसे थे।

[4] यह अनिश्चित है; ऋग्वेद ७. १८, ६ के मूल पाठ में 'यक्षु' है और उन्नीसवें मंत्र में भी पुनः यही शब्द आता है। इसके विपरीत छठवें मन्त्र में 'तुर्वश' का उल्लेख होंने के कारण 'यदु' शब्द की ही स्वभावतः आशा की जा सकती है। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १२२, यह व्यक्त करते हैं कि ७. १८ में 'यदु' आता है, किन्तु पृष्ठ १२६ पर आप दोनों ही स्थानों पर 'यक्षु' का उद्धरण देते हैं जो सम्भवतः भूल से ही हो गया है। हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६१, नोट, का यह विचार यह है कि 'तुर्वश यदु' के के स्थान पर 'तुर्वश यक्षु' का प्रयोग उपहासात्मक अभिव्यक्ति है। इस आधार पर आप यदुओं के राजा तुर्वश को एक महत्त्वपूर्ण जाति का उपहासप्रद सदस्य और उसे एक बलिप्राणी के रूप में उद्दिष्ट मानते हैं (जैसे कि 'यष्टव्य' अर्थात् अर्पित किये जाने के लिये : तु० की० 'पुरोडाश', अर्थात् यज्ञ-कुल्माष, छठवें मंत्र में, जो कि 'पुरोगास्' अर्थात् नेता का ही एक उपहासात्मक प्रयोग है)। 'यक्षु' का 'यदु' के लिये उपहासात्मक रूप में प्रयोग हुआ है अथवा नहीं, किन्तु यह मानना प्रायः कठिन है कि यहाँ 'यदुओं' का सन्दर्भ नहीं है।

के विरुद्ध महायुद्ध में तृत्सुगण स्पष्टतः *सुदास्* के सहायक थे। इन दसों राजाओं के पराजय की ऋग्वेद के एक सूक्त में प्रख्याति है, और दो अन्य[५] में भी यही उद्दिष्ट है। यह महायुद्ध *परुष्णी* के तट पर लड़ा गया था, किन्तु भेदों अजों, शिग्रुओं और यक्षुओं के साथ *यमुना* के किनारे भी हुआ था। यतः यमुना और परुष्णी तृत्सुओं के क्षेत्र की दो सीमाओं को निर्धारित करती थीं (क्योंकि हम हॉपकिन्स के साथ इन नदियों को सर्वथा निर्दिष्ट नहीं कर सकते) अतः यह निश्चित कर सकना कठिन है कि उक्त दसों राजा किस प्रकार संघबद्ध हो सके थे; किन्तु यह बात ध्यान में रक्खी जा सकती है कि दसों राजाओं का सन्दर्भ दो अपेक्षाकृत बाद के सूक्तों[६] में ही मिलता है न कि उस सूक्त[७] में जिसमें स्वयं उक्त युद्ध का वर्णन है; साथ ही इन राजाओं की संख्या के निश्चित रूप से दस ही होने पर भी ज़ोर नहीं दिया जा सकता।

तृत्सुओं के चरित्र का भी ठीक-ठीक निर्धारण कठिन है, और मुख्यतः भरतों के साथ इनके सम्बन्ध को निश्चित करना तो और भी कठिन है। इन भरतों को विश्वामित्र के निर्देशन में सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हुये तथा *विपाश्* और *शुतुद्री*[८] की ओर अग्रसर होते हुए दिखाया गया है। रौथ ने अपनी तर्ककुशलता से 'सुदास्' द्वारा अपने शत्रुओं को पराजित करने की उस घटना से इनको सम्बद्ध किया है जिसकी ऋग्वेद के सप्तम मण्डल—इस मण्डल के प्रणयन का श्रेय वसिष्ठ परिवार को दिया गया है—में प्रख्याति है, और यह मत व्यक्त किया है कि एक मंत्र[९] में 'सुदास्' द्वारा 'भरतों' की पराजय का ही सन्दर्भ है। किन्तु यह निश्चित प्रतीत होता है कि इस मंत्र का गलत अनुवाद हुआ है, क्योंकि वास्तव में यहाँ भरतों को सुदास् के साथ ही विजेताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१०] इसी के अनुसार लुडविग[११] भरतों और तृत्सुओं में *समीकरण स्थापित* करते

[५] ७. १८।

[६] ७. ३३ और ८३।

[७] इन्डिया, ओल्ड एण्ड न्यू, ५२। ज० अ० ओ० सो० १५, २५९ और बाद में इन्होंने इस प्रकार का कोई अनुमान नहीं किया है।

[८] ऋग्वेद ३. ३३; ५३, ९-१२।

[९] ७. ३३, ६। देखिये रौथ : ज़ु० पु० ९०, १२१; मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], ३२०; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५४, १५५; फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ३५, ३६; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ११०, १११; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, ४१।

[१०] औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ४०६; वेबर : ए० रि० ३४।

[११] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७५।

हैं। औल्डेनवर्ग[12] ने इस दृष्टिकोण को प्रथमतः[13] स्वीकार कर लेने पर भी बाद में यह विचार व्यक्त किया है कि तृत्सुगण भरतों के पुरोहित और इसीलिये वसिष्ठों के समान थे। इस तथ्य द्वारा यह विचार पुष्ट भी होता है कि एक स्थल[14] पर तृत्सुओं की केश-सज्जा की प्रणाली को वसिष्ठों की विशेष प्रणाली से प्रभावित बताया गया है,[15] और इस प्रकार इस स्थल पर यह लोग (तृत्सुगण) वास्तव में वसिष्ठ ही प्रतीत होते हैं। किन्तु गेल्डनर[16] ने यह अधिक सम्भाव्य विचार व्यक्त किया है कि 'तृत्सु' का, जिसका एक बार एकवचन[17] में उल्लेख है, राजा 'तृत्सु', अर्थात् 'सुदास्' अर्थ है।[18] केवल यही व्याख्या भरतों के उस वर्णन[19] की उपयुक्तता भी सिद्ध करती है जिसमें इन्हें 'तृत्सूनां विशः'[20] कहा गया है और जिससे तृत्सु के गोत्र अथवा परिवार के लोगों का आशय है, क्योंकि किसी जाति के लोगों को पुरोहितों के किसी समूह की प्रजा नहीं कहा गया हो सकता। 'वसिष्ठों' को 'तृत्सु' कहा जा सकता है, क्योंकि तृत्सुओं के राजगृह के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस स्थिति का उलटा भी सर्वथा सम्भव है, किन्तु ऐसा इस तथ्य द्वारा असम्भव सिद्ध हो जाता है कि प्रतृदः को वसिष्ठ का स्वागत करते हुए कहा गया है।[21] तृत्सु वंश का यह नाम सम्भवतः सुदास् के समय के वसिष्ठ के

[12] त्सीं० गे० ४२, २०७। तु० की० बर्गेन: रिलीजन वेदिके, २, ३६२।

[13] बुद्ध, ४०५, ४०६।

[14] ऋग्वेद ७. ३३, १ (श्वित्यञ्चो दक्षिणतस्कपर्दाः)।

[15] ऋग्वेद ७. ८३, ८ (श्वित्यञ्चो…… कपर्दिनः)।

[16] वेदिशे स्टूडियन २, १३६; ऋग्वेद-ग्लॉसर, ७४।

[17] ऋग्वेद ७. १८, १३।

[18] तु० की० ऋग्वेद ७. १८, २४। मंत्र १३ और २४ में समानता असंदिग्ध है। साथ ही, ऋग्वेद ३. ५३, ९. १२. २४, में सुदास् और भरतों की संयुक्त रूप से प्रशस्ति है, और ऋग्वेद ६. १६, ४. ५ में भरतों के साथ दिवोदास को इस रूप में संयुक्त किया गया है कि इससे प्रायः निश्चित रूप से यहाँ प्रतीत होता है कि दिवोदास एक भरत था।

[19] ऋग्वेद ७. ३३, ६।

[20] 'विशः' का यही आशय होना प्रायः निश्चित है। देखिए, गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, उ० स्था०। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, १५९ और हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १११, में 'प्रदेश' के आशय में इसका अनुवाद करते हैं, किन्तु देखिये **विश्**।

[21] ऋग्वेद ७. ३३, १४। गेल्डनर : (उ० पु० १३८, १३९) अपनी तर्क कुशलता से यह व्यक्त करते हैं कि अद्भुत रूप से उत्पन्न हुये होने के कारण वसिष्ठ को एक गोत्र की आवश्यकता थी और इसीलिये वह एक 'तृत्सु' बन गये।

साथ अपने सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, क्योंकि यह निष्कर्ष *प्रतर्दन* के नाम से पुष्ट होता है जिसका बाद में सुदास् के पूर्वज 'दिवोदास'[22] के एक वंशज के रूप में उल्लेख है। अतः तृत्सु वंश को कदाचित् ही वसिष्ठ कहा गया हो सकता है। इस वंश के और अधिक इतिहास के लिये देखिये सुदास्।

यदि तृत्सुगण तथा उनकी भरतादि प्रजा, ऋग्वेदिक काल के परुष्णी और यमुना के बीच के क्षेत्र के दोनों ओर की जातियों के साथ युद्धरत थे, तो यह स्पष्ट[23] है कि बाद में यह 'पुरुओं' और सम्भवतः उनके जाति के अन्य कबीलों के साथ संयुक्त होकर कुरु बन गये। ऋग्वेद[24] में पहले से ही तृत्सुगण *सृञ्जयों* के साथ सम्मिलित हैं, और शतपथ ब्राह्मण[25] में एक ही पुरोहित कुरुओं तथा सृञ्जयों दोनों की सेवा करता है।

हिलेब्रान्ट[26] का विचार है कि तृत्सुओं का भरतों के साथ समीकरण तो नहीं स्थापित किया जा सकता, किन्तु सुदास् और भरतगण एक ऐसे आक्रामक दल का प्रतिनिधित्व करते हैं जो तृत्सु तथा वसिष्ठ पुरोहित से सम्बद्ध हो गया था। इनका यह भी विचार है कि ऋग्वेद एक ऐसे समय को व्यक्त करता है जब सुदास् का पितामह अथवा पूर्वज *दिवोदास* अरकोसिया में *सरस्वती* के किनारे रहता था और उन *पणियों* के साथ युद्धरत था जिन्हें आप पर्नियनों के साथ समीकृत करते हैं। किन्तु इस अनुमान[27] को संभव नहीं माना जा सकता। यहाँ सरस्वती[28] को बाद की मध्यदेश में स्थित उस सरस्वती नदी के अतिरिक्त कुछ अन्य मानने की आवश्यकता नहीं जो तृत्सुओं के क्षेत्र की सीमा के भीतर बहती थी: यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि *तुर्वश यदु* और 'अतिथिग्व' अथवा 'दिवोदास' का विभेद स्पष्ट करने के भी

२२ 'प्रतर्दन' का कौषीतकि ब्राह्मण २६. ५, में 'दैवोदासि' ('दिवोदास' का वंशज) के रूप में उल्लेख है।

२३ तु० की० ओल्डेनबर्ग: बुद्ध ४०६ और बाद, और देखिये कुरु।

२४ देखिये ऋग्वेद ६. ४७, जहाँ 'दिवोदास' और 'सारञ्जय', दोनों की प्रशस्ति है। ६. २७, ५ में तुर्वश लोग 'सृञ्जयों' के विरुद्ध, और ७. १८, ६; १९, ८, में तृत्सु लोग तुर्वशों के विरुद्ध हैं।

२५ २. ४, ४, ५।

२६ वेदिशे माइथौलोजी, १, ९८ और बाद।

२७ तु० की० ग्रियर्सन: ज० ए० सो०, १९०८, ८३७ और बाद, भी।

२८ ऋग्वेद ६. ६१, २। ब्रुनहॉफर: ईरान उन्ट तूरान, १२७, इस नदी को 'ऑक्सस' के समतुल्य मानते हैं किन्तु हिलेब्रान्ट इसे 'हरकैति' मानते हैं।

सन्दर्भ[२९] उपलब्ध हैं। अतः इस बात पर सन्देह करने का कोई भी आधार नहीं है कि दिवोदास और भरतगण ईरान में नहीं वरन् मध्यदेश में रहते थे।

[२९] ऋग्वेद ९. ६१, २। तु० की० ६. ४५, १; त्सिमर : उ० पु० १२४। तु० की० मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ४२४।

तृष्ट का मैत्रायणी[१] और काठक संहिताओं[२] में *वरुत्रि* के साथ-साथ 'असुरों' के पुरोहित के रूप में उल्लेख है।

[१] ४. ८, १। इसका पाठ अनिश्चित है; यह 'तृष्ठा-वरुत्री' हो सकता है। देखिये फॉन श्रोडर का संस्करण, पृ० १०६, नोट।

[२] ३०. १, जहाँ पाठ पुनः अनिश्चित है। कपिष्ठल संहिता, ४६. ४ में 'त्वष्टा-वरुत्री' है (काठक २, १८१, नोट, फॉन श्रोडर का संस्करण)

तु० की० मूईर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२]. १९०, १९१; लेवी : ल डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, ११९।

तृष्टामा का ऋग्वेद[१] की नदी-स्तुति में एक नदी के रूप में उल्लेख है। इसको निर्दिष्ट करने का कोई साधन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता।

[१] १०. ७५, ६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १४।

तेजन ऋग्वेद[१] में खेत नापने के लिए प्रयुक्त नरकट के डण्डे का द्योतक है। अथर्ववेद में इसमें दो बार[२] 'बाँस' का आशय मिलता है जिसमें से द्वितीय स्थान पर 'वासन्तिक' बाँस का निर्देश ही है। अधिक विशिष्ट आशय में यह बाण के काण्ड[३] का द्योतक है, और बाद की वैदिक संहिताओं[४] में प्रायः इसी आशय में मिलता है।

[१] १. ११०, ५।

[२] १. २, ४; २०. १३६, ३ (= खिल, ५. २२, ३)।

तु० की० काठक संहिता २१. १० में एक विशेषण के रूप में 'तैजन'।

[३] अथर्ववेद ६. ४९, १ (ह्विटने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३१७); 'इषु एकतेजना' अर्थात् एक काण्डवाला बाण, ६. ५७, १।

[४] ऐतरेय ब्राह्मण १. २५; ३. २६; काठक संहिता २५. १ (बाण के तीन भाग के रूप में 'शृङ्ग' और 'शल्य' सहित; मैत्रायणी संहिता ३. ८, १ में 'तेजन' के स्थान पर 'कुल्मल' है; तु० की० वही, २)। तैत्तिरीय संहिता ६. ३, ३, १ में 'अनीक'; 'शल्य' और 'तेजन' है। तु० की० इषु।

तेजनी बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों में नरकट के एक गट्ठर[१], और

[१] शतपथ ब्राह्मण १३. ८, ३, १२; कदाचित् काठक संहिता २३. ९।

कुछ दशाओं में इसके रस्सी में बँधे गट्ठर[२] का द्योतक है, क्योंकि 'तेजनी' के दो किनारों का भी उल्लेख है।

[२] काठक संहिता २२. १३; ऐतरेय ब्राह्मण १. ११, का जैसा सायण ने अनुवाद किया है।

तेजस् को श्रोडर[१] ऋग्वेद[२] में 'कुल्हाड़ी' के विशिष्ट आशय में ग्रहण करते हैं। किन्तु सभी स्थलों पर इससे देवों के 'वज्र' का ही आशय पर्याप्त है।

[१] प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिकिटीज़ २२१।

[२] तु० कि० ६. ३, ५; ८, ५; १५, १९।

तैत्तिरीय, कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का नाम है, जिसका यद्यपि इस आशय में सूत्रकाल[१] के पहले वर्णन नहीं मिलता। इस शाखा की एक संहिता[२], एक ब्राह्मण[३], और एक आरण्यक[४] के अतिरिक्त एक उपनिषद्[५] भी, जो आरण्यक का ही एक भाग है, मिलता है।

[१] अनुपद-सूत्र २. ६; ७. ७. १०, इत्यादि। देखिये वेबर : इन्डियन लिटरेचर ८७ और वाद; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १७५ और वाद; फॉन श्रोडर : मैत्रायणी संहिता १, x और वाद।

[२] वेबर द्वारा सम्पादित, इन्डिशे स्टूडियन ११, १२, और विबलोथिका इन्डिका १८५४–१८९९, में।

[३] विबलोथिका इन्डिका १८५५–१८७०, तथा आनन्दाश्रम सीरीज़ १८९८ में सम्पादित।

[४] विबलोथिका इन्डिका १८६४–१८७२, और आनन्दाश्रम सीरीज़ १८९८ में सम्पादित।

[५] रूअर द्वारा १८५० में, तथा आनन्दाश्रम सीरीज़ १८८९ में सम्पादित।

तैमात का अथर्ववेद[१] में दो वार सर्प की एक जाति के रूप में उल्लेख है।

[१] ५. १३, ६; १८, ४। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २४३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४२५; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९५।

तैल (तिल का तेल) अथर्ववेद[१] में उल्लेख है जहाँ[२] इस प्रकार के तेल को कुम्भों में रखने का सन्दर्भ मिलता है। शाङ्खायन आरण्यक[३] में तिल के तेल के लेप का उल्लेख है।

[१] १.७,२ (सभी पाण्डुलिपियों में 'तौल' है, जो गलत होना चाहिए; पैप्पलाद शाखा की पाण्डलिपि में 'तूल' है : देखिये, व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ७)।

[२] २०. १३६ १६।

[३] ११. ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २४०, २४१।

तोक सामान्यतया ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'सन्तानों' अथवा 'वंशजों' का द्योतक है। इस शब्द को प्रायः तनय के साथ संयुक्त कर दिया गया है।[3]

[1] १. ४३, २; २. २, ११; ९, २; ७. ६२, ६; ८. ५, २०; ६७, ११; इत्यादि।
[2] अथर्ववेद १. १३, २; .२८, ३; ५. १९, २; काठक संहिता ३६. ७ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६६); शतपथ ब्राह्मण ७. ५, २, ३९, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. ३१, १२; ६४, १४; ११४, ६; १४७, १; २. ३३, १४; ५. ५३, १३; ६. १, १२, इत्यादि; ऐतरेय ब्राह्मण २. ७।

तोक्मन् (क्लीव) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में किसी भी प्रकार के अन्न के हरे अंकुर का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] में चावल (व्रीहि), बड़े चावल (महाव्रीहि), प्रियङ्गु और जौ (यव) के अंकुरों का सन्दर्भ मिलता है।

[1] १०. ६२, ८।
[2] वाजसनेयि-संहिता १९. १३. ८१; २१. ३०. ४२; काठक संहिता १२. ११; मैत्रायणी संहिता ३. ११, ९; तैत्तिरीय-ब्राह्मण २. ६, ४, ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५ इत्यादि।
[3] ८. १६। तु० की० 'सौत्रामणी' के समय इसके प्रयोग के लिए, हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर १६०।

तोत्र (अंकुश) का मवेशियों को हाँकने के लिए, शतपथ ब्राह्मण (१२.४, १, १०) में उल्लेख है।

तोद ऋग्वेद[1] में एक बार 'अंकुश' का द्योतक प्रतीत होता है, किन्तु अधिकतर[2] यह एक संज्ञा है, जिसका अर्थ 'प्रेरक' है। गेल्डनर[3] का विचार है कि एक स्थल[4] पर इसका आशय 'दण्ड देनेवाले डण्डे को धारण करनेवाला' (बाद में 'दण्ड-धर') अर्थात् 'राजा' है।

[1] ४. १६, ११; कौशिक सूत्र, १०७ में मन्त्र।
[2] ऋग्वेद ६. ६, ६; १२, १. ३, को सम्भवतः इसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए।
[3] वेदिशे स्टूडियन, ३, ७४।
[4] ऋग्वेद १, १५०, १।

तौग्र्य (तुग्र का वंशज) ऋग्वेद[1] में भुज्यु का पैतृक नाम है।

[1] १. ११७, १६; ११८, ६; १८२, ५. ६; ८. ५, २२; १०. ३९, ४।

तौदी अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर एक पौधे का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] १०. ४, २४। तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५७८, इस शब्द को अ-अनूदित ही छोड़ देते हैं। ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६०८, का विचार है कि यह नाम कल्पनात्मक है, क्योंकि यह 'घृताची' से संयुक्त है, जो स्पष्टतः ऐसा ही शब्द है।

तौवंश—देखिये *तुवंश*।

तौल अथर्ववेद (१.७, २) में एक शब्द का पाठ है। अन्यत्र यह अज्ञात है और इसकी उपयुक्त व्याख्या नहीं की जा सकती; फिर भी इसका अर्थ निःसन्देह *तैल* ही होना चाहिए।

तौविलिका—अथर्ववेद[1] के एक सूक्त में आनेवाला यह सर्वथा अनिश्चित आशय का शब्द है। रौथ[2] का विचार है कि इसका किसी प्रकार के पशु से तात्पर्य है। त्सिमर[3] और ह्विट्ने[4] इसे एक प्रकार का पौधा मानते हैं। सायण इसकी एक व्याधि उत्पन्न करनेवाले दैत्य के रूप में व्याख्या करते हैं, जब कि ब्लूमफील्ड[5] इसका आशय संदिग्ध ही छोड़ देते हैं।

[1] ६. १६, ३।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन ७२।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद २९२।
[5] अथर्ववेद के सूक्त, ३०, ४६६।

त्रपु अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'टीन' (एक धातु) का द्योतक है। अथर्ववेद के एक स्थल पर स्पष्ट रूप से ऐसा संकेत है कि यह सरलता से गलाया जा सकता था, और रॉथ[3] के विचार से इसके नाम द्वारा ही ('त्रप्' धातु से व्युत्पन्न, जिसका अर्थ 'लज्जित होना' है) ऐसा संकेत मिलता है।

[1] ११. ३, ८।
[2] काठक संहिता १८. १०; मैत्रायणी संहिता २. ११, ५; वाजसनेयि-संहिता १८. १३, (धातुओं की गणना में); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १२, ६, ५; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १७, ३; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १७, ७। तैत्तिरीय संहिता ४. ७, ५, १, में 'त्रपुस्' रूप है
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५३।

त्रस-दस्यु—*पुरुकुत्स*[1] के इस पुत्र का ऋग्वेद में 'पूरुओं' के एक राजा के रूप में उल्लेख है। एक अत्यन्त महान् विपत्ति[2] के समय यह पुरुकुत्स की पत्नी *पुरुकुत्सानी* के गर्भ से उत्पन्न हुआ था।[3] सायण के अनुसार इस विपत्ति से पुरुकुत्स के बन्दी होने या सम्भवतः उसकी मृत्यु से ही आशय है। त्रसदस्यु 'गिरिक्षित्' का भी वंशज था[4]; और पुरुकुत्स 'दुर्गह' का वंशज था। अतः वंश-क्रम इस प्रकार प्रतीत होता है : दुर्गह, गिरिक्षित, पुरुकुत्स,

[1] ऋग्वेद ५. ३३, ८; ७. १९, ३; ८. १९, ३६; ४. ४२, ८ और बाद।
[2] ऋग्वेद ४. ३८, १ और बाद; ७. १९, ३। १. ६३, ७; ११२, ४; ८. ८, २१; ३६, ७; ३७, ७; ४९, १०, आदि में इसका केवल संकेत मात्र है।
[3] ऋग्वेद ४. ४२, ८ और बाद।
[4] ऋग्वेद ५. ३३, ८।

त्रसदस्यु। त्रसदस्यु, *तृक्षि* का पूर्वज था[5] और लुडविग[6] के अनुसार इसे 'हिरणिन्' नामक एक पुत्र भी था। त्रसदस्यु की कालक्रमानुगत स्थिति इस तथ्य द्वारा निर्धारित होती है कि इसका पिता पुरुकुत्स, या तो एक विरोधी[7] अथवा एक मित्र[8] के रूप में, सुदास् का समकालीन था। पुरुकुत्स का सुदास् का शत्रु होना अपेक्षाकृत अधिक सम्भव है, क्योंकि सुदास् का पूर्वज 'दिवोदास' प्रत्यक्षतः[9] पूरुओं का वैरी था और दस राजाओं के युद्ध में पूरु लोग सुदास् तथा तृत्सुओं के विरुद्ध थे। स्वयं त्रसदस्यु एक उत्साही राजा प्रतीत होता है। इसके प्रजाजन, 'पूरु' लोग, *सरस्वती*[10] नदी के किनारे बसे थे, जो निश्चित रूप से मध्यदेश से होकर बहती थी। यही क्षेत्र उस क्षेत्र के भी अनुकूल है, जहाँ की रहनेवाली कुरु जाति के अन्तर्गत बाद में पूरुओं का विलयन हो गया था। इस विलयन का प्रमाण *कुरुश्रवण* के व्यक्तित्व में मिलता है, जिसे ऋग्वेद[11] में 'त्रासदस्यव' ('त्रसदस्यु' का वंशज) कहा गया है, और जिसका पिता *मित्रातिथि* तथा पुत्र *उपमश्रवस्* था। 'तृक्षि' के साथ 'मित्रातिथि' का सम्बन्ध कहीं भी नहीं मिलता।

त्रसदस्यु का एक अन्य वंशज *त्र्यरुण त्रैवृष्ण* था, जिसे ऋग्वेद[12] के एक सूक्त में केवल 'त्रसदस्यु' मात्र ही कहा गया है। यह केवल 'त्रिवृषन् का वंशज' ही नहीं था, वरन् पञ्चविंश ब्राह्मण[13] के अनुसार 'त्रैधातव' (त्रिधातु' का वंशज) भी था। त्र्यरुण के इन दोनों ही पूर्वगामियों का क्रम वैदिक

[5] ऋग्वेद ८. २२, ७। यह एक 'पूरु' राजा था। देखिये ६. ४६, ८।

[6] ऋग्वेद ५. ३३, ७ और बाद, के सन्दर्भ में ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५५।

[7] लुडविग ३, १७४, का यही आशय है, जो ऋग्वेद १. ६३, ७ में इस दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए 'सुदासम्' को 'सुदासे' के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २०४, २०५, २१९; ऋग्वेद नोटेन, १, ६३: गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १५३; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ११३, नोट १। कुन : त्सी०, ३४, २४२, में फॉय यह अस्वीकार करते हैं कि इस स्थल पर यह शब्द व्यक्तिवाचक नाम है।)

[8] तु० की० हिलेब्रान्ट, उ० स्था०।

[9] ऋग्वेद १. १३०, ७; लुडविग, ३, ११४; किन्तु देखिये हिलेब्रान्ट १, ११३, ११४

[10] ऋग्वेद ७. ९५, ९६; लुडविग, ३, १७५; हिलेब्रान्ट, १, ११५।

[11] १०. ३३, ४। तु० की० लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८६ और बाद; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १५०, १८४।

[12] ५, २७।

[13] १३. ३, १२। सायण द्वारा उद्धृत ताण्डक (सीग : सा० ऋ० ६७) में ऋग्वेद की ही भाँति 'त्रसदस्यु' है।

साहित्य के आधार पर किसी भी प्रकार निर्धारित नहीं किया जा सकता। बाद की परम्परा[14] के अनुसार 'त्रिधन्वन्' नामक एक राजा उत्तराधिकार-क्रम में 'त्र्यरुण' के पहले हो चुका था। इसके अतिरिक्त वैदिक-परम्परा यह भी दिखाने में असफल है कि 'त्रिवृषन्' अथवा 'त्र्यरुण' के साथ 'त्रसदस्यु' का वास्तव में क्या सम्बन्ध था।

'त्रसदस्यु पौरुकुत्स' अनेक ब्राह्मणों[15] में प्राचीनकाल के एक प्रसिद्ध यज्ञ-कर्त्ता के रूप में पर *आट्णार, वीतहव्य श्रायस* और *कक्षीवन्त् औशिज* के साथ-साथ आता है, जिन सबको जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[16] में प्राचीन महाराजा (पूर्वे महाराजाः) कहा गया है।

[14] हरिवंश, ७१४ और बाद, जहाँ इस नाम (७१६) का 'त्रिधर्मन्' के रूप में दोषपूर्ण पाठ है। 'त्रैधात्व' को 'त्रिधन्वन्' से निष्पन्न पैतृक नाम मानना युक्तिसङ्गत नहीं है, जैसा कि सीग, उ० पु० ७४-७६ मानते हुए प्रतीत होते है। 'त्रिवृषन्' महाकाव्य-परम्परा में सर्वथा लुप्त हो गया है; अतः 'त्रिवृषन्' और 'त्रिधन्वन्' में से किसी को भी सापेक्षिक प्राथमिकता प्रदान करने का कोई भी आधार नहीं है।

[15] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १६; काठक संहिता २२. ३ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७३); तैत्तिरीय संहिता, ५. ६, ५, ३।

[16] २. ६, ११

तु० की० ओल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१७ और बाद; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १११-११६; २, १६५, नोट ४; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, २५; लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८६।

त्रात ऐषुमत ('इषुमंत्' का वंशज) का वंश-ब्राह्मण[1] में *निगड पार्णवल्कि* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] १. ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७२।

त्रायमाणा अथर्ववेद[1] में एक अज्ञात प्रकार के किसी पौधे का द्योतक है। यह शब्द सम्भवतः एक विशेषणात्मक उपाधि मात्र है, जिसमें इसका कृदन्तात्मक आशय, 'सुरक्षित रखना', निहित है। किन्तु यह व्याख्या इसके स्वराघात[2] के अनुकूल नहीं है।

[1] ८. २, ६

[2] तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ४७७।

त्रासदस्यव (त्रसदस्यु का वंशज) ऋग्वेद में *तृक्षि*[1] और *कुरुश्रवण*[2]

[1] ८. २२, ७।

[2] १०. ३३, ४।

का पैतृक नाम है। यह शब्द 'त्रसदस्यु अथवा उसके वंश के लोगों के 'रक्षक' अथवा उनके द्वारा 'पूज्य' होने के रूप में अग्नि के लिए भी व्यवहृत हुआ है।[3]

[3] ८. १९, ३२; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ९६।

त्रि-ककुद्[1] अथवा *त्रि-ककुभ्*[2] (तीन शिखरोंवाला) अथर्ववेद और बाद में हिमालय-पर्वतमाला के अन्तर्गत एक शिखर, आधुनिक 'त्रिकोट' के नाम के रूप में, आता है। यहीं से एक आँजन (*आञ्जन*)[3] आता था, जिसे परम्परा वृत्र के नेत्र[4] से निकला हुआ मानती थी।

[1] अथर्ववेद ४. ९, ८; शतपथ ब्राह्मण, ३. १, ३, १२।

[2] मैत्रायणी संहिता ३. ६, ३; काठक संहिता २३. १; वाजसनेयि संहिता १५. ४; पञ्चविंश ब्राह्मण २२. १४।

[3] इसीलिए 'त्रैककुद' कहते थे, अथर्ववेद ४. ९, ९. १०; १९, ४४, ६ इत्यादि।

[4] शतपथ ब्राह्मण उ० स्था०; मैत्रायणी और काठक संहितायें, उ० स्था०

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९८; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ५, २९, ३०; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, २३९, नोट ४; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ३८१।

त्रि-कद्रुक—बहुवचन में ही प्रयुक्त यह शब्द सोम रखने के लिए किसी प्रकार के तीन पात्रों का द्योतक है।[1]

[1] १. ३२, ३; २. ११, १७; १५, १; २२, १; १०. १४, १६।

त्रि-खर्व, सफलतापूर्वक एक विशेष संस्कार का व्यवहार करनेवाले पुरोहितों की परम्परा का नाम है। इसका पञ्चविंश-ब्राह्मण (२.८, ३) में उल्लेख है।

त्रित—वैदिक साहित्य में स्पष्टतः यह एक देवता[1] है, किन्तु निरुक्त[2] के एक स्थल पर यास्क इसकी एक ऋषि के नाम के रूप में व्याख्या करते हैं।

[1] मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ६७–६९।

[2] ४. ६।

त्रि-पुर को ब्राह्मणों[1] में एक सुरक्षित स्थान कहा गया है। किन्तु इन स्थलों के पौराणिक होने के कारण ऐसे दुर्गों के अस्तित्व पर विशेप जोर नहीं दिया जा सकता, जिनके चारों ओर तीन दीवारें हों।

[1] शतपथ ब्राह्मण ६. ३, ३, २५; ऐतरेय ब्राह्मण २. ११; कौषीतकि ब्राह्मण, इन्डिशे स्टूडियन २, ३१०, में। तैत्तिरीय संहिता ६. २, ३; काठक संहिता २४. १०, इत्यादि भी देखिये, और लेवी : ल डॉक्ट्रिन् डु सैक्रीफाइस ४६, नोट १।

त्रि-प्लक्ष, पुलिङ्ग, बहुवचन, (तीन अंजीर के वृक्ष) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] के अनुसार *यमुना* के निकट स्थित उस स्थान का नाम है जहाँ *दृषद्वती* अन्तर्ध्यान हो गये थे।

[1] २५. १३, ४। तु० की० शाङ्खायन श्रौतसूत्र १३. २९, ३३; लाट्यायन श्रौतसूत्र १०. १९, ९, कात्यायन श्रौतसूत्र २४. ६, ३९।

त्रिय्-अवि—देखिये *त्र्यवि*।

त्रि-युग, (क्लीव), ऋग्वेद[1] में आनेवाली एक व्याहृति है, जहाँ यह कहा गया है कि पौधों (ओषधि) का जन्म देवों से तीन युग पूर्व हो चुका था (देवेभ्यस् त्रियुगं पुरा)। निरुक्त[2] के भाष्यकार का विचार है कि यहाँ उद्दिष्ट युगों का आशय भी बाद के भारतीय कालक्रम के 'युगों' जैसा ही है, और उक्त स्थल पर यह अर्थ है कि पौधे प्रथम युग में उत्पन्न हुए थे। शतपथ ब्राह्मण[3] का प्रणेता उक्त मंत्र में तीन ऋतुओं—वसन्त, वर्षा और शरद्—का आशय मानता है, और 'त्रियुगं पुरा' को दो अलग-अलग शब्द मानते हुए इनका 'पहले, तीन ऋतुओं में' अर्थ करता है। फिर भी 'तीन युगों' का अस्पष्ट-सा आशय ही पर्याप्त है। ऐसी स्थितियों में तीन की संख्या के प्रति अनुराग लोक-साहित्य की एक बहुप्रचलित विशेषता है (तु० की० *युग*)

[1] १०. ९७, १ = तैत्तिरीय संहिता ४. २, ६, १, और वाजसनेयि संहिता १२, ७५।
[2] ९. २८।
[3] ७. २, ४, २६।
तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ३४०।

त्रि-वत्स (तीन वर्ष का)[1] बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[2] में मिलने-वाली एक व्याहृति है, जो मवेशियों के लिए व्यवहृत हुई है।

[1] इस यौगिक शब्द के रूप और अर्थ के लिए, तु० की० *त्र्यवि*।
[2] वाजसनेयि संहिता १४. १०; १८. २६; २८. २७. पञ्चविंश ब्राह्मण १६, १३; १८. ९; २१. १४, इत्यादि। तु० की० लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. ३, ९ और बाद, जहाँ इस शब्द की एक व्याख्या 'त्रि-वर्ष' है।

त्रि-वृत्—अथर्ववेद (५.२८, २.४) में कवच का नाम है।

त्रि-वेद कृष्ण-रात लौहित्य ('लोहित' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४२, १) के एक वंश के अनुसार *श्यामजयन्त लौहित्य* के शिष्य, एक गुरु का नाम है।

त्रि-शङ्कु वैदिक साहित्य में एक ऋषि का नाम है, जिसका एक गुरु के

रूप में तैत्तिरीय उपनिषद्[1] में उल्लेख है। फिर भी यहाँ बाद की उस कथा का कोई चिह्न नहीं है, जिसके अनुसार यह *वसिष्ठ* द्वारा शापित हुआ था और *विश्वामित्र* की चिन्ता का विषय बनकर अन्ततोगत्वा आकाश में एक नक्षत्र बन गया।[2] त्रिशङ्कु की कथाओं में कालक्रमानुगत संदिग्धता महाकाव्य में प्रचलित परम्परा की निरर्थकता का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

[1] १. १०, २।
[2] मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], ३६२, ३७५ और बाद।

त्रि-शोक एक प्राचीन पौराणिक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2], दोनों में ही उल्लेख है। पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में इसके नाम पर एक सामन् का नामकरण किया गया है।

[1] १. ११२, १२; ८. ४५, ३०। १०. २९, २, में यह शब्द केवल एक विशेषण-मात्र प्रतीत होता है जिसका अर्थ 'तिगुना वैभव' है।
[2] ४. २९, ६।
[3] ८. १।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०७, १६२; हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५, ३३।

त्रै-ककुद—देखिये *त्रिककुद्*।

त्रैतन—यह ऋग्वेद[1] में *दीर्घतमस्* के शत्रु, एक *दास*, के रूप में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीर्घतमस् के साथ एकमात्र युद्ध में यह उससे पराजित हो गया था। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ऐसा व्यक्त करता है कि यह 'त्रित' से सम्बद्ध कोई अलौकिक प्राणी है (तु० की० अवेस्ता का 'थ्रित' और 'थ्राएतओना')।[2]

[1] १. १५८, ५।
[2] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० ६८। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५१; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद १४४।

त्रै-धात्व ('त्रिधातु' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१३.३, १२) में *त्र्यरुण* का पैतृक नाम है।

त्रै-पद (क्लीब)—यह *योजन* की 'त्रि-चतुर्थांश' दूरी के नाप के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण में आता है, जहाँ अर्ध-योजन को *गव्यूति* और योजन के चतुर्थांश को *क्रोश* कहा गया है।[1]

[1] १६. १३। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १४. ४१, १२।

त्रैवणि का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिका) में *औपचन्धनि* अथवा *औपजन्धनि* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। माध्यन्दिन शाखा[2] में इसका नाम दूसरे वंश में दो वार और दोनों ही दशाओं में, 'औपजन्धनि' के शिष्य के रूप में आता है।

[1] २. ६, ३ (काण्व = २. ५, २१ माध्यन्दिन); ४. ६, ३ (= ४. ५, २७)।

[2] ४. ५, २७।

त्रै-वृष्ण ('त्रिवृषन्' का वंशज) ऋग्वेद (५.२७, १) में *त्र्यरुण* का पैतृक नाम है।

त्र्य्-अरुण त्रै-वृष्ण त्रसदस्यु उस राजा का नाम है जिसके उदारता की ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में प्रख्याति है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में यह *त्र्यरुण* त्रैधात्व ऐक्ष्वाक के रूप में आता है, और बाद की कथा का नायक है। यह *वृष जान* नामक अपने पुरोहित के साथ रथारूढ़ होकर जा रहा था, और उस समय अत्यधिक तीव्र गति से रथ हाँकने के कारण रथ के नीचे एक ब्राह्मण-बालक दब गया था। पुरोहित ने अपने 'वार्ष' सामन् द्वारा इस पाप का निराकरण किया था। सायण[3] द्वारा उद्धृत शाट्यायनक ब्राह्मण इस आख्यान को और भी विस्तारित करता है। यतः रथ की लगाम 'वृष' के हाथ में थी, अतः राजा और पुरोहित दोनों ने ही इस हत्या के लिए एक दूसरे को दोषी ठहराया। इक्ष्वाकुओं द्वारा इस विषय पर परामर्श लेने पर उन्होंने इस अपराध का दायित्व 'वृष' पर ही रखा, जिसके फलस्वरूप उसने वार्ष सामन् द्वारा बालक को पुनरुज्जीवित कर दिया। इनके इस पक्षपात, अर्थात् क्षत्रिय होकर दूसरे क्षत्रिय का पक्ष करने के कारण, इनके गृहों में अग्नि की ज्योति जलना बन्द हो गयी। उसे पुनः प्राप्त करने की इनकी विनती के फलस्वरूप वृष इनके पास आया तथा उस 'पिशाची' को देखा जिसने त्रसदस्यु की पत्नी के रूप में अग्नि की ज्योति को चुरा रखा था। इस प्रकार उसने उस ज्योति को पुनः प्राप्त कर अग्नि को समर्पित कर देने में सफलता प्राप्त की। थोड़े वहुत परिवर्त्तनों के साथ यही कथा बृहद्देवता[4] में

[1] ५. २७, १–३।

[2] १३. ३, १२। तु० की० ऋग्वेद ५. २ पर सायण द्वारा उद्धृत ताण्डक-शाखा जहाँ 'त्रसदस्यु' को एक राजा का नाम माना गया है।

[3] ऋग्वेद, उ० स्था० पर। ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो०, १८, २० में जैमिनीय-ब्राह्मण देखिये।

[4] ५.१४ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी-सहित।

भी आती है, जहाँ इसे ऋग्वेद[5] के एक सूक्त से सम्बद्ध किया गया है। सीग[6] द्वारा इस सूक्त में वस्तुतः इसी कथा का सन्दर्भ दिखाने का प्रयास सर्वथा असफल ही रहा है।[7]

यह स्पष्ट है कि यहाँ 'त्रसदस्यु' से 'त्रसदस्यु के वंशज' का ही आशय है, न कि स्वयं राजा 'त्रसदस्यु' का। 'त्रैवृष्ण' और 'त्रैधात्व' पैतृक नामों के, जिनसे इसका संकेत है, अन्तर की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या यह मान लेने से हो जाती है कि 'त्रिवृषन्' और 'त्रिधातु' (अथवा सम्भवतः 'त्रिधन्वन्') नामक दो राजा थे, जिनके वंश में 'त्र्यरुण' हुआ था।[8] इक्ष्वाकुओं से इसका सम्बन्ध महत्त्व रखता है (देखिये इक्ष्वाकु)।

[5] ५. २।
[6] सा० ऋ०, ६४-७६। तु० की० गेल्डनर: फे० रौ०, १९२।
[7] देखिये औल्डेनवर्ग: से० बु० ई० ४६, ३६६ और वाद; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३१२; हिलेब्रान्ट: गो०, १९०२, २४० और बाद।
[8] देखिये सीग, उ० पु०, ७४-७६ और त्रसदस्यु।

त्र्य्-अवि ऋग्वेद[1] और बाद की संहिताओं[2] में अट्ठारह मास[3] के बछड़े का द्योतक है।

[1] ३. ५५, १४।
[2] काठक-संहिता १७. २; १८. १२, इत्यादि ('त्रियवि' रूप में); वाजसनेयि-संहिता १४. १०; १८. २६ इत्यादि।
[3] इसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ प्रत्यक्षतः 'तीन भेड़ों (अवधियों) वाला' है; अर्थात् जिस प्रकार विशेषण 'पञ्चावि' का अर्थ 'छः महीनों की पाँच अवधियाँ' अथवा 'तीन मास का' है, उसी प्रकार इसका अर्थ भी 'छः मासों की तीन अवधियाँ' हो सकता है।

त्र्य्-आशिर् (तीन मिश्रणोंवाला) ऋग्वेद[1] में सोम की एक उपाधि है। सायण के अनुसार इसका अर्थ *दधि*, *सक्तु*, और *पयस्* से मिश्रित है। अधिक उपयुक्त रूप में यह 'गवाशिर्', 'यवाशिर्' और 'दध्याशिर्' का द्योतक हो सकता है, जिनका सोम में मिश्रण करने के लिए प्रयोग होता था।

[1] ५. २७, ५। तु० की० कदाचित् ८. २, ७ ('त्रय इन्द्रस्य सोमाः सुतासः' अर्थात् 'इन्द्र द्वारा निचोड़ा गया तीन प्रकार का सोम')।
[2] हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १, २०९; औल्डेनवर्ग: से० बु० ई०, ४६, ४२२।

त्वच् (त्वचा, चर्म)—(क) ऋग्वेद[1] में मुख्यतः उस चर्म का द्योतक है जिसका पौधे से रस निचोड़ने के लिए प्रयोग किया जाता था। सोम को, दबानेवाले पटरों (अधिषवणे फलके)[2], जिनका ऋग्वेद में उल्लेख नहीं है, पर बिछे चर्म के ऊपर रखकर पत्थरों (अद्रि) द्वारा कुचला जाता था। अथवा यदि मूसल और उद्गूखल का प्रयोग किया जाता था, तो उनके नीचे चर्म रख दिया जाता था, जिससे जैसा कि पिशल[3] का विचार है, रस की बूँदों को वहीं एकत्र किया जाय, ऊपर नहीं।

(ख) त्वच्, रस निकाल लेने के बाद सोम-पौधे की अवशिष्ट खोई का भी द्योतक है।[4]

(ग) लाक्षणिक आशय में 'कृष्णा त्वच्' (काली त्वचावाले) शब्द आक्रामक आर्यों के आदिवासी शत्रुओं के लिए भी व्यवहृत हुआ है।[5]

[1] १. ७९, ३; ३. २१, ५; ९. ६५, २५; ६६, २९; ७०, ७; ७९, ४; १०१, ११, १६, इत्यादि।
[2] हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, १८१–१८३, और अधिषवण।
[3] वेदिशे स्टूडियन १, ११०।
[4] ऋग्वेद ९. ८६, ४४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, १३, १; हिलेब्रान्ट : उ० पु०, ५२।
[5] ऋग्वेद १, १३०, ८ और सम्भवतः ९. ४१, १, जिसके लिए तु० की० हिलेब्रान्ट : उ० पु० ५१, नोट २, और देखिये दास।

त्वष्टृ अथर्ववेद[1] में एक बार 'बढ़ई' के आशय में आता है, जहाँ 'त्वष्टृ' देव के नाम का जानबूझ कर श्लिष्ट-प्रयोग किया गया है। यहाँ इसका कुठार (स्वधिति) द्वारा (लकड़ी से) 'एक सुनिर्मित रूप' (रूपं सुकृतम्) बनानेवाले के रूप में उल्लेख है। देखिये *तष्टृ*।

[1] १२, ३, ३३। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ६८८; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ६५१।

त्वाष्ट्र ('त्वष्टृ' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में एक पौराणिक गुरु, *आभूति*, का पैतृक नाम है।

[1] २. ६, ३ (काण्व = २. ५, २२ माध्यन्दिन); ४. ६, ३ (= ४. ५, २८)।

त्सरु—(क) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर यह शब्द एक प्रकार के रेंगनेवाले पशु का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ७. ५०, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९९।

(ख) बाद के साहित्य में यह शब्द चमस[1] की 'मुठिया' का द्योतक है। इसी आशय में अथर्ववेद[2] और बाद की संहिताओं[3] में यह हल (लाङ्गल) के वर्णन में भी प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ४। तु० की० लाट्यायन-श्रौत सूत्र १०. १२, १२, इत्यादि।

[2] ३. १७, ३, जहाँ साधारण पाठ में 'सोम-सत्सरु' (पदपाठ में भी), और पैप्पलाद शाखा में 'सोम-पित्सलम्' है।

[3] तैत्तिरीय संहिता ४. २, ५, ६, में 'सुमति-त्सरु' है; मैत्रायणी संहिता २. ७, १२; काठक संहिता १६. १२; वाजसनेयि-संहिता १२. ७१; वसिष्ठ-धर्म सूत्र २. ३४, में 'सोमपित्सरु' है, जिसका वनिष्ठ 'सोमपान करनेवाले की सुविधा के लिए लगी मुठिया' अनुवाद करते हैं (यथा: 'सोमपि-त्सरु')। वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १७, २५५, 'सोम-स-त्सरु' पाठ का परामर्श देते हैं, जिसका आप 'एक बन्धन ('उमन्', एक अनुमानात्मक शब्द) और मुठिया (त्सरु) से युक्त (स)' के रूप में अर्थ करते हैं। ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ११६, इत्यादि, में 'मती-कृ' धातु के आधार पर सर्वत्र 'सुमति-त्सरु' अर्थात् 'अच्छी चिकनी मुठिया', पाठ ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २३६; बूह्लर: से० बु० ई० १४, १३।

त्सारिन्—ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर लुडविग और मैक्समूलर[2] के अनुसार, 'तक्व' नामक एक अज्ञात पशु के पीछे लगे हुए 'आखेटक' का द्योतक है। किन्तु यह व्याख्या सर्वथा अनुमानात्मक है।

[1] १. १३४, ५।

[2] से० बु० ई० ३२, ४४८।

द

दंश (शब्दार्थ: 'डसनेवाला') का 'गोमक्षिका' के अर्थ में छान्दोग्य उपनिषद् (६.९, ३; १०, २,) में उल्लेख है।

दंष्ट्र—ऋग्वेद तथा उसके बाद[1] किसी पशु के प्रमुख दाँत का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद २. १३, ४; १०. ८७, ३; अथर्ववेद ४. ३६, २; १०. ५, ४३; १६. ७, ३ इत्यादि।

दक्ष कात्यायनि आत्रेय ('अत्रि' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४१, १; ४.१७, १) के वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में शङ्ख बाभ्रव्य के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

दक्ष जयन्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३.४२, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *कृष्णरात लौहित्य* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

दक्ष पार्वति (*पर्वत* का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण[1] में एक ऐसा संस्कार-सम्पन्न करनेवाले के रूप में उल्लेख है, जिसे इसके वंशज 'दाक्षायण-गण' भी करते थे, और इस प्रकार इस ब्राह्मण के समय तक राजकीय वैभव का आनन्द प्राप्त करते रहे। यह नाम कौषीतकी ब्राह्मण[2] में भी आता है।

[1] २.४, ४, ६।
[2] ४.४।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २२३; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ३७४ और बाद; लेवी : ल डाक्ट्रिन डु सेक्रीफाइस, १३८।

दक्षिणतस्-कपर्द—ऋग्वेद (७.३३, १) में *वसिष्ठों* की एक उपाधि है, जो इन लोगों द्वारा 'दाहिनी ओर वेणीयुक्त केश' रखने की प्रणाली को व्यक्त करती है। देखिये *कपर्द*।

दक्षिणा—ऋग्वेद[1] और बाद[2] में यज्ञ के समय पुरोहितों को दिये गये उपहार के वाचक के रूप में यह शब्द बहुधा, प्रत्यक्षतः इसलिए, प्रयुक्त हुआ है कि एक—प्रचुर दुग्ध प्रदान करनेवाली (दक्षिणा)—गाय ही ऐसे *अवसरों*[3] पर पुरोहितों का सामान्य पारिश्रमिक[4] होती थी। ऋग्वेद की बाद की

[1] ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त १०. १०७ इसकी प्रशस्ति में समर्पित किया गया है। तु० की० १. १६८, ७; ६. २७, ८; ८. २४, २९; ३९, ५; १०. ६२, १ इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. ११, ४; ५. ७, ११; ११. ७, ९; ८, २२; १३. १, ५२; १८. ४, ८ इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता १. ७, ३, १; ८, १, १; वाजसनेयि-संहिता ४. १९. २३; १९. ३०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ३ और बाद; शतपथ ब्राह्मण १. ९, ३, १ और बाद। इन दक्षिणाओं को प्राप्त करने के लिए व्यवहृत मन्त्र ('गाथा-नाराशंसी', या तो एक व्याहृति के रूप में अथवा दो अलग-अलग शब्दों के रूप में) अत्यन्त मिथ्या थे। देखिये काठक संहिता १४. ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, २, ६. ७; निरुक्त १. ७; ११. २।

[3] तु० की० इस नियम के लिये, कि यदि कुछ निर्दिष्ट न होने पर गाय ही दक्षिणा होती है, कात्यायन श्रौतसूत्र १५. २, १३; लाट्यायन श्रौतसूत्र ८. १, २।

[4] अर्थ का संक्रमण अंग्रेजी शब्द 'fee' के प्रयोग के समान है : 'मवेशी', 'अर्थ', 'सेवा के लिए मूल्य देना', (देखिये, मरे : अंग्रेजी डिक्शनरी, व० स्था० 'fee')। तु० की० **गो-दान**, नोट ४ भी।

दानस्तुतियों ने इस प्रकार के दान को अत्यधिक अतिरंजित कर दिया है तथा ब्राह्मणों में इसका वर्णन और भी अतिरंजित हो गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपहारों की गणना के अन्तर्गत प्रमुखतः केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति की वस्तुएँ, जैसे गाय, अश्व, भैंसें, अथवा ऊँट (उष्ट्र), और अलंकार आदि ही आते थे, किन्तु भूमि नहीं।[५] फिर भी, शतपथ ब्राह्मण[६] में दक्षिणा के रूप में भूमि का उल्लेख तो है; किन्तु इसे, सम्भवतः, मान्यता नहीं दी गयी थी, जो कदाचित् इसलिए कि गोत्र के मुखिया की आज्ञा के बिना भूमि का विक्रय सम्भव नहीं माना जाता था।[७]

[५] इसी प्रकार, उदाहरण के लिए, ऋग्वेद १. १२६, १-४; ५. ३०, १२-१५; ८. १, ३२. ३३; ३, २१ और बाद; ४, १९-२१; ५, ३७-३९; ६, ४६-४८; ५५; ५६; ७. १८, २१-२४, और लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २७३-२७७, में दी हुई संपूर्ण तालिका।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ४९ और बाद। दक्षिणा के रूप में वस्त्रों (वासस्) और स्वर्ण का अथर्ववेद ९. ५, १४ में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण ४. ३, ४, ७, के अनुसार चार दक्षिणाएँ, स्वर्ण, गाय, वस्त्र और एक अश्व हैं। इस तालिका में अश्वसज्जा और अलंकार भी सम्मिलित कर देने पर यह व्यवहारतः पर्याप्त होगी।

[६] १३. ७, १, १३ जिसके साथ १३. ६, २, १८ को तु० की०, जहाँ ब्राह्मण की भूमि को अपवाद मान लिया गया है; और देखिये १३. ७, १, १५, जहाँ भूमि के उपहार को अनुचित कहा गया है।

[७] शतपथ ब्राह्मण ७. १, १, ४। तु० की० ऊपर पृ० १००, नोट १९, २४६; नीचे पृ० ३५१, ३५२।

तु० की० तिसमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १६९-१७१; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे १०४; १०५; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ९६-९८; ब्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ वेद, ६९-७४; अथर्ववेद, ७६ और बाद, २००, १२१।

दक्षिणा-पथ (शब्दार्थ : 'दक्षिण की ओर जानेवाला मार्ग')—'दक्षिण देश' के आशय में, यह सम्भवतः दक्षिण के देशों की उपाधि है और 'सुराष्ट्र' के साथ संयुक्त रूप से बौधायन धर्मसूत्र[१] में मिलती है। इसी प्रकार की एक भिन्न व्याहृति 'दक्षिणा पदा' (दक्षिण की ओर अग्रसर पैर) ऋग्वेद[२] में मिलती है, जहाँ यह देश से बहिष्कृत लोगों (परा-वृज्) द्वारा बहिष्कृत जीवन व्यतीत करनेवाले स्थान का द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका साधारण अर्थ केवल आर्यों के देश की उस सीमा के 'दक्षिण' का आशय है,

[१] १. १, २, १३। तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध, ३९४, नोट, और बौधायन गृह्यसूत्र ५. १३।

[२] १०. ६१, ८।

जिसे कौषीतकि उपनिषद्[3] जैसे बाद के समय में भी दक्षिण की ओर विन्ध्य-पर्वत तक सीमित माना गया है।

[3] २. १३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १८५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०८; रिज डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, ३०; कीथ : शांखायन आरण्यक २८, नोट १; ऐतरेय आरण्यक २००।

दक्षिणा-प्रष्टि, 'दाहिने किनारे के अश्व' का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण[1] के दो स्थलों द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि रथ में एक साथ चार अश्व सन्नद्ध किये जाते थे, जिसमें दाहिने तथा बाँयें सन्नद्ध दो अश्व (दक्षिणा-युग्य, सव्या-युग्य) बीच में रहते थे, तथा इन दोनों के दोनों ओर एक-एक अन्य अश्व रखे जाते थे। यह दोनों बाद के अश्व रथ से नहीं, वरन् केवल बीच में सन्नद्ध दोनों अश्वों से ही सम्भवतः किसी प्रकार बँधे होते थे। देखिये *रथ*।

[1] ५. १, ४, ९; ९. ४, २, ११ (इस स्थान पर केवल तीन अश्वों की ही चर्चा है, किन्तु तु० की० ५. ४, ३, १७)। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १६.१३, १२ भी।

दक्षिणायन—देखिये *सूर्य*।

दक्षिणा-युग्य, (दाहिनी ओर सन्नद्ध अश्व), का शतपथ ब्राह्मण (५.१, ४, ६; ४, ३, ८; ९.४, २, ११) में उल्लेख है। देखिये *रथ*।

दण्ड (डण्डा)—(क) इस शब्द का प्रायः साधारण आशय में ही उल्लेख है; उदाहरण के लिए या तो पशुओं[1] को हाँकने के लिए (गो-अज नासः), अथवा एक शस्त्र[2] के रूप में। शतपथ ब्राह्मण[3] के अनुसार प्रतिष्ठापन के समय असुरों को भगाने के लिए मनुष्य को एक डण्डा दे दिया जाता था। वयस्क हो जाने पर 'उपनयन' संस्कार के समय भी डण्डे का महत्त्व है।[4] एक परिष्कृत आशय में यह शब्द चमस अथवा इसी प्रकार के किसी उपकरण की मुठिया का भी द्योतक है।[5]

[1] ऋग्वेद ७. ३३, ६।
[2] अथर्ववेद ५. ५, ४। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण २. ३५; शतपथ ब्राह्मण १. ५, ४, ६, इत्यादि।
[3] ३. २, १, ३२
[4] आश्वलायन गृह्यसूत्र १. १९; २२; शांखायन गृह्यसूत्र २. १. ६. ११, इत्यादि।
[5] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ५; शतपथ ब्राह्मण ७. ४, १, ३६। एक वाद्ययन्त्र की मुठिया के रूप में, शांखायन आरण्यक ८. ९; श्रौतसूत्र, १७. ३, १ और बाद।

(ख) दण्ड के आशय में लौकिक शक्ति के प्रतीक के रूप में राजाओं द्वारा 'दण्ड' का व्यवहार होता था (राज-प्रेषितो दण्डः)।[1] आधुनिक शब्दावली में राजा ही दण्ड-विधान का उद्गम होता था; और बाद के समय तक भी विधान का यह पक्ष स्पष्टतः राजा के हाथ में केन्द्रित था।[2] पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में अ-ब्राह्मणवादी *व्रात्यों* की एक चारित्रिक विशेषता के रूप में अनपराधियों (अ-दण्ड्य) को भी दण्ड देने का उल्लेख है। देखिये *धर्म* भी।

[1] पारस्कर गृह्यसूत्र ३. १५। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ५. ४, ४, ७, जहाँ, स्वयं अदण्ड्य होते हुए, राजा दूसरों को न्यायोचित दण्ड (दण्ड-वध) देता है।

[2] फॉय : डी० गे० २१ और बाद।

[3] १७. १, ९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३३।

दण्ड *औपर* ('उपर' का वंशज) का तैत्तिरीय संहिता (६.२, ९, ४) और मैत्रायणी संहिता (३. ८, ७) में एक संस्कार सम्पन्न करनेवाले के रूप उल्लेख है।

दण्डन—यह अथर्ववेद[1] में 'नरकट' अथवा 'बेंत' के अन्य नामों के रूप में आता है।

[1] १२. २, ५४। तु०की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ६८२।

दत्त *तापस*—पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में वर्णित सर्पोत्सव के समय एक होतृ पुरोहित था।

[1] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १. ३५।

दधि (दही) का ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] अनेक बार उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[3] में क्रम से *घृत*, दधि, *मस्तु* का उल्लेख है जिसका एग्लिङ्ग[4] मक्खन, और *आमिक्षा* (दधि), अनुवाद करते हैं। अक्सर 'दधि' का बहुवचन अर्थ भी है। इसे *सोम* के साथ मिश्रित करने के लिए व्यवहार में लाया जाता था।[5]

[1] ८. २, ९; ९. ८७, १, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ३. १२, ७; ४. ३४, ६; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ३, ४, इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ५, १२, इत्यादि।

[3] १. ८, १, ७। तु० की० जैमिनीय ब्राह्मण २. ३४८।

[4] से० बु० ई० १२, २१८।

[5] दध्याशिर् (दधिमिश्रित), ऋग्वेद १. ५, ५; १३७, २; ५. ५१, ७; ७. ३२, ४ में सोम की एक उपाधि है। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, २१९ और बाद।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २२७।

दध्यञ्च् आथर्वण एक सर्वथा पौराणिक ऋषि है। ऋग्वेद[1] में यह स्पष्ट रूप से एक प्रकार का दिव्य पुरुष ही है, किन्तु बाद की संहिताओं[2] और ब्राह्मणों[3] में इसे एक गुरु के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण[4] में इसे भूल से एक 'आङ्गिरस' बताया गया है।

[1] १. ८०, १६; ८४, १३. १४; ११६, १२; ११७, २२; ११९, ९, इत्यादि। देखिये मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी, पृ० १४१, १४२; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १,१७६।

[2] तैत्तिरीय संहिता ५. १, ४, ४; ६, ६, ३; काठक संहिता १९. ४।

[3] शतपथ ब्राह्मण ४. १, ५, १८; ६. ४, २, ३; १४. १, १, १८. २०. २५; ४, १३; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५, २२; ४. ५, २८, इत्यादि।

[4] १२. ८, ६। गोपथ-ब्राह्मण १. ५, २१ में भी इसी प्रकार है।

तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ३५; अथर्ववेद २३, ११६, ११८; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

दध्य्-आशिर् —देखिये *दधि* और *सोम*।

दन्त्, दन्त (दाँत) का ऋग्वेद तथा उसके बाद[1] से अक्सर उल्लेख है। दाँतों को स्वच्छ (धाव्) करना, मुख्यतः यज्ञ आरम्भ करने के पूर्व एक नित्य का कृत्य था, और इसके साथ स्नान, केश और दाढ़ी (केश-श्मश्रु) बनवाने तथा नाखून कटवाने का कार्य भी किया जाता था।[2] अथर्ववेद[3] का एक सूक्त बालक के प्रथम दो दाँतों के निकालने की प्रशस्ति करता है, यद्यपि इस स्थल की ठीक-ठीक व्याख्या सन्दिग्ध[4] है। ऐतरेय ब्राह्मण[5] में बालक के प्रथम दाँत के गिरने का सन्दर्भ है। ऋग्वेद[6] में यह शब्द हाथी के दाँत का द्योतक प्रतीत होता है। दंत-चिकित्सा होती थी अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध है। ऐतरेय आरण्यक[7] में एक मनुष्य के नाम के रूप में *हिरण्य-*

[1] ऋग्वेद ७. ५५, २; १०. ६८, ६; अथर्ववेद ५. २३, ३; २९, ४; ६. ५६, ३, इत्यादि। इसका अधिक प्रचलित रूप 'दन्त' है, ऋग्वेद ४. ६, ८; ६. ७५, ११; अथर्ववेद ४. ३, ६, इत्यादि।

[2] मैत्रायणी संहिता ३. ६, २ (तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, २ और बाद, में इसका ठीक समानान्तर रूप नहीं है)

[3] ६. १४०।

[4] त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २२१, वेबर: इन्डिशे स्टूडियन ५, २२४; ग्रिल: हुन्डर्ट लीडर,[2] १७६; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ५४०, ५४१; अथर्ववेद ७१; ह्विट्नी: अथर्ववेद का अनुवाद ३८६।

[5] ७. १४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५, १८।

[6] ४. ६, ८; पिशल: वेदिशे स्टूडियन १, ९९; औल्डेनबर्ग: से० बु० ई० ४६, ३४१, ३४२।

[7] २. १, ५।

दन्त् (स्वर्ण-दन्तोंवाला) का प्रयोग सम्भवतः उल्लेखनीय है, मुख्यतः इसलिए कि स्वर्ण से दाँतों को भरना रोम में भी उतने पहले तक ज्ञात था जिस समय 'ट्वेल्व टेबुल'[८] नामक विधान बनाया गया था।

[८] कीथ : ऐतरेय आरण्यक २०६। देखिये वर्डस्वर्थ : फ्रैग्मेन्ट्स ऐण्ड स्पेसिमेन ऑफ अर्ली लैटिन, ३५७।

दभीति ऋग्वेद में अनेक बार एक नायक अथवा ऋषि के रूप में आता है। इसके लिए इन्द्र ने *चुमुरि* और *धुनि*[१] को पराजित किया; इसने इन्द्र के लिये सोम दबाया[२] और इन्द्र ने इसे पुरस्कृत किया[३]। इसके लिए ३०,००० *दासों* को निद्रित[४], और इसके लिए ही *दस्युओं* को बिना रस्सियों के ही बाँधा गया[५]। *तुर्वीति* के साथ भी 'दभीति' अश्विनों के एक आश्रित के रूप में आता है।[६] इसके एक वास्तविक व्यक्ति होने के तथ्य को अस्वीकृत करने का कोई कारण नहीं है।[७]

[१] १०. ११३, ९; २. १५, ९; ७. १९, ४।
[२] ६. २०, १३।
[३] ६. २६, ६।
[४] ४. ३०, २१।
[५] २. १३, ९।
[६] १. ११२, २३।
[७] औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद १५५, १५७, १५८।
तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १६२।

दम (गृह) एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[१] में अनेक बार व्यवहृत हुआ है। रॉथ[२] के अनुसार यह उस स्थल का द्योतक है जहाँ मनुष्य अनियन्त्रित शक्ति से युक्त होता है ('दम्,' अर्थात् 'नियन्त्रण' धातु से)।

[१] १. १, ८; ६१, ९; ७५, ५; १४३, ४; २. १, २ इत्यादि; वाजसनेयि-संहिता ८. २४।
[२] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। किन्तु यूनानी भाषा के δομος और δεμω (निर्माण) के साथ प्रत्यक्षतः सम्बन्ध के कारण यह अत्यन्त सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

दम्-पति, ऋग्वेद[१] में यह 'गृहस्वामी'[२] का, किन्तु अपेक्षाकृत अधिक

[१] १. १२७, ८; २. ३९, २; ५. २२, ४; ८. ६९, १६; ८४, ७।
[२] इस रूप के लिए, तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० ३७, नोट ९। पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ३०७ और बाद, यह तर्क उपस्थित करते हैं कि इसका अक्षरविन्यास 'दंपति' (गेल्डनर द्वारा अपने ऋग्वेदः ग्लॉसर में गृहीत) होना चाहिए। तु० की० 'पतिर् दन्', ऋग्वेद १. १४९, २; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १७६, १७७।

वार द्विवाचक रूप में 'गृहस्वामी और गृहिणी'[3] दोनों का द्योतक है, जो ऋग्वेद तक के समय में स्त्री के उच्च स्थान को व्यक्त करता है। देखिये *स्त्री*।

[3] ऋग्वेद ५. ३, २; ८. ३१, ५; १०. १०, ५; ६८, २; ८५, ३२; ९५, १२, इत्यादि; अथर्ववेद ६. १२३, ३; १२. ३, १४; १४. २, ९ इत्यादि।
तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ४१८, ४२०।

दर्भ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक प्रकार की घास का नाम है। अथर्ववेद में क्रोध का उपशमन करने (मन्यु-शमन)[3], और केशों को बिखरने से, अथवा वक्षः स्थल[4] को प्रहार से, बचाने के लिए कवच के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इसे प्रचुर जड़ोंवाला (भूरि-मूल)[5], सहस्र पत्तियोंवाला (सहस्र-पर्ण), और 'शत-काण्ड'[6] कहा गया है।

[1] १. १९१, ३ (घासों के शर और कुशर प्रकारों के साथ)।
[2] अथर्ववेद ६. ४३, २; ८. ७, २०; १०. ४, २; ११. ६, १५; १९. २८, १, इत्यादि; तैत्तिरीय संहिता ३. ५. १, ... ४, इत्यादि ...
[3] अथर्ववेद ६. ४३।
[4] १९. ३२, २। तु० की० १९. ३०।
[5] अथर्ववेद ६, ४३, २।
[6] अथर्ववेद १९. ३२, १।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ७०।

दर्वि, अथवा *दर्वी*, उपर्युक्ततः एक 'चमस' का द्योतक है और इसी आशय में यह ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में मिलता है। किन्तु अथर्ववेद[3] में इस शब्द का अर्थ सर्प का 'फन' भी है, यद्यपि त्सिमर इसे एक सर्प का नाम ही मानते हैं[4]।

[1] ५. ६, ९; १०. १०५, १०।
[2] अथर्ववेद ३. १०, ७; ४. १४, ७; ९. ६, १७, इत्यादि।
[3] १०. ४, १३। देखिये : ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५७७; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त १५३।
[4] आल्टिन्डिशे लेवेन ९५, जहाँ आप करिक्रत को भी एक सर्प के नाम के रूप में ही ग्रहण करते हैं।

दर्विदा (कठफोड़वा) का यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के एक वलि-प्राणी के रूप में उल्लेख है। तु० की० *दार्वाघात*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १३, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४; १५; वाजसनेयि संहिता २४. ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९३। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०, यह विचार व्यक्त करता है कि इसका वास्तविक आशय 'लकड़ी का भेदन करनेवाला' (दारु-विध) है। व्युत्पत्ति के लिए, तु० की० ट्रा० सो० ५, भाग २, पृ० १२१, में थॉमस का 'द-प्रत्यय' पर लेख।

दर्श, सामान्यतया पूर्णमासी[1] के विपरीत अमावस्या[2] का द्योतक है। अपेक्षाकृत अधिकतर यह शब्द 'दर्श-पूर्णमासौ' (अमावस्या और पूर्णमासी) के यौगिक[3] रूप में आता है जो संस्कारों के लिए विशेष महत्त्व रखनेवाली[4] इन दोनों तिथियों को व्यक्त करता है। इस यौगिक शब्द के प्रथम दो शब्दों का क्रम उल्लेखनीय है, क्योंकि, यद्यपि यह निश्चित रूप से सिद्ध तो नहीं करता, तथापि स्पष्ट रूप से ऐसा व्यक्त करता है कि मास की गणना अमावस्या से अमावस्या तक होती थी, पूर्णमासी से पूर्णमासी तक नहीं। देखिये *मास*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ४, १, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ७. ८१, ३. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, १, १४; शतपथ ब्राह्मण ११. २, २, १।
[3] वही १. ६, ७, १; ९, ३; २. ५, ६, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. २, २, १; ऐतरेय ब्राह्मण १. १; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ५, ११, इत्यादि।
[4] हिलेब्रान्ट : डा० वौ०, जेन, १८८०; रिचुअल लिटरेचर १११–११४; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस, वेद, ४३९।

दश-ग्व ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में ऐसे व्यक्ति के नाम के रूप में आता है जिसकी इन्द्र ने सहायता की थी। फिर भी इस ग्रन्थ के अन्य सन्दर्भ दशग्वों, तथा इनके बीच के किसी भी व्यक्ति के चरित्र की पौराणिकता को ही स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं।

[1] ८. १२, २।
[2] इनका १. ६२, ४; ३. ३९, ५; ४. ५१, ४; ५. २९, १२; १०. ६२, ६ में **'नवग्वों'** के साथ, तथा २. ३४, १२, में अकेले ही उल्लेख है। देखिये मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १४४ (ग)।

दशतयी निरुक्त[1] में अक्सर दस मण्डलों में विभक्त ऋग्वेद के मूल पाठ का द्योतक है।

[1] ७. ८. २०; ११. १६; १२. ४०।

दश-द्यु ऋग्वेद[1] में दो बार किसी नायक के नाम के रूप में आता है, किन्तु इसके अथवा एक स्थल पर इसके साथ ही उल्लिखित वैतसु के साथ इसके सम्बन्ध आदि के बारे में कुछ भी निश्चित नहीं किया जा सकता।

[1] १. ३३, १४; ६. २६, ४। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८।

दशन् (दस)—जैसा कि सामान्यतया अन्य आर्य जातियों में भी है, 'दशन्' वैदिक भारतीयों के संख्यात्मक पद्धति का आधार है। किन्तु यह भारत[1] की ही विशिष्टता है कि हमें अत्यधिक आरम्भिक काल में भी बहुत ऊँची संख्याओं के नाम मिलते हैं, जब कि अभारतीय आर्यों का ज्ञान १,००० से अधिक नहीं है। वाजसनेयि संहिता[2] में इस प्रकार की तालिका है: १; १०; १००; १,०००; १०,००० (अयुत); १,००,००० (नियुत); १०,००,००० (प्रयुत); १,००,००,००० (अर्बुद); १०,००,००,००० (न्यर्बुद); १,००,००,००,००० (समुद्र); १०,००,००,००,००० (मध्य); १,००,००,००,००,००० (अन्त); १०,००,००,००,००,००० (परार्ध)। काठक संहिता[3] में भी यही तालिका है, किन्तु 'नियुत' और 'प्रयुत' का परस्पर स्थान-परिवर्तन हो गया है, और 'न्यर्बुद' के बाद एक नवीन संख्या 'बद्व' आ जाती है जिससे यह 'समुद्र' को १०,००,००,००,००० में, तथा आगे की संख्याओं को भी इसी क्रम से परिवर्तित कर देती है। तैत्तिरीय संहिता के दो स्थानों[4] पर भी सर्वथा वही तालिका है जैसी वाजसनेयि-संहिता में। मैत्रायणी संहिता[5] की तालिका इस प्रकार है: 'अयुत', 'प्रयुत', उसके बाद पुनः 'अयुत' और तब 'अर्बुद, 'न्यर्बुद', 'समुद्र', 'मध्य', 'अन्त', 'परार्ध'। पञ्चविंश ब्राह्मण[6] में 'न्यर्बुद' तक तो वाजसनेयि जैसी ही तालिका है और उसके बाद 'निखर्वक', 'बद्व', 'अक्षित', तथा प्रत्यक्षतः 'गो' = १०,००,००,००,००,०००, नामक संख्याएँ भी सम्मिलित हैं। जैमिनीय ब्राह्मण[7] की तालिका में 'निखर्वक' के स्थान पर 'निखर्व', 'बद्व' के स्थान पर 'पद्म', तथा तालिका के अन्त में 'अक्षितिर् व्योमान्तः' है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र[8] में 'न्यर्बुद' के बाद 'निखर्वाद', 'समुद्र', 'सलिल', 'अन्त्य', अनन्त (= १० खरब), क्रम मिलता है।

[1] थिबो: एस्ट्रॉनामी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक, ७०।

[2] १७. २, और बाद। तु० की० २२. ३४; शतपथ ब्राह्मण ९. १, २, १६।

[3] ३९. ६। १७. १० में 'बद्व' की संख्या लुप्त हो जाती है और यहाँ 'नियुत' और 'प्रयुत' के परस्पर स्थानपरिवर्तन के अतिरिक्त तालिका वाजसनेयि-संहिता के ही समान है।

[4] ४. ४, ११; ७. २, २०, १।

[5] २. ८, १४।

[6] १७. १४, २।

[7] १. १०, २८. २९। तु० की० ऐतरेय आरण्यक ५. ३, २; हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ३०, नोट २; कीथ: ऐतरेय आरण्यक, २९३, २९४।

[8] १५. ११, ७।

किन्तु 'अयुत'[9] के बाद इनमें से किसी भी संख्या में कोई शक्ति नहीं है। वास्तव में ऐतरेय ब्राह्मण[10] में 'वद्व' आता तो है, किन्तु यहाँ इसका ठीक-ठीक कोई संख्यात्मक आशय नहीं है[11]; और बाद में इन उच्च संख्याओं के नाम अत्यन्त अस्त-व्यस्त हैं।

पञ्चविंश ब्राह्मण[12] में कुछ उल्लेखनीय गणितीय-समांतर-श्रेणी का एक उदाहरण मिलता है, जहाँ यज्ञीय-उपहारों की एक ऐसी तालिका है जिसमें प्रत्येक बाद की संख्या पिछली संख्या की दुगनी होती गयी है। यह तालिका 'द्वादश-मानं हिरण्यम्', अर्थात् '१२ के मान के बराबर स्वर्ण' (यहाँ इकाई अनिश्चित है, किन्तु सम्भवतः कृष्णल[13] हो सकती है) से आरम्भ होती है। उसके बाद '२४, ४८, ९६, १९२, ३८४, ७६८, १,५३६, ३,०७२, के मानों' तक, फिर 'द्वे अष्टाविंशति-शत-माने', जिसका अर्थ २ × १२८ × २४ (अन्तिम संख्या केवल एक मान नहीं, वरन २४ मानों की एक संख्या है) = ६, १४४ है, और इसके बाद १२,२८८, २४,५७६, ४९,१५२, ९८,३०४, १,९६,६०८, ३,९३,२१६, है। इन बड़ी संख्याओं के साथ शतपथ ब्राह्मण[14] में वर्णित 'काल' के सूक्ष्म सैद्धान्तिक उप-विभाजनों की तुलना की जा सकती है, जहाँ

[9] तु० की० ऋग्वेद ३. ६, १५; ८. १, ५; २, ४१; २१, १८; ३४, १५; ४६, २२; अथर्ववेद ८. २, २१; ८, ७; १०.८, २४; पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १३, ६; २१. १८, ३, इत्यादि। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ३४८ का विचार है कि इसका ऋग्वेद में कोई निश्चित आशय नहीं है; किन्तु इसे न तो सिद्ध ही किया जा सकता और न अस्वीकृत। ऋग्वेद में अनेक बार 'शता सहस्राणि' वाक्पद आता है (४. ३२, १८; ८. ३२, १८ इत्यादि) = १,००,०००; और इसमें 'अयुत' की संख्या का भी सरलता से ही विशिष्टीकरण हो गया होगा, यद्यपि ऐसा सम्भव है कि यह भी अस्पष्ट आशय में ही सुरक्षित हो।

[10] ७. २१. २३।

[11] वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ९६।

[12] १८. ३। तु० की० लाट्यायन श्रौत-सूत्र ८. १०, १ और बाद; कात्यायन श्रौतसूत्र २२. ९, १-६।

[13] तु० की० कात्यायन श्रौतसूत्र २२. ९, १; वेवर : उ० पु० १०२, १०३।

[14] १२. ३, २, १ और बाद। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १०, १, १, भी, जहाँ 'मुहूर्त' के विभाजनों के नाम की, प्रत्यक्षतः उत्तरोत्तर स्तरों के नहीं वरन् विकल्पों के रूप में ही, एक तालिका है (इदानीम्, तदानीम्, एतर्हि, क्षिप्रम्, अजिरम्, आशुः (?आशु), निमेषः, फणः, द्रवन्, अतिद्रवन्, त्वरन्, त्वरमाणः, आशुः, आशीयान्, जवः)। देखिये वेवर : उ० पु० ९२-९४।

एक दिन को १५ मुहूर्तों में विभाजित किया गया है—१ मुहूर्त = १५ क्षिप्र, १ क्षिप्र = १५ एतर्हि, १ एतर्हि = १५ इदानि, १ इदानि = १५ प्राण। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[१५] में एक दिन का दशमलव वर्गीकरण के अनुसार १५ मुहूर्तों में विभाजन किया गया है—१ मुहूर्त = १० निमेष, १ निमेष = १० ध्वंसि।

वैदिक-साहित्य में कुछ संख्यांशों का भी उल्लेख है। 'अर्ध', 'पाद', 'शफ', और 'कला', क्रमशः $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$, $\frac{1}{8}$, $\frac{1}{16}$, के द्योतक हैं, किन्तु इनमें से प्रथम दो ही अधिक प्रचलित हैं। 'तृतीय', तीसरे भाग का द्योतक है।[१६] ऋग्वेद[१७] में यह कहा गया है कि इन्द्र और विष्णु ने १,००० को ३ से विभाजित किया, किन्तु इन लोगों ने किस प्रकार यह कार्य किया, यह अनिश्चित है। 'त्रि-पाद्' 'तीन-चौथाई' का द्योतक है।[१८]

इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि वैदिक-काल के भारतीय संख्यावाचक अंकों से भी परिचित थे, यद्यपि यह सर्वथा सम्भव है।[१९]

१५ १४. ७५ और बाद। तु० की० शाङ्खायन आरण्यक ७. २०।

१६ तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, ४; ५. २, ६, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ६, १; ७, १, २; शतपथ ब्राह्मण ३. ८, ४, ४, इत्यादि।

१७ ६. ६९, ८ = अथर्ववेद ७. ४४, १ = तैत्तिरीय संहिता ३. २, ११, २; ऐतरेय ब्राह्मण ६, १५; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, १, १३।

१८ ऋग्वेद १०. ९०, ४।

१९ यदि ऋग्वेद १०. ६२, ७, में 'अष्टकर्णी' का अर्थ पशुओं के 'कान पर 8 की संख्या का चिह्न' है तब संख्यावाचक अंकों का उल्लेख निश्चित है। तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन २३४, २३५, ३४८। किन्तु यह सन्दिग्ध है। देखिये मैकडोनेल: वैदिक ग्रामर, पृ० ३०९, नोट १०। तु० की० मैकडौनेल: वैदिक ग्रामर पृ० ३०८; वेबर: इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ९०-१०३; श्रोडर: प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज ३४९; केगी: ऋग्वेद, नोट ६५; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १६, २७५ और बाद।

दश-पुरुषं-राज्य—शतपथ ब्राह्मण[१] में आनेवाले इस शब्द का अर्थ निश्चित[२] रूप से 'दस पूर्वजों से चला आ रहा वंशानुगत राज्याधिकार' है, जो कि वंशानुगत शासन का उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। वेबर[3] ने कभी इस शब्द

१ १२. ९, ३, १. ३।

२ तु० की० आश्वलायन श्रौतसूत्र ९. ३; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५. १४, १८। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण ८. ७ में 'त्रि-पुरुष' (तीन पीढ़ियाँ)। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० और एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४४, २६९, में शुद्ध अनुवाद है।

3 इन्डिशे स्टूडियन १, २०९। किन्तु देखिये १०, ७५, नोट १।

का, 'दशपुर का साम्राज्य'[४] अनुवाद करते हुए कालिदास के मेघदूत[५] में वर्णित 'दशपुर', और 'मध्यदेश' के 'दशार्ण' से इसकी तुलना की थी।

[४] यह 'साम्राज्य' होगा, जिसमें सदैव 'म' का प्रयोग होता है, 'अनुस्वार' का नहीं; तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, ७५, ३।

[५] १. ४८।

दश-मास्य (दस मास का)—ऋग्वेद[१] और बाद[२] में यह शब्द जन्म के ठीक पहले के गर्भ का वर्णन करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। देखिये *मास*।

[१] ५. ७८, ७. ८।

[२] अथर्ववेद १. ११, ६; ३. २३, २। वैदिक साहित्य में दसवें महीने में जन्म लेने के अनेक सन्दर्भ हैं, जैसे, ऋग्वेद १०. १८४, ३, इत्यादि में।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३६६; वेबर : नक्षत्र, २, ३१३, नोट १।

दशमी—यह अथर्ववेद[१] और पञ्चविंश ब्राह्मण[२] में ९० और १०० के बीच के जीवन-काल का द्योतक है, जिसे ऋग्वेद[३] में 'दशम युग' (जीवन का दसवाँ स्तर) कहा गया है। वैदिक भारतीयों में दीर्घ-जीवन बहुत दुर्लभ नहीं था, क्योंकि 'शरदः शतम्' तक जीवित रहने की इच्छा सदैव व्यक्त हुई है।[४] यह कहा गया है कि *दीर्घतमस्* सौ वर्ष तक जीवित रहे[५], और *महिदास ऐतरेय* की आयु ११६ वर्ष बतायी गयी है।[६] ओनेसिक्रितोस[७] ने यह व्यक्त किया है कि कभी-कभी वैदिक भारतीय १३० वर्ष तक जीवित रहते थे। जातकों[८] में व्यक्त १२० वर्ष की आयु की कामना भी इसी वक्तव्य के अनुरूप है। सम्भवतः वर्ष-संख्या वास्तविक की अपेक्षा सदैव काल्पनिक ही थी, किन्तु आधुनिक भारत में अपेक्षाकृत अल्प जीवन-अवधि[९] का, उस ज्वर के दीर्घकालीन संचित प्रभाव द्वारा समाधान हो जाता है, जो ऋग्वेद के समय में कदाचित् ही ज्ञात था। देखिये *तक्मन्*।

[१] ३. ४, ७।

[२] २२. १४।

[३] १. १५८, ६।

[४] ऋग्वेद १. ८९, ९; १०. १८, १०। देखिये लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८४; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, ६२, ६३।

[५] शाङ्खायन आरण्यक २. १७।

[६] छान्दोग्य उपनिषद् ३. १६, ७; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. २, ११; कीथ : ऐतरेय आरण्यक १७।

[७] स्ट्राबो, पृ० ७०१ में।

[८] फॉसबोल संस्करण, २. १६।

[९] इन्डियन एम्पायर, १, ५१३, और बाद।

दश-वृक्ष, रौथ[1] के अनुसार अथर्ववेद[2] में एक वृक्ष का नाम है। किन्तु ह्विट्ने[3] इस शब्द को केवल एक विशेषण मानते हैं जिसका अर्थ 'दस वृक्षों का' है।

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[2] २. ९, १।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद, ५०।

दश-व्रज ऋग्वेद (८. ८, २०; ४९, १; ५०, ९) में अश्विनों के एक आश्रित का नाम है।

दश-शिप्र एक होता का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में उल्लेख है।

[1] ८. ५२, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६३।

दशा, शतपथ ब्राह्मण[1] में एक परिधान के 'किनारे' का द्योतक है। यह शब्द 'दशा-पवित्र'[2] यौगिक रूप में भी मिलता है जिसका अर्थ 'किनारेवाला छानने का कपड़ा' है।

[1] ३. ३, २, ९, और प्रायः सूत्रों में भी।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३२; शतपथ ब्राह्मण ४. २, २, ११। तु० की० ४. १, १, २८।

दशोणि ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर प्रत्यक्षतः इन्द्र के एक प्रिय-पात्र, तथा उन *पणियों* के विरोधी के रूप में आता है जो इसके हित के लिए ही सैकड़ों की संख्या में मारे गये थे। लुडविग[2] का ऐसा विचार कि यहाँ 'दशोणि' पणियों का पुरोहित है, नितान्त असम्भव है। अन्यत्र केवल इसके नाम का ही उल्लेख है।[3] देखिये *दशोण्य* भी।

[1] ६. २०, ४. ८।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५६; ५, १०७।
[3] १०. ९६, १२, जहाँ, फिर भी, यह शब्द सोम की केवल उपाधिमात्र हो सकता है।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, ९२, नोट १; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८।

दशोण्य एक होता का नाम है जिसका *दशशिप्र* तथा अन्य के साथ ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। इसे *दशोणि* के साथ समीकृत किया जाना चाहिए अथवा नहीं, यह अनिश्चित है।

[1] ८. ५२, २। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६३।

दशोनसि अथर्ववेद[1] में एक प्रकार के सर्प का नाम है। पैप्पलाद-शाखा में इसका 'नशोनशी' पाठ है।

[1] १०. ४, १७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९५; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५७७।

दस्यवे वृक एक व्यक्ति का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में चार बार उल्लेख है। एक सूक्त[2] में इसे ऋषि कहा गया है, किन्तु दो अन्य[3] में यह स्पष्टतः एक ऐसा राजा है जो दस्युओं का विजेता तथा गायकों का उदार प्रतिपालक है। इसमें दो व्यक्तियों का आशय मानना कदाचित् ही आवश्यक है[4], क्योंकि ऋषि शब्द तथा राजकीयता सर्वथा असंगत नहीं हैं। यह पूतक्रतु[5] और उसकी पत्नी पूतक्रता[6] का पुत्र था।

[1] ८. ५१, २; ५५, १; ५६, १.२।
[2] ८. ५१। [3] ८. ५५. ५६।
[4] विशेषतः इसलिए कि यह नाम आठवें मण्डल के वालखिल्य-समूह में काण्व-सूक्तों के छोटे से संग्रह में ही आता है।
[5] ८. ५६, २, 'पौतक्रत'। तु० को० ८. ६८, १७।
[6] ८. ५६, ४।
तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३९, १६४; ५, ५५२।

दस्यवे सह, रौथ[1] के अनुसार ऋग्वेद[2] में एक व्यक्ति अथवा वंश का नाम है। किन्तु आप यह भी स्वीकार करते हैं कि यह नाम अग्नि की एक उपाधि हो सकता है। औल्डेनबर्ग[3] ने इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है।

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०। [2] १. ३६, १८। [3] से० बु० ई० ४६, ३३।

दस्यु, जो कुछ सन्दिग्ध व्युत्पत्तिवाला शब्द है, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर स्पष्टतः अतिमानवीय शत्रुओं के लिए व्यवहृत हुआ है। दूसरी ओर अनेक स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ मानव-शत्रुओं, सम्भवतः आदिवासियों को भी इसी नाम से व्यक्त किया गया है। उन स्थलों पर तो निश्चित रूप से यही आशय है जहाँ 'दस्यु' आर्यों का विरोधी है और जिसे आर्यगण देवों की सहायता से पराजित करते हैं।[2] दस्युओं का, 'यज्ञ न करनेवाले', 'संस्कार-विहीन', 'विचित्र व्रतों में लिप्त', 'देवों से घृणा करनेवाले', आदि के रूप में वर्णन किया गया है।[3] दास की तुलना में यह एक जाति के रूप में अपेक्षाकृत कम स्पष्ट हैं: दस्युओं के किसी वंश-विशेष (विशः) का उल्लेख नहीं मिलता, और इन्द्र की

[1] १. ३४, ७; १००, १८; २. १३, ९ इत्यादि। देखिये मैकडौनेल: वैदिक माइथौलोजी, पृ० १५७, १५८।
[2] ऋग्वेद १. ५१, ८; १०३, ३; ११७, २१; २. ११, १८. १९; ३. ३४, ९; ६. १८, ३; ७. ५, ६; १०. ४९, ३। सम्भवतः ५. ७०, ३; १०. ८३, ६, में भी जाति के लोगों का ही आशय है।
[3] दस्यु को 'अ-कर्मन्', १०. २२, ८; 'अ-देवयु', ८. ७०, ११; 'अ-ब्रह्मन्' ४. १६, ९; 'अ-यज्वन्', ८. ७०, ११; 'अ-यज्यु', ७. ६, ३; 'अ-व्रत', १. ५१, ८; १७५, ३; ६. १४, ३; ९. ४१, २; 'अन्य-व्रत', ८. ७०, ११; 'देव-पीयु', अथर्ववेद १२. १, ३७; कहा गया है। सभी दशाओं में यह निश्चित करना कठिन है कि इनसे किसी जाति के लोगों का ही अर्थ है।

'दस्यु-हत्य'[४] का अक्सर की उल्लेख होते हुए भी इसके समानान्तर 'दास-हत्य' का कहीं भी उल्लेख नहीं है। फिर भी दस्यु एक वास्तविक जाति के लोग अवश्य रहे होंगे, ऐसा ऋग्वेद[५] में इनके लिए व्यवहृत 'अनास्' उपाधि द्वारा व्यक्त होता है। इस शब्द (अनास्) का आशय सर्वथा निश्चित नहीं है। पद-पाठ और सायण, दोनों ही इसे 'मुख-विहीन' (अन्-आस्)[६] के रूप में ग्रहण करते हैं, किन्तु अन्य अर्थ, जैसे 'नासिका-विहीन' (अ-नास्) भी सर्वथा सम्भव है[७], और यही चपटी-नासिकावाले उन द्रविड़ आदिवासियों के अनुकूल है, जिनकी भाषा[८] उत्तर-पश्चिम में मिलनेवाले 'ब्रहुइओं' में आज भी प्रचलित है। यह व्याख्या 'वृत्र' को 'भग्न-नासिका' कहे गये होने द्वारा उस दशा में कुछ सीमा तक पुष्ट हो सकती है जब अस्पष्ट से शब्द 'रुजानास्'[९] का यही अर्थ ठीक मान लिया जाय।

[४] ऋग्वेद १. ५१, ५. ६; १०३, ४; १०. ९५, ७; ९९, ७; १०५, ११।
तु० की० 'दस्यु-हन्', १. १००, १२; ६. ४५, २४; ८. ७६, ११; ७७, ३; १०. ४७, ४ (सभी इन्द्र की उपाधियाँ हैं); ६. १६, १५; ८. ३९, ८ (अग्नि की), इत्यादि।

[५] ऋग्वेद ५. २९, १०।

[६] यह आशय दो व्याख्याएँ सम्भव बना देता है : 'कुरूप', जो रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, और ग्रासमैन : वर्टरबुख, में है; अथवा 'वाणी-विहीन' (अर्थात् आर्यों की भाषा बोलने में असमर्थ), जो वॉलेनसेन : त्सी० गे० ४१, ४९६ में है।

[७] यह दृष्टिकोण मेगस्थेनीज़ के इस विवरण द्वारा पुष्ट होता है कि मूल निवासी 'एस्टोमॉय' ($\ddot{\alpha}\sigma\tau o\mu o\iota$) थे : देखिये स्ट्राबो पृ० ७११; प्लिनी : नैट. हिस्ट्री, ७. २, १८, त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ४३०, में उद्धृत। देखिये लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०९; ५, ९५; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २७७; क्राअर : कुन का त्सी० २९, ५२; वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक २, २९३ (स्वराघात)।

[८] इन्डियन एम्पायर, १, ३९०, में व्यक्त यह विचार कि आधुनिक 'ब्रहुइ' ही वास्तविक द्रविड़ हैं, जब कि आधुनिक द्रविड़ मुण्डा-भाषी जातियों के मिश्रण का परिणाम हैं, इस सिद्धान्त को असम्भाव्य बना देगा। किन्तु यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि ब्रहुइयों की बोली में उत्तर भारत में बसी द्रविड़ जाति की परम्पराएँ ही सुरक्षित हों।

[९] देखिये ब्लूमफील्ड : अ० फा०, १७, ४१५ (जो ऋग्वेद १. ३२, ८ के 'रुजानाः' को = 'रुजान-नाः' मानते हैं); औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३१, ३२ (जो 'रुजा-अनाः' के रूप में इस शब्द का विश्लेषण सम्भव बताते हैं)। किन्तु तु० की० लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३६१, जिनका विचार है कि संशोधित रूप 'रुजानः' केवल 'भग्न' आशयवाले एक कृदन्त की एकवचन प्रथमा विभक्ति है; मैकडौनेल : वेदिक ग्रामर, पृ० ५९, नोट १।

दस्युओं की एक अन्य उपाधि 'मृध्र-वाच्' है जो 'अनास्'[10] के साथ ही आती है, तथा जिसका 'हकलाने' अथवा 'अस्पष्ट वाणीवाले' अनुवाद[11] किया गया है। फिर भी, यह अनुवाद किसी भी प्रकार निश्चित नहीं कहा जा सकता, और इस उपाधि का, अन्यत्र[12] आर्यों के लिए भी व्यवहार हुआ होने के कारण अर्थ अधिक सम्भवतः 'आक्रामक वाणीवाले' ही हो सकता है।

दस्यु शब्द ईरानी 'दन्हु', 'दक्यु' के समान है जो एक प्रान्त का द्योतक है, और त्सिमर[13] का विचार है कि इसका मूल अर्थ 'शत्रु' था जिससे ही ईरानियों ने 'आक्रामक देश', 'विजित देश', 'प्रदेश', आदि आशय विकसित कर लिये, जब कि भारतीयों ने 'शत्रु' अर्थ सुरक्षित रखते हुए इसमें दानव शत्रुओं का आशय भी सम्मिलित कर लिया। रौथ[14] का विचार है कि 'मानव शत्रु' का अर्थ देवों और दानवों के कलह का ही स्थानान्तरण है। लासन[15] ने 'दक्यु : दस्यु' के अन्तर को 'दएव : देव' के साथ सम्बद्ध करने तथा इनमें

[10] ऋग्वेद ५. २९, १०।

[11] तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, २[2], ३९३ और बाद।

[12] यह व्याहृति ७. १८, १३, में आर्य पुरुषों के लिए; ७. ६ ३ में पणियों के लिये; और १. १७४, २; ५. ३२, ८; १०. २३, ५, में आक्रामक लोगों के लिए प्रयुक्त हुई है। रौथ : ए० नि०, ९७, का विचार है कि इसका आशय 'अपमानजनक वाणीवाला' है, और त्सिमर : ३० पु० ११४, ११५, इसी दृष्टिकोण का प्रबल समर्थन करते हैं। किन्तु हिलेब्रान्ट : ३० पु० १, ८९, ९०, ११४, इसमें 'शत्रु की भाषा बोलनेवाला' आशय देखते हैं और यह विचार व्यक्त करते हैं कि पूरुगण भाषा की दृष्टि से 'भरतों' से भिन्न थे— यह मत शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, २३. २४, द्वारा पुष्ट होता है, जहाँ असुरगण 'हेऽलवो' (='हेऽरयो', संस्कृत में, 'वह शत्रुगण') कहते हैं। देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, २[2], ११४; डेविड्सन त्सी० गे० ३७, २३ (महाभाष्य के अनुसार); एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ३१, नोट ३। इस प्रकार यह शब्द दस्युओं के लिए भी व्यवहृत हो सकता है, क्योंकि शत्रु की विचित्र भाषा या तो आर्यों अथवा आदिवासियों की ही भाषा रही होगी।

[13] ३० पु० ११० और बाद। देखिये मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १५८।

[14] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०।

[15] इ० आ० १[2], ६३३ और बाद। यह सिद्धान्त अब सामान्यतया अमान्य कर दिया गया है।

तु० की० जुस्ति : गो०, १८६६, ११४६ और बाद; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १. १४२; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद १६२ और बाद; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १५६।

उस धार्मिक अन्तर का ही परिणाम देखने का प्रयास किया है, जिसने हॉग के सिद्धान्त के अनुसार ईरानियों और भारतीयों को पृथक् कर दिया था। इस शब्द का मूल अर्थ, आक्रमण के परिणामस्वरूप 'आक्रान्त देश'[16] हो सकता है; और इसी आधार पर 'शत्रुओं का देश' और उसके बाद ऐसी 'आक्रामक जाति' अर्थ हो गया जिन्हें मानव शत्रुओं के रूप में अधिक सामान्यतया एक सजातीय नाम *दास* द्वारा सम्बोधित किया गया है।

चुमुरि, *शम्बर*, *शुष्ण*, आदि, प्रमुख दस्युओं के नाम हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[17] में, जैसा कि बाद में[18] भी है, इस शब्द से सामान्यतया असभ्य जाति के लोगों का ही आशय है।

[16] यह शब्द और 'दास' दोनों ही 'दस्' धातु से व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं जिसका ह्विटने : रूट्स, के अनुसार 'नष्ट करना'; किन्तु रौथ के अनुसार 'आवश्यकता से त्रस्त रहना', अर्थ है

[17] ७. १८, जहाँ विश्वामित्र के वंशजों को 'दस्यूनां भूयिष्ठाः' कहा गया है; शाङ्खायन श्रौतसूत्र. १५. २६, ७।

[18] मनु ५, १३१; १०. ३२. ४५; त्सिमर : उ० पु० ११८।

तु० की० हिलेब्रान्ट : उ० पु० ३, २७६ और बाद; त्सिमर : उ० पु० १०१ और बाद।

दाक्षायण ('दक्ष' का वंशज)—अथर्ववेद और यजुर्वेद संहिताओं[1] में *शतानीक* को स्वर्ण देनेवालों के रूप में दाक्षायणों का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[2] में यह शब्द वास्तव में 'स्वर्ण' का ही द्योतक है। इस ग्रन्थ[3] में दाक्षायण लोग ऐसे राजाओं के रूप में आते हैं जो एक संस्कार विशेष कर लेने के कारण इस ब्राह्मण के समय तक समृद्ध जीवन व्यतीत कर रहे थे।

[1] अथर्ववेद १. ३५, १. २; वाजसनेयि-संहिता ३४. ५१. ५२; श्रोडर : त्सु० कॉ०, ३६, में उद्धृत काठ; खिल, ४. ७, ७. ८।

[2] ६. ७, ४, २; 'दाक्षायण-हस्त' (स्वर्ण-हस्त)। एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, २८३, नोट २, अनावश्यक रूप से इस पर सन्देह व्यक्त करते प्रतीत होते हैं।

[3] २. ४, ४, ६। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४०।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २२४; ४, ३५८; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९५; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३५; लेवी : ल डाक्ट्रिन डु सेक्रिफाइस १३८।

दात्यौह का यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। यह शब्द स्पष्टतः उस 'दात्यूह' का ही एक विभेदात्मक रूप है जो महाकाव्यों और धर्मशास्त्रों में आता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ६; वाजसनेयि-संहिता २४. २५. ३९। पाणिनि, ७. ३, १, इस शब्द को 'दित्य-वह्' से व्युत्पन्न मानते हैं। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९१।

दात्र (काटनेवाला) का, जो कि एक 'हँसिये' का द्योतक है, ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। 'कानों' पर हँसिये जैसे चिह्नवाली (दात्र-कर्ण्यः) गायों का मैत्रायणी संहिता[2] में अक्सर उल्लेख मिलता है। अन्यथा यह व्याहृति बाद में ही, सूत्रों तथा महाकाव्य-साहित्य[3] में मिलती है। देखिये *सृणि* भी।

[1] ८. ७८, १०; निरुक्त २. १।
[2] ४. २, ९।
[3] हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १७, ८६ तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २३८।

दात्रेय, वंश-ब्राह्मण[1] में *अराड शौनक* का पैतृक नाम है। सम्भवतः इसका दार्तेय ('दृति' का वंशज) पाठ होना चाहिए[2], किन्तु वर्ण-व्यत्यास के आधार पर बाद के शब्द (दार्तेय) की भाँति इस शब्द (दात्रेय) की भी समान व्युत्पत्ति हो सकती है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३।
[2] तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

दाधीच (दध्यञ्च् का वंशज), पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ६) में च्यवन का पैतृक नाम है।

१. दान ('देना', 'उपहार') ऋग्वेद में बहुधा, और विशेषतः उदार प्रतिपालकों की 'दान-स्तुतियों'[1] में आता है (देखिये *दक्षिणा*)। *ब्राह्मणों* की एक विशिष्टता उनका दक्षिणा प्राप्त करने का अधिकार है, और जिसे प्रदान करना अन्य जातियों का धर्म है।[2] पुत्री का दान (कन्याया दानम्) विवाह का एक प्रकार था[3] (देखिये *विवाह*), क्योंकि इसमें कन्या को उसका पिता अथवा भ्राता वर को समर्पित करता था।

[1] सर्वप्रथम यह शब्द बृहद्देवता ६.४५.९२, तथा इसी के समान अन्य ग्रन्थों में आता हुआ प्रतीत होता है।
[2] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ७, १; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ४७-६१।
[3] निरुक्त ३. ४।

२. दान (वितरण)[1] ऋग्वेद[2] के अनेक स्थलों पर उस यज्ञीय भोजनोत्सव का द्योतक प्रतीत होता है जिसमें देवों को निमन्त्रित किया जाता था (तु० की० δαίς 'δαίτη)। एक स्थल[3] पर सायण के विचार से यह 'मद-जलानि' (वृद्ध गज की कनपटियों से टपकनेवाले जल-बिन्दु)[4] का द्योतक है, किन्तु यह सन्दिग्ध है। एक अन्य स्थल[5] पर रौथ के विचार से इसका अर्थ 'चरागाह' है।

[1] 'दा' (विभक्त करना) से।
[2] १. ५५, ७; ४८, ४; १८०, ५; ८. ४६, २६; ६०, ८; ९९, ४, इत्यादि। फिर भी, तु० की० पिशल: वेदिशे स्टूडियन १, १००।
[3] ऋग्वेद ८. ३३, ८; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, १५७।
[4] इस आशय में वैदिकोत्तर भाषा में इतना अधिक प्रचलित 'दान' सम्भवतः 'दा' धातु (विभक्त करना) से व्युत्पन्न हुआ है जिसका मूलतः 'स्राव' अर्थ है।
[5] २. १३, ७।

३. दान को ऋग्वेद[1] के तीन स्थलों पर रौथ, रथ के घोड़े का द्योतक मानते हैं।

[1] ५. २७, ५; ७. १८, २३; ८. ४६, २४। किन्तु इन सभी दशाओं में 'उपहार' ही उपयुक्त आशय प्रतीत होता है, जब कि 'अश्व' केवल निहित हो सकता है।

दामन् ('रस्सी' अथवा 'कटिबन्ध')[1] का ऋग्वेद तथा बाद[2] में अक्सर उल्लेख है। यज्ञ के अश्व की रस्सी[3], तथा साथ ही साथ, बछड़ों को रस्सी से बाँधने की प्रथा[4] के सन्दर्भ मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण[5] में यह शब्द अश्व के बाल के 'बन्धन' के आशय में आता है।

[1] मूलतः 'बन्धन', 'दा' (बाँधना) से।
[2] ऋग्वेद १. ५६, ३, इत्यादि; अथर्ववेद ६. ६३, १; १०३, २; ७. १०३, १. २, तैत्तिरीय संहिता २. ४, १३, १, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १. १६२, ८।
[4] ऋग्वेद २. २८, ७।
[5] ५. ३, १, १०। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४१, ६२, नोट २।

दाय ऋग्वेद[1] में केवल परिश्रम (श्रम) के 'पुरस्कार' के आशय में ही आता है, किन्तु बाद में इसका अर्थ 'उत्तराधिकार', अर्थात् पिता की वह सम्पत्ति है जो या तो पिता के जीवनकाल में ही अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् पुत्रों में वितरित कर दी जाती थी। यह सभी स्थल इस विचार के विपरीत हैं कि पारिवारिक सम्पत्ति विधानतः समस्त परिवार की सम्पत्ति होती थी : ऐसा स्पष्ट है कि यह कुटुम्ब के प्रधान, सामान्यतया पिता की ही सम्पत्ति होती थी,

[1] १०. ११४, १०।

और परिवार के अन्य सदस्यों का इस पर केवल नैतिक अधिकार ही रहता था जिसकी पिता उपेक्षा भी कर सकता था, यद्यपि, यदि पुत्र दैहिक दृष्टि से शक्तिशाली हुए तो वह पिता को अधिकार छोड़ने के लिये बाध्य कर सकते थे।

इसीलिए तैत्तिरीय संहिता[२] में यह कहा गया है कि *मनु* ने अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों में वितरित कर दिया था। इन्होंने उस *नाभानेदिष्ठ* को इस सम्पत्ति से वंचित कर दिया था, जिसे बाद में इन्होंने अङ्गिरसों को प्रसन्न करने तथा गायें अर्जित करने की विधि सिखायी। इससे एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह मिलता है कि इन्होंने जिस सम्पत्ति को वितरित किया, वह भूमि (*उर्वरा*) की अपेक्षा चल-सम्पत्ति ही थी। ऐतरेय ब्राह्मण[३] में ऐसा कहा गया है कि मनु के पुत्रों ने मनु के जीवनकाल में ही उक्त वितरण कर लिया, तथा अपने वृद्ध पिता को 'नाभानेदिष्ठ' की दया पर छोड़ दिया था। पुनः, जैमिनीय ब्राह्मण[४] के अनुसार भी चार पुत्रों ने 'अभिप्रतारिन्' नामक वृद्ध पिता के जीवनकाल में ही उत्तराधिकार की सम्पत्ति को आपस में वितरित कर लिया था। निःसन्देह 'दाय' को परिवार की वंशानुगत सम्पत्ति का द्योतक माना जा सकता है, किन्तु पिता द्वारा अपने परिवार पर नियन्त्रण की विकसित धारणा, जो कि, जैसा *शुनःशेप* के आख्यान से व्यक्त होता है, बहुत पहले से ही अत्यन्त स्पष्ट थी और इस दृष्टिकोण के विपरीत है कि सम्पत्ति के विभाजन का आग्रह न करने की दशा में भी पुत्रों का पिता के साथ-साथ ही सम्पत्ति पर वैधानिक स्वत्वाधिकार रह सकता था।[५] सम्भवतः—कोई निर्णायक प्रमाण

[२] ३. १, ९, ४ और बाद। तु० की० मूइर: संस्कृत टेक्स्ट् १[२], १९१–१९४; लेवी: ल डॉक्ट्रीन डु सेक्रीफाइस, ६७, ६८।

[३] ५. १४।

[४] ३. १५६ (ज० अ० ओ० सो० २६, ६१, ६२)।

[५] ट्यूटनिक अथवा इंग्लिश देशों में भूसम्पत्ति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्यतया यही प्रश्न उपस्थित किया गया है। इस शब्द के यथार्थ आशय का पारिवारिक स्वत्व सम्बन्धी विचारों तक के विरुद्ध होने के लिए, देखिये फुस्टेल डि कूलैंजेस: रि० हि० ३२२ और बाद; फुस्टेल डि कूलैंजेस: ओरिजन ऑफ प्रापर्टी इन लैण्ड, xvi–xxi, में एशले; पोलक और मेटलैण्ड: हिस्ट्री ऑफ इङ्गलिश लॉ, २, २३७ और बाद। पारिवारिक और जातीय स्वत्व को स्वीकार करनेवाले प्राचीन दृष्टिकोण को मेन (विलेज कम्युनिटी इन दि ईस्ट ऐण्ड वेस्ट), स्टब्स, ग्रीन, तथा अन्य ने विभिन्न रूपों से व्यक्त किया है, और विनोग्रेडॉफ ने इसका एक नवीन रूप से समर्थन किया है: विलेज इन इङ्गलैण्ड। देखिये कीथ: जर्नल ऑफ दि अफ्रिकन सोसाइटी, ६, २०१ और बाद, भी। जॉली: रेख्त उन्ट सिट्टे ९३–९६, भूमि पर जातिस्वत्व

को अस्वीकार करते हैं, किन्तु (वही ८०) एक परिवार के सम्मिलित स्वत्व को मानते हुए प्रतीत होते हैं। आप ऐसा स्वीकार करते हैं कि यह बंगाल में अब भी प्रचलित पिता द्वारा अपने परिवार पर नियन्त्रण के नियम के अनुकूल नहीं है; बैडेन पावेल : विलेज कम्युनिटीज़ इन इण्डिया १३३ और बाद, आरम्भिक भारत में पिता द्वारा अपने परिवार पर नियन्त्रण की भावना के अस्तित्व को सन्दिग्ध मानते हैं। किन्तु तथ्य इस बात को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते प्रतीत होते हैं कि उस समय भी ऐसा अधिकार था, और पिता ही सम्पत्ति का स्वामी होता था। बड़े होने पर उसके पुत्र सम्पत्ति में अधिकार माँग सकते थे, और पिता को सम्पत्ति विभाजित भी करना पड़ता था; अतः स्वाभाविक रूप से ही यह विचार विकसित हो गया कि जन्म लेते ही प्रत्येक बालक का सम्पत्ति में वैध अधिकार हो जाता था। इसमें भी सन्देह नहीं कि एक बार ग्राम द्वारा अपना अस्तित्व अर्जित कर लेने पर भूमि-विक्रय सम्बन्धी पिता के अधिकार का उसके वयस्क पुत्र तथा शेष समुदाय के लोग विरोध कर सकते थे। यह तथ्य बाद की पद्धति का पर्याप्त समाधान कर देता है। तु० की० पृ० १००, नोट १९; ३३६, नोट ७, और **राजन्य** भी।

उपलब्ध नहीं है—आरम्भ में भू-सम्पत्ति को विभाजित नहीं किया जाता था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बाद में उपलब्ध कृषियोग्य भूमि के सीमित हो जाने पर इसका भी मवेशियों तथा अन्य चल सम्पत्तियों की भाँति विनिमय आरम्भ हो गया था।

विभाजन की विधि के लिए तैत्तिरीय संहिता[६] द्वारा यह स्पष्ट है कि सामान्यतया ज्येष्ठ पुत्र को ही प्रश्रय दिया जाता था; सम्भवतः पिता की मृत्यु के बाद सदैव ऐसा ही होता था। पिता के जीवनकाल में किसी अन्य पुत्र को भी अधिकार रहा हो सकता था, जैसा कि पञ्चविंश ब्राह्मण[७] के एक स्थल द्वारा व्यक्त होता है। शतपथ ब्राह्मण[८] और निरुक्त[९] के अनुसार स्त्रियाँ विभाजन अथवा उत्तराधिकार से वंचित होती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियों का उनके भ्राता पोषण करते थे, किन्तु भ्राता न होने पर उन्हें वेश्यावृत्ति तक करना पड़ सकता था।[१०] उत्तराधिकार के विस्तृत नियम सूत्रों[११] में मिलते हैं।

६ २. ५, २, ७।

७ १६. ४, ४।

८ ४. ४, २, १३।

९ ३. ४।

१० तु० की० **स्त्री**।

११ ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७; शाङ्खायन श्रौत-सूत्र १५. २७, ३; शतपथ ब्राह्मण १. ७, २, २२; ३. २, १, १८; आदि में उत्तराधिकार ही उद्दिष्ट है। सूत्रों में उपलब्ध नियमों के लिए देखिये जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ८० और बाद।

उत्तराधिकारी को 'दायाद'[12] अर्थात् 'पैतृक सम्पत्ति का प्राप्तकर्ता' (आ-द) कहते थे।

[12] शतपथ ब्राह्मण १२. ४, ३, ९; निरुक्त ३. ४; अथर्ववेद ५. १८, ६. १४, में लाक्षणिक आशय में।

दार (पत्नी) सूत्रों में (सामान्यतया बहुवचन, पुल्लिङ्ग में) और एक बार बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में (एकवचन में) मिलता है।

[1] ६. ४, १२ (जहाँ 'द्वारेण' एक पाठान्तर है; देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०)। तु० की० डेलब्रुक: डी० व०, ४१५, ४१६, जो बृहदारण्यक स्थल की उपेक्षा करते है।

दारु (लकड़ी) का ऋग्वेद और बाद[1] में अक्सर उल्लेख मिलता है। यह अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त रथ के स्तम्भ[2], ईंधन की लकड़ी[3], लकड़ी से बने रथ के भाग[4], सम्भवतः लकड़ी के ढेर[5], इत्यादि का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद ६. ३, ४; १०. १४५. ४, इत्यादि; अथर्ववेद १०. ४, ३; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ८, ३, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १०. १०२, ८।
[3] ऋग्वेद ८. १०२, २०।
[4] शतपथ ब्राह्मण ६. ६, २, १४।
[5] अथर्ववेद ६. १२१, २। किन्तु यह सन्दिग्ध है। तु० की० तायु और द्रुपद।

दार्ढ-जयन्ति (दृढजयन्त का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) में *वैपश्चित गुप्त लौहित्य* तथा *वैपश्चित दृढजयन्त लौहित्य* का पैतृक नाम है।

दार्तेय (*दृति* का वंशज)—काठक संहिता[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में 'दार्तेयों' का, यज्ञ सम्बन्धी विषयों के अधिकारी विद्वानों के रूप में उल्लेख है।

[1] ३१. २ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७३। [2] २५. ३, ६।

दार्भ्य ('दर्भ' का वंशज) का ऋग्वेद[1] के एक मन्त्र में उल्लेख है। रौथ[2] इसे *श्यावाश्व* के साथ समीकृत करते हैं, किन्तु बृहद्देवता[3] *रथवीति* के साथ। इसी पैतृक नाम को अक्सर[4] *केशिन्* के साथ सम्बद्ध, तथा *रथप्रोत*[5] के लिये व्यवहृत, किया गया है। *दाल्भ्य* भी देखिये।

[1] ५. ६१, १७।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] ५. ५०. ७७।
[4] तैत्तिरीय संहिता २. ६, २, ३; मैत्रायणी संहिता १. ४, १२; ६, ५; कौषीतकि ब्राह्मण ७. ४। तु० की०, सा० ऋ० ६२, नोट २।
[5] मैत्रायणी संहिता २. १, ३।

दार्व्-आघात (कठफोड़वा) यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, १६; वाजसनेयि संहिता २४. ३५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९२।

दार्व्-आहार (लकड़ी एकत्र करनेवाला) यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ८, १।

दालिभ ('दलभ' का वंशज) काठक संहिता (१०. ६) में वक का पैतृक नाम है।

दाल्भ्य ('दलभ' का वंशज)—यह *दार्भ्य* का ही एक विभेदात्मक रूप और निम्नलिखित व्यक्तियों का पैतृक नाम है :

(क) पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में *केशिन्* का।

(ख) छान्दोग्य उपनिषद्[2] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] में *चैकितायन* का।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद्[4] और काठक संहिता[5] में *वक* का।

[1] १३. १०, ८। तु० की० 'षड्गुरुशिष्य' द्वारा प्रस्तुत 'इतिहास' (सर्वानुक्रमणी, मैकडौनेल का संस्करण, ११८)। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश 'दाल्भ्य' के लिए कौषीतकि ब्राह्मण ७. ४ का उद्धरण देता है (साथ ही 'दार्भ्य' के लिये भी जो कि लिन्डर के संस्करण का पाठ है)।

[2] १. ८, १।

[3] १. ३८, १; ५६, ३।

[4] १. २, १३; १२, १. ३।

[5] ३०. २, जहाँ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, के अनुसार 'दालिभ' नहीं वरन् 'दाल्भ्य' पाठ है। कपिष्ठल संहिता ४६. ५, में 'दर्भस्य' है। फिर भी, काठक संहिता १०. ६ में 'दालिभ' मिलता है।

दाव (दावाग्नि) का अथर्ववेद[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। बाद के ग्रन्थों में वसन्त ऋतु में इस प्रकार की अग्नि के उत्पन्न होने का उल्लेख है। सीग[3] के अनुसार ऋग्वेद का एक सूक्त[4] दावाग्नि का वर्णन करता है। इस

[1] ७. ४५, २।

[2] ११. २, ७, ३२।

[3] सा० ऋ०, ४४ और बाद।

[4] १०. १४२। इस सूक्त की सीग द्वारा प्रस्तुत व्याख्या किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

प्रकार के आकस्मिक अग्निकाण्डों के विरुद्ध रक्षा करने के लिये निरीक्षकों की नियुक्ति की जाती थी (दाव-प)।[5]

[5] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ११, १।

दाव-सु आङ्गिरस—सामनों के इस द्रष्टा का पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।[2]

[1] २५. ५, १२. १४। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २. १६०।

दाश (मछुआ) का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। तु० की० *धैवर*।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १२, १। वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, ८१, सम्भवतः 'दास' मानते हुये इसका सेवक के अर्थ में अनुवाद करते हैं। तु० की०, मनु १०. ३४; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश व० स्था०, 'दाश', २. ३।

दाशतय (दस मण्डलों में विभक्त ऋग्वेद के मूल का), निदान सूत्र[1] में 'अध्याय' का विशेषण है। कौषीतकि ब्राह्मण[2] और बाद[3] में इस शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप भी मिलता है।

[1] २. ११ (इन्डिशे स्टूडियन, १, ४५)।
[2] ८. ७।
[3] ऋग्वेद प्रातिशाख्य १६. ५४; १७. ३०; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. २, १६. २२, इत्यादि; बौधायन श्रौत सूत्र २६. १२; २७. ४, इत्यादि।

दाश-राज्ञ, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में 'दस राजाओं के साथ' *सुदास्* के प्रसिद्ध युद्ध का नाम है। यह दस राजा कौन-कौन थे इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है (देखिये *तुर्वश*), किन्तु संभवतः यह संख्या गोल-मटोल है और इस पर ज़ोर भी नहीं दिया जा सकता। वास्तविक युद्ध-सूक्त[3] में यह शब्द नहीं आता, और जिन स्थलों पर मिलता है उन्हें उपयुक्ततः बाद का ही मानना चाहिये[4]।

[1] ७. ३३, २. ५; ८३, ८।
[2] १०. १२८, १२।
[3] ७. १८।
[4] तु० की० ७. ३३, के बाद के होने के लिये, बर्गेन : हि० सं० ३८, ७२; औल्डेनबर्ग : प्रोलिगोमेना, १९८, २००,२६५, नोट १; आर्नोल्ड : वेदिक मीटर ३०९; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १३०, इस दृष्टिकोण का विरोध तो करते हैं, किन्तु यह विश्वास-योग्य नहीं है।

दाशर्म, काठक संहिता[1] में *आरुणि* के समकालीन किसी गुरु के रूप में आता है।

[1] ७. ६। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४७२।

दास भी, दस्यु की ही भाँति, ऋग्वेद[1] में कभी-कभी दानवी प्रकृति के शत्रुओं का द्योतक है, किन्तु अनेक स्थलों[2] पर इस शब्द से आर्यों के मानव-शत्रुओं का ही आशय है। ऐसा वर्णन मिलता है कि दासों के पास दुर्ग (पुरः)[3] थे, और इनके कबीलों (विशः) का भी उल्लेख है।[4] यह सम्भव है कि जिन दुर्गों को 'शारदीः'[5] कहा गया है वह पौराणिक रहे हों; किन्तु ऐसा आवश्यक नहीं, क्योंकि इस उपाधि का यह आशय हो सकता है कि शरद् ऋतु में ही इनमें रहा जाता था। दासों के रंग (*वर्ण*)[6] से सम्भवतः आदि-वासियों के श्याम वर्ण का आशय है जिसका प्रत्यक्ष रूप से भी उल्लेख है।[7] आदिवासियों (दस्युओं के रूप में) को 'अनास्' (नासिका-विहीन ?)[8], और 'मृध्र-वाच्' (आक्रामक भाषा वाले)[9] कहा गया है, और सम्भवतः

[1] तु० की० मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी, पृ० १५७।

[2] तु० की० ऋग्वेद ५. ३४, ६; ६. २२, १०; ३३, ३; ६०, ६; ७. ८३, १; १०. ३८, ३; ६९, ६; ८३, १; अथर्ववेद ५. ११, ३।

[3] २. २०, ८ ('आयसीः' अर्थात् 'लोहे का बना हुआ', कहा गया है); १. १०३, ३; ३. १२, ६; ४. ३२, १०। १. १३१, ४; १७४, २; ६. २०, १०, आदि में इसे 'शारदीः' कहा गया है। तु० की० ६. ४७, २ में 'देह्यः' भी।

[4] २. ११, ४; ४. २८, ४; ६. २५, २।

[5] तु० की० मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी पृ० ६०।

[6] २. १२, ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ८. २५, ६। तु० की० ऋग्वेद १. १०१, १; १३०, ८; २. २०, ७; ४. १६, १३; ६. ४७, २१; ७. ५, ३। ३. ३४, ९ में आर्यों के वर्ण का उल्लेख है, और १. १०४, २, में गायकों के वर्ण से दासों का विभेद किया गया है। जो 'श्वेतांग मित्र' (श्वित्न्य) १. १००, १८ में, 'दस्यु' तथा 'सियु' पर विजय में सहायता देते हैं वह निःसन्देह आर्य ही हैं। वाजसनेयि संहिता २४. ३०, में दिन और रात (अहोरात्रे) को 'शूद्रार्यौ' अर्थात्, सम्भवतः आर्यों और शूद्रों के साथ समीकृत किया गया है। इस यौगिक शब्द में दोनों खण्डों के क्रम को शुद्धतः व्यक्त (नहीं मानना चाहिये; तु० की० मैकडौनेल: वेदिक ग्रामर, २६८)। मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], १४०; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १०, १०, ११, आदि भी देखिये।

[7] 'कृष्णा त्वच्' (काली त्वचा) १. १३०, ८; ९. ४१, १।

[8] तु० की० दस्यु, नोट ६, ७।

[9] ५. २९, १०। देखिये दस्यु; गेल्डनर: ऋग्वेद, ग्लॉसर, १३८।

ऋग्वेद[10] के 'शिश्न-पूजकों' (शिश्न-देवाः, जिनका देवता 'शिश्न' है) से भी इनका ही अर्थ है। यह उल्लेखनीय है कि आर्यों, तथा दासों अथवा दस्युओं के धर्म के अन्तर का नित्य ही सन्दर्भ मिलता है।[11]

अधिकांशतः 'दासों' को सेवक अथवा दास बना लिया जाने के कारण ऋग्वेद[12] के अनेक स्थलों पर 'दास' का आशय साधारण दास ही है। स्त्रीलिङ्ग 'दासी' का अथर्ववेद[13] और उसके बाद से सदैव यही अर्थ है। इसमें भी सन्देह नहीं कि सामान्यतया आदिवासी स्त्रियाँ ही दासी बनाई जाती थीं, क्योंकि युद्ध में उनके पतियों का वध हो जाने पर उन्हें स्वभावतः सेविकाओं के रूप में रख लिया जाता था। कभी-कभी यह रखेलियाँ भी बन जाती थीं; इसीलिये दासी-पुत्र (दास्याः पुत्रः) होने के कारण ऐतरेय ब्राह्मण[14] में कवष पर व्यंग किया गया है।

लुडविग[15] का विचार है कि कुछ स्थलों[16] पर आर्य-शत्रुओं के लिये ही 'शत्रु' के आशय में 'दास' शब्द व्यवहृत हुआ है, किन्तु यह अनिश्चित है।

[10] ७. २१, ५; १०. ९९, ३। तु० की० मैकडौनेल : उ० पु०, पृ० १५५।

[11] ऋग्वेद १. ३३, ४. ५; ४. १६, ९; ५. ७, १०; ४२, ९; ६. १४, ३; ८. ७०, १०; १०. २२, ७. ८ इत्यादि।

[12] ७. ८६, ७; ८. ५६, ३; १०. ६२, १०। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २, पर यह विचार व्यक्त करते हैं कि ८. ४६, ३२ में **बल्बूथ** का विशिष्टीकरण करने वाले शब्द 'दासे' के स्थान पर 'दासान्' (सेवक गण) पाठ होना चाहिये। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ११७, में आर्यों और दासों के रक्त के मिश्रण को व्यक्त करने के लिये उक्त स्थल को उद्धृत करते हैं। अथर्ववेद ४. ९, ८; और छान्दोग्य उपनिषद् ७. २४, २, भी देखिये। यह अनिश्चित है कि ऋग्वेद १. ९२, ८ में 'रयि' (सम्पत्ति) के विशेषण के रूप में 'दास-प्रवर्ग' का 'दासों की सेना' अर्थ है अथवा कुछ अन्य। गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, ८२, ऋग्वेद १. १५८, ५, में इस व्याहृति को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं।

[13] अथर्ववेद ५. २२, ६; १२. ३, १३; ४, ९; छान्दोग्य उपनिषद् ५. १३, २; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १० (माध्यन्दिन = २, ७ काण्व)। त्सिमर, १०७, ऋग्वेद ८. १९, ३६ के 'वधू' में यही आशय देखते हैं। **वधूमन्त्** भी देखिये।

[14] २. १९; कौषीतकि ब्राह्मण १२. ३।

[15] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०९।

[16] देखिये १. १५८, ५; २. ११, ८; ४. ३०, १४. १५; ६. २०, १०; ७. ९९, ५; १०. ४९, ६. ७। उनमें से किसी भी स्थल को निश्चित रूप से इसी आशय में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

रिसमर[17] और मेयर[18] का विचार है कि दास[19] का अर्थ मूलतः सामान्य रूप से 'शत्रु' था, जो वाद में ईरान में कैस्पियन क्षेत्र के घास के मैदानों में रहने वाले 'दहाए'[20] के नाम के रूप में विकसित हुआ, किन्तु भारत में वही आदिवासियों का द्योतक वन गया। दूसरी ओर, हिलेब्रान्ट[21] यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यतः दासों और पणियों का एक साथ उल्लेख है[22], अतः यह दोनों ही घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कवीले रहे होंगे; और आप पणियों को पार्नियनों के साथ, तथा ऋग्वेद के दासों को 'दहाए' के साथ समीकृत करते हैं। यह दृष्टिकोण ऋग्वेद के दृश्यों का, जिसमें दासगण प्रमुख हैं, और विशेषतः वह दास जिनमें दिवोदास—एक दिव्य दास—का महत्त्वपूर्ण स्थान है[23], सुदूर पश्चिम की ओर स्थानान्तरण आवश्यक वना देता है। ऋग्वेद के सातवें और तीसरे मण्डल के दृश्यों को, जिनमें सुदास्, भरत-गण, वसिष्ठ और विश्वामित्र आते हैं, छठवें मण्डल से सर्वथा भिन्न मानते हुए हिलेब्रान्ट भी इसी मत का समर्थन करते हैं। आप छठवें मण्डलवाली सरस्वती को 'अर्कोसिया' में, तथा सातवें मण्डलवाली को 'मध्य देश' में स्थित करते हैं। फिर भी, इस सिद्धान्त की उपयुक्तता को स्वीकार किया जाय अथवा नहीं यह अत्यन्त सन्दिग्ध है। एक दास होते हुये

[17] आल्टिन्डिशे लेवेन, ११० और वाद।

[18] गे० आ० १, ५१५।

[19] यदि 'व्यर्थ छोड़ देना' आशय में 'दास' से व्युत्पन्न हुआ होता (व्हिट्नेः रूट्स) तो मूल अर्थ 'विनाशक', 'आक्रान्त करने वाला', आदि होता।

[20] भाषा और जाति की दृष्टि से 'दहाए' ईरानियों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हो सकते हैं, किन्तु यह वहुत स्पष्टतापूर्वक सिद्ध नहीं किया जा सका है। तु० की० कुन के, त्सी० २८, २१४, में कुन; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १, ९५। मंगोलियन रक्त से मिश्रण की सम्भावना सदैव वर्तमान है। इसी लिये त्सिमर: उ० पु०, ११२ में, हिरोडोटस (१. १२६) के 'दओइ' अथवा 'दआइ' को एक तूरानियन जाति मानते हैं।

[21] उ० पु० १, ९४।

[22] ऋग्वेद ५. ३४, ६. ७; ७. ६, ३ ('दस्यु' और 'पणि' साथ साथ); अथर्ववेद ५. ११, ६।

[23] उ० पु० १, ९६ और वाद। आप यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'दास' शब्द सातवें मण्डल में केवल चार वार, किन्तु छठवें में आठ वार आता है, और इसी प्रकार शम्वर नामक दास का छठवें मण्डल में छह वार, किन्तु, सातवें में केवल दो वार ही उल्लेख है। परन्तु, जैसा कि ओल्डेनवर्ग की व्याख्या है, 'दिवोदास' का अर्थ सम्भवतः 'आकाश का सेवक है'। देखिये आपका रिलीजन देस वेद, १५५, नोट १; वर्गेन: रिलीजन वेदिके २, २०९; नीचे पृ० ३६३, नोट ११।

भी दिवोदास ने अन्य दासों के विरुद्ध युद्ध किया होगा, ऐसा स्वयं ही सम्भव नहीं, और विशेषतः उस समय जब कि उसका एक पुत्र 'सुदास्' आर्य सभ्यता का ही समर्थक प्रतीत होता है। यह भी तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि हम उस *सरस्वती* नदी को अर्कोसिया में ढूँढ़े जिसे स्वभावतः 'मध्यदेश' में स्थित किया जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि दासों के पास पर्याप्त सम्पत्ति थी[२४], किन्तु ऐसा मानने के लिये कोई आधार नहीं है कि सभ्यता की दृष्टि से भी यह लोग अपने आक्रामकों के किसी प्रकार समान थे।[२५] प्रमुख दासों के नाम यह हैं: *इलीविश*, *चुमुरि* और *धुनि*, *पिप्रु*, *वर्चिन्*, *शम्बर*। आदिवासी कबीलों के नाम के लिये देखिये *किरात*, *कीकट*, *चण्डाल*, *पर्णक*, *शिंयु*।

[२४] तु० की० ऋग्वेद १. १७६, ४; ४. ३०, १३; ८. ४०, ६; १०. ६९, ५; अथर्ववेद ७. ९०, २।

[२५] तु० की० ऋग्वेद २. १२, ११; ४. ३०, १४; ६. २६, ५, जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि दासगण अक्सर पराजित जातियों के स्वाभाविक आश्रयस्थान, पर्वतों में रहते थे। तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी ३, २६९-२७५, ३६८; लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०७-२१३; त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन १०१-१२८; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १८, ३५ (जो 'दास' को 'दा' से व्युत्पन्न मानते हैं), २५४; मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स २, ३५९ और बाद; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन ३, ९६।

दास-वेश, जो कि ऋग्वेद[१] में केवल एक बार आता है, सम्भवतः *वेश* नामक एक 'दास' का द्योतक है। 'शत्रुओं का विनाश' के रूप में सायण द्वारा प्रस्तुत इस शब्द की व्याख्या कदाचित ही ठीक हो सकती है।

[१] २. १३, ८। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०९।

दास्य—'दासत्व' के आशय में यह शब्द एक बार बृहदारण्यक उपनिषद् (४.२, ३० माध्यन्दिन = २३ काण्व) में आता है।

दित्य-वाह्, पुल्लिङ्ग; *दित्यौही*, स्त्रीलिङ्ग; (दो वर्ष का बैल अथवा गाय) का बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[१] में उल्लेख है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ३, १; ५. ६, १५, १; वाजसनेयि संहिता १४. १०; १८. २६; २८. २५; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १, इत्यादि।

दिद्यु, दिद्युत्—यह दोनों ही ऋग्वेद[1] में दिव्य अथवा मानवीय 'वाण', या 'क्षेप्यास्त्र' के द्योतक हैं।

[1] 'दिद्यु' : १. ७१, ५; ४. ४१, ४; ७. ५६, ९; ८५, २, इत्यादि; अथर्ववेद १. २, ३; वाजसनेयि संहिता २. २०; १०. १७, इत्यादि। 'दिद्युत्' : ऋग्वेद १. ६६, ७; ५. ८६, ३; ७. २५, १, इत्यादि; २. १३, ७ में निश्चित रूप से दिव्य।

दिधिषु ऋग्वेद में एक 'विवाहार्थी' का द्योतक है। यह उस सम्बन्धी[1], सम्भवतः 'पति के भाई'[2], के लिये व्यवहृत हुआ है जो अन्त्येष्टि संस्कार के समय पति का स्थान ग्रहण करता है, और जो पुत्रविहीन होने की दशा में भाई की पत्नी से सन्तान उत्पन्न कर सकता है।[3] हिलेब्रान्ट[4] और ल्यूमैन[5] का विचार है कि इस शब्द का मूलतः केवल 'विवाहार्थी' ही अर्थ था और यह ऐसे राजा के लिये व्यवहृत हुआ है जो प्रमुख रानी को पुरुषमेध में वलिप्राणी की पार्श्वशायिनी होने के पश्चात् उसे पुनः ग्रहण कर लेता है; किन्तु यह मत कदाचित ही उपयुक्त है।[6] यह शब्द पूषन्[7] देव के लिये, स्वयं अपनी माता, सम्भवतः सूर्या[8] के विवाहार्थी के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

[1] १०. १८, १८ = अथर्ववेद १८. ३, २ (जहाँ 'दिधिषोस्' केवल एक भ्रष्ट पाठ है) = तैत्तिरीय आरण्यक ६. १, ३।

[2] आश्वलायन श्रौत सूत्र ४. २, १८, जहाँ 'देवर' (देवृ), पति का एक प्रतिनिधि (यहाँ यह सिद्ध करने के लिये कोई आधार नहीं कि यह पिछले (देवर) के ही समान है अथवा नहीं), एक शिष्य, अथवा एक वृद्ध सेवक (जराद्-दास) का उल्लेख है।

[3] तु० की० ऋग्वेद १०. ४०, २; केगी : डर ऋग्वेद, नोट ५१।

[4] त्सी० गे० ४०, ७०८ और बाद।

[5] संस्कृत रीडर ३८५।

[6] देखिये, ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ८४८, ८४९; कीथ : ज० ए० सो० १९०७, ९४६।

[7] ६. ५५, ५।

[8] तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २१; मैक्डौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ३५। तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर, १५४।

दिधिषू-पति, काठक[1] और कपिष्ठल संहिताओं[2], तथा साथ ही साथ, आपस्तम्ब[3], गौतम[4], और वसिष्ठ धर्म सूत्रों[5] में पाप (एनस्) करनेवाले

[1] ३१. ७, डेलब्रुक : डी० व० ५७९ में उद्धृत।

[2] ४७. ७, वही, ५७९, ५८० में उद्धृत।

[3] २. ५, १२, २२।

[4] १५. १६।

[5] १. १८; २०. ७ और बाद।

व्यक्तियों की तालिका में आता है। इसका परम्परागत अनुवाद[6] 'दूसरी बार विवाहित स्त्री का पति' है। मनु[7] इस शब्द को उस 'देवर' के लिए व्यवहृत करते हैं जो अपने भ्राता की मृत्यु के पश्चात सन्तानोत्पत्ति के लिये अपनी 'भाभी' से उस स्थिति में 'विवाह' कर लेता है जब उसके हृदय में 'भाभी' के प्रति अनुराग हो (अनुरज्यते कामतः)।[8] यह आशय सम्भव हो सकता है, क्योंकि *दिधिषु* एक 'विवाहार्थी' का द्योतक है और एक विधवा को भी, यदि वह इच्छापूर्वक अपना पति चुन लेने की स्थिति में हो, एक 'विवाहार्थी कहा जा सकता है। किन्तु एक अन्य परम्परा[9] का यह मत है कि 'दिधिषू' का अर्थ ऐसी बहन है जिसकी छोटी बहन ने उसके पूर्व ही विवाह कर लिया हो। वसिष्ठ धर्म सूत्र[10] के एक स्थल, और 'अग्रेदिधिषू-पति'[11] शब्द के प्रयोग से, जिसका अर्थ 'बड़ी बहन से पहले विवाहित छोटी बहन का पति' है, यह मत पुष्ट होता है। ऐसी दशा में भी 'दिधिषू' का अर्थ 'विवाहार्थी' ही होगा, जहाँ बड़ी बहन को इस प्रकार पुकारा जायगा, क्योंकि, यदि उसके माता-पिता उसके विवाह की व्यवस्था नहीं करते, तो उसे, विष्णु[12] के अनुसार, अपना पति स्वयं चुनना पड़ेगा (कुर्यात् स्वयंवरम्)। *एदिधिषुःपति* और *दैधिषव्य* भी देखिये।

[6] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'दिधिषु', ३। [7] ३. १७३।

[8] तु० की०, लीस्ट: आ० जे० १०६।

[9] मनु ३. १६० पर उल्लूक द्वारा उद्धृत लौगाक्षि। आपस्तम्ब, उ० स्था० पर भाष्य।

[10] २०. ७ और बाद।

[11] तु० की० 'अग्रे-दिधिषु', अर्थात् जो (एक छोटी बहन) का (उसकी बड़ी बहन के विवाह के पूर्व ही) विवाहार्थी है, आपस्तम्ब, उ० स्था०; गौतम १५. १६; वसिष्ठ १. १८; काठक उ० स्था०; 'अग्रे-दधुस्', मैत्रायणी संहिता ४. १, ९; 'अग्रे-दधिषु', कपिष्ठल, उ० स्था०; 'अग्रे-दिधिषु', तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ११।

[12] विष्णु धर्मसूत्र २४. ४०। तु० की० डेलब्रुक: उ० पु० ५७९-५८६।

दिव् (आकाश)—समस्त विश्व को या तो 'पृथ्वी', 'वायुमण्डल' अथवा 'अन्तरिक्ष', और 'द्युलोक' अथवा 'आकाश' (दिव्)[1] जैसे तीन क्षेत्रों में विभक्त माना गया है; अथवा 'आकाश' और पृथ्वी' (द्यावा-पृथिवी)[2] जैसे उन दो

[1] ऋग्वेद २. ४०; ८. ६, १५; १०, ६; ९०, ६, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १. १४३, २; १५९, १; १६०, १; ४. १४, २, इत्यादि; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ८, ३. ९; छान्दोग्य उपनिषद् ७. ४, २; ८. १, ३। ऐतरेय आरण्यक ३. १, २, और शाङ्खायन आरण्यक ७. ३ में यह कहा गया है कि जब निरन्तर और प्रबल वृष्टि होती है तब व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि 'आकाश और पृथ्वी संयुक्त हो गये हैं।'

क्षेत्रों में ही, जिसमें अन्तरिक्ष-क्षेत्र आकाश के अन्तर्गत सम्मिलित है। विद्युत, वायु, और वर्षा आदि अन्तरिक्ष क्षेत्र के अन्तर्गत, तथा सौर और उससे सम्बद्ध घटनायें आकाश के अन्तर्गत आती है। कुछ स्थलों[३] पर सामान्य त्रयी के बाद और दिव्य प्रकाश (स्वर्, ज्योतिस्) के पूर्व आकाश के 'नाक' को संयुक्त कर दिया गया है।

विश्व के त्रिस्तरीय विभाजन की ही छाया तीन तत्वों—पृथ्वी, वायु, और आकाश—के रूप में प्राप्त होती है। इसी प्रकार उच्चतम (उत्तम,[४] उत्तर,[५] पार्य[६]), मध्यम और निम्नतम आकाश का निर्देश है। अथर्ववेद[७] में तीनों आकाशों का 'जल से सम्पन्न' (उदन्वती), 'पीलुमती' (इसका अर्थ अनिश्चित है) होने, और उस 'प्रद्यौस्' के रूप में विभेद किया गया है जहाँ पितृगण बैठते हैं। आकाश को अक्सर 'व्योमन्' और रोचन'[८] (उपयुक्ततः आकाश का 'प्रकाशमान स्थान') कहा गया है। दृष्टिगत उच्चतर स्थान तथा उच्चतम आकाश को विभाजित करने वाले अन्तरिक्ष को 'नाक' के अतिरिक्त 'सानु', 'विष्टप्', 'पृष्ठ', तथा यहाँ तक कि 'नाक का पृष्ठ'[९] अथवा 'नाक का शिखर'[१०] भी कहा गया है।

इसी प्रकार वायुमण्डल (रजस्) की संख्या तीन, अथवा अपेक्षाकृत अधिक बार दो ही बताई गई है,[११] किन्तु यहाँ इसका विभाजन केवल कृत्रिम है। एक स्थल[१२] पर छह 'रजांसि' का उल्लेख है, जिनसे निश्चित रूप से पृथ्वी और आकाश का ही अर्थ है। वायुमण्डल के लिये सामान्यतया व्यवहृत नाम 'अन्तरिक्ष' है।

[३] अथर्ववेद ४. १४, ३ = वाजसनेयि संहिता १७. ६७।

[४] ऋग्वेद ५. ६०, ६।

[५] ऋग्वेद ४. २६, ६।

[६] ऋग्वेद ६. ४०, ५। ऋग्वेद ५. ४, ३ में इसे 'तृतीय' कहा गया है।

[७] १८. २, ४८।

[८] 'त्रीणि' अथवा 'त्रि रोचना', ऋग्वेद १. १०२, ८; १४९, ४; ५. ६९, १, इत्यादि।

[९] ऋग्वेद १. १२५, ५। तु० की० ३. २, १२।

[१०] ऋग्वेद ८. १०३, २। तु० की० ९. ८६, २७।

[११] ऋग्वेद ४. ५३, ५; ५. ६९, १। तु० की० 'उच्चतम अन्तरिक्ष' (उत्तम), ९. २२, ५; 'परम', ३. ३०, २; 'तृतीय' ९. ७४, ६; १०. ४५, ३; १२३, ८; आदि के सन्दर्भ भी। 'निम्न' (उपर) अथवा 'पार्थिव' का 'दिव्य' स्थान से विभेद किया गया है। देखिये १. ६२, ५; ४. ५३, ३।

[१२] ऋग्वेद १. १६४, ६। तु० की० ७. ८७, ५।

तीन पृथ्वी का उल्लेख भी उसी प्रकार कृत्रिम है, और इसके त्रिगुणात्मक विभाजन की उत्पत्ति सम्भवतः विश्व के त्रिस्तरीय विभाजन को व्यक्त करने के लिये 'पृथिवी' के बहुवचन[13] प्रयोग द्वारा ही हुई है (उसी प्रकार जिस प्रकार 'पितरौ', 'माता और पिता दोनों का द्योतक है)।[14] पृथ्वी को 'क्षम्', 'क्षा', 'ग्मा' कहा गया है, अथवा 'मही' (महान), 'पृथिवी' अथवा 'उर्वी' (चौड़ी), 'उत्ताना' (विस्तृत), आदि उपाधियों से व्यक्त किया गया है। पृथ्वी का नित्य ही, 'इदम्' (यह संसार) के रूप में, उच्च स्थान के साथ विभेद भी मिलता है।[15]

पृथ्वी के आकार की ऋग्वेद[16] में एक चक्र से तुलना की गई है और शतपथ ब्राह्मण[17] में इसे स्पष्ट रूप से गोल (परि-मण्डल) कहा गया है। पृथ्वी को आकाश के साथ संयुक्त कर दिये जाने के पश्चात् इन दोनों की दो ऐसे महान् पात्रों (चम्वा) के रूप में कल्पना की गई है जो एक दूसरे की ओर मुख किये हुए हैं।[18] ऐतरेय आरण्यक[19] में इन दोनों को एक अण्डे के दो अर्धक कहा गया है। पृथ्वी और आकाश के बीच की दूरी को, अथर्ववेद[20] में सूर्य-पक्षी द्वारा एक सहस्र दिनों की यात्रा के रूप में, और ऐतरेय ब्राह्मण[21] में एक अश्व के लिये सहस्र दिनों की यात्रा के रूप में, व्यक्त किया गया है, जब कि पञ्चविंश ब्राह्मण[22] में केवल अनुमानात्मक आधार पर इस दूरी को एक के ऊपर एक खड़ी सहस्र गायों के बराबर बताया गया है।

त्सिमर[23] के अनुसार वैदिक कवियों ने अन्तरिक्ष के केवल उच्चभाग को ही पृथ्वी के ऊपर स्थित माना है, अन्यथा उसके निम्न भाग की पृथ्वी के नीचे होने के रूप में कल्पना की है। फिर भी इस वाद की मान्यता के पक्ष में प्रमाण[24]

[13] ऋग्वेद १. १८८, ९. १०; ७. १०४, ११।

[14] तु० की० डेलब्रुक : आल्टिन्डिशे सिन्टैक्स, पृ० ९८; मैकडौनेल : संस्कृत ग्रामर १८३० (पृ० १५८)।

[15] ऋग्वेद १. २२, १७; १५४, १. ३; और नियमित रूप से वाद की संहिताओं तथा ब्राह्मणों में।

[16] १०. ८९, ४। दूसरी ओर, ऋग्वेद १०. ५८, ३ में पृथ्वी को 'चतुर्-भृष्टि' (चार कोनों वाली) माना गया है।

[17] मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ९।

[18] ऋग्वेद ३. ५५, २०।

[19] ३. १, २; शाङ्खायन आरण्यक ७. ३।

[20] १०. ८, १८ = १३. २, ३८; ३, १४।

[21] २. १७। तु० की० **आश्विन्**।

[22] १६. ८, ६; २१. १, ९ में यह भी कहा गया है कि १,००० दिनों की अश्व की अथवा सूर्य की यात्रा, अथवा १,००० लीग के बराबर दूरी है।

[23] आल्टिन्डिशे लेवेन ३५७, ३५८।

[24] ऋग्वेद ५. ८१, ४; ६. ९, १; ७. ८०, १।

अत्यन्त अपर्याप्त[२५] हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[२६] में यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि रात्रि के समय सूर्य केवल पृथ्वी की ओर से अपना प्रकाशमान भाग उलट लेता और उस समय पुनः पूर्व की ओर यात्रा करते हुये वह केवल तारों तथा चन्द्रमा को ही प्रकाशित करता है; और यह दिखाया जा चुका है[२५] कि ऋग्वेद की भी सम्भवतः यही मान्यता है।[२७] *सूर्य* और *चन्द्रमास्* भी देखिये। ग्रहों सम्बन्धी वैदिक ज्ञान के लिये देखिये *ग्रह*।

वैदिक साहित्य में पृथ्वी का कोई भौगोलिक विभाजन उपलब्ध नहीं है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[२८] में ऐसा कथन है कि पृथ्वी का केन्द्र *प्लक्ष प्रास्रवण* से एक वितस्ति उत्तर में स्थित है, और आकाश का केन्द्र 'सप्तर्षि नक्षत्र-पुञ्ज है। दिशाओं के लिये देखिये *दिश्*।

२५ मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १०।

२६ ३. ४४, ४। इस स्थल की स्पेयर द्वारा ज० ए० सो० १९०६, ७२३–७२७, में प्रस्तुत व्याख्या का पूर्वाभास तथा संवर्धन, मैकडौनेल : उ० स्था० पर मिलता है।

२७ १. ११५, ५; १०. ३७, ३।

२८ ४. २६, १२। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १०, १६; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३१, नोट २। तु० की० बर्गेन : रिलीजन वेदिके १, १–३; वालिस : कॉस्मोलौजी ऑफ ऋग्वेद १११–११७; त्सिमर: उ० पु० ३५७–३५९; मैकडौनेल : उ० पु०, पृ० ८–११; थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, एस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक, ५, ६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, ३५८–३६४।

दिवोदास अतिथिग्व, आरम्भिक वैदिक युग के प्रमुख राजाओं में से एक हैं। यह वध्र्यश्व[१] के पुत्र, तथा *भरतों* के *तृत्सु* परिवार के प्रसिद्ध राजा *सुदास्* के पिता, अथवा अधिक सम्भवतः दादा थे। कदाचित् 'पिजवन' इनका पुत्र और 'सुदास्' पौत्र था। दिवोदास निश्चित रूप से एक *भरत*[२], और सुदास् की ही भाँति *तुर्वशों* और *यदुओं*[३] के विरोधी थे। इनका महान् शत्रु *शम्बर* नामक *दास* था जो प्रत्यक्षतः किसी पर्वतीय जाति का प्रधान था[४], और

१ ऋग्वेद ६. ६१, १।

२ ऋग्वेद ६. १६, ४. ५. १९। इनके वंशज के रूप में 'सुदास्' के लिये देखिये ८. १८, २५, तथा इसके साथ ही मन्त्र २३ भी, जहाँ 'पैजवन', सुदास की एक उपाधि है।

३ 'अतिथिग्व' के रूप में, ऋग्वेद ७. १९, ८; 'दिवोदास' के रूप में ९. ६१, २।

४ ऋग्वेद १. १३०, ७; २. १२, ११; ६. २६, ५; ७. १८, २०। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १६१।

जिसे इन्होंने वार-वार पराजित किया ।[५] अपने पिता वध्र्यश्व की भाँति[६], यह भी अग्नि सम्बन्धी संस्कारों के प्रमुख समर्थक थे, क्योंकि एक वार अग्नि को ऋग्वेद[७] में इन्हीं के नाम से सम्बोधित किया गया है। दूसरी ओर *आयु* और *कुत्स* के साथ-साथ यह भी इन्द्र की सहायता से पराजित हुये थे । अनेक स्थलों पर यह *भरद्वाजों* के गायक परिवार के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं ।[८]

एक स्थल के आधार पर[९], जहाँ *पणियों*, *पारावतों* और *बृसय* के विरुद्ध दिवोदास के युद्ध करने का उल्लेख है, हिलेब्रान्ट[१०] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह अर्कोसिया की जातियों के विरुद्ध संघर्षरत थे, और इनके नाम की 'दिव्य दास'[११] के रूप में व्याख्या करते हुये आप यह अनुमान लगाते हैं कि यह स्वयं भी एक 'दास' ही थे। ऐसा निष्कर्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि *सरस्वती*, जिसके तट पर उक्त युद्ध हुआ था और जो कदाचित् ही अर्कोसिया की 'हरक्वैति' हो सकती है, स्वभावतः वाद की सरस्वती की ही द्योतक है, जब कि पञ्चविंश ब्राह्मण[१२] में 'पारावतों' की स्थिति पूर्व में *यमुना* के निकट वताई गई है । वर्गेन के इस विचार[१३] का, कि दिवोदास और अतिथिग्व दो अलग-अलग व्यक्ति थे, इसलिये समर्थन नहीं किया जा सकता कि इन दोनों व्यक्तियों के कार्य सर्वथा समान हैं ।[१४] *प्रतर्दन* भी देखिये ।

[५] देखिये ऋग्वेद १. ११२, १४; ११६, १८; ११९, ४; १३०, ७-१०; २. १९, ६; ४. २६, ३; ३०, २०; ६. २६, ३. ५; ४३, १; ४७, २१. २२; ९, ६१, २।

[६] ऋग्वेद १०. ६९, १ और वाद ।

[७] दैवोदास ('दिवोदास' द्वारा पूज्य): ८. १०३, २। तु० की० ६. १६, ५. १९; ३१, १। इन्द्र द्वारा पराजय के लिये, तु० की० ऋग्वेद १. ५३, १०; २. १४, ७; ६. १८, १३; ८. ६४, २; वर्गेनः रिलीजन वेदिके १. ३३७, ३४४

[८] तु० की० ऋग्वेद १. ११२, १३. १४; ११६, १८; ६. १६, ५; ३१, ४; ४७, २२ और वाद; पञ्चविंश ब्राह्मण १५. ३, ७; हिलेब्रान्ट, उ० पु० १, १०४।

[९] ६. ६१, १ और वाद ।

[१०] उ० पु० १, ९७ और वाद ।

[११] यह अत्यन्त असम्भव है । देखिये वर्गेन उ० पु० २, २०९; औल्डेनवर्ग: रिलीजन देस वेद, १५५; त्सी० गे० ४९, १७५; ५१, २७२।

[१२] ९. ४, ११ । देखिये **पारावत** ।

[१३] उ० पु० २, ३४२ और वाद ।

[१४] तु० की०, उदाहरण के लिये ७. १९, ८ की ९. ६१, २ ('तुर्वश' और 'यदु' का विरोधी) से; १. ५१, ६; ६. २६, ३ की २. १९, ६; ६, ३१, ४ (शम्बर की पराजय) से; और देखिये हिलेब्रान्टः उ० पु० ३, २६८; औल्डेनवर्ग: त्सी० गे० ४२, २१०, और वाद; मैकडौनेल: उ० पु०, पृ० १६१।

दिवोदास की जाति के लोगों का ऋग्वेद के एक सूक्त[15] में उल्लेख है।

[15] १. १३०, १० (एक क्रम को 'परुच्छेप' पर अध्यारोपित किया गया है)।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १२६; औल्डेनबर्ग : बुद्ध ४०६; लुडविग : ऋ० पु० २, ११४, १७६; ग्रियर्सन : ज० ए० सो० १९०८, ६०४, ८३७; कीथ : वही ८३१ और बाद; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, दो दिवोदासों का विभेद करता है, जिनमें से एक 'सुदास्' का पिता अथवा पूर्वज है, तथा दूसरा 'शम्बर' का शत्रु। ३, ५, ८ और १०, मण्डलों में दिवोदास का उल्लेख नहीं है।

दिवो-दास भैम-सेनी ('भीमसेन' का वंशज) का काठक संहिता[1] में *आरुणि* के समकालीन के रूप में उल्लेख है।

[1] ७. १, ८। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७२।

दिव्य (यंत्रणा) एक ऐसा शब्द है जो यद्यपि बाद के साहित्य के पूर्व नहीं मिलता, तथापि वैदिक साहित्य में यंत्रणा देने के प्रचलन के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। अथर्ववेद[1] में, श्लेजिनवीट[2], वेबर[3], लुडविग[4], त्सिमर[5] तथा अन्य द्वारा अग्नि-यंत्रणा के प्रमाण के वर्तमान होने को ग्रिल[6], ब्लूमफील्ड[7] और ह्विट्ने[8] ने अस्वीकृत कर दिया है। किन्तु पञ्चविंश ब्राह्मण[9] में इसी प्रकार की एक यंत्रणा का संकेत मिलता है, और चोरी के अभियुक्त के लिये व्यवहृत लाल-तप्त कुठार[10] द्वारा यंत्रणा का छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेख है। गेल्डनर[11] ऐसा विचार व्यक्त करते हैं कि इस प्रचलन का ऋग्वेद[12] तक में सन्दर्भ मिलता है, किन्तु यह सर्वथा असम्भव है।[13] लुडविग[14] और ग्रिफिथ[15], ऋग्वेद[16] के एक अन्य स्थल पर *दीर्घतमस्* को अग्नि-यंत्रणा देने का

[1] २. १२।
[2] डी० इन्ड० १३ और बाद।
[3] इन्डिशे स्टूडियन १३, १६८।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ४४५।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन १८४।
[6] हुन्डर्ट लीडर,[2] ४५, ८७।
[7] ज० अ० ओ० सो० १३, coxxi; अ० फा० ११, ३३४, ३३५; अथर्ववेद के सूक्त २९४।
[8] अथर्ववेद का अनुवाद ५४।
[9] १४. ६, ६।
[10] छान्दोग्य उपनिषद् ६. १६।
[11] वेदिशे स्टूडियन १, १५९।
[12] ३. ५३, २२।
[13] औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २५४।
[14] ऋ० पु० ४, ४४।
[15] ऋग्वेद के सूक्त १, २१०।
[16] १. १५८, ४ और बाद।

सन्दर्भ देखते हैं, किन्तु इस मत का समर्थन नहीं किया जा सकता। वेबर[17] के अनुसार, शतपथ ब्राह्मण[18] में तुला-यंत्रणा का उल्लेख है; किन्तु देखिये तुला।

[17] इन्डिशे स्ट्रीफेन, १, २१; २, ३६३।
[18] ११, २, ७, ३३।
तु० की० जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, १४५; त्सी० गे० ४४, ३४७, ३४८; स्टेन्ज़लर : वही, ९, ६६९ और बाद।

दिव्य श्वन्, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर तारे (Canis major अथवा Sirius) का द्योतक प्रतीत होता है। किन्तु ब्लूमफील्ड[2] का विचार है कि मैत्रायणी संहिता[3] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में उल्लिखित दो दिव्य श्वान वास्तव में सूर्य तथा चन्द्रमा हैं, और अथर्ववेद में सूर्य से ही अर्थ है।

[1] ६. ८०, १।
[2] ज० अ० ओ० सो० १५, १६३; अथर्ववेद के सूक्त ५००, ५०१।
[3] १. ६, ९।
[4] १. १, २, ४-६।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३५३; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३४१।

दिश् (दिशा)—ऋग्वेद तथा बाद[1] में बहु-प्रयुक्त यह शब्द आकाश की एक दिशा का द्योतक है। नियमित रूप से चार दिशाओं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर[2]—का उल्लेख है। किन्तु इन चारों के परस्पर सम्मिश्रण से 'दिशाओं' की संख्या दस तक व्यक्त की गई है। पाँच दिक्‌विन्दुओं के अन्तर्गत इन चारों के अतिरिक्त 'शिरोविन्दु' (ऊर्ध्वा)[3] भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार छह दिक्‌विन्दुओं के अन्तर्गत शिरोविन्दु तथा अधोविन्दु ('ऊर्ध्वा' और 'अवाची')[4]; सात के अन्तर्गत, वह स्थान जहाँ व्यक्ति खड़ा है (ध्रुवा) और 'अन्तरिक्ष', तथा इन दोनों के मध्य का विन्दु (व्यध्वा)[5]; आठ के अन्तर्गत मध्यवर्ती दिशायें (दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पूर्व,

[1] ऋग्वेद १. १२४, ३; १८३, ५; ३. ३०, १२; अथर्ववेद ३. ३१, ४; ११. २, १२, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद ७. ७२, ५; १०. ३६, १४; ४२, ११; अथर्ववेद १५. २, १ और बाद, इत्यादि।
[3] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १५; मैत्रायणी संहिता २. ८, ९।
[4] मैत्रायणी संहिता ३. १२, ८; वाजसनेयि संहिता २२. २४; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. २, ४।
[5] ऋग्वेद ९. ११४, ३; अथर्ववेद ४. ४०, १; शतपथ ब्राह्मण ७. ४, १, २०; ९. ५, २, ८; तैत्तिरीय आरण्यक १. ७।

उत्तर-पश्चिम)[६]; नौ के अन्तर्गत इनके अतिरिक्त शिरोविन्दु[७]; तथा दस के अन्तर्गत शिरोविन्दु और अधो-विन्दु[८] भी सम्मिलित हैं। पाँच दिशाओं की गणना में उपरोक्त चार प्रमुख के अतिरिक्त कभी-कभी व्यक्ति के पैरों के नीचे का स्थान (ध्रुवा)[९]; और सात के अन्तर्गत ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा[१०] सम्मिलित हैं। इस सात की गणना में कभी-कभी 'ऊर्ध्वा' के स्थान पर 'बृहती'[११] का भी उल्लेख मिलता है।

[६] तैत्तिरीय संहिता ७. १, १५; शतपथ ब्राह्मण १. ८, १, ४०, इत्यादि।
[७] शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २८, २।
[८] ऋग्वेद १. १६४, १४; ८. १०१, १३; शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, ३४; ८. ४. २, १३, इत्यादि।
[९] अथर्ववेद ८. ९, १५; १३. ३, ६; १५. १४, १-५; वाजसनेयि संहिता ९. ३२; शतपथ ब्राह्मण ९. ४, ३, १०, और तु० की० ध्रुवा।
[१०] अथर्ववेद ३. २७, १; ४. १४, ८; १२. ३, ५५; १५. ४, १ और वाद; १८. ३, ३४; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४, इत्यादि। तु० की० ऋग्वेद १०. १४, १६।
[११] वाजसनेयि संहिता १४. १३; काठक संहिता १७. ८।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३५९; वेवर : प्रो० अ० १८९५, ८४६; इन्डिशे स्टूडियन १७, २९३, २९४; १८, १५३; सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।

दीर्घ-तमस् (दीर्घ-अन्धकार) *मामतेय* ('ममता' का पुत्र) *औचथ्य* ('उचथ' का पुत्र) का एक गायक के रूप में ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर, और इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों[२] पर केवल मातृनामोद्गत 'मामतेय' द्वारा ही, उल्लेख है। ऋग्वेद[१], तथा शाङ्खायन आरण्यक[३], दोनों में यह कहा गया है कि इसने अपने जीवन का दसवाँ दशक प्राप्त कर लिया था। ऐतरेय ब्राह्मण[४] में यह *भरत* के एक पुरोहित के रूप में आता है। बृहद्देवता[५] में ऋग्वेद[६] के छिट-पुट स्थलों के आधार पर निर्मित एक अनुपपन्न सी कथा मिलती है जिसके अनुसार दीर्घतमस् जन्म के समय अन्धा था किन्तु उसने

[१] १. १५८, १. ६।
[२] १. १४७, ३; १५२, ६; ४. ४, १३। ८. ९, १० में दीर्घतमस् का कक्षीवन्त के साथ उल्लेख तो है किन्तु सम्बन्धी के रूप में नहीं।
[३] २. १७; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, १४
[४] ८. २३।
[५] ४. ११-१५; २१-२५, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।
[६] १. १४०-१६४ के आधार पर; यह सूक्त परम्पराओं द्वारा दीर्घतमस् पर अध्यारोपित किये गये हैं। किन्तु देखिये औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २२१।

बाद में दृष्टि प्राप्त कर ली; वृद्धावस्था में उसे उसके सेवकों ने नदी में फेंक दिया था। इन सेवकों में से त्रैतन नामक एक ने उस पर (दीर्घतमस् पर) आक्रमण भी किया किन्तु उसको मार पाने के बदले स्वयं ही मारा गया था। नदी में बहता हुआ दीर्घतमस् अङ्ग देश के किनारे जा लगा जहाँ उसने एक 'उशिज्' नामक दास कन्या से विवाह करके कक्षीवन्त् नामक पुत्र उत्पन्न किया। यहाँ संयुक्त दोनों कथाओं में परस्पर संगति नहीं है क्योंकि द्वितीय में दीर्घतमस् द्वारा पुनः दृष्टि प्राप्त कर लेने की घटना की सर्वथा उपेक्षा है। इन कथाओं को किसी प्रकार का ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करना, जैसा पार्जिटर[७] करते हैं, अबुद्धिमत्तापूर्ण होगा।

[७] ज० ए० सो० १९१०, ४४। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६४, १६५; म्यूर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], २२३, २३२, २४७, २६८, २७९।

दीर्घ-नीथ, ऋग्वेद[१] के एक सूक्त में किसी 'होता' का व्यक्तिवाचक नाम प्रतीत होता है।

[१] ८.५०,१०। तु०की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। लुडविग : इस शब्द को एक विशेषण के रूप में ग्रहण करते हैं जिसका अर्थ 'दीर्घअवधिवाला' है

दीर्घ-श्रवस् (दीर्घ यशवाला) पञ्चविंश ब्राह्मण[१] के अनुसार एक ऐसे राजकीय द्रष्टा का नाम था, जिसने अपने राज्य से निष्कासित कर दिये जाने पर वास्तविक क्षुधा से पीड़ित रहते हुए एक सामन् की सृष्टि की और इस प्रकार भोजन प्राप्त किया। ऋग्वेद[२] के एक स्थल पर औशिज[३] नामक एक 'वणिज्' का 'दीर्घ-श्रवस्' के रूप में उल्लेख है, जो एक व्यक्तिवाचक नाम हो सकता है जैसा कि सायण का विचार है, अथवा एक विशेषण जैसा कि रौथ[४] ने माना है।

[१] १५. ३, २५।

[२] १. ११२, ११।

[३] सायण के अनुसार एक मातृनामोद्धृत ('उशिज्' का वंशज), किन्तु रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० के अनुसार एक विशेषण जिसका अर्थ 'इच्छा रखने वाला' है।

[४] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ११४।

दीर्घाप्सस् का, जो कि ऋग्वेद[1] में रथ की एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है, रौथ[2] के अनुसार 'लम्बे अग्र-भागवाला' अर्थ है।

[1] १. १२२, १५।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ३१२।

दीर्घायुत्व (दीर्घजीवन) वैदिक भारतीयों[1] के नियमित स्तुति का विषय है। संहिताओं तथा ब्राह्मणों में जीवन के अवधि की कहीं भी निर्भर्त्सना नहीं है, जब कि अथर्ववेद[2] जीवन के अस्तित्व (*आयुष्याणि*) को दीर्घ करने वाले अभिचारीय मन्त्रों से परिपूर्ण है।

[1] ऋग्वेद १०. ६२, २; अथर्ववेद १. २२, २, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १८. ६; शतपथ ब्राह्मण १. ९, १, ११, इत्यादि। इसी प्रकार विशेषण 'दीर्घायुस्', ऋग्वेद ४. १५, ९. १०; १०. ८५, ३९; वाजसनेयि संहिता १२. १००, इत्यादि। सांस्कारिक कृत्यों के पुरस्कार को ब्राह्मण-ग्रन्थ नियमित रूप से 'सर्वम् आयुर् एति' वाक्पद द्वारा व्यक्त करते हैं। आदर्श जीवन-अवधि सौ वर्ष मानी गई है। देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, १९३; फे० रौ० १३७; लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८४।
[2] २. १३; २८; २९; ७. ३२, तथा अनेक अन्य सूक्त। देखिये ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४९, और बाद; अथर्ववेद, ६३-६५।

दीर्घारण्य (वन के विस्तृत क्षेत्र) ऐतरेय[1] तथा शतपथ[2] ब्राह्मणों में उन विस्तृत वन्य-क्षेत्रों का द्योतक है जो स्पष्टतः उस समय उत्तर भारत में फैले रहे होंगे। ऐतरेय ब्राह्मण[3] के एक स्थल पर यह कहा गया है कि पूर्व में अनेक तथा परस्पर निकट स्थित ग्राम हैं, जब कि पश्चिम में वन।

[1] ३. ४४; ६. २३।
[2] १३. ३, ७, १०।
[3] ३. ४४।

दीव् (स्त्रीलिङ्ग) ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में 'पासे के खेल' का द्योतक है। देखिये *अक्ष*।

[1] १०. २७, १७।
[2] ७. ५०, ९; १०९, ५।

दुघा (दुग्ध देनेवाली) संहिताओं[1] के कुछ स्थलों पर 'गाय' का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद ८. ५०, ३; १०. ६७, १; वाजसनेयि संहिता २८. १६, ३९, इत्यादि।

दुन्दुभि से, जो प्रत्यक्षतः एक ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द है, युद्ध और शान्ति दोनों ही समयों में प्रयुक्त 'ढोल' जैसे बाजे का अर्थ है। ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से इसका अक्सर उल्लेख मिलता है। एक विशेष प्रकार की ढोल को 'पृथ्वीढोल' कहते थे जिसे भूमि में खुदे हुये एक गढ़े को चर्म से ढंक कर बनाया जाता था। मकर-संक्रान्ति के समय किये जाने वाले 'महाव्रत' संस्कार में, सूर्य के लौटने (उत्तरायण होने) में बाधक प्रभावों को बहिष्कृत करने के लिये इस प्रकार के ढोल का व्यवहार होता था।[3] 'ढोल बजानेवाले' को पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है।[4]

[1] १. २८, ५; ६. ४७, २९. ३१।

[2] अथर्ववेद ५. २०, १ और बाद; ११, ७; ३१, ७; ६. ३८, ४; १२. १, ४१; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ६, २; शतपथ ब्राह्मण ५. १, ५, ६; 'दुन्दुभ्य' (ढोल से सम्बद्ध), वाजसनेयि संहिता १६. ३५।

[3] काठक संहिता ३४. ५ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७७); शाङ्खायन श्रौत सूत्र १७. १४, ११; ऐतरेय आरण्यक ५. १, ५, कीथ की टिप्पणी सहित; हिलेब्रान्ट; वेदिशे माइथौलोजी, १, १४८, नोट २; फ्रीडलैन्डर: शाङ्खायन आरण्यक २९, ४५।

[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १३, १ (वाजसनेयि संहिता में नहीं)। तु० की० बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, ६।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, २८९; और युद्ध में प्रयुक्त महाकाव्यों के ढोल के लिये, देखिये, हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो०, १३, ३१८।

दुर् का ऋग्वेद[1] में अनेक बार शाब्दिक और लाक्षणिक दोनों ही आशयों में 'द्वार' के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

[1] १. ६८, १०; ११३, ४; १२१, ४; १८८, ५; २. २, ७, इत्यादि।

दुरोण का, ऋग्वेद[1], और कभी-कभी बाद[2] में भी, 'गृह' के शाब्दिक और लाक्षणिक दोनों ही आशयों में प्रयोग हुआ है। देखिये *गृह*।

[1] ३. १, १८; २५, ५; ४. १३, १; ५. ७६, ४, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ७. १७, ३; वाजसनेयि संहिता ३३, ७२, इत्यादि।

दुर्-ग (जहाँ पहुँचना कठिन हो) कभी-कभी 'दुर्ग' अथवा 'गढ़' के आशय में केवल ऋग्वेद[1] में ही क्लीव-सत्तावाचक शब्द के रूप में आता है। तु० की० *पुर्*।

[1] ५, ३४, ७; ७. २५, २।

दुर्-गह का ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उल्लेख है जहाँ इसके पौत्रों की, उनकी उदारता के लिये प्रशस्ति है, यद्यपि सायण इस शब्द का विशेषण के रूप में अनुवाद करते हैं।[2] फिर भी, ऋग्वेद[3] के एक अन्य स्थल पर 'दौर्गह' उपाधि में सायण दुर्गह के पुत्र, उस *पुरुकुत्स* का वर्णन देखते हैं जो या तो शत्रुओं द्वारा वन्दी हुआ अथवा मारा गया था, और जिसकी पत्नी *पुरुकुत्सनी* ने उसके वंश को पुनरुज्जीवित करने के लिये *त्रसदस्यु* नामक पुत्र प्राप्त किया था। अपनी इस व्याख्या के समर्थन में सायण एक ऐसी कथा का उद्धरण देते हैं जो बृहद्देवता[4] में उपलब्ध नहीं है। दूसरी ओर शतपथ ब्राह्मण[5] में 'दौर्गह' को एक अश्व के अर्थ में ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। सीग[6] का विचार है कि ऋग्वेद के उक्त स्थल पर भी यही आशय मानना चाहिये जिसकी आप एक पुत्र प्राप्ति की इच्छा से राजा पुरुकुत्स द्वारा दौर्गह नामक अश्व के वलि चढ़ाये जाने के रूप में व्याख्या करते हैं। पिशल[7] और लुडविग[8] के साथ सहमत होते हुये 'दधिक्रावन्' में भी आप त्रसदस्यु के वास्तविक अश्व का ही आशय निहित मानते हैं। फिर भी, शतपथ ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत 'दौर्गह' की व्याख्या संदिग्ध है और उसे उस 'दधिक्रावन्' के उदाहरण द्वारा समर्थित नहीं माना जा सकता जो कभी भी एक वास्तविक अश्व नहीं, वरन् सम्भवतः, एक देवता है।[9]

[1] ८. ६५, १२, ।
[2] 'कष्ट से वशीभूत' (दुःखं गाहमान)।
[3] ४. ४२, ८।
[4] जैसा कि रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था० पर कहते हैं।
[5] १३. ५, ४, ५। नैघण्टुक (१. १४) के अनुसार 'दौर्गह' घोड़े का पर्यायवाची है।
[6] सा० ऋ० ९६–१०२।
[7] वेदिशे स्टूडियन, १, १२४।
[8] ऋग्वेद का अनुवाद ४, ७९। तु० की० औल्डेनवर्ग : रिलीजन देस वेद, ७१।
[9] मैकडौनेल : वेदिक माइथोलोजी, पृ० १४८,१४९।
तु० की० लुडविग : उ० पु० ३, १६३, १७४; औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, ३०१, ३०२।

दुर्-णामन्, ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में व्याधि उत्पन्न करने वाले एक दानव, अथवा स्वयं व्याधि के नाम का ही द्योतक है। निरुक्त[3] इस शब्द की 'कीटाणु' के अर्थ में व्याख्या करता है, और यह व्याख्या व्याधि उत्पन्न करने

[1] १०. १६२, २।
[2] २. २५, २; ८. ६, १ और बाद; १६. ६, ७; १९. ३६, १ और वाद। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग 'दुर्णाम्नी' भी, ४. १७, ५; १९. ३६, ६।
[3] ६. १२।

वाले कीटाणुओं के अस्तित्व सम्बधी प्रचिलित विश्वास के अनुकूल है ।[४] 'दुर्नामन्' बाद में 'अर्शस' का द्योतक है ।[५]

[४] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद ६१; अथर्ववेद के सूक्त ३१४ और बाद, ३५१ ।

[५] सुश्रुत १, १७७, १०, इत्यादि ।

दुर्-मुख (कुरूप), ऐतरेय ब्राह्मण[१] में एक 'पाञ्चाल', अर्थात् एक ऐसे पञ्चाल राजा का नाम है जिसने विश्वविजय किया था, और जिसका पुरोहित बृहदुक्थ था ।

[१] ८. २३ । 'अ-राजा' (एक राजा नहीं) पाठ भी हो सकता है, किन्तु इसकी आवश्यकता नहीं है ।

दुर्य (द्वार अथवा गृह से सम्बन्धित) संहिताओं[१] के अनेक स्थलों पर बहुवचन सत्तावाचक शब्द के रूप में 'द्वार-स्तम्भ', अथवा अधिक सामान्यतया 'आवास' का द्योतक है ।

[१] पुल्लिङ्ग बहुवचन, ऋग्वेद १. ९१, १९; १०. ४०, १२; तैत्तिरीय संहिता १. ६, ३, १; वाजसनेयि संहिता १. ११; स्त्रीलिङ्ग बहुवचन, ऋग्वेद, ४. १, ९. १८; २, १२; ७. १, ११ ।

दुर्योण ऋग्वेद[१] में कुछ बार 'गृह' के आशय में आता है ।

[१] १. १७४,७; ५. २९, १०; ३२, ८ ।

दुर्-वराह सम्भवतः 'जंगली वाराह' का द्योतक है । इसका शतपथ ब्राह्मण[१] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[२] में उल्लेख है ।

[१] १२. ४, १, ४ ।

[२] १. ५१, ४ (ज० अ० ओ० सो० २३, ३३२)

दुला—देखिये नक्षत्र (कृत्तिकायें) ।

दुश्-चर्मन् (चर्म रोग से ग्रसित) तैत्तिरीय संहिता[१] तथा ब्राह्मण[२] में आता है । इससे उद्दिष्ट व्याधि सम्भवतः 'कुष्ठ' है जिसका सामान्य नाम किलास[३] है ।

[१] २. १, ४, ३; ५, १, ७ ।

[२] १. ७, ८, ३ ।

[३] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ३, १७; २३. १६, ११; तैत्तिरीय आरण्यक ५. ४, १२ ।

दुः-शासु सम्भवतः ऋग्वेद[1] में एक व्यक्तिवाचक नाम है, और ऐसी दशा में यह *कुरुश्रवण* के एक शत्रु का द्योतक होगा। लुडविग[2] का विचार है कि यह एक *पर्शु* अथवा पार्शियन था, किन्तु ऐसा अत्याधिक असम्भाव्य है। यह शब्द केवल एक विशेषण मात्र माना जा सकता है जिसका अर्थ 'आक्रान्त करने वाला' होगा।

[1] १०. ३३, १।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६५।

दुः-शीम का, एक उदारदाता के रूप में, ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। इसका पैतृक नाम सम्भवतः *तान्व*[2] है।

[1] १०. ९३, १४।

[2] १०. ९३, १५। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६६।

दुष्-टरीतु (जिसको पराजित करना कठिन है)—यह *सृञ्जयों* के उस राजा का नाम है जो दस पीढियों से चले आ रहे राज्य से च्युत कर दिया गया था, किन्तु जिसे शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार *बह्लिक प्रातिपीय* के प्रतिरोध के विपरीत भी *चाक्र स्थपति* ने पुनः राज्यासीन कर दिया था।

[1] १२. ९, ३, १ और बाद। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १, २०५, २०७।

दुः-षन्त—देखिये *दौःषन्ति*।

दुहितृ ऋग्वेद तथा उसके बाद[1] से नियमित रूप से 'पुत्री' का वाचक है। यह शब्द पुरातन परिवारों के 'दोहन करनेवाले' अथवा दूध पीते बच्चों[2] के आशय की अपेक्षा एक शिशु का पोषण करनेवाले के आशय में 'दुह्' (दुग्ध) से व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। देखिये *स्त्री, पति, पितृ, भ्रातृ* भी।

[1] ऋग्वेद ८. १०१, ११; १०. १७, १; ४०, ५; ६१, ५. ७; अथर्ववेद २. १४, २; ६. १००, ३; ७. १२, १; १०. १, २५; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, १; ८, १, ८ इत्यादि।

[2] डेलब्रुक: डी० व० ४५४।

दूत, ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में, अनेक बार लाक्षणिक आशय में प्रयुक्त मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दूत के लिये बाद में निर्दिष्ट कार्य *सूत* करता था।

[1] ३. ३, २; ६. ८, ४; ७. ३, ३; १०. १४, १२।

[2] अथर्ववेद ८. ८, १०, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, १, ६; कौषीतकि उपनिषद् २. १. इत्यादि। इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'दूती', ऋग्वेद १०. १०८, २. ३ में वर्णित 'सरमा' द्वारा 'पणियों' के पास दूत भेजने की कथा में मिलता है। 'दूत्य', ऋग्वेद १. १२, ४; १६१, १; ४. ७, ८; ८, ४, इत्यादि।

दूर्वा घास की एक जाति (Panicum dactylon) है जिसका ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से अक्सर उल्लेख मिलता है। यह आर्द्र भूमि में उगती थी।[3] ऋग्वेद[4] में आनेवाली एक उपमा ऐसा व्यक्त करती प्रतीत होती है कि इस घास के तन्तु उसके काण्ड के समानान्तर फैलते थे। तु० की० *पाकदूर्वा*।

[1] १०. १६, १३; १३४, ५; १४२, ८।
[2] तैत्तिरीय संहिता ४. २, ९, २; ५. २, ८, ३; वाजसनेयि संहिता १३. २०; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५. ८; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १०, ५; ७. ४, २, १०. १२, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद १०. १६, १३; १४२, ८।
[4] १०. १३४, ५।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७०।

दूर्श का, जो कि एक प्रकार के परिधान का द्योतक है, अथर्ववेद[1] में दो वार उल्लेख है। वेवर[2] का विचार है कि यह आदिवासियों द्वारा पहना जाता था।

[1] ४. ७, ६; ८. ६, ११।
[2] इन्डिशे स्टूडियन १८, २९।

दूषीका (अक्षिमल) का अथर्ववेद[1] तथा बाद[2] में एक व्याधि के रूप में उल्लेख है।

[1] १६. ६, ८।
[2] काठक संहिता ३४. १२; वाजसनेयि संहिता २५. ९; शतपथ ब्राह्मण ३. १, ३, १०।

दृढ-च्युत् आगस्ति ('अगस्त्य' का वंशज) का, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में 'विभिन्दुकीयों' के यज्ञ-सत्र के उद्गातृ पुरोहित के रूप में उल्लेख है।

[1] ३. २३३ (ज० अ० ओ० सो०, १८, ३८)। अनुक्रमणी में (जहाँ पैतृक नाम का रूप 'आगस्त्य' है) इसे ऋग्वेद ९. २५ का रचयिता कहा गया है। तु० की० इन्डिशे स्टूडियन ३, २१९।

दृढ-जयन्त—देखिये *विपश्चित्* और *वैपश्चित्*।

१. दृति (तरल पदार्थ रखने के लिये चमड़े का थैला), का ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में अक्सर उल्लेख है। एक स्थल[3] पर इसे 'ध्मात' (फूला हुआ) कहा

[1] १. १९१, १०; ४. ५१, १. ३; ५. ८३, ७; ६. ४८, १८; १०३, २; ८. ५, १९; ९, १८।
[2] अथर्ववेद ७. १८, १; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १९, १; वाजसनेयि संहिता २६. १८. १९; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ३, ४; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. १०, २, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ७. ८९, २। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० २०, ३०

गया है, और जलोदर से पीड़ित रोगी की इस प्रकार के थैले से तुलना की गई है। दुग्ध (*क्षीर*) और मदिरा (*सुरा*) का इस प्रकार के थैलों में रखे जाने का उल्लेख है।[४]

[४] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११, २६; १६. १३, १३।

२. *दृति ऐन्द्रोत* (*इन्द्रोत* का वंशज) का पञ्चविंश ब्राह्मण[१] में *अभि-प्रतारिन् काक्षसेनि* के समकालीन, तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[२] के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *इन्द्रोत दैवाप* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। सम्भवतः पञ्चविंश ब्राह्मण[३] में मिलनेवाले 'दृति-वातवन्तौ' यौगिक शब्द में भी इसी 'दृति' से तात्पर्य है। यहाँ कहा गया है कि उपरोक्त प्रथम दृति उस महाव्रत संस्कार के समाप्त हो जाने पर भी कार्य करता रहा जिसमें दोनों ही नियुक्त थे, और इसका परिणाम यह हुआ कि उसके वंशज 'वातवतों' की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो गये।

[१] १४. १, १२. १५।

[२] ३. ४०, २।

[३] २५. ३, ६। इसी प्रकार एक वर्ष की अवधिवाले सत्र को बाद में 'दृति-वातवतोर् अयन' कहा गया है, कात्यायन श्रौत सूत्र, २४. ४, १६; ६, २५; आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. २३, १; लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १०, ७
तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५, ५२, ५३।

दृस-वालाकि गार्ग्य (*गर्ग* का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका बृहदारण्यक उपनिषद् (२. १, १) में *काशि* के *अजातशत्रु* का एक समकालीन होने के रूप में उल्लेख है।

दृभीक किसी ऐसे मानव[१] अथवा दानव[२] का नाम है जिसका, ऋग्वेद[३] के अनुसार, इन्द्र ने वध किया था।

[१] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५२, २०७, जो इससे 'डरवाइक्स' की तुलना करते हैं; मैक्डौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १६२।

[२] ग्रासमैन : वर्टरबुख, व० स्था०; रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर ८५।

[३] २. १४, ३।

ईशान भार्गव (*भृगु* का वंशज) का काठक संहिता[१] में एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है।

[१] ६. ८। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४५९।

दृषद्, ऋग्वेद[1] तथा अथर्ववेद[2] में, चक्की के पत्थर[3] का नहीं वरन् केवल अन्न को पीसने के लिये प्रयुक्त एक ऐसे पत्थर मात्र का द्योतक है जिसे एक अन्य पत्थर के आधार पर रख दिया जाता था। जब बाद[4] में *उपला* के साथ इसका प्रयोग हुआ है, तब चक्की के ऊपर तथा नीचे के पत्थरों, अथवा उद्धूखल और मूसल का अर्थ हो सकता है; किन्तु यह निश्चित नहीं है। एग्लिङ्ग[5] इन दोनों का बड़ी और छोटी चक्की के पत्थरों के रूप में अनुवाद करते हैं। उपर और *उपला* भी देखिये।

[1] ७. १०४, २२; ८. ७२, ४।
[2] २. ३१, १; ५. २३, ८।
[3] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६९।
[4] तैत्तिरीय संहिता १. ६, ८, ३; ९, ३; शतपथ ब्राह्मण १. १, १, २२; २. ६, १, ९, इत्यादि।
[5] से० बु० ई० १२, ११ ('दृषद्-उपले', जिनका यहाँ उद्धूखल और मूसल, 'उलूखल-मुसले', के साथ विभेद किया गया है।
तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १०८, १०९।

दृषद्वती (पाषाणवत) एक ऐसी नदी का नाम है जो कुछ दूर तक *सरस्वती* के समानान्तर बहती हुई उसी में मिल जाती है। 'भरत' राजाओं के क्रिया-क्षेत्र के रूप में सरस्वती तथा *आपया* के साथ इसका भी ऋग्वेद[1] में उल्लेख है। पञ्चविंश ब्राह्मण[2] और बाद[3] में दृषद्वती और सरस्वती को विशेष प्रकार के यज्ञों का क्षेत्र बताया गया है। मनु[4] के अनुसार यह दोनों नदियाँ मध्यदेश की पश्चिमी सीमा को निर्धारित करती थीं।

[1] ३. २३, ४।
[2] २५. १०. १३।
[3] कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ६, ६. ३८; लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १९, ४।
[4] २. १७।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १८; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३४; इन्डियन लिटरेचर ६७, १०२; मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी, पृ० ८७।

दृष्ट—देखिये *अदृष्ट*।

देवक *मान्यमान* ('मन्यमान' का वंशज)—यह तृत्सुओं के विपक्षी के रूप में, तथा शम्बर के साथ सम्बद्ध होने के रूप में, ऋग्वेद[1] में आता है। फिर भी, जैसा कि ग्रासमैन का विचार है, इस शब्द को उस शम्बर का द्योतक

[1] ७. १८, २०, (देवकं चिन् मान्यमानम्)

मानना चाहिये 'जो अपने को एक देवता मानता था', क्योंकि 'देवक' का यहाँ केवल असम्मानात्मक अर्थ में ही प्रयोग किया गया है।[२]

[२] तु० की० ऋग्वेद २. ११, २ (अमर्त्यं चिद् दासम् मन्यमानम्)। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १७३।

देवकी-पुत्र छान्दोग्य उपनिषद्[१] में *कृष्ण* का मातृनामोद्धृत नाम है। महाकाव्य[२] के अनुसार, कृष्ण की माता देवकी का पिता एक देवक था। सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश यह व्यक्त करता है कि देवक 'गन्धर्वों का राजा' था, और महाकाव्य[३] में भी इसका उल्लेख है।

[१] ३. १७, ६।
[२] महाभारत १. ४४८०; ५. ८०, इत्यादि
[३] वही, १. २७०४।

देव-जन-विद्या (दिव्यों का ज्ञान) शतपथ ब्राह्मण[१] और छान्दोग्य उपनिषद्[२] में वर्णित विज्ञानों में से एक है।

[१] १३. ४, ३, १०। तु० की० १०. ५, २, २०।
[२] ७. १, २. ४; २, १; ७, १।

देव-तरस् श्यावसायन काश्यप ('कश्यप' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[१] में *ऋश्यशृङ्ग* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है। 'शावसायन' के रूप में यह वंश ब्राह्मण[२] में अपने उस 'शवस्' नामक पिता का शिष्य है, जो स्वयं काश्यप का शिष्य था।

[१] ३. ४०, २।
[२] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३।

देवत्या, अथर्ववेद[१] के मूलपाठ में आता है जहाँ, यदि पाठ शुद्ध है तो, इसे एक प्रकार के पशु[२] का द्योतक होना चाहिये। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसका पाठ 'रोहिणी-देवत्यास्' (जिसका देवता अरुण-वर्ण हो)[३] होना चाहिये।

[१] १. २२, ३।
[२] रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[३] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २२।

देवन का एक बार ऋग्वेद[१] में पासे के सन्दर्भ में उल्लेख है। इस शब्द को उस स्थान का ही द्योतक होना चाहिये जहाँ पासे फेंके जाते थे (अन्यत्र इस स्थान को *अधिदेवन* कहा गया है), और निरुक्त[२] पर अपने भाष्य में दुर्ग ने भी इसकी इसी प्रकार व्याख्या की है।

[१] १०. ४३, ५।
[२] ५. २२।
तु० की० ल्यूडर्स : टा० इ० २४।

देव-नक्षत्र—यह तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में उन प्रथम चौदह चान्द्र-नक्षत्रों के लिये व्यवहृत नाम है जिन्हें दक्षिण बताया गया है, जब कि अन्य को यम-नक्षत्र कहा और उन्हें उत्तर बताया गया है।

[1] १.५, २, ६.७। तु० की० वेबर : नक्षत्र, २, ३०९, ३१०।

देव-भाग श्रौतर्ष का *सृञ्जयों* और *कुरुओं* दोनों के ही पुरोहित के रूप में शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[2] में यह कहा गया है कि इसने *गिरिज बाभ्रव्य* को यज्ञ-पशु के विभक्त करने (पशोर् विभक्ति) की विद्या सिखाई थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में यह 'सवित्र अग्नि' का अधिकारी विद्वान् है।

[1] . २. ४, ४, ५। इस स्थल का सायण ने ऋग्वेद १. ८१, ३, पर ग़लत उद्धरण दिया है। देखिये, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन २, ९, नोट; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, १५२।
[2] ७. १।
[3] ३. १०, ९, ११।

देव-मलिम्लुच् (देवों को लूटनेवाला)—यह उस 'रहस्य'[1] की एक उपाधि है जिसके सम्बन्ध में पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में ऐसा कहा गया है इसने पवित्रात्मा *वैखानसों* का *मुनिमरण* (मुनि की मृत्यु) के पास वध किया था। प्रत्यक्षतः यह एक असुर था, किन्तु एक वास्तविक व्यक्ति भी रहा हो सकता है।

[1] अथवा 'रहस्यु'।
[2] १४. ४, ७। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५१, ५२।

देव-मुनि, पञ्चविंश ब्राह्मण (२५. १४, ५) में *तुर* की एक उपाधि है। अनुक्रमणी में ऋग्वेद के एक सूक्त (१०. १४६) के रचयिता को भी यही नाम दिया गया है।

देव-राजन्—पञ्चविंश ब्राह्मण (१८. १०, ५) के 'समान् देवराजन्' वाक्यपद में यह प्रत्यक्षतः ब्राह्मण-वंशीय राजा का द्योतक है। तु० की० *राजन्यर्षि* और *वर्ण*।

देव-रात (देव-प्रदत्त) *वैश्वामित्र* (*विश्वामित्र* का वंशज)—विश्वामित्र द्वारा शुनःशेप को दत्तक ले लिये जाने के बाद यह ऐतरेय ब्राह्मण[1] में शुनःशेप को दिया गया नाम है।

[1] ७. १७। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २७।

देवल का एक ऋषि के रूप में काठक संहिता (२२. ११) में उल्लेख है। *दैवल* भी देखिये।

देववन्त् का ऋग्वेद[1] की एक दानस्तुति में *सुदास्* के पूर्वज, प्रत्यक्षतः उसके पितामह के रूप में, उल्लेख है; अथवा यदि *पैजवन* को सुदास् का पिता तथा *दिवोदास* को उसका पितामह मान लिया जाय तो यह *वध्र्यश्व* का पिता होगा। इस द्वितीय दशा में वंशक्रम इस प्रकार होगा: देववन्त्, वध्र्यश्व, दिवोदास, पैजवन, सुदास्।

[1] ७. १८, २२, । तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७१; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, १३८।

देव-वात ऋग्वेद[1] में एक *भरत* राजा का नाम है, जिसका यहाँ *दृषद्वती*, *सरस्वती* और *आपया* के तटों पर यज्ञ करने वाले के रूप में उल्लेख है।

[1] ३. २३, २। तु० की० औल्डेनवर्ग: बुद्ध, ४०९; पिशल: वेदिशे स्टूडियन २, २१८।

देव-विद्या (देवों का ज्ञान) छान्दोग्य उपनिषद् (७. १, २, ४; २, १; ७, १) में वर्णित विज्ञानों में से एक है।

देव-श्रवस् ऋग्वेद[1] में एक *भरत* राजा का नाम है जो *दृषद्वती*, *सरस्वती*, और *आपया* के तट पर *देववात* के साथ यज्ञ करने वाले के रूप में आता है।

[1] ३. २३, २. ३। अनुक्रमणी में इसे 'यम' का एक पुत्र कहा गया है, तथा १०. १७ सूक्त की रचना का श्रेय इसे ही दिया गया है।

देवातिथि काण्व (*कण्व* का वंशज) का पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में ऐसे सामन् के द्रष्टा के रूप में उल्लेख है, जिससे, प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा मरुभूमि में निष्कापित कर दिये जाने पर अपने पुत्र सहित क्षुधा-पीड़ित इसने, अपने तथा पुत्र के लिये, कूष्माण्डों को गायों के रूप में परिणत कर दिया था। यह ऋग्वेद के एक सूक्त[2] का प्रख्यात प्रणेता भी है।

[1] ९. २, १९।

[2] ८. ४। तु० की० हापकिन्स: ट्रा० सा० १५, ६१।

देवापि आर्ष्टिषेण ('ऋष्टिषेण' का वंशज) का, ऋग्वेद के एक सूक्त[1] तथा निरुक्त[2] में उल्लेख है। इस वाद के स्रोत के अनुसार *देवापि* और *शन्तनु* नामक दो भ्राता, कुरु राजा थे। इनमें से 'देवापि' ज्येष्ठ था, किन्तु 'शन्तनु' ने अपने को ही राजा के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया जिसके फलस्वरूप बारह

[1] १०. ९८। | [2] २. १०।

वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। बड़े भाई के रहते हुये स्वयं राज्याधिकार ले लेने को ही ब्राह्मण लोगों द्वारा अवर्षण का कारण बताये जाने पर शन्तनु ने देवापि को राज्य समर्पित करना चाहा। फिर भी देवापि ने राज्य लेना तो अस्वीकार कर दिया किन्तु अपने अनुज के लिये पुरोहित बन कर वर्षा कराने में सफल हुआ। बृहद्देवता[3] बहुत कुछ इसी प्रकार की एक कथा का उल्लेख करता है किन्तु उसमें इतना और संयुक्त कर देता है कि देवापि के सिंहासन से वंचित रह जाने का कारण उसका एक प्रकार के चर्म रोग से पीड़ित होना था। महाकाव्य तथा बाद के आख्यान इस कथा को और विकसित करते हुये कुछ परस्पर असंगत से दो विवरण प्रस्तुत करते हैं। एक कथन के अनुसार[4], देवापि के सिंहासन से वंचित रह जाने का कारण उसका कुष्ठ रोग था, जब कि दूसरे के अनुसार युवावस्था में ही तपस्या में रत रहने के कारण ही उसके अनुज ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त, महाकाव्य[5] इसे 'प्रतीप' का पुत्र मानता है, तथा इसके भ्राताओं के रूप में बाह्लीक[6] और उस आर्ष्टिपेण[7] का उल्लेख करता है जो 'देवापि' पैतृक नाम से विकसित एक नवीन व्यक्तित्व प्रतीत होता है। सम्भवतः सीग[8] का यह विश्वास उपयुक्त है कि दोनों, अर्थात् प्रतीप के पुत्र देवापि, और ऋष्टिपेण के पुत्र देवापि, की कथायें परस्पर अस्तव्यस्त हैं। किन्तु किसी भी दशा में इनसे ऐतिहासिकता निर्धारित करना सम्भव नहीं है।[9]

ऋग्वेद का उक्त सूक्त निश्चित रूप से यह व्यक्त करता प्रतीत होता है कि देवापि ने शन्तनु के लिये, जिसे *औलान* कहा गया प्रतीत होता है, यज्ञ किया था।[10] किन्तु यहाँ इनके परस्पर भ्रातृ-सम्बन्ध का कोई संकेत नहीं है,

[3] ७. १४८ और बाद, मैकडौनेल के नोट सहित।

[4] महाभारत ४.५०५४ और बाद (=१४९, १५ और बाद), जहाँ इसी नाम का रूप 'शान्तनु' है (जैसा कि अग्नि, २७७. ३४, ब्रह्म १३. ११४, ११८, तथा विष्णु आदि पुराणों में भी है) मत्स्य पुराण ५०. ३९ और बाद, जिसमें तथा भागवत ९. २२, १२. १३, और वायु पुराण ९९. २३४, २३७, में 'शन्तनु' रूप है।

[5] महाभारत, १. ३७५१ (= ९४, ६२); ९. २२८५ (= ४०, १); वायु पुराण २. ३७, २३०, इत्यादि।

[6] नोट ४ के अन्तर्गत उद्धृत महाभारत; हरिवंश १८१९।

[7] वही, नोट ५ में उद्धृत।

[8] सा० ऋ० १३६।

[9] जैसा कि ज० ए० सो० १९१०, ५२, ५३, में पार्जिटर करते हैं।

[10] ऋग्वेद १०. ९८, ११।

और न यहीं दिखाने के लिये कोई सामग्री है कि देवापि एक ब्राह्मण नहीं वरन् क्षत्रिय था। सीग[११] का, जो कि इस सूक्त की निरुक्त के आधार पर व्याख्या करते हैं, यह विचार है कि देवापि एक क्षत्रिय था, किन्तु उक्त अवसर पर बृहस्पति की कृपा से पौरोहित्य कर्म करने में सफल हो सका, तथा इस सूक्त में इसके व्यवहार की आसामान्य प्रकृति को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है; किन्तु यह दृष्टिकोण अत्यन्त असम्भव प्रतीत होता है।

[११] उ० पु० १२९-१४२।
तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्ट्स १[२], २७२ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २०३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९२ और बाद; मैकडौनेल: बृहद्देवता, १,२९; त्सिमर आल्टिन्डिशे लेबेन, १३१, १३२।

देवृ एक दुर्लभ शब्द है जो पत्नी के देवर (पति के भ्राता) का द्योतक है। इसको तथा पति की बहनों को उन व्यक्तियों के अन्तर्गत रक्खा गया है जिन पर पत्नी का पति—उक्त व्यक्तियों का ज्येष्ठ भ्राता—शासन करता है[१]; साथ ही साथ पत्नी को भी इनके प्रति आस्था रखनी चाहिये[२], और मित्रवत व्यवहार करना चाहिये।[३] पति की मृत्यु के पश्चात् देवृ उसके लिये पुत्र उत्पन्न करने का कर्त्तव्य भी वहन कर सकता है।[४] देवृ के ही समान, पत्नी के भ्राता के लिये कोई शब्द नहीं मिलता।

[१] ऋग्वेद १०. ८५,४६। तु० की० **पति**।
[२] ऋग्वेद १०. ८५, ४४।
[३] अथर्ववेद १४. २, १८। तु० की० १४. १, ३९।
[४] ऋग्वेद १०. ४०, २। तु० की० १०. १८, ८; केगी : डर ऋग्वेद, नोट ५१; लैनमैन : संस्कृत रीडर ३८५; ह्विट्ने अथर्ववेद का अनुवाद ९४८। तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ५१६।

देश एक ऐसा शब्द है जो एक बार एक ब्राह्मण[१] साहित्य के अर्वाचीन स्थल पर और एक बार वाजसनेयि संहिता[२] के उस अत्यधिक विवादास्पद स्थल पर जहाँ यह उल्लेख है कि *सरस्वती* की पाँच सहायक नदियाँ हैं, उपलब्ध होने के अपवादों के अतिरिक्त उपनिषदों और सूत्रों[३] के समय के पूर्व

[१] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १० (एक अर्वाचीन स्थल)।
[२] ३४. ११।
[३] जहाँ इसका प्रयोग बहुत प्रचलित हो गया है : बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, १६; २, ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ४. १४, ६; कात्यायन श्रौत सूत्र १५. ४, १७, इत्यादि। इसी प्रकार विशेषण 'देशीय' (किसी देश का) : कात्यायन २२. ४, २२; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ६, २८।

प्रयोग में नहीं आता। वाजसनेयि संहिता का उक्त स्थल इस विचार का विरोध करता है कि सरस्वती सिन्धु नदी का एक नाम था, क्योंकि यहाँ 'देश' का प्रयोग ऐसा व्यक्त[4] करता हुआ प्रतीत होता है कि मंत्र का द्रष्टा सरस्वती को उस 'मध्य देश' में स्थित मानता था जिसकी ओर यजुर्वेद के सभी भौगोलिक प्रदत्त संकेत करते हैं।[5]

[4] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १०, जिनका विचार है कि यह शब्द मूलपाठ के उस स्थल पर किसी प्रकार प्रविष्ट हो गया है जहाँ सरस्वती से मूलतः पंजाब की पाँच सहायक नदियों सहित सिन्धु नदी का अर्थ है।

[5] मेकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १७४।

देही ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर शत्रुओं से सुरक्षा के लिये निर्मित मिट्टी की प्राचीर अथवा खाई का द्योतक है। तु० की० पुर्।

[1] ६. ४७, २; ७. ६, ५। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३४४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १४३।

दैधिषव्य का तैत्तिरीय संहिता[1] के एक मंत्र में उल्लेख है। प्रत्यक्षतः यह शब्द (*दिधिषू* से व्युत्पन्न) सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार दो बार विवाहित स्त्री के पुत्र की अपेक्षा, बड़ी बहन[2] के पूर्व विवाहित छोटी बहन के पुत्र का द्योतक है।

[1] ३. २, ४, ४; कात्यायन श्रौत सूत्र २. १, २२; कौशिक सूत्र ३, ५; १३७, ३७

[2] अ० फा० १७, ४३१, नोट।

दैयांपाति ('दयांपात' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (९. ५, १, १४) के अनुसार पूर्व के एक उस गुरु का नाम है जिसे *शाण्डिल्यायन* ने अग्नि-वेदिका के निर्माण की विद्या सिखाई थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १०, ९, ३–५) में *अत्यंहस्* के समकालीन *प्लक्ष* को भी, 'दय्यांपाति' के रूप में यही पैतृक नाम दिया गया है।

१. दैव (पुल्लिङ्ग) छान्दोग्य उपनिषद्[1] में विद्याओं की सूची में आता है, जहाँ सायण इसकी 'उत्पात-ज्ञान', प्रत्यक्षतः 'अपशकुनों का ज्ञान', के रूप में व्याख्या करते हैं। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश का विचार है कि इस शब्द का यहाँ विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है, और लिटिल[2] तथा बौटलिङ्क ने अपने अनुवाद[3] में इसी मत को स्वीकार किया है।

[1] ७. १, २. ४; २, १; ७, १।

[2] ग्रामैटिक इन्डेक्स, ८३।

[3] यद्यपि आप इसका (दैव निधि) अनुवाद नहीं करते।

२. दैव बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में पौराणिक 'अथर्वन्' का पैतृक नाम है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २८ (माध्यन्दिन)।

दैवल ('देवल' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ११, १८) में *असित* का पैतृक नाम है।

दैव-वात (*देववात* का वंशज) ऋग्वेद में उस *सृञ्जय* का पैतृक नाम है जो सम्भवतः एक सृञ्जय राजा था। अग्नि-पूजक होने, तथा राजा *तुवर्श* और *वृचीवन्तो*[1] पर विजयी होने के रूप में इसका उल्लेख[2] है। त्सिमर[3] के अनुसार इसका नाम *अभ्यावर्तिन् चायमान पार्थव* ('पृथु' का वंशज) था, किन्तु हिलेब्रान्ट[4] इसे संदिग्ध मानते हैं, यद्यपि आप भी *दिवोदास* के साथ सृञ्जयों को भी सिन्धु के पश्चिम स्थित करते हैं। अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यह नाम भरत *देववात* के साथ सम्बन्ध व्यक्त करता है, और *कुरुओं* तथा सृञ्जयों के परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध[5] होने के कारण यह तथ्य उपेक्षणीय नहीं है।

[1] ऋग्वेद ६. २७, ७।
[2] ऋग्वेद ४. १५, ४।
[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १३३, १३४।
[4] वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५, १८६।
[5] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ५। तु० की० औल्डेनबर्ग : बुद्ध ४०२, ४०५; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५३।

दैवाप (*देवापि* का वंशज), शतपथ ब्राह्मण[1] तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में *इन्द्रोत* का पैतृक नाम है। ऋग्वेद[3] के 'देवापि' के साथ इसका सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता।

[1] १३. ५, ४, १।
[2] ३. ४०, १।
[3] १०. ९८। देखिये औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २४०।

दैवावृध ('देवावृध' का वंशज) ऐतरेय ब्राह्मण (७. ३४) में *बभ्रु* का पैतृक नाम है।

दैवो-दासि (*दिवोदास* का वंशज) कौषीतकि ब्राह्मण[1] और कौषीतकि उपनिषद्[2] में *प्रतर्दन* का पैतृक नाम है। इससे प्रसिद्ध दिवोदास का ही अर्थ है या नहीं यह निश्चित कर सकना असम्भव है।

[1] २६. ५।
[2] ३. १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २१४।

दोषा (सन्ध्या) का ऋग्वेद[1] और उसके वाद[2] से सामान्यतया 'उषस्' के विपरीत अवसर ही उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद्[3] में इस शब्द का 'प्रातर्' के साथ विभेद किया गया है। *अहन्* भी देखिये।

[1] १. ३४, ३; १७९, १; २. ८, ३; ४. २, ८; ५. ५, ६; ३२, ११; ६. ५, २, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ६. १, १; निरुक्त ४. १७।

[3] ६. १३, १।

दोह (दोहन) अथर्ववेद[1] तथा वाद[2] में एक साधारण शब्द है। सूत्रों[3] में 'सायं-दोह' (सायंकाल का दोहन) और 'प्रातर्-दोह' (प्रातःकाल का दोहन) का उल्लेख मिलता है। 'दोहन' का भी यही आशय है।[4] *गो* भी देखिये।

[1] ४. ११, ४. ९. १२; ५. १७, १७; ८. ९, १५ (जहाँ लाक्षणिक आशय में पाँच दोहनों का उल्लेख है।) ऋग्वेद १०. ४२, २ में इसका वास्तविक आशय मिलता है।

[2] वाजसनेयि संहिता ८. ६२; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, १०, २; २. २, ९, ९, इत्यादि।

[3] कात्यायन श्रौत सूत्र ४. २, २८, इत्यादि

[4] ऋग्वेद ८. १२, ३२; शतपथ ब्राह्मण ९. २, ३, ३०; कात्यायन श्रौत सूत्र ४. २, ३७, इत्यादि।

दौरे-श्रवस ('दूरे-श्रवस्' का वंशज)—यह *पृथुश्रवस्* नामक पुरोहित का नाम है जिसने पञ्चविंश ब्राह्मण (२५. १५, ३) में वर्णित सर्प-यज्ञ के समय पौरोहित्य कर्म किया था।

दौरे-श्रुत ('दूरे-श्रुत' का वंशज) पञ्चविंश ब्राह्मण (२५. १५, ३) में वर्णित सर्पयज्ञ के समय पौरोहित्य कर्म करनेवाले पुरोहित, *तिमिर्घ* का पैतृक नाम है।

दौर्-गह—देखिये *दुर्गह*।

दौःषन्ति ('दुःषन्त' का वंशज) ऐतरेय (८. २३) और शतपथ (१३. ५, ४, ११) ब्राह्मणों में 'भरत' का पैतृक नाम है।

द्युतान मारुत ('मरुतों' का वंशज) एक दिव्य व्यक्ति का नाम है जिसका वाजसनेयि संहिता[1] और तैत्तिरीय संहिता[2] में आवाहन तथा काठक संहिता[3] में उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[4] में इस नाम की 'वायु' के अर्थ में व्याख्या की गई है, जब कि पञ्चविंश ब्राह्मण[5] में इसे एक सामन् का रचयिता माना गया

[1] ५. २७।

[2] ५. ५, ९, ४। तु० की० ६. २, १०, ४

[3] १५. ७।

[4] ३. ६, १. १६।

[5] १७. १, ७। तु० की० ६. ४, २।
तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, ३११; इन्डिशे स्टूडियन ३, २२०।

प्रतीत होता है। अनुक्रमणी में यह एक ऋषि है और इसे ऋग्वेद के एक सूक्त (८. ९६) की रचना का श्रेय दिया गया है।

द्युम्न—पिशल[1] के अनुसार, ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर यह 'छोटी नाव' का द्योतक है।

[1] त्सी० गे० ३५, ७२० और बाद। | [2] ८. १९, १४।

द्यूत (पासा) का अथर्ववेद[1] और सूत्रों[2] में उल्लेख है। देखिये *अक्ष*।

[1] १२. ३, ४६।
[2] कात्यायन श्रौत सूत्र १५. ६, २; लाट्यायन श्रौत सूत्र ४. १०, २३, इत्यादि।

द्योतन, सायण के अनुसार ऋग्वेद[1] में किसी राजा का नाम है। सम्भवतः यही ठीक भी है[2], यद्यपि इस शब्द की 'तेजस्वीकरण' के द्योतक हो होने के रूप में भी व्याख्या की जा सकती है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि 'द्योतन' तथा उसी स्थल पर उल्लिखित *वेतसु*, *दशोणि*, *तूतुजि*, और *तुग्र* के बीच क्या सम्बन्ध था।

[1] ६. २०, ८।
[2] जैसा कि ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ३८० में मानते हैं। तु० की० औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८।

द्रप्स, ऋग्वेद[1] तथा उसके वाद से 'विन्दु' के लिये व्यवहृत एक साधारण शब्द है जो सायण[2] के अनुसार 'स्तोक' (छोटे विन्दु) के विपरीत 'मोटे विन्दु' के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसीलिये 'दधि-द्रप्स' व्याहृति अक्सर मिलती है।[3] ऋग्वेद[4] में यह शब्द सामान्यतया सोम के मोटे विन्दुओं अथवा स्वयं सोम का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १. ९४, ११ (कादाचित अग्नि का एक 'विन्दु'); ५. ६३, ४ (वर्षा-विन्दु); ७. ३३, ११ (=रेतस्); शतपथ ब्राह्मण ६. १, २, ६; 'द्रप्सिन्' (गाढ़ा प्रवाहित होने वाला), ११. ४, १, १५।
[2] तैत्तिरीय संहिता १, पृ० ७०, ७। तु० की० 'उरु-द्रप्स' उपाधि, तैत्तिरीय संहिता ३.३,१०,२; अथर्ववेद १८. ४, १८ पर भाष्य करते हुए सायण 'द्रप्स' को 'दधि-विन्दुओं' के अर्थ में ग्रहण करते है; इसी प्रकार लाट्यायन श्रौत सूत्र ३. २, ४, पर अग्निस्वामिन् भी।
[3] शतपथ ब्राह्मण ९. २, ३, ४०।
[4] ९. ७८, ४; ८५, १०; ८९, २, ९७, ५६; १०६, ८; १०. ११, ४; १७, ११. १२। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ९, १।

दो स्थलों[५] पर रौथ[६] इसमें 'ध्वज' का आशय देखते हैं जिसे ओल्डेनबर्ग[७] ने भी ग्रहण किया है। दूसरी ओर गेल्डनर[८] का विचार है कि इससे 'धूल' का अर्थ है, किन्तु यह व्याख्या बहुत सम्भव नहीं है। एक स्थल पर मैक्स-मूलर[९] इस शब्द का 'वर्षा के विन्दु' अनुवाद करते हैं।

[५] ४. १३,२, और १.६४, २ में 'द्रप्सिन्'।
[६] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'सत्वन्' बौटलिङ्क: कोश, व० स्था०, 'द्रप्स', 'द्रप्सिन्'।
[७] से० बु० ई० ४६, ३५७; ऋग्वेद-नोटेन १, ६४, ६५।
[८] वेदिशे स्टूडियन ३, ५७, ५८; ऋग्वेद, ग्लॉसर, ८८।
[९] से० बु० ई० ३२, १०४। तु० की० मैकडौनेल: वेदिक माइथौलोजी, पृ० ८०, ऋग्वेद १. ६४, २, के सन्दर्भ में तु० की० मैकडौनेल: उ० पु०, पृ० १०५, ११३।

द्रापि ऋग्वेद[१] में अनेक बार 'प्रावारक' अथवा 'उत्तरीय वस्त्र' के आशय में आता है।[२] फिर भी सायण इस शब्द का 'कवच'[३] अनुवाद करते हैं। यद्यपि यह निरर्थक प्रतीत होता है, तथापि कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जिसके आधार पर इसके पक्ष या विपक्ष में कुछ निर्णय किया जा सके।

[१] १. २५, १३; ११६, १०; ४. ५३, २; ९. ८६, १४; १००, ९; अथर्ववेद ३. १३, १।
[२] रौथ: सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४७२; श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३३३
[३] तु० की० मैक्स मूलर: ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ५३६; पिशल: वेदिशे स्टूडियन २, २०१, २०२।

द्रु, लकड़ी[१] के बने एक पात्र, और मुख्यतः सोम-यज्ञ[२] के समय, सम्भवतः, जैसा कि हिलेब्रान्ट[३] का विचार है, छनने से बाहर निकलनेवाले सोम को एकत्र करने के लिये प्रयुक्त पात्र का द्योतक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[४] में इस शब्द का अर्थ केवल 'लकड़ी' है।

[१] ऋग्वेद १. १६१, १; ५. ८६, ३; ८, ६६, ११; १०. १०१, १० में 'मूसल' का अर्थ प्रतीत होता है। ५. ८६, ३ में बौटलिङ्क इसे 'लकड़ी की मुठिया' के आशय में ग्रहण करते हैं।
[२] ९. १, २; ६५, ६; ९८, २।
[३] वेदिशे माइथौलोजी १, १९१, १९२।
[४] १. ३, ९, १। यौगिक रूपों में तो बहुधा, उदाहरण के लिये ऋग्वेद २. ७, ६; ६. १२, ४, इत्यादि।

द्रु-घण, ऋग्वेद[१] के एक 'मुद्गल' सूक्त में, तथा अथर्ववेद[२] में मिलता है।

[१] १०. १०२, ९।
[२] ७. २८, १।

इसका आशय अनिश्चित है। यास्क[3] 'लकड़ी के बने घन' के रूप में इसका अनुवाद करते हैं। सम्भवतः रौथ[4] भी इसे 'लकड़ी की गदा' के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। गेल्डनर[5] का विचार है कि यह एक दौड़ में सम्मिलित होने की इच्छा होने पर मुद्गल द्वारा दूसरे बैल के स्थानापन्न के रूप प्रयुक्त लकड़ी के बैल का द्योतक है। किन्तु आख्यान की यह व्याख्या अत्यन्त असम्भव है।[6] इससे वृक्षों पर प्रहार करने के कारण एक 'काटने के यन्त्र' के रूप में सायण द्वारा प्रस्तुत व्याख्या का उद्धरण देते हुये, अथर्ववेद में ह्विट्ने[7] इस शब्द का 'वृक्ष-काटनेवाला' अनुवाद करते हैं।

[3] निरुक्त ९. २३।
[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[5] वेदिशे स्टूडियन २, ३, ४।
[6] तु० की० फॉन श्राड्के : त्सी० गे० ४६, ४६२; ब्लूमफील्ड : वही, ४८, ४५६; फ्रान्के : वि० ज० ८, ३४२।
[7] अथर्ववेद का अनुवाद, ४०७।

द्रु-पद ('लकड़ी का स्तम्भ' अथवा 'यूप') का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अनेक बार उल्लेख है। शुनःशेप को यज्ञ के हेतु तीन स्तम्भों से बाँधा गया था।[3] इस बात को व्यक्त करनेवाले भी कुछ प्रमाण हैं कि चोरी के लिये दण्ड स्वरूप चोरों को स्तम्भों से बाँध दिया जाता था।[4]

[1] १. २४, १३; ४. ३२, २३।
[2] अथर्ववेद ६. ६३, ३; ११५, २; १९. ४७, ९; वाजसनेयि संहिता २०, २०।
[3] ऋग्वेद १. २४, १३।
[4] अथर्ववेद १९. ४७, ९; ५०, १। तु० की० ६. ६३, ३ = ८४. ४। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १८१, १८२, और तस्कर, नोट २६।

द्रुम (वृक्ष)—षड्विंश ब्राह्मण (५.११) और निरुक्त (४.१९; ५.२६; ९.२३) जैसे बाद के ग्रन्थों के पहले के समय में यह शब्द नहीं मिलता।

द्रुवय (लकड़ी का बना)—इसका अथर्ववेद[1] में 'ढोल' की एक उपाधि के रूप में प्रयोग हुआ है।

[1] ५. २०, २। तु० की० ११. १, १२, जहाँ यह 'उपश्वस' की एक उपाधि है; किन्तु पाण्डुलिपियों में अंशतः 'ध्रुवये' पाठ है और पैप्पलाद शाखा में 'द्रुये' मिलता है।

द्रु-हन् (लकड़ी काटनेवाला)—ऋग्वेद[1] में 'द्रुहन्तर' शब्द द्वारा लकड़ी काटनेवाले का अर्थ प्रतीत होता है। यहाँ इसे सामान्यतया 'द्रुहंतर' (दैत्य

[1] १. १२७, २।

को वश में करने वाला) के रूप में ग्रहण किया गया है। 'परशु' (कुठार) की उपाधि के रूप में एक दूसरा आशय (शक्तिशाली लकड़ी काटने वाला)[2] अधिक सम्भव प्रतीत होता है।[3]

[2] किन्तु यदि यह व्याख्या ठीक है तो इस शब्द पर तुलनात्मक रूप का स्वराघात होना चाहिये। देखिये औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १३२।

[3] तु० की० औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १३०।

द्रुह्यु किसी जाति के लोगों का नाम है जिसका ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख है। एक स्थल[1] पर यह यदुओं, तुर्वशों, अनुओं और पूरुओं के साथ बहुवचन में आता है, जो यह व्यक्त करता है कि यही ऋग्वेद[2] की प्रसिद्ध पाँच जातियाँ थीं। पुनः, अपने सहायकों सहित द्रुह्यु राजा भी सुदास् द्वारा पराजित हुआ, और ऐसा प्रतीत होता है कि जल में डूब कर मर गया।[3] एक दूसरे स्थल पर द्रुह्यु, अनु, तुर्वश, और यदु, सभी का एक वचन में ही उल्लेख है,[4] जब कि एक अन्य स्थान पर केवल पूरु और द्रुह्यु आते हैं।[5] जातियों के विभाजन द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि द्रुह्युगण उत्तर-पश्चिम में रहने वाली जाति के लोग थे,[6] और बाद के महाकाव्य की परम्परा गान्धार तथा द्रुह्यु को सम्बद्ध करती है।[7]

[1] १. १०८, ८

[2] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १२२, १२५; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २५८ और बाद।

[3] ७. १८।

[4] ८. १०, ५।

[5] ६. ४६, ८।

[6] रौथ : त्सु० वे० १३१–१३३।

[7] पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, ४९ तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०५; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १४०।

द्रोण, ऋग्वेद[1] में एक 'लकड़ी की डोंगी', और अधिक विशेष रूप से बहुवचन में उन पात्रों का द्योतक है जिनमें सोम एकत्र किया जाता था।[2] सोम के बड़े लकड़ी के आगार को 'द्रोण-कलश' कहा गया है।[3] कभी कभी वेदिका को भी द्रोण जैसे आकार का ही निर्मित किया जाता था।[4]

[1] ६. २, ८; ३७, २; ४४, २०; ९. ९३, १; निरुक्त ५. २६।

[2] ९. ३, १; १५, ७; २८, ४; ३०, ४; ६७, १४, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २८०।

[3] तैत्तिरीय संहिता ३. २, १, २; वाजसनेयि संहिता १८. २१; १९. २७; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७. ३२; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, १७ इत्यादि।

[4] मैत्रायणी संहिता ३. ४, ७; काठक संहिता २१. ४; शतपथ ब्राह्मण ६. ७, २, ८।

द्रोणाहाव का, पानी खींचने के सन्दर्भ में प्रत्यक्षतः 'लकड़ी की बाल्टियों वाला' आशय में, *अवत* की एक उपाधि के रूप में ऋग्वेद[1] में प्रयोग हुआ है।

[1] १०. १०१, ७। तु० की० त्सिमरः आल्टिन्डिशे लेबेन, १५७।

द्वादश (बारह से युक्त)[1], ऋग्वेद (७.१०३, ९) में वर्ष के लिये प्रयुक्त हुआ है। देखिये *नक्षत्र*।

[1] तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४८, ६४५ और बाद।

द्वापर—देखिये *अक्ष* और *युग*।

द्वार् का ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] से बहुधा ही गृह के द्वार के द्योतक के रूप में प्रयोग किया गया है। इसके बाद के रूप 'द्वार' का भी यही आशय है।[3] तु० की० *गृह*। शतपथ ब्राह्मण[4] में द्वार की अर्गला को 'द्वार-पिधान' कहा गया है।

[1] १. १३, ६।

[2] अथर्ववेद ८. ३, २२; १४. १, ६३; वाजसनेयि संहिता ३०. १०; शतपथ ब्राह्मण ११. १, १, २; १४. ३, १, १३, इत्यादि।

[3] शतपथ ब्राह्मण १. ६, १, १९; ४. ३, ५, ९; ६, ७, ९; ११. ४, ४, २, इत्यादि। अथर्ववेद १०. ८, ४३, में शरीर के 'नव-द्वार' (नौ द्वार) है।

[4] ११. १, १, १। तु० की० लाट्यायन श्रौत सूत्र १. ३, १; २. ३, ९, में 'द्वार-बाहू'।

द्वार-प (द्वार-पाल) केवल एक लाक्षणिक आशय में ऐतरेय ब्राह्मण (१.३०) में जहाँ विष्णु को देवों का द्वार-पाल कहा गया है, तथा छान्दोग्य उपनिषद् (३.१३, ६) में मिलता है।

द्वि-गत् भार्गव (*भृगु* का वंशज) का पञ्चविंश ब्राह्मण (१४. ९) में ऐसे समान् के एक द्रष्टा के रूप में उल्लेख है जिसके माध्यम से यह दो बार द्युलोक तक जाने में सफल हो सका था।

द्वि-ज—सामान्यतया आर्यों की, तथा विशेषतया ब्राह्मणों की उपाधि के रूप में यह, अथर्ववेद[1] के सर्वथा अस्पष्ट से मन्त्र के अपवाद के अतिरिक्त, वैदिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता।

[1] १९. ७१, १। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १००८; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २०४। न तो 'द्वि-जन्मन्' और न 'द्वि-जाति' ही पहले मिलते हैं, और इस रूप में इसका विचार भी बहुत पहले का नहीं है।

द्वि-पाद्, ऋग्वेद[1] तथा उसके बाद[2] से चतुष्पाद (पशुओं) के विपरीत, मनुष्यों का द्योतक है।

[1] १. ४२, ३; ३. ६२, १४; ८. २७, १२; १०. ९७, २०; ११७, ८।
[2] अथर्ववेद २. ३४, १; १०. १, २४; वाजसनेयि संहिता ८. ३०; ९. ३१; १३. १७; १४. ८; इत्यादि।

द्वि-बन्धु ऋग्वेद[1] के एक अस्पष्ट सूक्त में, रौथ[2] और ग्रासमैन[3] के अनुसार एक व्यक्ति का नाम है, जब कि लुडविग[4] इसका केवल एक ऐसे साधारण विशेषण के रूप में अनुवाद करते हैं जिसका अर्थ 'दोहरे सम्बन्धों वाला' है।

[1] १०. ६१, १७।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] वर्टरबुख, व० स्था, और ऋग्वेद का अनुवाद २, ४७५,
[4] ऋग्वेद का अनुवाद २, ६४३, और ५, ५२६।

द्वि-राज (क्लीब), ('दो राजाओं के बीच युद्ध' अथवा 'संघर्ष') का अथर्ववेद (५.२०, ९) में उल्लेख है। तु० की० *दाशराज्ञ*

द्वि-रेतस्—यह गदहे[1] तथा अश्वी[2], दोनों की ही उपाधि है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ४. ९; शतपथ ब्राह्मण ६. ३, १, २३। तु० की० **गर्दभ**।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ६. १, ४।

द्वीप का ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में उल्लेख मिलता है। किन्तु इस अनुमान के लिये कोई आधार नहीं है कि इस शब्द से उद्दिष्ट द्वीप का सिन्धु अथवा गङ्गा[3] जैसी महान नदियों के बीच पड़े रेत के क्षेत्रों के अतिरिक्त कुछ और अर्थ भी हो सकता है। वैदिक साहित्य उस भौगोलिक पद्धति के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता जिसके अनुसार पृथ्वी को मेरु पर्वत के चतुर्दिक स्थित, चार, सात, अथवा तेरह द्वीपों से निर्मित माना गया है।

[1] १. १६९, ३।
[2] काठक संहिता १३. २; शतपथ ब्राह्मण १२. २, १, ३; लाट्यायन श्रौतसूत्र १. ६, १०।
[3] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५६।

द्वीपिन्[1] ('चीता' अथवा 'तेंदुआ') का अथर्ववेद[2] और मैत्रायणी संहिता[3] में उल्लेख है।

[1] शब्दार्थ : 'चितकबरा'
[2] ४. ८, ७; ६. ३८, २; १९. ४९, ४, प्रत्येक दशा में व्याघ्र से ही सम्बद्ध।
[3] २. १, ९
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८०।

द्वैत-वन ('द्वितवन' का वंशज)—यह मत्स्यों के उस राजा ध्वसन् का पैतृक नाम है जिसके अश्वमेध का शतपथ ब्राह्मण (१३.५,४,९) में उल्लेख मिलता है।

द्वय्-औपश—देखिये औपश।

ध

धन (पुरस्कार), ऋग्वेद[1] में अक्सर ही युद्ध-विजित धन की अपेक्षा सम्भवतः घुड़-दौड़ में प्राप्त 'पुरस्कार' के लिये व्यवहृत हुआ है। यह पासे के खेल में 'दाँव पर लगी वस्तु' का भी द्योतक[2] है। कुछ स्थलों पर सम्भवतः इसका अर्थ स्वयं 'प्रतियोगिता' ही है।[3] अधिक सामान्यतया यह 'सम्पत्ति' अथवा 'उपहार'[4] का द्योतक है; किन्तु कभी कभी सम्भवतः 'पुरस्कार' की अपेक्षा 'सम्पत्ति' की धारणा के आधार पर 'युद्ध-विजित-धन'[5] को ही व्यक्त करता है।

[1] ऋग्वेद १. ८१, ३; ६. ४५, २; ८. ८०, ८; ९. ५३, २; १०९, १०। तु० की० गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, १, १२०; पिशल: वही, १, १७१।

[2] ऋग्वेद १०. ३४, १०; अथर्ववेद ४. ३८, ३।

[3] ऋग्वेद १. ३१, ६; ५. ३५, ७; ७. ३८, ८; ८. ५, २६; ८, २१; ४९, ९; ५०, ९; १०. ४८, ५, इत्यादि।

[4] ऋग्वेद १. ४२, ६; १०. १८, २; ८४, ७; अथर्ववेद १. १५, ३; २. ७, ४; ३. १५, २; ५. १९, ९; ६. ८१, १; ७. ८१, ४; ८. ५, १६, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद १. ७४, ३; १५७, २, इत्यादि।

धन-धानी (धनागार) का तैत्तिरीय आरण्यक (१०.६७) में उल्लेख है।

धनिष्ठा (अत्यन्त सम्पन्न) बहुवचन में प्रयुक्त यह, बाद में एक नक्षत्र, *श्रविष्ठा* का नाम[1] है।

[1] शान्तिकल्प, १३; शाङ्खायन गृह्यसूत्र १. २६।

धनु (स्त्रीलिङ्ग) ऋग्वेद[1] में अनेक बार 'किन्तु केवल अन्तरिक्ष के मेघों' के लाक्षणिक आशय में ही आता है। अथर्ववेद[2] में 'धनू' मिलता है जहाँ यह रक्तस्राव बन्द करने के लिये प्रयुक्त बालू की पोटली का द्योतक प्रतीत होता है।[3] तु० की० धन्वन्।

[1] १. ३३, ४; १४४, ५; ८. ३, १९; १०. ४, ३; २७, १७।

[2] १. १७, ४

[3] वेबर: इन्डिशे स्टूडियन ४, ४११; ह्विट्नी: अथर्ववेद का अनुवाद १८; ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त २५९, २६०।

धनुस् (धनुष), जिसका ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अक्सर उल्लेख है, वैदिक भारतीयों का प्रमुख अस्त्र था।[3] अन्त्येष्टि संस्कार का अन्तिम कृत्य मृतक के दाहिने हाथ से धनुष को पृथक करना होता था।[4] यह अस्त्र धनुषाकार (वक्र)[5] झुकाये हुये मज़बूत डण्डे तथा उसके दोनों किनारों को सम्बद्ध करने-वाली गो-चर्म[6] की बनी प्रत्यञ्चा (*ज्या*) से मिलकर बना होता था। प्रत्यञ्चा बँधे होने पर धनुष के दोनों किनारों को *आर्त्नी* कहा गया है। वास्तविक व्यवहार में न लाई जाने वाली शिथिल धनुष को प्रयोग में लाने के समय विशेष रूप से कस लिया जाता था।[7] धनुष के व्यवहार के विभिन्न स्तरों का वाजसनेयि संहिता में विस्तार से वर्णन किया गया है :[8] धनुष का कसना (आ-तन्), बाण का रखना (प्रति-धा), धनुष को झुकाना (आ-यम्), और बाण मारना (अस्)। बाण को कान के पास तक खींच कर छोड़ा जाता था[9], और इसीलिये उसे 'कर्ण-योनि'[10] (कान जिसकी उत्पत्ति का स्थान हो) कहा गया है। धनुष का निर्माण एक नियमित व्यवसाय (धनुष्-कार,[11] धनुष्-कृत्[12]) था। बाण के लिये इषु और हस्तत्राण के लिये हस्तघ्न देखिये।

[1] ८. ७२, ४; ७७, ११; ९. ९९, १; १०. १८, ९; १२५, ६।

[2] अथर्ववेद ४. ४, ६; ६, ६; ५. १८, ८; ७. ५०, ९; वाजसनेयि संहिता १६. १०; पञ्चविंश ब्राह्मण ७. ५, ६; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १४; शतपथ ब्राह्मण १. ५, ४, ६; ५. ३, १, ११, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद ६. ७५, २। व्यवहारतः वैदिक कालीन युद्ध में कोई अन्य आयुध महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता।

[4] ऋग्वेद १०, १८, ९।

[5] अथर्ववेद ४. ६, ४।

[6] ऋग्वेद ६. ७५, ११; अथर्ववेद १. २, ३

[7] ऋग्वेद १०. १६६, ३; अथर्ववेद ६. ४२, १

[8] १६. २२

[9] ऋग्वेद ६. ७५, २ और बाद। इसी प्रकार महाकाव्य में भी, हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २७१। होमर-कालीन विधि वक्षस्थल तक खींचना है, उदाहरण के लिये, इलियड ४. १२३।

[10] ऋग्वेद २. २४, ८

[11] ३०. ७

[12] १६. ४६

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २९८, २९९; हॉपकिन्स, उ० पु०, १३, २७० और बाद। महाकाव्य के धनुष लम्बाई में प्रायः साढ़े पाँच फुट और बाण तीन फुट के होते थे।

१. धन्वन् (धनुष) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में अक्सर मिलता है। 'इषु-

[1] २. २४, ८; ३३, १०; ६. ५९, ७; ७५, २; ८. २०, २; ९. ६९, १; निरुक्त ९. १७।

[2] अथर्ववेद १. ३, ९; ४. ४, ७; ११. ९, १, इत्यादि : वाजसनेयि संहिता १६. ९, इत्यादि।

धन्व'[3] (धनुष और बाण), 'आज्य-धन्व'[4] (परिष्कृत घृत जिसका धनुष हो), 'अधिज्य-धन्व'[5] (प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष), इत्यादि यौगिक रूपों में भी यह मिलता है। तु० की० धनुस्

[3] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १९; 'इषु-धन्विन्', तैत्तिरीय संहिता ५. १, २

[4] ऐतरेय ब्राह्मण १. २५

[5] शतपथ ब्राह्मण ९. १, १, ६।

२. धन्वन् (मरुभूमि) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बार बार उल्लेख है। मरुभूमि में प्यास से मृत्यु हो जाना दुर्लभ नहीं था[3]। मरुभूमि में जल-धारा के महत्त्व को भी पूर्णतया स्वीकार किया गया है।[4] *सिन्धु* और *शुतुद्री* (सतलज) नदियों के पूर्व में स्थित महान मरुभूमि का सम्भवतः ऋग्वेद के एक सूक्त में उल्लेख है।[5]

[1] २. ३८, ७; ३. ४५, १; ४. १७, २; १९, ७; ३३, ७; ५. ५३, ६; ८३, १० इत्यादि। १. ११६, ४ में समुद्र के तट का उल्लेख है।

[2] अथर्ववेद ५. १३, १; ६. १००, १; ७. ४१, १, इत्यादि।

[3] ऐतरेय ब्राह्मण २. १९

[4] ऋग्वेद १०. ४, १। तु० की० ६. ३४, ४, इत्यादि; अथर्ववेद १. ६, ४; १९. २, २।

[5] १०. ८६, २०

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ४७, ४८।

धमनि (नरकट)—ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर और निरुक्त[2] में आने वाले एक उद्धरण में, यह 'नालिका' का द्योतक प्रतीत होता है। अथर्ववेद[3] में यह सम्भवतः 'नस' अथवा 'धमनी', अथवा अधिक सामान्यतया, 'अँतड़ियों' का द्योतक है, और कुछ स्थलों[4] पर *हिरा* के साथ भी संयुक्त है।

[1] २. ११, ८

[2] ६. २४

[3] १. १७, २३; २. ३३, ६; ६. ९०, २; ७. ३५, २।

तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ३. १९, २।

[4] १. १७, ३; ७. ३५, २।

तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २५९, ५४६।

धरुण, वाजसनेयि संहिता (८.५१) के एक स्थल पर 'दूध पीते बछड़े का द्योतक है।

धर्म[1], धर्मन्[2]—इनमें से प्रथम ऋग्वेद[1] में, और दोनों ही बाद[2] में, 'विधान' अथवा 'प्रचलन' के लिये व्यवहृत नियमित शब्द हैं। किन्तु नैयायिक व्यवस्था तथा प्रचलित विधान-संहिता के सम्बन्ध में आरम्भिक साहित्य में उपलब्ध प्रमाण अत्यन्त कम हैं। दूसरी ओर, धर्म-सूत्रों[3] में इनका पूर्ण विवरण मिलता है।

(१) दण्ड-विधान :—महत्त्व की दृष्टि से वैदिक साहित्य में मान्य अपराधों में अत्यन्त विविधता है। वास्तविक अपराधों, तथा जिन्हें आज काल्पनिक शारीरिक दोष, अथवा केवल परम्परागत प्रचलनों का उल्लङ्घन माना जाता है, उनके बीच सिद्धान्ततः कोई स्पष्ट विभेदीकरण नहीं मिलता है।[4] वर्णित अपराधों के अन्तर्गत 'भ्रूण-हत्या'[5], मनुष्य-हत्या (वीर)[6], और एक अधिक गम्भीर अप-

[1] १. २२, १८; १६४, ४३. ५०; ३. ३, १; १७, १; ६०, ६; ५. २६, ६; ६३, ७; ७२, २, इत्यादि; अथर्ववेद १४. १, ५१; वाजसनेयि संहिता १०. २९, इत्यादि। तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, ९०।

[2] 'धर्म', अथर्ववेद ११. ७, १७; १२. ५, ७; १८. ३, १; तैत्तिरीय संहिता ३. ५, २, २; वाजसनेयि संहिता १५. ६; २०. ९; ३०. ६, इत्यादि, में मिलता है।

[3] देखिये, जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे; फॉय : डी० गे०; बूह्लर : से० बु० ई० २ और १४।

[4] तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. १, ९ की तालिका; काठक संहिता ३१. ७; कपिष्ठल संहिता ४७. ७; और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ११ (देखिये डेलब्रुक : डी० व०, ५७९ और बाद) जहाँ दैहिक दोष (दूषित नख और कुरूप दाँत), बड़ी बहन के रहते हुये छोटी बहन के साथ विवाह, को हत्या के साथ रक्खा गया है, यद्यपि उसके साथ समीकृत नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् ५. ११, ५, भी देखिये, जहाँ 'अश्वपति' की पापियों की तालिका में मद्यसेवी, चोर, और यज्ञाग्नि प्रज्वलित न रखने वालों को भी सम्मिलित किया गया है।

[5] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०. २; काठक संहिता २७. ९; ३१. ७; कपिष्ठल संहिता ४१. ७; मैत्रायणी संहिता ४. १, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, १२; तैत्तिरीय आरण्यक २. ७, ८; ८, ३; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, २२; निरुक्त ६. २७; कौषीतकि उपनिषद् ३. १। तु० की० अथर्ववेद ६. ११२, ३; ११३, २; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, ४८१; १०, ६६; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५२२; अ० फा० १७, ४३०।

[6] काठक ३१, ७; कपिष्ठल, उ० स्था०; मैत्रायणी, उ० स्था०; तैत्तिरीय ब्राह्मण उ० स्था०; वाजसनेयि संहिता ३०. ५, और तु० की० **वैर**। वैध हत्या के उदाहरणों के लिये देखिये, वसिष्ठ धर्म सूत्र ३. १५–१८। तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ३, १२, में **वृश जान** की कथा, जिसमें असावधानी से रथ चलाने के कारण एक बालक की

मृत्यु का उल्लेख है, और जिसके लिये राजा को उसके पुरोहित द्वारा भर्त्सना की गई है। राजा और पुरोहित इस अपराध के सम्बन्ध में विवाद करते है, और एक कथन के अनुसार (देखिये सीग : सा० ऋ० ६६, ६७) इक्ष्वाकुओं ने यह निर्णय किया कि उक्त कार्य पाप पूर्ण है तथा उसके लिये प्रायश्चित आवश्यक है।

राध ब्राह्मण हत्या[७], आदि आते हैं। विश्वासघात के लिये पञ्चविंश ब्राह्मण[८] में मृत्य-दण्ड का उल्लेख है, और बाद[९] में भी इसके लिये इसी दण्ड की व्यवस्था मिलती है। किन्तु राजा अथवा जाति में निहित किसी व्यवस्थित दण्डात्मक न्याय-विधान का कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि बदला लेने (वैर) की पद्धति ही प्रचलित थी, जो यह व्यक्त करती है कि दण्ड-निर्णय उसी के अधिकार में होता था जिसके विरुद्ध कोई अपराध किया गया होता था। दूसरी ओर, सूत्रों[१०] में अपराध को राजा की शान्ति व्यवस्था का उल्लङ्घन माना गया है, और इसके लिये अपराधियों द्वारा, राजा को, अथवा धर्म-शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण लोगों को, अर्थदण्ड समर्पित किये जाने की व्यवस्था है। अतः इस अनुमान के लिये उचित आधार हैं कि राज-शक्ति के क्षेत्र में क्रमशः वृद्धि हुई होगी; शतपथ ब्राह्मण में राजा द्वारा दण्ड देने के अधिकार के सन्दर्भ इस मान्यता को पुष्ट करते हैं। जैसा कि अन्य पद्धतियों की तुलना द्वारा व्यक्त होता है, राजा अपने नैयायिक कार्यों में, सम्भवतः ब्राह्मण जाति के न्यायाधीशों

[७] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, २; ५. ३, १२, १; ६. ५, १०, २; काठक संहिता ३१. ७ (जहाँ कपिष्ठल में 'ब्रह्म-ज्य' है); तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, १२। तैत्तिरीय आरण्यक १०. ३८ यह व्यक्त करता है कि केवल ब्राह्मण का वध ही वास्तविक हत्या है; शतपथ ब्राह्मण १३. ३, १, १ और बाद, में यह कथन है कि ब्राह्मण हत्या के पाप का केवल अश्वमेध यज्ञ द्वारा ही प्रायश्चित हो सकता है। निरुक्त ६. २७ भी देखिये। बाद की परम्परा 'भ्रूण' को भी ब्राह्मण के रूप में व्यक्त करती है (देखिये, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४१०, नोट, में उद्धृत शंकर; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ३०, नोट ५; कोनो : सामविधान ब्राह्मण, ४६, नोट १, और तु० की० वसिष्ठ धर्म सूत्र २०. २३)।

[८] १४. ६, ८, कुत्स की कथा।

[९] जौली : उ० पु० १२७।

[१०] देखिये, बूहलर : से० बु० ई० १४, ३४५, में उद्धृत सन्दर्भ।

से भी सहायता लेता था। बाद में भी निश्चित रूप से ऐसा होता था अथवा नहीं यह स्पष्ट रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता।[11]

अलग अलग अपराधों के दण्ड की पद्धति सर्वथा अनिश्चित है। छान्दोग्य उपनिषद्[12] में चोरी के अपराधी के विरुद्ध लाल-तप्त कुठार की यंत्रणा का उल्लेख मिलता है। प्रत्यक्षतः यही समझा जाना चाहिये कि राजा की आज्ञा से ही यह दण्ड दिया जाता था। किन्तु वैदिक साहित्य में किसी अन्य नैयायिक यन्त्रणा का उल्लेख नहीं मिलता (देखिये *दिव्य*)। कुछ दशाओं में चोरी के लिये, मुख्यतः उस समय जब चोर रँगे हाँथों पकड़ लिया जाता था, कम से कम मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था मिलती है;[13] अन्य दूसरी दशाओं में, सम्भवतः चोरी की हुई वस्तुओं को लौटाने के अतिरिक्त चोर को स्तम्भ से बाँध दिये जाने का दण्ड दिया जाता था।[14] छान्योग्य उपनिषद्[15] में दी हुई अपराधों की तालिका में स्वर्ण की चोरी, मद्यपान, गुरु की शय्या को अपवित्र करना, और ब्राह्मण-हत्या का उल्लेख है, जो सभी प्रायः एक ही कोटि के दुष्कर्म हैं।

(२) सम्पत्ति-सम्बन्धी विधानः—वैदिक साहित्य में सम्पत्ति-सम्बन्धी विधान का बहुत कम विवरण मिलता है। परिवार के सम्बन्धियों तथा पारिवारिक सम्पत्ति की समस्याओं का *उर्वरा*, *क्षेत्र*, *पति* आदि के अन्तर्गत, और उत्तराधिकार तथा सम्पत्ति के बँटवारे का *दाय* के अन्तर्गत विवेचन किया गया है। चल-सम्पत्ति के अधिकार के स्थानान्तरण के लिये—क्योंकि भूमि के स्वामित्व के स्थानान्तरण को इस समय तक कदाचित ही मान्यता मिल सकी थी, और

[11] 'त्र्यरुण' द्वारा हत बालक की मृत्यु की कथा, और ऊपर के नोट ६ में वर्णित 'इक्ष्वाकुओं' के निर्णय, तथा काठक संहिता २७. ४ में व्यक्त इस बातके बीच तुलना कीजिये कि एक राजन्य 'अध्यक्ष' है जब कि एक शूद्र दण्डित (हन्) होता है।

[12] ६. १६। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर, ७२, ७३।

[13] गौतम धर्म सूत्र १२. ४३; आपस्तम्ब धर्म सूत्र १. ९, २५, ४।

[14] देखिये अथर्ववेद १९. ४७, ९; ५०, १, और **तस्कर**।

[15] ५. १०, ९। तैत्तिरीय आरण्यक १०. ६५ में एक अन्य तालिका दी हुई है जिसमें ब्राह्मण की हत्या, गुरु की शय्या को अपवित्र करना, गाय चुराना, सुरापान, और भ्रूण-हत्या आदि के साथ-साथ श्राद्ध कर्म की अनियमिततायें भी सम्मिलित हैं। तु० की०, सात की एक तालिका के लिये निरुक्त ६. २७ भी। सामविधान ब्राह्मण में अनेक अन्य भी आते हैं किन्तु इस ग्रन्थ को विशुद्ध अर्थों में एक ब्राह्मण नहीं माना जा सकता।

यद्यपि यज्ञ की *दक्षिणा* के लिये यह अपवाद है, तथापि बाद में उसे भी अमान्य किया गया है[16]—मान्य विधियाँ *दान*, विनिमय, और विक्रय (*क्रय*) हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मूलतः भूमि का अर्जन, अधिकृत कर लेने अथवा जाति के लोगों के बीच विभाजन द्वारा किया जाता था;[17] जब कि चल सम्पत्ति का उस दशा में अर्जन कर लिया जाता था जब वह अपनी भूमि पर प्राप्त होती थी, अथवा मूलतः किसी अन्य की सम्पत्ति न होने पर अनधिकृत भूमि पर ही मिलती थी। खोई हुई सम्पत्ति के विनिमय के लिए सूत्रों[18] में नियम मिलते हैं जिनके अनुसार उसे पानेवाला व्यक्ति, यदि वह ब्राह्मण न हुआ तो, कुछ प्रतिशत अपने लिये रख कर शेष सम्पत्ति राजा को समर्पित कर देता था, और यदि ब्राह्मण हुआ तो सभी सम्पत्ति स्वयं रख लेता था। अर्थ-ऋण (जिसके लिये देखिये *ऋण*) के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अनुबन्धों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में वस्तुतः कुछ भी विवरण उपलब्ध नहीं है, और निःसन्देह आरम्भिक काल में व्याप्त आदिम अवस्था के कारण ही ऐसी स्थिति है। अधिकांश श्रम, जिसे अपेक्षाकृत अधिक विकसित समाज में किराये के श्रमिकों द्वारा ही कराया जाता, उस समय दासों से लिया जाता था (तु० की० *दास*, *शूद्र*), जब कि गाँव के कला-कुशल कर्मचारियों को—जिनकी वाज-सनेयि संहिता[19] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[20] में लम्बी तालिकायें मिलती हैं—उनके किसी कार्य विशेष के लिए नहीं वरन् केवल एक निश्चित पारि-श्रमिक दिया जाता था, जैसा कि बहुत कुछ आधुनिक समय में भी गाँव के नौकरों की दशा में होता है।[21] फिर भी, इसे केवल अनुमान का ही विषय मानना चाहिये, और यह अनिश्चित है कि बढ़इयों तथा शिल्पकारों का

[16] शतपथ ब्राह्मण १३. ७, १, १३।

[17] तु० की० सीज़र : बेलम गैलिकम, ४. १; ६. २२; टेसिटस : जर्मेनिया, २६, जर्मनी के लिये; मॉमसेन : रो० स्टा० ३, १, २१, रोमन 'होर्तस' के लिये; और लैङ्ग : होमर ऐण्ड दि इपिक २३६–२४१; रिजवे : जर्नल ऑफ़ दि हेलेनिक स्टडीज़ ६, ३१९ और बाद; ग्रोट : हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, २, ३६, ३७, आदि, यूनानी 'क्लेरोस' κλῆρος के लिये। पोलक और मेटलैण्ड: हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लॉ, २, ३३७ और बाद; बैडेन पावेल : विलेज कम्युनिटीज़ ऑफ इन्डिया ६ और बाद; १३१, आदि भी देखिये।

[18] गौतम धर्म सूत्र १०. ३६ और बाद।

[19] ३०।

[20] ३. ४। देखिये त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ४२६ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ७५ और बाद।

[21] तु० की० मेन : विलेज कम्युनिटीज़ १२७, १७५; बैडेन पावेल : उ० पु० १२४ और बाद; ग्रोट : हिस्ट्री ऑफ ग्रीस २, ३६, नोट २।

गाँव में ठीक ठीक क्या स्थान था। इसी प्रकार आरम्भिक साहित्य में, दूसरों को क्षति पहुँचानेवाले अपराधों से सम्बन्धित वैधानिक सिद्धान्तों अथवा प्रचलनों के स्वरूप का कोई चिह्न ढूँढ़ पाना भी असम्भव है, यद्यपि अपमान सम्बन्धी दण्ड के नियम सूत्रों[२२] में मिलते हैं।

वैधानिक विधि के सम्बन्ध में बहुत कम विवरण उपलब्ध है। अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका[२३] में एक 'प्रश्निन्', एक 'अभि-प्रश्निन्', और एक 'प्रश्न-विवाक' सम्मिलित किये गये हैं, जिनमें क्रमशः 'वादी', प्रतिवादी, और 'मध्यस्थ' अथवा 'न्यायाधीश' का आशय देखना अनुचित नहीं है। यह तीनों शब्द, नैयायिक विधि अथवा स्वेच्छित मध्यस्थता के सम्भवतः प्रारम्भिक रूप को, व्यक्त करते हैं। ऋग्वेद[२४] में आने वाले 'मध्यम-शी' (मध्य में स्थित) शब्द द्वारा भी यही आशय व्यक्त हो सकता है, और रॉथ[२५], जिनका त्सिमर[२६] ने अनुगमन किया है, इसे मध्यस्थ अथवा न्यायाधीश के अर्थ में ग्रहण करते हैं, और ऐसा मानते हैं कि यह व्याहृति न्यायाधीश के अन्य नैयायिक व्यक्तियों के साथ कार्य करने[२७] तथा सम्भवतः एकत्र व्यक्ति-समूह से घिरे होने के कारण ही व्युत्पन्न हुई हो सकती है। किन्तु ऐसी व्याख्या अनिश्चित है। ह्विट्ने[२८] का विचार है कि इस शब्द से केवल एक ऐसा प्रधान व्यक्ति ही उद्दिष्ट है जिसके चारों ओर उसी के मनुष्य शिविरस्थ हों। राजा ही बाद में प्रधान न्यायाधीश बन गया, और सम्भवतः जाति के प्रधानों के साथ सम्मिलित रूप से पहले भी ऐसा ही रहा हो सकता है, किन्तु इस निष्कर्ष के लिये हम केवल अनुमान का ही आश्रय ले सकते हैं।[२९]

२२ तु० की० जौली : उ० पु० १२६-१२८।

२३ वाजसनेयि संहिता ३०. १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ६, १।

२४ १०. ९७, १२ = अथर्ववेद ४. ९, ४ = वाजसनेयि संहिता १२. ८६। जैमिनीय ब्राह्मण २. ४०८ में 'मध्यमशीवन्' का आशय सर्वथा सन्दिग्ध है।

२५ सीबनेलिग लीडर, १७४। यह तथ्य लैनमैन के इस विचार को सन्दिग्ध बना देता है (ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १५९) कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में, इसकी Intercessor (परार्थ प्रार्थक) के रूप में व्याख्या करते हुए, 'मध्यस्थ' नहीं वरन् प्रतिपक्षी अर्थ है।

२६ आल्टिन्डिशे लेबेन १८०।

२७ जैसा कि प्रत्यक्षतः आरम्भिक जर्मनों में था। देखिये लीज़र : वेल्श गेलिकन ६. २३; टेसिटस : जर्मेनिया ११. १२; कूलैन्जेज़ : रि० हि० ३६१ और बाद।

२८ देखिये नोट २५।

२९ तु० की० बाद का 'परिषद्', गौतम धर्म सूत्र २८. ४८. ४९; बौधायन धर्म सूत्र १. १, ७-१६; वसिष्ठ धर्म सूत्र, ११. ५-७, २०; जौली : उ० पु०, १३२ और बाद। अन्य आर्य

जातियों से समानतायें न्यायाधीशों की व्यवस्था को व्यक्त करती है, जैसा कि ऐंग्लो-सैक्सन कचहरियों में भी होता था। तु० की० सोम : आ० रे० गे० ६ और बाद।

प्रमाण के रूप में साक्षी का उपयोग अनिश्चित है (देखिये *ज्ञातृ*), और *वत्स* तथा उसके प्रतिद्वन्दी के बीच प्रथम के ब्राह्मण-वंशीय होने के विवाद के के अपवाद के अतिरिक्त, जिसका समाधान उसके अग्नि की ज्वाला के बीच से चलकर अक्षत निकल आने के द्वारा किया जाता था[30], माल सम्बन्धी विषयों के निर्णय में यंत्रणा के प्रयोग का कोई विवरण नहीं मिलता। किन्तु यह सम्भवतः इस बात का उदाहरण हो सकता है कि विवादों का निर्णय करने के लिये यंत्रणा का प्रयोग होता था। शपथ का भी इस कार्य के लिये प्रयोग होता था अथवा नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि वैधानिक विषयों में अ-ब्राह्मण की अपेक्षा ब्राह्मण को अधिक प्रश्रय दिया जाता था।[31]

पुलिस कर्मचारियों के सम्बन्ध में अत्यन्त कम सन्दर्भ मिलते हैं : इसमें सन्देह नहीं कि दण्ड को कार्यान्वित करने और अपराधियों को बन्दी बनाने के लिये राजा अपने कुछ आश्रितों को नियुक्त करता था (देखिये *उग्र*, *जीवगृभ्*)।

(३) नैतिकता:—इस शीर्षक के अन्तर्गत लोगों की नैतिक स्थिति से सम्बन्धित विविध विषयों, जैसे (क) शिशुओं का परित्याग, (ख) वृद्धों का परित्याग, (ग) वेश्यावृत्ति, (घ) व्यभिचार, (ङ) अनाचार, आदि का अलग-अलग विवेचन अधिक सुविधाजनक होगा।

(क) त्सिमर[32] ने काठक संहिता[33] के एक स्थल के आधार पर बालिका-शिशुओं के परित्याग के प्रचलन का उल्लेख किया है, किन्तु यह स्पष्ट

[30] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ६. ६।

[31] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ११, ९, जो ब्राह्मण तथा अ-ब्राह्मण के बीच किसी विवाद में या तो प्रमाण देने अथवा निर्णय सुनाने का उल्लेख करता प्रतीत होता है।

[32] आल्टिन्डिशे लेवेन, ३१९, ३२०। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, ५४ २६०; केगी : डर ऋग्वेद, नोट ४९; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३८९, ३९०; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ६, १४२; पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ४८; आदि भी।

[33] २७. ९। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, ३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. १७, १२; निरुक्त ३. ४।

प्रतीत होता है कि इस स्थल को मिथ्याग्रहण किया गया है[३४], और इससे केवल बालिका का परित्याग नहीं वरन् उसे एक किनारे लेटा देना मात्र उद्दिष्ट है, जब कि एक बालक को गोद में उठा लिया जाता था। फिर भी, यह सत्य है कि बालिका का जन्म बिल्कुल लोकप्रिय नहीं था, और यह आरम्भिक समाज की अस्वाभाविक मनोवृत्ति नहीं है क्योंकि अन्य आर्य जातियों में भी इसकी समता उपलब्ध है।[३५]

(ख) त्सिमर[३६] ने ऋग्वेद[३७] के एक स्थल, और अथर्ववेद[३८] में परित्यक्त व्यक्ति (उद्-हिताः) के उल्लेख के आधार पर वृद्ध व्यक्तियों के परित्याग का भी निष्कर्ष निकाला है। उक्त बाद के स्थल पर मृत्यु के पश्चात् शव को पञ्चतत्त्वों के अधीन छोड़ देने मात्र का ही आशय हो सकता है, जैसा कि पारसियों द्वारा भी किया जाता है। प्रथम स्थल पर केवल कुछ ऐसे व्यक्तियों मात्र का उल्लेख है जिन्हें त्यक्त छोड़ दिया गया हो सकता है, किन्तु इससे किसी व्यवहृत अथवा मान्य प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता, और न तो *च्यवान* के आख्यान द्वारा ही इस प्रकार के किसी प्रचलन का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

(ग) ऋग्वेदिक काल में वेश्यावृत्ति का अस्तित्व निश्चित है किन्तु इसकी व्यापकता अथवा सीमा के सम्बन्ध में विवाद हो सकता है। भ्रातृ-विहीन कन्यायें अक्सर वेश्या बनने के लिये विवश हो जाती थीं।[३९] एक अवैध

[३४] बौटलिङ्क : त्सी० गे० ४४, ४९४–४९६। इस स्थल का परम्परागत अनुवाद इसमें 'परित्याग' का नहीं वरन् विवाह के समय पुत्री से मुक्त होने का आशय निहित मानता है।

[३५] अथर्ववेद ८. ६, २५, ऐतरेय ब्राह्मण ७. १५; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४०९; त्सिमर : उ० पु० ३२०; श्रेडर : उ० पु० ३९०।

[३६] उ० पु०, ३२७, ३२८। स्ट्राबो, पृ० ५१३, ५१७, ५२०, ईरान, बैक्ट्रिया आदि देशों में भी इस प्रचलन का उल्लेख करता है; यह नॉर्समेन के बीच भी प्रचलित था, वीनहोल्ड : आल्टनॉर्डिशे लेबेन ४७३, और अनुमानतः आरम्भिक रोमनों के बीच भी (सिसेरो : प्रो रोसियो, १००; किन्तु यह तथा अन्य बातें वास्तव में सूख गई वनस्पति-आत्मा को पुनरुज्जीवित करने के लिये उसे जल में फेंक देने की उदाहरण हो सकती हैं)। देखिये केगी : उ० पु० नोट ५०; श्रेडर : उ० पु० ३७९, नोट।

[३७] ८. ५१, २।

[३८] १८. २, ३४। देखिये **अनग्निदग्ध**।

[३९] ऋग्वेद १. १२४, ७; ४. ५, ५; अथर्ववेद १. १७, १; और तु० की० **अयोगू**

सन्तान को छोड़ देने का भी ऋग्वेद में सन्दर्भ मिलता है।[४०] साथ ही साथ 'पुंश्चली'[४१], और 'महानग्नी'[४२] आदि शब्दों के अतिरिक्त, जिनका निश्चित रूप से 'वेश्या' ही अर्थ है, वेश्यावृत्ति के अन्य स्पष्ट सन्दर्भ भी मिलते हैं।[४३] 'कुमारी-पुत्र'[४४] तथा 'अविवाहित कन्या के पुत्र' (अग्रू) का ऋग्वेद[४५] के अनुसार परित्याग, और उन पर पशुओं का आक्रमण होना भी, इसी दिशा में संकेत करता प्रतीत होता है। वाजसनेयि संहिता[४६] वेश्यावृत्ति को एक व्यवसाय मानता हुआ प्रतीत होता है। पिशल[४७] ऋग्वेद में विनीत गणिकाओं के अनेक सन्दर्भ देखते हैं, जो, जैसा कि गेल्डनर[४८] ज़ोर देते हैं, अपनी कल्पना में भारतीय राजाओं द्वारा राज-नर्तकियों के साथ व्यतीत जीवन को प्रतिभासित करता है। किन्तु इस विषय पर इन दोनों विद्वानों के दृष्टिकोण की उपयुक्तता किसी भी प्रकार निश्चित नहीं है।[४९]

(घ) व्यभिचार को आर्य जातियों में प्रभावित स्त्री के पति के विरुद्ध किया गया गम्भीर अपराध माना जाता था। इसीलिये हम भारत के धर्म-शास्त्रों में इस नियम के चिह्न देखते हैं कि व्यभिचार के समय पकड़े जाने पर व्यभिचारी का वैधतः वध तक कर दिया जा सकता है।[५०] फिर भी, वेबर[५१] ने वैदिक काल में इस प्रकार के विषयों में अरुचि व्यक्त करने वाली कुछ

[४०] २. २९, १। तु० की० मैक्स मूलर : उ० पु०, २६।

[४१] अथर्ववेद १५. २, इत्यादि।

[४२] अथर्ववेद १४. १, ३६; २०. १३६, ५ और बाद; ऐतरेय ब्राह्मण १. २७। तु० की० अथर्ववेद ५. ७, ८ में 'नग्ना'

[४३] ऋग्वेद १. १६७,४ (विलसन : ऋग्वेद का अनुवाद, २, १७), को कदाचित ही इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है; देखिये त्सिमर : उ० पु० ३३२, नोट। मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, २७७, इसकी 'बहुभर्तृत्व' के रूप में व्याख्या करते हैं; किन्तु यह और भी सन्दिग्ध है; किन्तु देखिये ऋग्वेद ८. १७, ७।

[४४] वाजसनेयि संहिता ३०. ६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, २, १।

[४५] ४. १९, ९; ३०. १६. १९; २. १३, १२; १५, १७; त्सिमर : उ० पु० ३३४, ३३५।

[४६] प्रत्यक्षतः वाजसनेयि संहिता ३०. १५, में 'अतिष्कद्वरी' (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ११, १ में 'अपस्कद्वरी'), 'अतीत्वरी', 'विजर्जरा' आदि उपाधियों से यही अर्थ है।

[४७] वेदिशे स्टूडियन i, xxv; १९६, २७५, २९९, ३०९, इत्यादि; २, १२०।

[४८] वही २, १५४।

[४९] तु० की० विन्टर्निज़ : गे० लि० १, ६०; जौली : उ० पु० ४८।

[५०] डेल्ब्रुक : आ० जे० २७६ और बाद, ३०९।

[५१] इन्डिशे स्टूडियन १०, ८३ और बाद।

सामग्री प्रस्तुत की है। और लुडविग[52] ने भी इसी दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। किन्तु, जैसा कि डेलब्रुक[53] ने दिखाया है, उक्त सामग्री विश्वसनीय नहीं है। किसी संस्कार के समय दूसरे की स्त्री के साथ सम्बन्ध-निषेध के उद्धृत निर्देश[54] का यह अर्थ नहीं है कि अन्यथा इस प्रकार के सम्बन्ध की अनुमति थी : 'वरुण-प्रघासस्' नामक संस्कार[55], जिसमें एक पत्नी अपने प्रेमी अथवा प्रेमियों का नामोल्लेख करती है, मूलतः पतिता पत्नी के कारण परिवार पर लगे लांछन के प्रभाव को बहिष्कृत करने का एक पवित्र माध्यम है। *याज्ञवल्क्य* के प्रसिद्ध कथन[56] का यह अनुवाद कि कोई इस बात पर ध्यान नहीं देता कि एक पत्नी पतिता (परः पुंसा) है अथवा नहीं, सर्वथा त्रुटिपूर्ण है[57], क्योंकि 'परः पुंसा' व्याहृति का वास्तविक अर्थ 'पुरुषों से दूर' है। और कुछ स्थलों[58] पर व्यक्त किसी ऋषि से उद्भूत होने की अनिश्चितता संदिग्ध आनुवंशिकता की द्योतक नहीं है वरन् ऐसे कथन का कारण यह है कि ऋषित्व का निर्णय एक कठिन समस्या थी। परन्तु इसके साथ ही बहुपत्नीत्व के प्रचलन ने स्त्री की मर्यादा को घटा दिया, और अहल्या तथा इन्द्र[59] सम्बन्धी कथाओं की बहुत उच्च नैतिकस्तर के साथ संगति नहीं है। आर्य पुरुषों और शूद्र स्त्रियों के सम्बन्ध के यजुर्वेद[60] में उपलब्ध सन्दर्भ, तथा एक 'श्रोत्रिय' (ब्राह्मण धर्मशास्त्री) की पत्नी के साथ सम्बन्ध के प्रायश्चित के लिये बृहदारण्यक उपनिषद्[61] में दिया हुआ मंत्र, बहुत कुछ उक्त निष्कर्ष की ही ओर संकेत करते हैं।

(ङ) अनाचार :—भाई तथा बहन के विवाह को अनाचार माना गया है, जैसा कि ऋग्वेद[62] में वर्णित 'यम' और 'यमी' के उस आख्यान से व्यक्त होता है जो स्पष्ट रूप से संकेत करता है कि इस प्रकार का विवाह वैदिक

[52] उ० पु० ५, ५७३।
[53] डी० व० ५४५ और बाद।
[54] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ८, ३; मैत्रायणी संहिता ३. ४, ७।
[55] मैत्रायणी संहिता १. १०, ११; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, २०।
[56] शतपथ ब्राह्मण १. ३, १, २१।
[57] इसी प्रकार बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०; डेलब्रुक : उ० पु० ५४८।
[58] मैत्रायणी संहिता १. ४, ११; गोपथ ब्राह्मण, लुडविग : उ० स्था० पर उद्धृत।
[59] तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथोलोजी, पृ० ६५।
[60] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, २. ३; वाजसनेयि संहिता २३. ३०.
[61] ६. ४, ११।
[62] १०. १०।

कालीन भावना द्वारा अनुमोदित नहीं था। एक अन्य सूक्त[63] भी है जिसमें इसी प्रकार के अनाचार का सन्दर्भ निहित प्रतीत होता है। ऋग्वेद[64] में प्रजापति और उनकी पुत्री के बीच भी विवाह-सम्बन्ध का उल्लेख है; फिर भी, ब्राह्मणों[65] में इसकी एक पुराकथा शास्त्रीय व्याख्या मिलती है और यही ठीक भी हो सकती है। फिर भी, अनाचार होता था, ऐसा अथर्ववेद[66] से स्पष्ट है। यद्यपि इस प्रकार के स्थलों की पुराकथाशास्त्रीय व्याख्याओं में औचित्य नहीं है, तथापि सूक्तों के आधार पर अनाचार-सम्बन्धों की सामान्यता के विषय में कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

[63] १०. १६२, ५।
[64] १०. ६१, ५-७।
[65] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, १; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ४, ४६, ४७; मैक्स मूलर उ० पु० ५२९, ५३०।
[66] ८. ६, ७।

१. *धव* एक वृक्ष (Grislea tormentosa) का नाम है जिसका *प्लक्ष*, *अश्वत्थ*, और *खादिर* के साथ-साथ अथर्ववेद[1] में उल्लेख है।

[1] ५. ५, ५; २०. १३७, ११। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६२।

२. *धव* (मनुष्य) निरुक्त[1] के पहले नहीं मिलता। इस शब्द का रूप स्पष्टतः 'विधवा' से ही निष्कृष्ट हुआ है जिसकी त्रुटिपूर्वक 'वि-धवा' (बिना पतिवाली) के रूप में व्याख्या की गई है।

[1] ३. १५। तु० की० नैघण्टुक २. ३।

धवित्र, जो शतपथ ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय आरण्यक[2] में आता है, यज्ञाग्नि के धमन के लिये प्रयुक्त चर्म के पंखे का द्योतक है।

[1] १४. १, ३, ३०; ३, १, २१।
[2] ५. ४, ३३।

धानं-जय्य (*धनं-जय* का वंशज) वंश ब्राह्मण[1] में *अंशु* का पैतृक नाम है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३। इसी पैतृक नाम से इसका लाट्यायन श्रौतसूत्र १. १, २५; २. १, २; ९, १०, इत्यादि में (अनेक पाण्डुलिपियों में 'धानंजप्य' के रूप में एक मिथ्या पाठ है) अक्सर उल्लेख है। तु० की० वेबर : इन्डियन लिटरेचर ७६, ७७, ८२।

'धाना' का, जो कि सदैव बहुवचन में ही प्रयुक्त हुआ है और जिसका ऋग्वेद[1] तथा बाद[2] में अक्सर उल्लेख है, 'अन्न के दाने' अर्थ है। कभी-कभी इन दानों को भूना (भृज्)[3], और सोम के साथ नियमित रूप से मिश्रित भी किया जाता था।[4]

[1] १. १६, २; ३. ३५, ३; ५२, ५; ६. २९ ४, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १८. ३, ६९, ४, ३२. ३४; वाजसनेयि संहिता १९. २१. २२; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ११, २ इत्यादि।

[3] ऋग्वेद ४. २४, ७।

[4] ऋग्वेद ३. ४३, ४; ५२, १; ८. ९१, २; तैत्तिरीय संहिता ३. १, १०, २; शतपथ ब्राह्मण ४. ४, ३, ९ तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिकिटीज़ २८३।

धान्य (क्लीव), जो पिछले शब्द[1] का ही एक व्युत्पन्न रूप है, सामान्य रूप से अन्न का द्योतक है। यह ऋग्वेद[2] और बाद[3] में मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[4] के अनुसार कृषित (ग्राम्याणि) अन्न के दस प्रकार हैं: चावल और जौ (व्रीहि-यवाः), तिल और माष (तिल-माषाः), सरसों और राई आदि की कोटि के धान्य (अणु-प्रियङ्गवः), ज्वार (गोधूमाः), मसूर (मसूराः), तथा 'खल' और 'कुल'। ऐतरेय[5] और शतपथ[6] ब्राह्मणों में अश्व को 'धान्याद' (धान्य खानेवाला) कहा गया है। ऋग्वेद[7] में मनुष्यों का अन्न को स्वच्छ करनेवालों (धान्या-कृत्)[8] के रूप में उल्लेख है।

[1] प्रमुखतः एक विशेषण 'अन्न से युक्त' के रूप में।

[2] ६. १३, ४।

[3] अथर्ववेद ३. २४, २. ४; ५. २९, ७; ६. ५०, १. कौषीतकि ब्राह्मण ११. ८; षड्विंश ब्राह्मण ५, ५, इत्यादि।

[4] ६. ३, २२ (माध्यन्दिन = १३ काण्व)

[5] ८. २१।

[6] १३. ५, ४, २।

[7] १०. ९४, १३।

[8] शब्दार्थ 'अन्न निर्मित करनेवाला'।

धान्व, शतपथ ब्राह्मण[1] में *असित* का पैतृक नाम है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में इस नाम का रूप 'धान्वन' है।

[1] १३. ४, ३, ११; आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७।

[2] १६. २, २०।

धामन्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'आवास' और 'गृह', अथवा कभी-

[1] १. १४४, १; २. ३, २; ३. ५५, १०; ७. ६१, ४; ८७, २; १०. १३, १, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. २५, ७; ७. ६८, १; १२. १, ५२; वाजसनेयि संहिता ४. ३४; तैत्तिरीय आरण्यक २. ७, २।

कभी[3] उसमें रहनेवाले व्यक्तियों का द्योतक है। 'विधान' अथवा 'नियम' के आशय में भी[4] यह शब्द बहुत कुछ *धर्मन्* जैसे अर्थ में, मुख्यतः 'ऋत' के साथ संयुक्त[5] होकर आता है। हिलेब्रान्ट[6] एक स्थल[7] पर इसमें *नक्षत्र* का आशय देखते हैं।

[3] ऋग्वेद ८. १०१, ६; ९. ६३, १४; १०. ८२, ३; अथर्ववेद २. १४, ६। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० (ग) पर दिये हुए अनेक उदाहरण सन्दिग्ध है।

[4] ऋग्वेद ४. ५५, २; ६. २१, ३; ७. ६३. ३; ८. ४१, १०; १०. ४८, ११।

[5] ऋग्वेद १. १२३, ९; ४. ७, ७; ७. ३६, ५; १०. १२४, ३।

[6] वेदिशे माइथौलोजी, १, ४४६।

[7] ऋग्वेद ९. ६६, २
तु० की० गेल्डनर: ऋग्वेद, ग्लॉसर, ९२, ९३।

धारा, कुठार (स्वधिति)[1] अथवा छुरे (क्षुर)[2] जैसे एक अस्त्र[3] की 'धार' का द्योतक है। *असि* भी देखिये।

[1] कौशिक सूत्र ४४।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३, २।

[3] ऋग्वेद ६. ३, ५; ४७, १०। तु० की० ८. ७३, ९; तैत्तिरीय आरण्यक ४. ३८, १, लाक्षणिक व्यवहार के लिये।

धिषणा, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार सोम पात्र अथपा कलश निर्मित करने के लिये प्रयुक्त एक उपकरण का[1], और सम्बद्ध आशय के कारण स्वयं सोमरस[2] का ही द्योतक है। लाक्षणिक[3] आशय में इसका द्विवाचक रूप 'दोनों लोकों', आकाश और पृथ्वी[4], को भी व्यक्त करता है। फिर भी, हिलेब्रान्ट[5] का विचार है कि उपयुक्ततः इस शब्द का पृथिवी'[6], द्विवाचक में 'आकाश और

[1] ऋग्वेद १. ९६, १; १०२, १; १०९, ३. ४; ३. ४९, १; ४. ३४, १; ३६, ८; ८. ६१, ९; ९. ५९, २; १०. १७, १२; ३०, ६; वाजसनेयि संहिता १. १९: ६. २६. ३५, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद १. १०२, ७; ३. ३२, १४; ४९, ४; ६. १९, २; ७. ९०, ३; ८. १५, ६; १०. ९६, १०, इत्यादि।

[3] चमू की भाँति।

[4] ऋग्वेद १. १६०, १; ६. ८, ३; ५०, ३; ७०, ३; १०. ४४, ८; बहुवचन में तीनों लोकों के लिये, ऋग्वेद ५. ६९, २। अन्य स्थलों पर, जैसे ऋग्वेद १. २२, १०; ३. ५६, ६; ५. ४१, ८; ६. ११, ३; १०. ३५, ७, 'धिषणा' से रौथ ने 'समृद्धि का एक देवता' आशय माना है।

[5] वेदिशे माइथौलोजी १, १७५-१८१।

[6] ऋग्वेद १. २२, १०; ९६, १; १०२, १; ३. ३१, १३; ५६, ६; ६. १९, २; ७. ९०, ३; ८. १५, ७; १०. ३०, ६; ३५, ७; ९६, १०।

पृथिवी,[7], बहुवचन में पृथिवी, अन्तरिक्ष, और आकाश की त्रयी[8], अर्थ है, जब कि कुछ स्थलों[9] पर 'धिषणा' भूमि में बनी 'वेदिका' का भी द्योतक है। फिर भी, यह निश्चित नहीं है, विशेषतः जब कि वाजसनेयि[10] और तैत्तिरीय[11] संहितायें 'धिषणा' (द्विवाचक) को उन दो पटरों के अर्थ में ग्रहण करती हैं जिन पर रखकर सोम दबाया जाता था (अधिषवण-फलके)[12]। 'पिशल[13], 'धिषणा' में 'अदिति' और पृथ्वी जैसी ही एक सम्पत्ति की देवी का आशय देखते हैं।

[7] देखिये नोट ३; ऋग्वेद ८. ६१, २ भी; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ८. १९, ४ में 'निविद्'।

[8] ऋग्वेद ४. ३६, ८; ५. ६९, २; ९. ५९, २।

[9] ऋग्वेद १. १०९, ३. ४; ३. २, १; ४९, ४ (अथवा सम्भवतः 'पृश्नी'); ४. ३४, १; ५. ४१, ८; ६. ११, ३; १०. १७, १२।

[10] ७. २६।

[11] ३. १, १०, १।

[12] वाजसनेयि संहिता ७. २६, पर महीधर; तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था० पर सायण।

[13] वेदिशे स्टूडियन, २, ८२-८७। तु० की० मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० १२४; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १२०-१२२।

धी (विचार) गायकों के 'प्रशस्ति सूक्तों' अथवा 'स्तुतियों का द्योतक है। इसका ऋग्वेद[1] में अनेक बार प्रयोग हुआ। एक कवि स्वयं अपने को ही इस प्रकार की स्तुतियों का रचयिता कहता है,[2] जब कि एक अन्य अपने उस 'प्राचीन पूर्वजों के सूक्त' का उल्लेख करता है जिसकी वह सम्भवतः व्यवहारार्थ पुनर्रचना कर लेता है।[3]

[1] १. ३, ५; १३५, ५; १५१, ६; १८५, ८; २. ३, ८ (जहाँ इसे **सरस्वती** के साथ सम्बद्ध किया गया है); ४०, ५, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद २. २८, ५।

[3] ऋग्वेद ३. ३९, २। तु० की० त्सिमर: अल्टिन्डिशे लेबेन, ३३८

धीति ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर व्यवहारतः *धी*, अथवा 'स्तुति', 'प्रशस्ति सूक्त' आदि जैसा ही आशय रखता है।

[1] १. ११०, १; ३. १२, ७; ५२, ६; ५. २५, ३; ५३, ११; ६. १५, ९, इत्यादि, निरुक्त २. २४।

धीर शात-पर्णेय ('शतपर्ण' का वंशज) का शतपथ ब्राह्मण (१०.३,३,१) में *महाशाल* के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

धीवन् अथर्ववेद[1] में आता है, जहाँ या तो यह, जैसा कि रौथ[2], ब्लूम-

[1] ३. ५, ६।

[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, उ० स्था०।

फील्ड[3] और ह्विट्ने[4] मानते हैं, रथ-निर्माताओं (रथ-काराः) की एक उपाधि है जिसका अर्थ 'चतुर' है, अथवा जैसा कि भाष्यकार मानते हैं, 'मछुओं' (धीवर) का द्योतक है। पैप्पलाद शाखा में 'तक्षाणः' (बढ़ई) है।

[3] अथर्ववेद के सूक्त, ११४।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद, ११४।
तु० की० वेबर : इन्टिशे स्टूडियन १७, १९४ और बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २५२।

धुङ्क्षा यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में एक प्रकार के पक्षी का नाम है। *धूङ्क्षणा* और *ध्वाङ्क्ष* भी देखिये।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १२; वाजसनेयि संहिता २४. ३१। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्टिशे लेवेन ९३।

धुनि इन्द्र के एक शत्रु का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में साधारणतया *चुमुरि* के साथ साथ उल्लेख है। धुनि तथा 'चुमुरि' दोनों *दभीति*[2] के विरोधी प्रतीत होते हैं। यह सम्भवतः किसी आदिवासी प्रधान का नाम है।[3]

[1] २. १५, ९; ६. १८, ८; २०, १३; ७. १९, ४।
[2] ऋग्वेद १०. ११३, ९।
[3] वाकरनॉगल : आल्टिन्टिशे ग्रामेटिक, १, xxii; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० १६२। तु० की० औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद १५७, १५८।

धुर्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, 'जूये' के उस भाग का द्योतक है जो रथ अथवा गाड़ी खींचनेवाले पशुओं के कन्धों पर रक्खा जाता था, और जिसके कारण ही वाजसनेयि संहिता[3] में ऐसे पशुओं को 'धूर्-षाह्' ('जूये' को वहन करनेवाले) कहा गया है। ऋग्वेद[4] के एक स्थल पर इसका आशय अनिश्चित है : यहाँ रौथ[5] इसे पहिये की नाभि में प्रविष्ट धुरे (*अक्ष*) के दोनों किनारों पर लगी कील के अर्थ में ग्रहण करते हैं, और इस प्रकार यह *आणि* के समकक्ष होगा; औल्डेनबर्ग[6] भी इसी दृष्टिकोण

[1] १.८४, १६; १००,१६; १३४, ३; १६४, १९; २. १८, ७; ३. ३५, २; ५. ५५, ६; ७. ३४, ४, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ५. १७, १८; ऐतरेय ब्राह्मण ६. १८; शतपथ ब्राह्मण १. १, २, १०; ४, ४, १३, इत्यादि। ऐतरेय आरण्यक १. ५, २ (यहाँ 'धुर्' किनारा है), इत्यादि।
[3] ४. ३३। तु० की० उस।
[4] ५. ४३, ८।
[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० २।
[6] ऋग्वेद-नोटेन, १. ३३९; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ५०८; 'अक्ष-धुरी' का आपस्तम्भ श्रौत सूत्र ११. ६, ५; कात्यायन श्रौत सूत्र ८. ३. २२, में उल्लेख है। तु० की० कैलेण्ट और हेनरी : ल' अग्निष्टोम ८१।

से सहमत प्रतीत होते हैं। मौनियर विलियम्स[७] का ऐसा विचार प्रतीत होता है कि इससे 'लदे हुये भार' का अर्थ है, किन्तु यह सम्भव नहीं है। ऐसा हो सकता है कि 'धुर्' से 'यष्टि'[८] का आशय हो, और इस दशा में अधिक सामान्य रूप से 'यष्टि' और 'धुरे', दोनों को साथ-साथ, रथ खींचनेवाले भाग का द्योतक माना जा सकता है : यही आशय ऋग्वेद के उक्त सन्दिग्ध-से स्थल पर इसके प्रयोग की व्याख्या कर सकता है।

[७] डिक्शनरी, व० स्था।

[८] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४६। बाद में इस शब्द का 'यष्टि का किनारा' अर्थ है, और यह आशय ऐतरेय आरण्यक (नोट) में पहले से वर्तमान है। अर्थ का यह परिमार्जन इस तथ्य के कारण हुआ प्रतीत होता है कि 'जूआ' यष्टि का अन्तिम भाग होता है। धूर्षद् भी देखिये।

धूङ्क्ष्णा तैत्तिरीय संहिता[१] में उस पक्षी के नाम का रूप है जो अन्यत्र धुङ्क्षा के रूप में मिलता है। 'श्वेत-काक' (श्वेत-काकी) के रूप में इसका अर्थ किया गया है।

[१] ५. ५, १९, १। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९३, में इसका 'धूङ्क्ष्ण' रूप देते हैं, जो सम्भवतः एक त्रुटि है। तु० की० ध्वाङ्क्ष भी।

धूम-केतु अथर्ववेद[१] में 'मृत्यु' की एक उपाधि है। त्सिमर[२] का विचार है कि इससे एक पुच्छल तारे का अर्थ है, किन्तु ह्विट्ने[३] इस मत को अत्यन्त असम्भाव्य मानते हैं। लैनमैन[४], कुछ उपयुक्ततः, यह व्यक्त करते हैं कि इससे चिता से उठते हुये धूँये का आशय उद्दिष्ट है।

[१] १९. ९, १०।

[२] आल्टिन्डिशे लेबेन ३५८।

[३] अथर्ववेद का अनुवाद ९१४।

[४] वही।

धूम्र, तैत्तिरीय संहिता (१.८,२१,१) में, बौटलिङ्क के कोश के अनुसार, 'ऊँट' का द्योतक है।

धूर्-षद् का रौथ[१] के अनुसार 'जूये के नीचे खड़ा', और इस प्रकार 'भार-वाहक', अर्थ है। इस आधार पर ऋग्वेद[२] के उस स्थल पर जहाँ यह आता है इसका लाक्षणिक आशय में 'प्रवर्तक' अर्थ होगा। फिर भी, वह दृष्टिकोण

[१] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[२] १. १४३, ७; २. २, १; ३४, ४ (किन्तु तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ३०१)। १०. १३२, ७, में रौथ इसका 'जूये पर टिका हुआ' अनुवाद करते हैं।

ही अधिक सम्भव है जिसके अनुसार इसका 'यष्टि पर आसीन' अर्थात् 'सारथी' अर्थ है[3], और जो इस तथ्य के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया गया है कि अपने अश्वों के अधिक निकट रहने के लिये सारथी आगे बढ़ कर यष्टि अथवा 'जूये' तक पर बैठ सकता है।[4]

[3] तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, १३७, और बाद; कीथ : ऐतरेय आरण्यक १९५।

[4] तु० की० महाभारत ८. ६१७ : 'धुर्यान् धुर्यगतान् सूतान्'।

१. धृत-राष्ट्र (जिसका साम्राज्य दृढ़तापूर्वक स्थापित हो) अथर्ववेद[1] और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में ऐरावत (इरावन्त् का वंशज) पैतृक नामवाले एक सर्प-दैत्य का नाम है।

[1] ८. १०, २९।

[2] २५. १५, ३। तु० की० जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ४. २६, १५; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २५७।

२. धृतराष्ट्र वैचित्र-वीर्य ('विचित्रवीर्य' का वंशज) का काठक संहिता[1] के एक ऐसे स्थल पर उल्लेख है जो दुर्भाग्यवश अत्यन्त अबोधगम्य है। किन्तु ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि यह एक कुरु-पञ्चाल राजा था। दूसरी ओर, ऐसा प्रतीत होता है कि यह कुरु-पञ्चालों से कुछ दूर एक अलग देश में रहता था। शतपथ ब्राह्मण[2] में उल्लिखित काशि के राजा, उस धृतराष्ट्र के साथ, इसके समीकरण[3] को अस्वीकार करने के लिये पर्याप्त कारण नहीं हैं, जो अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करने के प्रयास में सात्राजित शतानीक द्वारा पराजित हुआ था। सात्राजित शतानीक का एक भरत होना भी यह व्यक्त करता है कि धृतराष्ट्र किसी भी स्थिति में कुरु-पञ्चाल नहीं था। काठक संहिता में यह वक दाल्भि के साथ वाद-विवाद में आता है; किन्तु ऐसा मान लेने पर भी कि 'वक दाल्भि' एक पञ्चाल था, यह संकेत करने के लिये कोई भी तथ्य नहीं है कि धृतराष्ट्र एक कुरु था, अथवा यह कि उक्त विवाद कुरु और पञ्चालों के बीच परस्पर आरम्भिक आक्रामक सम्बन्ध का द्योतक है।[4] यह सत्य है कि महा-

[1] १०. ६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६९ और बाद।

[2] १३. ५, ४, २२।

[3] जैसा कि वेबर : इन्डियन लिटरेचर ९०, ११४, १२५, में मानते हैं; ए० ग्रि० ७. ८। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, इन्हें समान मानते हैं।

[4] कीथ : ज० ए० सो० १९०८, ८३१ और बाद। यह युक्ति दो धृतराष्ट्रों के समीकरण से स्वतन्त्र, किन्तु उससे पुष्ट होती है।

काव्य में शन्तुन और विचित्रवीर्य, और स्वयं धृतराष्ट्र, सभी सम्बद्ध हैं; किन्तु यह सम्बन्ध महाकाव्य में बहुधा ही लक्षित होने वाले अतीत के महान व्यक्तित्वों के अव्यवस्थित व्युत्क्रम के कारण ही विकसित हो गया प्रतीत होता है।

धृष्टि, जो द्विवाचक रूप में तैत्तिरीय आरण्यक[1], शतपथ ब्राह्मण[2] और सूत्रों[3] में मिलता है, 'अग्नि-संदंशिका' का द्योतक प्रतीत होता है।

[1] ५. ९, ८।
[2] १४. ३, १, २२।
[3] कात्यायन श्रौत सूत्र २६. २, १०, इत्यादि।

धेना—यह 'दुग्धा गाय'[1], अथवा बहुवचन में 'दुग्ध की धाराओं'[2] का द्योतक है। दो स्थलों[3] पर रौथ[4] इस शब्द को 'अश्वी' के अर्थ में, तथा एक अन्य[5] पर वायु के रथ के 'दल' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर बेनफे[6], एक स्थल[7] पर, सायण तथा निरुक्त[8] पर दुर्गा के भाष्य के साथ सहमत होते हुये, इसका 'अधर' अनुवाद करते हैं। गेल्डनर[9] इसे 'अधर'[10], 'वाणी'[11], 'गाय'[12], 'प्रेमिका'[13], और 'जल धारायें'[14], आदि आशय प्रदान करते हैं।

[1] ऋग्वेद ३. ३४, ३ (मैक्डौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ६१); ५. ६२, २। तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ११४।
[2] ऋग्वेद ३. १, ९; ४, ५८, ६; इत्यादि।
[3] १. १०१, १०; ५. ३०, ९।
[4] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[5] ऋग्वेद १. २, ३।
[6] ओरियन्ट उन्ट ऑक्सिडेन्ट ३, १३०।
[7] ऋग्वेद १. १०१, १०।
[8] ६. १७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, २४९।
[9] वेदिशे स्टूडियन ३, ३५-४३; १६६; ऋग्वेद, ग्लासर ९५।
[10] ऋग्वेद १. १०१, १०; ३. १, ९।
[11] ऋग्वेद ४. ५८, ६; १. ५५, ४; १४१, १; ८. ३२, २२; १०. १०४, ३. १०।
[12] ऋग्वेद ५. ६२, २, और वायु की समृद्धि-दायिनी गाय, १. २, ३।
[13] ऋग्वेद ५. ३०, ९।
[14] ऋग्वेद ७. २१, ३; ३. ३४, ३। तु० की० मैक्समूलर : से० बु० ई० ३४, ४४१, ४४२।

धेनु से ऋग्वेद[1] और बाद[2] में ऐसी 'दुग्धा गाय' का अर्थ है, जिसका

[1] १. ३२, ९ (सह-वत्सा', अपने बछड़े सहित); १३४, ४; २. २, २; ३४, ८; ६. १३५, ८, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ५. १७, १८; ७. १०४, १; तैत्तिरीय संहिता २. ६, २, ३; मैत्रा- संहिता ४. ४, ८; वाजसनेयि संहिता १८. २७; शतपथ ब्राह्मण २. २, १, २१, इत्यादि।

अक्सर दुग्ध के उत्पादन के सन्दर्भ में उल्लेख[3], और वृषभ (वृषभ[4], पुमांस्[5], अनड्वाह्)[6] के साथ विभेद किया गया है। बहुवचन[7] में यह शब्द 'दुग्ध की धाराओं', का द्योतक है। इससे व्युत्पन्न शब्द 'धेनुका' का केवल 'स्त्रीलिङ्ग'[8] अर्थ है।

[3] ऋग्वेद ७. ३३, २२; ८. १४, ३; अथर्ववेद ४. ३४, ८ (काम-दुधा, जो बाद में महाकाव्य में 'समृद्धि की गाय' है); शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ३।
[4] ऋग्वेद १०. ५, ७।
[5] अथर्ववेद ११. १, ३४।
[6] वाजसनेयि संहिता १८. २७; शतपथ ब्राह्मण ३. १, ३, २१।
[7] ऋग्वेद ४. २२, ६; ८. २, ६; ४, ८; ९. ६१, २१; ७२, १, इत्यादि।
[8] अथर्ववेद ३. २३. ४; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १०, २३; आश्वलायन श्रौत सूत्र १२. ६, इत्यादि।

धेनु-ष्टरी काठक संहिता (१२.६) और मैत्रायणी संहिता (२.५.४) में एक ऐसी गाय का द्योतक है जिसने दुग्ध देना बन्द कर दिया हो।

धैवर का, एक जाति के सदस्य[1] के रूप में 'मछुआ' अर्थ है, और यजुर्वेद[2] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में इसका उल्लेख है। तु० की० धीवर।

[1] इसके पैतृक नामोद्भूत रूप ('धीवर' का वंशज) द्वारा ऐसा ही व्यक्त होता है।
[2] वाजसनेयि संहिता ३०. १६; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४. १५, १।

ध्मातृ (शब्दार्थ : धमन करनेवाला) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर दो बार दो रूपों में आता है। प्रथम रूप प्रथमा विभक्ति में, 'ध्माता' (धमन करने वाला) है, और द्वितीय 'ध्मातरी' है जो पदपाठ के अनुसार सप्तमी विभक्ति वाले 'ध्मातरि' के लिये आता है और जिसका सम्भवतः 'धमन-भट्ठी में'[2] अर्थ है। गेल्डनर[3], बार्थोलोमाइ[4], और ओल्डेनबर्ग[5] इस द्वितीय शब्द को सप्तमी का साधारण रूप मानते हैं जिसका अर्थ 'धमन' है। लुडविग[6] और नीसर[7] का विचार है कि 'ध्मातरी', प्रथमा का एकवचन पुलिङ्ग है जिसका उसी आशय में प्रयोग हुआ है जिसमें 'ध्माता' का। धमन का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख है[8],

[1] ५. ९, ५।
[2] मैक्डौनेल : ज० ए० सो० १८९३, ४४६
[3] वेदिशे स्टूडियन १, १४६, नोट १।
[4] इ० फो० १, ४९६, नोट २।
[5] से० बु० ई० ४६, ३८८।
[6] इन्फिनिटिव इन वेद ९; ऋग्वेद का अनुवाद ४, ३३४।
[7] बेज़ेनबर्गर का बीट्रेगे, २०, ४०।
[8] ऋग्वेद ४. २, १७। शतपथ ब्राह्मण ६. १. ३. ५ में अयस् का कच्ची धातु (अश्मन्) से, और स्वर्ण का 'अयस्' से, धमित होना बताया गया है।

और धमनकार का, अग्नि को हवा करने के लिये पक्षियों के परों (पर्ण शकुनानाम्) का प्रयोग करनेवाले के रूप में, वर्णन किया गया है।[9] यह कला व्यापक रूप से व्यवहृत होती थी ऐसा अयस् की नोकों वाली वाणों[10], इसी धातु की बनी ऐसी केतलियाँ जो अग्नि पर रक्खी जा सकती थीं,[11] और पिटे हुये 'अयस्' के बने सोम-पात्रों[12] के सन्दर्भों द्वारा व्यक्त होता है।

[9] ऋग्वेद ९. ११२, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५२; श्रेडर : प्रिहिस्टारिक ऐन्टिक्विटीज़ १५९।

[10] तु० की० इषु।

[11] ऋग्वेद ५. ३०, १५।

[12] ऋग्वेद ९. १, २।

ध्राजि ऋग्वेद[1] और बाद[2] में वायु के 'झपेटे' का द्योतक है, जिससे निःसन्देह भारत में अक्सर बहनेवाली उस प्रबल आँधी का सन्दर्भ है जो वनों को ध्वस्त कर देती थी और जो मरुतों के वर्णन में आती है।[3]

[1] १. १६४, ४४; १०. ९७, १३; १३६, २

[2] अथर्ववेद ३. १, ५; मैत्रायणी संहिता १. २, १७; ४. ९, ५; तैत्तिरीय आरण्यक १. ११, १९, इत्यादि।

[3] तु० की० मैक्स मूलर : से० बु० ई० xxxii, xxiii और बाद; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी पृ० ७९।

ध्रुव, सूत्रों[1] में ध्रुव तारे का द्योतक है। इसका उस विवाह-संस्कार के सन्दर्भ में उल्लेख है जिसमें वधू को स्थायित्व के प्रतीक के रूप में ध्रुव-तारा दिखाया जाता था। मैत्रायणी उपनिषद्[2] में, जो एक बाद का ग्रन्थ है, 'ध्रुव' की गति (ध्रुवस्य प्रचलनम्) का उल्लेख है; किन्तु इसकी ध्रुवतारे की वास्तविक रूप से निरीक्षित गति[3] का सन्दर्भ होने के रूप में नहीं, वरन् विश्व के विनाश जैसी एक असाधारण घटना के रूप में ही व्याख्या की जा

[1] आश्वलायन गृह्य सूत्र १. ७, २२; शाङ्खायन गृह्य सूत्र १. १७, २ और बाद; लाट्यायन श्रौत सूत्र ३. ३, ६, इत्यादि। यह ध्यान देने योग्य है कि विवाह संस्कार सम्बन्धी मन्त्रों में, जिनकी प्रचुर संख्या उपलब्ध है, ध्रुव का कोई सन्दर्भ सम्मिलित नहीं है; किन्तु निश्चित रूप से ऐसा कह सकना सम्भव नहीं कि यह प्रचलन वास्तव में प्राचीन है अथवा नहीं।

[2] देखिये मैक्स मूलर : से० बु० ई० १५, २८९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन २, ३९६।

[3] जैसा कि वेबर : इन्डियन लिटरेचर ९८, नोट १०३; बूहलर : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, २४५, नोट २१; याकोबी : त्सी० गे० ४९, २२८, नोट २, आदि ने समझा है।

सकती है, जैसा कि कोवेल ने भी इस व्याहृति को समझा है।[४] 'ध्रुव' की गति में याकोबी[५] इस आधार पर तिथि निर्धारित करने की सम्भावना देखते हैं कि जिस एक मात्र ध्रुव तारे को 'अचल' माना गया हो सकता है वह तृतीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व का शेषनाग (α Draconis) तारा था। किन्तु तारे के नाम से काल-क्रम निर्धारित करने के इस प्रयास का महत्त्व अत्यन्त सन्दिग्ध है।[६]

[४] उपनिषद् के अपने संस्करण में, पृ० २४४।
[५] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, १५७; त्सी०, उ० स्था०, ५०, ६९ और बाद; ज० ए० सो० १९०९, ७२१ और बाद; १९१०, ४६१ और बाद।
[६] ह्विट्नेः ज० अ० ओ० सो० १६, cx; कीथः ज० ए० सो० १९०९; ११०२; १९१०, ४६५ और बाद।

ध्रुवा (ध्रुव)—यह *दिश्* (*दिग्भाग*) की एक उपाधि है और उस स्थान की द्योतक है जो खड़े व्यक्ति के पैरों के नीचे स्थित होता है।[१]

[१] अथर्ववेद ३. २७, ५; १२. ३, ५९; १४. ६, १; ऐतरेय ब्राह्मण ८. १४ (तु० की० **मध्यदेश**); बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ९, २५, इत्यादि।

ध्वज ऋग्वेद[१] में दो बार युद्ध में प्रयुक्त 'ध्वजा' के आशय में आता है। वैदिक-कालीन युद्ध की यह विशिष्टता है कि उक्त दोनों स्थलों पर, वाण छोड़ने और उनके ध्वजों पर गिरने का, सन्दर्भ है।

[१] ७. ८५, २; १०. १०३, ११। महाकाव्यों के युद्धों में ध्वजों का अत्याधिक महत्त्व है—उदाहरण के लिये, रामायण २. ६७, २६; यह रथ पर गड़े स्तम्भ में लगे होते थे, महाभारत ७. ३३३२, इत्यादि। सेना को 'ध्वजिनी' कहा जाता था, वही, १. २८७५, इत्यादि।

ध्वन्य, ऋग्वेद के एक सूक्त[१] में, प्रत्यक्षतः *लक्ष्मण* के पुत्र, किसी संरक्षक का नाम है।

[१] ५. ३३, १०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५५।

ध्वसन् द्वैत-वन ('द्वितवन' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण[१] में *मत्स्यों* के उस राजा का नाम है जिसने *सरस्वती* के निकट अश्वमेध यज्ञ किया था।

[१] १३. ५, ४, ९। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २११; ए० रि० ६।

ध्वसन्ति का ऋग्वेद[१] के एक स्थल पर *पुरुपन्ति* के साथ-साथ और अश्विनों द्वारा सहायता प्राप्त करने वाले के रूप उल्लेख है। इसमें सन्देह

[१] १. ११२, २३।

नहीं कि यह उस ध्वस्र नाम का ही एक अपेक्षाकृत वृहद् रूप है जो 'पुरुपन्ति' के साथ-साथ ऋग्वेद[2] और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में मिलता है।

[2] ९. ५८. ३ = सामवेद २. ४०९।
[3] १३. ७, १२ (जहाँ 'ध्वस्र' का द्विवाचक स्त्रीलिङ्ग 'ध्वस्रे' के रूप में आता है)। तु० की० लोग : सा० ऋ० ६२, ६३; बेनफे : सामवेद, १०५, १२६, जो यह मानने के लिये प्रवृत्त हैं कि 'ध्वसन्ति' और 'पुरुपन्ति' दोनों ही स्त्रियों के नाम हैं।

ध्वस्र का *पुरुपन्ति* के साथ पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में, *तरन्त* और *पुरुमीढ* को दान देनेवाले के रूप में, उल्लेख है। राजा होने के कारण यह दोनों (तरन्त और पुरुमीढ) वैधतः स्वयं दान नहीं ग्रहण कर सकते थे[2] क्योंकि केवल ब्राह्मण ही इनके पात्र होते थे; किन्तु ऋग्वेद[3] के एक मंत्र के स्रष्टा बन कर इन लोगों ने अपने को दान ग्रहण करने का अधिकारी बना लिया था। यह मन्त्र इनके नामों को द्विवाचक 'ध्वस्रयोः पुरुपन्त्योः' ('ध्वस्र' और 'पुरुपन्ति', दोनों से)[4] के रूप में व्यक्त करता है। पञ्चविंश ब्राह्मण[5] में यह नाम द्विवाचक 'ध्वस्रे पुरुपन्ती' के रूप में आता है और निदान सूत्र[6] द्वारा भी यही पाठ पुष्ट होता है। इनमें से प्रथम नाम अनिवार्यतः स्त्रीलिङ्ग है, यद्यपि इस स्थल के अपने भाष्य में सायण वास्तव में एक अनियमित पुल्लिङ्ग के रूप में ही इसकी व्याख्या करते हैं। रौथ[7] के अनुसार यह स्त्रीलिङ्ग ऋग्वेद के उपरोक्त मंत्र के द्विवाचक शब्द पर आधारित भ्रष्ट रूप है; किन्तु यह दोनों ही स्त्रियों[8] के नाम हो सकते हैं, जैसा कि बेनफे[9] मानते हैं। वेबर[10] का विचार है कि यह दोनों असुर थे; किन्तु, जैसा कि

[1] १३. ७, १२। तु० की० जैमिनीय ब्राह्मण ३. १३९; ऋग्वेद ९. ५८, ३ पर सायण, और शाट्यायनक।
[2] मानव धर्मशास्त्र १०. ७५–७७।
[3] ९. ५८, ३।
[4] यह दोनों ही शब्द द्विवाचक हैं, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक द्वन्द्व यौगिक रूप के सदस्य थे। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर २६१।
[5] उ० स्था०।
[6] ०. ०।
[7] सेन्ट पीटर्सबर्ग, कोश, व० स्था० 'ध्वस्र'
[8] इस दशा में 'ध्वस्रा' प्रथम होगा।
[9] सामवेद, १०५, १२६, 'ध्वसन्ति' और 'पुरुपन्ति' के अन्तर्गत।
[10] ए० रि० २७, नोट १।

सीग[11] दिखाते हैं, यह एक सर्वथा अनावश्यक मान्यता है। इसमें सन्देह नहीं कि 'ध्वस्र' और ध्वसन्ति दोनों ही समान हैं।

[11] सा० ऋ० ६२, ६३।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १३९; ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १८, ३९; मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, ३६०, यह व्यक्त करते हैं कि ऋग्वेद के इस स्थल का आशय अत्यन्त अनिश्चित है और 'तरन्त' तथा 'पुरुमीळ्ह दोनों ही, ऋग्वेद ५. ६१ में जिस रूप में आते हैं, प्राप्तकर्ता हैं (फिर भी, देखिये मन्त्र ९, 'पुरुमीळ्हाय विप्राय')। औल्डेनबर्ग : त्सी० गे०, ४२, २३२; ऋग्वेद-नोटेन, १, ३५४, भी देखिये।

ध्वाङ्क्ष (कौआ) का दो बार अथर्ववेद[1] में, तथा सूत्रों[2] में, उल्लेख है। धुङ्क्षा और धूङ्क्षणा शब्दों से भी सम्भवतः इसी पक्षी का आशय है।

[1] ११. ९, ९; १२. ४. ८।
[2] कात्यायन श्रौत सूत्र २५. ६. ९।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ८८।

ध्वान्त, यजुर्वेद संहिताओं[1] तथा बाद[2] में एक प्रकार की वायु का नाम है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ७, ७, २; वाजसनेयि संहिता ३९. ७।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १६, १; तैत्तिरीय आरण्यक ४. २४, १; २५, १।

न

नकुल (नेवला) के सम्बन्ध में अथर्ववेद[1] में ऐसा उल्लेख मिलता है कि यह सर्प को दो भागों में काट कर उन्हें पुनः जोड़ सकता है। सर्प-विष के विरुद्ध औषधि का इसे ज्ञान[2] होने का उल्लेख है। यह पशु यजुर्वेद संहिताओं[3] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में भी आता है।

[1] ६. १३९, ५।
[2] अथर्ववेद ८. ७, २३।
[3] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १२, १; २१, १; वाजसनेयि संहिता २४. २६. २; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ७। तैत्तिरीय संहिता ७. ३, १८, १; ऋग्वेद प्रातिशाख्य १७. ९ में 'नकुल' एक रंग का—इसमें सन्देह नहीं कि नेवले के ही रंग का—द्योतक है।

नक्त (रात्रि) ऋग्वेद[1] में अक्सर, तथा कभी-कभी बाद[2] में भी, सामान्यतया 'नक्तम्' क्रिया-विशेषण रूप में मिलता है।

[1] १. १३, ७; ७३, ७; ९६, ५; ७. २, ६; १०. ७०, ६; क्रिया-विशेषणात्मक रूप में : १. २४, १०; ९०, ७; ५. ७६, ३; ७. १५, १५; १०४, १७; ८. ९६, १।
[2] छान्दोग्य उपनिषद् में ८. ४, २; क्रिया-विशेषणात्मक रूप में अथर्ववेद ६. १२८, ४; शतपथ ब्राह्मण २. १, ४, २; १३. १, ५, ५, इत्यादि।

नक्षत्र एक अस्पष्ट उत्पत्ति और व्युत्पत्ति वाला शब्द है। भारतीय व्याख्याकार पहले से ही इसके अर्थ के सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद व्यक्त करते हैं। एक आख्यान द्वारा व्याख्या करते हुये शतपथ ब्राह्मण[1] इसका 'न-क्षत्र' (शक्ति-रहित) के रूप में विच्छेद करता है। निरुक्त[2], तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] का अनुगमन करते हुये, इसे 'नक्ष्' (प्राप्त करना) धातु से सम्बद्ध करता है। ऑफरेख्त[4] और वेबर[5] ने इसे 'नक्त-त्र' (रात्रि का रक्षक) से व्युत्पन्न माना है, और इधर कुछ समय से[6] इसे 'नक्-क्षत्र' (रात्रि पर शासन रखनेवाला) से व्युत्पन्न मानने की धारणा बलवती होती प्रतीत हो रही है। इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ 'तारा' प्रतीत होता है।

ऋग्वेद और बाद में 'तारों' के रूप में नक्षत्र :—ऋग्वेद[7] के प्रायः सभी, अथवा उन स्थलों पर जहाँ 'नक्षत्र' आता है, इससे 'तारे' का ही आशय पर्याप्त हो सकता है। बाद की संहिताओं में भी यही आशय मिलता है: सूर्य और नक्षत्रों का साथ-साथ[8], अथवा सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों का[9], अथवा चन्द्रमा और नक्षत्रों का,[10] अथवा केवल नक्षत्रों[11] का ही, उल्लेख मिलता

[1] २. १, २, १८. १९। तु० की० निरुक्त ३. २० में एक उद्धरण।

[2] उ० स्था०, और तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[3] १. ५, २, ५।

[4] कुन : त्सी० ८, ७१, ७२। इसी प्रकार एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, २८८, नोट २।

[5]. नक्षत्र, २, २६८।

[6] मैकडौनेल। वैदिक ग्रामर, पृ० ७४, पंक्ति ८।

[7] देखिये १. ५०, २; ७. ८६, १; १०. ६८, ११; १११, ७; सूर्य के लिए ही प्रयुक्त, ६. ६७, ६ (पुलिङ्ग रूप में); ७. ८१, २; १०. ८८, १३। सूर्य इनके साथ संयुक्त हैं, ३, ५४, १९। 'नक्षत्र-श्वस्' (तारों की संख्या की बराबरी करने वाला) १०. २२, १० में एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ तक कि १०. ८५, २ में भी, जहाँ नक्षत्रों की गोद में सोम का उल्लेख है, 'तारों' का ही आशय पर्याप्त होगा। किन्तु यतः यह सूक्त बाद के नक्षत्रों में से दो का उल्लेख करता है अतः 'चान्द्र-नक्षत्र' का भी अर्थ हो सकता है।

[8] अथर्ववेद ६. १०, ३; वाजसनेयि संहिता २३, ४३; पञ्चविंश ब्राह्मण १०. १, १; तैत्तिरीय आरण्यक ४. १०, १२।

[9] अथर्ववेद ६. १२८, ३; १५. ६, २; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १३, ३; वाजसनेयि संहिता २२. २९, इत्यादि।

[10] अथर्ववेद ५, २४; १०; ६. ८६, २; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ५, १; काठक संहिता ३८. १५; ३७. १२; वाजसनेयि संहिता ३०. २१; ३९. २, इत्यादि।

[11] तैत्तिरीय संहिता १, २, २, २; २. ६, २, ६, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ३०. २१ इत्यादि; काठक संहिता, अश्वमेध, ५. ५, और अन्यत्र भी बहुधा

है; किन्तु इन स्थलों पर इस शब्द में 'चान्द्र-नक्षत्रों का आशय निहित मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरी ओर, इस बाद के आशय में कम से कम तीन नक्षत्रों के नाम ऋग्वेद में आते हैं। फिर भी 'तिष्य'[12] का एक चान्द्र-नक्षत्र के रूप में उल्लेख किया गया प्रतीत नहीं होता। *अघायें* (बहुवचन) और *अर्जुनी* (द्विवाचक)[13] की दशाओं में स्थिति भिन्न है : ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि यह दोनों ही बाद की 'मघाओं' (बहुवचन) और 'फल्गुनी (द्विवाचक) नामक चान्द्र-नक्षत्र ही हैं। ऋग्वेद में यह दोनों नाम जानबूझ कर परिवर्तित कर दिये गये प्रतीत होते हैं; साथ ही, यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'सूर्या' के विवाह-सम्बन्धी जिस सूक्त में यह नाम आते हैं उसे बहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता।[14] लुडविग[15] और त्सिमर[16] ने ऋग्वेद[17] में नक्षत्रों की संख्या २७ होने के कुछ सन्दर्भ देखे हैं किन्तु यह सभी अत्यधिक असम्भाव्य प्रतीत होते हैं। और न एक दूसरे सूक्त[18] में 'रेवती' (सम्पत्ति) तथा 'पुनर्वसू' (पुनः सम्पत्ति लानेवाला) विशेषणों से ही नक्षत्रों का तात्पर्य है।

चान्द्र-नक्षत्रों के रूप में नक्षत्रः—बाद की संहिताओं में अनेक स्थलों पर चन्द्रमा और नक्षत्रों के परस्पर सम्बन्ध की एक वैवाहिक बन्धन के रूप में कल्पना की गई है। इसीलिये काठक[19] और तैत्तिरीय[20] संहिताओं में स्पष्ट रूप से

[12] ऋग्वेद ५. ५९, १३; १०. ६४, ८; वेबर : २, २९०।

[13] १०. ८५, १३; वेबर : ३६४–३६७, और अघा तथा अर्जुनी के अन्तर्गत उल्लिखित सन्दर्भ भी देखिये।

[14] तु० की० आर्नोल्ड : वैदिक मीटर ३२२

[15] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १८४ और बाद।

[16] आल्टिन्डिशे लेबेन ३५४। तु० की० तिलक : ओरायन १५८।

[17] १. १६२, १८ (अश्व की ३४ पसलियाँ = चन्द्रमा, सूर्य, ५ ग्रह, और २७ नक्षत्र); १०. ५५, ३ (३४ प्रकाश)।

[18] १०. १९, १।

[19] ११. ३ (इन्डिशे स्टूडियन ३. ४६७)

[20] २. ३, ५, १–३। तु० की०, ३. ४, ७, १ भी; काठक संहिता १८. १४; वाजसनेयि संहिता १८. ४०; शतपथ ब्राह्मण ९. ४, १, ९; षड्विंश ब्राह्मण ३. १२। एक नक्षत्र में चन्द्रमा के स्थित होने का उल्लेख है, शतपथ ब्राह्मण १०. ५, ४, १७; निरुक्त ५. २१; कौशिक सूत्र १३५, में एक मन्त्र; तैत्तिरीय आरण्यक १. ११, ६; ५. १२, १, इत्यादि।

यह कहा गया है कि सोम सभी नक्षत्रों के साथ विवाहित थे किन्तु रहते वह केवल 'रोहिणी' के ही साथ थे; इस पर अन्य नक्षत्रों के रुष्ट हो जाने के कारण उन्हें अन्ततोगत्वा सभी के साथ बराबर-बराबर अवधियों तक रहना आरम्भ करना पड़ा। इसलिये वेबर[२१] ने यह निष्कर्ष निकाला कि नक्षत्रों का विस्तार समान माना जाता था, किन्तु केवल एक लगभग-सी समानता के आशय के अतिरिक्त ऐसा निष्कर्ष उक्त मूल स्थलों के अर्थ पर अवांछित रूप से दबाव डालना होगा। दोनों ही संहिताओं में वर्णित कथा में नक्षत्रों की संख्या २७ ही नहीं बताई गई है: तैत्तिरीय में इनकी संख्या ३३ है और काठक में किसी भी संख्या का उल्लेख नहीं है। फिर भी, तैत्तिरीय संहिता[२२] और अन्यत्र[२३] उपलब्ध तालिका में इनकी संख्या २७ प्रतीत होती है। इनकी संख्या के २८ होने की अपेक्षाकृत और भी कम पुष्टि होती है: तैत्तिरीय ब्राह्मण[२४] के एक स्थल पर प्रत्यक्षतः एक नवागत नाम, 'अभिजित्' का, उल्लेख है। यद्यपि यह इस संहिता का एक बाद का स्थल[२५] है, तथापि मैत्रायणी संहिता[२६] और अथर्ववेद की तालिकाओं[२७] में इसका अनुसरण किया गया है। यह सर्वथा सम्भव है कि २८ ही आरम्भिक संख्या रही हो, जिसमें से 'अभिजित्' इसलिये निकल गया क्योंकि वह धुँधला अथवा अत्यधिक उत्तर में स्थित था, अथवा इसलिये भी कि २७ एक अपेक्षाकृत अधिक रहस्यवादी (३ × ३ × ३) संख्या है: यह द्रष्टव्य है कि चीन के 'सिऊ' (Sieou) और अरब के

[२१] उ० पु० २७७। तु० की० सिद्धान्तों की बाद की पद्धतियाँ, ह्विट्ने: ओरियण्टल ऐण्ड लिङ्गुइस्टिक स्टडीज् २, ३७२, और देखिये तिलक: ओरायन ३३ और बाद।

[२२] ४. ४, १०, १–३।

[२३] काठक संहिता ३९. १३, किन्तु मैत्रायणी संहिता २. १३, २०, में २८ है, तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, १, १–५, नक्षत्रों की तालिका में। देखिये वाजसनेयि संहिता ९. ७; शतपथ ब्राह्मण १०. ५, ४, ५; पञ्चविंश ब्राह्मण २३. २३; कौषीतकि ब्राह्मण ५. १; शाङ्खायन आरण्यक २. १६; तैत्तिरीय संहिता ७. १, २, २; ज्योषि १८. २० (श्लोक ३४ में २८ है किन्तु यह प्रक्षिप्त है; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १४. ७८, इत्यादि।

[२४] १. ५, २, ३। तु० की० वेबर: १, ३६०, नोट।

[२५] ३. १, २, ६।

[२६] २. १३, २०।

[२७] १९. ७, १; ८, १ = नक्षत्रकल्प, १०. २६। शाङ्खायन गृह्य सूत्र १. २६ में भी इसी प्रकार है।

'मनाज़िल' की संख्या भी २८ ही है।[२८] फिर भी, वेबर[२९] का ऐसा विश्वास है कि भारत में २७ ही अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन संख्या थी।

जब हम यह स्मरण रक्खें कि एक चान्द्र-मास २७ और २८ दिनों के बीच और कुछ प्रथम संख्या के ही अधिक निकट की अवधि के बराबर होता है, तब उक्त संख्या की सरलता से व्याख्या हो जाती है। वास्तव में लाट्यायन[३०] और निदान सूत्रों[३१] में इसी प्रकार के २७ दिनों के एक मास को स्वीकार किया गया है, जहाँ ऐसे १२ महीने मिलकर ३२४ दिनों का एक नाक्षत्र वर्ष, अथवा मलमास सहित ३५१ दिनों का एक वर्ष बनाते हैं। निदान सूत्र[३२] ३६० दिनों के एक सौर (सावन) वर्ष की गणना में भी नक्षत्रों का आधार सम्मिलित करने का प्रयास करता है, क्योंकि यह ऐसा मानता है कि सूर्य प्रत्येक नक्षत्र में १३⅓ दिन व्यतीत करता है (१३⅓ × २७ = ३६०)। किन्तु वेदों की कालक्रमानुगत परिगणनाओं में २७ अथवा २८ दिनों के मास का कोई स्थान नहीं है।[३३]

नक्षत्रों के नाम :—ऋग्वेद में उल्लिखित दो नामों के अतिरिक्त अथर्ववेद[३४] के प्राचीन अंश 'ज्येष्ठघ्नी'[३५] (बाद का 'ज्येष्ठा') तथा 'विचृतौ'[३६], जो परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहे गये हैं, और रेवती (बहुवचन) तथा कृत्तिकाओं[३७] का उल्लेख करते हैं। 'अग्न्याधान' संस्कार के लिये सम्भव

---

[२८] ह्विट्नेः उ० पु० ४०९–४११; ज० अ० ओ० सो० ८, ३९० ।

[२९] उ० पु०, २, २८०; इन्डिशे स्टूडियन ९, ४४६; १०. २२३, २२४, २२७ ।

[३०] ४. ८, १ और बाद ।

[३१] ५. ११.१२ । देखिये वेबर २, २८१–२८८

[३२] थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक ७

[३३] देखिये **मास**।

[३४] उदाहरण के लिये १–१६ काण्ड ।

[३५] ६. ११०, २। 'वृद्धतम का वधिक' के अर्थ वाला यह नक्षत्र-पुञ्ज प्रत्यक्षतः अपशकुनात्मक था। तु० कॉ० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, २, ८। ह्विट्ने : का अनुवाद, ३६१, इसे 'एन्टारिस,' अथवा σ, τ स्कौर्पियोनिस के सहित अथवा बिना ही 'कोर स्कौर्पियोनिस' के साथ समीकृत करते हैं। (ह्विट्ने तथा रौथ के संस्करण में 'ज्येष्ठघ्नी' एक मिथ्या पाठ है)

[३६] ६. ११०, २। २. ८, १; ३. ७, ४; ६. १२१, ३, में भी इसका उल्लेख है। भाष्यकारों ने इसे 'मूल' के साथ समीकृत किया है जो λ और ν स्कॉर्पियोनिस नामक दो तारे हैं और वृश्चिक की पूँछ के डङ्क का निर्माण करते हैं; ह्विट्ने उ० पु० ४८ ।

[३७] ९. ७, ३ ।

समय के सन्दर्भ में काठक संहिता[३८], मैत्रायणी संहिता[३९], और तैत्तिरीय ब्राह्मण[४०] कृत्तिकाओं, रोहिणी, फल्गुन्यों और हस्त नामक नक्षत्रों का उल्लेख करते हैं; यहाँ उक्त बाद का ब्राह्मण 'पुनर्वसू' को भी सम्मिलित कर लेता है और एक अन्य टिप्पणी[४१] में 'पूर्वे फल्गुनी' को 'उत्तरे फल्गुनी' के पक्ष में पृथक कर देता है। शतपथ ब्राह्मण[४२], 'मृगशीर्ष' और 'चित्रा' को भी सम्भावितों के रूप में सम्मिलित कर लेता है। दूसरी ओर सभी अधिकारियों[४३] ने उस 'पुनराधेय' संस्कार के लिये 'पुनर्वसू' को उपयुक्त माना है जो, पूर्व स्थापित अग्नि द्वारा 'होता' को समृद्धि प्रदान करने के अपने अस्तित्व के अभीष्ट में असफल हो जाने पर, आयोजित किया जाता था।[४४] फिर भी काठक संहिता[४५] अनुराधा' की भी स्वीकृति प्रदान करता है।

अग्निचयन अथवा 'अग्निवेदिका के निर्माण' संस्कार में ईंटों की संख्या को नक्षत्रों की संख्या के बराबर बताया गया है। ईंटों की संख्या ७५६ होती थी और इसे २७ नक्षत्रों तथा २७ गौण नक्षत्रों के गुणनफल ७२० (७२९ के स्थान पर), और एक मलमास की अवधि स्वरूप ३६ दिनों के संयुक्त योग के साथ समीकृत किया गया है। इस पुरोहितोपम प्रलाप से कोई भी उपयोगी तथ्य निष्कृष्ट नहीं होता।[४६] किन्तु इस संस्कार के सम्बन्ध में यजुर्वेद संहितायें[४७] २७ नक्षत्रों की गणना कराती हैं, और यह तालिकायें[४८] पूर्णरूपेण इस प्रकार हैं।

[३८] ८. १।

[३९] १. ६, ९।

[४०] १. १, २, १–६।

[४१] १. १, २, ८।

[४२] २. १, २, १।

[४३] तैत्तिरीय संहिता १. ५, १, ४; मैत्रायणी संहिता १. ७, २; काठक संहिता ८. १५; शतपथ ब्राह्मण २. १, २, १०; कौषीतकि ब्राह्मण १. ३।

[४४] हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर १०९।

[४५] ८. १५; मैत्रायणी संहिता १. ७, २।

[४६] शतपथ ब्राह्मण १०. ५, ४, ५। देखिये वेबर २. २९८, जिनके साथ एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४३, ३८३, नोट १ में सहमति प्रकट करते हैं। एक निराधार अनुमान के लिये देखिये शामशास्त्री: ग्वाम् अयन, १२२ और बाद।

[४७] तैत्तिरीय संहिता ४. ४, १०, १–३; मैत्रायणी संहिता २. १३, २०; काठक संहिता ३९. १३।

[४८] इसमें शब्दों के रूप और लिङ्ग वही हैं जिन्हें वेबर ने २, ३००, में स्वीकार किया है। आप नक्षत्रों के नामों के सन्दर्भ के लिये कुछ दशाओं में कुछ अन्य स्थलों पर निर्भर हैं—यथा, काठक ८. १५, में 'अनूराधेषु' ऐसा व्यक्त करता है कि इस संहिता में यह नाम पुलिङ्ग है

तैत्तिरीय संहिता		मैत्रायणी संहिता		काठक संहिता
१. कृत्तिकायें (स्त्री० वहु०)	...	कृत्तिकायें	...	कृत्तिकायें
२. रोहिणी	...	रोहिणी	...	रोहिणी
३. मृगशीर्ष (क्लीव०)	...	इन्वगा	...	इन्वका
४. आर्द्रा	...	वाहु	...	वाहु
५. पुनर्वसू (द्विवाचक)	...	पुनर्वसु (एक०)	...	पुनर्वसु
६. तिष्य	...	तिष्य	...	तिष्य
७. आश्रेपायें (स्त्री० वहु०)	...	आश्लेषायें (वहु० पद अश्लेपा)		आश्लेपायें (अथवा अश्लेपायें
८. मघायें (स्त्री०, वहु०)	...	मघायें	...	मघायें
९. फल्गुनी (स्त्री०, द्विवाचक)	...	फल्गुनी (वहु०)	...	फल्गुनी
१०. फल्गुनी (स्त्री०, द्विवाचक)	...	फल्गुनी (वहु०)	...	उत्तराः फल्गुनी
११. हस्त	...	हस्त	...	हस्तौ (द्विवाचक)
१२. चित्रा	...	चित्रा	...	चित्रा
१३. स्वाती	...	निष्ट्य (क्लीव०)	...	निष्ट्या
१४. विशाखे (स्त्री०, द्विवाचक)	...	विशाख (क्लीं०, एक०)	...	विशाखा(स्त्री०,एक०)
१५. अनूराधायें (वहु०)	...	अनूराधा (पद अनुराधा)		अनूराधायें (पु०,वहु०)
१६. रोहिणी	...	ज्येष्ठा	...	ज्येष्ठा
१७. विचृतौ	...	मूल (क्लीव०)	...	मूल
१८. अपाढायें (स्त्री०, वहु०)	...	अषाढायें	...	अपाढायें
१९. अषाढायें (स्त्री०, वहु०)	...	अषाढायें	...	उत्तरा अपाढायें
२०.	...	अभिजित्	...	
२१. श्रोणा	...	श्रोणा	...	अश्वत्थ
२२. श्रविष्ठायें (वहु०)	...	श्रविष्ठायें	...	श्रविष्ठायें
२३. शतभिपज्	...	शतभिपज्	...	शतभिपज्
२४. प्रोष्ठपदायें (पु०, वहु०)	...	प्रोष्ठपदायें	...	प्रोष्ठप्रदायें
२५. प्रोष्ठपदायें (पु० वहु०)	...	प्रोष्ठपदायें	...	उत्तरे प्रोष्ठपदायें
२६. रेवती	...	रेवती	...	रेवती
२७. अश्वयुजौ (द्विवाचक)	...	अश्वयुजौ	...	अश्वयुजौ
२८. अपभरणी (स्त्री०, वहु०)	...	भरणी	...	अपभरणी

तैत्तिरीय ब्राह्मण[४९] में भी नक्षत्रों की एक तालिका है जो सामान्यतया संहिताओं की ही तालिका के अनुरूप है। यह तालिका इस प्रकार है; कृत्तिकायें, रोहिणी, इन्वकायें, वाहू (द्विवाचक), तिष्य, आश्लेपायें, मघायें, पूर्वे फल्गुनी, उत्तरे फल्गुनी, हस्त, चित्रा, निष्ट्या, विशाखे, अनूराधायें, रोहिणी, मूलवर्हणी,

[४९] १. ५, १।

पूर्वा अषाढायें, उत्तरा अषाढायें, श्रोणा, श्रविष्ठायें, शतभिषज्, पूर्वे प्रोष्ठपदायें, उत्तरे प्रोष्ठपदायें, रेवती, अश्वयुजौ, अपभरणी। फिर भी इस ग्रन्थ के एक बाद के स्थल[५०] पर इस तालिका में २८ नाम हैं, तथा नाक्षत्र (चान्द्र) मास को ३० दिन के 'सावन' (सौर) मास के अनुरूप बनाने के उद्देश्य से १४ वीं संख्या के बाद 'पूर्णिमा' और २८ वीं के बाद 'अमावस्या' को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस द्वितीय तालिका में निम्नलिखित अपवादों के अतिरिक्त अन्य नाम संहिताओं के ही समान हैं। कृत्तिकाओं के सात तारों का अलग-अलग 'अम्बा', 'दुला', 'नितत्नी', 'अभ्रयन्ती', 'मेघयन्ती', 'वर्षयन्ती', और 'चुपुणीका' नाम दिया गया है, और तैत्तरीय[५१] तथा काठक[५२] संहिताओं में भी यही नाम मिलते हैं। यहाँ मृगशीर्ष के अतिरिक्त इन्वकाओं का भी उल्लेख है।[५३] इनके बाद, आर्द्रा, पुनर्वसू, तिष्य, आश्रेषायें, मघायें (जिसके अतिरिक्त अनघायें, अगदायें, और अरुन्धतियों का भी उल्लेख है), फल्गुन्य (किन्तु अन्यत्र द्विवाचके 'फल्गुन्यौ' के रूप में)[५४], फल्गुन्य, हस्त, चित्रा, निष्ट्या, विशाखे, अनुराधायें, ज्येष्ठा, मूल, अषाढायें, अषाढायें, अभिजित्, श्रोणा, श्रविष्ठायें, शतभिषज्, प्रोष्ठपदायें, प्रोष्ठपदायें, रेवती, अश्वयुजौ, भरण्य, किन्तु अपभरणी भी,[५५] आते हैं। 'अभिजित्', जो इस ब्राह्मण[५६] के एक प्राचीन स्थल पर भी आता है, सम्भवतः प्रक्षिप्त है। किन्तु वेबर[५७] यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इस तालिका में 'अभिजित्' इसलिये प्रक्षिप्त प्रतीत होता है कि इसमें 'ब्राह्मण' को २८वाँ नक्षत्र माना गया है। किन्तु आपका यह तर्क इस तथ्य (जिससे वह स्वयं अपरिचित हैं) के आधार पर कुछ क्षीण सिद्ध होता है कि मैत्रायणी संहिता[५८] की तालिका में 'अभिजित्' सहित २८ नक्षत्रों के नाम हैं और अन्त में एक अन्य के रूप में 'ब्राह्मण' को भी सम्मिलित किया गया है।

एक अन्य स्थल[५९] पर तैत्तिरीय ब्राह्मण नक्षत्रों को, 'देव नक्षत्रों' और 'यम नक्षत्रों' के रूप में, दो वर्गों में विभाजित करता है जिनके अन्तगर्त क्रमशः १–१४ और १५–२७ (अभिजित् इनमें नहीं है) नक्षत्र आते हैं। यह

[५०] ३. १, ४, १ और बाद। तु० की० ३. १, १-२।
[५१] ४. ४, ५, १।
[५२] ४०, ४।
[५३] ३. १, ४, ३।
[५४] ३. १, ४, ९।
[५५] ३, १. ५, १४।
[५६] १. ५, २, ३।
[५७] उ० पु० ३०५, ३०६।
[५८] २. १३, २०।
[५९] १. ५, २, ७। तु० की० तिलक: ओरायन, ४१ और बाद।

विभाजन इसी ब्राह्मण[६०] के तृतीय खण्ड में मिलनेवाले एक अन्य विभाजन के अनुरूप है जहाँ एक मास के प्रकाशार्ध और अन्धकारार्ध दिवसों को नक्षत्रों के साथ समीकृत किया गया है। यह ब्राह्मण इनमें से प्रथम विभाजन को दक्षिण और द्वितीय को उत्तर मानता है; किन्तु इसका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है, और इसे केवल एक सांस्कारिक निरर्थकता मात्र ही कहा जा सकता है।

अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड के उत्तरार्ध में नक्षत्रों की एक ऐसी तालिका[६१] है जिसमें 'अभिजित्' भी सम्मिलित है। इस तालिका में दिये हुये नाम इस प्रकार हैं: कृत्तिकायें, रोहिणी, मृगशिरस्, आर्द्रा, पुनर्वसू, पुष्य, आश्लेषायें, मघायें, पूर्वा फल्गुन्यौ (सिच्)[६२], हस्त, चित्रा, स्वाति (पुलिङ्ग)[६३], विशाखे, अनुराधा,[६४] ज्येष्ठा, मूल, पूर्वा अषाढायें[६५], उत्तरा अषाढायें, अभिजित्, श्रवण, श्रविष्ठायें, शतभिषज्, द्वया प्रोष्ठपदा, रेवती, अश्वयुजौ, भरण्य।

नक्षत्रों की स्थिति :— नक्षत्रों की स्थिति के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में तो कुछ निश्चित नहीं है, किन्तु बाद का ज्योतिर्विज्ञान अधिकांश नक्षत्रों की ठीक-ठीक स्थितियाँ निर्धारित करता है, और इसकी उक्तियों तथा आरम्भिक मूल ग्रन्थों के कथनों में सम्पूर्ण रूप से देखने पर एक सन्तोषजनक सहमति मिलती होती है, यद्यपि वेबर[६६] इस तथ्य को सन्दिग्ध मानते हैं। नीचे दिये हुये निर्धारण सूर्य सिद्धान्त पर ह्विट्ने[६७] की टिप्पणियों पर आधारित है।

१. कृत्तिकायें निर्विवाद रूप से 'ईटा टौरी' (η Tauri), इत्यादि, अथवा प्लीएड्स (Pleiades) हैं। इस नक्षत्र-पुञ्ज को निर्मित करनेवाले सात

[६०] ३. १, २। तु० की० कौषीतकि ब्राह्मण ४. १२, विनायक की टिप्पणी सहित।

[६१] १९. ७, १ और बाद। यह संख्या १९. ७, १ (संशोधित रूप में) और ८, २ में २७ दी हुई है। तु० की० उक्त प्रथम सूक्त पर ह्विट्ने के अनुवाद ९०६, ९०७, में लैनमैन की परिचयात्मक टिप्पणी।

[६२] 'पूर्वा फल्गुन्यौ' पाठ त्रुटिपूर्ण होना चाहिये; कदाचित। 'द्वये' (तु० की० मन्त्र ५) अथवा 'पूर्वे' पढ़ना चाहिये। देखिये ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद ९०८, में लैनमैन। 'उत्तरे फल्गुन्यौ' को छोड़ दिया गया है।

[६३] निश्चित रूप से 'स्वाती' ही पढ़ा जाना चाहिये। किन्तु सभी पाण्डुलिपियों (संहिता तथा पद) में 'स्वाति' के लिये तु० की० कीथ की टिप्पणी साहित्य ऐतरेय आरण्यक २. ३, ६ का 'नवक्षत्ति'।

[६४] देखिये ह्विट्ने ९०८, में लैनमैन।

[६५] वही ९०९, में लैनमैन 'पूर्वा अषाढ़ा' और 'उत्तरा अषाढ़ा' पढ़ते हैं; ह्विट्ने 'पूर्वा' तथा 'उत्तरा अषाढ़ायें' पढ़ते हैं। पाण्डुलिपियों में 'पूर्वा' और 'उत्तरे' है जो विश्वसनीय नहीं है।

[६६] उ० पु० २, ३६७ और बाद।

[६७] ओरियण्टल ऐण्ड लिङ्गुइस्टिक एसेज़ २, ३५० और बाद।

तारों के, जिनका यजुर्वेद संहिताओं[६८] के आधार पर ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, अन्तर्गत 'अभ्रयन्ती', 'मेघयन्ती', और 'वर्षयन्ती' भी आते हैं जिनसे स्पष्ट रूप से वर्षा से सम्बन्धित 'प्लीएड्स' का आशय है। 'कृत्तिका' शब्द का अर्थ सम्भवतः 'जाल' है जो कि 'कृत्' (कातना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है।

२. *रोहिणी* (रक्तवर्ण) α टौरी (Tauri) अथवा 'अलदबारन' (Aldebaran) नामक एक प्रखर रक्त-वर्ण तारे का भारतीय नाम, और हायेड्स तारक-मण्डल ($\alpha\ \theta\ \gamma\ \delta\ \varepsilon$ Tauri) का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण[६९] में प्रजापति के आख्यान द्वारा इसकी पहचान सर्वथा सुनिश्चित हो गई है। इस ग्रन्थ में ऐसा वर्णन है कि प्रजापति ने अनाचारेच्छा से अपनी पुत्री (रोहिणी) का पीछा किया। उन्हें इस कुकृत्य से रोकने के लिये 'व्याध' (*मृगव्याध* : Sirius) ने उन पर एक पाशुपत वाण (इषु *त्रिकाण्डा* : 'काल पुरुष' के कटिबन्ध में स्थित तीन तारे) चलाया। यहाँ प्रजापति स्पष्टतः 'कालपुरुष' (Orion) हैं ('काल पुरुष' के शिरोभाग में स्थित एक छोटे से तारक-पुञ्ज का ही नाम 'मृगशिरस्' है)।

३. *मृगशीर्ष* अथवा *मृगशिरस्* , जिसे 'इन्वका' अथवा 'इन्वगा' भी कहते हैं, मन्द ज्योतिवाला λ, ϕ^1, ϕ^2 ओरियॉनिस (Orionis) तारक-पुञ्ज प्रतीत होता है। सम्भवतः मलिन प्रकाश के कारण ही अथर्ववेद के शान्तिकल्प में इसे 'अन्धका' (अन्धा) कहा गया है।[७०]

४. *आर्द्रा*, अल्फा ओरियॉनिस (α Orionis) नामक एक उज्ज्वल तारे का नाम है। किन्तु जिस शब्द से इसका नाम करण किया गया है वह बहुवचन 'आर्द्राओं' के रूप में शाङ्खायन गृह्य सूत्र[७१] और नक्षत्र कल्प[७२] में, तथा द्विवाचक 'बाहू' के रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण[७३] में, दो अथवा अधिक तारों के एक नक्षत्र-पुञ्ज का द्योतक है। साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये[७४] कि इसके समकक्ष चीनी नाम 'सिऊ' के अन्तर्गत 'कालपुरुष' (Orion) के स्कन्ध, कटिबन्ध और घुटनों के भाग में स्थित सात प्रखर तारे आते हैं।

[६८] तैत्तिरीय संहिता ४. ४, ५, १; काठक संहिता ४०. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, ४, १।

[६९] ३. ३३। तु० की० शतपथ ब्राह्मण २. १, २, ८; तिलक : ओरायन, ९८, और बाद।

[७०] ह्विट्ने : उ० पु०, ४०१। तु० की० तिलक : १०२ और बाद।

[७१] १. २६।

[७२] १०।

[७३] १. ५, १।

[७४] ह्विट्ने : उ० पु० ३५२, ४०१, नोट १।

५. *पुनर्वसू* (वह दो जिन्होंने पुनः सम्पत्ति प्रदान की) मिथुन राशि के उन दो तारों (α और β Geminorum) का द्योतक है जो पाश्चात्य देशों में (लीडा के जुड़वा पुत्र) केस्टर (Castor) और पौलुक्स (Pollux) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें सन्देह नहीं की इसका नाम उन अश्विनों के उदार चरित्र से सम्बद्ध है जो पाश्चात्य डायोस्क्यूरी (Dioscuri) के समान है।[७५]

६. *तिष्य* अथवा *पुष्य* के अन्तर्गत 'कर्क' (Crab) के शरीर में स्थित कुछ मन्द प्रकाश वाले तारों (γ, δ, और θ Cancri) का समूह आता है। इसके बहुवचन का प्रयोग कुछ विचित्र है क्योंकि आरम्भ में इससे एक तारे का अर्थ रहा होगा और इस समूह का कोई भी तारा प्रखर नहीं है।[७६]

७. *आश्रेषायें* अथवा *आश्लेषायें*, जिन्हें कुछ ग्रन्थों[७७] में निश्चित रूप से 'अश्रेषायें' अथवा 'अश्लेषायें' पढ़ना चाहिये, हृत्सर्प मण्डल (Hydrae) के δ, ε, η, ρ, σ और सम्भवतः ξ की भी, द्योतक हैं। इस शब्द का अर्थ 'आलिंगन करनेवाला' है जो इस नक्षत्र-पुञ्ज के सर्वथा अनुकूल है।

८. *मघायें*, हँसिया (Sickle) अथवा α, η, γ, ξ, μ, ε लिओनिस (Leonis) की द्योतक हैं। *अनघा* (पाप रहित) इत्यादि इसके विभेदात्मक रूप स्पष्टतः इस नक्षत्रपुञ्ज के शुभ प्रभाव को व्यक्त करते हैं।

९, १०. *फल्गुनी*, *फल्गुन्यौ*, *फल्गू*,[७८] *फल्गुनी* (बहु०), *फल्गुन्य* (बहु०), वास्तव में युगल नक्षत्र-पुञ्ज हैं जिन्हें 'पूर्वे' और 'उत्तरे' के रूप में विभाजित किया गया। 'पूर्वे' अथवा प्रथम δ और θ लिओनिस हैं और 'उत्तरे' अथवा बाद के β और ९३ लिओनिस। वेबर के अनुसार, ऋग्वेद[७९] के विभेदात्मक रूप *अर्जुनी* की भाँति, यह एक उज्ज्वल वर्ण नक्षत्र-पुञ्ज का द्योतक है।

११. *हस्त*, कौरवस (Corvus) मण्डल के पाँच प्रखर तारों (δ, γ, ε, α, β) से मिल कर बना है और इसके तारों की संख्या स्वयं इस शब्द से ही व्यक्त होती है। गेल्डनर[८०] के अनुसार ऋग्वेद के 'पाँच वृषभ' ही यह नक्षत्र-पुञ्ज हैं।

[७५] ओल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद २१२; मैकडौनेल : वेदिक माइथौलोजी, पृ० ५३।

[७६] ह्विट्ने : उ० पु० ४०३, नोट १।

[७७] 'आश्रेषायें', शाङ्खायन गृह्यसूत्र १. २६; शान्तिकल्प; नक्षत्रकल्प; 'आश्लेषायें' शान्तिकल्प २; नक्षत्रकल्प ४. ४८।

[७८] कौषीतकि ब्राह्मण ५. १।

[७९] १०. ८५, १३।

[८०] वेदिशे स्टूडियन ३, १७७; ऋग्वेद १. १०५, १०। तु० कीं० नीचे पृ० ४८२, नोट १५६।

१२. *चित्रा*, पाश्चात्य अल्फा वर्जिनिस (α Virginis) नामक एक सुन्दर तारा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[81] में इन्द्र के एक आख्यान में, और शतपथ ब्राह्मण[82] में 'दो दिव्य श्वानों' (दिव्यौ श्वानौ) की कथा में इसका उल्लेख है।

१३. *स्वाती* अथवा *निष्ट्या*, बाद में स्पष्टतः एक चमकदार तारा है जिसका पाश्चात्य नाम 'आर्कत्यूरस' (Arcturus) अथवा अल्फा 'बूट्स' है। शान्तिकल्प[83] में इसके उल्लेख के आधार पर इसकी स्थिति उत्तर में निश्चित हो जाती है क्योंकि यहाँ इसे 'सदैव उत्तरी पथ पर गमन करनेवाला' (नित्यम् उत्तर-मार्गगम्) कहा गया है। फिर भी तैत्तिरीय ब्राह्मण[84] एक नाक्षत्रीय 'प्रजापति' का निर्माण करता है और उनके सर के लिये 'चित्रा' (α वर्जिनिस), हाथ के लिये हस्त' (कौरवस), जाँघों के लिये 'विशाखे' (α और β लिब्रा), खड़े होने के स्थान के लिये 'अनुराधायें' (β δ और π स्कॉर्पियोनिस), और हृदय के लिये 'निष्ट्या' का उल्लेख करता है। किन्तु ३०° बाहर होने कारण 'आर्कत्यूरस' इस आकार को भ्रष्ट कर देता है, जब कि, दूसरी ओर, अरब और चीनी पद्धतियों में 'आर्कत्यूरस' के स्थान पर क्रमशः ι, κ, और λ वर्जिनिस तथा κ वर्जिनिस हैं जो प्रजापति के उक्त आकार में भली-भाँति व्यवस्थित हो जाते हैं। किन्तु वेबर[85] के इस तर्क के महत्व के विपरीत भी ह्विट्ने[86] इस विषय पर निश्चित नहीं हैं कि 'निष्ट्या' से यहाँ 'कन्या' (Virgo) राशि के एक तारे का अर्थ मानते हुये यह व्यक्त कहते हैं कि 'निष्ट्या' (जाति बहिष्कृत) नाम इस नक्षत्र के, अन्य सम्बद्ध नक्षत्रों से, पृथकत्व का संकेत करता है।

१४. *विशाखे*, तुला राशि के दो उज्ज्वल तारों (α और β Librae) का नाम है। इस नक्षत्र को अमर कोश के अनुसार बाद में 'राधा' कहा गया है और अथर्ववेद[87] में 'राधो विशाखे' ('विशाखे' समृद्धि हैं) व्याहृति का मिलना कौतूहलवर्धक ही है। किन्तु 'राधा' सम्भवतः बाद के उस 'अनुराधा' नक्षत्र के नाम पर आधारित एक आविष्कार मात्र प्रतीत होता है जिसका

[81] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, २, ४–६।
[82] २. १, २, १३–१७।
[83] ३।
[84] १. ५, २। तु० की० तिलकः ओरायन २०४।
[85] उ० पु० २, ३०७, ३०८।
[86] उ० पु० ४०९।
[87] १९. ७।

त्रुटिपूर्ण रूप से 'जो राधा के बाद अथवा राधा का अनुगमन करता है', अर्थ मान लिया गया है।[८८]

१५. *अनूराधायें* अथवा *अनुराधा* (समृद्धिदायक), वृश्चिक राशि के β, δ और π (सम्भवतः ρ भी) स्कॉर्पियोनिस का नाम है।

१६. *रोहिणी* (रक्तवर्ण); *ज्येष्ठघ्नी* (ज्येष्ठतम का वधिक); अथवा *ज्येष्ठा* (ज्येष्ठतम) वृश्चिक के σ, α और τ तारक पुञ्ज का नाम है। वृश्चिक का केन्द्रीय तारा प्रकाशमान और रक्तवर्ण 'ज्येष्ठा' है जिसका पाश्चात्य नाम अल्फा 'एण्टारिस'(Antares) अथवा 'कौर स्कॉर्पियोनिस' (Cor Scorpionis) है।

१७. *विचृतौ* (दो मुक्त करने वाले); *मूल* (जड़); अथवा *मूलबर्हणी* (उन्मूलन), प्रमुखतः वृश्चिक के पुच्छ भाग के किनारे के λ और ν तारों के द्योतक हैं, किन्तु ε से ν तक के नौ अथवा ग्यारह तारे भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

१८, १९. *अषाढायें* (अविजित), जिसका *पूर्वा* और *उत्तरा* के रूप में विभेद किया गया गया है, वास्तव में युगल तारक-पुञ्जों की द्योतक हैं। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत धनु-मण्डल (Sagittarii) के γ, δ, ε और η अथवा केवल δ और ε आते हैं, और द्वितीय के अन्तर्गत धनु-मण्डल के ही ϕ, σ, τ, और ζ, अथवा केवल σ और ζ आते हैं। यह सम्भव है कि मूलतः एक चतुर्भुज निर्मित करने वाले केवल चार तारों, यथा δ और ε के साथ σ और ζ, से मिलकर ही इस सम्पूर्ण नक्षत्र-पुञ्ज का निर्माण माना गया हो।[८९]

२०. *अभिजित्* एक प्रकाशमान तारा है जिसका पाश्चात्य नाम α लीरे (Lyrae) है और इसके दो अन्य सम्बन्धी तारे ε और ζ भी इसी मण्डल के अन्तर्गत आते हैं। ६०° उत्तरी अक्षांश में इसकी स्थिति, इसके समकक्ष अरबी और चीनी नक्षत्रों की स्थिति से सर्वथा भिन्न है। औल्डेनबर्ग[९०] ने इसी तथ्य का अपने इस मत के समर्थन में उपयोग किया है कि चान्द्र-नक्षत्रों के अन्तर्गत इसे बाद में सम्मिलित किया गया था; फिर भी, मैत्रायणी संहिता[९१] जैसे प्राचीन ग्रन्थ तक में इसके नाम का उल्लेख, जिस पर आपका

[८८] ह्विट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, ९०८, में लैनमैन। तु० की० थिबो : ज० ए० सो० ६३, १५६।

[८९] तु० की० थिबो : ज० ए० सो० ६३, १५६।

[९०] न० गो०, १९०९, ५५१, ५५२।

[९१] २. १३, २०।

ध्यान नहीं गया, आपके इस मत को बहुत कुछ अप्रामाणिक[92] सिद्ध कर देता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[93] में 'अभिजित्' को 'अषाढाओं के ऊपर' और श्रोणा के नीचे' बताया गया है जिससे वेबर[94] अन्तरिक्ष में इसकी स्थिति का सन्दर्भ मानते हैं और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वेदों में वर्णित इसकी स्थिति अरब मनाज़िल और चीनी सिऊ—अर्थात् α, β कैप्रीकौर्नी (Capricorni) के अनरूप है। किन्तु ह्विट्ने[95] प्रभावशाली ढंग से यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'ऊपर' और 'नीचे' शब्दों से वास्तव में तालिका में 'अभिजित्' की स्थिति का सन्दर्भ है, अर्थात्, इनसे अषाढाओं के 'बाद' और श्रोणा के 'पहले' अर्थ है।

२१. *श्रोणा* (लंगड़ा) अथवा *श्रवण* (कान) उस उज्ज्वल तारे का द्योतक है जिसका पाश्चात्य नाम α एक्वीले (Aquilae) है और जिसके नीचे β तथा ऊपर γ स्थित हैं। वेबर[96] का यह सर्वथा निरर्थक सा विचार है कि 'श्रवण' शब्द दो कान और उनके बीच स्थित सर को व्यक्त करता है। यह नाम मनाज़िल और सिऊ से सर्वथा पृथक् और स्पष्टतः केवल एक भारतीय आविष्कार है।[97]

२२. *श्रविष्ठायें*[98] (सर्वाधिक प्रसिद्ध) अथवा बाद की *धनिष्ठायें*[99] (सर्वाधिक सम्पन्न) α, β, δ, और γ, तथा सम्भवतः ξ, नामक तारों से युक्त एक हीरे के आकार वाला नक्षत्र-पुञ्ज है। पिछले नक्षत्र की भाँति इसकी भी मनाज़िल और सिऊ के साथ कोई संगति नहीं है।

२३. *शतभिषज्* अथवा *शतभिष*[99], (शत चिकित्सकों से युक्त) सम्भवतः वह तारा प्रतीत होता है जिसका पाश्चात्य नाम λ एक्वेरी (Aquarii : कुम्भ) है। इसी तारे के चतुर्दिक स्थित तारों की संख्या को अनुमानतः सौ मान लिया गया है।

२४,२५. *प्रोष्ठ-पदायें* (स्त्री०, बहु०) अथवा बाद में *भद्र-पदायें*[100], चतुर्भुज

[92] साथ ही साथ यह भी ध्यान देना चाहिये कि तैत्तिरीय संहिता तथा काठक संहिता, दोनों की ही तालिकाओं में 'अभिजित्' नहीं है।

[93] १. ५, २, ३।

[94] उ० पु० १. ३२०, ३२१; २, ३०७: इन्डिशे स्टूडियन १०, २२४ और बाद।

[95] ज० अ० ओ० सो० ८, ३९३।

[96] उ० पु० २, ३८२; किन्तु देखिये ह्विट्ने ४०४।

[97] ओल्डेनबर्ग, उ० स्था०।

[98] शाङ्खायन गृह्य सूत्र १. २६; शान्तिकल्प १३; 'धनिष्ठा', वहीं ५।

[99] इसी प्रकार सम्भवतः मैत्रायणी संहिता २. १३, २० में भी, जहाँ देखिये फॉन श्रोडर की आलोचनात्मक टिप्पणी। शान्तिकल्प ५, और नक्षत्रकल्प २, में 'शतभिषा', और नक्षत्रकल्प १ में 'शतभिष' (पुलिङ्ग) है।

[100] शान्तिकल्प, ५, इत्यादि।

के आकार के एक युगल नक्षत्र हैं जिनमें से एक भाग (पूर्व) के अन्तर्गत α और β पेगासी (Pegasi : हयशिरा), तथा द्वितीय (उत्तर) के अन्तर्गत γ पेगासी (हयशिरा) और α एन्ड्रोमीडा (Andromedae : उपदानवी) नामक तारे आते हैं।

२६. *रेवती* (सम्पन्न) बहुसंख्यक तारों (बाद में इनकी संख्या ३२ बतायी गयी है) के समूह का द्योतक है। इस मण्डल के ζ मीन (ζ Piscium) तारे को दक्षिणतम कहा गया है और ५७० ई० के लगभग वसंत संपात यहीं पर पड़ता था।

२७. *अश्व-युजौ* (दो अश्व-सन्नद्ध करने वाले) मेष राशि के दो तारों, β और ζ (β और ζ Arietis) का द्योतक है। 'अश्विन्यौ'[101] और 'अश्विनी'[102] बाद के इसके नाम हैं।

२८. *अपभरणी*, *भरणी*, अथवा *भरण्य*, एक छोटे से त्रिभुज का नाम है जो मेष (Ram) के उत्तरी भाग में स्थित है। इसका पाश्चात्य नाम 'मस्का' (Musca) अथवा ३५, ३९ और ४१ मेष (Arietis) है।

नक्षत्र और मास :—ब्राह्मणों में नियमित रूप से तिथियाँ व्यक्त करने के लिये नक्षत्रों का प्रयोग किया गया है। इस कार्य के लिये दो विधियाँ अपनाई गई हैं। यदि किसी नक्षत्र का नाम पहले से ही स्त्रीलिङ्ग नहीं है तो उसे स्त्रीलिङ्ग में परिवर्तित करके 'पूर्ण-मास' (पूर्ण-चन्द्रमा) के साथ संयुक्त कर दिया गया है, जैसे—'तिष्या-पूर्णमास' (तिष्य नक्षत्र में पूर्ण चन्द्रमा)।[103] फिर भी, अपेक्षाकृत अधिकतर, नक्षत्र के नाम को व्युत्पन्न विशेषण में परिवर्तित करके 'पौर्णमासी' (पूर्ण-चन्द्रमा को 'रात्रि) के साथ, अथवा 'अमावास्या' (अमावस्या की रात्रि) के साथ व्यवहृत किया गया है, जैसा कि 'फाल्गुनी पौर्णमासी' ('फल्गुनी' नक्षत्र में पूर्णचन्द्रमा की रात्रि) में है;[104] अथवा, जैसा कि सामान्यतया सूत्रों में मिलता है, नक्षत्र का विशेषण अकेले ही पूर्ण-चन्द्रमा की रात्रि को व्यक्त करने के लिये व्यवहृत हुआ है। स्वयं

[101] शाङ्खायन गृह्यसूत्र १. २६; नक्षत्रकल्प ९. ३०।

[102] नक्षत्रकल्प ४. ४५; शान्तिकल्प ५. ११।

[103] तैत्तिरीय संहिता २. २, १०, १। तु० की० ७. ४, ८, १. २; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ९, १।

[104] शतपथ ब्राह्मण २. ६, ३, ११ और बाद; ६. २, २, १८; १३. ४, १, ४; कौषीतकि ब्राह्मण १. ३; ४. ४; ५. १। देखिये कैलेण्ट : ऊ० वी० ३६, ३७, और मास भी।

मासों को भी नक्षत्रों से व्युत्पन्न[105] नामों से पुकारा गया है, किन्तु ब्राह्मणों में केवल 'फाल्गुन'[106], 'चैत्र'[107], 'वैशाख'[108], 'तैष्य'[109] और 'माघ'[110] ही मिलते हैं, जब कि मासों की पूर्ण सूची के अन्तर्गत फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, प्रौष्ठपद, आश्वयुज, कार्त्तिक, मार्गशीर्ष, तैष्य और माघ आते हैं। विशुद्धतः इन सभी को चान्द्र-मास होना चाहिये, किन्तु चान्द्र-मासों का व्यवहार स्पष्टतः अत्यन्त सीमित था : हम देख चुके हैं कि तैत्तिरीय ब्राह्मण जैसे प्राचीन ग्रन्थ के समय में भी चान्द्र-मासों को तीस-तीस दिनों के उन बारह मासों के साथ समीकृत करने का प्रयास किया गया है जिनसे मिलकर एक सौर-वर्ष बनता है (देखिये *मास*)।

नक्षत्र और कालक्रमः—(१) मासों के नाम के आधार पर उस समय को निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है जब इन नामों का सर्वप्रथम व्यवस्थित व्यवहार आरम्भ हुआ था। सर विलियम जोन्स[111] ने इसकी सम्भावना का उल्लेख किया है और बेन्टले ने इस निष्कारण-सी मान्यता के आधार पर, कि 'श्रावण' सदैव 'कर्क-संक्रान्ति' को व्यक्त करता था, यह निष्कर्ष निकला है कि मासों के नाम ११८१ ई० पू० के पहले के नहीं हैं। वेबर[112] का ऐसा विचार है कि इस माध्यम से कालक्रम निश्चित करना सम्भव है, किन्तु ह्विट्ने[113] ने विश्वसनीय रूप से यह दिखाया है कि यह एक असम्भव तथ्य है, और थिबो[114] भी इसी दृष्टिकोण से सहमत हैं। मासों की संख्या बारह इसलिये निश्चित हो गई कि, जैसा कि ब्राह्मणों से स्पष्ट है, किसी न किसी प्रकार चान्द्र-समय को सौर-समय के अनुरूप बनाना अभीष्ट था। किन्तु पूर्णचन्द्रमा की रात्रि के साथ सम्बद्ध होने के रूप में सत्ताईस नक्षत्रों में से

[105] प्रथमतः एक विशेषण के रूप में, जिसके बाद 'मास' शब्द जोड़ना चाहिये—यथा : फाल्गुन (मास) को 'फल्गुनी' नक्षत्र से सम्बन्ध किया गया है।

[106] पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ९, ८।

[107] कौषीतकि ब्राह्मण १९. ३।

[108] शतपथ ब्राह्मण ११. १, १, ७।

[109] कौषीतकि ब्राह्मण १९. २, ३।

[110] वही; शतपथ ब्राह्मण १३. ८, १, ४। बाद वाली तालिका के लिये वेबर : नक्षत्र, २, ३२७, ३२८।

[111] एशियाटिक रिसर्चेज़ २, २९६।

[112] उ० पु० २, ३४७, ३४८; इन्डिशे स्टूडियन ९, ४५५; १०, २३०, २३१।

[113] ज० अ० ओ० सो० ६, ४१३; ८, ८५ और बाद।

[114] ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक १६।

केवल बारह के चयन का कोई भी कालक्रमानुगत महत्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ण-चन्द्रमा की स्थिति किसी भी समय केवल इन्हीं मासों के नाम से सम्बद्ध बारह नक्षत्रों तक सीमित नहीं थी, वरन् सदैव से एक-एक करके सत्ताईसों नक्षत्रों में से प्रत्येक में नियमित अवधि की आवृत्तियों के साथ ऐसा होता आया है।

(२) नक्षत्रों की सभी सूचियाँ कृत्तिकाओं से आरम्भ होती हैं। अतः यह मान लेना उचित ही है कि इस तथ्य का कोई विशेष कारण रहा होगा। परन्तु बाद में नक्षत्रों की सूची 'अश्विनी' से आरम्भ होती है और इस सूची को निर्विवाद रूप से इसी लिये पुनर्व्यवस्थित किया गया है कि इसे ग्रहण करने के समय, अनुमानतः छठवीं शताब्दी में, वसन्त सम्पात 'रेवती' और 'अश्विनी' के तटवर्ती ζ मीन (ζ Piscium) पर होता था।[115] इस लिये वेबर[116] ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि 'कृत्तिका' का चुनाव भी समान कारणों के आधार पर ही हुआ होगा। आपने ऐसा अनुमान किया है कि इस नक्षत्र पर वसंन्त सम्पात होने का समय तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में कभी रहा होगा।[117] इस मत के विरुद्ध एक गम्भीर आपत्ति यह है कि इसके अनुसार उस समय चन्द्रमा को नहीं वरन् सूर्य को नक्षत्रों के साथ सम्बद्ध मानने की स्थापना का प्रतिपादन किया गया है, और थिबो[118] तथा ओल्डेनबर्ग[119] दोनों ने ही, सम्पातों को कृत्तिकाओं के साथ सम्बद्ध करने के विचार के विरुद्ध मत व्यक्त किया गया है। याकोबी[120] का यह विचार है कि ऋग्वेद[121] में वर्षा का आरम्भ, तथा कर्क संक्रान्ति ही, नव-वर्ष के आरम्भ तथा पुराने वर्ष की समाप्ति को निर्दिष्ट करते हैं, और यह भी कि नव-वर्ष का आरम्भ फल्गुनी नक्षत्र में कर्क संक्रान्ति के समय होता था।[121] आपने सूर्य तथा

115 तु० की० कोलब्रुक : एसेज़ २, ·६४; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, २३४।

116 नक्षत्र २, ३६२-३६४; इन्डिशे स्टूडियन १०, २३४; इन्डियन लिटरेचर २, नोट २, इत्यादि।

117 देखिये वेबर : उ० स्था०; बूह्लर : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, २४५, नोट २०; तिलक : ओरायन, ४० और बाद।

118 इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, ९६।

119 त्सी० गे० ४८, ६३१; ४९, ४७३; ५०, ४५१, ४५२; न० गो० १९०९, ५६४; कीथ : ज० ए० सो० १९०९, ११०३।

120 फे० रो०, ६८ और बाद = इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, १५४ और बाद; त्सी० गे० ४९, २१८ और बाद; ५०, ८३; ज० ए० सो० १९१०, ४६३।

121 ७. १०३ (माण्डूक सूक्त); १०. ८५. ('विवाह' सूक्त)।

नक्षत्रों को सम्बद्ध मानने के अपने दृष्टिकोण के समर्थन में, 'देव' और 'यम' नक्षत्रों के रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण[122] में किये गये विभेद का भी उल्लेख किया है। किन्तु यह मत अत्यन्त असन्तोषजनक है : ऋग्वेद का उक्त स्थल उस समय तक यह आशय नहीं व्यक्त कर सकता जब तक 'द्वादश'[123] शब्द का 'बारह भागोंवाला' अर्थात् 'वर्ष' (जो कि वास्तव में सर्वमान्य व्याख्या है) के स्थान पर 'बारहवाँ (मास)' अनुवाद न कर दिया जाय; साथ ही सूर्य के साथ मान लिये गये सम्बन्ध द्वारा नक्षत्रों के विभाजन की किसी भी प्रकार कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि यदि यह मान ही लिया जाय कि 'कृत्तिका' नक्षत्र का चुनाव उसके वसन्त सम्पात के समय पड़ने के कारण किया गया था, तो भी ह्विट्ने[124] और थिबो[125] दोनों ही इसे ज्योतिष द्वारा प्रस्तुत उस तिथि के, जो मकर-संक्रान्ति को माघ में स्थित करती है, एक असावधानी के कारण हो गये विभेद के अतिरिक्त और कुछ भी मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं।

(३) मकर-संक्रान्ति का माघ में पड़ना एक ब्राह्मण ग्रन्थ द्वारा निश्चित है, क्योंकि कौषीतकि ब्राह्मण[126] इसे निश्चित रूप से माघ की अमावस्या में

[122] १. ५, २, ८।

[123] ऋग्वेद ७. १०३, ९।

[124] ओरियन्टल ऐण्ड लिन्गुइस्टिक एसेज़ २, ३८३।

[125] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, ९७। तु० की० कीथ : ज० ए० सो० १९१०, ४६४, नोट ४।

[126] १९. ३। सर्वप्रथम इस पर, नक्षत्र, २, ३४५ और बाद, में वेबर का ध्यान गया, जिन्होंने ज्योतिष के प्रदत्त के साथ इसके सम्बन्ध की ओर इङ्गित किया था। ज्योतिष के ही समान एक तिथि बौधायन श्रौत सूत्र में मिलती है जिसका शाम शास्त्री ने ग्वाम् अयन, १३७ में उल्लेख किया है (यथा : 'माघे मासे धनिष्ठाभिर् उत्तरेणैति भानुमान्, अर्धाश्लेषस्य श्रावणस्य दक्षिणेनोपनिवर्तते', अर्थात् 'माघ मास मे सूर्य उत्तर की ओर धनिष्ठा नक्षत्र में चला जाता है; श्रावण मास में वह दक्षिण की ओर आश्लेषा नक्षत्र के मध्य में लौट आता है; आशय स्पष्ट है, यद्यपि मूल भ्रष्ट है)। प्रत्यक्षतः यह स्थल कैलेण्ड की पाण्डुलिपियों में नहीं था अन्यथा उन्होंने अपने लेख, उ० वौ० २६, २७, में इसका उल्लेख किया होता। अतः इसकी तिथि तथा महत्व बहुत निश्चित नहीं है।

स्थित करता है (माघस्यामावास्यायाम्)। यहाँ हम भाष्यकारों[127] के साथ सहमत होते हुये इसे 'तैष' की पूर्णमासी के बाद आरम्भ होनेवाले अगले मास के मध्य की अमावस्या मानें, अथवा जो कि अधिक सम्भव है, माघ मास में पूर्णिमा के पहले इस मास को आरम्भ करानेवाली अमावस्या, यह बहुत अधिक महत्त्व नहीं रखता। उपलब्ध प्रदत्त निम्नलिखित रूप से एक युग के निर्धारणार्थ निश्चित सम्भावना प्रस्तुत करते हैं। यदि एक समय में 'रेवती' का अन्त वसन्त सम्पात पर होता था, तब अयन-चलन (विषुवपूर्वायण) के आधार पर हम यह गणना कर सकते हैं कि किस समय-बिन्दु पर वसन्त संपात माघ में शरद् संपात के समय पड़ता रहा होगा जब कि क्रान्तिमण्डल को अयनान्त-उन्मण्डल श्रविष्ठा में काटता था। अत्यन्त सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसी स्थिति भरणी के तृतीय चतुर्थांश में श्रविष्ठा से $६\frac{३}{४}$ नाक्षत्र-अवधि हटकर रही होगी, और इसके तथा अश्विनी के आरम्भ होने के बीच का अन्तर = $१\frac{३}{४}$ नाक्षत्र-अवधि=$२३\frac{१}{३}^\circ$ (२७ नक्षत्र अवधियाँ=३६०° के) रहा होगा। आरम्भ-बिन्दु ४९९ ई० मान कर, जो कि वराह मिहिर का मान्य काल है, जोन्स[128] ने माघ में शरद् संपात के समय वसन्त संपात पड़ने के काल को ११८१ ई० पू० स्थिर किया है—अर्थात् $१^\circ = ७२$ वर्ष (पूर्वायण के रूप में)। प्रैट[129] भी पूर्वायण के इसी क्रम को स्वीकार करते हुये, और 'सिद्धान्त' ग्रन्थों में मघा के सन्धि-स्थलस्थ 'प्रथम सिंह' (*α* Leonis अथवा Regulus) तारे[130] की निर्दिष्ट स्थिति को अपने आधार के रूप में ग्रहण करके, ठीक इसी तिथि के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। डेविस[131] और कोलब्रुक[132] 'चित्रा' के संधि-स्थलस्थ

[127] कौषीतकि ब्राह्मण, उ० स्था, पर विनायक; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. १९, १ पर आनर्तीय; वेबर : नक्षत्र २, ३४५ भाष्यकारों की मान्यता इस तथ्य पर आधारित प्रतीत होती है कि उनके मतानुसार एक मास की समाप्ति अमावस्या (अमान्त) अथवा पूर्णचन्द्रमा की तिथि (पूर्णिमान्त) ही होना चाहिये। किन्तु यह कह सकने के लिए कोई भी आधार नहीं है कि वैदिक काल में मास का आरम्भ अमावस्या से नहीं होता था; इस प्रकार कौषीतकि के स्थल की सर्वथा संतोषजनक व्याख्या हो जाती है।

[128] एशियाटिक रिसर्चेज़ २, ३९३।

[129] ज० ए० सो० ३१, ४९।

[130] तु० की० ह्विट्ने : ओरियन्टल ऐन्ड लिन्गुइस्टिक एसेज़ २, ३७३।

[131] एशियाटिक रिसर्चेज़ २, २६८; ५, २८८।

[132] एसेज़ १, १०९, ११०। देखिये सर टी० कोलब्रुक : ज० ए० सो० १, ३३५ और बाद; ह्विट्ने : उ० पु० २, ३८१, ३८२।

उस तारे को, जो अनिश्चित स्थितिवाला है और जिसके सम्बन्ध में विभिन्न मूल ग्रन्थों में ३° तक का अन्तर मिलता है, अपनी गणना का आधार मानते हुये एक भिन्न तिथि, १३९१ ई० पू०, के निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। फिर भी, यद्यपि 'ज्योतिष'[१३३] में निरीक्षण के युग के रूप में बारहवीं शताब्दी ई० पू० एक सीमा तक प्रचलित हो गई है तथापि इसका महत्त्व अत्यन्त संदिग्ध है। जैसा कि ह्विट्ने संकेत करते हैं, यह कह सकना असम्भव है कि पहले की नाक्षत्र अवधियाँ भी स्थिति में १३⅓° विस्तार वाली बाद की नाक्षत्र-अवधियों के ही अनुरूप रही होंगी। उन्हें समान विभाजनों के रूप में नहीं वरन् ऐसे तारक-समूहों के रूप में चुना गया था जिनकी चन्द्रमा के साथ संयुति थी; और बाद में बिल्कुल समान भागों में उनके विभाजन का परिणाम यह हुआ कि बाद के समूहों के प्रमुख तारे अपने पुञ्जों से सर्वथा बाहर हो गये।[१३४] और न हम यही कह सकते हैं कि ζ मीन (ζ Piscium) तारा पहले रेवती की पूर्वी सीमा का निर्माण करता था; यहाँ तक कि यह उस नक्षत्र-पुञ्ज में स्थित ही नहीं रहा हो सकता, क्योंकि यह रेवती के अनुरूप चीनी और अरबी नक्षत्र-पुञ्जों से बहुत दूर स्थित है। इन सब, तथा आरम्भ-विन्दु की अनिश्चितता के साथ— ५८२ ई०, ५६० ई० अथवा ४९१ ई० वह विभिन्न तिथियाँ हैं[१३५]— यह तथ्य भी संयुक्त है कि संपातों की स्थिति का शुद्ध निर्धारण केवल निरीक्षण का ही विषय नहीं, और यह भी कि वैदिक काल के हिन्दू ज्योतिर्विदों को बहुत शुद्ध निरीक्षक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन लोगों ने वर्ष के दिनों की संख्या को ठीक-ठीक निर्धारित नहीं किया है। 'ज्योतिष' तक में यह लोग इस संख्या को ३६६ दिनों से अधिक शुद्ध नहीं निर्धारित कर सके हैं। यहाँ तक कि, सूर्य सिद्धान्त[१३६] भी पूर्वायणों से परिचित नहीं। अतः सम्भव त्रुटियों के लिये एक सहस्र वर्ष की छूट

[१३३] उदाहरण के लिये; लासन : इ० आ० १², ६०६, ६०७, ९७६, और तु० की० थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक १७, १८; तिलक : ओरायन ३८, ३९।

[१३४] ह्विट्ने : ज० पु० १, ३७५।

[१३५] तु० की० ह्विट्ने : ज० पु० ३७७, ३७९; वेबर : उ० पु०, ३६३, ३६४, जहाँ आप ५८२ ई० को उचित मानते हैं।

[१३६] देखिये ह्विट्ने का नोट, सूर्य सिद्धान्त ३. १२; ज० पु० २, ३६९, नोट १; ३७४, नोट १। तु० की० तिलक : ओरायन १८।

देना एक उचित ही निष्कर्ष है[137], और कौषीतकी ब्राह्मण के प्रदत्तों के आधार पर जो केवल एक मात्र निष्कर्ष सम्भव है, वह यह है, कि इस ग्रन्थ में ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व का निरीक्षण अंकित है। यही निष्कर्ष ब्राह्मण साहित्य के सम्भाव्य काल के भी, जो कि प्रायः ८००–६०० ईसा पूर्व हो सकता है, सर्वथा अनुकूल है।[138]

(४) कालक्रम सम्बन्धी एक अन्य तर्क इस तथ्य द्वारा निष्कृष्ट हुआ

[137] व्हिट्ने ३८४, जिसका थिबो ने इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, २४, ९८ में अनुगमन किया है; ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी उन्ट मैथमेटिक, १८। यह भी देखिये: वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १०, २३६; इन्डियन लिटरेचर २, नोट २; व्हिट्ने ज० ए० सो० १, ३१३ और बाद; कोलब्रुक के एसेज़ १[2] १२० और बाद; मैक्समूलर: ऋग्वेद ४[2], ३० और बाद, अपने संस्करण में तिथि को अत्यन्त अनिश्चित मानने के लिये भी प्रवृत्त थे केवल अपनी एक सर्वसामान्य कृति (त्रिप्स, १, ११३ इत्यादि) में आपने ११८१ ई० पू०, अथवा, कदाचित जैसा कि प्रैट की गणनाओं के आधार पर बेन ने पुनर्गणना की है, ११८६ ई० पू० स्वीकार किया है। शामशास्त्री: ग्वाम् अयन, १२२ और बाद, द्वारा ज्योतिष का समर्थन आलोचनाओं का एक प्रकार का मिथ्या ग्रहण व्यक्त करता है। देखिये कीथ: ज० ए० सो० १९१०, ६६, नोट ५।

[138] तु० की० मैक्डौनेल: संस्कृत लिटरेचर १२; २०२; कीथ: ऐतरेय आरण्यक २० और बाद। इसे और पहले निश्चित किया गया है: देखिये थिबो: ऐस्ट्रोनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक, १८; बूहलर: सॉ० बे० ५५, ५४४, और तु० की० बूहलर: से० बु० ई० २, xl और बाद; इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, २४७; फॉन श्रोडर इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४५ और बाद। देखिये जौली: रेख्त उन्ट सिट्टे ३, भी; हिलेब्रान्ट: रिचुअल लिटरेचर ३१, जो कि आपस्तम्ब सूत्रों के लिये चतुर्थ अथवा पंचम शताब्दी ई० पू० जैसी एक पहले की तिथि स्वीकार करना चाहते हैं जिससे ब्राह्मणों की तिथि और भी पहले की मानना होगा। किन्तु एग्लिङ्ग सम्भवतः अधिक ठीक हैं जब वह आपस्तम्ब सूक्तों को तीसरी शताब्दी ई० पू० का मानते हैं। देखिये से० बु० ई० १२, xl। वैदिक साहित्य के काल को और पहले का मानने पर ज़ोर देना अबुद्धिमत्तापूर्ण प्रतीत होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि महाकाव्य में संक्रान्ति 'माघ' में ही पड़ती थी (महाभारत १३. १६८, ६. २८)। फिर भी, इस बात का सन्दर्भ दिया गया है (वही १. ७१, ३४) कि नक्षत्र का आरम्भ 'श्रवण' से होता था और प्रथम मास 'मार्गशीर्ष' था (देखिये हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० २४, २१ और बाद)। तु० की० तिलक: ओरायन ३७, २१६ भी।

है कि फाल्गुन को वर्षारम्भ का सूचक माने गये होने के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं, क्योंकि फल्गुनी में पूर्ण चन्द्रमा को अक्सर वर्ष का 'मुख' (मुखम्) कहा गया है।[139] याकोबी[140] इस तथ्य के आधार पर ऐसा कहा गया मानते हैं कि वर्ष की गणना मकर संक्रान्ति से की जाती थी जो लगभग ४००० वर्ष ई० पू० फाल्गुन मास में घटती थी। दूसरी ओर औल्डेनबर्ग[141] और थिबो[142] यह मानते हैं कि वसन्त ऋतु का प्रथम मास होने के कारण ही फाल्गुन को वर्ष के 'मुख' के रूप में चुन लिया गया था। यह दृष्टिकोण इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि वसन्त के आरम्भ में फाल्गुन मास के पड़ने के स्पष्ट प्रमाण[143] उपलब्ध हैं : जैसा कि हम कौषीतकि ब्राह्मण में ऊपर देख चुके हैं, माघ की अमावस्या को मकर संक्रान्ति के समय स्थित किया गया है[144] जो तथ्य फल्गुनी के पूर्ण चन्द्रमा को मकर संक्रान्ति से डेढ़ मास बाद, अथवा फरवरी के प्रथम सप्ताह में स्थित करता है, और यह तिथि स्वयं ८०० वर्ष ई० पू० के लगभग असम्भाव्य नहीं है तथा रोमन कैलेण्डर में veris initium के फरवरी ७ के भी अनुरूप है। यही तथ्य चार-चार मासों के वर्ष के तीन प्राकृतिक विभाजनों के भी अनुकूल है, क्योंकि वर्षा-ऋतु जून ७-१० से अक्तूबर ७-१० तक रहती है और यह निश्चित है कि चार-चार महीनों के विभाजन का द्वितीय क्रम वर्षा के आरम्भ के साथ ही

[139] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, ८, १. २; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ९, ९। तु० की० कौषीतकि ब्राह्मण ४. ४; ५. १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, २, ८; शतपथ ब्राह्मण ६. २, २, १८; आश्वालायन श्रौत सूत्र ५. ३. १६। तैत्तिरीय और कौषीतकि ब्राह्मणों के अनुसार आरम्भ दोनों नक्षत्रों के मध्य में पड़ता है।

[140] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, १५६ और बाद; त्सी० गे० ४९, २१३ और बाद; ५०, ७२-८१। देखिये तिलक : ओरायन ५३ और बाद; १९८ और बाद।

[141] त्सी० गे० ४८, ६३० और बाद; ४९, ४७५, ४७६; ५०, ४५३-४५७। तु० की० ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० १६, lxxxvii।

[142] इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, ८६ और बाद।

[143] देखिये वेबर : नक्षत्र २, ३२९ और तु० की० शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३६; कौषीतकि ब्राह्मण ५. १; कात्यायन श्रौत सूत्र १. २, १३ पर भाष्य में एक श्रुति का स्थल; बौधायन धर्म सूत्र २. २, ४, २३, और मुख्यतः शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, २. ४। इसी प्रकार फाल्गुन पूर्णिमा को 'ऋतुओं का मुख' (ऋतुनाम् मुखम्) कहा गया है : काठक संहिता ८. १; मैत्रायणी संहिता १. ६, ९।

[144] १९. २, ३।

आरम्भ होता था (देखिये चातुर्मास्य)। दूसरी ओर, तिलक[145] का यह मत है कि तैत्तिरीय संहिता (२३५० वर्ष ई० पू०) के समय मकर संक्रान्ति माघी पूर्ण चन्द्रमा के साथ पड़ती थी, तथा यह फाल्गुनी और चैत्री के साथ बहुत पहले के समय—उदाहरण के लिये ४०००-२५०० ई० पू०, और ६०००-४००० ई० पू०—पड़ती रही होगी।

(५) तैत्तिरीय संहिता[146] और पञ्चविंश ब्राह्मण[147] के वह स्थल जो फाल्गुन के पूर्ण चन्द्रमा को वर्ष का आरम्भ मानते हैं, एक विकल्प के रूप में चैत्र के पूर्ण चन्द्रमा का भी उल्लेख करते हैं। सम्भवतः इस वाद के मास को इसलिये चुना गया था जिससे वर्ष का प्रथम दिन बिल्कुल वसन्त ऋतु में ही पड़े,[148]। यह उस काल का अवशेष नहीं है जब मकर संक्रान्ति चैत्र में पड़ती थी, जैसा कि याकोबी का विश्वास है। एक अन्य विकल्प 'एकाष्टका' है, जिसकी भाष्यकारों ने मघाओं में पूर्ण चन्द्रमा के बाद आठवें दिन के रूप में व्याख्या की है, और जो समाप्त हो रहे वर्ष के उत्तरार्ध की अन्तिम त्रैमासिक अवधि के रूप में एक ऐसा समय है जिसे हम वर्ष के अन्त का सूचक मान सकते हैं। एक चतुर्थ विकल्प पूर्ण चन्द्रमा के पहले का चौथा दिन है; यहाँ जिस पूर्ण चन्द्रमा से आशय है वह चैत्र का ही होगा, क्योंकि आपस्तम्ब द्वारा उद्धृत 'आलेखन' ने इसे माघ का नहीं माना है, जैसा कि आश्मरथ्य लौगाक्षि और मीमांसकों का विश्वास था, और जैसा कि तिलक भी मानते हैं।[149]

(६) पुनश्च, कुछ अन्य लोगों ने गृह्य संस्कारों के आधार पर वर्ष को मार्गशीर्ष से आरम्भ किया है, जैसा कि इस मास के एक दूसरे नाम आग्रहायण[150] (वर्ष के आरम्भ से सम्बद्ध) द्वारा भी व्यक्त होता है। याकोबी

[145] ओरायन ५३, और बाद; १९८ और बाद।

[146] ७. ४, ८, १।

[147] ५. ९। देखिये वेबर : उ० पु० २, ३४१–३४४; तिलक : ओरायन ४३ और बाद, द्वारा उठाये गये प्रश्नों के पूर्ण विवेचन के लिये, थिबो : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, ८५ और बाद।

[148] थिबो : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, ९३। दूसरे पक्ष के लिये तिलक : १९८ और बाद।

[149] थिबो : उ० पु० ९५; तिलक ५१ और बाद। तु० की० कात्यायन श्रौत सूत्र १३. १. ८–१०; वेबर : १, ३४३, नोट २, ३४४।

[150] थिबो : उ० पु० ९४, ९५। तु० की० वेबर : २, ३३२–३३४।

और तिलक[151] का विचार है कि यह मार्गशीर्ष में पड़नेवाले शरत सम्पात का द्योतक है, जो कि मकर संक्रान्ति के फल्गुनी में पड़ने के अनुकूल है। किन्तु जैसा थिवो[152] स्पष्ट रूप से दिखाते हैं, इसको ऐसे वर्ष के आरम्भक के रूप में चुना गया था जिसका आरम्भ ठीक उसी प्रकार शरत् ऋतु से माना जाता था जिस प्रकार कुछ लोग फाल्गुन की अपेक्षा चैत्र से वसन्त ऋतु का आरम्भ मानते थे।[153]

(७) वैदिक अध्ययन प्रारम्भ करने के लिये गृह्यसूत्रों में दिये गये निर्देशों के आधार पर याकोबी ने, बूहलर[154] के समर्थन सहित, ऐसा भी तर्क उपस्थित किया है कि यह अध्ययन वर्षा के आगमन के साथ (जैसा कि बौद्ध 'वस्सा' में है) आरम्भ होता था जो कि ग्रीष्म (कर्क) संक्रान्ति का सूचक है। आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कुछ सूत्रों में अध्ययन आरम्भ करने के समय के रूप में यदि भाद्रपद का भी उल्लेख है तो ऐसा इसलिये निर्धारित किया गया है कि एक समय में प्रोष्ठपदायें (भाद्रपदों का एक पहले का नाम) ग्रीष्म-संक्रान्ति के समय ही पड़ती थीं, और यह स्थिति उस समय थी जब शरत् संक्रान्ति फाल्गुन में होती थी। किन्तु ह्विट्नी[155] ने यह मत व्यक्त किया है कि ऐसा तर्क सर्वथा अनुपयुक्त है; हम यह नहीं कह सकते कि वर्षा और अध्ययन के बीच कभी कोई अनिवार्य सम्बन्ध था—'श्रावण' जैसे मास को अधिक उपयुक्त माना जा सकता है क्योंकि इसका 'श्रवण' (कान) शब्द से सम्बन्ध है—और पूर्वायणों को दृष्टि में रखते हुए हमें यह मानना चाहिये कि वर्षा आरम्भ होने के समय के साथ भाद्रपद की संयुति के कारण ही इसे उस

[151] तिलक का दृष्टिकोण ओरायन, ६२ और बाद, में मिलता है। यह 'मृगशिराओं' के पर्यायवाची के रूप में अमर (१. २, २३) के 'आग्र-हायणी', तथा कुछ पुराकथाओं (अध्याय ५.-७.) पर आधारित हैं। आप 'आग्र-यण' और ओरायन को समीकृत (२२१ और बाद) करते हैं (!)।

[152] उ० पु० ९४, ९५।

[153] इसी के अनुरूप कृत्तिका से आरम्भ होने वाला वर्ष बहुत पहले का नहीं है, थिवो : उ० पु० ९६। तु० की० वेवर : उ० पु० २, ३३४।

[154] इण्डियन ऐन्टिक्वेरी २३, २४२ और बाद।

[155] ज० अ० ओ० सो० १६, lxxxiv और बाद।

समय भी निर्धारित किया गया था जब वास्तव में इसकी यह संयुति समाप्त हो चुकी थी।[१५६]

[१५६] यहाँ निम्नलिखित बातों का उल्लेख आवश्यक है। (१) विवाह-संस्कार में वधू को बताये जाने वाले तारे के नाम 'ध्रुव' पर आधारित याकोबी के तर्क। यह शब्द गृह्य सूत्रों से पहले के साहित्य में नहीं मिलता; इसलिये यह प्रश्न अनिश्चित ही रह जाता है कि उक्त प्रथा प्राचीन थी अथवा नहीं। याकोबी का तर्क है कि 'ध्रुव' का अर्थ 'स्थिर' है, और इससे मूलतः एक वास्तविक ध्रुवतारे का ही सन्दर्भ रहा होगा। साथ ही आपका मत है कि ऐसा स्थिर तारा तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में ही रहा होगा। व्हिट्ने और औल्डेनबर्ग इस मत को निश्चित रूप से इस आधार पर अस्वीकृत कर देते हैं कि एक लोक-कथा से बहुत प्रमाणिक निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये, और विवाह-संस्कार की आवश्यकता ध्रुव के पास स्थित किसी भी चमकदार तारे से पूर्ण हो सकती है। यही निष्कर्ष विश्वसनीय प्रतीत होता है। तु० की० कीथ : ज० ए० सो० १९०९, ११०२; १९१०, ४६५; इसके विपरीत याकोबी : वहीं, १९०९, ७२६ और बाद; १९१०, ४६४। (२) शतपथ ब्राह्मण यह मत व्यक्त करता है कि 'कृत्तिकायें' पूर्व दिशा से नहीं चलतीं, जब कि अन्य चलते हैं। शतपथ की इस निरीक्षणात्मक उक्ति को एक तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० की तिथि प्रस्तुत करनेवाले के रूप में मान लिया गया है (याकोबी द्वारा, ज० ए० सो० १९१०, ४६३, ४६४)। किन्तु शतपथ का यह उल्लेख इस परिणाम की पुष्टि करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त है। साथ ही कालक्रम सूचक के रूप में इसकी अविश्वसनीयता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि बौधायन श्रौतसूत्र १८. ५, में भी इसी समान उल्लेख के अतिरिक्त एक ऐसा भी उल्लेख है जो 'बार्थ के अनुसार केवल ई० सन् की छठवीं अथवा उसके बाद की किसी शताब्दी के लिये ही उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि इसके अनुसार विषुवविन्दु चित्रा और स्वाती के बीच स्थित है, जो दोनों ही बहुत पहले के समय में विषुवत रेखा के काफी उत्तर में स्थित थे (देखिये कैलेण्ड : ऊ० बौ० ३७–३९)। शतपथ ब्राह्मण के माध्यन्दिन शाखा का वही स्थल (२. १, २, २) यह कहता है कि कृत्तिकाओं की संख्या किसी भी अन्य नक्षत्र के तारों की संख्या से अधिक है क्योंकि अन्य में एक, दो, तीन, या चार तारे हैं, अथवा जिनमें काण्व शाखा (देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, २८२, नोट २) के अनुसार चार ही तारे हैं। इस उक्ति पर बहुत विश्वास करना असम्भव है, क्योंकि 'हस्त' में बाद में पाँच तारे बताये गये हैं, और इसका नाम (उँगलियों को उद्दिष्ट करके) पाँच का ही व्यञ्जक है (तु० की० वेबर : नक्षत्र २, ३६८, ३८१), और सम्भवतः ऋग्वेद (१. १०५, १०) में भी यही

संख्या उद्दिष्ट है। देखिये गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, १७७। (३) यह दिखाने का भी प्रयास किया गया है कि नक्षत्रों के नाम तालिका में उनके स्थान के द्योतक हैं। इस प्रकार वेन्टले : हिस्टॉरिकल व्यू, २, का विचार है कि 'विशाखा' को इसलिये इस नाम से पुकारते थे क्योंकि विपुव-उन्मण्डल, विपुवरेखा को, १४२६ ई० पू० के लगभग विभाजित करता था; तिलक : ओरायन, ५७ और वाद, ने इसका खण्डन किया है। 'ज्येष्ठघ्नी' की 'ज्येष्ठतम का वध करनेवाला' के रूप में व्याख्या की गई है—अर्थात् यह गत वर्ष को समाप्त करके नव वर्ष का आरम्भ करती है। तिलक, ९०, यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि 'मूल' को इसलिये इस नाम से पुकारा जाता था कि इसका सूर्य के विपरीत उदय और अस्त होना उस समय वर्ष के आरम्भ का सूचक था जब कि वसन्त संपात मृगशिराओं के निकट था। ह्विट्ने : सूर्य सिद्धान्त, १९४, का ऐसा दृष्टिकोण अधिक सम्भव है कि यह दक्षिणतम स्थित था और इसीलिये इसे नक्षत्रों का आधार (मूल) मान लिया गया।

नक्षत्रों की धारणा का आरम्भ:—जैसा कि हम देख चुके हैं, उस पद्धति को व्यक्त करने के लिये कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर भारत में नक्षत्रों की धारणा का आरम्भ हुआ। ऋग्वेद के प्राचीन अंशों में केवल तारों के रूप में ही इनका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इनमें से केवल तीन के ही नाम इस संहिता के आधुनिकतम भागों में मिलते हैं और अन्ततः वाद के अथर्ववेद तथा यजुर्वेद संहिताओं में ही इनकी पूर्ण तालिका उपलब्ध होती है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि वैदिक भारतीयों को अन्य ज्यौतिषीय घटनाओं का भी बहुत कम ज्ञान था (देखिये ग्रह); अतः इनके द्वारा २७ चान्द्र नक्षत्रों की तालिका खोज निकालना प्रायः आश्चर्यजनक ही है। दूसरी ओर इस प्रकार की खोज की प्रकृति बहुत जटिल नहीं है; इसके अन्तर्गत केवल ऐसे तारे अथवा तारक-समूहों को चुन लिया गया है जिनके साथ चन्द्रमा की सन्धि है। अतः पहले से ही यह अस्वीकार कर देना असम्भव है कि वैदिक भारतीय अपने लिये एक चान्द्र राशि-चक्र का आविष्कार कर सकने में असमर्थ रहे होंगे।[५५७]

[५५७] मैक्समूलर : ऋग्वेद ४^{2}, xliv और वाद, इस पद्धति के भारतीय आरम्भ को ही स्वीकार करते हैं। थिबो : ऐस्ट्रॉनमी, ऐस्ट्रॉलोजी, उन्ट मैथमेटिक १४, १५, ऐसा सम्भव होना स्वीकार करते हैं, और जैसा कि ह्विट्ने : ओरियण्टल ऐण्ड लिंग्विस्टिक एसेज़ २, ४१८, भी।

किन्तु यह प्रश्न इस तथ्य के कारण जटिल हो जाता है कि अरब और चीन में क्रमशः 'मनाज़िल' और 'सिऊ' के रूप में इसी समान २८ तारों अथवा तारक समूहों की दो तालिकायें मिलती हैं। अरब में मनाज़िल का प्रयोग प्रभावशाली और सुसंगत है; वहाँ का पञ्चाङ्ग इन्हीं से नियन्त्रित होता है और नक्षत्रपुञ्जों की स्थिति चान्द्र राशि-चक्र की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल बैठती है। अतः भारतीयों ने अरब से ही इस पद्धति को ग्रहण किया हो सकता है। किन्तु यह केवल एक सम्भावना मात्र है, क्योंकि मनाज़िल के अस्तित्व के प्रमाण नक्षत्रों के अस्तित्व के बहुत बाद के हैं, जब कि प्राचीन टेस्टामेन्ट[१५८] का 'मज्ज़ारोथ' अथवा 'मज्ज़ालोथ' वास्तव में चान्द्र नक्षत्र हो सकते हैं।[१५९] दूसरी ओर यह मानना कि अरब की पद्धति भारत से गृहीत है, जैसा कि वर्गेस[१६०] का मत है, किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

बियॉट नामक प्रमुख चीनी विद्वान् ने १८३९ और १८६१ के बीच लेखों की एक श्रृङ्खला प्रकाशित करके[१६१] यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नक्षत्र चीनी 'सिऊ' से निष्कृष्ट हुए हैं। सिऊ की आप मूलतः चान्द्र नक्षत्रों के रूप में उत्पत्ति नहीं मानते। आपका विचार है कि यह वैषुवत तारे थे जिनका कि, जैसा आधुनिक ज्योतिष् में भी है, ऐसे प्रामाणिक प्रतिमानों के रूप में प्रयोग होता था जिनके आधार पर आस-पास के अन्य तारों को निर्दिष्ट किया जा सके। जहाँ तक इनमें से चौबीस का प्रश्न है, उन्हें विषुवत रेखा के साथ सान्निध्य के कारण, तथा उनका भी तत्कालीन चीनी निरीक्षकों का ध्यान आकर्षित करनेवाले कुछ ध्रुवसमीपक तारों के समान ही संचार (Right ascension) होने के कारण, ई० पूर्व २३५७ के लगभग चुनाव कर लिया गया था। इनकी तालिका में ११०० ई० पूर्व के आस-पास उस काल के सम्पातों और संक्रान्तियों को व्यक्त करने के लिये चार अन्य को भी सम्मिलित कर लिया

१५८ २ किन्स xxiii. ५; जॉब xxxviii. ३२।

१५९ वेबर : नक्षत्र १.३१७,३१८; ह्विट्ने: उ० पु० ३५९।

१६० ज० अ० ओ० सो० ८, ३०९-३३४। ह्विट्ने, ४१३, और बाद, के अनुसार वेबर का भी यही दृष्टिकोण था; किन्तु स्वयं वेबर ने इसे अस्वीकार किया है (देखिये इन्डिशे स्टूडियन ९, ४२५, ४२६; १०, २४६, २४७)। दूसरी ओर से० ओ० में भारत पर अरब के प्रभाव के पक्ष में मत प्रस्तुत किया गया है।

१६१ इनकी दो कृतियों—रि० चा० और ए० चा०—में यह मत व्यक्त हुआ है।

गया। आपका विचार है कि तारों की तालिका उस 'माओ' (= कृत्तिकाओं) से आरम्भ होती थी जो ई० पूर्व २३५७ में वसन्त संपात में स्थित था। वेवर[१९२] ने १८६० के अपने एक विस्तृत लेख में इस सिद्धान्त का खण्डन किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'सिऊ' के सम्बन्ध में चीनी साहित्यिक प्रमाण बहुत बाद का, यहाँ तक कि तीसरी शताब्दी ई० पूर्व से पहले का नहीं है। यह अन्तिम तर्क तो उपयुक्त नहीं प्रतीत होता[१९३] किन्तु बियॉट के सिद्धान्त के विरुद्ध इनकी आपत्तियों की व्हिट्ने[१९४] ने पुष्टि की है। व्हिट्ने ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि बियॉट की यह मान्यता कि 'सिऊ' का विकास अन्ततोगत्वा चान्द्र-नक्षत्रों की पद्धति से नहीं हुआ था, अनुपयुक्त है। चीन से गृहीत होने के सिद्धान्त के एक अर्वाचीन समर्थक लियोपोल्ड ड सॉसुरे[१९५] ने भी इसे स्वीकार किया है, किन्तु भारतीय चान्द्र-नक्षत्रों के चीन से गृहीत होने के पक्ष में इनके तर्कों का औल्डेनवर्ग[१९६] ने खण्डन किया है और यह भी व्यक्त किया है[१९७] कि उक्त तालिका 'माओ' (= कृत्तिकाओं) से आरम्भ नहीं होती।

अब यही एक सम्भावना शेष रह जाती है कि उक्त तीनों तालिकाओं— नक्षत्र, मनाज़िल और सिऊ—का एक समान स्रोत बेबिलोनियाँ में ढूँढ़ा जाय। होम्मेल[१९८] ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि बेबीलोनियाँ में 'प्लिएड्स' (= कृत्तिकाओं) से आरम्भ होनेवाले २४ सदस्यीय चान्द्र-राशिचक्र का अस्तित्व होना आधुनिक शोधों के आधार पर सिद्ध हो चुका है; किन्तु थिवो[१९९] के शोध इस मान्यता के अनुकूल नहीं हैं। दूसरी ओर

[१९२] नक्षत्र १, २८४ और बाद (१८६०)

[१९३] देखिये औल्डेनबर्ग : न०गो० १९०९, ५६६, ५६७।

[१९४] ज० अ० ओ० सो० ८, १ और बाद; ओरियण्टल ऐण्ड लिंग्विस्टिक एसेज़ २, ३८५ और बाद। वेबर के साथ इनके वाद-विवाद के लिये, देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, ४२४ और बाद; १०, २१३ और बाद; व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० ८, ३८४ और बाद।

[१९५] टूङ्ग पाओ, १९०९, १२१ और बाद; २५५ और बाद।

[१९६] नाखरिख्तेन १९०९, ५४४-५७२।

[१९७] वही ५४८, नोट १।

[१९८] त्सी० गे० ४५, ५९२ और बाद।

[१९९] ज० ए० सो० ६३, १४४-१६३। तु० की० ऐस्ट्रॉनमी, इत्यादि, १५; औल्डेनबर्ग : उ० पु० ५७२।

वेवर[१७०], ह्विट्ने[१७१], त्सिमर[१७२], और ओल्डेनवर्ग[१७३], सभी यह मानने के लिये प्रवृत्त हैं कि इस पद्धति का आरम्भ बेबीलोनियाँ में ही मिलता है, और तत्काल इसी मत को सर्वसम्भव मानना चाहिये क्योंकि वैदिक साहित्य पर बेबीलोनियन प्रभाव के अन्य चिह्न, जैसे जल-प्लावन की कथा, सम्भवतः आदित्यगण[१७४], और कदाचित *मना* शब्द भी, मिलते हैं।

[१७०] नक्षत्र १, ३१६ और वाद; इन्डिशे स्टूडियन १०, २४६ और अन्यत्र। वेवर : नक्षत्र २, ३६२, ४००, ने इस तथ्य पर वहुत ज़ोर दिया है कि ज्योतिष, ८, में सवसे वड़े और छोटे दिन के वीच का अन्तर छह 'मुहूर्त' दिया हुआ है, जिससे सवसे वड़े दिन की अवधि चौदह घंटा चौवीस मिनट हो जाती है; और आपने चौदह घंटा पच्चीस मिनट वाले वेबीलोन के, तथा चौदह घंटा चौवीस मिनट के चीनी दिनों से, इसकी तुलना की है। किन्तु ह्विट्ने : ओरियण्टल ऐन्ड लिग्गुइस्टिक एसेज़, २, ४१७, ४१८, यह दिखाते हैं कि इस तर्क पर कोई ज़ोर नहीं दिया जा सकता क्योंकि यहाँ केवल लगभग-सी समानता है और वेवीलोन तथा चीन के निरीक्षणों के अक्षांश प्रायः एक ही हैं।

[१७१] देखिये उ० पु० २, ४१८-४२०।

[१७२] आल्टिन्डिशे लेवेन ३५६, ३५७, जहाँ आप नक्षत्रों की सेमिटिक उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वथा निश्चित-मत हैं।

[१७३] उ० पु० ५७२।

[१७४] जलप्लावन के लिये देखिये त्सिमर : उ० पु० १०१, ३५७, जो वेवर के इस मत (इन्डिशे स्टूडियन १, १६०; इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ११) के विरुद्ध हैं कि इस कथा में प्राचीन आर्य-परम्परा और हिमालय के उस पार भारतीयों के निवास की स्मृति सुरक्षित है (तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], १९०; २[२], ३२३, नोट ९६; लासन : इ० आ० १[१], ६३८, और तु० की० औल्डेनवर्ग : रिलीजन देस वेद २७६, नोट ३)। आदित्य के लिये देखिये औल्डेनवर्ग : रिलीजन देस वेद, १८५ और वाद; त्सी० गे० ५०, ४३ और वाद। आपके मत को मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० ४४, ने स्वीकार नहीं किया है; व्लूमफील्ड : रिलीजन ऑफ दि वेद १३३। इससे भी अधिक संदिग्ध त्सिमर (आल्टिन्डिशे लेवेन ३६३, ३६४) का दिन और रात को तीस भागों में विभाजित करनेवाला दृष्टिकोण है, जिसे आप ऋग्वेद १. १२३, ८ में देखते हैं, और जो आपके विचार से इसी समय-अवधि के वेवीलोनियाँ के साठ विभाजनों पर आधारित है। तु० की० विन्सेन्ट स्मिथ : इन्डियन ऐन्टिक्वेरी ३४. २३०, भी, जो प्रायः अनिर्णायक रूप से ही, यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि लोहे के प्रयोग का ज्ञान वेबीलोनिया से प्राप्त हुआ था।

नक्षत्रों के सम्बन्ध में तथ्य (मैत्रायणी संहिता और बौधायन श्रौतसूत्र के के प्रकरणों के अपवाद के अतिरिक्त) वेवर के द्वितीय लेख : टी० न० में संगृहीत हैं। प्रथम लेख, (१८६०),

उत्पत्ति सम्बन्धी समस्याओं की विवेचना करता है। देखिये आपके विचारों को इन्डिशे स्टूडियन ९, ४२४ और बाद; १०, २१३ और बाद, में भी। ह्विट्ने का कार्य अंशतः सूर्य सिद्धान्त के अपने संस्करण (ज० अ० ओ० सो० ६) के आधार पर बाद के नक्षत्रों का वैज्ञानिक निर्धारण (अनेक स्थलों पर कोलब्रुक की खोजों को संशोधित करते हुये) और अंशतः नक्षत्रों के आरम्भ की समस्या (ज० अ० ओ० सो० ८; ओरियण्टल ऐण्ड लिन्गुइस्टिक एसेज़ २, ३४१-४२१ एक नक्षत्रों की तालिका सहित) और याकोबी तथा तिलक के ओरायन के विरुद्ध कालक्रम की समस्या (ज० अ० ओ० सो० १६, lxxxii और बाद) की विवेचनाओं से सम्बद्ध है। मैक्समूलर के दृष्टिकोण उनके ऋग्वेद ४[२], xxxiv और बाद, में उपलब्ध हैं। नक्षत्रों के आधार पर कालक्रम निर्धारण-सम्बन्धी आधुनिक वाद-विवाद का उद्घाटन याकोबी (१८९३) ने अपने फे० रौ० ६८-७४ (इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २३ में अनूदित) में किया। आपके लेखों को न० गो० १८९४, ११० और बाद; त्सी० गे० ४९, २१८ और बाद; ५०, ७० और बाद; ज० ए० सो० १९०९, ७२१-७२७, आदि में भी देखिये। स्वतंत्र रूप से अपने ओरायन में तिलक ने भी इसी समान दृष्टिकोण विकसित किये हैं; किन्तु इनके अधिकांश तथ्यों का ह्विट्ने ने ऊपर उद्धृत अपनी आलोचना में खण्डन कर दिया है। याकोबी के तर्कों का औल्डेनबर्ग ने त्सी० गे० ४८, ६२९ और बाद; ४९, ४७० और बाद; ५०, ४५० और बाद; ज० ए० सो० १९०९, १०९० और बाद में, विवेचन और खण्डन किया है। थिबो ने भी इन्डियन ऐन्टिक्वेरी २४, ८५ और बाद, के अपने एक लेख में याकोबी के दृष्टिकोण को अस्वीकृत किया है। इनका ऐस्ट्रॉनमी, एस्ट्रॉलोजी उन्ट, मैथमेटिक १७-१९ भी देखिये। नक्षत्रों की उत्पत्ति से सम्बन्धित आधुनिक साहित्य के अन्तर्गत, ज० ए० सो० ६३, १४४, और बाद, में थिबो के लेख; सॉसुरे : टूङ्ग पाओ, १९०९, १२१ और बाद; २५५ और बाद; औल्डेनबर्ग : न० गो० १९०९, ५४४ और बाद, आदि आते हैं। महाकाव्यों में नक्षत्रों से सम्बद्ध विषयवस्तु की हॉपकिन्स ने ज० अ० ओ० सो० २४, २९-३६, में विवेचना की है। लुडविग का दृष्टिकोण उनके ऋग्वेद के अनुवाद, ३, १८३ और बाद, में मिलता है।

नक्षत्र-दर्श (चान्द्र-नक्षत्रों को देखनेवाला) अर्थात् एक ज्योतिर्विद्, का यजुर्वेद[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। शतपथ

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. १०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ४, १।

ब्राह्मण[2] में एक संकेत ऐसा मिलता है कि यह ग्रन्थ किसी नक्षत्र विशेष के नीचे यज्ञाग्नियाँ प्रज्वलित करने को निरर्थक मानता था, क्योंकि यह व्यक्ति द्वारा सूर्य को ही अपना नक्षत्र चुनने के पक्ष में निर्णय देता है।

[2] २. १, २, १९, और तु० की० काण्व पाठ, एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, २८८, नोट ३।

नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष) का भी छान्दोग्य उपनिषद् (७. १, २. ४; २, १; ७, १) में अन्य विज्ञानों के साथ-साथ उल्लेख है।

नख, या तो मनुष्य[1] के 'नखों' का, अथवा व्याघ्र[2] जैसे हिंसक पशुओं के 'पञ्जों' का, द्योतक है। नखों को काटना (निकृन्तन)[3] वैदिक भारतीयों के शृङ्गार का एक नियमित अंग था, मुख्यतः विशेष महत्त्व रखनेवाले अवसरों पर, जब कि इसके साथ ही दाँत भी साफ़ किये जाते थे।[4]

[1] ऋग्वेद १. १६२, ९; १०. १६३, ५; अथर्ववेद २. ३३, ६, इत्यादि।

[2] ऋग्वेद ४. ३, ३। तु० की० १०. २८, १०, जिसमें श्येन के पञ्जों का उल्लेख है।

[3] छान्दोग्य उपनिषद् ६. १, ६।

[4] तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, ७; मैत्रायणी संहिता ३. ६, २, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण २. १, ३, ४।

न-ग (अचल) अर्थात् 'पर्वत'—यह एक ऐसा शब्द है जो केवल अथर्ववेद के एक अर्वाचीन स्थल (१९. ८, १) पर, तथा उसके बाद, सूत्रों में आता है।

नगर, आरम्भिक वैदिक साहित्य में केवल ऐसे व्युत्पन्न विशेषण के रूप में ही मिलता है जिसका एक व्यक्तिवाचक नाम *नगरिन्* के रूप में भी प्रयोग हुआ है; किन्तु यह तैत्तिरीय आरण्यक (१. ११, १८; ३१, ४) में, तथा अक्सर बाद की भाषा में भी, 'नगर' के आशय में ही आता है।

नगरिन् जान-श्रुतेय ('जनश्रुति' का वंशज) का ऐतरेय ब्राह्मण (५. ३०) में एक पुरोहित के रूप में, और 'नगरिन् जानश्रुतेय काण्डूविय' के रूप में जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४०, २) में उल्लेख है।

नग्न-जित् नामक *गन्धार* के राजा का, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में, *पर्वत* और *नारद* द्वारा प्रतिष्ठापित किये गये होने के रूप में उल्लेख है। *स्वर्जित* नामक अपने पुत्र के साथ इसी राजा का शतपथ ब्राह्मण[2] में भी उल्लेख है, जहाँ संस्कार विषयक इसके किसी वक्तव्य को अपमान की दृष्टि से देखा गया है।

[1] ७. ३४।

[2] ८. १, ४, १०। तु० की० वेबर : इन्डि. स्टन लिटरेचर १३२, १३४; म्यूर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], ५१५।

नग्ना—देखिये धर्म ।

नघ-मार और *नघा-रिष*—देखिये १. कुष्ठ

न-चिकेतस्, तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] (जहाँ यह *वाजश्रवस* का पुत्र, और एक गोतम है) और काठक उपनिषद्[2] के सुविख्यात आख्यानों में आता है। इसकी ऐतिहासिक वास्तविकता अत्यन्त सन्दिग्ध है : उपनिषद् में इसे 'आरुणि औद्दालकि' अथवा 'वाजश्रवस' का पुत्र कहा गया है जो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि प्रसिद्ध आरुणि से नचिकेतस् को सम्बद्ध कर देने के उद्देश्य से ही ऐसा कहा गया प्रतीत होता है ।

[1] ३. ११, ८ ।
[2] १, १, इत्यादि । तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, १५४, नोट १; वेवर : इन्डियन लिटरेचर १५७; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६८ ।

१. नड (नरकट) का ऋग्वेद[1] में झीलों में उगनेवाले पौधों के रूप में उल्लेख है । अथर्ववेद[2] में इसे 'वार्षिक' (वर्षा ऋतु में उत्पन्न) कहा गया है । बीच से फाड़कर नरकट का, चटाइयाँ बनाने के लिये, प्रयोग किया जाता था, और यह कार्य मुख्यतः स्त्रियाँ[3] ही करती थीं । इसका अन्यत्र भी अक्सर उल्लेख है ।[4] नद भी देखिये ।

[1] ८. १, ३३ ।
[2] ४. १९, १ ।
[3] अथर्ववेद ६. १३८, ५ ।
[4] अथर्ववेद ६. १३७, २; १२. २, १. १९. ५०. ५४; काठक संहिता २५. ७; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १९; तैत्तिरीय आरण्यक ६. ७, १०, । तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ७१ ।

२. नड नैषध का शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लेख है, जहाँ यह एक ऐसा मानव राजा प्रतीत होता है[2] जिसकी उसके विजयों के कारण मृत्यु के देवता यम से तुलना की गई है । यहाँ इसे दक्षिण की यज्ञाग्नि के साथ समीकृत किये गये होने के कारण सम्भवतः यह उसी प्रकार दक्षिण का कोई राजा प्रतीत होता है, जिस प्रकार यम को भी दक्षिण दिशा के साथ सम्बद्ध किया गया है ।

[1] २. २, २, १. २ ।
[2] वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, २२५–२२७; जिनका एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, १२, ३३८, नोट ४ और ५, ने भी अनुगमन किया है । त्रुटिवश छपे हुये मूल में 'नैषिध' पाठ है ।

नड्वला (नरकट की शैय्या) का वाजसनेयि संहिता (३०. १६) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ४, १२, १) में उल्लेख है।

नद, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर मिलता है, किन्तु इसका आशय आज भी अस्पष्ट है। पिशल[2] ने इसे नड के साथ समीकृत और एक स्थल[3] पर नरकट की एक ऐसी नाव के रूप में व्याख्या की है जिसको दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाता था और जिस पर से होकर जल बहता था। इसके अतिरिक्त आप एक अन्य स्थल[4] पर, नरकट के ऐसे चाबुक के रूप में जिसके तीक्ष्ण किनारों (कर्ण) द्वारा अश्वों को हाँका जाता था, और अन्य[5] पर, एक लाक्षणिक आशय में 'शिश्न' का उपाधि के रूप में, इसकी व्याख्यायें करते हैं। रौथ[6] सभी स्थलों पर इससे एक 'वृषभ' का आशय (या तो शब्दार्थ अथवा लाक्षणिक दृष्टि से) ग्रहण करते हैं। कम से कम एक बार[7] इसका इन्द्र के अश्व के सन्दर्भ में 'नाद करनेवाला' ('नद्' धातु से) अर्थ प्रतीत होता है। 'नदस्य कर्णैः'[8] में, सम्भवतः, यह आशय है कि अपने रथ के (पार्श्वस्थ) अश्व के कानों से (अर्थात उनको आज्ञा सुनने के लिये तत्पर रखते हुये) मरुद्गण 'अपने द्रुतगामी अश्वों पर अग्रसर होते हैं' (तुरयन्त आशुभिः)।

[1] १. ३२, ८; १७९, ४; २. ३४, ३; ८. ६९, २; १०. ११, २; १०५, ४। तु० की० निरुक्त ५. २।

[2] त्सी० गे० ३५, ७१७ और बाद; वेदिशे स्टूडिय १, १८३ और बाद।

[3] १. ३२, ८। यहाँ कैलेण्ड और हेनरी : ल'अग्निष्टोम, ३१२, नोट, ने 'नलन' पढ़ा है। वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १, १७३, भी देखिये।

[4] १. ३४, ३, जिसका मैक्समूलर : से० बु० ई०, ३२, ३०१ ने अनुगमन किया है (फिर भी आप 'आशुभिः' का 'कर्णैः' के साथ अर्थ नहीं करते, जैसा कि पिशल ने वेदिशे स्टूडियन १. १९० में किया है)। आप १०. ११, २ में भी 'नरकट' का अर्थ देखते हैं, किन्तु १०. १०५, ४ में 'अश्व' मानते हैं।

[5] १. १७९, ४; ८. ६९, २।

[6] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। ८. ६९, २ में 'वृषभ' का आशय ही प्रतीत होता है। १. १७९, ४ में भी यही ग्राह्य हो सकता है जहाँ 'वृषभ' एक मनुष्य का द्योतक होगा। १०. ११, २, और सम्भवतः १. ३२, ८ में भी यही अर्थ हो तो सकता है किन्तु 'नरकट' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[7] १०. १०५, ४ और १०. ११, २ में। यह बाद का स्थल ऐसा व्यक्त करता है कि 'नदी' का ही आशय होना चाहिये।

तु० की० औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३२, १७८, २१५।

नदी का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है। नदी के बीच में छिछले स्थलों (गाध),[3] दोनों किनारों (पार),[4] और अश्वों के स्नान करने का उल्लेख है।[5] पर्वतों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के रूप में भी नदियों का उल्लेख है।[6] एक बार 'नदी-पति'[7] उपाधि का 'समुद्र' अथवा 'समुद्रजल' को व्यक्त करने के लिये व्यवहार किया गया है।

[1] १. १५८, ५; २. ३५, ३; ३. ३३, ४; ५. ४६, ६, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ३. १३, १; १४. १, ४३।
[3] ऋग्वेद ७. ६०, ७।
[4] शतपथ ब्राह्मण ११. १, ६, ६।
[5] ऋग्वेद ८. २, २।
[6] ऋग्वेद ५. ५५, ७; १०. ६४, ८।
[7] शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ४, १०।

नना—यह माता के लिये प्रयुक्त एक प्रचलित नाम है, जो पिता के लिये प्रयुक्त *तत* के समानान्तर है, और जिसके साथ ही यह कवि के माता-पिता के व्यवसाय के वर्णन में ऋग्वेद[1] के एक मन्त्र में आता है।

[1] ९. ११२, ३। तु० की० निरुक्त ६. ६, और देखिये **उपल-प्रक्षिणी**।

ननान्दृ, ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आनेवाला शब्द है। यहाँ सायण के अनुसार यह ऐसे 'पति की बहन' का द्योतक है जिस पर पत्नी का शासन होता है। यह व्याख्या इस तथ्य द्वारा पुष्ट होती है कि पति के बहन की—इसमें सन्देह नहीं कि केवल उसी समय तक जब तक वह अविवाहित होती थी और अपने भाई की देख-रेख में रहती थी—ऐतरेय ब्राह्मण[2] में भी यही स्थिति है।

[1] १०. ८५, ४६।
[2] ३. २२
तु० की० डेलब्रुक : डी० व०, ५१६। देशीय कोशकार इस शब्द को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु बाद के साहित्य में यह बहुत दुर्लभ है (उत्तर रामचरित में आता है)। देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व०, स्था०।

नपात्, वैदिक साहित्य में प्रत्यक्षतः विस्तृत आशय में 'वंशज',[1] और संकीर्ण आशय में 'संहिताओं'[2] में 'पौत्र' जैसे दोनों ही रूपों में मिलता है। ब्राह्मणों में इस शब्द में 'वंशज' का आशय कदाचित ही निहित प्रतीत होता

[1] यह अनेक पुराकथाशास्त्रीय उपाधियों, जैसे 'अपां नपात्' (जलों का पुत्र) आदि में 'पुत्र' का समानार्थी है।
[2] ऋग्वेद १०. १०, १ में स्पष्टतः 'पुत्र'; ६. २०, ११ में 'पौत्र' हो सकता है। अधिकांश स्थल, जैसे ६. ५०, १५; ७. १८, २२; ८. ६५, १२; १०२, ७; वाजसनेयि संहिता २१. ६१; काठक संहिता २२. २, आदि में 'वंशज' का आशय मानना उपयुक्त है।

है, जब कि यह केवल 'पौत्र'[3] का ही नहीं वरन् 'पुत्रों, पौत्रों, प्रपौत्रों' (पुत्रान्, पौत्रान्, नप्तॄन्)[4] के सन्दर्भ में 'प्रपौत्र' का भी द्योतक है। अथर्ववेद और बाद[5] में पुत्र के पुत्र को 'पौत्र' शब्द से भी व्यक्त किया गया है, जब कि ऋग्वेद[6] जैसे प्राचीन समय तक में 'प्रपौत्रों' का यथार्थ आशय उस 'प्र-णपात्' से व्यक्त हुआ है जिसका 'नपात्' (पौत्र) के साथ प्रयोग मिलता है। स्त्रीलिङ्ग रूप 'नप्ती' व्यवहारतः केवल संहिताओं[7] तक ही सीमित और 'पुत्री' का द्योतक है। वेदों में व्यवहार इस शब्द के मूल प्रयोग पर कोई प्रकाश नहीं डालता।[8]

[3] जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४८ में 'पुत्र-नप्तारः' (पुत्र और पौत्र), है।
तु० की० निरुक्त ८. ५।
[4] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १०, ३; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १०. ११, ५।
[5] अथर्ववेद ९. ५, ३०; ११. ७, १६; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १०, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. १, ८, ३।
[6] ऋग्वेद ८. १७, १३, 'नपात्' के साथ।
[7] ऋग्वेद ३. ३१, १ (निरुक्त ३. ४); ८. २, ४२। तु० की० १. ५०, ९; ९. ९, १; १४, ५; ६९, ३; अथर्ववेद १. २८, ४; २. १४, १; ७. ८२, ६।
[8] डेलब्रुक : डी० व० ४०३–४०५; लैनमैन : फे० वौ० ७७।

नप्त्री—*नपात्* के स्त्रीलिङ्ग रूप में यह सामवेद, आरण्य (५. १३) में मिलता है।

नभ(स), नभस्य—देखिये *मास*।

नभाक, एक ऋषि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। अनुक्रमणी में *नाभाक* को ऋग्वेद के अनेक सूक्तों (८. ३९–४२) का रचयिता बताया गया है।

[1] ८. ४०, ४. ५।
[2] ६. २४।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १०७।

नभ्य, अर्थात् चक्र की 'नाभि' का, अथर्ववेद[1] और उसके बाद[2] उल्लेख है। *नाभि* भी देखिये।

[1] ६. ७०, ३; १२. १, १२।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ४. १५; शतपथ ब्राह्मण ३. ५, ३, २०; कौषीतकि ब्राह्मण ९. ४; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ३, २३, इत्यादि।

नमी साप्य, ऋग्वेद[1] में एक व्यक्ति का नाम है। वेवर[2] का विचार है कि इसका एक पुरोहित के रूप में उल्लेख है; किन्तु जिन स्थलों पर यह आया है वहाँ इसमें राजा का ही आशय अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, और पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में यह 'विदेह के राजा' (वैदेहो राजा) 'नमी साप्य' के रूप में आता है। एक स्थल[4] पर इसे 'नमुचि' के विरुद्ध संघर्ष रत होने के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

[1] ६. २०, ६; १०. ४८, ९। १. ५३, ७ में केवल 'नमी'।
[2] इन्डिशे स्टूडियन १, २३१, २३२।
[3] २५. १०, १७।
[4] ऋग्वेद १. ५३, ७।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४९; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६१; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ४९। 'साप्य' को 'साय्य' पढ़ा जा सकता है, किन्तु सायण 'प' ही मानते हैं; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ५५, ३२८।

नर, नृ—ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] से 'मनुष्य' का सामान्य नाम 'नृ' है, जब कि 'नर'[3] कभी-कभी बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[4] में मिलता है।

[1] १. २५, ५; १६७, २०; १७८, ३; २. ३४, ६; ३. १६, ४, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद २. ९, २; ९. १, ३; १४. २, ९; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४; ६. २७. ३२, इत्यादि।
[3] इस शब्द का यह रूप, जो कि वैदिकोत्तर साहित्य में सर्वसामान्य बन गया है, केवल गौण है और 'नरम्' जैसे शब्दों से, जिन्हें 'नर-म्' समझा गया है, व्युत्पन्न हुआ है; किन्तु इसका आरम्भ भारतीय-ईरानीकाल का ही है। देखिये ब्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस, २, १०६। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर ३१८, a ५।
[4] तैत्तिरीय संहिता ७. १. १२, १; शतपथ ब्राह्मण ९. ३, १, ३; निरुक्त ५. १, इत्यादि।

नराची केवल एक बार अथर्ववेद[1] में मिलता है और इसका अर्थ कदाचित एक विषैला पौधा है।

[1] ५. ३१, ४। तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १८, २८६।

नर्य (पुरुपोचित) को ऋग्वेद के दो स्थलों (१. ५४, ६; ११२, ९) पर भाष्यकार सायण ने किसी व्यक्ति का व्यक्तिवाचक नाम माना है। *नार्य* भी देखिये।

नलद, एक पौधा (Nardastachys Jatamansi) है जिसका

अथर्ववेद[1], तथा ऐतरेय[2] और शाङ्खायन[3] आरण्यकों (जहाँ गजरे के रूप में इसके प्रयोग का उल्लेख है), और साथ ही साथ सूत्रों में उल्लेख है। अथर्ववेद[4] में इस शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप 'नलदी' एक अप्सरस् अथवा दिव्यांगना के नाम के रूप में आता है।

[1] ६. १०२, ३।
[2] ३. २, ४।
[3] ११. ४।
[4] ४. ३७, ३

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६८, ६९; ग्रॉहमैन : इन्डिशे स्टूडियन ९, ४२०; कैलेण्ड : आल्टिन्डिशे त्सावररिचुअल १७७, नोट ४।

नवक को, जैमिनीय ब्राह्मण[1] में *विभिन्दुकीयों* के सत्र के समय, एक पत्नी के रूप में प्राप्त करने की कामना की गई है।

[1] २. २३३ (ज० अ० ओ० सो० १८, ३८)।

नव-ग्व ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर एक श्रेष्ठतम अङ्गिरस् (अङ्गिरस्तम्), प्रत्यक्षतः उन 'नवग्वों' की ही भाँति एक व्यक्ति के रूप में आता है जो प्राचीनकालीन रहस्यवादी जाति के लोग और सम्भवतः अङ्गिरसों के साथ संयुक्त अथवा सम्बद्ध माने जाते थे। इन्हें अक्सर *दशग्वों*[4] के साथ भी सम्बद्ध किया गया है।

[1] ४. ५१, ४; ९. १०८. ४; १०. ६२, ६
[2] १०. ६२, ६।
[3] ऋग्वेद १. ६२, ४; ३. ३९, ५; ५. २९, १२; ४५, ७. ११; ६. २२, २; १०. १४, ६; ६१, १०; १०८, ८; अथर्ववेद १४. १, ५६; १८. ३, २०, इत्यादि।
[4] ऋग्वेद १. ६२, ४; ४. ५१, ४; ५. २९, १२; १०. ६२, ६, इत्यादि।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १६५; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १४४ (ख) १७०।

नव-नीत (ताज़ा मक्खन) का बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में अक्सर उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] के अनुसार इस प्रकार का मक्खन भ्रूण (गर्भ) के लेप के लिये उपयुक्त होता है, जब कि देवगण *आज्य* को, मनुष्य

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ३, १०, १; ६. १, १, ५; काठक संहिता ११. ७; मैत्रायणी संहिता २. ३, ४, इत्यादि।
[2] शतपथ ब्राह्मण ३. १, ३, ७. ८; ५. ३, २, ६; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ५, ३।
[3] तैत्तिरीय संहिता १, ३।

'घी' (घृत) को, और पितृगण आयुत को ग्रहण करते हैं।[४] अन्यत्र इसका घृत और सर्पिस् से विभेद किया गया है।

[४] तैत्तिरीय संहिता २.३, १०, १, इत्यादि।

नव-वास्त्व ऋग्वेद के तीन स्थलों पर आता है। एक स्थल[१] पर यह अग्नि का एक आश्रित, दूसरे[२] पर सम्भवतः *उशनस्* का पुत्र और इन्द्र का प्रियपात्र प्रतीत होता है; किन्तु अन्तिम पर ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्र ने इसे पराजित, अथवा इसका वध तक कर दिया था।[3] फिर भी, यह एक सर्वथा पौराणिक व्यक्ति ही हो सकता है। तु० की० *बृहद्रथ* भी।

[१] १. ३६, १८।
[२] ६. २०, ११।
[3] १०. ४९, ६।
तु० की० वर्गेन : रिलीजन वेदिके २, २२३; ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १, ५८१; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, १२८, १२९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४७; उ० फौ० १६०; पेरी : ज० अ० ओ० सो० ११, २०२; मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १५८।

नह् को रौथ[१] और ग्रासमैन[२] ने तने के आशय में ग्रहण किया है। इसके चतुर्थी रूप 'नद्भ्यस्' का अर्थ 'वन्धन' है जो ऋग्वेद[3] में एक वार आता है और सीग[४] के विचार से उसका अर्थ 'वहन के पुत्र' है। किन्तु इस चतुर्थी रूप का अर्थ सम्भवतः 'पौत्रों को'[५] है।

[१] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[२] वर्टरवुख, व० स्था।
[3] १०. ६०, ६।
[४] सा० ऋ० १२९।
[५] मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ०, ५६, ३b

नहुस् ऋग्वेद में अनेक वार आता है, किन्तु इसका ठीक-ठीक आशय निश्चित नहीं। लुडविग[१] 'नहुस्' को एक ऐसी जाति का द्योतक मानते हैं जो *सिन्धु*[२] अथवा *सरस्वती*[3] के निकट रहती थी, और अश्वों से सम्पन्न[४], *भरतों* और *सिम्युयों*[५] की सहयोगी, तथा *कक्षीवन्त्* और *वार्षागिरस्* के साथ

[१] ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०६।
[२] ऋग्वेद १. ३१, ११; ६. २२, १०; ४६, ७; १०. ८०, ६।
[3] ऋग्वेद ७. ९५, २। तु० की० ९. ८८, २; ९१, २।
[४] ऋग्वेद ८. ६, २४।
[५] ऋग्वेद १. १००, १८; ७. १८, ५।

सम्बद्ध[6] थी, और जिसके राजा *मशर्शार* और *आयवस* थे।[7] दूसरी ओर रौथ[8], नहुस् में उसकी जाति (*विश्*) के लोगों के विपरीत, केवल पड़ोसी मात्र का सामान्य आशय देखते हैं; यह व्याख्या 'नहुषो नहुष्टर'[9] (पड़ोसी से भी अधिक निकट) वाक्पद द्वारा पुष्ट होती है। ऋग्वेद[10] के दो स्थलों पर 'नहुष' का भी 'नहुस्' के ही समान आशय है, किन्तु इनमें से एक स्थल पर यह किसी व्यक्ति का व्यक्तिवाचक नाम प्रतीत होता है।[11] सम्भवतः नहुस् भी मूलतः मनु की ही भाँति एक मनुष्य था।[12]

[6] ऋग्वेद १, १००, १६. १७।

[7] ऋग्वेद १. १२२, १५। तु० की० 'नहुषो विषः' भी, ऋग्वेद ७. ६, ५; १०. ४९, ८; ९९, ७, इत्यादि।

[8] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश व० स्था०।

[9] ऋग्वेद १०.४९, ८। तु० की० ८. ८, ३।

[10] १. ३१, ११; ५. १२, ६।

[11] ऋग्वेद ८. ४६, २७।

[12] औल्डेनवर्ग : से० बु० ई०, ४६, २८; बर्गेन : रिलीजन वेदिके २, ३२४। किन्तु यदि 'नहुस्' मूलतः किसी पौराणिक पूर्वज का नाम था, तो भी, ऐसे पूर्वज का नाम नहीं रहा हो सकता जिसे सभी जातियां स्वीकार करती रही हों, क्योंकि कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जिसमें इसे सभी मनुष्यों के लिये ही व्यवहृत किया गया हो। गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर ९९, 'नहुस्' को एक जाति और 'नहुष' को एक राजा मानते हैं। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन १२८, समस्या को अनिर्णीत छोड़ देते हैं। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट् १[2], १६५, नोट ७; १७९ और बाद; २०७, और बाद।

१. *नाक*, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'आकाश' का द्योतक है। इसका अक्सर 'उत्तम'[3] अथवा 'तृतीय'[4] विशेषण के साथ प्रयोग किया गया है जिससे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश (*दिव्*) के त्रिस्तरीय विभाजन के समानान्तर आकाश के त्रिस्तरीय विभाजन का सन्दर्भ है। 'नाक' को प्रकाशमान अन्तरिक्ष (रोचन) के ऊपर तृतीय 'पृष्ठ' पर स्थित बताया

[1] १. ६०, १०; १२५, ५; ३. २, १२; ४. १३, ५; ७. ८६, १; ९९, २; ८. १०३, २; ९. ७३, ४, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ७. १८, १; १८. २, ४७; १३. १, ७; वाजसनेयि संहिता १५. १०; पञ्चविंश ब्राह्मण १८. ७, १०; शतपथ ब्राह्मण ८. ५, ३, ४, इत्यादि।

[3] अथर्ववेद ४. १४, ६; ११. १, ४; वाजसनेयि संहिता ९. १०; १२. ६३।

[4] अथर्ववेद ६. १२२, ४; ९. ५, १. ४; १८. ४, ३।

गया है।[५] अन्यत्र[६] पृथ्वी, अन्तरिक्ष, व्योम और 'नाक', आकाश (स्वर्), दिव्य प्रकाश (ज्योतिस्) का क्रम आता है। ब्राह्मणों[७] में 'नाक' शब्द की 'न' और 'अक' (वेदना) से व्युत्पन्न हुये होने के रूप में व्याख्या की गई है, क्योंकि जो वहाँ पहुँच जाता है वह दुःख से मुक्त रहता है।

[५] वाजसनेयि संहिता १५. ५० ।
[६] अथर्ववेद ४. १४, ३; वाजसनेयि संहिता १७. ६७। ऋग्वेद १०. १२१, ५ में पृथ्वी और आकाश (द्यौः), और आकाश (स्वर्) तथा 'नाक' सभी का उल्लेख है।
[७] पञ्चविंश ब्राह्मण १०. १, १८; शतपथ ब्राह्मण ८. ४, १, २४; निरुक्त २. १४; और तु० की०, छान्दोग्य उपनिषद् २. १०, ५,।
तु० की० मेकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० ९; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ५०, ५६, ५७।

२. नाक जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[१] में एक गुरु का नाम है। सम्भवतः यह उस 'नाक मौद्गल्य' ('मुद्गल' का वंशज) के ही समान है जिसका शतपथ ब्राह्मण[२], बृहदारण्यक उपनिषद्[३] और तैत्तिरीय उपनिषद्[४] में उल्लेख है।

[१] ३. १३. ५।
[२] १२. ५, २. १।
[३] ६. ४, ४।
[४] १. ९, १।

नाक्र एक ऐसे जलीय पशु का नाम है जिसका यजुर्वेद संहिताओं[१] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। कदाचित् इससे 'मगर' का आशय है जिसे बाद में 'नक्र'[२] भी कहा गया है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १३, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २; वाजसनेयि संहिता २४. ३५।
[२] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९६, जो कि वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर दिये गये महीधर के एक पाठ का अनुगमन करते हैं; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी ३, २१, नोट ४।

नाग केवल एक बार 'महानाग' के रूप में शतपथ ब्राह्मण[१] में आता है, जहाँ, 'महान सर्प' अथवा 'महान गज' अर्थ हो सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद्[२] और ऐतरेय ब्राह्मण[३] में उपलब्ध एक उद्धरण में स्पष्टतः 'गज' का ही आशय उद्दिष्ट है। सूत्रों[४] में पौराणिक 'नाग' अक्सर आते हैं।

[१] ११. २, ७, १२।
[२] १. ३, २४।
[३] ८. २२।
[४] आश्वलायन गृह्य सूत्र ३. ४, १
तु० की० विन्टर्निज : सर्प-बलि, ४३, मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १५३।

नाम्न-जित (*नग्नजित्* का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (८. १, ४, १०) में *स्वर्जित्* का पैतृक नाम है।

नाचिकेत (*नचिकेतस्* से सम्बद्ध) काठक उपनिषद्[1] में एक उपाख्यान का शीर्षक है। उसी उपनिषद्[2] तथा तैत्तिरीय उपनिषद्[3] में यह शब्द एक विशेष प्रकार की अग्नि के विशेषण के रूप में भी व्यवहृत हुआ है।

[1] ३. १६।
[2] १. १८; २. १०।
[3] १. २२, ११; २६, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ३८९। देशीय कोशकार सामान्यतया अग्नि के पर्याय के रूप में 'नाचिकेत' और 'नाचिकेतु' का उल्लेख करते हैं।

नाड-पित् शतपथ ब्राह्मण[1] में *भरत* के जन्मस्थान के रूप में आता है। फिर भी, इस शब्द को 'नाड-पिती' भी पढ़ा जा सकता है, जो भरत की माता का नाम है[2]; किन्तु यह कम सम्भव है।

[1] १३. ५, ४, १३।
[2] वेबर : ए० रि०, ६, नोट ३। तु० की० ल्यूमैन : त्सी० गे०, ४८, ८१।

१. नाडी अथर्ववेद[1] और बाद[2] में मानव-शरीर के 'नाड़ी' अथवा 'धमनी' का द्योतक है, जो कि 'नरकट' के आशय का ही एक स्वाभाविक विस्तारण है।

[1] ६. १३८, ४; १०. ७, १५. १६।
[2] काठक संहिता १२. १०; शतपथ ब्राह्मण १०. ४, ५, २; बृहदारण्यक उपनिषद् २. १, २१; ४. २, ३, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ८. ६, १; कौषीतकि उपनिषद् ४. १९।

२. नाडी का ऋग्वेद[1] में एक वाद्य-यंत्र, 'नरकट की वंशी', अर्थ है। काठक संहिता[2] में भी यही अर्थ है जहाँ एक स्थल पर *तूणव*[3] के साथ-साथ इसका उल्लेख है।

[1] १०. १३५, ७।
[2] २३. ४; ३४. ५।
[3] ३४. ५। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३२९।

३. नाडी का यजुर्वेद संहिताओं[1] में रथ के पहिये का 'बक्स' अर्थ प्रतीत होता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ८, ३; काठक संहिता ३७. १२।

नाडीका एक बार अथर्ववेद[1] में आता है जहाँ 'फूँकने की नली' का आशय स्पष्ट है; साथ ही नरकट के बने 'बाण के काण्ड' का भी सन्दर्भ है।

[1] ५. १८, ८। तु० की०, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १८, २२९; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २५१; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४३२।

नाथ वैदिक साहित्य[1] में केवल क्लीवलिङ्ग में 'सुरक्षा' के अर्थ में आता है, और दुर्लभ है[2]। सामान्यतया वैदिक साहित्य में वैसे व्यवहारों के सम्बन्ध में भी अत्यन्त कम सामग्री मिलती है जिन्होंने ऐंग्लो-सैक्सन समाज अथवा रोमन 'पैट्रोनेटस' को उत्पन्न किया था।

[1] अथर्ववेद ४. २०, ९; ९. २, १७; १८. १, १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ४, १। अथर्ववेद १३. २, ३७ में 'नाथ-काम' (सहायता की कामना करने वाला); ११. १, १५ में 'नाथ-विद्'; पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११, २३; में एक सामन् के नाम के रूप में 'नाथ-विन्दु' (सुरक्षा अर्जित करने वाला) है।

[2] दूसरी ओर वैदिकोत्तर साहित्य में यह शब्द पुलिङ्ग है, जिसका अर्थ 'बचानेवाला' है और इसका प्रयोग भी अत्यन्त साधारण हो गया है।

नापित (नाई), का शतपथ ब्राह्मण[1] और बाद[2] में उल्लेख है। किन्तु इसके लिये पहले का शब्द 'वप्तृ'[3] है जो कि 'वप्' से व्युत्पन्न है तथा जिसके विविध रूपों के प्रयोग द्वारा ऋग्वेद[4] जैसे प्राचीन समय तक में केशवपन का उल्लेख है। गाड़ने के पहले मृतकों का बाल बना दिया जाता था।[5]

[1] ३. १, १, २।

[2] कात्यायन श्रौत सूत्र ७. २, ८. १३; आश्वलायन गृह्य सूत्र १. १७, इत्यादि

[3] ऋग्वेद १०. १४२, ४।

[4] १०. १४२, ४। तु० की० १. ६५, ४; अथर्ववेद ६. ६८; ८. २, १७ इत्यादि।

[5] अथर्ववेद ५. १९, ४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६६; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, २६५।

नाभाक ('नभाक' का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक ऋषि का नाम है। अनुक्रमणी में इसे ऋग्वेद[2] के तीन या चार सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। लुडविग[3] के अनुसार यह ऋषि, एक काण्व नहीं वरन् आङ्गिरस[4] था।

[1] ८. ४१, २; निरुक्त १०. ५

[2] ८. ३९–४१ और ४२ सन्दिग्ध है।

[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १०७।

[4] ८. ४०, १२।

नाभा-नेदिष्ठ (वंशक्रम से निकटतम) *मानव* ('मनु' का वंशज) बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में उस व्यवहार के लिये प्रसिद्ध है जो इसके

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. १. ९. ४–६; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १², १९१ और बाद।

पिता मनु द्वारा, अपने पुत्रों के बीच अपनी सम्पत्ति बाँटने, अथवा पुत्रों द्वारा ही बाँट लेने के समय, इसके साथ किया गया था : इस विभाजन के समय 'नाभानेदिष्ठ' की उपेक्षा कर दी गई थी, किन्तु अपने पिता के परामर्श द्वारा अङ्गिरसों से गायें प्राप्त कराकर इसे सान्त्वना दी गई थी। गायें प्राप्त करने के इसके इस कृत्य को शाङ्खायन श्रौतसूत्र[२] में अन्य ऋषाओं द्वारा सूक्तों से अपने संरक्षकों की प्रशस्ति करने के कृत्य के समकक्ष, और ऋग्वेद के एक सूक्त (१०. ६२) का जनक, माना गया है। नाभानेदिष्ठ-सूक्त का ब्राह्मणों[३] में बहुधा उल्लेख है, किन्तु इस सूक्त के रचयिता होने के अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में और कोई विवरण नहीं मिलता। स्वयं उक्त संहिता[४] में भी एक स्थल पर इसे एक कवि ही कहा गया प्रतीत होता है। किन्तु इस स्थल का अर्थ सर्वथा अस्पष्ट है।

व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से बहुत सम्भवतः नाभानेदिष्ठ अवेस्ता के 'नवनज़्दिष्ट' से सम्बद्ध है जहाँ 'पाओइर्यो-ट्काएश' के 'फ्रवषि' और 'नवानज़्दिष्ट' के 'फ्रवषि' का उल्लेख है। लासन[५] ने नाभानेदिष्ठ के उपरोक्त आख्यान में भारतीय-ईरानी विच्छेद की स्मृति देखा है; किन्तु रौथ[६] ने निश्चित रूप से यह दिखाया है कि ऐसा असम्भव है, और 'नाभानेदिष्ठ' का अर्थ केवल 'जन्म की दृष्टि से निकटतम' मात्र है। वेबर[७] भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि शब्दों का उक्त सम्बन्ध किसी पक्ष द्वारा दूसरे को ग्रहण कर लेना व्यक्त नहीं करता; किन्तु इतना स्पष्ट है कि अवेस्ता में इसने 'निकटतम सम्बन्धी' का अपना मूल आशय सुरक्षित रक्खा है जब कि ऋग्वेद में यह एक व्यक्तिवाचक नाम बन गया।

[२] १६. ११. २८–३०।

[३] कौषीतकि ब्राह्मण २८. ४, केवल इसके अङ्गिरसों के साथ सम्बद्ध होने का उल्लेख मात्र करता है। देखिये वही ३०. ४, भी; ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३०. ३१; पञ्चविंश ब्राह्मण २०. ९. ४।

[४] १०. ६१, १८।

[५] इ० आ० १, ५२०, और शुद्धि पत्र पृ० lxxvii

[६] त्सी० गे० ६, २४३ और बाद।

[७] इ० स्टि० ४०–५०। तु० की० दाय भी।

१. नाभि, इस शब्द के उस शाब्दिक आशय से विकसित हुआ है जिसका 'सम्बन्ध'[१] जैसा लाक्षणिक, अथवा 'सम्बन्धी'[२] जैसा वास्तविक अर्थ है।

[१] १. १०५, ९; १६४, ३३; २. ३, ९; ४०. ४, इत्यादि; अथर्ववेद १२. १, ४०; वाजसनेयि संहिता १०. ८; २१. १०; २०. १. इत्यादि।

[२] ऋग्वेद १. १६३, १२; ६. ४७, २८; वाजसनेयि संहिता १३. ४२. ४४. ५०, इत्यादि।

२. नाभि—रथ के पहिये की 'नाभि' का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है। देखिये रथ भी, और तु० की० *नभ्य*।

[1] ५. ४३, ८; ६. ३९, ४; ८. ४१. ६।
[2] अथर्ववेद ३. ३०, ६; १०. ८, ३४; ११. ७, ४; काठक संहिता ११. ४; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५, ११; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १५, १; ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४; कौषीतकि उपनिषद् ३. ८।

नाम-धेय (नाम), ऋग्वेद[1] में, और अक्सर बाद की भाषा[2] में भी, मिलता है। देखिये *नामन्*।

[1] १०. ७१, १।
[2] अथर्ववेद ७. १०९, ६; तैत्तिरीय संहिता २. ४, ९, ३; ३. ३. ४, १; शतपथ ब्राह्मण १३. १, ६, १; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३, ११; ६. ४, २५; छान्दोग्य उपनिषद् ६. १, ४; ऐतरेय उपनिषद् ५. २, इत्यादि।

नामन्—(नाम) ऋग्वेद और उसके बाद से एक साधारण शब्द है। गृह्य सूत्रों[1] में बालकों के नामों का निर्माण करने के लिये विस्तृत नियम मिलते हैं। किन्तु गुप्त (गुह्य) और साधारण नाम का विभेदीकरण अधिक महत्व रखता है, यद्यपि गुह्य नाम से सम्बन्धित नियम सर्वथा संगत नहीं हैं। गुह्य नाम की ऋग्वेद[2] तक में मान्यता और ब्राह्मणों[3] में उल्लेख है। इन्द्र का एक गुह्य नाम, 'अर्जुन', शतपथ ब्राह्मण[4] में मिलता है। यह ध्यान देने की बात है कि किसी नक्षत्र के नाम का गुह्य नाम के रूप में प्रयोग करने या न करने का जो नियम है उसका ब्राह्मणों[5] में आने वाले किसी भी आचार्य अथवा गुरु के नाम से उदाहरण नहीं मिलता।

शतपथ ब्राह्मण[6] सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से दूसरा नाम रख लेने का अनेक बार उल्लेख करता है। विभेद करने के लिये भी अन्य नाम रख लेने का इस ग्रन्थ में सन्दर्भ मिलता है।[7]

[1] वेबर : नक्षत्र २, ३१६ और बाद; हिलेब्रान्ट : रिचुअल लिटरेचर ४६, ४७; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, १५२
[2] तु० की० १०. ५५, २; ७१, १, जैसी ऐतरेय आरण्यक १. ३, ३ में व्याख्या की गई है।
[3] शतपथ ब्राह्मण ५. १, ३, ९ (जन्म लेने के समय एक शिशु का नामकरण किया गया है); बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, २५।
[4] २. १, २, ११; ५. ४, ३, ७; वेबर, २, ३१७, नोट ३।
[5] वेबर, २, ३१८, ३१९। देखिये **अषाढ, रौहिण, रौहिणायन**।
[6] ३. ६, २, २४; ५. ३, ३, १४; ९. ४, ३, ३, जो यह निर्देश करता है कि व्यक्ति द्वारा किये गये किसी उत्सव के आधार पर ही उसका नाम निष्कृष्ट होना चाहिये। काठक संहिता २६. ४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ७, १७ भी देखिये
[7] शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, ४। तु० की० ६. १, ३, ९।

व्यवहारतः ब्राह्मणों में बहुधा दो नाम मिलते हैं जिनमें से दूसरा नाम पैतृक अथवा मातृनामोद्भूत होता है जैसा कि *कक्षीवन्त औशिज*[८] (यदि इसकी माता के रूप में 'उशिज्' नामक दासी की कथा ठीक है), अथवा *बृहदुक्थ वाम्नेय*[९] ('वाम्नी' का पुत्र) में है, यद्यपि सम्बन्ध सीधे पिता-माता का न हो कर बहुत पहले के पूर्वजों से भी उद्भूत हो सकता है।[१०] तीन नाम अपेक्षाकृत कम प्रचलित हैं—उदाहरण के लिये *कुशाम्ब स्वायव लातव्य*[११] ('लतु' के पुत्र 'लातव्य' के परिवार के 'स्वायु' का पुत्र), अथवा *देवतरस् श्यावसायन काश्यप*[१२], जहाँ पैतृक तथा गोत्र दोनों के ही नाम मिलते हैं। अन्य दशाओं में नामों में सम्भवतः स्थानीय सन्दर्भ मिलता है—जैसे *कौशाम्बेय* और *गाङ्ग्य*। अक्सर केवल पैतृक नाम ही दिया गया है, जैसे *भार्गव*, *मौद्गल्य*, इत्यादि, अथवा दो पैतृक नामों का साथ-साथ प्रयोग किया गया है। सरल नाम का अक्सर पैतृक नाम के स्थान पर प्रयोग मिलता है—जैसे *त्रसदस्यु*।[१३] कुछ दशाओं में पति के नाम से ही पत्नी का नाम बना लिया गया है[१४], जैसे *उशीनराणी*, *पुरुकुत्सानी*, *मुद्गलानी*।

[८] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ११, १७।
[९] वही, १४. ९, ३८।
[१०] पार्जिटर : ज० ए० सो० १९१०, १४; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ५५, नोट २।
[११] पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ६, ८।
[१२] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४०, २।
[१३] शतपथ ब्राह्मण ६. १, २, १३; हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया २०१, नोट २।
[१४] तु० की० मैकडौनेल : वैदिक ग्रामर, पृ० १३५।
तु० की० वेबर : उ० पु० २, ३१६-३२०; हॉपकिन्स : उ० स्था०।

नाम्ब एक प्रकार के अन्न का नाम है जिसका शतपथ ब्राह्मण[१] में उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[२] और काठक संहिता[३] में इस शब्द का रूप 'आम्ब' है।

[१] ५. ३, ३, ८।
[२] १. ८, १०, १।
[३] १५. १५।

नाय ऋग्वेद[१] के दो स्थलों पर, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, सम्भवतः एक व्यक्तिवाचक नाम है। सायण इस शब्द को 'नेता' के अर्थ में ग्रहण करते हैं, जब कि पिशल[२] का विचार है कि यह एक अकर्मक आशयवाला कृदन्त है।

[१] ६. २४, १०; ४६, ११।
[२] वेदिशे स्टूडियन १, ४१। अन्य व्याख्याओं के लिये देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, १२३, ३७०।

नारद एक पौराणिक द्रष्टा का नाम है जिसका अथर्ववेद[1] में अनेक बार उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह *हरिश्चन्द्र*[2] के पुरोहित के रूप में *पर्वत* के साथ, *सोमक साहदेव्य* को उपदेश देते हुए,[3] और *आम्बाष्ठ्य* तथा *युधांश्रौष्टि* का प्रतिष्ठापन करने वाले के रूप में[4], आता है। मैत्रायणी संहिता[5] में एक गुरु के रूप में, तथा सामविधान ब्राह्मण[6] में बृहस्पति के एक शिष्य के रूप में, भी इसका उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद्[7] में इसे सनत्कुमार के साथ संयुक्त किया गया है।

[1] ५. १९, ९; १२. ४, १६. २४. ४१।
[2] ७. १३। तु० की० शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. १७।
[3] ७. ३४।
[4] ८. २१।
[5] १. ५, ८।
[6] ३. ९ (अन्त के एक 'वंश' अथवा गुरुओं की तालिका में)।
[7] ७. १, १।
तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २०४, नोट।

नाराशंसी (मनुष्यों की प्रशस्ति करने वाला 'मन्त्र') का ऋग्वेद[1] जैसे प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेख है और बाद के साहित्य[2] में अनेक स्थलों पर *गाथा* से इसका विभेद किया गया है। दोनों का विभेद करते हुये काठक संहिता[3] में ऐसा कथन है कि यह दोनों ही मिथ्या (अनृतम्) होते हैं। इन दोनों का स्पष्टतः अलग-अलग होना कदाचित् ही सम्भव है क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में 'मनुष्यों की प्रख्याति करनेवाली (नाराशंसी) गाथा' का उल्लेख है। यह किस प्रकार के मन्त्र होते थे इसका शाङ्खायन श्रौत सूत्र[5] द्वारा पता लगता है जो पुरुषमेध के समय के 'नाराशंसानि' का उल्लेख करता है। इन्हें उपयुक्तः महाकाव्य का एक स्रोत माना जा सकता है।[6]

[1] १०. ८५, ६।
[2] अथर्ववेद १५. ६, ४; तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ११, २; ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५; काठक संहिता ५, ५, २; तैत्तिरीय आरण्यक २. १०, इत्यादि; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, ७८। शतपथ ब्राह्मण ११, ५, ६, ८ अनिश्चित है। देखिये एग्लिङ्ग : से० बु० ई० ४४, ९८, नोट ५।
[3] १४. ५; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ९८।
[4] १. ३, २, ६।
[5] १६. ११, १ और बाद; वेबर : ए० रि० १० और बाद।
[6] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६४, नोट। ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, १०० (तु० की० अथर्ववेद के सूक्त ६८८, ६८९), इनकी प्रकृति पर जोर देते हुए इन्हें केवल प्रशस्तियां मानते हैं और, इसमें सन्देह नहीं कि यह भी इनका एक पक्ष था; किन्तु अन्य तत्त्व भी वास्तव में उससे कहीं अधिक प्रमुख रहे हो सकते हैं जितना कि पौरोहित्य परम्परा द्वारा व्यक्त होता है।

कुछ स्थलों[7] पर 'नाराशंसी' शब्द अथर्ववेद[8] के तीन मंत्रों के एक विशेष समूह तक ही सीमित है, किन्तु औल्डेनबर्ग[9] अपने इस विचार में ठीक हैं कि ऋग्वेद[10] में इस सीमित आशय को नहीं पढ़ना चाहिये। तैत्तिरीय संहिता[11] तक में इसका पारिभाषिक आशय निश्चित नहीं। बृहद्देवता[12] इस शब्द को एक सामान्य आशय प्रदान करता है।

[7] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५। कदाचित नोट २ में उल्लिखित अन्य स्थलों पर अथर्ववेद के मन्त्रों का सन्दर्भ हो सकता है, किन्तु ऐसा होना कभी भी सम्भव नहीं है।

[8] २०. १२७,१–३ = शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. १४, १–३। तु० की० शेफ्टेलोवित्ज़ : डी० ऋ० १५५।

[9] त्सी० गे० ४२, २३८।

[10] १०. ८५, ६।

[11] ७. ५, ११, २।

[12] ३. १५४।

तु० की० वेबर : ए० रि०, ४ और बाद

नारी (स्त्री) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद[3] में इस शब्द से स्पष्टतः पत्नी के रूप में स्त्री का आशय है, क्योंकि यह अनेक स्थलों पर वैवाहिक-सम्बन्ध[3] के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। बाद के वैदिक साहित्य में भी, जहाँ इसका प्रयोग बहुत प्रचिलित नहीं है, कभी-कभी[4] यही आशय है। फिर भी डेलब्रुक[5] का विचार है कि यह वैवाहिक सम्बन्ध को नहीं वरन् मनुष्य के एक लैंगिक सहयोगी के रूप में स्त्री को व्यक्त करता है।

[1] ७. २०, ५; ५५, ८; ८. ७७, ८; १०. १८, ७; ८६, १०. ११।

[2] अथर्ववेद १४. २, १३; वाजसनेयि संहिता २३. ३६; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३४।

[3] १. ७३, ३ ('पति-जुष्टा', अपने पति की प्रिया); ७. २०, ५; १०. १८, ७ ('अविधवाः सुपत्नीः', श्रेष्ठ पतियों वाली, जो विधवा न हो)' इत्यादि।

[4] गौतम धर्म सूत्र ९. २८।

[5] डी० व० ४१७, ४३९।

नार्मर केवल एक बार ऋग्वेद[1] के एक भ्रष्ट-से मंत्र में आता है। लुडविग[2] इस शब्द को एक दुर्ग, *ऊर्जयन्ती*, के राजा का व्यक्तिवाचक नाम, किन्तु रौथ[3] किसी असुर का नाम, मानते हैं।

[1] २. १३, ८।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५२।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, उ० स्था०।

नार्मिणी ऋग्वेद[1] में पुर् (दुर्ग) की एक उपाधि के रूप में मिलता है। इसे या तो किसी दुर्ग[2] विशेष का व्यक्तिवाचक नाम होना चाहिये, अथवा इसका अर्थ 'नर्मिन्' अथवा 'नर्मिण' नामक किसी राजा[3] का दुर्ग होना चाहिये।

[1] १. १४९, ३।
[2] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०४।
[3] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। सम्भवतः यह व्याहृति दो शब्दों से मिल कर बनी है—'न' और 'अर्मिणी', जिनका अर्थ चाहे जो कुछ भी हो। देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, १४८; से० बु० ई० ४६, १७७।

नार्य (नर्य का वंशज) ऋग्वेद[1] में एक उदार दानी का नाम है।

[1] ८. २४, २९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३,१६१, १६२।

नार्षद ('नृषद्' का वंशज) अथर्ववेद[1] में, और ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर, कण्व (अर्थात् 'कण्व' का वंशज) का पैतृक नाम है। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल[3] पर भी अश्विनों के एक आश्रित, और सम्भवतः *रुशती* के पति के रूप में, कदाचित् इसी व्यक्ति का उल्लेख है। किन्तु ऋग्वेद[4] के एक तृतीय स्थल पर यह नाम किसी असुर के लिये व्यवहृत हुआ है, यद्यपि यह निश्चित नहीं है।

[1] ४. १९, २।
[2] १०. ३१, ११।
[3] १. ११७, ८।
[4] १०. ६१, १३।

तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १०८, १५०; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३९७।

नाव-प्रभ्रंशन, ह्विट्ने और रौथ के अथर्ववेद[1] के संस्करण में पढ़े गये एक शब्द का पाठ है और वेबर[2] तथा अन्य विद्वानों[3] ने इसे 'मनोर् अवसर्पण' के साथ सम्बद्ध किया है जो शतपथ-ब्राह्मण[4] में उस उत्तरी पर्वत का नाम है जिस पर प्रलयजल के शान्त हो जाने पर मनु की नौका जा टिकी थी। किन्तु ब्लूमफील्ड[5] तथा ह्विट्ने[6], दोनों ही, इस व्याख्या को सर्वथा असम्भाव्य बताते

[1] १९. ३०, ८, जहाँ 'नाव-प्रभ्रंशन' के रूप में इसके पाठ का एक अनुमानात्मक संशोधन है। इस संहिता की एक पाण्डुलिपि में 'नाव:-' है।
[2] इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ११।
[3] तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९८; एगलिङ्ग : से० बु० ई०, १२, २१८, नोट; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३०।
[4] १. ८, १, ६।
[5] अथर्ववेद के सूक्त ६७९।
[6] अथर्ववेद का अनुवाद ९६१।

हैं, और मैकडौनेल[७] ने भी आप लोगों के ही दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। पद-पाठ और भाष्यकार दोनों ने समान रूप से इस व्यवहृति का 'न-अव-प्रभ्रंशन' के रूप में विच्छेद किया है, और यह अन्यत्र भी कभी किसी नौका अथवा जलयान के अवतरण के सन्दर्भ में नहीं आती।[८]

[७] ज० ए० सो०, १९०७, ११०७, जहाँ आपने वेबर द्वारा उनके संस्कृत लिटरेचर १४४, में दी गई व्याख्या से अपनी पूर्व सहमति को वापस ले लिया है।

[८] 'नौ' (नौका) शब्द कभी भी 'नाव' के अर्थ में किसी यौगिक शब्द के प्रथम खण्ड के रूप में नहीं आता, जब कि 'प्र-भ्रंश' (नीचे गिरना) का किसी नौका के नीचे बह जाने के आशय में कभी प्रयोग नहीं हुआ है; अतः इसे इस आशय में ग्रहण करना अनुपयुक्त होगा।

नावा (जलयान) एक बार ऋग्वेद (१. ९७, ८) में आता है। देखिये *नौ*।

नावाज (नौका प्रेरक) अर्थात् 'नाविक' का शतपथ ब्राह्मण (२. ३, ३, ५) में उल्लेख है।

नाव्या ऋग्वेद[१] और बाद के साहित्य[२] में अनेक बार 'नौकायें चल सकने-योग्य जलधाराओं' के आशय में आता है।

[१] १. ३३, ११; ८०, ८; १२१, १३।

[२] अथर्ववेद ८. ५, ९; काठक संहिता, २३. ६; शतपथ ब्राह्मण १०. ५, ४, १४, इत्यादि।

नाहुष का भी, *नहुस्* की भाँति, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार ऋग्वेद[१] के कुछ स्थलों पर एक विशेषण के रूप में 'निकटस्थ', और एक स्थल[२] पर सत्तावाचक के रूप में 'पड़ोसी' अर्थ है। दूसरी ओर यदि *नहुस्* को व्यक्तिवाचक नाम मान लिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि 'नहुष' भी 'नहुस् जाति के लोगों का', और सत्तावाचक के रूप में 'नहुस् के राजा' का द्योतक होगा।

[१] १. १००, १६; ५. ७३, ३; ६. २२, १०; ८. ६, २४।

[२] ८. ९५, २।

निकोथक भाय-जात्य ('भयजात' का वंशज) का वंश ब्राह्मण[1] में *प्रतिथि* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७३। तु० की० मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिट-रेचर, ४४४।

निगद पार्ण-वल्कि ('पर्णवल्क' का वंशज) का वंश ब्राह्मण[1] में 'गिरि-शर्मन्' के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२। तु० की० मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिट-रेचर ४४३।

नि-गुत् ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर आता है, जहाँ सायण इसे 'शत्रु' के अर्थ में ग्रहण करते हैं, और यही व्याख्या सम्भव भी है। लुडविग[2] का मत है कि इससे अनार्य शत्रुओं का अर्थ है।

[1] ९. ९७, ५३. ५४; १०, १२८, ६। | [2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६४।

निगुस्थ एक अज्ञात अर्थवाला शब्द है जो शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१६. २९, ६) में काशि, विदेह और कोसल के लोगों के लिये व्यवहृत हुआ है।

१. नि-तत्नी (नीचे की ओर प्रहार करने वाला) अथर्ववेद[1] में एक ऐसे अज्ञात पौधे के नाम के रूप में आता है जिसका बालों को पुनः जमाने के लिये प्रयोग किया जाता था।

[1] ६. १३६; सम्भवतः १३७ में भी इसी पौधे का सन्दर्भ है। तु० की० कौषीतकि सूत्र ३१. २८, जिस पर अपने अनुवाद में कैलेण्ड की टिप्पणी भी देखिये; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद ६१; अथर्ववेद के सूक्त ५३६, ५३७; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ३८३।

२. नि-तत्नी तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १, ४, १) में सात *कृत्तिकाओं* में से एक का नाम है। देखिये नक्षत्र।

नि-तान मारुत काठक संहिता (२५. १०) में एक व्यक्ति का नाम है।

निन्दाघ (दग्ध करनेवाला) अर्थात् 'ग्रीष्म', शतपथ ब्राह्मण (१३. ८, १, ४) में ऋतुओं में से एक का नाम है। देखिये *नैदाघ*।

नि-दान एक सूत्र का नाम है जिसका बृहद्देवता[1] में प्रत्यक्षतः भाल्लवि ब्राह्मण के एक उद्धरण से युक्त होने के रूप में उल्लेख है। इस सूक्त के वर्तमान मूल में उक्त उद्धरण नहीं मिलता।[2]

[1] ५. २३, मैकडौनेल के नोट सहित।

[2] सा० ऋ० ६५।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४४; मैक्समूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, १११, इत्यादि।

नि-धा (जाल) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है।

[1] ९. ८३, ४; १०. ७३, ११; निरुक्त ४. २।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ३. १९।

नि-धि का प्रमुख अर्थ 'संचय करने का स्थान', अथवा 'भाण्डार'[1] है, और इसके अतिरिक्त सामान्य रूप से 'कोश'।[2] छान्दोग्य उपनिषद्[3] में 'निधि' एक प्रकार के विज्ञान का द्योतक है।

[1] ऋग्वेद १. १८३, ४; ५. ४३, ८; ७. ६७, ७; ६९, ३ इत्यादि।

[2] ऋग्वेद २. २४, ६; ८. २९, ६; १०. ६८, ६; अथर्ववेद १०. ७, २३, इत्यादि।

[3] ७. १, २. ४; २, १; ७, १। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, और बौटलिङ्क अपने संस्करण में, 'दैवो निधिः' को एक व्याहृति मानते हैं। देखिये दैव। सायण दोनों को अलग मानते हुये 'निधि' का 'महाकालादि-निधिशास्त्रम्' के रूप में अनुवाद करते हैं जिसका अर्थ कदाचित किसी प्रकार का कालक्रम है।

तु० की० 'कोश' के रूप में 'निधि' के लिये जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, १०३, १०४।

नि-नाह्य, शतपथ ब्राह्मण (३. ९, २, ८) में एक 'जल-पात्र' का द्योतक है और भाष्यकार के अनुसार इसे इसलिये ऐसा कहा गया है कि यह भूमि में गड़ा रहता था।[1] एग्लिङ्ग[2] इसकी, 'पानी को ठण्डा रखने के लिये भूमि में खुदी नाद अथवा पात्र के रूप में व्याख्या करते हैं।

[1] जैसा कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ 'सन्नद्ध अथवा गाड़ने के लिये' होता है।

[2] से० बु० ई० २६, २२३, नोट ४।

निन्दिताश्व—(तिरस्कार्य अश्वों वाला) ऋग्वेद[1] में एक प्रतिपालक का नाम है। नाम का रूप ईरान के साथ सम्बद्ध होने का संकेत कर सकता है,

[1] ८. १, ३०।

किन्तु इस प्रकार की मान्यता की कोई आवश्यकता नहीं है।[2] सायण कुशलता पूर्वक इस नाम—सम्भवतः एक विरूप संज्ञा—को 'जो अपने विपक्षियों के अश्वों को लज्जित कर देता है' के रूप अनुवाद करते हुये प्रशंसात्मक आशय में परिणत कर देते हैं।

[2] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १७, ९०। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५९।

नि-पाद, ऋग्वेद (५. ८३, ७) में 'पहाड़ी' (उद्वत्) के विपरीत 'नीचे मैदान', 'घाटी' का द्योतक है। तु० की० *निवत्*।

नि-म्रुच् (सूर्यास्त) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में समय के विभाजन के रूप में बार-बार उल्लेख है।

[1] १. १५१, ५; १६१, १०; ८. २७, १९; १०. १५१, ५।

[2] अथर्ववेद १३. ३, २१; तैत्तिरीय संहिता १. ५, १०, २; काठक संहिता ३७. १०; तैत्तिरीय आरण्यक २. ५, २, इत्यादि।

निर्-अष्ट (बधिया) कुछ बाद की संहिताओं[1] में बैलों के लिये, और शतपथ ब्राह्मण[2] में अश्वों के लिये व्यवहृत हुआ है।

[1] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; १७, १; काठक संहिता १५. ४. ९।

[2] १३. ४, २, ५।

निर्-आल, एक बार अथर्ववेद[1] में आता है, जहाँ सायण इसे किसी व्याधि का नाम मानते हैं। पद पाठ से सहमत होते हुये भी ब्लूमफील्ड[2] इसकी दो शब्दों के रूप में व्याख्या करते हैं, जिनमें से 'निर्' को आज्ञा वाचक न्यूनपद 'बाहर (जाओ)' और 'आल' को सम्बोधक के अर्थ में ग्रहण करते हैं। ह्विटने[3] ने पहले 'आल' को एक क्रिया रूप माना था किन्तु अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्पूर्ण व्याहृति एक ही, 'निराल', शब्द है जिसका आशय अज्ञात है।

[1] ६. १६, ३।

[2] अथर्ववेद के सूक्त, ४६६।

[3] अथर्ववेद का अनुवाद, २९२।

निरुक्त (व्याख्या), किसी शब्द अथवा वाक्पद की व्याख्या के रूप में

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १३, १७; ३, २६० और बाद; इन्डियन लिटरेचर २५, २६, ४१, ४२, इत्यादि; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर २६९, २७०; कीथ : ऐतरेय आरण्यक २४, २५; रौथः निरुक्त, xv, और बाद।

छान्दोग्य उपनिषद् (८. ३, ३,) में मिलता है। किन्तु किसी ग्रन्थ के नाम के रूप में यह बाद के उपनिषदों के पहले नहीं आता। फिर भी यास्क के निरुक्त का बौद्ध मत के उदय के बाद का न होना सम्भव है। तु० की० *निर्वचन*।

निर्-यास, वृक्षों के 'गोंद' का द्योतक है। इसके लाल रंग के कारण तैत्तिरीय संहिता (२. १, ५, ४) में इसे अखाद्य कहा गया है।

निर्-वचन का तैत्तिरीय आरण्यक[1] और निरुक्त[2] में 'व्याख्या', मुख्यतः व्युत्पत्ति शास्त्रीय व्याख्या, अर्थ है। तु० की० *निरुक्त*।

[1] १.६, ३।
[2] २. १। तु० की० 'अ-निर्वचनम्' (जो व्याख्या का प्रयोजन सिद्ध न करता हो) वही ७. २४।

नि-वत्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'घाटी' का द्योतक है।

[1] १. १६१, ११; ३. २, १०; ७. ५०, ४; १०. १२७, २; १४२, ४।
[2] अथर्ववेद ६. २२,३; तैत्तिरीय संहिता ३. २, ४, ४, इत्यादि।

निवान्य-वत्सा और *निवान्या*, शतपथ ब्राह्मण[1] में 'एक गाय और ऐसे बछड़े का द्योतक है जिसके लिये गाय का प्रेम प्राप्त करना पड़े'; अर्थात् गाय के साथ ऐसे बछड़े का द्योतक है जो गाय के अपने बछड़े के मृत हो जाने के बाद उस गाय के साथ रख दिया गया हो। 'निवान्या'[2] उक्त यौगिक शब्द का संक्षिप्त रूप है। इसी प्रकार की अन्य व्याहृतियाँ यह हैं: 'अभिवान्य-वत्सा',[3] 'अभिवान्या',[4] 'वान्या',[5] और 'अपि-वान्य-वत्सा'[6]।

[1] ११. ५, १, ४।
[2] २. ६, १, ६।
[3] ऐतरेय ब्राह्मण ७. २।
[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, ८, ४।
[5] वही, २. ६, १६, २,।
[6] कौशिक सूत्र ८२. २२।
तु० की० ह्विट्ने के अथर्ववेद के अनुवाद, ८८०, में लैनमैन।

नि-विद्, ईश्वर के सम्मान में की गई सामाजिक प्रार्थना में आमन्त्रित किये गये देवता के संक्षिप्त स्तुतियों का द्योतक है। ब्राह्मण ग्रन्थ[1], शास्त्रों में प्रतिनिविष्ट 'निविदों' का बार-बार उल्लेख करते हैं, और ऋग्वेद[2] के *खिलों*

[1] ऐतरेय ब्राह्मण २.३३. ३४; ३.१०.११; ६. ३३. ३५; कौषीतकि ब्राह्मण १४. १; शतपथ ब्राह्मण ३. ९, ३, २८; १३. ५, १. ९, इत्यादि; ऐतरेय आरण्यक १. ५. २; शाङ्खायन आरण्यक १. ३, इत्यादि।
[2] देखिये शेफ्टेलोवित्ज़ : डी० ऋ० १३७–१४३।

के बीच अनेक 'निविद्' सुरक्षित हैं। किन्तु यह संदिग्ध[3] है कि इस प्रकार के संक्षिप्त सूक्तों—'निविद्' विस्तार में सामान्यतया एक पद अथवा मन्त्र के चतुर्थांश से अधिक बड़ा नहीं होता—के प्रयोग की प्रथा ऋग्वेद को भी ज्ञात थी अथवा नहीं, यद्यपि वहाँ इसे देखा गया है,[4] और 'निविद्' शब्द भी इस संहिता[5] में अनेक बार मिलता है। फिर भी इसमें इसका ब्राह्मण ग्रन्थों जैसा पारिभाषिक आशय नहीं है। बाद की संहिताओं[6] में इसका पारिभाषिक आशय सामान्य हो गया है।

[3] 'निविदों' की प्राचीनता के सिद्धान्त का हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण, १, २६ में, और उनके बाद अक्सर तिलक : ओरायन २०६; शेफ्टेलोवित्ज़ : उ० पु०, ३, आदि ने प्रतिपादन किया है। किन्तु वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ९, २६५, ३५५, और औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २४२ और बाद; गो० १९०७, २३२, २३३, आदि ने इसे सर्वथा असम्भाव्य बताया।

[4] १. ८६, ४; बेजेनबर्गर : बी०, ९, १९२। इसी प्रकार औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, ११९, १२२, ऋग्वेद १. ९६, २ में 'निविदों' के पारिभाषिक आशय का प्रयोग मानते हैं।

[5] १. ८९, ३; ९६, २; १७५, ६; २. ३६, ६; ४. १८, ७; ६. ६७, १०।

[6] अथर्ववेद ५. २६, ४; ११. ७, १९; वाजसनेयि संहिता १९.२५, इत्यादि। तु० की० हिलेब्रान्ट : रिचुअल-लिटरेचर, १०२; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद ३८७, नोट २; म्यूर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], २४१।

निविद्-धान ('निविद्' से युक्त), ब्राह्मणों[1] में अनेक बार किसी सूक्त अथवा मन्त्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. १७; कौषीतकि ब्राह्मण २१. ६; २४. ४; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, १, १२; ऐतरेय आरण्यक १. २, २; ५, ३।

नि-वेशन (आवास), ऋग्वेद[1] और सूत्रों में आता है। सूत्रों[2] में पशुओं के विश्राम-स्थान के रूप में इसका *गृह* से विभेद किया गया है।

[1] ४. १९, ९; ७. १९, ५।

[2] आश्वलायन गृह्य सूत्र ४. ६, इत्यादि।

नि-षङ्गथि[1] अथवा *निषङ्ग-धि*[2] यजुर्वेद संहिताओं में मिलता है। यदि इस शब्द का द्वितीय रूप ठीक है तो इसका आशय 'तलवार की मियान' (निषङ्ग) होगा, जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने माना है; किन्तु सम्भवतः

[1] काठक संहिता १७. ११; मैत्रायणी संहिता २. ९, २।

[2] वाजसनेयि संहिता १६. १०।

प्रथम रूप ही ठीक है और उस दशा में इस शब्द का *निषङ्गिन्* जैसा ही अर्थ होगा।

नि-षङ्गिन् तीन बार ऋग्वेद[1] में मिलता है, जहाँ एक स्थल[2] पर 'सुधन्वान इषुमन्तो' (श्रेष्ठ धनुष और बाण वाला) शब्दों के बाद आने के कारण 'निषङ्गिनः' का आशय 'तरकस से युक्त' सर्वथा निश्चित प्रतीत होता है। वाजसनेयि संहिता[3] में भाष्यकार महीधर ने इसे 'तलवार से युक्त' के अर्थ में ग्रहण किया है, और इस स्थान पर तथा अन्यत्र[4] भी जहाँ यह शब्द आता है, ऐसा अर्थ सर्वथा सम्भव है। किन्तु इस शब्द का कहीं अधिक सम्भव अर्थ 'तरकस से युक्त' ही है, क्योंकि धनुष ही वैदिक कालीन अस्त्र था तलवार (*असि*) नहीं।

[1] ३. ३०, १५; ५. ५७, २; १०. १०३, ३।
[2] ५. ५७, २।
[3] १६. २०। तु० की० कात्यायन श्रौतसूत्र २०. २, ११, और उस पर भाष्य।
[4] सामवेद २. ११९९; काठक संहिता १७. १२; ३७. ११; मैत्रायणी संहिता २. ९, ३; तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ३, १; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, २, ५। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, २७४।

नि-षाद, बाद की संहिताओं में, तथा ब्राह्मणों[1] में मिलता है। यह शब्द किसी जाति-विशेष का द्योतक नहीं वरन् एक ऐसी अनार्य जाति के लिये प्रयुक्त सामान्य शब्द है जो आर्यों के नियन्त्रण में नहीं थी, जैसे शूद्र; क्योंकि औपमन्यव[2] ने पाँच जातियों (पञ्च जनाः) के अन्तर्गत चार जातियों (चत्वारो वर्णाः) तथा 'निषादों' को रक्खा है, और भाष्यकार महीधर वाजसनेयि संहिता[3] के उस स्थल पर जहाँ यह शब्द आता है, इसकी 'भिल्ल' अथवा 'भील' के रूप में व्याख्या करते हैं। लाट्यायन श्रौत सूत्र[4] में निषादों के एक ग्राम का उल्लेख है, और 'निषाद *स्थपति*' का, जो कि एक प्रकार का नेता है, कात्यायन श्रौतसूत्र[5] तथा इसी स्थल पर भाष्यकार द्वारा उद्धृत एक ब्राह्मण में, सन्दर्भ है। वेबर[6] का विचार है कि निषाद लोग बसाये गये

[1] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ४, २; काठक संहिता १७. १३; मैत्रायणी संहिता २. ९, ५; वाजसनेयि संहिता १६. २७; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ११; पञ्चविंश ब्राह्मण १६. ६, ८, इत्यादि।
[2] यास्क : निरुक्त ३. ८, में।
[3] १६. २७। तु० की० ३०. ८।
[4] ८. २, ८।
[5] १. १, १२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०. १३।
[6] इन्डिशे स्टूडिय ९,३४०। तु० की० १०, १३, १६।

आदिवासी ('नि' अर्थात् निम्न और 'सद्' अर्थात् बसना से व्युत्पन्न) थे। यह मत इस तथ्य द्वारा पुष्ट भी होता है कि 'विश्वजित् यज्ञ'[७] के संस्कारों के अन्तर्गत अस्थायी रूप से निषादों के साथ रहना आवश्यक होता था; और जो निषाद्-गण एक आर्य को स्थायी रूप से अपने मध्य रहने की अनुमति देते होंगे वह अंशतः आर्यों के प्रभाव के अन्तर्गत अवश्य रहे होंगे। किन्तु यह नाम आर्य संगठन के अन्तर्गत न आनेवाले अन्य सभी आदिवासियों के लिये सरलतापूर्वक व्यवहृत हो सकता है। फॉन श्रोडर[८] का विचार है कि निषादों को सम्भवतः उन 'न्यसायेयनों' के साथ समीकृत किया जा सकता है जिन्होंने, यूनानी विवरण के अनुसार, सिकन्दर के पास उस समय एक दूत भेजा था जब वह 'अश्वकों' के क्षेत्र में उपस्थित था; किन्तु यह समीकरण सन्दिग्ध है।

[७] देखिये कौषीतकि ब्राह्मण २५. १५; लाट्यायन, उ० स्था०; पञ्चविंश ब्राह्मण उ० स्था०।

[८] इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर ३६६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३९, ११९। बाद के विवरण (मनु० १०. ८) में 'निषाद', ब्राह्मण पुरुष और शूद्र पत्नी से उत्पन्न कहे गये हैं, जब कि वराहमिहिर की बृहत्संहिता (१४. १०) में मध्यदेश के दक्षिण-पूर्व में स्थित निषादों के एक 'राष्ट्र' को स्वीकार किया गया है। पालि ग्रन्थों (फिक : डी० ग्लो० १२, १६०, २०६ और बाद) में यह लोग जंगली व्याध और मछुये हैं। तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[२], ३०१, ३०३, ३६६, नोट १६४, ४०३, ४८१।

निष्क ऋग्वेद[१] और बाद[२] में अक्सर मिलता है। जैसा कि 'निष्क-कण्ठ'[३] और 'निष्क-ग्रीव'[४] (गले में स्वर्ण आभूषण पहने हुये) उपाधियों से व्यक्त होता है, यह गले में पहने जानेवाले किसी स्वर्ण-अलंकार का द्योतक है। पञ्चविंश ब्राह्मण[५] में एक रजत-निष्क का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद[६] जैसे प्राचीन समय में भी मुद्रा के एक प्रकार के रूप में 'निष्क' के प्रयोग के चिह्न

[१] २. ३३, १०; ८. ४७, १५, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ५. १४, ३; ७. ९९, १; २०. १३१, ८; छान्दोग्य उपनिषद् ४. २, १. २; ५. १३, २; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ३६, ७. ८; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, ७. ११, इत्यादि।

[३] ऐतरेय ब्राह्मण ८. २२।

[४] ऋग्वेद ५. १९, ३; अथर्ववेद ५. १७, १४।

[५] १७. १, १४, व्रात्य द्वारा धारण किया गया होने के रूप में। तु० की० अथर्ववेद १५. ३।

[६] १. १२६, २।

वर्तमान हैं, क्योंकि एक गायक शत-निष्कों और शत-अश्वों की प्राप्ति के उपलक्ष में समारोह करता है: केवल व्यक्तिगत अलंकरण के लिये उसे कदाचित् ही इतने अधिक निष्कों की आवश्यकता रही होगी। मुद्रा के रूप में निष्कों का प्रयोग बाद में सर्वथा स्पष्ट है।[७] तु० की० *कृष्णल* भी।

[७] अथर्ववेद २०. १२७, ३; लाट्यायन श्रौतसूत्र ९. ९, २०, इत्यादि। शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, १. ८; और गोपथ ब्राह्मण १. ३, ६, में, एग्लिङ्ग: से० बु० ई० ४४, ५०, ५१, और गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन २, १८५, ने 'सिक्के' का आशय माना है।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ५१, २५९, २६३; गेल्डनर: ऋ० पु० १, २६८, नोट २; त्सिमर: त्सी० गे० ४०, १२७।

निष्किरीय एक ऐसे पुरोहित वर्ग का नाम है, जिसका पञ्चविंश ब्राह्मण[१] में यज्ञ-सूत्र का आयोजन करनेवालों के रूप में उल्लेख है।

[१] १२. ५, १४। तु० की० हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५, ५८।

निष्ट्य का ऋग्वेद[१] और बाद[२] में एक 'विदेशी' अथवा 'अपरिचित' अर्थ है। सामान्यतया 'स्वाति' कहे जानेवाले नक्षत्र (देखिये *नक्षत्र*) को तैत्तिरीय ब्राह्मण[३] में इसी कारण 'निष्ट्या' नाम दिया गया है कि वह क्रान्तिमण्डल से स्पष्टतः हटकर स्थित है।

[१] ६. ७५, १९; ८. १, १३; १०. १३३, ५।

[२] अथर्ववेद ३. ३, ६; वाजसनेयि ५. २३; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ४, १७, इत्यादि।

[३] १. ५, २, २. ३; ३. १, १, १३।

तु० की० मैक्स मूलर: से० बु० ई० ३२. २१५।

निहाका, ऋग्वेद[१] और तैत्तिरीय संहिता[२] में, आँधी से सम्बद्ध किसी घटना, सम्भवतः 'चक्रवात' का द्योतक प्रतीत होता है।

[१] १०. ९७, १३।

[२] ७. ५, ११, १ ('नीहार' के बाद)

नीक्षण—देखिये *नेक्षण*।

नीच्य (नीचे रहनेवाला) पश्चिम के कुछ राष्ट्रों के लिये प्रयुक्त नाम है। ऐतरेय ब्राह्मण (८. १४) में नीच्यों का *मध्यदेश* के लोगों से सर्वथा विभेद किया गया है, और इसमें सन्देह नहीं कि इनसे सिन्धु और पञ्जाब क्षेत्रों के निवासियों का तात्पर्य है।

नीथ (क्लीव) का प्रथमतः संगीतात्मक 'पद्धति', और उसके बाद 'प्रशस्ति सूक्त' अर्थ है।[1] इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'नीथा' एक बार ऋग्वेद[2] में आता है, जहाँ इसका 'उपाय' या 'कौशल' अर्थ है।

[1] ऋग्वेद ४. ३, १६; ७. २६, २; १०. ९२, ३; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३८। तु० की० ऋग्वेद ३. १२, ५, में गायकों (जरितृ) का 'नीथाविद्'।

[2] १. १०४, ५। तु० की० 'शत-नीथ' उपाधि, १. १००, १२; १७९, ३; १०. ६९, ७; 'सहस्र-नीथ', ३. ६०, ७; ९. ८५, ४; । ९६, १८ में कवि की कला के लिये (प्रयुक्त 'पदवीः कवीनाम्') तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स १[2], २४१।

नीनाह अथर्ववेद (१९. ५७, ४) में एक बार आनेवाला ऐसा शब्द है जो 'कमरबन्द' अथवा इसी समान किसी वस्तु का द्योतक हो सकता है, जैसा कि 'नह्' (बाँधना) धातु से व्युत्पन्न होता है।

नीपातिथि ऋग्वेद[1] में उस व्यक्ति के नाम के रूप में आता है जिसे अनुक्रमणी द्वारा एक सूक्त[2] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। इसके एक 'सामन्' का पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में भी उल्लेख है।

[1] ८. ४९, ९. जहाँ इसका युद्धरत होने के रूप में उल्लेख हैं; ८. ५१, १, जहाँ यह एक 'होता' प्रतीत होता है। इससे या तो एक राजा, अथवा द्रष्टा, का अर्थ भी हो सकता है।

[2] ८. ३४। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३. १४०; हॉपकिन्स। ज० अ० ओ० सो० १७, ९०।

[3] १४. १०, ४।

नीलङ्गु—यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आनेवाला यह किसी 'कीड़े' का नाम है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, ११,१; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ११ ('नीलाङ्गु' पाठभेद); वाजसनेयि संहिता २४. ३०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९८।

नील-शीर्ष्णी (नीले सरवाला) तैत्तिरीय संहिता[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में किसी अज्ञात पशु का नाम है।

[1] ५. ५, १५, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९९।

नीलागलसाल, अथवा जैसा कि पैप्पलाद शाखा में *नीलाकलसाला* पाठ है, भाष्यकार के अनुसार अथर्ववेद[1] में किसी 'अन्न-लतिका' का नाम है।

[1] ६. १६, ४। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद २९२, २९३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४६६।

नीवार (जंगली जाति) का यजुर्वेद संहिताओं[1] में, और ब्राह्मणों[2] में उल्लेख है।

[1] काठक संहिता १२. ४; मैत्रायणी संहिता ३. ४, १०; वाजसनेयि संहिता १८. १२।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. १, ४, १४; ३, ३, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, ६, ७, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४०।

नीवि, एक 'नीचे पहने जानेवाले परिधान', सम्भवतः कटिभाग में धारण किये जानेवाले वस्त्र का नाम है, जिसे पुरुष और स्त्री दोनों ही, किन्तु मुख्यतः स्त्रियाँ ही पहनती थीं। इसका अथर्ववेद[1] और बाद[2] में उल्लेख है।

[1] ८. २, १६; १४. २, ५०। तु० की० 'नीवि-भार्य' (वस्त्र में धारण किया जाने वाला), ८. ६, २०।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, ३; वाजसनेयि संहिता ४. १०; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ३, ६; ३.२, १, १५, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २६२; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३३१।

नीहार, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में आता है।

[1] १०. ८२, ७।
[2] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, ११, १; काठक संहिता २८. ४; वाजसनेयि संहिता २२. २६; २५. ९; अथर्ववेद ६. ११३, २; १८. ३, ६०; तैत्तिरीय आरण्यक १. १०, ७; ६. ४, १; छान्दोग्य उपनिषद् ३. १९, २, इत्यादि।

नृ—देखिये *नर*।

नृति का, अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर, 'चमड़े का थैला' अर्थ प्रतीत होता है। फिर भी, यद्यपि पैप्पलाद शाखा में यही पाठ है, तथापि यह स्पष्ट है कि हमें रौथ[2] और ह्विट्ने[3] के साथ इस शब्द को *दृति* ही पढ़ना चाहिये। लुडविग[4] इस शब्द का 'नर्तक' अनुवाद करते हैं, जिससे प्रयुक्त सन्दर्भ में कोई सार्थक आशय नहीं निकलता।

[1] ६. १८, ३।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[3] अथर्ववेद का अनुवाद २९४। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, २३५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४६८।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ५१४।

नृतू एक बार ऋग्वेद[1] में 'नर्तकी' के अर्थ में आता है। एक अन्य

[1] १. ९२, ४ (जहाँ देवी 'उषस्' की एक नर्तकी से तुलना की गई है)।

स्थल[2] पर अन्येष्टि-संस्कार के वर्णन में 'नृति' को 'हास' के साथ संयुक्त किया गया है; किन्तु यद्यपि यह स्पष्ट है कि इससे किसी सुखद समारोह का (आयरलैण्ड के 'वेक' 'Wake', अथवा स्कॉटलैण्ड में प्रचलित अन्येष्टि के बाद भोजन कराने की एक पुरातन प्रथा की ही भाँति) अर्थ है, तथापि यहाँ इससे 'नृत्य' का ही आशय है ऐसा निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। फिर भी, ऋग्वेद[3] और बाद में 'नृत्य' का अक्सर उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण[4] में ऐसा उल्लेख है कि 'नृत्त-गीत' का आनन्द छठवें लोक में उपलब्ध होता है। शैलूष भी देखिये।

[2] १०. १८, ३। तु० की० २९, २।
[3] १. १०, १; ९२, ४, इत्यादि। देखिये वेबर : इन्डियन लिटरेचर १९६, और बाद।
[4] १. ४२ (ज० अ० ओ० सो० १५, २३५)।

नृ-पति (मनुष्यों का अधिपति) ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक 'राजा' अथवा शासक वर्ग (*क्षत्रिय*) के ही किसी व्यक्ति का द्योतक है।

[1] २. १, १. ७; ४. २०, १; ७. ६९, १; १०. ४४, २. ३।
[2] अथर्ववेद ५. १८, १. १५; तैत्तिरीय आरण्यक ६. ३, ३; १०. ७७, इत्यादि।

नृ-मेध[1], *नृ-मेधस्*,[2] ऋग्वेद[3] में अग्नि के एक आश्रित का नाम है। यहाँ एक ऐसे सूक्त में यह *समेधस्* के साथ भी आता है जिसे ग्रिफ़िथ[4] प्रायः उचित रूप से ही अबोधगम्य मानते हैं। तैत्तिरीय संहिता[1] में यह *परुच्छेप* का एक असफल प्रतिस्पर्धी, और पञ्चविंश ब्राह्मण[2] में एक आङ्गिरस तथा सामनों का द्रष्टा है।

[1] ऋग्वेद १०. ८०, ३; १३२, ७; तैत्तिरीय संहिता २. ५, ८, ३।
[2] पञ्चविंश ब्राह्मण ८. ८, २१ और बाद।
[3] १०. ८०, ३।
[4] १०. १३२; ग्रिफिथ; ऋग्वेद के सूक्त २, ५७८, नोट।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १६०; हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ६१।

नृ-षद् (मनुष्यों के बीच आसीन) ऋग्वेद (१०. ३१, ११) में कण्व के पिता का नाम है। तु० की० *नार्षद*।

नेक्षण एक बार अथर्ववेद[1] में आता है जहाँ इससे एक 'शूल' (लोहे की

[1] ९. ६, १७। तु० की० कौशिक सूत्र २. ११; ८७. १२; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५४०।

वह सींक जिस पर लपेट कर कबाब भूना जाता है) का अर्थ प्रतीत होता है। ऋग्वेद[2] में 'नीक्षण' शब्द आता है और इसका भी यही आशय होना चाहिये; किन्तु औल्डेनबर्ग[3] के विचार से इस शब्द का आशय यह देखने के लिये भोजन का 'निरीक्षण' करना है कि वह तैयार हो गया है अथवा नहीं (जैसा कि 'नि-ईक्ष', अथवा 'देखना' से व्युत्पन्न होता है)।

[2] १. १६२, १३।

[3] ऋग्वेद-नोटेन, १, १५५।

नेमि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में, रथ-चक्र के 'चक्र-धार' का द्योतक है। यह अच्छी लड़की (सु-द्रू)[3] का बना तथा गोलाकार मुड़ा होता था।[4] तु० की० *रथ*।

[1] १. ३२, १५; १४१, ९; २. ५, ३; ५. १३, ६; ७. ३२, २०; ८. ४६, २३; ७५, ५, इत्यादि।

[2] शतपथ ब्राह्मण १. ४, २, १५; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५, १५, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद ७. ३२, २०।

[4] ऋग्वेद ८. ७५, ५।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २४८।

नेष्टृ, जो कि सोम-यज्ञ के समय प्रधान पुरोहितों में से एक का नाम है, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में आता है। देखिये *ऋत्विज्*।

[1] १. १५, ३; २. ५, ५, इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १८, १; ६. ५, ८, ५. ६; ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३, १०, इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ३. ८, २, १, इत्यादि; पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १५, इत्यादि।

तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १, २५०, २६१, ५२७।

नैचा-शाख ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ सायण इसका 'नीच जाति से उत्पन्न' अनुवाद करते हैं; किन्तु अन्यत्र[2] आप ही इसकी एक स्थान के नाम के रूप में व्याख्या करते हैं। प्रथम आशय को ही ग्रासमैन और लुडविग ने अपने-अपने ग्रन्थों में, तथा त्सिमर[3] ने भी, स्वीकार किया है; किन्तु हिलेब्रान्ट[4] यह मत व्यक्त करते हैं कि इसमें 'नीची शाखाओं वाले' सोम-पौधे का सन्दर्भ है। तु० की० *कीकट* और *प्रमगन्द*।

[1] ७. ५३, ४।

[2] देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन ३१।

[4] वेदिशे माइथौलोजी १, १४-१८; २, २४१-२४५, जहाँ आप इसे वॉटलिङ्क द्वारा व्यक्तिवाचक नाम मानने के मत का विरोध करते हैं।

नैचु-दार पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में आता है, और इसका अर्थ है 'निचुदार की लकड़ी का बना हुआ'। इस नाम से किस वृक्ष का तात्पर्य है यह अज्ञात है।

[1] २१. ४, १३। तु० की० अनुपद सूत्र ६. ४।

नैतन्धव का *सरस्वती* के तट पर स्थित किसी स्थान के नाम के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[1] और सूत्रों[2] में उल्लेख है।

[1] २५. १३, १।
[2] लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १९, १३; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. २९, ३१; कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ६, २३।

नै-दाघ, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में 'ग्रीष्म' ऋतु का नाम है। तु० की० *ऋतु* और *निदाघ*।

[1] अथर्ववेद ९.५, ३१; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, ४,२; शतपथ ब्राह्मण १.४, १, १६, इत्यादि; 'नैदाघीय' (ग्रीष्म का), पञ्चविंश ब्राह्मण २३. १६, ८, इत्यादि।

नै-दान एक ऐसा शब्द है जो, निरुक्त[1] में, वैदिक व्याख्याकारों के एक वर्ग के लिये व्यवहृत हुआ है। रौथ[2] 'नैदानों' को 'व्युत्पत्तिशास्त्री' मानते हैं, किन्तु सीग[3] का विचार है कि यह भी *ऐतिहासिकों* की ही भाँति होते थे।[4]

[1] ६. ९; ७. १२।
[2] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०। किन्तु तु० की० निरुक्त, ए० नि० २२०, २२१; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स २[2], १७६।
[3] सा० ऋ०, २९।
[4] इस शब्द का अर्थ 'मूल रूप के अध्ययन से सम्बद्ध' (निदान) प्रतीत होता है।

नै-ध्रुवि ('निध्रुव' का वंशज) बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में *कश्यप* का पैतृक नाम है।

[1] ६. ४, ३३ (माध्यन्दिन = ६. ५, ३ काण्व)।

नैमिशि, जैमिनीय ब्राह्मण[1] में *शितिबाहु ऐषकृत* की उपाधि है। इससे इस बात का आभास मिलता है कि 'शितिबाहु' सम्भवतः 'नैमिश' नामक वन का रहने वाला था।

[1] १. ३६३ (ज० अ० ओ० सो० २६, १९२)।

नैमिशीय[1], *नैमिषीय*[2]—यह नैमिश नामक वन में रहनेवाले लोगों का द्योतक है। काठक संहिता[2] और उसी ब्राह्मण[2] में इन लोगों के विशेष रूप से पूज्य होने का स्पष्ट उल्लेख है। इसीलिये महाकाव्य में ऐसा उल्लेख मिलता है कि नेमिशारण्यवासी ऋषियों को महाभारत सुनाया गया था।[3]

[1] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. ६, ४; जैमिनीय ब्राह्मण १. ३६३ (ज० अ० ओ० सो०, २६, १९२)।

[2] कौषीतकि ब्राह्मण २६. ५; २८, ४; छान्दोग्य उपनिषद् १. २, १३; 'नैमिष्य', काठक संहिता १०. ६ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६९)। बाद में सर्वत्र 'ष' ही प्रयुक्त हुआ है।

[3] वेबर: इन्डियन लिटरेचर ३४, ४५, ५४, ६८, ७०, १८५।

नैर्-उक्त[1]—यह निरुक्त[2] में ऐसे व्यक्ति का द्योतक है जो शब्दों की वास्तविक व्युत्पत्ति का ज्ञाता और उनके अर्थ की तदनुसार व्याख्या करता हो। यास्क का निरुक्त इस परम्परा का एक आदर्श-ग्रन्थ और नैघण्टुक नामक वैदिक शब्दों के पाँच संग्रहों वाले एक पूर्वकालीन निरुक्त पर भाष्य है।

[1] व्युत्पत्तिजन्य व्याख्या करनेवाला (निर्-उक्त)।

[2] १. १७; ६. ११; ११. १९. २९. ३१; १२. १०; १३. ९। तु० की० वेबर: इन्डियन लिटरेचर २६, ८५; इन्डिशे स्टूडियन २, ३९, नोट; सा० ऋ० १०-१३; मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स २[2], १६५ और बाद।

नै-षाद् ('निषाद्' का एक व्यक्ति), का कौषीतकि ब्राह्मण (२५. १५) और वाजसनेयि संहिता (३०. ८) में उल्लेख है।

नैषिध, शतपथ ब्राह्मण (२. ३, २, १. २) में, दक्षिण के एक राजा, नड की उपाधि है। इस नाम का बाद का रूप 'नैषध' है। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश यह मत व्यक्त करता है कि इसका मूल रूप 'नैःषिध' था।

नोधस् एक कवि का नाम है जिसका ऋग्वेद[1] में उल्लेख है, और जिसे इस संहिता के कुछ सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है।[2] पञ्चविंश ब्राह्मण[3]

[1] १. ६१, १४; ६२, १३; निरुक्त ४.१६ के अनुसार ६४, १, और १२४, ४।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण ६. १८; अनुक्रमणी में ऋग्वेद के १. ५८-६४ के प्रणयन का श्रेय इसे दिया गया है।

[3] ७. १०, १०; २१. ९, १२। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ४. २७; ८. १२, १७; अथर्ववेद १५. २, ४; ४, ४।

में इसे *कात्तीवत* (*कत्तीवन्त्* का वंशज) कहा गया है। लुडविग[4] इसे *पुरुकुत्स* के पराजय की घटना का समसामयिक मानते हैं। यह एक *गोतम* था।[5]

[4] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ११०।

[5] ऋग्वेद १. ६२, १३; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, १२५। ऋग्वेद १. १२४, ४ के अर्थ सम्बन्धी वाद-विवाद के लिये देखिये औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद नोटेन १, १३७। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा० १५, ३३।

नौ, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'नौका' अथवा 'जलयान' के लिये व्यवहृत नियमित शब्द है। अधिकांश दशाओं में नौकायें केवल नदियों को पार करने के लिये प्रयुक्त होती थीं, यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि पञ्जाब की चौड़ी-चौड़ी नदियों, तथा *यमुना* और *गङ्गा* को पार करने के लिये बड़ी नावों की भी आवश्यकता पड़ती रही होगी। निःसन्देह अक्सर 'नौ' केवल एक लकड़ी की खुदी हुई नौका (दारु)[3] होती थी। केवल डाँड़ों (*अरित्र*) के अतिरिक्त जलयान के अन्य किसी भाग, जैसे मस्तूल, पाल, आदि का कोई भी उल्लेख न मिलना, वैदिक काल में व्यापक समुद्री व्यापार का अस्तित्व मानने वाले सिद्धान्त[4] के निश्चित रूप से प्रतिकूल है। फिर भी, कुछ ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जो केवल नदियों को पार करने के लिये प्रयुक्त नौकाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत आधार पर व्यापार होने के तथ्य को व्यक्त करते हैं। अथर्ववेद[5] में ब्राह्मणों को त्रस्त करनेवाले साम्राज्य के भग्न होने की, एक ऐसे डूबते हुये जलयान से तुलना की गई है जिसमें उसके रन्ध्रों से जल प्रवेश कर रहा हो (भिन्ना)। यद्यपि यहाँ प्रयुक्त भाषा को इस सिद्धान्त की पुष्टि के अनुकूल बनाया जा सकता है कि उक्त जलयान भी केवल एक लकड़ी की बनी छोटी नौका ही है, तथापि स्वाभाविक रूप से इस स्थल की ऐसी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद[6] में ऐसे व्यक्तियों का भी उल्लेख है जो लाभ की इच्छा से (सनिष्यवः) *समुद्र* की

[1] १. १३१, २; २. ३९, ४; ८. ४२, ३; ८३, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद २. ३६, ५; ५. १९, ८; तैत्तिरीय संहिता ५. ३, १०, १; वाजसनेयि संहिता १०. १९; ऐतरेय ब्राह्मण ४. १३; ६. ६. २१; शतपथ ब्राह्मण २. ८, १, ४; ४. २, ५, १०, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १०. १५५, ३।

[4] विलसन : ऋग्वेद १, xli

[5] ५. १९, ८। तु० की० हॉपकिन्स : अ० फा० १९, १३९। इसी प्रकार सम्भवतः ऋग्वेद १. ३२, ८ में 'नदं न भिन्नम्' से जलयान का ही आशय है। देखिये **नड**।

[6] ऋग्वेद १. ५६, २; ४. ५५, ६।

यात्रा करते थे। त्सिमर[7] की भाँति इस प्रकार के सन्दर्भों को पंजाब की अन्य सहायक नदियों के मिल जाने के पश्चात् सिन्धु नदी की चौड़ी धारा तक ही सीमित मान लेना किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं है। ऋग्वेद[8] तक में ऐसा कहा गया है कि अश्विनों ने समुद्र से *भुज्यु* का, शत-डाँड़ोंवाले (शतारित्र) जलयान में, उद्धार किया था। यहाँ समुद्र-यात्रा के लिये प्रयुक्त अनेक डाँड़ोंवाले बड़े जलयानों के अस्तित्व को अस्वीकार करना अत्यन्त कठिन है। स्थिति जो कुछ भी हो, किन्तु बौधायन धर्म सूत्र[9] में समुद्री-व्यापार का स्पष्ट उल्लेख है। *समुद्र* भी देखिये।

[7] आल्टिन्डिशे लेबेन २२, २३।
[8] १. ११६, ३ और बाद।
[9] १. २, ४; २. २, २। किन्तु यह बहुत प्राचीन नहीं है।
तु० की० त्सिमर : उ० पु० २५५-२५७।

न्यग्-रोध (नीचे की ओर बढ़नेवाला) एक ऐसे वृक्ष (Ficus indica, वट-वृक्ष) का नाम है जिसकी शाखाओं से निकली जटायें भूमि की ओर आकर जड़ें पकड़ लेती हैं और स्वयं भी एक नवीन तने का रूप धारण कर लेती हैं। यद्यपि ऋग्वेद में इस नाम से इस वृक्ष का उल्लेख नहीं है, तथापि यह परिचित रहा प्रतीत होता है, जैसा कि पिशल[1] ने उस सूक्त[2] के आधार पर स्पष्ट किया है जिसमें इस वृक्ष की विशेषताओं की चर्चा देखी जा सकती है। अथर्ववेद[3] और बाद के साहित्य[4] में इसका अक्सर ही उल्लेख है। यज्ञ में प्रयुक्त *चमस* इसी की लकड़ी के बने होते थे।[5] जैसा कि आधुनिक काल में भी है, यह निःसन्देह वैदिक-कालीन आर्यों के लिये सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण वृक्ष रहा होगा। इसी जाति का एक अन्य वृक्ष, *अश्वत्थ* (Ficus religiosa), ऋग्वेद में वर्णित है।

[1] वेदिशे स्टूडियन १, ११३, ११४।
[2] १. २४, ७, जहाँ 'स्तूप' सम्भवतः वृक्ष के प्रधान तने के ऊपर के शीर्ष भाग का द्योतक है।
[3] ४. ३७, ४; ५. ५, ५।
[4] ऐतरेय ब्राह्मण ७. ३०. ३१; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, ५, १३; १३. २, ७, ३; छान्दोग्य उपनिषद् ६. १२, १, इत्यादि।
[5] तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १२, १; वाजसनेयि संहिता २३. १३।
तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ५८।

न्यू-अङ्क—एक द्विवाचक के रूप में तैत्तिरीय संहिता[1] और ब्राह्मण[2] में

[1] १. ७, ७, २।
[2] १. ३, ५, ४; २. ७, ८, १।

यह, अङ्क के समानान्तर, रथ के किसी भाग का द्योतक है। पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में 'न्यङ्कू' है, जो 'न्यङ्कु' का द्विवाचक रूप है।

[3] १. ७, ५; लाट्यायन श्रौत सूत्र २. ८, ९।

न्यङ्कु, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आनेवाले किसी पशु का नाम है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इससे 'मृग' के ही किसी प्रकार का आशय है, किन्तु तैत्तिरीय संहिता[1] के भाष्य में इसे 'रीछ' (ऋक्ष) माना गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, ९; वाजसनेयि संहिता २४. २७. ३२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८३। 'न्यङ्कु-सारिणी' (एक मृग की गति के समान) नामक एक छन्द का ऋग्वेद प्रातिशाख्य १६. ३१. में उल्लेख मिलता है। छन्दस् ५; निदान सूत्र, १. २।

न्य्-अस्तिका, अथर्ववेद[1] में किसी ऐसे पौधे का द्योतक प्रतीत होता है जिसे भाष्यकार ने 'शङ्खपुष्पिका' (Andropogon aciculatus) बताया है।

[1] ६. १३९, १। तु० की० व्हिट्ने ; अथर्ववेद का अनुवाद ३८५; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५३९, ५४०।

न्य्-ओचनी, ऋग्वेद के विवाह सूक्त (१०. ८५, ६) में मिलता है, जहाँ इससे स्त्रियों द्वारा धारण किये जानेवाले किसी आभूषण का तात्पर्य है। भाष्यकार सायण इसकी एक 'दासी' के रूप में व्याख्या करते हैं।

प

पक्ति, संहिताओं[1] में किसी पके हुए पदार्थ, सम्भवतः एक प्रकार की 'रोटी' का द्योतक है। भोजन पकानेवाले को *पक्तृ* कहा गया है।[2]

[1] ऋग्वेद ४. २४, ५. ७; २५, ६. ७; ६. २९, ४; वाजसनेयि संहिता २१. ५९, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १०. ९, ७. ११. २५; ११. १, १७; १२. ३, १७; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १७; १०. ४, २, १९।

पक्थ, ऋग्वेद[1] में एक जाति के लोगों का नाम है। यहाँ यह लोग उन जातियों में से एक हैं जिन्होंने दाशराज्ञ (दस राजाओं के युद्ध) में तृत्सु-भरतों

[1] ७. १८. ७।

का विरोध[२] किया था। त्सिमर[3] इनकी (पक्थों की) हिरोडोटस[४] द्वारा उल्लिखित भारत के उत्तर-पश्चिम में बसी जाति 'पक्त्यूस' (Πάκτυες), इनके देश की 'पक्टुइके' (Πακτυική), तथा पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान की आधुनिक 'पख्तून' जाति के साथ तुलना करते हुए, ऐसा मानते हैं कि यह उत्तर में स्थित एक जाति के लोग थे। यह सम्भव भी है, क्योंकि भरतों का मध्यदेश पर अधिकार था। ऋग्वेद[५] के तीन स्थलों पर अश्विनों के आश्रित के रूप में एक 'पक्थ' का उल्लेख है। इनमें से द्वितीय स्थल इसे उस *त्रसदस्यु* के साथ सम्बद्ध करता है जिसके पूरु जाति के लोगों की, *सुदास्* पर असफल आक्रमण करने में पक्थों ने सहायता की थी। तृतीय स्थल पर इसे *तूर्वायण* कहा गया प्रतीत होता है, और यहाँ यह *च्यवान* के विपक्षी के रूप में आता है।[६] अतः प्रत्येक दशा में 'पक्थ' सम्भवतः पक्थ जाति के राजा का ही द्योतक है।

[२] रौथ : त्सु० वे० ९५, का विचार है कि 'पक्थगण', तृत्सुओं के मित्र थे; किन्तु यह मत निश्चित रूप से ग़लत है। तु० कौ० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६०।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन ४३०, ४३१।

[४] ७. ६५ (Πάκτυες); ३. १०२ और ४. ४४ (Πακτυική)।

[५] ८. २२, १०; ४९, १०; १०. ६१, १।

[६] पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ७१-७७।

पक्व (पकाया हुआ) विशेषतः 'पकाये हुए भोजन'[१] अथवा 'पकाये हुए दुग्ध'[२] के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। 'पकाये' हुए ईंटों के लिये भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[3]

[१] ऋग्वेद ६. ६३, ९; अथर्ववेद ६. ११९, २; १२. ३, ५५; शतपथ ब्राह्मण १. ५, १, २६; २. ६, १, ७, इत्यादि।

[२] ऋग्वेद १. ६२, ९; १८०, ३; २. ४०, २; ३. ३०, १४; ६. ४४, २४, इत्यादि।

[3] शतपथ ब्राह्मण ६. १, २, २२; ७. २, १, ७।

पक्ष, अथर्ववेद[१] में गृह के किसी ऐसे भाग के लिए व्यवहृत हुआ है जो या तो रौथ,[२] त्सिमर,[3] और ग्रिल[४] के अनुसार 'पार्श्व स्तम्भ' का, अथवा जैसा कि व्हिट्ने[५] और ब्लूमफील्ड[६] ने समझा है, 'पार्श्व' का द्योतक है।

[१] ९. ३, ४।

[२] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, १५३।

[४] हुन्डर्ट लीडर[२], १८८।

[५] अथर्ववेद का अनुवाद, ५२६।

[६] अथर्ववेद के सूक्त ५९७।

अथर्ववेद[7] में छत (छदिस्) का 'चतुष्-पक्ष' (चार पार्श्वोंवाला) के रूप में वर्णन उक्त द्वितीय व्याख्या के ही अनुकूल है। तैत्तिरीय संहिता[8] में रथ के पार्श्वों के लिये 'पक्ष' का प्रयोग किया गया है। एक मास के 'अर्ध भाग' के रूप में 'पक्ष' के लिये देखिये *मास*।

[7] ३. ७, ३।
[8] १. ५, १२, ५।
तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २२०।

पक्षस्, अथर्ववेद[1] और कौषीतकि ब्राह्मण[2] में, रथ के 'पार्श्वों'[3] के अर्थ में मिलता है। काठक संहिता[4] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[5] में यह एक 'कुटिया' अथवा *शाला* के पार्श्वों के लिये प्रयुक्त हुआ है। वाजसनेयि संहिता[6] में इसका अर्थ द्वार का 'पंख' है। कौषीतकि ब्राह्मण[7] में सेना के 'अर्ध' भाग को इसी शब्द से व्यक्त किया गया है और पञ्चविंश ब्राह्मण[8] में इसका अर्थ मास का 'अर्धभाग' है। तु० की० *पक्ष*।

[1] ८. ८, २२।
[2] ७. ७।
[3] व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५०६; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ११७।
[4] ३०. ५।
[5] १. २, ३, १।
[6] २९. ५।
[7] २. ९।
[8] २३. ६, ६।

पक्षिन्, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'पंखयुक्त' पशु, और अधिक विशिष्टतः, 'पक्षी' का द्योतक है।

[1] १. ४८, ५, १८२, ५; १०. १२७, ५, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. ३४, ४; ११. ५, २१; १२. १, ५१; १३. २, ३३; काठक संहिता ३४. ८; ऐतरेय ब्राह्मण ४. २३; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ५, १८, इत्यादि।

पंक्ति, (मूलतः 'पाँच का समूह') ऋग्वेद[1] जैसे प्राचीन समय में भी सामान्य रूप से 'क्रमगत श्रेणी' का द्योतक है। तैत्तिरीय आरण्यक[2] में यह शब्द मनुष्य के पूर्वजों की उस क्रमगत पीढ़ी के लिये प्रयुक्त हुआ है जिन्हें व्यक्ति कुछ कृत्यों द्वारा पवित्र करता है।

[1] १०. ११७, ८, जैसा कि सेन्टपीटर्स वर्ग कोश ने माना है।
[2] १०. ३८, ३९।

पचत भी, पक्ति की भाँति, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'पकाये हुये भोजन' का द्योतक है।

[1] १. ६१, ७; १०. ११६, ८।
[2] वाजसनेयि संहिता २१. ६०; २३. १३; कौषीतकि ब्राह्मण ८. २१, इत्यादि।

पचन, ऋग्वेद[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में भोजन को 'पकाने के लिये प्रयुक्त पात्र' का द्योतक है।

[1] १. १६२, ६।
[2] ६. ५, ४३, ३. ४; १४. १, २, २१।

पज्र उस परिवार का नाम है जिसमें *कक्षीवन्त्* उत्पन्न (*पज्रिय*) हुये थे। इसका ऋग्वेद[1] में अनेक बार उल्लेख है। पिशल[2] के अनुसार इस परिवार के लिये प्रयुक्त 'पृक्त-याम'[3] उपाधि का अर्थ ऐसा 'उत्कृष्ट यज्ञीय कृत्य सम्पन्न करनेवाला' है जिसने इन लोगों को *श्रुतरथ* की उदारता से लाभान्वित किया था। दो स्थलों[4] पर रौथ[5] एक ऐसे पज्र का आशय मानते हैं जिसे 'सामन्' कहा गया है। यह अनिश्चित है; किन्तु जो कुछ भी हो, यहाँ 'पज्र' ही स्पष्टतः उद्दिष्ट प्रतीत होता है। अन्यत्र[6] इस शब्द का व्यक्तिवाचक नाम होना सर्वथा सन्दिग्ध है। शाट्यायन[7] में 'पज्रों' को 'अङ्गिरस्' कहा गया है।

[1] १. ११७, १०; १२२, ७. ८; १२६, ४. ५।
[2] वेदिशे स्टूडियन १. ९७, ९८।
[3] ऋग्वेद १. १२७, ८, जहाँ रौथ (सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०) का विचार है कि यह यौगिक शब्द सम्भवतः एक व्यक्तिवाचक नाम है।
[4] ऋग्वेद ८. ४, १७; ६, ४७।
[5] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'पज्र'।
[6] ऋग्वेद १. १९०, ५, जहाँ का आशय स्पष्टतः मात्सर्यपूर्ण और तिरस्कारात्मक है।
[7] ऋग्वेद १. ५१, ४ पर सायण द्वारा उद्धृत।

पज्रा केवल एक वार ऋग्वेद[1] में आता है, जहाँ 'लुडविग'[2] इस शब्द को पज्र नामक यज्ञकर्ता की पत्नी का नाम मानते हैं, जब कि रौथ[3] इसे सोम-पौधे की एक उपाधि (शक्तिशाली) के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इसका आशय अनिश्चित है।

[1] ९. ८२, १४।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११०।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर 'पज्र'।

पज्रिय ('पज्र' का वंशज) ऋग्वेद[1] में *कक्षीवन्त्* का पैतृक नाम[2] है।

[1] १. ११६, ७; ११७, ६; १२०, ५। | [2] तु० की० *तुग्र्य*, नोट १।

पञ्च-जनाः, अर्थात् 'पाँच जातियों' का, वैदिक साहित्य[1] में विभिन्न नामों से उल्लेख है; यहाँ 'पाँच' से किन लोगों का तात्पर्य है यह अत्यन्त अनिश्चित है। ऐतरेय ब्राह्मण,[2] देवता, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सरायें, सर्प, और पितृगण के रूप में पाँच की व्याख्या करता है। औपमन्यव[3] के विचार से पाँच के अन्तर्गत चारों *वर्ण* और *निषाद्-गण* आते हैं। सायण[4] का भी यही मत है। यास्क[5] का विचार है कि गन्धर्वों, पितरों, देवताओं, असुरों और राक्षसों की ही पाँच के अन्तर्गत गणना की गई है। इनमें से किसी भी व्याख्या को उपयुक्त नहीं माना जा सकता। रौथ[6] और गेल्डनर[7] का विचार है कि इससे पृथ्वी के समस्त लोगों का आशय है: जिस प्रकार चार दिशायें (*दिश्*) हैं उसी प्रकार चारों दिशाओं (उत्तर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम) में लोग रहते हैं और आर्यगण उनके मध्य में स्थित हैं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३१; ४. २७; तैत्तिरीय संहिता १. ६, १, २; काठक संहिता ५. ६; ३२. ६; बृहदारण्यक उपनिषद् ४. २, ९ (एक यौगिक शब्द के रूप में 'पञ्च-जनाः')। देखिये 'पञ्च-मानुषाः', ऋग्वेद ८. ९, २; 'मानवाः', अथर्ववेद ३. २१, ५; २४, ३; १२. १, १५; 'जनाः', ऋग्वेद ३. ३७, ९, ५९, ८; ६. १४, ४; ८. ३२, २२; ९. ६५, २३; ९२, ३; १०. ४५, ६; 'कृष्टयः', २. २, १०; ३. ५३, १६; ४. ३८, १०; १०. ६०, ४; ११९, ६; अथर्ववेद ३. २४, ३; 'क्षितयः', ऋग्वेद १. ७, ९; १७६, ३; ५. ३५, २; ६. ४६, ७; ७. ७५, ४; ७९, १; 'चर्षण्यः', ऋग्वेद ५. ८६, २; ७. १५, २; ९. १०१, ९। देखिये लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २०४। ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में पाँच जातियों का उल्लेख मिलता है: २. और ४., मण्डलों में एक-एक वार; १., ५., ६., ७., ८., में दो-दो वार; ३., और ९., में तीन-तीन वार; और १०., में चार वार।

[2] ३. ३१।

[3] यास्क: निरुक्त ३. ८, में।

[4] ऋग्वेद १. ७, ९, इत्यादि पर।

[5] निरुक्त: उ० स्था०।

[6] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर 'कृष्टि'; ए० नि० २८। इनके दृष्टिकोण के लिये अथर्ववेद ३. २४, ३ का उद्धरण दिया जा सकता है: 'पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः' (पाँच दिशायें, मनुष्यों की पाँच जातियाँ)

[7] सी० ली० १८। फिर भी, देखिये, ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०३, जहाँ आप इस व्याहृति को पाँच जातियों और साथ ही समस्त मानव जाति के लिये प्रयुक्त हुआ स्वीकार करते हैं।

त्सिमर[8] इस दृष्टिकोण का इन आधारों पर विरोध करते हैं कि किसी एक उक्ति में समस्त लोगों का सम्मिलित कर लिया गया होना, आर्यों और दासों के बीच अक्सर ही किये गये विभेदीकरण के अनुकूल नहीं; और न तो 'जनासः' (मनुष्यों)[9] अथवा 'मानुषाः' (लोगों)[10] का ही अनार्यों के लिये प्रयोग किया गया हो सकता है; साथ ही पाँच जातियों के अन्तर्गत सोम, को भी सम्मिलित किया गया है;[11] यह भी कि पाँच जातियों को *सरस्वती* के तट पर बसा बताया गया है[12], तथा इन्द्र ही 'पाञ्च-जन्य'[13] (पाँच जातियों के) हैं। त्सिमर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इनसे केवल आर्यों का, और विशेषतः उन *अनु*, *द्रुह्यु*, *यदु*, *तुर्वश* और *पूरु* आदि पाँच जाति के लोगों का तात्पर्य है जिनका ऋग्वेद[14] के एक अथवा सम्भवतः दो सूक्तों में साथ-साथ, तथा एक अन्य सूक्त[15] में इनमें से केवल चार का ही, उल्लेख है। किन्तु आप यह भी स्वीकार करते हैं कि इस व्याहृति का बाद में अधिक सामान्य आशय में व्यवहार किया गया हो सकता है। हॉपकिन्स[16] ने त्सिमर के इस दृष्टिकोण का प्रतिवाद तो किया है किन्तु उनका स्वयं अपना मत उनके इस सिद्धान्त पर आधारित है कि 'तुर्वश' नाम की कोई जाति नहीं थी वरन् यदुओं के एक राजा को ही 'तुर्वश' कहा गया है; परन्तु यह सिद्धान्त भी बहुत सम्भव नहीं है।

[8] आल्टिन्डिशे लेबेन ११९-१२३। आपके दृष्टिकोण को मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १५३, ने स्वीकार किया है; मूइर : संस्कृत टेक्स्टस, १², १७९, इस पर सन्देह करते हैं।

[9] तु० की० ऋग्वेद २. १२ में इसका प्रयोग : 'स जनास इन्द्रः', जहाँ आर्य जाति के लोगों को ही सम्बोधित किया गया होना चाहिये।

[10] तु० की० ऋग्वेद ८. ९, २, और १. ५२, ९ के साथ ८. ७०, ११; १०. २८, ८।

[11] ऋग्वेद ९. ६५, २३।

[12] ऋग्वेद ६. ६१, १२ (पञ्च जाता)। तु० की० १०. ५३, ४।

[13] ५. ३२, ११। 'अग्नि' को पाँच जातियों का, कहा गया है, ऋग्वेद ९. ६६, २०। 'अत्रि' का भी ऐसा ही वर्णन है, ऋग्वेद १. ११७, ३।

[14] १. १०८, ८। त्सिमर, १२२, द्वारा उद्धृत ७. १८ में पाँच जातियाँ इसी नाम से नहीं आतीं क्योंकि 'यदु' के स्थान पर यक्षु आ गया है। किन्तु 'यक्षु' से भी 'यदु' का ही अर्थ होना सम्भव है।

[15] ऋग्वेद ८. १०, ५।

[16] ज० अ० ओ० सो० १५, २६०।

शतपथ ब्राह्मण[17] और ऐतरेय ब्राह्मण[18] में पाँच जातियाँ 'भरतों' की विरोधी बताई गई हैं, और उक्त प्रथम ब्राह्मण[19] में इनके अन्तर्गत सात जातियों को सम्मिलित किया गया है।

[17] १३. ५, ४, १४।
[18] ८. २३।
[19] इन्डिशे स्टूडियन १, २०२, में वेबर का यह अनुमान है कि पाँच जातियों को पञ्चालों के साथ समीकृत किया गया है और शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, २३ में उल्लिखित सात जातियों का 'कुरु-पञ्चालों' के लिये व्यवहार हुआ है।

पञ्च-दशी (मास का पन्द्रहवाँ दिन) का तैत्तिरीय ब्राह्मण (१. ५, १०, ५) में उल्लेख है।

पञ्च-नद (पाँच नदियोंवाला), पञ्जाब प्रान्त के नाम के रूप में महाकाव्य-काल के पूर्व नहीं मिलता। इस काल के पहले के साहित्य में इस प्रान्त का कोई नाम नहीं है। कुछ आधुनिक शोधों ने ऋग्वेद के सृजन-स्थान[1] के रूप में पंजाब के महत्त्व को अत्यन्त कम कर दिया है, क्योंकि हॉपकिन्स[2], पिशल[3] और गेल्डनर[4] आदि ने अलग-अलग आधारों पर यह मान लेने के तर्क प्रस्तुत किये हैं कि कम से कम ऋग्वेद के अधिकांश भाग की, और पूर्व की ओर, उस *मध्यदेश* में रचना हुई थी जो कि निर्विवाद रूप से बाद की वैदिक संस्कृति का गृह था। हिलेब्रान्ट[5] का विचार है कि ऋग्वेद का कुछ अंश पंजाब, अथवा कदाचित् अर्कोसिया में रचा गया था, और कुछ मध्य देश में। देखिये कुरु, तृत्सु भी।

[1] देखिये, उदाहरण के लिये, त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन ३२, और बाद।
[2] ज० अ० ओ० सो० १९, १९-२८। तु० की० मैकडौनेल: संस्कृत लिटरेचर १४५, ४४१।
[3] वेदिशे स्टूडियन २, २१८।
[4] वही ३, १५२।
[5] वेदिशे माइथौलोजी १, ९८ और बाद। किन्तु देखिये **दिवोदास**। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन १, १८९, भी।

पञ्चविंश ब्राह्मण—देखिये *ताण्ड्य*।

पञ्चाल, ऋग्वेद में *क्रिवि* कहे गये लोगों का बाद का नाम[1] है। कुरुओं के सम्बन्ध में उल्लेख के अतिरिक्त पञ्चालों का कदाचित ही सन्दर्भ मिलता है। कुरु-पञ्चालों के राजाओं का ऐतरेय ब्राह्मण[2] में उल्लेख है। काठक

[1] शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ७।
[2] ८. १४।

संहिता[3] में पञ्चाल लोग *केशिन् दाल्भ्य* की प्रजा के रूप में आते हैं। उपनिषदों और उनके बाद[4] पञ्चाल ब्राह्मणों का, दार्शनिक और भाषाशास्त्रीय वाद-विवादों में भाग लेनेवालों के रूप में, उल्लेख है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण[5] 'प्राच्य-पाञ्चालों' का उल्लेख करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि पञ्चालों के अन्तर्गत 'क्रिवियों' के अतिरिक्त अन्य जातियाँ भी सम्मिलित थीं। इस नाम से पांच जातियों का सन्दर्भ प्रतीत होता है। यह मत[6] भी व्यक्त किया गया है कि पञ्चाल ऋग्वेद की पांच जातियों को ही व्यक्त करते हैं, किन्तु ऐसा बहुत सम्भव नहीं है। पञ्चालों का महाकाव्य में 'उत्तर' और 'दक्षिण' के रूप में किये गये विभाजन का वैदिक साहित्य में कोई चिह्न नहीं मिलता। शतपथ ब्राह्मण[7] इनके नगर के रूप में *परिचक्रा* का उल्लेख करता है; अन्य नगर, जिनका सन्दर्भ मिलता है, *काम्पील* और कौशाम्बी[8] हैं। कुरु-पञ्चालों के राजाओं से पृथक केवल पञ्चालों के राजाओं और प्रधानों के रूप में *क्रैव्य, दुर्मुख प्रवाहण जैवलि* और *शोन* का विवरण मिलता है।

[3] ३०. २ (इन्डिशे स्टूडियन ४. ४७१)।

[4] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १, (माध्यन्दिन = ६. २, १ काण्व); छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, १; ऋग्वेद प्रातिशाख्य २. १२, ४४; निदान सूत्र १. ६; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. १३, ६ इत्यादि।

[5] २.। तु० की० इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७५, नोट; ८, ९२, नोट १।

[6] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, २०२; गेल्डर : वेदिशे स्टूडियन ३, १०८, नोट १। तु० की० वेबर : उ० पु० १, १९१ और बाद; इन्डियन लिटरेचर १०, ९०. ११४, ११५, १२५, १३५, १३६।

[7] १३. ५, ४, ७।

[8] देखिये कौशाम्बेय।

पञ्चाल-चण्ड, ऐतरेय[1] और शाङ्खायन[2] आरण्यकों में एक गुरु का नाम है

[1] ३. १, ६।

[2] ७. १८।

तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३९१; इन्डियन लिटरेचर ५०, ३१५, ३२६।

पञ्चावि, अनेक बार वाजसनेयि संहिता[1] में आता है। इसका 'पाँच मेषवत्स-अवधि' (छह मास) के बराबर, अर्थात् 'तीस मास का' आशय है।[2]

[1] १८. २६; २१. १४; २४. १२; २८. २६।

[2] तु० की० त्र्यवि।

पञ्चौदन, अथर्ववेद[1] में प्रयुक्त एक विशेषण है, जिसका अर्थ 'पांच प्रकार के पकवानों से बना हुआ' है। चावल के पाँच प्रकार के पकवानों को पकाने का भी इसी संहिता में उल्लेख मिलता है।[2]

[1] ४. १४, ७; ९. ५, ८ और बाद।
[2] ९. ५, ३७।

पटल, ऐतरेय ब्राह्मण[1] जैसे प्राचीन समय में भी किसी कृति के 'अध्याय' अथवा 'भाग' का द्योतक है। सूत्रों[2], और बाद में भी, यही आशय मिलता है।

[1] १. २१. २२।
[2] शाङ्खायन श्रौत सूत्र ११. ९, २०; १३. २१, २; आश्वलायन श्रौत सूत्र ४. ६. ७

पठर्वन्, ऋग्वेद[1] में किसी व्यक्ति का नाम प्रतीत होता है। फिर भी, लुडविग[2] के अनुसार इस शब्द का पाठ 'पठरु' है और यह एक ऐसे दुर्ग का नाम है जिसे वर्षा-वात ने अग्निकाण्ड से बचा लिया था।

[1] १. ११२, १७, सायण की टिप्पणी सहित। तु० कीं० ग्रिफिथ : ऋग्वेद के सूक्त १४७, १४८।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ३०४।

पड्गृभि, (पैर को पकड़ लेनेवाला)[1], ऋग्वेद[2] में या तो किसी मनुष्य[3] अथवा असुर का नाम है। *पड्वीश* भी देखिये।

[1] किन्तु इसका अर्थ, 'रस्सी से पकड़ना' भी हो सकता है। तु० कीं० मैकडौनेल: वेदिक ग्रामर, पृ० ३४ के ऊपर; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २३६।
[2] १०. ४९, ५।
[3] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६५।

पड्-वीश (पाद-पाश)—पाँच स्थलों पर यह अश्व के 'पाद-पाश' के आशय में मिलता है। इन स्थलों में से दो ऋग्वेद[1] में, तथा एक एक क्रमशः बृहदारण्यक उपनिषद्[2], छान्दोग्य उपनिषद्[3] और शाङ्खायन आरण्यक[4] में आते हैं। अन्यत्र[5] इसका प्रयोग लाक्षणिक है। रौथ[6] के अनुसार इसका

[1] १. १६२, १४. १५ = तैत्तिरीय संहिता ४. ६, ९, १. २; वाजसनेयि संहिता २५. ३८. ३९।
[2] ६. २, १३ (माध्यन्दिन)
[3] ५. १, १२।
[4] ९. ७; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक ५७, नोट ३।
[5] ऋग्वेद १०. ९७, १६; अथर्ववेद ८. १, ४; १२. ५, १५; १६. ८, २७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, १०, ३; मंत्र ब्राह्मण १. ३, १०।
[6] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

शब्दार्थ, 'पैरों को बांध रखनेवाला' है ('पड्='पद', अर्थात् 'पैर', और 'वीश' को, जिसका वाजसनेयि संहिता में 'वीश' पाठ है, लैटिन शब्द 'विन्सिरे' अर्थात् 'बांधना', के साथ सम्बद्ध किया गया है)। इस मत का पिशल[7] इस आधार पर विरोध करते हैं कि 'पैर बांध रखनेवाला' आशय उक्त उपनिषद्-स्थल पर असंगत होगा जहाँ यह कहा गया है कि *सिन्धु* देश का एक सुन्दर अश्व उस खूटे को ही तोड़ रहा है जिससे वह बँधा है। अतः आपके विचार से इसका आशय 'विषमगति' है, जो ठीक होना चाहिये।[8]

[7] वेदिशे स्टूडियन, १, २३३-२३६।

[8] आप इस शब्द के प्रथम अंश को 'पश्' 'बाँधना' से व्युत्पन्न हुए होने के रूप में व्याख्या करते हैं। तु० की० मैक-डौनेल : वेदिक ग्रामर, पृ० ३४ (ऊपर)। किन्तु 'पड्' रूप एक मिथ्या समानता के आधार पर बना हो सकता है, और 'पैर बाँध रखनेवाला' आशय भी 'विषमगति' आशय को सर्वथा संतोषजनक रूप से व्यक्त कर सकता है; यह भूमि में गड़े खूटे से बंधी रस्सी के आशय तक ही सीमित नहीं है।

पण, *प्रतिपण* के साथ-साथ, अथर्ववेद[1] के एक सूक्त में मिलता है। यहाँ यह मोल-भाव तथा विक्रय करने की क्रिया का द्योतक है। 'पण्' धातु का, जिससे यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[2] में प्रयोग हुआ है, जब कि शतपथ ब्राह्मण[3] में 'पणन' शब्द 'क्रय-विक्रय' का द्योतक है। तु० की० *वणिज्*।

[1] ३.१५,४.६ (पैप्पलाद शाखा में; ह्विट्ने अथर्ववेद का अनुवाद ११२)।

[2] वाजसनेयि संहिता ८. ५५; शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ३, १ और बाद; ऐतरेय ब्राह्मण १. २७। तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६. १, १०, १।

[3] ३. ३, २, १९। ऋग्वेद में यह धातु नहीं आती, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति यूनानी शब्द πέρνημι द्वारा सिद्ध होती है। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, १, ८४, नोट ३।

पणि ऋग्वेद में एक ऐसे व्यक्ति का द्योतक प्रतीत होता है जो सम्पन्न तो था, किन्तु देवों को हवि अथवा पुरोहितों को *दक्षिणायें* नहीं देता था। इसीलिये इस संहिता के रचयिताओं के लिये यह अत्यन्त घृणा का पात्र बन गया था।[1] देवों से पणियों पर आक्रमण करने का निवेदन किया गया है

[1] ऋग्वेद १. ३३, ३; ८३, ३; १५१, ९; १८०, ७; ४. २८, ७; ५. ३४, ५-७; ६१, ८; ६. १३, ३; ५३, ३; ८. ६४, २; ९७, २; १०. ६०, ६; अथर्ववेद ५. ११, ७; २०. १२८, ४; वाजसनेयि संहिता ३५. १

और ऐसा भी उल्लेख है कि पणियों का वध करके पराजित किया गया था।[2] एक कृपण के रूप में पणि पवित्र यज्ञकर्त्ताओं का विरोधी है[3], और इसे एक भेड़िया,[4] जो शत्रुता का प्रतीक है, कहा गया है। कुछ स्थलों[5] पर पणि लोग निश्चित रूप से ऐसे पौराणिक व्यक्तित्वों अथवा दैत्यों के रूप में आते हैं जो आकाश की गायों अथवा जलों को रोक रखते हैं और जिनके पास 'सरमा' इन्द्र के दूत बन कर जाते हैं।[6] पणियों में बृबु प्रत्यक्षतः अधिक प्रमुख था। ऋग्वेद[7] के एक स्थल पर इन्हें *बेकनाट* अथवा 'व्याज खानेवाला' (?) कहा गया है। एक अन्य स्थल[8] पर इन्हें *दस्युओं* के रूप में सम्बोधित, तथा इनके लिये 'मृध्र-वाच्' (सम्भवतः 'कटुवाणी वाले') और अनिश्चित से अर्थ वाले 'ग्रथिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है। हिलेब्रान्ट[9] का विचार है कि इस बाद के शब्द से, लगातार निकल रही ऐसी वाणी का तात्पर्य है जो समझी न जा सके, जब कि 'मृध्र-वाच्' का अर्थ 'शत्रु की भाषा बोलनेवाला' है, जिससे, यद्यपि, सदैव अनिवार्यतः अनार्यों का ही सन्दर्भ नहीं है।[10] दो स्थलों[11] पर पणि लोग *दासों* के रूप में आते हैं। एक स्थान[12] पर वैर के सम्बन्ध में भी किसी पणि का उल्लेख है, जहाँ उसे प्रत्यक्षतः किसी मनुष्य की हत्या के

[2] ऋग्वेद १. ८३, ४; १८४, २; ३. ५८, २; ५. ३४, ७; ६१, ८; ६. १३, ३; २०, ४; ३३, २; ८. ६४, ११।

[3] ऋग्वेद १. १२४, १०; ४. ५१, ३; ८. ४५, १४ (जहाँ आशय सन्दिग्ध है।) तु० की० १. ९३, ४; ५. ६१, १।

[4] ऋग्वेद ६. ५१, १४।

[5] ऋग्वेद १. ३२, ११; २. २४, ६; ४. ५८, ४; ६. ४४, २२; ७. ९, २; १०. ६७, ६; ९२, ३; अथर्ववेद ४. २३, ५; १९. ४६, २; शतपथ ब्राह्मण १३. ८, २, ३। ठीक ठीक यह निश्चित कर सकना असम्भव है कि किन स्थलों पर पौराणिक अर्थ है। तु० की० मैकडौनेलः वेदिक माइथौलोजी, पृ० १५७।

[6] ऋग्वेद १०. १०८।

[7] ऋग्वेद ८. ६६, १०।

[8] ऋग्वेद ७. ६, ३।

[9] वेदिशे माइथौलौजी १, ८९।

[10] देखिये शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, २३; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स २[2], ११४; डेविड्सन : त्सी० गे० ३७, २३; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ३१, नोट ३।

[11] ऋग्वेद ५. ३४, ५-७; अथर्ववेद ५. ११, ६।

[12] ऋग्वेद ५. ६१, ८। तु० की० रौथ : त्सी० गे०, ४१, ६७३; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३६१, जिनका विचार है कि प्रतिकूल आधार पर एक उदार स्त्री से पणि की तुलना की गई है, किन्तु यह असम्भाव्य है; हिलेब्रान्ट १, ९२, नोट ३; सा० ऋ०, ५८, ५९; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ३६४

पश्चात् क्षतिपूर्ति-स्वरूप प्रदान किये जानेवाले मूल्य के बराबर, किन्तु अन्य दृष्टियों से मनुष्यों से हीन माना गया है।

पणि किसे कहते थे इसका ठीक-ठीक निश्चय कर सकना कठिन है। रौथ[१३] का विचार है कि यह शब्द 'पण्' (विनिमय) धातु से व्युत्पन्न हुआ है और पणि एक ऐसा व्यक्ति होता था जो विना किसी प्रतिप्राप्ति के अपना कुछ नहीं देता था। अतः इसे ऐसा कृपण व्यक्ति कहते थे जो न तो देवों की उपासना करता था और न पुरोहितों को दक्षिणायें देता था। त्सिमर[१४] और लुडविग[१५] ने इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। लुडविग का विचार है कि पणियों के साथ युद्ध के प्रत्यक्ष सन्दर्भों की व्याख्या यह मान लेने से हो जाती है कि यह लोग ऐसे आदिवासी व्यवसायी होते थे जो काफिलों में चलते थे—जैसा कि अरब और उत्तरी अफ्रिका में होता है—और आवश्यकता पड़ने पर अपनी वस्तुओं की सुरक्षार्थ उन आक्रमणों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये भी तैयार रहते थे जिन्हें (आक्रमणों को) आर्यगण स्वभावतः सर्वथा उचित मानते रहे होंगे। दासों और दस्युओं के रूप में पणियों के सन्दर्भ द्वारा आप अपनी इस व्याख्या की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। फिर भी, पणियों को वैदिक गायकों के पूज्य देवों की उपासना न करनेवाले लोगों के अतिरिक्त कुछ अन्य मानना आवश्यक नहीं। इस शब्द का आशय इतना विस्तृत है कि इसके अन्तर्गत आदिवासी अथवा आक्रामक आर्य, और साथ ही साथ दैत्यगण भी आ जाते हैं। फिर भी, हिलेब्रान्ट[१६] का विचार है कि इनसे 'स्ट्राबो' के 'पर्नियनों' जैसी एक वास्तविक जाति का आशय है, और यह लोग 'दहाए' (*दास*) से संबद्ध थे। इसके अतिरिक्त एक स्थल[१७] पर आप पणियों को उन *पारावतों* से, जिन्हें आप टौलमी के 'पारूपेताइ' (Παρουηται) के साथ समीकृत करते हैं,[१८] और उस *बृषय* से, जिसे आप अर्रियन का 'वारसायेन्टेस' (βαρσαεντης) मानते हैं,[१९] सम्बद्ध होने का सन्दर्भ देखते हैं। आपका यह भी मत है कि

[१३] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०। तु० की० यास्क : निरुक्त २. १७; ६. २६।

[१४] आल्टिन्डिशे लेवेन, २५७। तु० की० मैकडौनेल : उ० स्था०; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०३।

[१५] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, २१३-२१५। तु० की० बर्गेन : रिलीजन वेदिके, २, ३१९।

[१६] वेदिशे माइथौलोजी, १, ८३ और बाद; ३, २६८; गो०, १८९४, ६४८।

[१७] ऋग्वेद ६. ६१, १-३।

[१८] ६. २०, ३।

[१९] ३. ८, ४।

दिवोदास के विरोधियों के रूप में पणियों का अक्सर[20] उल्लेख यह व्यक्त करता है कि 'दिवोदास' अर्कोसिया की हरकैति (*सरस्वती*) के निकट रहता था और वहीं उसने पर्नियनों' और 'दहायों', तथा साथ ही साथ, अन्य ईरानी जातियों के साथ युद्ध किया था। किन्तु 'पणि' और 'पर्नियनों' का समीकरण अनावश्यक है, मुख्यतः इसलिये कि 'पण्' धातु, जो कि यूनानी शब्द 'पेर्नेमी' (περνημι) में भी मिलती है, इसकी व्युत्पत्ति को सन्तोषजनक रूप से व्यक्त कर देती है। इसके अतिरिक्त दिवोदास का हरकैति में स्थानान्तरण असम्भाव्य है। *दिवोदास* और *वेकनाट* भी देखिये।

[20] पणि बारह बार मण्डल ६. में; एक-एक बार २., और ८., में; दो बार ५., और ९., में; तीन बार ४., और ७. में; छह बार ८., में; नौ बार १. में; और चार बार १०. में; इनके अतिरिक्त 'सरमा' सूक्त १०. १०८ में भी सन्दर्भ है।

पण्डित (एक विद्वान् व्यक्ति), उपनिषद्-काल[1] के पूर्व नहीं मिलता।

[1] बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १; ६. ४, १६. १७; छान्दोग्य उपनिषद् ६. १४, २; मुण्डक उपनिषद् १. २, ८, इत्यादि।

१. पतङ्ग (उड़ना), अथर्ववेद[1] और उपनिषदों[2] में एक 'पंखयुक्त कीड़े' का द्योतक है।

[1] ६. ५०, १।
[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ६. १, १९ (माध्यन्दिन = ६. २, १४ काण्व); २, १४ (= १, १४); छान्दोग्य उपनिषद् ६. ९, ३; १०, २; ७. २, १; ७, १; ८, १; १०, १; अद्भुत ब्राह्मण ६.५ (इन्डिशेस्टूडियन १,४०)।

२. पतङ्ग प्राजापत्य ('प्रजापति' का वंशज) को अनुक्रमणी द्वारा ऋग्वेद[1] के उस सूक्त की रचना का श्रेय दिया गया है जिसमें 'पतङ्ग' का अर्थ 'सूर्य-पक्षी' है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में भी इसका उल्लेख है।

[1] १०. १७७, १।
[2] ३. ३०, १। तु० की० कौषीतकि ब्राह्मण २५. ८; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ११. १४, २८।

पतञ्चल काप्य एक ऋषि का नाम है जिसका बृहदारण्यक उपनिषद्[1] में दो बार उल्लेख है। वेबर[2] के अनुसार इसके नाम में सांख्य-योग दर्शनों

[1] ३. ३, १; ७, १।
[2] इण्डिशे स्टूडिय १, ४३४, ४३५; इन्डियन लिटरेचर, १२६, १३७, २२३, २३६, २३७।

के *कपिल* और पतञ्जलि का आभास मिलता है, किन्तु इस विचार को सर्वथा असम्भाव्य मानना चाहिये।[3]

[3] तु० की० गार्बे : सांख्य फिलॉसफी, २५, २६।

पतत्रिन् ऐतरेय उपनिषद्[1] में सामान्य रूप से एक 'उड़नेवाले जीव' का, तथा अथर्ववेद[2] में विशिष्टतः एक 'पक्षी' का द्योतक है।

[1] ३. ३, ३। | [2] ८. ७, २४; १०. १०, १४; १४. २, ४४।

पताका अद्भुत ब्राह्मण[1] के पहले नहीं मिलता। इसका समानार्थी वैदिक शब्द *ध्वज* है।

[1] इन्डिशे स्टूडियन १, ३९, ४१ (यहाँ त्रुटिपूर्ण ढंग से पुलिङ्ग शब्द 'पताक' के रूप में इसका उल्लेख है)।

पति, पत्नी—जैसा कि सेन्ट पीटर्सबर्ग कोष में संग्रहीत प्रमाण व्यक्त करते हैं, प्रमुखतः 'स्वामी' और 'स्वामिनी', तथा इसी प्रकार 'पति' और 'पत्नी' के द्योतक इन दोनों शब्दों के अन्तर्गत ही वैदिक समाज में वैवाहिक सम्बन्धों की स्थिति पर विचार करना सुविधाजनक होगा।

बाल-विवाह—ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ग्रन्थों में विवाह को अनिवार्यतः दो पूर्णतया विकसित व्यक्तियों का ही सम्बन्ध माना जाता था। पिता के घर में ही वृद्ध हो जानेवाली (*अमा-जुर्*), अथवा विवाह की इच्छा से अपने को अलंकृत रखनेवाली ऐसी अनेक अविवाहित कन्याओं के सन्दर्भ[1] द्वारा भी ऐसा ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार अथर्ववेद की परम्परा[2]

[1] तु० की० ऋग्वेद १. ११७, ७; २. १७, ७; १०. ३९, ३; ४०, ५। **घोषा** इस स्थिति की प्रमुख उदाहरण है। अथर्ववेद (१. १४) में भी इसी प्रकार की स्थिति का उल्लेख है (देखिये, ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त २५३)। कन्याओं के, मुख्यतः, उत्सवों की ऋतुओं के समय के, अलंकारों का ऋग्वेद १. १२३, ११; ७. २, ५; अथर्ववेद, २. ३६, १; १४. २, ५९ और बाद, आदि में उल्लेख है।

[2] तु० की० अथर्ववेद ३. १८ (= ऋग्वेद १०. १४५); ६. ८९; १०२; १३०; १३१; ७. ३६; ३७; ३८। इसी प्रकार युवकों द्वारा कन्याओं के प्रति प्रेम अथवा कन्याओं को प्राप्त करने के प्रयास के अनेक सन्दर्भ हैं,—उदाहरण के लिये, ऋग्वेद १. ११५, २; अथर्ववेद २. ३०; ३. २५; ६. ८; ९; ८२; दोनों के परस्पर प्रेम के लिये—ऋग्वेद १. १६७, ३; ९. ३२, ५; ५६, ३; १०. ३४, ५; ईर्ष्या, तथा बहके हुये प्रेम को पुनरार्कर्षित करने के लिये प्रयुक्त वशीकरण

मन्त्रादि के लिये—अथर्ववेद ६. १८; ४२; ४३; ९४; १३९; ८. ४५। प्रेमियों के उपहार का ऋग्वेद १. ११७, १८ में उल्लेख है। इनमें से कुछ स्थलों पर अवैध सम्बन्ध के सन्दर्भ हो सकते हैं, किन्तु सभी पर नहीं।

में उपलब्ध उन सन्दर्भों द्वारा भी यही सिद्ध होता है जिनमें पुरुष अथवा स्त्री को विवाहार्थ विवश करने के हेतु क्रमशः विविध प्रकार के अभिचारों और औषधियों का उल्लेख है। स्वयं ऋग्वेद[3] तक में एक ऐसे अभिचार का उल्लेख है जिसके प्रयोग द्वारा प्रेमी, अपनी प्रेमिका के पास जाने के पहले, प्रेमिका के घर के सभी प्राणियों को निद्रित कर सकता है। बाल-पत्नियों का उल्लेख नियमित रूप से सर्वप्रथम सूत्र-काल में ही मिलता है, यद्यपि यहाँ भी वयस्कता के पूर्व विवाह करने का नियम किस सीमा तक प्रतिपादित है यह कह सकना अनिश्चित ही है।[4] विवाह से सम्बन्धित संस्कार इस बात को पर्याप्त स्पष्टता के साथ स्वीकार करते हैं कि विवाह केवल नाममात्र का ही नहीं वरन् वास्तविक होना चाहिये : विवाह की एक अनिवार्य विशेषता पति द्वारा पत्नी को घर ले जाना और उसके साथ संभोग करना होता है।[5]

निषिद्ध विवाह-सम्बन्ध—निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि विवाह-सम्बन्ध किस सीमा तक स्वीकृत था। ऋग्वेद[6] में आनेवाले 'यम' और 'यमी' के वार्तालाप में परस्पर भाई और वहन के विवाह के स्पष्ट रूप से वर्जित होने का संकेत मिलता है। इसके सम्बन्ध में ऐसा कह सकना कठिन

[3] ७. ५५, ५. ८। तु० की० ऋग्वेद १. १३४, ३; ऑफरेख्त: इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३३७ और बाद। पिशल द्वारा वेदिशे स्टूडियन, २, ५७ और बाद, में इस स्थल के सम्बन्ध में एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाया गया है। अथर्ववेद (४, ५) यह व्यक्त करता है कि ऑफरेख्त का ही दृष्टिकोण भारत में प्राचीन समय में मान्य दृष्टिकोण के समान हो सकता है।

[4] जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ५९; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३४० और बाद; २३, ३५६; रिसले : पीपुल ऑफ इन्डिया, १७९ और बाद। छान्दोग्य उपनिषद् १. १०, १, में सम्भवतः एक बाल-पत्नी का सन्दर्भ है। सूत्रों में उपलब्ध प्रमाण के लिये देखिये, भण्डारकर: त्सी० गे० ४७, १४३–१५६; जॉली, वही, ४६, ४१३–४२६; ४७, ६१०–६१५।

[5] ऋग्वेद १०. ८५, मुख्यतः मन्त्र २९ और बाद :

[6] १०. १०।

है, जैसा वेवर[7] का विचार है, कि यह उस प्रथा का संकेत करता है जो पहले प्रचिलित थी किन्तु बाद में अनुचित मानी जाने लगी। गोभिल गृह्य सूत्र[8] और धर्म सूत्रों[9] में एक हो गोत्र में, अथवा माता या पिता की ओर के छह पीढ़ियों तक के भीतर, विवाह करने के निषेध मिलते हैं; किन्तु शतपथ ब्राह्मण[10] तृतीय अथवा चतुर्थ पीढ़ी में विवाह सम्बन्ध की स्वीकृति देता है। हरिस्वामिन्[11] के अनुसार इनमें से प्रथम (तृतीय पीढ़ी) का काण्वों में, और द्वितीय (चतुर्थ पीढ़ी) का सौराष्ट्रों में प्रचलन था, जब कि दाक्षिणात्यों में माता के भाई की पुत्री, अथवा पिता की बहन के पुत्र के साथ विवाह की तो स्वीकृति थी किन्तु सम्भवतः माता के बहन की पुत्री अथवा पिता के भाई के पुत्र के साथ नहीं। उस समय गोत्र के भीतर विवाह का निषेध नहीं रहा हो सकता[12], यद्यपि स्वभावतः गोत्र के बाहर भी अक्सर ही विवाह होते थे।[13] विवाह के लिये जातीय समानता की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि धर्म सूत्रों[14] तक में विषमजातीय विवाहों की स्वीकृति है, जिसके अनुसार एक ब्राह्मण अपनी तथा अपने से तीन निम्न जातियों (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की स्त्री से, एक क्षत्रिय अपनी तथा अपने से दोनों निम्न जातियों (वैश्य और शूद्र) की स्त्री से, और एक वैश्य अपनी तथा शूद्र जाति की

[7] ओ० अ० १८९५, ८२२। तु० की० इन्डिशे स्टूडियन ५, ४२७; १०, ७६, नोट; पिशल : हर्मिस १८, ४६५–४६८; मैक्स मूलर : साइन्स ऑफ लैंग्वेज, २, ५०७, हिरोडोटस; ३. १९। क्रॉले के 'मिस्टिक रोज़' में इस प्रकार के विवादों के अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचिलित होने के विरुद्ध प्रबल तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

[8] ३. ४, ५।

[9] आपस्तम्ब धर्म सूत्र २. ५, १५, १६, इत्यादि। तु० की० मानव धर्म सूत्र ३. ५; याज्ञवल्क्य धर्म शास्त्र १, ५२, ५३।

[10] १. ८, ३, ६।

[11] शतपथ ब्राह्मण, उ० स्था०, पर।

[12] तु० की० वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ७५, ७६; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ३८७; श्रेडर; प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३९२; गीगर : ओ० क०, २४६; त्सी० गे० ४३, ३०८–३१२; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ६२, ६३; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३४५ और बाद।

[13] तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५१, २७९।

[14] गौतम धर्म सूत्र ४. १६; बौधायन धर्म सूत्र १. १६, २–५; वसिष्ठ धर्म सूत्र १. २४; २५; पारस्कर गृह्य सूत्र १. ४, इत्यादि; रिसले : पीपुल ऑफ इन्डिया, १५६ और बाद। तु० की० वर्ण।

स्त्री से विवाह कर सकता था, यद्यपि बाद में शूद्रों के साथ विवाह को सर्वथा अमान्य कर दिया गया। इस प्रकार के अन्तरजातीय विवाहों के उदाहरण महाकाव्य में अक्सर मिलते हैं और बृहद्देवता[15] में भी इन्हें सर्वथा सामान्य माना गया है।

यही उचित माना जाता था कि छोटे भाई और बहन अपने बड़ों के पूर्व अपने विवाह न करें। बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[16] में इस प्रकार विवाह कर लेनेवाले अनेक लोगों के नाम का उल्लेख तथा पापियों के रूप में उनकी भर्त्सना मिलती है। ऐसे लोगों को व्यक्त करनेवाले शब्द यह हैं: 'परि-विविदान'[17], अथवा सम्भवतः 'अग्रे-दधुस्'[18], अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो एक कनिष्ठ भ्राता होते हुये भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के पूर्व ही विवाह कर लेता है, और ऐसी दशा में उसके ज्येष्ठ भ्राता को 'परिवित्त'[19] कहा गया है; 'अग्रे-दिधिषु[20], अर्थात वह व्यक्ति जो उस कनिष्ठ पुत्री से विवाह कर लेता है जिसकी ज्येष्ठ बहन अभी अविवाहित हो; और *दिधिषू-पति*[21], अर्थात उक्त

[15] देखिये ऊपर नोट १२ में उद्धृत, हॉपकिन्स; बृहद्देवता, ५. ७९; और वर्ण।

[16] देखिये डेलब्रुक : डी० व० ५७८ और बाद।

[17] मैत्रायणी संहिता ४. १, ९, और डेलब्रुक, ५७९, ५८०, द्वारा उद्धृत काठक और 'कपिष्ठल संहितायें; वाजसनेयि संहिता ३९. ९। आपस्तम्ब धर्म सूत्र २. ५, १२, २२, में 'पर्याहित' व्याहृति है।

[18] मैत्रायणी संहिता ४. १, ९, डेलब्रुक, ५८१, के अनुसार। किन्तु यतः इसके बाद 'परि-विविदान', आता है, अतः यह अत्यन्त सन्दिग्ध प्रतीत होता है; यहाँ पाठ सम्भवतः त्रुटिपूर्ण है, विशेषतः काठक और कपिष्ठल को देखते हुये, जिनमें 'अग्रे-दिधिषौ', और 'अग्रे-दधिषौ' पाठ है।

[19] नोट १७ में उद्धृत स्थलों को देखिये: साथ ही, अथर्ववेद ६. ११२, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ११। आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ९. १०, ११, और धर्म सूत्र २. ५, १२, २२, में 'परिवित्त' के साथ 'परिविन्न' भी संयुक्त कीजिये, किन्तु सम्भवतः इन दोनों ही शब्दों का आशय समान होना चाहिये।

[20] काठक संहिता (देखिये नोट १७) में 'अग्रे-दिधिषु' है; कपिष्ठल में 'अग्रे-दधिषु'; और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ११, में 'अग्र-दिधिषु', है। धर्म सूत्रों ने 'अग्रे-दिधिषु' पाठ स्वीकार किया है।

[21] काठक संहिता में 'दिधिषू-पति' है; कपिष्ठल में 'दधिषू-पति', है, और धर्म सूत्रों में भी यही है। वाजसनेयि संहिता ३०. ९, में भ्रष्ट सा 'एदिधिषुः-पति' पाठ है।

ज्येष्ठ पुत्री का पति। इन स्थलों पर स्पष्टतः तो ऐसा उल्लेख नहीं है कि जन्म-क्रम का सदैव पालन करना ही चाहिये, किन्तु इन शब्दों का प्रयोग ऐसा व्यक्त करता है कि इस क्रम का अवसर उल्लङ्घन होता था।

विधवाओं का पुनर्विवाह—प्रत्यक्षतः विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति थी। यह प्रथा मूलतः सन्तानोत्पत्ति के हेतु मृत पति के भ्राता अथवा उसके अन्य निकटतम सम्बन्धी के साथ उसकी विधवा के विवाह के रूप में ही प्रचिलित प्रतीति होती है। जो कुछ भी हो, ऋग्वेद के एक अन्त्येष्टि-सूक्त[२२] में इस प्रकार के विवाह की चर्चा है। इस सूक्त के सम्बन्धित मन्त्र में पुरुषमेध के किसी संस्कार का सन्दर्भ देखने की एक अन्य व्याख्या, जिसे ही यद्यपि हिलेब्रान्ट[२३] और डेलब्रुक[२४] ने स्वीकार किया है, किसी भी दशा में सम्भव नहीं हो सकती, जब कि उक्त सामान्य दृष्टिकोण की सूत्रों में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर पुष्टि होती है।[२५] इसके अतिरिक्त, ऋग्वेद[२६] के एक अन्य स्थल पर विधवा तथा उसके मृत पति के भाई (देवृ) के विवाह का स्पष्ट उल्लेख है, और यह उसी सम्बन्ध का द्योतक है जिसे बाद में भारतीय 'नियोग'[२७] के रूप में जानते थे। केवल विधवा के सर्वथा निःसन्तान होने की स्थिति के अतिरिक्त सम्भवतः इस प्रकार के विवाह की प्रथा प्रचिलित नहीं थी। अतः इस प्रथा को विशुद्धतः पुनर्विवाह की संज्ञा देना कदाचित ही उपयुक्त होगा, क्योंकि ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि भाई—जैसा कि व्यक्त होता है—स्वयं भी पहले से ही विवाहित हो। अथर्ववेद[२८] के एक मन्त्र में ऐसे अभिचार का उल्लेख है जिसके द्वारा किसी पत्नी और उसके द्वितीय पति का

२२ १०. १८, ८।

२३ त्सी० गे० ४०, ७०८।

२४ डी० व० ५५३। तु० की० लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८५ भी; अन्य दृष्टिकोणों के लिये; देखिये, ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ४८४; रौथ : सीवेनज़िग लीडर, १५१, नोट; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३२९।

२५ आश्वलायन गृह्य सूत्र ४. २, १८। तु० की० ह्विट्ने : उ० पु०, ८४९ में लैनमैन।

२६ १०. ४०, २।

२७ तु० की० यास्क : निरुक्त, ३. १५, रौथ के नोट सहित; गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर, १६०; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, ३४३, नोट; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३५५, नोट, ३६७; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ७१; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४५९; फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर ४२९। ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के समयों में यह प्रथा समाप्त हो चली थी।

२८ ९. ५, २७. २८।

परलोक में पुनर्मिलन सम्भव किया जा सकता है। यद्यपि, जैसा कि डेलब्रुक[29] का विचार है, इससे बहुत सम्भवतः उस स्थिति का सन्दर्भ है जिसमें प्रथम पति भी जीवित तो होता था[30], किन्तु या तो नपुंसक अथवा जातिभ्रष्ट (पतित)[31] हो गया होता था; तथापि यह भी निश्चित है कि बाद के धर्म सूत्रों[32] ने प्रथम पति की मृत्यु के पश्चात सामान्यतया विधवा के पुनर्विवाह को मान्यता देना आरम्भ कर दिया था। पिशल[33] ने ऋग्वेद[34] में इस बात का भी कुछ प्रमाण देखा है कि किसी स्त्री का पति यदि इस प्रकार लुप्त हो जाय कि न तो वह पुनः मिल सके और न उसके सम्बन्ध में कुछ विवरण ही उपलब्ध हो, तो उसकी स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है।

बहुपत्नीत्व :—वैदिक कालीन भारतीय एकाधिक पत्नियाँ रख सकते थे। ऋग्वेद[35] के अनेक स्थलों द्वारा स्पष्टतः ऐसा सिद्ध होता है। मैत्रायणी संहिता[36] के अनुसार मनु के दस पत्नियाँ थीं; और शतपथ ब्राह्मण[37] एक विशिष्ट आख्यान द्वारा बहुपत्नीत्व की व्याख्या करता है। इसके अतिरिक्त राजा नियमित रूप से चार पत्नियाँ रखता था और इन पत्नियों को क्रमशः

[29] डी० व० ५५३-५५५। तु० कीं० जॉली: रेख्त उन्ट सिट्टे ५९; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० ओ० १३, ३७१, नोट।

[30] अथर्ववेद ५. १७, ८, में निश्चित रूप से यही स्थिति है, जो फिर भी, केवल ब्राह्मण की पवित्रता में और भी वृद्धि कर देती है, और इसमें अनिवार्यतः पुनर्विवाह का ही आशय निहित नहीं है।

[31] उदाहरण के लिये, बौधायन धर्म सूत्र, २. २, ३, २७।

[32] वसिष्ठ धर्म सूत्र, १७. १९. २०. ७२-७४; बौधायन धर्म सूत्र, ४. १, १६; मानव धर्म शास्त्र ९. १७५। तु० कीं० मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, १[2], २८१; ५. ३०६, भी।

[33] वेदिशे स्टूडियन, १, २७।

[34] ६. ४९, ८। तु० कीं० महाभारत ३. ७०, २६।

[35] ऋग्वेद १. ६२, ११; ७१, १; १०४, ३; १०५, ८; ११२, १९; १८६, ७; ६. ५३, ४; ७. १८, २; २६, ३; १०. ४३, १; १०१, ११। तु० कीं० अथर्ववेद ३. ४; तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १, ४, इत्यादि। देखिये मूइर: संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४५५ और बाद; श्रेडर: प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३८७; जॉली: रेख्त उन्ट सिट्टे, ६४; फॉन श्रोडर इण्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४३०, ४३१; डेलब्रुक: डी० व० ५३९, ५४०; हॉपकिन्स: ज० अ० ओ० सो० १३, ३५३; ब्लूमफील्ड: त्सी० गे० ४८, ५६१।

[36] १. ५, ८।

[37] ९. १, ४, ६।

'महिषी'[३८], 'परिवृक्ती'[३९], 'वावाता'[४०], तथा 'पालागली'[४१] कहा गया है। 'महिषी' ही प्रधान पत्नी होती थी, जो शतपथ ब्राह्मण[४२] के अनुसार सर्वप्रथम विवाहित होती थी। 'परिवृक्ती' (उपेक्षित) की वेबर[४३] और पिशल[४४] ने उस पत्नी के रूप में व्याख्या की है जो निःसन्तान रह जाती थी। 'वावाता' एक 'प्रिय' पत्नी होती थी, जब कि वेबर के अनुसार 'पालागली' राजा के दरबार के अन्तिम अधिकारी की पुत्री होती थी। यह सभी नाम कुछ विचित्र और बहुत बोधगम्य नहीं हैं, किन्तु प्रमाण इसी बात का संकेत करते हैं कि प्रथम विवाहिता पत्नी को ही वास्तविक आशय में पत्नी माना जाता था। यह दृष्टिकोण डेलब्रुक[४५] द्वारा समर्थित इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि यज्ञ के सन्दर्भ में 'पत्नी' का सामान्यतया एकवचन में ही उल्लेख है, और प्रत्यक्षतः इसके अपवादों की दशा में कुछ पुराकथाशास्त्रीय कारण ही निहित हो सकते हैं।[४६] त्सिमर[४७] का ऐसा विचार है कि ऋग्वेद के समय तक बहुपत्नीत्व की

[३८] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ९, ४, ४; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, ४; ६. ५, ३, १; ७. ५, १, १; १३. २, ६, ४; ४, १, ८; ५, २, २. ५. ९; पञ्चविंश ब्राह्मण १९. १, ४। तु० की० ऋग्वेद ५. २, २; ३७, ३; अथर्ववेद २. ३६, ३; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९. १; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, २२०।

[३९] 'परि-वृक्ता', इन स्थलों पर आता है : ऋग्वेद १०. १०२, ११; अथर्ववेद ७. ११३, २; २२. १२८, १०. ११; शतपथ ब्राह्मण १३. २, ६, ६; ४, १, ८; ५, २, ७। 'परिवृक्ती' इन स्थलों पर आता है : तैत्तिरीय संहिता १. ८, ९, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ४; ३. ९, ४, ४; काठक संहिता १०. १०; १५. ४; शतपथ ब्राह्मण ५. ३, १, १३।

[४०] ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ३; ३. ९, ४, ४; अथर्ववेद २०. १२८, १०. ११; शतपथ ब्राह्मण १३. २, ६, ५; ४, १, ८; ५, २, ६। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, ३०८, नोट; ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ४८, ५५३, ५५४।

[४१] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ३ और बाद; ३. ९, ४, ५; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, ८; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. ४, ४

[४२] ६. ५, ३, १।

[४३] इन्डिशे स्टूडियन १०, ६।

[४४] वेदिशे स्टूडियन २, १९९। तु० की० गेल्डनर : वही, २, ३८।

[४५] डी० व०, ५३९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३२५। फिर भी, याज्ञवल्क्य के प्रत्यक्षतः दो समान पत्नियाँ थीं (बृहदारण्यक उपनिषद् ३. १, और तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ३, १०, ३)।

[४६] उदाहरण के लिये, तैत्तिरीय संहिता २. ५, ६, ४; मैत्रायणी संहिता ३. ३, १।

[४७] आल्टिन्डिशे लेबेन ३२३।

प्रथा समाप्त हो चली थी और उसके स्थान पर 'एकपत्नीत्व' की प्रथा का आरम्भ हो गया था। फिर भी, वेबर[४८] का विचार है कि 'बहुपत्नीत्व' की प्रथा गौण थी, और यही दृष्टिकोण अपेक्षाकृत हाल के जाति-विज्ञानशास्त्र द्वारा भी पुष्ट होता है।[४९]

बहुभर्त्तृत्व :—दूसरी ओर, 'बहुभर्त्तृत्व' की प्रथा वैदिक नहीं है।[५०] एक भी ऐसा स्थल नहीं मिलता जहाँ इसके प्रचलन का स्पष्ट संकेत हो। अधिक से अधिक जो कुछ कहा जा सकता है वह यह कि ऋग्वेद[५१] और अथर्ववेद[५२] में अक्सर ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें एक 'पत्नी' के सन्दर्भ में भी 'पतियों' का उल्लेख है। किन्तु यदि वेबर[५३] का यह दृष्टिकोण न भी स्वीकार किया जाय कि यहाँ बहुवचन का प्रयोग ऐश्वर्याभिव्यक्ति मात्र के लिये किया गया है, तो भी, डेलब्रुक[५४] द्वारा प्रस्तुत पुराकथाशास्त्रीय व्याख्या सम्भवतः ठीक होगी। अन्य स्थलों[५५] पर बहुवचन केवल जातिवाचक है।

वैवाहिक सम्बन्ध :—बहुपत्नीत्व-प्रथा के विपरीत भी, इस बात का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि, जहाँ तक पत्नी के 'पतिव्रत' का सम्बन्ध है, वैवाहिक-बन्धन को, जैसा कि वेबर[५६] मानते हैं, शिथिल नहीं माना जाता

[४८] इन्डिशे स्टूडियन ५, २२२। वेबर का यह मत कि 'सपत्नी' से 'सपत्न' कभी भी व्युत्पन्न नहीं हो सकता, सर्वथा अनुचित है।

[४९] देखिए, यथा : वेस्टरमार्क : ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ मैरेज; क्रॉले : मिस्टिक रोज़।

[५०] मेर : इन्डिशे अर्वरेख्त, बॉन १८७३, का विचार इसके अस्तित्व के पक्ष में है। किन्तु देखिये वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, ५, १९१, २०७; १०, ८३, ८४ जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ४८; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३५४ और बाद; फॉन श्रोडर : इन्डियन लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४३१, नोट, २; त्सी० गे० ४४, ३४०–३४२; डेलब्रुक : डी० व० ५४१–५४५।

[५१] १०. ८५, ३७. ३८।

[५२] अथर्ववेद १४. १, ४४. ५२. ६१; २, १४. २७।

[५३] इन्डिशे स्टूडियन ५, १०१। इस प्रकार त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३२६, जो फिर भी, यह मत व्यक्त करते हैं कि बहुवचन रूप जातिवाचक है।

[५४] उ० पु० ५४३।

[५५] शतपथ ब्राह्मण २. ६, २, १४। तु० की० काठक संहिता १२. १२, में बहुवचन शब्द 'श्वशुराः'। निःसन्देह 'नियोग' का बहुभर्त्तृत्व से कोई सम्बन्ध नहीं है।

[५६] स्टूडियन १०, ८३। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ५, ५७३, और तु० की० **धर्म**।

था। फिर भी, नैतिकता की दृष्टि से पति द्वारा भी पत्नीव्रत का पालन करने के संकेत कम मिलते हैं। वास्तव में अनेक स्थलों[५७] पर सांस्कारिक संयम के सन्दर्भ में दूसरे की 'स्त्री' के साथ संभोग वर्जित है। इसका यह आशय हो सकता है कि पति द्वारा व्यभिचार को, अन्यथा, एक अल्पापराध ही माना जाता था। किन्तु यतः 'स्त्री' शब्द के अन्तर्गत हर प्रकार की स्त्रियाँ, जैसे पुत्रियाँ, दासियाँ, तथा पत्नियाँ भी, आती हैं, अतः इसके आधार पर ऐसा निष्कर्ष कदाचित् ही निकाला जा सकता है कि दूसरे व्यक्ति की 'पत्नी' के साथ संभोग को सामान्यतया उपेक्षणीय समझा जाता था।[५८] 'वरुणप्रघासास्'[५९] नामक एक विशेष संस्कार को, जिसमें यज्ञकर्त्ता की पत्नी से उसके प्रेमियों के सम्बन्ध में प्रश्न किये जाते हैं, डेलब्रुक[६०] यह दिखाते हैं कि वास्तव में इसमें यज्ञकर्त्ता द्वारा अपनी पत्नी से ऐसा प्रश्न पूछने की औपचारिकता मात्र नहीं है वरन् यह पत्नी से उसके व्यभिचारत्व का प्रायश्चित्त कराने का संस्कार है। पुनः, शतपथ ब्राह्मण[६१] में याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त का, जो ऐसा कहता हुआ प्रतीत होता है कि पत्नी व्यभिचारिणी है अथवा नहीं इस पर कोई भी ध्यान नहीं देता, वास्तव में यह अर्थ है कि यदि यज्ञकर्त्ता की पत्नी उससे दूर भी हो तो उस पर कोई ध्यान नहीं देता, क्योंकि उस संस्कार विशेष में देवों की पत्नियाँ भी उनसे दूर ही होती हैं। प्रत्यक्षतः एक पत्नीत्व को भी मान्यता दी गई थी,[६२] जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिकता सम्बन्धी एक उच्चतर धारणा का निर्माण हो चला था। दूसरी ओर, अन्य भारतीय-जर्मनिक[६३] जातियों में सुप्रचलित यह नियम किसी भी वैदिक संहिता में नहीं मिलता

[५७] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ८, ३; मैत्रायणी संहिता ३. ४, ७।

[५८] तु० की० ऊपर, पृ० ४४४

[५९] मैत्रायणी संहिता १. १०, ११; शतपथ ब्राह्मण २. ५, २, २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ५, २।

[६०] उ० पु० ५५०।

[६१] १. ३, १, २१। तु० की० एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, ७६, नोट २; बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था० 'परःपुंसा' (तु० की० ऊपर पृ० ४४५)। डेलब्रुक : उ० पु० ५५१, यह भी दिखाते हैं कि न तो 'दीक्षा' और न 'प्रवर' (जैसा कि स्तोता के पौराणिक पूर्वज के रूप में 'अग्नि' को आमन्त्रित किया गया है) ही वैदिक भारतीयों की पैतृकता को सन्दिग्ध मानने के सिद्धान्त को आश्रय देते हैं।

[६२] ऋग्वेद १. १२४, ७; ४. ३, २; १०. ७१, ४, इत्यादि।

[६३] लीस्ट : आ० जे० २७६ और बाद। तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३८८, ३८९; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३६६, ३६७।

कि व्यभिचार करते समय पकड़े गये व्यक्ति की हत्या कर देना अदण्ड्य है; यद्यपि बाद के नीति साहित्य में इस नियम के संकेत मिलते हैं।[६४] इस बात के भी प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि साधारण लैङ्गिक नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा नहीं था।

अवैध सम्बन्ध :—ऋग्वेद[६५] में अवैध प्रेम तथा इस प्रकार के सम्बन्ध[६६] के परिणामस्वरूप उत्पन्न सन्तान के परित्याग के अनेक सन्दर्भ मिलते हैं; विशेषतः इन्द्र के एक आश्रित का 'परावृक्त' अथवा 'परावृज्' के रूप में अक्सर उल्लेख है।[६७] वाजसनेयि संहिता[६८] में भी 'कुमारी-पुत्र' की चर्चा की गई है। इस प्रकार उत्पन्न व्यक्ति उपनिषद्-काल में मातृनामोद्गत नाम धारण किये हुए ही मिलते हैं।[६९] यही प्रथा उन अनेक मातृनामोद्गत नामों के आरम्भ का भी कारण हो सकती है जो बृहदारण्यक उपनिषद् के वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में आते हैं।[७०] वाजसनेयि संहिता[७१] में शूद्र और आर्य स्त्री-पुरुषों के अवैध सम्बन्धों के सन्दर्भ तो मिलते ही हैं, इनके अतिरिक्त इसमें पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में अनेक ऐसों को भी सम्मिलित किया गया है जिनके नामों का अर्थ प्रत्यक्षतः 'वैश्या' (अतीत्वरी)[७२], और

[६४] तु० की० ऊपर, पृ० ४४४

[६५] ऋग्वेद १. १३४, ३; ३. ५३, ८; ८. १७, ७। 'महानग्नी', अथर्ववेद १४. १ ३६; २०. १३६, ५; ऐतरेय ब्राह्मण १. २७, राजनर्तकी का द्योतक है। तु० की० अथर्ववेद ५. ७, ८। इसी प्रकार, 'पुंश्चली' भी, अथर्ववेद १५, २; वाजसनेयि संहिता ३०, २२। 'पुंश्चलू' तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, १५, १।

[६६] ऋग्वेद २. २९, १ ('रह-सूः,' अर्थात् 'वह जो गुप्त रूप से गर्भ धारण करती है'। तु० की० मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, २६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३३३, ३३४)।

[६७] ऋग्वेद २. १३, १२; १५, ७; ४. १९, ९; ३०, १६; त्सिमर : उ० पु० ३३५ परित्याग कर देने पर शिशु चींटियों (वम्री) द्वारा खा लिया जा सकता था। तु० की० नीचे, पृ० ५६१

[६८] ३०. ६।

[६९] तु० की० जाबाल सत्यकाम।

[७०] तु० की० पाणिनि, ४. १, ११६। किन्तु यह प्रथा केवल बहुपत्नीत्व के कारण ही रही हो सकती है (कीथ : ऐतरेय आरण्यक, पृ० २४४, नोट २)।

[७१] २३. ३०. ३१; तैत्तिरीय संहिता ७. ४, १९, २.

[७२] ३०. १५।

'गर्भपात करानेवाली' (अतिष्कद्वरी)[७३] है, जब कि एक 'रंगनेवाली स्त्री' (रजयित्री) वासना को समर्पित की गई है।[७४] पिशल और गेल्डनर भी ऋग्वेद[७५] के अनेक अन्य स्थलों पर अवैध सम्बन्धों के सन्दर्भ देखते हैं, और विशेषतः उन स्थलों पर तो और भी, जहाँ उषस् का उल्लेख मिलता है, क्योंकि आप लोगों की दृष्टि में देवी उषस् एक रखेली की उदाहरण हैं। जो कुछ भी हो, इस बात पर कदाचित् ही सन्देह किया जा सकता है कि ऋग्वेद[७६] के एक स्थल पर उल्लिखित एक नर्तकी (नृतू) वास्तव में एक वैश्या अथवा रखेली ही थी। जहाँ स्त्रियों का *समन* अथवा 'मिलन-स्थान' पर जानेवालों के रूप में उल्लेख है, वहाँ भी सम्भवतः वेश्याओं अथवा रखेलियों से ही तात्पर्य है।[७७] ऋग्वेद[७८] में अनैतिकता के गम्भीर उदाहरणों का संकेत किया गया है। पिता और पुत्री का प्रेम, जैसा कि प्रजापति की पुराकथा से व्यक्त होता है, यद्यपि प्रत्यक्षतः प्रतिबन्धित था, तथापि अनाचार के इस रूप के अस्तित्व को अथर्ववेद[८०] में स्वीकार किया गया है। ऐसी कन्याओं को, जिनके वैध रक्षक—पिता अथवा भ्राता[८१]—नहीं रह जाते थे, अनैतिक व्यापार द्वारा ही अपना जीवनयापन करने के लिये बाध्य होना पड़ सकता था।

विवाह के स्वरूप :—वैदिक काल में समाज का जो रूप था वह इसी बात की ओर संकेत करता है कि स्त्री और पुरुष दोनों को अपना पति अथवा पत्नी चुन लेने की पर्याप्त स्वतंत्रता थी। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट नहीं है कि वयस्क हो गये पुत्र अथवा पुत्री के विवाह का पिता अथवा माता में से कौन

[७३] ३०. १५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ११, १, में 'अपस्कद्वरी' है।

[७४] ३०. १२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १।

[७५] तु० की० वेदिशे स्टूडियन, १, xxv, १९६, २७५, २९९, ३०९; २, १२०, १५४, १७९, इत्यादि; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ४८।

[७६] १. ९२, ४।

[७७] ऋग्वेद, ४. ५८, ८; ६. ७५, ४; १०. १६८, २। कदाचित १. १२४, ८; १२६, ५ में 'ग्ना' भी।

[७८] १. १६२, ५ (भ्राता और भगिनी : तु० की० ऊपर पृष्ठ ४४५)

[७९] ऋग्वेद १०. ६१, ५–७; पञ्चविंश ब्राह्मण ८. २, १०; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३३; शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, १।

[८०] ८. ६, ७।

[८१] ऋग्वेद १. १२४, ७। तु० की० पुत्रिका।

नियन्त्रण करता था,[८२] यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि अक्सर माता-पिता अथवा इनमें से एक ही स्वयं, अपनी सन्तान के लिये, उपयुक्त वर या वधू की व्यवस्था करता था।[८३] सम्भवतः सिद्धान्त रूप से दोनों पक्षों की सहमति हो जाने के पश्चात् अक्सर मध्यस्थ अथवा 'विवाह करानेवाले' (वर)[८४] ही विवाह ठीक करने का कार्य करते थे। पुत्री का विक्रय अज्ञात नहीं था[८५], किन्तु इस कार्य के साथ कुछ अपशय ही संयुक्त प्रतीत होता है,[८६] और ऐसी

[८२] तु० की० डेलब्रुक : उ० पु० ५७४। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३०९, यह विचार व्यक्त करते हैं, कि माता-पिता अथवा भ्राता की सम्मति आवश्यक होती थी, किन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिया जा सकता। बाद की प्रथा निर्णायक प्रमाण नहीं है, क्योंकि यह बाल-विवाह के रूप में भी रही हो सकती है जिसमें पुत्र अथवा पुत्री को स्वतंत्र रूप से कुछ वरण करने का अवसर ही नहीं होता था। तु० की० वही, ३१५; केगी : डर ऋग्वेद,१५।

[८३] यह इतना स्वाभाविक है कि इसके लिये किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। तु० की० उदाहरण के लिये, बृहद्देवता ५. ४९ और बाद, में वर्णित 'श्यावाश्व आत्रेय' का विहाह प्रस्ताव; सीग : सा० ऋ० ५१ और बाद।

[८४] ऋग्वेद १०. ७८, ४; ८५, १५. २३। त्सिमर : उ० पु० ३१०, इसे एक सार्वभौमिक प्रचलन के रूप में व्यक्त करते हैं और 'अर्यमन्' (मित्र) के प्रयोग की 'वधू की व्यवस्था करने वाले' के साथ तुलना करते हैं। श्यावाश्व की दशा में उनके लिये उनके पिता ने ही यह कार्य किया था।

[८५] तु० की० मैत्रायणी संहिता १. १०, ११; तैत्तिरीय संहिता २. ३, ४, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, २, ४; काठक संहिता ३६. ५। देखिये, मानव धर्म शास्त्र ३. ५३; ८. २०४; ९. ९८; मैकरिण्डल के अनुवाद, पृ० ७०, में मेगास्थनीज़; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन ५, ४०७; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३४५ और बाद; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३८१; पिशल: वेदिशे स्टूडियन २, ७८ और बाद; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, ३, ८६, नोट; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ५२; आदि भी,

[८६] ऋग्वेद, १. १०९, २, इन्द्र और अग्नि आदि देवों का, एक 'विजामातृ' अथवा 'स्याल' से अधिक उदार होने के रूप में उल्लेख करता है। इस प्रथम शब्द में 'वि' उपसर्ग की शक्ति कुछ प्रतिकूल है, और जैसा कि पिशल ने संकेत किया है, यहाँ इसका निश्चित रूप से ऐसे जामाता से आशय है, जिसे, अन्य दृष्टियों से सर्वथा अनुपयुक्त होने के कारण अपनी वधू का उच्च मूल्य देकर क्रय करना पड़ता था। 'विजामातृ' वास्तव में ऋग्वेद ८. २, २०, का 'अश्रीरो जामाता' (अधम जामाता) है। तु० की० यास्क : निरुक्त, ६. ९; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, २५५।

दशाओं में 'दामाद' अपने श्वसुर के प्रति कभी-कभी कटूक्तियों अथवा व्यंगों का व्यवहार करते हैं। दूसरी ओर दहेज भी अक्सर ही दिया जाता था, विशेषतः उस दशा में तो अवश्य ही जब कन्या में किसी प्रकार का शारीरिक दोष होता था।[८७] अक्सर बलात् विवाह भी होते थे किन्तु यह केवल एक वीरोचित कार्य के रूप में ही किया जाता था, जैसा कि उस *विमद* के उदाहरण से स्पष्ट है जो *पुरुमित्र* की पुत्री को उसके पिता की इच्छा के विरुद्ध, किन्तु सम्भवतः स्वयं उसकी स्वीकृति से, बलात् उठा ले गया था।[८८] बाद के नीति-ग्रन्थ और महाकाव्य विवाह के विविध रूपों का विस्तृत वर्णन करते हैं, किन्तु इन सभी विभिन्नताओं को तीन प्रमुख प्रकारों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है; यथा (क) 'प्राजापत्य' अथवा ऐसा विवाह जो परस्पर स्वीकृति से हो; (ख) ऐसा विवाह जिसमें वधू के लिये मूल्य देना पड़ता है, जैसे 'आसुर' (असुरों की भाँति), 'आर्ष' (ऋषियों से सम्बद्ध), 'ब्राह्म' (ब्रह्मन् से सम्बद्ध), अथवा 'दैव' (दिव्य); और (ग) ऐसा विवाह जिसमें वधू को अपहृत कर लिया जाता है, और जिसे 'क्षात्र' (योद्धावत्) अथवा 'राक्षस' (रक्षस्-वत) विधि कहते हैं। वैदिक साहित्य[८९] में इन सभी पद्धतियों के संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिये, सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप कन्या को उपहार में देने के प्रचलन का जैमिनीय ब्राह्मण[९०] में वर्णित *च्यवन*, और बृहद्देवता[९१] में वर्णित *श्यावाश्व* की कथाओं द्वारा प्रमाण मिलता है।

[८७] तु० की० ऋग्वेद ६. २८, ५; १०. २७, १२; अथर्ववेद ५. १७, १२। सम्भवतः ऋग्वेद १. १०९, २, में एक ऐसे उदार भ्राता का सन्दर्भ है जो अपनी बहन के लिये पति प्राप्त करने के हेतु दहेज देता है। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३४५; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स ५, ४५९; केगी : डर ऋग्वेद, नोट ३५२; त्सिमर : उ० पु० ३१०, नोट। यह सन्दिग्ध है कि ऋग्वेद १०. ८५, ६ में 'अनुदेयी' का अर्थ 'दहेज' ही है अथवा नहीं। देखिये ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ७४१।

[८८] तु० की० ऋग्वेद १. ११२, १९; ११६, १; ११७, २०; १०. ३९, ७; ६५, १२। सायण का यह विचार कि कमद्यू वास्तव में पुरुमित्र की पुत्री थी, ठीक प्रतीत होता है, यद्यपि त्सिमर : उ० स्था०, इसे सन्दिग्ध मानते हैं।

[८९] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १३, ३६१, ३६२; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ५० और बाद; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २९; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३८३।

[९०] ३. १२२।

[९१] ५. ४९ और बाद।

विवाह-संस्कार :—सामान्य विवाहों में विवाह-संस्कार के लिये ऐसे विस्तृत समारोहों का आयोजन किया जाता था जिनका स्वरूप और संस्कार दोनों ही अन्य इन्डो-जर्मनिक तथा अ-इन्डो-जर्मनिक जाति के लोगों के प्रचलन के ही समान[९२] और उनका अभीष्ट भी वैवाहिक सम्बन्ध में स्थायित्व तथा प्रभावोत्पादकत्ता लाना होता था। समारोह का आरम्भ वधू के घर से होता था[९३] जहाँ अपने मित्रों और सम्बन्धियों सहित वर का आगमन, और वहीं वधू के मित्रों तथा सम्बन्धियों से भी उसका परिचय होता था।[९४] अतिथियों के मनोरञ्जनार्थ एक अथवा अनेक गायों का वध किया जाता था।[९५] वधू को एक पत्थर के ऊपर खड़ा करा कर औपचारिक रूप से वर उसका हाथ अपने हाथों में लेता था और उसके साथ घर की अग्नि के चतुर्दिक परिक्रमा करता था।[९६] इस कृत्य के पश्चात् विवाह सम्पन्न हुआ मान लिया जाता था। इसी के पश्चात् पति को 'हस्त-ग्राभ' (जो हाथ पकड़ता है) भी कहा जाता था।[९७] विवाह-संस्कार के समाप्त हो जाने पर[९८] वर अपनी वधू को एक गाड़ी में बैठाकर वैवाहिक जलूस (बारात) के

[९२] प्राचीन संस्कार का ऋग्वेद १०. ८५ और अथर्ववेद १४. १ और २, में पर्याप्त विस्तार से वर्णन किया गया है। बाद के संस्कार की, जैसा कि वह विस्तृत रूप से गृह्य सूत्रों में मिलता है, वेबर और हास ने, इन्डिशे स्टूडियन ५, १७७–४११, में व्याख्या की हैं। देखिये लीस्ट : आ० जे० १४४ और बाद; फॉन श्रोडर : डी० हो०; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३८४ और बाद; हॉपकिन्स : ज० पु० १३, ३५५ और बाद; विन्टर्निट्ज़ : डा० हो०, १८९२; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ७३९ और बाद; लैनमैन : संस्कृत रीडर, ३८९ और बाद।

[९३] १०. १७, १।

[९४] ऋग्वेद ४. ५८, ९; अथर्ववेद ६. ६०; १४. २, ५९।

[९५] ऋग्वेद १०. ८५, १३।

[९६] तु० की० ऋग्वेद १०. ८५, ३६. ३८; अथर्ववेद १४. १, ४७. ४८। वधू के पत्थर पर चढ़ने के पूर्व, गृह्य सूत्रों (आश्वलायन १. ७, ३; शाङ्खायन १. १३, ४; पारस्कर १.६, ३, इत्यादि) के अनुसार वर इन शब्दों का उच्चारण करता था : 'मैं मैं हूँ, तू तू है, मैं साम हूँ तू ऋक् है, मैं आकाश हूँ तू पृथिवी है, यहाँ हम साथ साथ निवास करते हुए सन्तानोत्पत्ति करें'; और इसके लिये देखिये अथर्ववेद १४. २, ७१; काठक संहिता ३५. १८; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २७; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, १९ (माध्यन्दिन)।

[९७] १०. १८, ८। तु० की० अथर्ववेद १४. १, ५१।

[९८] अथर्ववेद १४. २, ५९ और बाद।

साथ अपने घर ले जाता था[९९]। इसके बाद वर अपनी वधू के साथ संभोग करता था।[१००]

पत्नी की सम्पत्ति और उसका सामाजिक स्तर :—विवाह के बाद पति और पत्नी के वैधानिक सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले विवरण अत्यन्त अल्पमात्रा में ही उपलब्ध हैं। यह माना जा सकता है कि पत्नी के घर से यदि कुछ दहेज मिला हो, अथवा पत्नी का अपना ही कुछ स्वार्जित धन हो, तो उन दोनों पर पति का अधिकार हो जाता था। यहाँ तक कि महाकाव्य[१०१] में भी स्त्री की सम्पत्ति को 'स्त्री-धन' के रूप में मान्यता प्रदान करने की प्रथा के आरम्भ की गति अत्यन्त मन्द है। यद्यपि पति का पत्नी पर उसी प्रकार सर्वसत्ता-सम्पन्न स्वामित्व नहीं होता था जैसा किसी व्यक्ति का अपनी दासी पर रहता था, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उसे पत्नी के परिष्कार और ताड़ना के वैसे ही अधिकार प्राप्त थे जैसे कि अट्ठारहवीं शताब्दी के इंग्लिश कानून द्वारा किसी अंग्रेज पति को स्पष्ट रूप से प्राप्त थे। निश्चित रूप से परिवार के कल्पित आदर्श[१०२] अत्यन्त उच्च होते थे, और उन्हें वस्तुतः पूर्ण किया जाता था कि नहीं, इस पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं। इसके अतिरिक्त विवाह हो जाने पर पत्नी को पतिगृह में तत्काल ही एक सम्मानित स्थान प्राप्त हो जाता था : वह निश्चित रूप से अपने पति के घर में स्वामिनी होती थी और अपने श्वसुर, पति के भ्राताओं और उसकी अविवाहित बहनों पर अपना

[९९] ऋग्वेद १०. ८५, ७. ८. १०. २४. २५. २६. २७. ४२ और बाद; अथर्ववेद १४. १, ६०।

[१००] वधू के परिधानों की शुद्धि के लिये देखिये १०. ८५, २८–३०. ३५।

[१०१] शतपथ ब्राह्मण ४. ४, २, १३ में यह कथन है कि 'उनका न तो अपने पर कोई स्वत्व होता है और न कोई उत्तराधिकार ही होता है' (नात्मनश् चनेशते न दायस्य)। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. ६, ४; तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ८, २; निरुक्त ३. ४। महाकाव्य के लिये तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० ओ० १३, ३६८। पत्नी द्वारा आज्ञापालन अनिवार्य होने के लिये; तु० की० बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, ७। इसी उपनिषद् में ऐसा वर्णन है कि सार्वजनिक जीवन से अवकाश ले लेने पर याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति को अपनी दोनों पत्नियों के बीच विभाजित कर दिया था।

[१०२] ऋग्वेद ८. ३१, ५. ९; १०. ३४, ११; ८५, १८. १९. ४२ और बाद; अथर्ववेद ३.३०; १४. २, ३२।

अधिकार रखती थी।[१०३] इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ जिस स्थिति की कल्पना की गई है वह ऐसी है जिसमें माता-पिता के जराक्रान्त[१०४] हो जाने के कारण उनका ज्येष्ठ पुत्र परिवार का प्रधान हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसकी पत्नी ऐसे सम्मिलित परिवार की स्वामिनी का स्थान ग्रहण कर लेती है जहाँ उसके पति के भाई-बहन अब भी अविवाहित हैं। इस स्थिति की उसके साथ कोई असंगति नहीं है जहाँ[१०५] पत्नी द्वारा अपने ऐसे श्वसुर का आदर करने पर अत्यधिक जोर दिया गया है जिसकी शरीर और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं और जो उस समय तक घर का नियन्त्रण अपने हाथ में रखता है जब तक उसका विवाहित पुत्र उसी के साथ रहता है। निःसन्देह आदर का यह भाव उस दशा में भी बना रहता है जब पुत्र पृथक् होकर स्वयं अपना एक अलग परिवार गठित कर लेता है।[१०६]

इसके अतिरिक्त, पति द्वारा किये गये यज्ञादि में भी पत्नी एक नियमित सहयोगिनी होती थी। इस सम्बन्ध में उसके लिये ब्राह्मणों[१०७] में नियमित रूप से *पत्नी* शब्द का व्यवहार किया गया है, जब कि यज्ञ में भाग लेनेवाली के रूप में नहीं वरन् एक भार्या के रूप में उसे *जाया* शब्द द्वारा व्यक्त किया

[१०३] ऋग्वेद १०. ८५, ४६। वर की बहन के लिये, तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३७। अथर्ववेद १४. २, २६, के अनुसार वधू को अपने श्वसुर के प्रति कल्याणकारी (शम्भूः) और अपनी सास के प्रति मनोहर (स्योना) होना चाहिये, जो कि इसकी, एक पुत्री अथवा स्वामिनी, किसी भी स्थिति की दशा में ठीक है।

[१०४] तु० की० ऋग्वेद १. ७०, ५, जहाँ एक वृद्ध पिता की सम्पत्ति उसके पुत्रों के बीच विभाजित कर दी गई है, और त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३२७। तु० की० ऐसे पिता की सम्भावना की भी जो कि पुत्रों को सभी सम्पत्ति दे देने के पश्चात् पुनः स्वस्थ हो जाता है, कौषीतकि उपनिषद् ४. १५।

[१०५] अथर्ववेद ८. ६, २४; मैत्रायणी संहिता २. ४, २; काठक संहिता १२. १२ (इन्डिशे स्टूडियन ५, २६०); तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ४, ६, १२; ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२; डेलब्रुक : डी० व० ५१४, ५१५।

[१०६] यदि श्वसुर जराक्रान्त होता तो भी यही स्थिति होती; किन्तु यह कदाचित् ही सम्भव है कि इन परिस्थितियों में अथर्ववेद ८. ६, २४, में व्यक्त आदर की प्रबल भावना, जिसमें भय का भी आशय निहित है, विकसित हो सकी होगी।

[१०७] शतपथ ब्राह्मण १. ९, २, १४; पाणिनि ४. १, ३३; डेलब्रुक : उ० पु० ५१०, ५१२।

गया है। इस दिशा में उसकी स्थिति क्रमशः हीन होती गई : इसीलिये शतपथ ब्राह्मण[108] एक ऐसे संस्कार का वर्णन करता है जिसमें प्राचीनकाल में तो केवल पत्नी (जाया) ही हवि देती थी, किन्तु बाद में उसके स्थान पर पुरोहित ही यह कार्य सम्पन्न कर देता था। इसी ब्राह्मण में स्त्रियों की स्थिति में हीनता आ जाने के अन्य संकेत भी मिलते हैं, जो कि सम्भवतः सांस्कारिक प्राथमिकता के महत्त्व सम्बन्धी विचार के विकास के कारण ही हो गये प्रतीत होते हैं।[109] इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता[110] में भी स्त्रियों को सामान्यतया पासे और सुरा के साथ तीन प्रमुख अभिशापों के अन्तर्गत रक्खा गया है। स्त्री को 'असत्य'[111], और 'निर्ऋति' के साथ भी सम्बद्ध[112] कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[113] के अनुसार स्त्रियों को दुरात्मा पुरुषों तक से भी हीन बताया गया है। काठक संहिता[114] में रात्रि के समय चाटुकारिता द्वारा पति से विभिन्न वस्तुयें प्राप्त कर लेने की पत्नी की क्षमता पर एक व्यंगात्मक सन्दर्भ मिलता है। दूसरी ओर, स्त्रियों की श्लाघा के भी अनेक उदाहरण हैं : स्त्री को पति की अर्धाङ्गिनी[115], और पति को पूर्णता प्रदान करनेवाली[116] कहा गया है; ऋग्वेद[117] में स्त्रियों पर किये गये आक्षेपों के साथ-साथ उनमें श्रेष्ठ गुण वर्तमान होने को भी सामान्यतया स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत भी, ब्राह्मण ग्रन्थों में स्त्रियों की स्थिति में क्रमशः अवनति होने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। यह उस नियम द्वारा प्रमाणित

[108] १. १, ४, १३। पहले के प्रचलनों के लिये, तु० की० ऋग्वेद १. १२२, २; ३. ५३, ४–६; ८. ३१, ५ और बाद; १०. ८६, १०, इत्यादि।

[109] उदाहरण के लिये १. ३, १. ९. १२. १३। तु० की० लेवी : ल' डॉक्ट्रिन डु सैक्रीफाइस, १५७, १५८।

[110] ३. ६, ३।

[111] १. १०. ११।

[112] वही।

[113] ६. ५, ८, २। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १. ३, १, ९।

[114] ३१. १। तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३. २२।

[115] शतपथ ब्राह्मण ५. २, १, १०।

[116] बृहदारण्यक उपनिषद् १. ४, १७।

[117] ८. ३३, १७ में इन्द्र द्वारा स्त्रियों की बुद्धि के सम्बन्ध में बहुत बुरी धारणा रखने का उल्लेख है, और १०. ९५, १५ में पुरूरवस ने तो स्त्रियों को स्पष्ट रूप से 'तरक्षु' (लकड़बग्घा) कहा है। ५. ६१, ६–८ में स्त्रियों के पक्ष का समर्थन किया गया है, किन्तु केवल हीन मनुष्यों (पणि) की तुलना में ही। तु० की० केगी : दर ऋग्वेद, नोट ३५१।

होता है जो स्त्रियों को पति के बाद ही भोजन करने का निर्देश देता है।[११८] स्त्रियों को अक्सर ताड़ना भी दी जाती थी : ऐतरेय ब्राह्मण में 'अप्रतिवादिनी (जो प्रतिवाद न करती हो) पत्नी की प्रशंसा की गई है। राजनैतिक जीवन में स्त्रियाँ कोई भाग नहीं लेती थीं : मैत्रायणी संहिता[१२०] इस बात का स्पष्ट उल्लेख करती है कि सभाओं आदि में पुरुष ही जाते थे, स्त्रियाँ नहीं। दूसरी ओर शिक्षा के प्रसार के साथ स्त्रियाँ भी तत्कालीन बौद्धिक क्षेत्रों में भाग लेने लगी थीं, जैसा कि याज्ञवल्क्य[१२१] की उन दो पत्नियों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट है जिनमें से एक तो याज्ञवल्क्य के दार्शनिक वाद-विवादों में अभिरुचि रखती थी, किन्तु दूसरी नहीं। उपनिषदों में अन्य स्त्रियों का भी गुरुओं के रूप में उल्लेख है किन्तु वह सभी विवाहित ही थीं ऐसा निश्चित नहीं।[१२२]

किन्तु स्त्री के विवाह का प्रमुख उद्देश्य सन्तान उत्पन्न करना होता था, और ऋग्वेद तथा बाद में इसे बार-बार स्पष्ट किया गया है।[१२३] एक ऐसे समाज में, जहाँ प्रमुखतः पिता की शृङ्खला द्वारा ही सम्बन्ध व्यक्त होते थे, सन्तान की इच्छा का एक पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा के रूप में व्यक्त होना स्वाभाविक ही था, जिससे कि वह पुत्र अपने पिता का अन्त्येष्टि संस्कार इत्यादि सम्पन्न कर सके और उसके वंशक्रम को चलाता रहे। इसमें सन्देह नहीं कि पुत्र का दत्तक लिया जाना भी सम्भव था, किन्तु ऋग्वेद[१२४] में इस प्रथा को स्पष्टतः असन्तोषजनक ही समझा गया है। जैसा कि हम 'नियोग' के सन्दर्भ में ऊपर देख चुके हैं, एक मृत अथवा निःसन्तान व्यक्ति के लिये उसकी पत्नी से सन्तान उत्पन्न करने का कार्य मृत व्यक्ति के भ्राता को सौंप देने की

११८ शतपथ ब्राह्मण १. ९, २, १२; १०. ५, २, ९। तु० की० वासिष्ठ धर्म सूत्र १२. १३; बौधायन धर्म सूत्र १. १, २, २; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, ३३०, नोट; हॉपकिन्स ज० अ० ओ० सो० १३, ३६५, नोट।

११९ ३. २४, ७। तु० की० गोपथ ब्राह्मण २. ३, २२; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १९, १४, नोट २।

१२० ४. ७, ४। तु० की० अथर्ववेद ७. ३८, ४।

१२१ बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ४, १; ४. ५, १।

१२२ तु० की० 'गन्धर्व-गृहीता' उपाधि, ऐतरेय ब्राह्मण ५. २९; कौषीतकि ब्राह्मण २. ९; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. ३, १; ७, १; और देखिये आश्वलायन गृह्यसूत्र ३. ४, ४; शाङ्खायन गृह्यसूत्र ४. १०।

१२३ ऋग्वेद १. ९१, २०; ९२, १३; ३. १, २३; १०. ८५, २५. ४१. ४२. ४५; अथर्ववेद ३. २३, २; ५. २५, ११; ६. ११, २, इत्यादि।

१२४ ७. ४, ७. ८। तु० की० निरुक्त ३. २।

प्रथा को स्वीकार किया गया है।[125] पुत्र-हीनता (अवीरता) को सम्पत्ति-हीनता (अमति) के समकक्ष रक्खा गया है और इस स्थिति से बचाने के लिये अग्नि की स्तुति की गई है।[126] पुत्री के जन्म को निश्चित रूप से बहुत अच्छा नहीं माना जाता था : अथर्ववेद[127] के एक सूक्त में स्पष्ट रूप से पुत्र के ही जन्म लेने, और पुत्री के जन्म न लेने का, आवाहन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[128] में भी एक ऐसा प्राचीन मन्त्र है जिसमें एक पुत्री को विपत्ति (कृपणम्) और पुत्र को उच्चतम आकाश का प्रकाश (ज्योतिर् ह पुत्रः परमे व्योमन्) कहा गया है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि वैदिक-कालीन भारतीय पुत्रियों का, मरणार्थ, परित्याग कर देते थे। बाद की संहिताओं[129] के कुछ स्थलों के आधार पर त्सिमर[130] और डेलब्रुक[131] द्वारा निकाले गये इस निष्कर्ष को बौटलिङ्क ने अप्रमाणित कर दिया है।

बालकों का जीवन:—इसमें सन्देह नहीं कि बालकों की देखरेख का उत्तरदायित्व माता पर होता था; किन्तु प्राचीन साहित्य[132] द्वारा बालकों के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम ही ज्ञात होता है। गर्भावस्था की अवधि को

[125] १०. १८, ८; ४०, २।

[126] ऋग्वेद ३. १६, ५।

[127] ६. ११, ३। तु० की० ८. ६, २५।

[128] ७. १५। तु० की० मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर ४०९।

[129] तैत्तिरीय संहिता ६. ५, १०, ३; मैत्रायणी संहिता ४. ६, ४; ७, ९; काठक संहिता २७. ९; निरुक्त ३. ४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. १७, १२।

[130] आल्टिन्डिशे लेबेन ३१९। तु० की० वेबर : नक्षत्र, २, ३१४, नोट, दो लड़कों के परित्याग के प्रमाण स्वरूप पञ्चविंश ब्राह्मण ११. ८, ८, का उद्धरण देते हैं, किन्तु यहाँ यह आशय सन्दिग्ध है।

[131] डी० व० ५७५। देखिये, वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, ५४, २१०; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ६, १४२; केगी : डर ऋग्वेद, नोट ४९; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ३८९, ३९०, आदि भी। बौटलिङ्क का विचार त्सी० गे० ४४, ४९४-४९६, में मिलता है, और तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, ४८, जो ४. १८, ५ की तुलना करते हैं।

[132] बाद का साहित्य जन्म के पूर्व और पश्चात् के संस्कारों के विवरण से भरा पड़ा है (देखिये, डेलब्रुक : उ० पु० ५७३ और बाद)। वेबर : नक्षत्र, २, ३१४, नोट, में वैदिक-कालीन भ्रूणज्ञान का विवरण देते हैं; यमजों को अवांछित माना जाता था, ऐतरेय ब्राह्मण ७. ९, इत्यादि।

अवसर ही दस मास (निश्चित रूप से चान्द्र मास) माना गया है।[133] जन्म लेने पर शिशु को सर्वप्रथम दुग्ध अथवा घृत के भोजन पर ही रक्खा जाता था, और उसके पश्चात् वह माता का स्तनपान करता था।[134] जन्म के आठवें दिन शिशु को नहलाया जाता था।[135] दाँत निकलने को भी एक शुभ अवसर माना जाता था और यह अथर्ववेद में एक सूक्त की चर्चा का विषय है। शिशुओं द्वारा वोलना सीखने के भी सन्दर्भ मिलते हैं, जिसका तैत्तिरीय संहिता[137] द्वारा जीवन के प्रथम वर्ष से आरम्भ होना माना गया है। ऐतरेय आरण्यक[138] में यह उल्लेख है कि *तत* और *तात*, तथा ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द 'दद'[139] आदि बालकों द्वारा उच्चरित प्रथम शब्द होते हैं। इस प्रकार यहाँ पिता को ही, कदाचित अनुचित रूप से, प्रधानता देने का प्रयास किया गया है। अथर्ववेद[140] में वालक के वयस्क हो जाने पर प्रथम बार दाढ़ी बनवाने के संस्कार से सम्बन्धित कम से कम एक सूक्त मिलता है। नामकरण संस्कार भी एक महत्त्व पूर्ण अवसर होता था, जब कि कभी कभी प्रमुख नाम के साथ एक द्वितीय नाम भी संयुक्त कर दिया जाता था।[141]

[133] ऋग्वेद ५. ७८, ९; १०. १८४, ३; अथर्ववेद १. ११, ६; ३. २३, २; ऐतरेय ब्राह्मण ७. १३, ९; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, २, ४; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ९, १; वेवर : नक्षत्र, २, ३१४ नोट। अथर्ववेद में जन्म से सम्बन्धित अनेक अभिचार मिलते हैं (१. ११, इत्यादि); और गर्भपात का भी उल्लेख है ('अवतोका', 'अवसू', वाजसनेयि संहिता ३०. १५; अथर्ववेद ८. ६, ९, इत्यादि)।

[134] बृहदारण्यक उपनिषद् १. ३, ४ (माध्यन्दिन = १. ५, २ काण्व)। तु० की० ६. ४, २४ और वाद, भी; शतपथ ब्राह्मण २. ५, १, ६। दूध छुड़ा दिये जाने के वाद शिशु को 'अति-स्तन' कहा गया है (कौषीतकि ब्राह्मण १३. २)।

[135] पञ्चविंश ब्राह्मण १४. ७, २ (सामवेद २. ५२५ पर = ऋग्वेद ९. ९६, १७)। प्रथम दस दिन संकट-कालीन होते थे (ऐतरेय ब्राह्मण ७. १४; पञ्चविंश ब्राह्मण २२. १४, ३)।

[136] अथर्ववेद ६. १४०।

[137] ६. १, ६, ७। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ७. ४, २, ३८; ११. १. ६, ३–५।

[138] १. ३, ३।

[139] तु० की० डेलब्रुक : उ० पु० ४४९, ५९६।

[140] ६. ६८। तु० की० २. १३, कौशिक सूत्र ५३. ५४, के अनुसार, और तु० की० शतपथ ब्राह्मण ११. ४, १, ६।

[141] तु० की० ऐतरेय आरण्यक १. ३, ३, कीथ के नोट सहित; शतपथ ब्राह्मण ६. १, ३, ९, और **नामन्**।

सती :—पति की मृत्यु के समय कभी कभी विधवा पत्नी स्वयं अग्नि में जल जाती थी अथवा उसके सम्बन्धीजन ही उसे जला देते थे।[१४२] अथर्ववेद[१४३] में इस प्राचीन प्रथा के सन्दर्भ द्वारा इसका प्रचलन स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। दूसरी ओर, ऋग्वेद में इस प्रथा की कहीं भी चर्चा नहीं है, और इसके विपरीत, विधवा को प्रत्यक्षतः उसके मृत पति के भ्राता के साथ विवाहित कर दिया जाना ही माना गया है।[१४४] अतः वैदिक काल में सती प्रथा को, कम से कम एक सामान्य नियम के रूप में, अप्रचिलित ही मानना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी समयों में यह प्रथा केवल क्षत्रिय परिवारों तक ही प्रचलित थी, जैसा कि अन्य इन्डो-जर्मनिक जातियों में भी योद्धा वर्ग में ही इसी के समान प्रचलन द्वारा व्यक्त होता है।[१४५] अन्य वर्गों में पति की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नियोंका जीवित रहना अधिक आवश्यक था, और विधवाओं

[१४२] तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ३९१; फॉन श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, ४१; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे ६७–६९; वेबर : प्रो० अ० १८९६, २५४ और बाद; रौथ : त्सी० गे० ८, ४६८; विलसन : ज० ए० सो० १६, २०२; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३२९; गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर, १५४।

[१४३] अथर्ववेद १८. ३, १।

[१४४] १०. १८, ७. ८।

[१४५] तु० की० हिरोडोटस, ५. ५ ('थेशियनों' का); ४, ७१ (सीथियनों का); प्रोकोपियस : डि वेलो गॉथिको, २. १४ (हेरुलि का)। इसी प्रकार जर्मनों में 'ब्रिनहिल्ट' और 'नन्ना' इसके उदाहरण हैं (तु० की० वीनहोल्ट : आल्टनॉर्टिशे लेबेन, ४७६ और बाद)। इस प्रथा की सार्वभौमिकता को अतिरंजित नहीं करना चाहिये, जैसा कि त्सिमर, ३३१, करते हुये प्रतीत होते हैं। किसी राजा की सभी पत्नियों को जला देना, उस पुरातन युग में, एक निरर्थक कार्य रहा होगा; यहाँ तक की प्रमुख पत्नी को भी किसी न किसी आधार पर अक्सर वंचित कर दिया जाता रहा होगा। ऋग्वेद में तो एक ऐसे समाज के अस्तित्व का विवरण ही मिलता है जिसमें किसी पत्नी को वास्तव में जला देने से वंचित रखने के लिये उसके स्थान पर अन्त्येष्टि संस्कार में ही इसका समाधान कर दिया जाता था (तु० की० मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर १२६)। एक श्रेष्ठ पत्नी का यही पुरस्कार होता था कि वह भी मर कर अपने मृत पति के ही लोक (पति-लोक) में चली जाय (तु० की० अथर्ववेद १४. १, ६४; १८, ३, १; ऋग्वेद १०. ८५, ४३)। पाणिनि, ३. २, ८, वार्तिक २, में भाष्यकार द्वारा दिये गये वैदिक उद्धरण में यह कथन है एक ऐसी ब्राह्मण स्त्री जो सुरा-पान करती है, मर कर अपने पति के लोक में नहीं जाती।

का पुनर्विवाह, चाहे वह संहिताओं द्वारा स्वीकृत अथवा वर्जित हो, इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि उस समय ऐसी विधवाओं का अस्तित्व था जो पुनर्विवाहित की जा सकती थीं।[१४८]

[१४८] तु० की० सम्भवतः ऋग्वेद १. १२४, ७ के 'गर्तारुह्' की जैसी यास्क ने, निरुक्त ३. ५, में व्याख्या की है; गेल्डनर: ऋग्वेद, कमेन्टर, २२।

पत्ति—अथर्ववेद (७. ६२, १) में *रथिन्* के विपरीत, युद्ध करनेवाले पैदल सैनिकों का द्योतक है। ऐसा उल्लेख है कि पैदल सैनिकों को 'रथिन' पराजित कर देते थे। वाजसनेयि संहिता (१६. १९) के शतरुद्रिय सूक्त में 'रुद्र' की एक उपाधि 'पत्तीनां पति' (पैदल सैनिकों के अधिपति) है।

पत्नी—देखिये *पति*। गृह के एक खंड का अथर्ववेद[१] में 'पत्नीनां सदन' के रूप में उल्लेख है, जो सम्भवतः घर की महिलाओं के रहने के स्थान को व्यक्त करता है। यह वाक्पद ब्राह्मण ग्रन्थों[२] में उपलब्ध शब्द 'पत्नीशाल' से गृहीत हुआ प्रतीत होता है।

[१] ९. ३, ७।
[२] वाजसनेयि संहिता १९. १८; शतपथ ब्राह्मण ४. ६, ९, ८; १०. २, ३, १; ऐतरेय ब्राह्मण ५. २२ (–'शाला'); कौषीतकि ब्राह्मण १९. ६, इत्यादि।

पथिन् सौभर (*सोभरि* का वंशज) का बृहदारण्यक उपनिषद्[१] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *अयास्य आङ्गिरस* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[१] २. ५, २२ (माध्यन्दिन = २. ६, ३ काण्व); ४. ५, २८ (माध्यन्दिन = ४. ६, ३ काण्व)।

पथि-कृत्—(पथ-निर्माता) ऋग्वेद[१] और बाद[२] में भी बहुत दुर्लभ उपाधि नहीं है। इससे स्पष्ट रूप से यह व्यक्त होता है कि पुरातन काल में पथों को ढूँढ निकालने के कार्य को स्वभावतः कितना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। जिस बहुलता के साथ यह उपाधि अग्नि[३] के लिये व्यवहृत

[१] २. २३, ६; ६. २१, १२; ९. १०६, ५; १०. १४, १५; १११, ३, इत्यादि।
[२] अथर्ववेद १८. २, ५३; ३, २५, इत्यादि।
[३] तैत्तिरीय संहिता २. २, १, १; शतपथ ब्राह्मण ११. १, ५, ५; १२. ४, ४, १; कौषीतकि ब्राह्मण ४. ३, इत्यादि।

हुई है, उससे ऐसा संकेत मिलता है कि यहाँ उस अग्नि का ही सन्दर्भ है जो पुरातन वनों को भस्म करके आगे बढ़ना सम्भव बना देती थी। 'नवेशियों' के रक्षक के रूप में पूषन् देव को भी 'पथि-कृत्' कहा गया है।[४] पथ-निर्माताओं के रूप में ऋषियों[५] की, रोम के अति प्राचीन पुरोहितों के साथ, तुलना की जा सकती है।

[४] शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. ४, ९; १६, १, १७। सूत्र १६. १, १८ में 'पथि-कृत' की केवल एक 'अधिपति' के रूप में ही व्याख्या है; किन्तु इसका आशय इससे अधिक सारगर्भित होना चाहिये।

[५] ऋग्वेद १०. १४, १५, जहाँ इस व्याहृति से, इनके द्वारा स्वर्गलोग का पथ ढूँढ़ लेने का सन्दर्भ है; किन्तु यह सम्भवतः एक पार्थिव उपाधि के व्यवहार का स्थानान्तरण मात्र प्रतीत होता है।

पद् अथर्ववेद (१९. ६, २) और शतपथ ब्राह्मण (११, ३, २, ३) में एक 'चतुर्थांश' का द्योतक है। यह आशय इस शब्द के मूल अर्थ 'पाद' से निष्कृष्ट हुआ है, जो चतुष्पादों के लिये व्यवहृत होने पर 'चतुर्थांश' को व्यक्त करता है। तु० की० *पाद*।

पद शब्द किसी 'छन्द के एक चरण' के आशय में ऋग्वेद[१] जैसे प्राचीन ग्रन्थ में, तथा अक्सर बाद[२] में भी, मिलता है। ब्राह्मणों में अक्षर (वर्ण) के विपरीत यह 'शब्द' का भी द्योतक है।[३]

[१] १. १६४, २४. ४५।

[२] अथर्ववेद ९. १०, १९; वाजसनेयि संहिता १९. २५; ऐतरेय ब्राह्मण १. ६. १०. १७, इत्यादि; कौषीतकि ब्राह्मण २२. १, ५।

[३] कौषीतकि ब्राह्मण २६. ५, जहाँ क्रम इस प्रकार है: 'अर्धर्च' (छन्द का अर्धांश), 'पाद' (छन्द का चतुर्थांश), 'पद' (शब्द), और 'वर्ण' (अक्षर)। तु० की० शतपथ ब्राह्मण १०. २, ६, १३; ११. ५, ६, ९, इत्यादि।

पदि एक बार ऋग्वेद[१] में मिलता है, जहाँ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार यह सम्भवतः किसी पशु का द्योतक है। यास्क[२] इसे किसी 'गन्तु' (चलने वाले जीव) का, किन्तु दुर्ग[३] 'पक्षी' का समानार्थी मानते हैं। उक्त स्थल पर 'पदि' को जाल में फँसा कर (? मुक्तीजा) पकड़ने का सन्दर्भ हो सकता है।[४]

[१] १. १२५. २।

[२] निरुक्त ५. १८।

[३] निरुक्त, उ० स्था० पर अपने भाष्य में।

[४] औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, १२९; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४४।

पयस् ऋग्वेद[1] और बाद[2] में गाय के 'दूध' का द्योतक है। अधिक सामान्य रूप से इसमें पौधों[3] में मिलनेवाले उस 'रस' का भी आशय निहित है, जो उन्हें (पौधों को) जीवन तथा शक्ति प्रदान करता है। अन्य स्थलों पर यह आकाश के 'जल' का द्योतक है।[4] कुछ समय तक केवल दुग्धपान पर ही जीवन व्यतीत करने के एक व्रत का शतपथ ब्राह्मण[5] में उल्लेख है।

[1] १. १६४, २८; २. १४, १०; ४. ३, ९; ५. ८५, २; १०. ३०, १३; ६३, ३, इत्यादि।

[2] अथर्ववेद ४. ११, ४; १२. १, १०; वाजसनेयि संहिता ४. ३। तु० की० **गो** और **क्षीर**।

[3] अथर्ववेद ३. ५, १; १०. १, १२; १३. १, ९; वाजसनेयि संहिता १७. १; १८. ३६, इत्यादि। इसी प्रकार सोम का, ऋग्वेद ९. ९७, १४।

[4] ऋग्वेद १. ६४, ५; १६६, ३; ३. ३३, १. ४; ४. ५७, ८, इत्यादि।

[5] 'पयो-व्रत' (वह जो केवल दुग्ध पर ही जीवित रहने का व्रत लेता है), ९. ५, १, १ और बाद; कौषीतकि ब्राह्मण ८. ९। दीक्षित व्यक्ति केवल इसी पर जीवित रहता है।

पयस्या बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[1] में, 'दधि' का द्योतक है, जो गर्म अथवा ठण्डे दूध में खटाई के मिश्रण से बनती है।[2]

[1] तैत्तिरीय संहिता २. ३, १३, २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ११, २; ऐतरेय ब्राह्मण २. २२. २४; शतपथ ब्राह्मण २. ४, ४, १०. २१; ५, १, १२; २, ९, इत्यादि।

[2] देखिये एग्लिङ्ग: से० बु० ई० १२, ३८१, नोट २।

पर *आट्णार*—('अट्णार' का वंशज) बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में प्राचीन काल के किसी ऐसे महाराजा के रूप में आता है जिसने एक यज्ञ विशेष करके पुत्र प्राप्त किया था। शतपथ ब्राह्मण[3] में इसे 'हैरण्यनाभ' ('हिरण्यनाभ' का वंशज) नाम दिया गया है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र[4] में इसे 'पर आह्लार वैदेह' कहा गया है जो तथ्य *कोसल* और *विदेह* के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रमाणित करता है। इसी ग्रन्थ[5] में उद्धृत एक *यज्ञ-गाथा* में 'पर' के सन्दर्भ में *हिरण्यनाभ कौसल्य* का उल्लेख है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ६, ५, ३; काठक संहिता २२. ३ (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४७३)।

[2] पञ्चविंश ब्राह्मण २५. १६, ३; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ६, ११।

[3] १३. ५, ४, ४।

[4] १६. ९, ११।

[5] वही० १३। तु० की० वेवर: इन्डिशे स्टूडियन १०, ७; ए० रि० ७; हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, २, १६५, नोट ४।

परम-ज्या (परम शक्तिवाला) को लुडविग[1] ने ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर *यदुओं* के किसी महान व्यक्ति का व्यक्तिवाचक नाम माना है। किन्तु इस शब्द का एक उपाधि के अतिरिक्त कुछ और होना सन्दिग्ध है।[3]

[1] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५९।
[2] ८. १, ३०।
[3] हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ३९।

परशु ऋग्वेद[1] और बाद[2] में लकड़ी काटनेवाले की कुल्हाड़ी का द्योतक है। इसके आकार के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। चोरी के अभियोग के सम्बन्ध में एक यातना (*दिव्य*) देने के लिये लाल तप्त-कुठार का प्रयोग किया गया था।[3] *पर्शु* भी देखिये।

[1] १. १२७, ३; ७. १०४, २१; १०. २८, ८; ५३, ९, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ३. १९, ४; ७. २८, १; ११. ९, १; काठक संहिता १२. १०; शतपथ ब्राह्मण ३. ६, ४, १०; ऐतरेय ब्राह्मण २. ३५; कौषीतकि ब्राह्मण १०. १; कौषीतकि उपनिषद् २. ११, इत्यादि।
[3] छान्दोग्य उपनिषद्, ६. १६, १।

परश्वन्—देखिये *परस्वन्त्*।

परस्वन्त् एक बड़े वन्य-पशु का द्योतक है जिसे रौथ[1] अनुमानतः वन्य-गर्दभ मानते हैं। इसका, ऋग्वेद के वृषाकपि सूक्त[2] में, दो बार अथर्ववेद[3] में, और अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में यजुर्वेद संहिताओं[4] में, उल्लेख है। इन सभी स्थलों पर एक 'वन्य-गर्दभ' का आशय ही पर्याप्त है। कौषीतकि उपनिषद्[5] में मिलनेवाले 'परश्वा(न्)' शब्द का अर्थ इसकी अपेक्षा अधिक सन्दिग्ध है, जहाँ भाष्यकार एक 'सर्प' के रूप में इसकी व्याख्या करते हैं। निःसन्देह इस शब्द (परश्वान्) का 'परस्वन्त्' से कोई सम्बन्ध न होना सर्वथा सम्भव है। बूहलर[6] इसे पालि भाषा के 'पलासाद' (गैंडा) शब्द के साथ सम्बद्ध मानते हैं।

[1] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[2] १०. ८६, १८।
[3] ६. ७२, २; २०. १३१, २२।
[4] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १०; वाजसनेयि संहिता २४. ८; तैत्तिरीय संहिता ५. ५, २१, १, जहाँ भाष्यकार इसे एक वन्य-भैंसे के अर्थ में ग्रहण करते हैं।
[5] १. २।
[6] त्सी० गे० ४८, ६३; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, १७, नोट, १; ऐतरेय आरण्यक ३७७, नोट १।

तु० की० लुडविग ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ६३३; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ८६, ८७; व्हिट्ने अथर्ववेद का अनुवाद, ३३५; गेल्टनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०५।

परा-वृज् एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[1] के चार स्थानों पर मिलता है और इनमें से सभी पर इससे एक परित्यक्त अथवा उपेक्षित मनुष्य का सन्दर्भ है, जब कि एक स्थान[2] पर इसे दक्षिण दिशा की ओर जाता हुआ भी बताया गया है। सायण[3] का ऐसा विचार कि यह शब्द व्यक्तिवाचक नाम है, अत्यन्त असम्भाव्य है, जब कि, 'पंगु' के रूप में ग्रॉसमैन[4] द्वारा प्रस्तुत व्याख्या तो और भी कम सम्भव प्रतीत होती है। रौथ[5] द्वारा 'निर्वासन' के रूप में की गई इसकी व्याख्या उस स्थल पर स्पष्टतः उपयुक्त है जहाँ 'परावृज्' का दक्षिण दिशा में जानेवाले के रूप में उल्लेख है। त्सिमर[6] इस स्थल के के लिये तो रौथ के ही दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु अन्य पर आप किसी कन्या द्वारा त्यक्त ऐसे शिशु का सन्दर्भ देखते हैं जिसे कीटाणुओं (वम्री) द्वारा भक्षण कर लिये जाने की सम्भावना रहती थी। यह दृष्टिकोण इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि 'परावृक्त' का भी यही आशय हो सकता है[7] और औल्डेनबर्ग[8] ने इसे ही स्वीकार किया है।

[1] १. ११२, ८; २. १३, १२; १५, ७; १०. ६१, ८।

[2] १०. ६१, ८।

[3] १. ११२, ८ इत्यादि, पर भाष्य में। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी १५२।

[4] ऋग्वेद का अनुवाद १, २३, और तु० की० आपका, वर्टरबुख, व० स्था०।

[5] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

[6] आल्टिन्डिशे लेबेन, १८५, ३३४, ३३५।

[7] ऋग्वेद ४. ३०, १९। तु० की० ४. ३०, १६; १९, ९।

[8] ऋग्वेद-नोटेन, १, २०० तु० की० ऊपर पृष्ठ ५४५, नोट ६७।
तु० की० मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, २४८; श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़, ४०२।

पराशर का *शतयातु* और *वसिष्ठ* के साथ ऋग्वेद के उस सूक्त में उल्लेख है जो दस राजाओं पर *सुदास्*[1] के विजय की प्रशस्ति करता है। निरुक्त[2] के अनुसार यह वसिष्ठ का एक पुत्र था, किन्तु महाकाव्य में इसे *शक्ति* का पुत्र और वसिष्ठ का पौत्र बताया गया है। गेल्डनर[3] का विचार है कि ऋग्वेद में इसका, सम्भवतः, अपने चाचा 'शतयातु' और पितामह वसिष्ठ के साथ, उन तीन ऋषियों के रूप में उल्लेख है जिन्होंने इन्द्र के पास जा कर

[1] ७. १८, २१।

[2] ६. ३०।

[3] वेदिशे स्टूडियन, २, १३२।

'सुदास्' के लिये उनकी सहायता प्राप्त की थी। एक त्रुटिपूर्ण रूप में अनुक्रमणी द्वारा इसे ऋग्वेद के कुछ सूक्तों[४] के प्रणयन का भी श्रेय दिया गया है।

[४] १. ६५-७३।
तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ११०, १११; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, ९, ३२४। एक परम्परा के रूप में 'पराशरों' का काठक अनुक्रमणी (इन्डिशे स्टूडियन, ३, ४६०) में उल्लेख है।

परि-क्षित्, अथर्ववेद[१] में एक ऐसे राजा के रूप में आता है जिसके कुरुवंशीय राज्य में समृद्धि और शान्ति व्याप्त थी। जिन मंत्रों में इसकी प्रशस्ति है उन्हें बाद[२] में 'पारिक्षित्यः' कहा गया है, और ब्राह्मण ग्रन्थ यह व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि अग्नि ही 'परि-क्षित्' हैं क्योंकि वह मनुष्य के बीच रहते हैं। इस कारण रौथ[३] और ब्लूमफील्ड[४] अथर्ववेद में 'परिक्षित्' को एक मानव राजा मानते ही नहीं। यह दृष्टिकोण ठीक हो सकता है किन्तु निश्चित नहीं है। त्सिमर[५] और औल्डेनबर्ग[६], दोनों ही, 'परिक्षित्' को एक वास्तविक राजा मानते हैं। यह दृष्टिकोण इस तथ्य द्वारा पुष्ट भी होता है कि बाद के वैदिक साहित्य में राजा *जनमेजय* का पैतृक नाम *पारिक्षित* है। यदि यह ठीक है तो 'परिक्षित्' एक बाद के काल में ही हुआ होगा, क्योंकि अथर्ववेद का वह स्थल जहाँ इसका नाम आता है, निश्चित रूप से बाद का ही है। और कोई भी अन्य संहिता 'परिक्षित्' नाम से परिचित नहीं है। महाकाव्य[७] में इसे 'प्रतिश्रवस्' का पितामह तथा 'प्रतीप' का प्र-पितामह कहा गया है, और त्सिमर[५], कदाचित् उचित रूप से ही, अथर्ववेद के एक अन्य बाद के स्थल[८] पर मिलनेवाले 'प्रातिसुत्वन' और 'प्रतीप' की इनसे

[१] २०. १२७, ७-१०। देखिये, शेफ्टेलोवित्स: डी० ऋ० १५६, १५७ भी, और वैतान सूत्र का मन्त्र ३४. ९। वैदिक अक्षर-विन्यास 'परिक्षित्' है, 'परीक्षित्' नहीं।

[२] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२, १०; कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५; गोपथ ब्राह्मण २. ६, १२; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १२. १७।

[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

[४] अथर्ववेद के सूक्त, ६९०, ६९१, किन्तु देखिये अथर्ववेद, १०१, नोट, ९।

[५] आल्टिन्डिशे लेबेन, १३१।

[६] त्सी० गे० ४२, २३७; बुद्धि, ३९६।

[७] देखिये, त्सिमर, उ० स्था०।

[८] २०. १२९।

तुलना करते हैं। किन्तु देवापि और शन्तनु को 'प्रतीप' के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।[1]

[1] 'देवापि' वास्तव में, 'ऋष्टिषेण' का पुत्र, एक ब्राह्मण है, और शन्तनु के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध नहीं। यास्क: निरुक्त, २. १०, इन्हें परस्पर भ्राता और कुरुवंशीय मानते हैं; किन्तु इस मान्यता का प्रथम अंश निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण है।

परि-घ, छान्दोग्य उपनिषद् (२. २४, ६. १०. १५) में, और जैसा कि अक्सर बाद में भी, लोहे की अर्गला अथवा छड़ का द्योतक है।

परि-चक्रा, एक पाठ के अनुसार, शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लिखित एक *पञ्चाल* नगर का नाम है। वेबर[2] इसे बाद के उस 'एकचक्रा' के साथ समीकृत करते हैं जो *काम्पील*[3] के निकट स्थित था। 'परिवक्रा' इसका एक अन्य विभेदात्मक पाठ है।[4]

[1] १३. ५. ४, ७।
[2] इन्डिशे स्टूडियन, १, १९२।
[3] महाभारत, १, ६०९४।
[4] भाष्यकार, तथा एग्लिङ्ग: से० बु० ई, ४४, ३९७, द्वारा स्वीकृत।

परि-चर, एक 'सेवक' के आशय में, शतपथ ब्राह्मण[1] में मिलता है। कौषीतकि ब्राह्मण[2] में 'परि-चरण' का भी लाक्षणिक दृष्टि से यही आशय है जहाँ अन्य दो वेदों (साम और यजुस्) को ऋग्वेद का सहकारी कहा गया है।

[1] ४. ३, ५, ९। तु० की० 'परि-चरितृ', छान्दोग्य उपनिषद् ७. ८, १।
[2] ६. ११; मैक्स मूलर: ऐन्शेण्ट संस्कृत लिटरेचर, ४५७।

परि-चर्मण्य कौषीतकि ब्राह्मण (६. १२) और शाङ्खायन आरण्यक (२. १) में एक 'चर्म-नध्री' का द्योतक है।

परि-तक्म्या, ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार, 'रात्रि' का द्योतक है। सीग[2] का विचार है कि कम से कम एक स्थल[3] पर, बहुत कुछ *प्रपित्व* के ही समान आशय में, यह शब्द दौड़ के चरम निर्णायक स्थान का द्योतक है। किन्तु यह विचार अत्यन्त सन्दिग्ध है।

[1] १. ११६, १५; ४. ४१, ६; ४३, ३; ५. ३०, १३; ३१, ११; ६. २४, ९; ७. ६९, ४।
[2] सा० ऋ०, १२८। तु० की० गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, २, ३६; ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०६।
[3] १. ११६, १५।

परि-दा, शतपथ ब्राह्मण[1] के कुछ स्थलों पर, 'अपने को दूसरों की दया अथवा रक्षा पर छोड़ देने' के आशय में आता है।

[1] २. ४, १, ११; ९. २, १, १७; ४, २, १७; ४, ५; ५, १, ५३।

परि-धान, अथर्ववेद (८. २, १६) और बृहदारण्यक उपनिषद् (६. १, १०) में 'वस्त्र', अथवा सम्भवतः 'भीतर पहने जानेवाले वस्त्र' का द्योतक है। शाङ्खायन आरण्यक (११. ४) में एक केसरिया परिधान का उल्लेख है।

परि-पद्, ऋग्वेद[1] में, उस गर्त का द्योतक प्रतीत होता है जिसका सिंहों को पकड़ने के लिये प्रयोग किया जाता था।

[1] १०. २८, १०; ८. २४, २४ में लाक्षणिक रूप से।

परि-पन्थिन् (पथ में मिलनेवाले), ऋग्वेद[1] और बाद[2] में 'मार्ग-तस्करों' का द्योतक है। तु० की० *तस्कर*, *तायु*, और *स्तेन*।

[1] १. ४२, ३; १०३, ६; १०. ८५, ३२।

[2] अथर्ववेद १. २७, १; ३. १५, १; १२. १, ३२; वाजसनेयि संहिता ४. ३४, इत्यादि।

परि-पवन, निरुक्त (४. ९. १०) में अन्न को पृथक् करने के लिये प्रयुक्त एक उपकरण का द्योतक है।

परि-मित्, गृह के सन्दर्भ में एक बार अथर्ववेद[1] में आता है, जहाँ इसका कदाचित् खड़े स्तम्भों को सम्बद्ध करनेवाली 'बेंड़ी धरन' अर्थ है।[2] तु० की० *गृह*।

[1] ९. ३, १।

[2] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५९६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १५८; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ५२५।

परि-मोष, तैत्तिरीय संहिता[1] में 'चोरी' का, और 'परिमोषिन्' शतपथ ब्राह्मण[2] में 'चोर' का द्योतक है।

[1] २. ५, ५, १; ६. १, ११, ५।

[2] ११. ६, ३, ११; १३. २, ४, २, इत्यादि।

परि-रथ्य, एक बार अथर्ववेद[1] में आता है, जहाँ इसका अर्थ या तो

[1] ८. ८, २२।

'पथ'[2], अथवा रथ का एक भाग, सम्भवतः जैसा कि लुडविग[3] और ह्विट्ने[4] अनुवाद करते हैं, 'किनारा' है।

[2] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ५८७, जो कि महाभारत, ८. १४८७ में 'परिरथ्य' की नीलकण्ठ द्वारा प्रस्तुत व्याख्या का अनुगमन करते हैं।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ५२८।
[4] अथर्ववेद का अनुवाद, ५०६।

परि-वक्रा, शतपथ ब्राह्मण (१३. ५, ४, ७) में भाष्यकार द्वारा उस *परिचक्रा* के स्थान पर स्वीकृत पाठ है जो महाकाव्य के 'एकचक्रा' द्वारा पुष्ट भी होता है।

परि-वत्सर, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में एक 'संपूर्ण वर्ष' का द्योतक है। इसका अक्सर वर्ष के अन्य नामों के साथ उल्लेख है (देखिये *संवत्सर*), और बाद के पाँच-वर्षीय चक्र के अन्तर्गत द्वितीय वर्ष को व्यक्त करता है।

[1] १०. ६२, २।
[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ५. ६; महाभारत, १. ३२०२, इत्यादि। इसी प्रकार एक विशेषण के रूप में 'परि-वत्सरीण' (एक सम्पूर्ण वर्ष से सम्बद्ध), ऋग्वेद ७. १०३, ८; अथर्ववेद ३. १०, ३।

परि-वाप, बाद की संहिताओं[1] और ब्राह्मणों[2] में 'चावल के भुने हुये दानों' का द्योतक है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. १, १०, १; ६. ५, ११, ४; ७. २, १०, ४; काठक संहिता ३४. ११; वाजसनेयि संहिता १९. २१. २२।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण २. २४; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ५, ११, २, इत्यादि।

परि-वित्त, एक ऐसे 'ज्येष्ठ भ्राता' का द्योतक है, जो अपने 'अनुज के विवाहित हो जाने पर भी अविवाहित' रह जाता है। यह शब्द पापी व्यक्तियों की तालिका में यजुर्वेद संहिताओं[1] में, तथा साथ ही साथ अथर्ववेद[2] में आता है, जहाँ लुडविग[3] इसका व्यर्थ ही 'परिवेत्ता' (ऐसा अनुज जो अपने ज्येष्ठतम भ्राता के पूर्व ही विवाह कर लेता है) पाठ मानने का विचार व्यक्त करते हैं।

[1] काठक संहिता ३१. ७; कपिष्ठल संहिता ४७. ७; मैत्रायणी संहिता ४. १, ९; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, ८, ११; वाजसनेयि संहिता ३०. ९।
[2] ६. ११२, ३।
[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, ४७०।

प्राचीनतर ग्रन्थों में 'अनुज' के लिये 'परिविविदान'[४] शब्द का प्रयोग किया गया है।

[४] काठक, कपिष्ठल, मैत्रायणी और वाजसनेयि संहिताओं में भी यही है।
तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ५८० और वाद; ब्लूमफील्ड : अ० फा० १७, ४३० और वाद; अथर्ववेद के सूक्त, ५२२ और वाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३१५; ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३६२।

परि-वृक्ता, परि-वृक्ती, परि-वृत्ती, आदि, सभी अस्वीकृत रानियों के नामों के विभिन्न रूप हैं। देखिये *पति*।

परि-वेष्टृ, अथर्ववेद[१] और वाद[२] में 'सेवक' का और मुख्यतः उस सेवक का द्योतक है जो भोजन परसता है। इस शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप 'परिवेष्ट्री' एक 'सेविका' का द्योतक है।[3]

[१] ९. ६, ५१।
[२] तैत्तिरीय संहिता ६. ३, १, ३; मैत्रायणी संहिता १. २, १६; वाजसनेयि संहिता ६. १३; ३०. १२. १३; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ८, १; ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१; शतपथ ब्राह्मण १३. ५, ४, ६; ३. ८, २, ३; ६. २, १३, ३ इत्यादि।
[3] शतपथ ब्राह्मण ११. २, ७, ४; कौषीतकि उपनिषद्, २. १; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक, २१, नोट २।

परि-व्राजक (शब्दार्थ, 'भ्रमणशील') निरुक्त (१. १४; २. ८) में एक 'भिक्षुक साधु' का द्योतक है।

परि-षद् (शब्दार्थ, 'चतुर्दिक बैठना') उपनिषदों[१] में दर्शन विषयक परामर्शदाताओं की सभा का द्योतक है। गोभिल गृह्य सूत्र[२] में अपनी परिषद् सहित एक गुरु का उल्लेख है। वाद के साहित्य में यह शब्द धार्मिक विषयों के परामर्शदाताओं की सभा का, और साथ ही, न्यायाधीश के परामर्शदाताओं अथवा राजा के मंत्रि-परिषद का भी द्योतक है।[3] किन्तु प्राचीन साहित्य में इस शब्द के इन आशयों में से एक भी नहीं मिलता, यद्यपि इन आशयों से व्यक्त होनेवाली संस्थायें उस समय भी शैशव अवस्था में रही अवश्य होंगी।

[१] बृहदारण्यक उपनिषद्, ६. १, १, (माध्यन्दिन = ६. २, १ काण्व); 'दैवी परिषद्', जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २. ११, १३. १४।
[२] ३. २, ४०।
[3] तु० की० जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, १३६, १३७; फॉय : टी० गे० १६-१९; ३३-३७; ६६; बूह्लर : त्सी० गे० ४८, ५५, ५६; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, २, १२४।

परि-ष्कन्द, अथर्ववेद (१५. २, १ और बाद) के *व्रात्य* सूक्त में आता है, और द्विवाचक के रूप में उन दो पैदल व्यक्तियों का द्योतक है जो रथ के साथ-साथ दौड़ते हैं।

परि-ष्यन्द (जिसके चारों ओर जल बहता हो) शतपथ ब्राह्मण (९. २, १, १९; १४. ३, १, १४) के दो स्थलों पर नदी के बीच बने द्वीप अथवा 'रेते' का द्योतक है।

परि-सारक, ऐतरेय ब्राह्मण (२. १९) की एक कथा के अनुसार किसी ऐसे स्थान का नाम है जो चारों ओर *सरस्वती* नदी के बहने के कारण द्वीपवत्त बन गया था।

परि-स्रुत् एक ऐसा पेय पदार्थ है जिसके नाम का सर्वप्रथम अथर्ववेद[1] में उल्लेख है, और जो मादक तो होता था किन्तु *सुरा* और *सोम*[2] से सर्वथा भिन्न था। महीधर[3] के अनुसार यह पेय फूलों (*पुष्प*) से बनाया जाता था। त्सिमर[4] का विचार है यह एक पारिवारिक पेय था, और आपका विचार इस तथ्य द्वारा पुष्ट भी होता है कि अथर्ववेद में दो बार एक पारिवारिक पेय के रूप में इसका उल्लेख है।[5] हिलेब्रान्ट[6] का ऐसा मत है कि यह बहुत कुछ 'सुरा' के ही समान होता था।

[1] ३. १२, ७; २०. १२७, ९। तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १७, ६८।
[2] शतपथ ब्राह्मण ५. १, २, १४। तु० की० ५. ५, ४, १०; १२. ५, ५, १३; १२. ७, १, ७; ८, २, १५; ९, १, १।
[3] वाजसनेयि संहिता २. ३४ पर भाष्य में।
[4] आल्टिन्डिशे लेबेन २८१, २८२।
[5] वाजसनेयि संहिता १९. १५; २०. ५९; २१. २९; मैत्रायणी संहिता ३. ११, २, आदि भी देखिये। इसकी प्रकृति की अधिक विस्तृत व्याख्या कात्यायन श्रौत सूत्र, १४. १, १४; १५. १०, ११, में मिलती है; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १०, ३४९, ३५०।
[6] वेदिशे माइथौलोजी, १, २४, ८।

१. *परी-णाह्*, अथर्ववेद (१९. ४८, १) में 'वक्स' अथवा इसी के समान किसी वस्तु का द्योतक प्रतीत होता है।

२. *परी-णाह्* का, पञ्चविंश ब्राह्मण[1], तैत्तिरीय आरण्यक[2], और सूत्रों[3] में, *कुरुक्षेत्र* में स्थित किसी स्थान के नाम के रूप में उल्लेख है।

[1] २५. १३, १।
[2] ५. १, १
[3] लाट्यायन श्रौत सूत्र १०. १९, १; कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ६, ३४; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १३. २९, ३२।

परी-शास, संड़सी के प्रकार के किसी यंत्र का नाम है जिसका यज्ञीय पात्र को आग से नीचे उतारने के लिये प्रयोग किया जाता था।[1]

[1] शतपथ ब्राह्मण १४. १, ३, १; २, १, १६; २, ५४; ३, १, २० इत्यादि।

परुच्-छेप एक ऐसे ऋषि का नाम है जिसे अनुक्रमणी द्वारा ऋग्वेद के अनेक सूक्तों[1] के प्रणयन का श्रेय दिया गया है, और जिसकी इस रचनाकारिता का ऐतरेय[2] तथा कौषीतकि[3] ब्राह्मणों, तथा साथ ही साथ, निरुक्त[4] में भी उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[5] में यह *नृमेधस्* के एक प्रतिद्वन्दी के रूप में आता है।

[1] ऋग्वेद १. १२७-१३९।
[2] ५. १२, १३ (जहाँ, ऋग्वेद के १. १२८, १२९, १३०, १३३, १३५, १३७, १३९ आदि सूक्तों के प्रणयन का इसे ही श्रेय दिया गया है।)
[3] २३. ४. ५।
[4] १०. ४२।
[5] २. ५, ८, ३।
तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ११६। 'परुच्छेप' का सूक्तों का प्रणेता होना अत्यन्त संदिग्ध है।

परुष, अथर्ववेद (८. ८, ४) में 'नरकट' का, और शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१४. २२, २०) में 'वाण' का, द्योतक प्रतीत होता है।

परुष्णी एक नदी का नाम है जिसका नदी-स्तुति[1] में, और दस राजाओं पर सुदास् की उस विजय की प्रशस्ति[2] में उल्लेख है जो इस उमड़ती हुई नदी द्वारा उसके विरोधियों को अपनी धारा में डुबा देने के कारण निश्चित हो गई थी।[3] इन स्थलों पर, तथा ऋग्वेद[4] के आठवें मण्डल के उस एक स्थल पर जहाँ

[1] १०. ७५, ५।
[2] ७. १८, ८. ९।
[3] यह निश्चित करना असम्भव है कि उक्त युद्ध में इस नदी का क्या महत्त्व था। सामान्यतया यही माना जाता है कि सुदास् के शत्रुओं ने इस नदी की धारा दूसरी ओर मोड़ना चाहा था, किन्तु अपने इस प्रयास में असफल रहे और इसकी धारा में वह गये। त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ११; मैकडौनेल : संस्कृत लिटरेचर, १५४; आदि का यही विचार है। गेल्डनर : ऋग्वेद, कमेन्टर, १०३, की यह मान्यता है कि दोनों ओर से शत्रुओं से घिर जाने के कारण सुदास् परुष्णी के मार्ग से बच निकले थे। इस पर उनके शत्रुओं ने इस नदी की धारा को मोड़ कर सुदास् पर आक्रमण अधिक सरल बनाने का प्रयास किया, किन्तु इसमें असफल रहे और नदी में बह गये। हॉपकिन्स : इण्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, ५२ और बाद, नदी की धारा के मोड़ने के उक्त प्रयास की कथा को सर्वथा अस्वीकृत करने में ठीक ही सकते हैं, यद्यपि ज० अ० ओ० सो०, १५, २६१ और बाद, में आपने इस परम्परागत दृष्टिकोण को मान लिया है।
[4] ८. ७४, १५।

इसे एक महान नदी (महेनदि) कहा गया है, यह निश्चित रूप से उसी नदी का द्योतक है जो यास्क[5] की मान्यता के अनुसार बाद में रवि (इरावती) के नाम से प्रचिलित थी। पिशल[6] ऋग्वेद[7] के दो अन्य स्थलों पर भी इसी नदी का सन्दर्भ देखते हैं जहाँ 'ऊन' (ऊर्णा) को 'परुष्णी' के साथ सम्बद्ध, और इससे एक नदी के ही आशय को मैक्स मूलर[8] तथा औल्डेनबर्ग[9] द्वारा स्वीकृत किया गया है, यद्यपि आप लोग सम्बद्ध स्थलों के ठीक-ठीक आशय के सम्बन्ध में सर्वथा एक मत नहीं हैं। पिशल का विचार है कि यह नाम उनके 'यूथ' (परुस्) से व्युत्पन्न हुआ है, न कि नदी के मोड़ों से, जैसा कि निरुक्त[5] ने माना है, अथवा नरकट से जैसा कि रौथ[10] मानते हैं।

सुदास् के विजय की प्रशस्ति करनेवाले सूक्त में परुष्णी और यमुना के उल्लेख ने हॉपकिन्स[11] के इस अनुमान को जन्म दिया है कि इस सूक्त में यमुना केवल 'परुष्णी' का ही दूसरा नाम है, और गेल्डनर[12] के इस विचार को भी कि यहाँ परुष्णी केवल यमुना की एक सहायक नदी है। किन्तु इन दोनों में से कोई भी व्याख्या न तो आवश्यक है और न तो सम्भव। यह सूक्त सुसम्बद्ध है और इसे भली प्रकार सुदास् की दो महान विजयों की प्रशस्ति करनेवाला माना जा सकता है। अथर्ववेद[13] में 'परुष्णी' का एक सन्दिग्ध-सा सन्दर्भ मिलता है।

[5] निरुक्त ९. २६।
[6] वेदिशे स्टूडियन, २, २०८–२१०।
[7] ४. २२, २; ५. ५२, ९।
[8] से० बु० ई० ३२, ३१५, ३२३।
[9] ऋग्वेद-नोटेन, १, ३४८।
[10] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, ४ (क)।
[11] ज० पु० ५२।
[12] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०६।
[13] ६. १२, ३। तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ४६२; व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, २८९।

परुस् का प्रथमतः तो शरीर का 'अंग' अथवा 'हाथ-पैर' अर्थ है[1], और उसके बाद यह लाक्षणिक आशय में यज्ञ[2] अथवा वर्ष[3] के भागों के लिये भी व्यवहृत हुआ है (तु० की० पर्वन्)।

[1] ऋग्वेद १. १६२, १८; १०. ९७, १२; १००, ५; अथर्ववेद १. १२, ३; ४. १२, २. ३, इत्यादि।
[2] ऋग्वेद १०. ५३, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ६, ९, १।
[3] तैत्तिरीय संहिता, २. ५, ६, १।

१. पर्ण, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में पक्षी के 'डैनों' का द्योतक है। ऋग्वेद[3] के एक अपेक्षाकृत अर्वाचीन स्थल पर, और अक्सर बाद[4] में बाण के 'पंख' का, और ऋग्वेद तथा उसके बाद[5] से वृक्ष के 'पत्ते' का भी, द्योतक है।

[1] २. ११६, १५; १८२, ७; १८३, १; ४. २७, ४ इत्यादि।

[2] अथर्ववेद १०. १, २९; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ५, इत्यादि।

[3] १०. १८, १४। तु० की० लैनमैन: संस्कृत रीडर, ३८६।

[4] अथर्ववेद ५. २५, १; काठक संहिता २५. १; ऐतरेय ब्राह्मण १. २५; ३. २६ इत्यादि।

[5] ऋग्वेद १०. ६८, १०; अथर्ववेद ८. ७, १२; तैत्तिरीय संहिता २. ५, १, ७; वाजसनेयि संहिता १६. ४६, इत्यादि।

२. पर्ण एक वृक्ष (Butea frondosa) का द्योतक है, जिसे बाद में सामान्यतया पलाश कहा गया है। यह अश्वत्थ के सन्दर्भ में ऋग्वेद[1] में, और अश्वत्थ तथा न्यग्रोध के साथ अथर्ववेद[2] के उस स्थल पर आता है जहाँ कवचों[3] तथा यज्ञ की तश्तरियों[4] के ढक्कनों का इसी की लकड़ी से बना होने का उल्लेख है। अन्य यज्ञीय उपकरण, जैसे चमस (जुहू)[5], अथवा 'यज्ञ स्तम्भ'[6] अथवा 'स्रुव'[7] आदि बनाने के लिये भी इसी के प्रयोग का उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता[8] में सोम विजित करते समय गायत्री के एक गिरे हुये पंख से इसकी उत्पत्ति बताई गई है। अन्यत्र[9] भी इस वृक्ष का अक्सर उल्लेख है। कभी-कभी इसकी छाल (पर्ण-वल्क) का भी सन्दर्भ मिलता है।[10]

[1] १०. ९७, ५।

[2] ५. ५, ५।

[3] ३. ५, ४. ८।

[4] १८. ४, ५३।

[5] तैत्तिरीय संहिता ३. ५, ७, २। तु० की० मैत्रायणी संहिता ४. १, १।

[6] पञ्चविंश ब्राह्मण २१. ४, १३।

[7] काठक संहिता १५. २। तु० की० ८. २; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ३, ११; ७, १, ९; ८, ७।

[8] तैत्तिरीय संहिता, उ० स्था०, और तु० की० कुन: डी० हे० १४८, १९२; ब्लूमफील्ड: ज० अ० ओ० सो० १६, २०. २४; अथर्ववेद के सूक्त ३३१, ३३२; व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ९१।

[9] शतपथ ब्राह्मण ३. ३, ४, १०; ६. ५, १, १; ११. १, ४, २; ७, २८; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ५, ४।

[10] तैत्तिरीय संहिता २. ५, ३, ५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ७, ४, २. १८, इत्यादि।
तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेवेन, ५९; वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, १७, १९४, १९५।

पर्णक एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जो वाजसनेयि संहिता[1] तथा तैत्तिरीय

[1] ३०. १६।

ब्राह्मण[2] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिकाओं में आता है। महीधर[3] के अनुसार इससे किसी 'भिल्ल'—अर्थात् सम्भवतः एक असभ्य पर्वतीय व्यक्ति से तात्पर्य है, क्योंकि यह *निषाद* का भी इसी प्रकार अर्थ करते हैं।[4] सायण[5] 'जल पर विषयुक्त 'पर्ण' डाल कर मछलियाँ पकड़नेवाले व्यक्ति' के रूप में इस शब्द की व्याख्या करते हैं, किन्तु यह प्रत्यक्षतः केवल एक व्युत्पति-शास्त्रीय अनुमान मात्र है। वेबर[6] द्वारा 'पंख धारण करनेवाले' एक असभ्य व्यक्ति के रूप में इस शब्द का अनुवाद विद्वत्तापूर्ण तो है, किन्तु अनिश्चित है।

[2] ३. ४, १२, १।
[3] वाजसनेयि संहिता, उ० स्था० पर।
[4] वाजसनेयि संहिता, १६. २७, पर।
[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण, उ० स्था० पर।
[6] त्सी० गे० १८, २८१। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ११९।

पर्ण-धि, अथर्ववेद[1] में शर-दण्ड का द्योतक है जिसमें पंख सन्नद्ध होता था।

[1] ४. ६, ५। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३००, ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३७५; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १५४।

पर्णय, ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर या तो किसी योद्धा का, जैसा कि लुडविग[2] का विचार है, अथवा इन्द्र द्वारा पराभूत किसी दानव[3] का नाम है।

[1] १. ५३, ८; १०. ४८, २।
[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४९।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

पर्य्-अङ्क, कौषीतकि उपनिषद्[1] में ब्राह्मण के आसन का नाम है। यह उसी के समान प्रतीत होता है जिसे अन्यत्र *आसन्दि* कहा गया है।[2] फिर भी उपनिषदों में इसके प्रयोग के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेटने के किसी लम्बे आसन की अपेक्षा सिंहासन ही अर्थ रहा होगा।[3]

[1] १. ५।
[2] अथर्ववेद, १५. ३, ३। तु० की० १४. २, ६५; ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५. ६. १२।
[3] तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ३९७, ४०१; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १५५; व्हिट्ने : अथर्ववेद के अनुवाद, ७६५, ७७६, में लैनमैन।

पर्य्-आस शतपथ ब्राह्मण (३. १, २, १८) में कपड़े के 'बाने' को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त हुआ है, और यहाँ 'ताने' को 'अनुछाद' कहा गया है।

१. पर्वत ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में 'गिरि' शब्द के साथ, 'पहाड़' अथवा 'पहाड़ी' के आशय में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद[3] और उसके बाद[4] से इसी आशय में इसका पर्वतों के बीच प्रवाहित होने वाली नदियों के जल के साथ सम्बद्ध होने के रूप में सामान्य प्रयोग मिलता है।[5] पर्वतों के पंखयुक्त होने की कथा भी संहिताओं[6] तक में मिलती है। कौषीतकि उपनिषद्[7] में 'दक्षिण' और 'उत्तर' पर्वतों का उल्लेख है, जिनसे प्रत्यक्षतः विन्ध्य और हिमालय नामक पर्वतों का सन्दर्भ प्रतीत होता है। पर्वतों पर प्राप्त होनेवाले पौधों (ओषधि) और सुगन्धिपूर्ण (अञ्जन) पदार्थों का अथर्ववेद[8] में, और खनिज भण्डार का ऋग्वेद[9] में, उल्लेख है।

[1] १. ३७, ७; ५. ५६, ४।

[2] अथर्ववेद ४. ६, ८; ६. १२, ३; १७, ३; ९. १, १८; १२. १, ११।

[3] १. ३९, ५; ५२, २; १५५, १; १९१, ९; २. १२, २. ३; १७, ५, इत्यादि।

[4] अथर्ववेद १. १४, १; ३. २१, १०; ४. ९, ८; ८. ७, १७; तैत्तिरीय संहिता ३. ४, ५, १; वाजसनेयि संहिता १७. १; १८. १३, इत्यादि।

[5] ऋग्वेद ७. ३४, २३, ३५, ८; ८, १८, १६; ३१, १०; १०. ३५, २; ३६, १; इत्यादि; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, १. ८०; २, ६६।

[6] काठक संहिता ३६. ९; मैत्रायणी संहिता १. १०, १३; और ऋग्वेद ४. ५४, ५; की जैसी पिशल ने वेदिशे स्टूडियन १, १७४, में व्याख्या की है।

[7] २. १३; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०७; कीथ : शांखायन आरण्यक, २८, नोट १।

[8] १९. ४४, ६; ४५, ७।

[9] १०. ६९, ६।

२. पर्वत ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर, लुडविग[2] के अनुसार ऐसे यज्ञ-कर्ता का द्योतक है जिसकी उदारता की प्रशस्ति की गई है। किन्तु ऐसा भी सम्भव है कि यहाँ पर्वतों की आत्मा अथवा पर्वत-देवता का ही आशय हो।[3]

[1] ७. ८७, ८।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५९।

[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।

३. पर्वत का, नारद के साथ-साथ, ऐतरेय ब्राह्मण[1] में अनेक बार उल्लेख है। अनुक्रमणी द्वारा इसे ऋग्वेद[2] के अनेक सूक्तों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है।

[1] ७. १३, ३४; ८. २१; शांखायन श्रौत सूत्र १५. १७, ४।

[2] ८. १२; ९. १०४; १०५।

पर्वन् नरकट की गाँठों अथवा पौधों के जोड़ो का,[1] और अधिक सामान्य रूप से शरीर[2] के किसी अंग अथवा हाँथ-पैर का, द्योतक है। सम्भवतः पूर्णिमा और अमावस्या द्वारा मास के विभाजित होने के सन्दर्भ में, यह समय-अवधि का भी द्योतक है।[3] एक स्थल[4] पर गेल्डनर[5] के विचार से यह शब्द सामवेद के किसी गीत-खण्ड को व्यक्त करता है।

[1] अथर्ववेद १२. ३, ३१; तैत्तिरीय संहिता १. १, २, १; शतपथ ब्राह्मण ६. ३, १, ३१, और तु० की० ऋग्वेद १०. ६८, ९।

[2] ऋग्वेद १. ६१, १२; ४. १९, ९; ८. ४८, ५; १०. ८९, ८; अथर्ववेद १. ११, १; १२, २; २. ९, १; ६. १४, १; ११. ८, १२; १२. ५, ७१; ऐतरेय ब्राह्मण ३. ३१; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३५ और बाद; ३. ४, ४, २; ६. १, २, ३१; १०. ४, ५, २, इत्यादि।

[3] ऋग्वेद १. ९४, ४; वाजसनेयि संहिता, १३. ४३; शतपथ ब्राह्मण १. ६, ३, ३५; ६. २, २, ३४, इत्यादि। तु० की० **मास**। सूत्रों में चतुर्मासीय उत्सवों (चातुर्मास्य) के दिनों को इसी प्रकार व्यक्त किया गया है; कात्यायन श्रौत सूत्र ५. २, १३; २२. ७, १. १६. १७; २४. ४, ३०; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १४. ५, ६; १०, ४. १८; आश्वलायन श्रौत सूत्र ९. २, ३; और अधिकतर चन्द्रमा के परिवर्तन की अवधियों को व्यक्त करने के रूप में, कात्यायन श्रौत सूत्र २४. ६, ४. २५. ३०; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. २, १; ३, १; लाट्यायन श्रौत सूत्र ८. ८, ४६, इत्यादि।

[4] ७. १०३, ५।

[5] ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०७।

तु० की० त्सिमर: आल्टिन्डिशे लेबेन, ३६४, जो टैसिटस: जर्मेनियाँ, ११, का उद्धरण देते हैं।

पर्शान (खोखला) का अनेक बार ऋग्वेद (७. १०४, ५, ८. ७, ३४; ४५, ४१) में उल्लेख है।

१. पर्शु अथर्ववेद[1] और बाद[2] में 'पसलियों' का द्योतक है। तु० की० *शरीर*।

[1] ९. ७, ६; १०. ९, २०; ११. ३, १२।

[2] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, २५, १; काठक संहिता ३१. १; शतपथ ब्राह्मण ८. ६, २, १०; १०. ६, ४, १; १२. ३, १, ६; षड्विंश ब्राह्मण, १. ३, इत्यादि।

२. पर्शु कुछ स्थलों[1] पर 'हँसिया' का द्योतक प्रतीत होता है, और प्रत्यक्षतः 'परशु' शब्द का ही एक विभेदात्मक रूप है।

[1] अथर्ववेद १२. ३, ३१ (कौशिक सूत्र १. २४. २५; ८. ११; ६१, ३८. ३९); सम्भवतः ७. २८, १ = तैत्तिरीय संहिता ३. २, ४, १। देखिये ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ४०७, ४०८; बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ४, २६ (जहाँ 'पर्शु' छन्द की दृष्टि से आवश्यक है) इत्यादि। तु० की० बौटलिङ्क: कोश, व० स्था०।

३. पर्शु की, निरुक्त[1] द्वारा ऋग्वेद[2] के एक स्थल पर 'कूप'[3] के पार्श्वों के अर्थ में व्याख्या की गई है। किन्तु इस स्थल पर 'पसलियों' का ही आशय सर्वथा पर्याप्त है।

[1] ४. ६।
[2] १. १०५, ८; १०. ३३, २।
[3] औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १००; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०७।

४. पर्शु ऋग्वेद[1] की एक दान-स्तुति में किसी व्यक्ति के नाम के रूप में आता है। *तिरिन्दिर* के साथ इसका समीकरण निश्चित नहीं है, किन्तु शाङ्खायन श्रौत सूत्र[2] में *वत्स काण्व* के प्रतिपालक के रूप में 'तिरिन्दिर पारशव्य' का उल्लेख है। वृषाकपि-सूक्त[3] में आनेवाले एक अन्य स्थल पर, प्रत्यक्षतः एक स्त्री और मनु की पुत्री के रूप में 'पर्शु मानवी' नाम आता है, किन्तु इससे किसका तात्पर्य है यह कह सकना सर्वथा असम्भव है। इन दो स्थलों के अतिरिक्त ऋग्वेद का अन्य कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ इसे व्यक्तिवाचक नाम मानने की कोई सम्भावना हो।

फिर भी, लुडविग[4] अनेक अन्य स्थलों पर पर्शुओं का आशय देखते हैं। इस प्रकार आप ऋग्वेद[5] के एक स्थल पर पर्शुओं द्वारा *कुरुश्रवण* के पराजित होने का सन्दर्भ मानते हैं। एक अन्य[6] पर भी आप 'पृथुओं' और पर्शुओं, अर्थात् पार्थियनों और पर्शियनों का, सन्दर्भ मानते हैं। एक सूक्त[7] में मिलने

[1] ८. ६, ४६।
[2] १६. ११, २०।
[3] १०. ८६, २३। प्रत्यक्षतः पाणिनि, ४. १, १७७, पर वार्त्तिक २, जहाँ 'पर्शु' की एक स्त्री के रूप में व्याख्या की गई है और पर्शुओं की राजकुमारी का इसी स्थल से सन्दर्भ है। इसके आशय के लिये, तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, ४२; ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०७; और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. २, २, २ जहाँ यह व्याहृति आती तो है किन्तु इसका आशय अत्यन्त सन्दिग्ध है।
[4] ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १९६ और बाद।
[5] १०. ३३, २। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ इसका आशय 'पसलियाँ' है। देखिये, गेल्डनर : उ० पु० २, १८४, नोट ३; बर्गेन : रिलीजन वेदिके, २, ३६३, नोट।
[6] ७. ८३, १, 'पृथु-पर्शवः' जिसका अर्थ या तो 'बड़ी पसलियोंवाला', अर्थात् 'शक्तिशाली' है, जैसा कि सायण से सहमत होते हुये रौथ मानते हैं—अथवा त्सिमर के अनुसार, 'चौड़ी कुठारोंवाला' है।
[7] ६. २७, ८।

वाले *पार्थव* नाम में भी आप पार्थियनों का ही आशय देखते हैं। वेबर[8] ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है, जिनका विचार है कि यहाँ पर्शिया के लोगों के साथ ऐतिहासिक सम्बन्धों का ही सन्दर्भ है। किन्तु त्सिमर[9] के मत से यह निष्कर्ष उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पर्शुगण पाणिनि[10] को एक योद्धा जाति के रूप में परिचित थे। पारशवगण *मध्यदेश* के दक्षिण-पश्चिम में रहनेवाली एक जाति के लोग थे; और पेरिप्लस[11] भी उत्तर भारत में रहनेवाली एक 'पार्थोइ' जाति से परिचित हैं। अतः अधिक से अधिक यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईरानी और भारतीय बहुत पहले से परस्पर सम्बद्ध थे, और वस्तु-स्थिति भी ऐसी ही है। परन्तु वास्तविक ऐतिहासिक सम्पर्क की बहुत निश्चयपूर्वक पुष्टि नहीं की जा सकती।

[8] इन्डिशे स्टूडियन, ४, ३७९; इन्डियन लिटरेचर, ४; ए० रि०, ३६ और बाद। आप अपने मत को ऋग्वेद ८. ६, ४६ के 'पर्शु' और पर्शियनों के समीकरण तक ही सीमित रखते हैं। हिलेब्रान्ट, जो बहुत पहले के समय से ही ईरान के साथ सम्बन्ध मानते हैं, (देखिये **पणि, पारावत, सृञ्जय**), इस सन्दर्भ में 'पर्शु' का कहीं भी उद्धरण नहीं देते; और यद्यपि आप 'पार्थव' का उल्लेख तो करते हैं, तथापि उससे सम्भवतः 'पर्थियनों' का आशय नहीं मानते (वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५)। ब्रुनहॉफर ने अपनी विभिन्न कृतियों (ईरान उन्ट तूरान, १८८९, इत्यादि) में ऐसा उल्लेख किया है कि वेदों में ईरान में घटित होनेवाली घटनाओं के अनेक सन्दर्भ है। किन्तु आपके सिद्धान्तों को निश्चित रूप से अवैज्ञानिक मानना चाहिये। देखिये, हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो०, १५, २६४, नोट।

[9] आल्टिन्डिशे लेबेन, १३४, और बाद; ४३३। वही, ४३४, ४३५, आप लुडविग के इस असाधारण दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं कि 'पृथु' और 'पर्शु' दोनों एक ही शब्द के विभिन्न प्रादेशिक रूप हैं।

[10] ५. ३, ११७।

[11] १००. ३८।

पर्श ऋग्वेद[1] में आता है और बहुवचन रूप में खलिहान की भूमि पर पड़े अन्न के पौधों के 'गट्ठरों' का द्योतक है। तु० की० *खल*।

[1] १०. ४८, ७; निरुक्त ३. १०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २३८। सम्भवतः शतपथ ब्राह्मण १२. ४, २, ५ में 'इषु-पर्षिन्' यौगिक शब्द में 'पर्षिन्' का अर्थ 'एक गट्ठर (वाणों का) रखने वाला' है।

पलद अथर्ववेद[1] के सूक्त में दो वार एक गृह के वर्णन के अन्तर्गत

[1] ९. ३, ५, १७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, १५३; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त १९४, १९५।

आता है। इससे नरकट अथवा फूस के उन गट्ठरों का अर्थ प्रतीत होता है जिनका घर को छाने और उसकी दीवारों को वायु तथा ऋतु के प्रभाव से बचाने के लिये प्रयोग किया जाता था।

पलस्ति—देखिये *पलित*।

पलाल अथर्ववेद (८. ६, २) में किसी दानव के नाम के रूप में 'अनु-पलाल' के साथ आता है। इस शब्द का अर्थ 'फूस' है, और कौशिक सूत्र (८०. २७) में यह इसी आशय में आता है, जब कि इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'पलाली' स्वयं अथर्ववेद (२. ८, ३) में ही *यव* (जौ) के तृण के अर्थ में मिलता है।

पलाव, अथर्ववेद[1] और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[2] में 'भूसे' के आशय में मिलता है।

[1] १२. ३, १८, जहाँ कुछ पाण्डुलिपियों में 'पलावा' पाठ है।

[2] १. ५४, १।

पलाश भी, *पर्ण* की ही भाँति, ब्राह्मणों[1] में 'पत्ते' का द्योतक है। यह उस वृक्ष (Butea frondosa) का भी[2] द्योतक है जिसका पहले का नाम 'पर्ण' था।

[1] कौषीतकि ब्राह्मण १०. २; शतपथ ब्राह्मण १. ५, ४, ५; ५. २, १, १७, इत्यादि; छान्दोग्य उपनिषद् ४. १४, ३।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण २. १; शतपथ ब्राह्मण १. ३, ३, १०; २. ६, २, ८, इत्यादि। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ५९।

पलित—(पके बालवाला) ऋग्वेद[1] और उसके बाद[2] से अक्सर मिलता है। यह वृद्धावस्था का स्पष्ट चिह्न है। *जमदग्नि* के कुछ वंशजों की भाँति, जो कभी भी वृद्ध नहीं होते[3] उन्हें कभी श्वेतकेशी न होनेवाला कहा गया है, जब कि *भरद्वाज* के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन है कि वह अपनी वृद्धावस्था में कृशकाय और श्वेतकेशी हो गये थे।[4] एक स्थल पर शतपथ

[1] १. १४४, ४; १६४, १; ३. ५५, ९; १०. ४, ५, इत्यादि।

[2] वाजसनेयि संहिता ३०. १५, इत्यादि।

[3] तैत्तिरीय संहिता ७. १, ९, १; पञ्चविंश ब्राह्मण २१. १०, ६। तु० की० हॉपकिन्स : ट्रा० सा०, १५, ५४, और ऋग्वेद ३. ५३, १६, जहाँ 'पलस्ति' का अर्थ 'पलित' प्रतीत होता है।

[4] ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४९।

ब्राह्मण[५] में यह कथन है कि सर्वप्रथम सर के बाल श्वेत होते हैं। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र[६] भुजाओं के बालों के श्वेत हो गये होने का भी वर्णन है।

[५] ११. ४, १, ६. १४।
[६] ३. ८, २, २५।

पल्पूलन अथर्ववेद[१] और तैत्तिरीय संहिताओं[२] में मिलता है। प्रत्यक्षतः इसका अर्थ 'क्षारजल', अथवा वस्त्रादि धोने के लिये प्रयुक्त ऐसा जल है, जिसमें मैल काटने वाला कोई पदार्थ मिला हो। अथर्वन स्थल पर इससे 'मूत्र' अर्थ प्रतीत होता है।[३] इसका क्रिया रूप 'पल्पूलय' (क्षारयुक्त जल से धोना) तैत्तिरीय संहिता[२] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[४] में आता है, और सूत्रों में चर्म[५] तथा परिधान[६] के इस प्रकार के जल में धोये जाने का उल्लेख है। तुलना कीजिये *वासःपल्पूली* भी।

[१] १२. ४, ९। तु० की० कौशिक सूत्र ११. १६।
[२] २. ५, ५, ६।
[३] ह्विट्नी : अथर्ववेद का अनुवाद, ६९५। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त, ७४, १७५।
[४] १. ३, ५, २. ३।
[५] कौशिक सूत्र ६७।
[६] शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३. ८, १२। तु० की० बौधायन धर्म सूत्र, १. ६, १३, १५; बौटलिङ्क : कोश, व० स्था०।

पल्लि-गुप्त लौहित्य ('लोहित' का वंशज) का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (३. ४२, १) के एक वंश (गुरुओं की तालिका) में *श्यामजयन्त लौहित्य* के शिष्य के रूप में उल्लेख है। यह स्पष्टतः एक बाद का ही नाम है, क्योंकि प्राचीन साहित्य में 'पल्लि' नहीं मिलता; साथ ही, लौहित्य परिवार का भी केवल वैदिकोत्तर साहित्य में ही उल्लेख है।

पवन अथर्ववेद[१] में, तृण से अन्न को पृथक् करने के लिये प्रयुक्त किसी यन्त्र का द्योतक है। अतः इससे एक 'चलनी' अथवा 'ओसाने की टोकरी' अर्थ हो सकता है। सूत्रों[२] में इसका अन्त्येष्टि के पश्चात् मृतक की अस्थियाँ स्वच्छ करने के लिये प्रयुक्त होने के रूप में उल्लेख है।

[१] ४. ३४. २; १८. ३, ११। तु० की० निरुक्त, ६. ९।
[२] आश्वलायन गृह्य सूत्र ४. ५, ७।

पवमान एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद में अक्सर ही, छनने से होकर 'अपने को स्वच्छ' करनेवाले सोम के लिये व्यवहृत हुआ है। बाद में यह कुछ स्थलों[१] पर 'वायु' के लिये (एक परिष्कारक के आशय में) आता है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, २०, १; वाजसनेयि संहिता ६. १७; ऐतरेय ब्राह्मण १. ७।

पवस्त अथर्ववेद[1] के एक स्थल पर, प्रत्यक्षतः 'आच्छादन' का द्योतक है।

[1] ४. ५. ६। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, १५६।

पवि, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में रथ के 'चक्रवेष्ठन' का द्योतक है। इसे सुदृढ रूप से लगाने की आवश्यकता का सन्दर्भ[3] मिलता है; और 'सु-नाभि' (श्रेष्ठ नाभिवाला) तथा 'सु-चक्र' (श्रेष्ठ पहियोंवाला) के साथ-साथ अथर्ववेद[4] में 'सु-पवि' (श्रेष्ठ चक्रवेष्ठनवाला) उपाधि भी मिलती है। यह वेष्टन निःसन्देह धातु[5] के बने तथा तीक्ष्ण[6] होने के कारण अक्सर आयुध के रूप में भी प्रयुक्त हो सकते थे।[7] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में, वाजसनेयि संहिता[8] के एक स्थल पर 'पवि' को सोम दबाने के लिये प्रयुक्त पत्थर पर चढ़े धातु के वेष्ठन के अर्थ में ग्रहण किया गया है; किन्तु यह असम्भाव्य प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रकार के धातु के उपकरण का अन्यत्र कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। हिलेब्रान्ट[9] इस स्थल पर 'तीक्ष्ण किनारा' आशय मानते हुये स्पष्टतः ठीक प्रतीत होते हैं; मुख्यतः इसलिये कि इस प्रकार के पत्थरों को, उनकी चक्रात्मक गति के कारण, ऋग्वेद[10] में 'बिना रथ और बिना अश्व के चक्रवेष्ठन' (अनश्वासः पवयोऽरथाः) कहा गया है।

निरुक्त[11] में 'पवि' को वाण (शल्य) का आशय प्रदान किया गया है, किन्तु यह अत्यन्त अनिश्चित है। इसी आशय के प्रयोग के लिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में ऋग्वेद[12] के दो स्थलों का उद्धरण दिया गया है; किन्तु इनमें से एक स्थल पर इन्द्र के वज्र के सन्दर्भ में 'तीक्ष्ण धारवाला अस्त्र' जैसा इस शब्द का एक गौण आशय सर्वथा सम्भव है, और दूसरे स्थल पर, जहाँ 'वाणस्य पवि' व्याहृति आती है, सोम पौधे के काण्ड के अर्थ में प्रयुक्त

[1] १. ३४, २,; ८८, २; १३९, ३; १६६, १०, इत्यादि; निरुक्त, ५. ५।
[2] सामवेद, २. ७, १, १५, ३, इत्यादि।
[3] ऋग्वेद ६. ५४, ३।
[4] अथर्ववेद ४. १२, ६।
[5] अश्विनों और मरुतों का 'चक्रवेष्ठन' स्वर्ण का होता है, ऋग्वेद १. ६४, ११; १८०, १।
[6] ऋग्वेद १. १६६, १०।
[7] ऋग्वेद ५. ५२, ९। तु० की० ६. ८, ५, और १०. १८०, २।
[8] ६. ३०। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ३. ९, ४, ५। वाजसनेयि संहिता पर भाष्य करते हुए महीधर, 'पविना' को 'वज्रसदृशेन' के रूप में ग्रहण करते हैं, और एग्लिङ्ग : से० बु० ई०, २६, २३९, २४०, 'पवि' का 'वज्र' अनुवाद करते हैं।
[9] वेदिशे माइथोलोजी, १, ४४।
[10] ५. ३१, ५।
[11] १२. ३०।
[12] ९. ५०, १; १०. १८०, २।

'नरकट'[13] को दबानेवाले तीक्ष्ण धार युक्त पत्थर का आशय हो सकता है। हिलेब्रान्ट[14] का विचार है कि यहाँ सोम-पौधे के आकार से तात्पर्य है। अथर्ववेद[15] में वर्णित एक दानव का 'पवी-नस' नाम भी इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डालता, क्योंकि जहाँ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश इसे 'जिसकी नासिका भाले की नोक जैसी हो' के अर्थ में ग्रहण करता है, वहीं ह्निट्ने[16] इसका 'चक्रवत-नासिका वाला' (सम्भवतः नासिका के वक्र आकार को उद्दिष्ट करके) अनुवाद करते हैं।

[13] तु० की० ऋग्वेद ४. २४, ९, जहाँ 'वार्णं दुहन्ति' व्याहृति आती है।
[14] उ० पु० १, ४३, ४४।
[15] ८. ६, २१।
[16] अथर्ववेद का अनुवाद, ४९७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, २४८; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, २, १२, नोट १।

पवित्र, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में, सोम को परिष्कृत करने के लिये प्रयुक्त छन्ने का द्योतक है। सोम के परिष्कार की एक मात्र यही विधि ऋग्वेद के समय में निश्चित[3] रूप से ज्ञात थी। यह स्पष्ट रूप[4] से भेड़ के ऊन से बना प्रतीत होता है। परन्तु इसका ऊन बिना होता था अथवा जमाया, यह निश्चित नहीं है, क्योंकि इसे व्यक्त करनेवाली व्याहृतियाँ इतनी अधिक अस्पष्ट हैं कि उनके आधार पर कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता, यद्यपि त्सिमर[5] का विचार है कि 'ह्वरांसि'[6] शब्द से जमाये हुये का आशय व्यक्त होता है।

[1] १. २८, ९; ३. ३६, ७; ८. ३३, १; १०१, ९, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ६. १२४, ३; ९. ६, १६; १२. १, ३०; ३, ३. १४. २५, इत्यादि।
[3] तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी १. २३९, २४०।
[4] तु० की० इसके नाम : 'अण्व', ऋग्वेद ९. १६, २; 'अण्वानि मेष्यः', ८६, ४७; १०७, ११; 'अवयः', २. ३६, १; ९. ८६, ११; ९१, २; 'अव्य' अथवा 'अव्यय' के साथ 'त्वच्', ९. ६९, ३; ७०, ७; 'मेष्यः', ९. ८, ५; 'रूप अव्यय ९. १६, ६; 'रोमन्', अकेले अथवा 'अव्यय' के साथ; 'वार', अकेले अथवा 'अव्यय' के साथ, इत्यादि।
[5] आल्टिन्डिशे लेबेन २७८, नोट।
[6] ९. ३, २; ६३, ४।

पवीर, निरुक्त[1] के अनुसार, 'तोमर' का द्योतक है। इस शब्द से व्युत्पन्न 'पवीरवन्त्' अथवा 'पवीरव' उपाधि, जो अथर्ववेद[2] और यजुर्वेद संहिताओं[3]

[1] १२. ३०। ऋग्वेद १. १७४, ४, में में 'पवीरव' का सम्भवतः 'वज्र' अर्थ प्रतीत होता है।
[2] ३. १७, ३।
[3] 'पवीरवन्त्', वाजसनेयि संहिता १२. ७१; 'पवीरव' तैत्तिरीय संहिता १०. २, ५, ६; मैत्रायणी संहिता, २. ७, १२; काठक संहिता १६. ११।

में मिलती है, सम्भवतः 'एक धातु की नोक से युक्त होने' के आशय में 'हल' के लिये प्रयुक्त हुई है। यहीं उपाधि ऋग्वेद[४] में भी आती है जहाँ यह 'अंकुश से युक्त' अथवा 'भाले से युक्त' होने के आशय में, मनुष्य के लिये व्यवहृत हुई है।

[४] १०. ६०, ३।
तु० की० ह्विट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद, ११६।

पवीरु, ऋग्वेद[१] के एक सूक्त में एक *रुशम* के रूप में आता है, जो एक राजा, अथवा कम से कम एक सम्पन्न और संभ्रान्त व्यक्ति था।

[१] ८. ५१, ९ = वाजसनेयि संहिता, ३३. ८२

पशु का, सामान्यतया, 'पशु' (जानवर) अर्थ है जिसके अन्तर्गत मनुष्य भी आ जाते हैं। पाँच यज्ञीय पशुओं—अश्व, गाय, भेड़, बकरा और मनुष्य—का अक्सर ही उल्लेख[१] मिलता है। अथर्ववेद[२] और बाद[३] में इस प्रकार के सात पशुओं की चर्चा की गई है। जैसा कि ह्विट्ने[४] का विचार है, यहाँ सम्भवतः केवल एक रहस्यवादी संख्या के रूप में ही 'सात' का उल्लेख है, न कि जैसी भाष्यकार[५] की व्याख्या है कि यहाँ सामान्य रूप से उक्त पाँच पशुओं के अतिरिक्त गदहे और ऊँट को भी सम्मिलित कर लिया गया है। पशुओं का 'उभयदन्त्' और 'अन्यतोदन्त्' के रूप में भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इनका इस आधार पर भी वर्गीकरण[६] किया गया है कि कुछ हाथ

[१] तैत्तिरीय संहिता, ४. २, १०, १-४; काठक संहिता १६. १७; मैत्रायणी संहिता २. ७, १७; वाजसनेयि संहिता १३. ४७-५१। तु० की० अथर्ववेद, ११. २, ९; तैत्तिरीय संहिता ४. ३, १०, १-३; ५. ५, १, १. २; ६. ५, १०, १; वाजसनेयि संहिता १४. २८-३१, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ३. १०, ६।

[३] शतपथ ब्राह्मण २. ८, ४, १६; ९. ३, १, २०; १२. ८, ३, १३ (जहाँ इन्हें 'जागताः' कहा गया है, जिनकी संख्या सम्भवतः बारह है); पञ्चविंश ब्राह्मण, १०. २, १।

[४] अथर्ववेद का अनुवाद, १०३।

[५] अथर्ववेद ३. १०, ६, पर। सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, सात की संख्या को पूर्ण करने वालों के रूप में 'खच्चर' और 'गदहे' का उल्लेख करता है (तु० की० महाभारत ६. १६५ और बाद)। त्सिमर (आल्टिन्टिशे लेबेन, ७६) का विचार है कि 'बकरी', 'भेड़', 'बैल', 'अश्व', 'कुत्ता', गदहा', और 'ऊँट' अथवा 'खच्चर' से तात्पर्य है।

[६] तैत्तिरीय संहिता ६. ४, ५, ७; मैत्रायणी संहिता ४. ५, ७ (जहाँ 'परुप' को 'पुरुप' पढ़ना चाहिये)।

से पकड़नेवाले (हस्तादानाः), जैसे 'पुरुष', 'हस्तिन्', और 'मर्कट', तथा कुछ मुख से पकड़नेवाले (मुखादानाः) होते हैं। 'द्विपाद्' और 'चतुष्पाद्' के रूप में इनका एक अन्य विभाजन भी मिलता है।[७] मनुष्य एक 'द्विपाद्' पशु है[८]; वह पशुओं में 'प्रथम' है[९]; पशुओं में अकेले वही सौ वर्ष तक जीवित रहता है (शतायुस्)[१०], और वह पशुओं का राजा है।[११] अन्य पशुओं के साथ वह भी वाणी (वाच्) से युक्त है।[१२] ऐतरेय आरण्यक[१३] में बुद्धि की दृष्टि से 'शाक', 'पशु' और 'मनुष्य' में सविस्तार विभेद किया गया है।

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पशुओं को ऋग्वेद[१४] में तीन वर्गों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है—यथा: जो वायुमण्डल में रहते हैं (वायव्य), जो वन में रहते हैं (आरण्य), और जो गावों में रहते (ग्राम्य) अथवा पालतू होते हैं। 'आरण्य' और 'ग्राम्य' के रूप में पशुओं का विभाजन बहुत प्रचलित है।[१५] 'एक-शफ' (एक खुरवाले), क्षुद्र (छोटे), और 'आरण्य' के रूप में भी यजुर्वेद संहिताओं[१६] में एक विभाजन मिलता है, जिसमें से प्रथम वर्ग पालतू पशुओं का द्योतक है।[१६] अश्व और गदहे 'एक-शफ' हैं[१७], और भेड़, बकरियाँ, तथा बैल, 'क्षुद्र'। यह विभाजन 'उभयदन्त' और

[७] ऋग्वेद ३. ६२, १४; अथर्ववेद ३. ३४, १, इत्यादि। त्सिमर, ७३, नोट, यह विचार व्यक्त करते हैं, कि यह विभाजन भारोपीय है।

[८] तैत्तिरीय संहिता ४. २, १०, १. २; वाजसनेयि संहिता १७. ४७. ४८।

[९] शतपथ ब्राह्मण ६. २, १, १८; ७. ५, २, ६।

[१०] तैत्तिरीय संहिता ३. २, ६, ३; शतपथ ब्राह्मण ७. २, ५, १७।

[११] काठक संहिता २०, १०; शतपथ ब्राह्मण ४. ५, ५, ७। तु० की० वेबर : इन्डि० स्टू० १८, २७४।

[१२] ऋग्वेद ८. १००, ११।

[१३] २. ३, २, कीथ की टिप्पणी सहित।

[१४] १०. ९०, ८।

[१५] अथर्ववेद ३. ३१, ३। तु० की० २, ३४, १, अथर्ववेद का अनुवाद, ७८ में ह्विट्ने की टिप्पणी सहित; ११. २, २४; मैत्रायणी संहिता ३. २, ३; ९, ७; काठक संहिता १३. १२; तैत्तिरीय आरण्यक ३. २, २९. ३२; शतपथ ब्राह्मण २. ७, १, ८; २, ८। तु० की० ११. ८, ३, २, जहाँ रात्रि के समय पशुओं को उनके गोष्ठों में बाँध दिये जाने का सन्दर्भ है।

[१६] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, १०, २; वाजसनेयि संहिता १४. ३०।

[१७] त्सिमर, ७४।

'अन्यतोदन्त्' विभाजनों के समानान्तर ही है।[18] त्सिमर[19] ने अथर्ववेद[20] के एक स्थल पर 'आरण्य' पशुओं का पाँच वर्गों के अन्तर्गत एक विभाजन देखा है : (१) वन के ऐसे पशु जिनका 'वन में रहनेवाले भयकारक पशुओं' (मृगा भीमा वने हिताः) के रूप में वर्णन किया गया है; (२) पंखयुक्त जीव, जिनका *हंस*, *सुपर्ण*, *शकुन* आदि प्रतिनिधित्व करते हैं; (३) 'उभयचर' पशु, जैसे *शिंशुमार*, और *अजगर* आदि; (४) 'मछलियाँ', *पुरीकय*, *जष*, और *मत्स्य* आदि; (५) कीड़े-मकोड़े (जिनका 'रजसाः' के रूप में वर्णन किया गया है)। किन्तु यह विभाजन एक सम्भावना की अपेक्षा पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अधिक है, और ब्लूमफील्ड[21] तथा व्हिट्ने[22] ने इसकी उपेक्षा की है।

[18] तु० की० अथर्ववेद ५. ३१, ३; तैत्तिरीय संहिता २. २, ६, ३, और इसी के साथ तैत्तिरीय संहिता २. १, १, ५; ५. १, १, ३; २, ६।

[19] उ० पु० ७७, ७८।

[20] १२. १, ४९. ५१ के साथ ११. २, २४. २५ की तुलना करते हुए।

[21] अथर्ववेद के सूक्त ६३१।

[22] अथर्ववेद का अनुवाद ६३३, ६३४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७२-७७।

पशु-प, ऋग्वेद[1] में 'पशु पालनेवालों' का द्योतक है। लाक्षणिक रूप से यह शब्द पूषन्[2] के लिये भी व्यवहृत हुआ है।

[1] १. ११४, ९; १४४, ६; ४. ६, ४; १०. १४२, २।

[2] ६. ५८, २। तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. १, २, १२, में पूषन् और रेवती का।

१. पष्ठ-वाह्, यजुर्वेद संहिताओं[1] में आता है जहाँ भाष्यकारों के अनुसार इसका अर्थ, चार वर्ष का, बैल है। फिर भी यहाँ वर्ष का निश्चय अत्यन्त सन्दिग्ध है क्योंकि बहुधा[2] मिलनेवाला शब्द 'पष्ठौही' (गाय) एक स्थल[3] पर 'प्रथम-गर्भाः' (प्रथम बछड़ेवाली) विशेषण के साथ आता है, जो भाष्यकारों द्वारा उक्त आयु को स्वीकार करने के सिद्धान्त को अमान्य कर देता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ४. ३, ५, २; वाजसनेयि संहिता १४. ९; १८. २७; २१. १७; २४. १३. २८. २९, इत्यादि।

[2] तैत्तिरीय संहिता ७. १, ६, ३; काठक संहिता ११. २; १२. ८; वाजसनेयि संहिता १८. २७; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ३, ३; ८, ३, २; २. ७, २, २, इत्यादि।

[3] शतपथ ब्राह्मण ४. ६, १, ११।

२. पष्ठ-वाह् का सामनों के एक द्रष्टा के रूप में पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] १२. ५, ११। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १६०।

पस्त्य-सद् (घर में बैठना) ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर आता है जहाँ इसका 'घर में रहनेवाला' या 'साथी', आशय प्रतीत होता है।

[1] ६. ५१, ९। तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, २११।

पस्त्या (स्त्री०, बहु०) एक ऐसा शब्द है जो ऋग्वेद[1] के अनेक स्थलों पर आता है। एक विस्तृत आशय में रौथ[2] इस शब्द से 'गृह' अथवा 'आवास' का, और साथ ही साथ, गृह में निवास करनेवाले 'परिवार' का भी, आशय मानते हैं। त्सिमर[3] ने भी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। दूसरी ओर पिशल[4] ने बहुधा 'पस्त्या' का ही सन्दर्भ माने गये दो स्थलों[5] पर उस क्लीव शब्द 'पस्त्य' का आशय माना है, जो पस्त्य-सद् और पस्त्या-वन्त् (जहाँ शब्द के द्वितीय खण्ड का आकार बहुत पुरातन नहीं है) शब्दों में मिलता है, और जो ऋग्वेद[6] में नैघण्टुक[7] द्वारा प्रदत्त 'आवास' के आशय में निश्चित रूप

[1] ऋग्वेद १. २५, १०; ४०, ७; १६४, ३०; ४. १, ११; ६. ४९, ९; ७. ९७, ५; ९. ६५, २३; १०. ४६, ६। देखिये ४. ५५, ३; ८. २७, ५, भी, जहाँ 'पस्त्या' एक देवी के रूप में आता है।

[2] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन १४९। तु० की० वेबर : ऊबर डेन राजसूय, ४३, नोट ४; ६३।

[4] वेदिशे स्टूडियन २, २११-२२२। इसी प्रकार गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०७।

[5] ६. ४९, ९; ७. ९७, ५, जहाँ एक गृहस्थ ('गृह-स्थ', अथवा जैसा कि सायण ने इसका 'गृहिन्' अनुवाद किया है) का आशय है।

[6] १०. ९६, १०. ११। १०. ९६, १०, में रौथ 'पस्त्योः' को सोम दबानेवाले उपकरण के दो भागों का द्योतक मानते हैं; किन्तु पिशल, २, २११, 'आकाश और पृथिवी' के रूप में किये गये सायण के अनुवाद को ही स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद ८. ३९, ८ में अग्नि के 'त्रि-पस्त्य'; ६. ५८, २ में पूषन्, और ९, ९८, १२ में सोम के 'वाज-पस्त्य'; और ५. ५०, ४ में 'वीर-पस्त्य' आदि यौगिक शब्दों में पुरातन रूप वास्तव में 'पस्त्य' ही रहा होगा 'पस्त्या' नहीं।

[7] ३. ४, जिसका ऋग्वेद १. १५१, २ पर सायण ने 'पस्त्या' के लिये व्यवहृत हुये होने के रूप में गलत उद्धरण दिया है, क्योंकि वास्तव में इससे 'पस्त्य' का ही सन्दर्भ है।

से आता है। अन्य स्थलों[8] पर आपका विचार है कि इस शब्द का अर्थ 'नदियाँ' अथवा 'जल' है; मुख्यतः जहाँ 'पस्त्यों'[9] के मध्य सोम की चर्चा है, वहाँ आप *आपया*, *दृषद्वती*, और *सरस्वती* (तु० की० *पस्त्यावन्त्*) आदि अनेक नदियोंवाले[10] *कुरुक्षेत्र* नामक स्थान का सन्दर्भ देखते हैं। कुछ स्थानों[11] पर आप 'पस्त्या' में भी उसी प्रकार किसी नदी के व्यक्तिवाचक नाम का आशय देखते हैं जिस प्रकार 'सिन्धु' का अर्थ प्रथमतः एक 'नदी' है और उसके बाद 'सिन्धु' नामक नदी का नाम।

[8] ऋग्वेद १. २५, १० = तैत्तिरीय संहिता १. ८, १६, १ = मैत्रायणी संहिता १. ६, २; २. ६, १२; ७, १६; ४. ४, ६ = वाजसनेयि संहिता १०. २७; ऋग्वेद १. ४०, ७; १६४, ३० (अग्नि के गृह के लिये प्रयुक्त); ४. १, ११; ९. ६५, २३; १०. ४६, ६; तैत्तिरीय संहिता १. ८, १२, १ = मैत्रायणी संहिता २. ६, ८=वाजसनेयि संहिता १०. ७।

[9] ऋग्वेद ९. ६५, २३।

[10] ऋग्वेद ३. २३, ४।

[11] ऋग्वेद ४. ५५, ३; ८. २७, ५; और ९. ९७, १८ में 'पस्त्यावन्त्'।

१. पस्त्या-वन्त्, जिसकी पद-पाठ में 'पस्त्य-वन्त्' के रूप में व्याख्या की गई है, ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है। दो स्थलों[1] पर इससे एक सम्पन्न गृहस्थ का आशय प्रतीत होता है, और दो अन्य पर एक 'गृह' का सन्दर्भ स्पष्ट है।[2]

[1] १. १५१, २; ९. ९७, १८; किन्तु इस बाद के स्थल की पिशल ने पस्त्या नामक नदी और बौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०, ने, 'गोष्ठ में रक्खा हुआ' के रूपों में व्याख्या की है।

[2] 'वर्हि', ऋग्वेद २, ११, १६, (गृह का); 'क्षयान् पस्त्यावतः', ४. ५४, ५, (ऐसे आवास जिनमें रहनेवाले 'स्थायी' हों)।

तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २१२।

२. पस्त्या-वन्त्, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर *सुषोम*, *शर्यणावन्त्* और *आर्जीक* के समानान्तर अधिकरण रूप में आता है। जैसा कि पिशल[2] तर्क उपस्थित करते हैं, इसे प्रत्यक्षतः किसी ऐसे स्थान का ही द्योतक मानना चाहिये जो सम्भवतः 'जलधाराओं के मध्य स्थित' (मध्ये पस्त्यानाम्) उस स्थान के ही समान रहा होगा जिसका अन्यत्र[3] सोम के गृह के रूप में उल्लेख है। पिशल[4] यह मत व्यक्त करते हैं कि इससे 'पतिभाल' का अर्थ है, यद्यपि नाम

[1] ८. ७, २९।

[2] वेदिशे स्टूडियन, २, २०९।

[3] ऋग्वेद ९. ६५, २३।

[4] उ० पु०, २, २१९।

की समानता पर आपने कोई बल नहीं दिया है। 'पतिआल' के उत्तर में ऐसी पहाड़ियाँ थीं जिन पर सोम उगता रहा होगा। रौथ[५] का विचार है कि इससे सोम दबाने से सम्बद्ध किसी उपकरण का तात्पर्य है।

[५] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, २। मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, २६०, ३९८, ३९९, 'पस्त्यावन्त्' को किसी स्थान के नाम के रूप में ग्रहण करते हैं, किन्तु आपका विचार है कि 'पस्त्या' एक छोटे गाँव का, अथवा 'अदिति' की उपाधि के रूप में उसके एक 'गृहणी' होने का, द्योतक है (ऋग्वेद ४. ५५, ३; ८. २७, ५)।

पांसु, बहुधा बहुवचन में, अथर्ववेद[१] तथा बाद[२] में 'धूल' अथवा 'बालू' का द्योतक है। अद्भुत ब्राह्मण[३] में जिन अपशकुनों की गणना कराई गई है उनमें धूल अथवा बालू की वर्षा (पांसु-वर्ष) की भी चर्चा है और यह घटना भारत में बहुत दुर्लभ नहीं है।[४]

[१] ७. १०९, २; १२. १, २६।
[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण २. ६, १०, २; निरुक्त १२. १९, इत्यादि।
[३] ६. ८ (इन्डिशे स्टूडियन, १, ४०)। तु० की० वराहमिहिर : बृहत्संहिता, २२. ६।
[४] विशेषण रूप 'पांसुर' ऋग्वेद १. २२, १७ में, और एक विभेदात्मक रूप 'पांसुल' के साथ सामवेद १. ३, १, ३, ९, में मिलता है। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ४. ५, १, ९।

पाक-दूर्वा को ऋग्वेद[१] के एक मन्त्र में *कियाम्बु* और *व्यल्कशा* के साथ उन पौधों के अन्तर्गत रक्खा गया है जिनको मृत व्यक्ति के अग्नि संस्कार[२] के स्थान पर उगाने के लिये व्यवहार में लाया जाता था। एक विभेदात्मक रूप 'क्याम्बु' के साथ यही मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक[३] में भी आता है। अथर्ववेद[४] में इस शब्द का 'शाण्डदूर्वा' पाठ है। जैसा कि सायण ने माना है, 'पाकदूर्वा' सम्भवतः 'परिपक्व-दूर्वा' (पका हुआ अथवा खाने के योग्य प्रियङ्गु) ही है। भाष्यकार[५] ने 'शाण्डदूर्वा' की अनेक रूपों से, 'अण्डाकार जड़ोंवाले' (अर्थात 'शाण्ड' नहीं वरन् 'साण्ड'), अथवा 'लम्बे जोड़ोंवाले', प्रियङ्गु के रूपों में

[१] १०. १६, १३।
[२] देखिये, ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३४२–३५०; ज० अ० ओ० सो० १५, xxxix।
[३] ६. ४, १, २।
[४] १८. ३, ६।
[५] ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ८५०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ७०।

व्याख्या की है, और साथ ही एक विचार यह भी व्यक्त किया है कि इसे 'वृहद्-दूर्वा' (बड़ा प्रियङ्गु) भी कहते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में 'पाक-दूर्वा' की भाष्य द्वारा छोटे प्रियङ्गु के रूप में व्याख्या की गई है।

पाक-स्थामन् कौरयाण की ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में एक उदार दानी के रूप में प्रशस्ति है। विना पर्याप्त आधार के ही लुडविग[2] ऐसा विचार व्यक्त करते हैं कि यह *अनुओं* का एक राजा रहा होगा।

[1] ८. ३, २१. २४।

[2] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६०।

पाकारु का वाजसनेयि संहिता[1] में *विषूचिका* और *अर्शस* के साथ साथ एक व्याधि के रूप में उल्लेख है। इसकी प्रकृति अज्ञात है, और व्युत्पत्ति[2] 'पके हुये शोथ' या 'फोड़े' के आशय का संकेत करती है।

[1] १२. ९७। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३९३।

[2] 'पाक' (परिपक्व) और 'अरु'='अरुस्' (शोथ) से व्युत्पन्न।

पाङ्क्त्र एक पशु का नाम है जिसका अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में यजुर्वेद संहिताओं[1] में उल्लेख है। इससे 'खेतों में रहनेवाले चूहों' का तात्पर्य प्रतीत होता है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ७; वाजसनेयि संहिता २४. २६। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ८५।

पाञ्च-जन्य (पाँच जातियों से सम्बद्ध)—देखिये *पञ्चजनाः*।

पाञ्चाल का 'पञ्चाल जाति के लोगों का राजा' अर्थ है और यह ऐतरेय ब्राह्मण[1] में *दुर्मुख*, तथा शतपथ ब्राह्मण[2] में *शोण* के लिये व्यवहृत हुआ है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[3] में भी यह शब्द मिलता है। *पञ्चाल* भी देखिये।

[1] ८. २३।

[2] १३. ५, ४, ७।

[3] ३. २९, १। तु० की० इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६०, में काठक अनुक्रमणी।

पाञ्चि ('पञ्चन्' का वंशज) एक गुरु का नाम है जिसका, अमान्य होने के रूप में, शतपथ ब्राह्मण[1] में उल्लेख है।

[1] १. २, ५, ९; २. १, ४, २७। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४३४।

पाटव ('पटु' का वंशज) शतपथ ब्राह्मण (१२.८, १, १७; ९, ३, १) में चाक्र का पैतृक नाम है।

पाटा का अथर्ववेद[1] और कौशिक सूत्र[2] में उल्लेख है। भाष्यकार ने इसे बाद के उस 'पाठा' नामक पौधे (Clypea hernandifolia) के समान माना है जिसका बहुधा ही औषधि के रूप में प्रयोग होता था, और जो रौथ[3] के अनुसार आज भी इसी प्रकार प्रयुक्त होता है। बहुत सम्भवतः इस शब्द का पाठ 'पाठा' ही होना चाहिये।

[1] २. २७, ४।
[2] ३७. १; ३८. १८। तु० की० ऋग्विधान ४. १२, १।
[3] व्हिट्ने : अथर्ववेद के अनुवाद, ६८, में उद्धृत। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, १९०; १७, २६६; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ३०५, नोट १; प्रो० सो०, मई १८८५, xlii–xliv.

पाणि-घ्न (ताली-बजानेवाला) का यजुर्वेद संहिताओं[1] में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। इससे सम्भवतः उस व्यक्ति का तात्पर्य है जो ध्वनि उत्पन्न कर के खेतों से पक्षियों को भगाता है।

[1] वाजसनेयि संहिता ३०. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १५, १।

पाण्ड्व, शतपथ ब्राह्मण (५. ३, ५, २१) में रंग-विहीन ऊनी परिधान का द्योतक है।

पातल्य ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है जहाँ इससे रथ के किसी भाग का अर्थ है। यह कौन सा भाग हो सकता है यह सर्वथा अनिश्चित है। हॉपकिन्स[2] का विचार है, और महाकाव्य में भी जैसा है, यह सम्भवतः गाड़ी के स्तम्भ को सुदृढ़ रखने के लिये धुरे पर लगे लकड़ी के एक टुकड़े का द्योतक है।

[1] ३. ५३, १७।
[2] ज० अ० ओ० सो० १३, २४२, २४३; २०, २२४। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २५१; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०८।

पात्र, प्रमुखतः 'पीने का पात्र' ('पा', अर्थात् 'पीना' से), ऋग्वेद[1] और बाद[2] में सामान्य रूप से किसी भी 'पात्र' (बरतन) का द्योतक है। यह

[1] १. ८२, ४; ११०, ५; १६२, १३ (अश्व के मांस से निकल रहे यूप को ग्रहण करने के लिये); १७५, १; २. ३७, ४; ६. २७, ६, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद ४. १७, ४; ६. १४२, १; ९. ६, १७; १२. ३, २५. ३६; तैत्तिरीय संहिता ५. १, ६, २; ६. ३, ४, १; वाजसनेयि संहिता १६. ६२; १९. ८६, इत्यादि।

लकड़ी[3] अथवा मिट्टी[4] का बना होता था। कुछ स्थलों[5] पर, रौथ के अनुसार, यह शब्द एक नाप को व्यक्त करने के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। स्त्रीलिङ्ग रूप 'पात्री' अक्सर पात्र के आशय में ही आता[6] है।

[3] ऋग्वेद १, १७५, ३।
[4] अथर्ववेद ४. १७, ४।
[5] अथर्ववेद १०. १०, ९; १२. ३, ३०; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, ५; शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६. १, ७, इत्यादि
[6] ऐतरेय ब्राह्मण ८. १७; शतपथ ब्राह्मण १. १, २, ८; २. ५, ३, ६; ६, २, ७; शाङ्खायन श्रौत सूत्र ५. ८, २। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २७१।

पाथ्य—ऋग्वेद[1] में केवल एक बार आनेवाला यह शब्द या तो एक विशेषण है जिसका अर्थ 'आकाश में स्थित' (पाथस्) है, अथवा जैसा कि सायण ने व्याख्या की है, वृषन् का पैतृक नाम है।

[1] ६. १६, १५। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ६. ४, २, ४; मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, १५३।

१. पाद, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में पशु, पक्षी अथवा किसी भी अन्य जीव के 'पैर' का द्योतक है।

[1] १४. १, ६०।
[2] ऐतरेय ब्राह्मण ८. ५. १२; शतपथ ब्राह्मण १२. ८, ३, ६, इत्यादि; कौषीतकि उपनिषद् १. ५।

२. पाद—लम्बाई के एक नाप के रूप यह शतपथ ब्राह्मण[1] में 'पैर' का द्योतक है। कभी कभी[2] वज़न के नाप को व्यक्त करने के लिये भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। एक अंश के रूप में यह 'चतुर्थांश' का द्योतक है और यह आशय एक चतुष्पाद जीव के एक 'पैर' से निष्कृष्ट हुआ है (उसी प्रकार जैसे दो भागों में विभक्त खुर अथवा 'शफ' का अर्थ 'अष्टांश' है)।[3]

[1] ६.५,३,२; ७. २, १, ७; ८. ७, २, १७; आश्वलायन श्रौतसूत्र ६. १०, इत्यादि
[2] निरुक्त २. ७; बृहदारण्यक उपनिषद् ३. १, २।
[3] ऋग्वेद १०. ९०, ३. ४।

३. पाद, ब्राह्मणों[1] में मन्त्र के चतुर्थांश के लिये प्रयुक्त नियमित व्याहृति है। यह केवल 'चतुर्थांश' = चतुष्पाद जीव के एक 'पैर' के आशय का ही वैशिष्टीकरण है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ४. ४; कौषीतकि ब्राह्मण २६. ५; निरुक्त ७. ९; ११. ६; लाट्यायन श्रौतसूत्र १. २, १; १०. ६, ९, इत्यादि।

पान (पीना) शतपथ ब्राह्मण[1] और उपनिषदों[2] में आता है।

[1] १३. ४, २, १७
[2] बृहदारण्यक उपनिषद् ४. १, ४३; छान्दोग्य उपनिषद् ८. २, ७, इत्यादि।

पान्त ऋग्वेद[1] में अनेक बार आता है जहाँ प्रत्यक्षतः[2] इसका अर्थ 'पेय' (तु० की० *पान*) है। फिर भी गेल्डनर[3] का विचार है कि एक स्थल पर 'पान्त' एक राजा का नाम है।

[1] १. १२२, १; १५५, १; ८. ९२, १; ९. ६५, २८ (एक अत्यन्त संदिग्ध स्थल); १०. ८८, १।
[2] निरुक्त ७. २५; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; औल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, १२२, १२३, आदि में यही है।
[3] वेदिशे स्टूडियन, २, १३९; ऋग्वेद, ग्लॉसर, १०८।

पान्-नेजन, शतपथ ब्राह्मण[1] में चरण-प्रक्षालन के लिये प्रयुक्त एक 'पात्र' का द्योतक है।

[1] ३. ८, २, १; ९, ३, २७; १३. ५, २, १

पाप-यक्ष्म—देखिये *यक्ष्म*।

पाप-सम अर्थात एक 'बुरी ऋतु', तैत्तिरीय संहिता[1] में 'पुण्य-सम' अर्थात् 'श्रेष्ठ ऋतु' के विपरीत आता है।

[1] ३. ३, ८, ४। तु० की० वेवर : नक्षत्र २, ३४२।

पामन् अथर्ववेद[1] में किसी चर्म-रोग के नाम के रूप में आता है। इससे व्युत्पन्न विशेषण 'पामन' (चर्म रोग से पीड़ित) बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[2] में मिलता है। यतः इसका ज्वर के साथ उत्पन्न होने के रूप में उल्लेख है, अतः इससे सम्भवतः ज्वर के परिणामस्वरूप उत्पन्न त्वचीय स्फोट से तात्पर्य है।

[1] ५. २२, १२। तु० की० इस पाठ के लिये व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, २६१। छान्दोग्य उपनिषद् ४. १, ८, भी देखिये।
[2] तैत्तिरीय संहिता ६. १, ३, ८; काठक संहिता २३. ४; शतपथ ब्राह्मण ३. २, १, ३१। तु० की० ग्रोहमैन : इन्डिशे स्टूडियन ९, ४०१ और बाद; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ३८८; श्रेडर : प्रिहिस्टारिक ऐन्टिकिटीज़ ४२१, नोट; ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ४५०, ४५१; अथर्ववेद ६३।

१. *पायु*, जिसका अर्थ 'रक्षक' है, ऋग्वेद[1] में अनेक बार आता है।

[1] १. १४७, ३; २. १, ७; ४. २, ६; ४, ३. १२; ६. १५, ८; ८. १८, २; ६०, १९; १०. १००, ९।

२. *पायु* ऋग्वेद[1] में एक भारद्वाज कवि के नाम के रूप में मिलता है। बृहद्देवता[2] में इसे, *अभ्यावर्तिन् चायमान* और *प्रस्तोक सार्ञ्जय* को अपने अस्त्रों को एक सूक्त[3] द्वारा प्रतिष्ठापित करने में सहायता देने का श्रेय दिया गया है।

[1] ६. ४७, २४। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३. १२८।
[2] ५. १२४ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।
[3] ६. ७५ ('युद्ध' सूक्त)।

पार—अपनी व्युत्पत्ति ('पॄ', उस पार लाना) के अनुसार यह नदी या जलधारा के 'दूसरे तट' का द्योतक है और इसी आशय[1] में यह ऋग्वेद[2] और बाद[3] में आता है।

[1] कभी-कभी इसमें 'अति-सीमा' अथवा 'अन्त' जैसा एक सामान्य आशय भी निहित है, यथा: १. ९२, ६ ('तमसस्' अर्थात् 'अन्धकार का'); ५. ५४, १० ('अध्वनः' अर्थात 'पथ का') में है।
[2] १. १२१, १३ ('नाव्यानाम्' अर्थात 'जलधाराओं का'); ८. ९६, ११ (नदीनाम्); १. १६७, २ (समुद्रस्य); १०. १५५, ३ (सिन्धोः), इत्यादि।
[3] तैत्तिरीय संहिता ७. ५, १, २. ३; काठक संहिता ३३. ५; शतपथ ब्राह्मण ३. ६, २, ४ (सलिलस्य); ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१ ('पार-काम', अर्थात दूसरे तट का आकांक्षी'), इत्यादि।

पारशव्य ('परशु' का वंशज) शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१६.११, २०) में *तिरिन्दिर* का पैतृक नाम है। तु० की० *पर्शु*।

१. *पारावत*, यजुर्वेद[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है, जहाँ इसका अर्थ 'कपोत' है।

[1] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ६; वाजसनेयि संहिता २४. २५।

२. *पारावत* ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आता है। रौथ[1] के विचार से अधिकांश स्थलों[2] पर इसका अर्थ 'दूर से आने वाला' है, किन्तु दो स्थलों[3]

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[2] ऋग्वेद ५. ५२, ११; ८. १००, ६; अथर्ववेद २०. १३५, १४; सरस्वती के 'पारावत-घ्नी'. ऋग्वेद ६. ६१, २
[3] ऋग्वेद ८. ३४, १८; पञ्चविंश ब्राह्मण ९. ४, ११। तु० की० हॉपकिन्स: ट्रा० सा० १५. ५२।

पर आप इसे *यमुना* के तट पर रहनेवाली किसी जाति के लोगों का व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं। यह निश्चित है कि पञ्चविंश ब्राह्मण में 'पारावत-गण' इसी नदी के तट पर रहनेवाले लोग हैं (तु० की० *तुरश्रवस्*)। हिलेब्रान्ट[४] सभी स्थलों[५] पर इसमें एक जाति के लोगों का ही आशय देखते हैं और टॉलमी[६] के 'पारुएटे' (Παρυῆται) लोगों से जो प्रत्यक्षतः गेड्रोसिया की उत्तरी सीमा पर बसे थे, अथवा उन 'परूटे' (Παρουῦται) लोगों से तुलना करते हैं जो एरेआ (Αρεια)[७] में मिलते थे। आपका विचार है कि यह लोग मूलतः 'पर्वतीय' थे (तु० की० *पर्वत*)। लुडविग[८] का भी यही विचार है, और गेल्डनर[९] इससे किसी जाति के लोगों का तात्पर्य मानते हैं। ऋग्वेद में 'पारावतों',[२] के सन्दर्भ में *सरस्वती* का उल्लेख, सामान्य रूप से पञ्चविंश ब्राह्मण[३] में इनके यमुना पर बसे होने की स्थिति के अनुकूल ही है।

[४] वेदिशे माइथौलोजी १, ९७ और बाद; ३, ३१०, ब्रुनहॉफर : ईरान उन्ट तूरान, ९१, का अनुसरण करते हुये।

[५] देखिये नोट २ और ३।

[६] ६. २०, ३। हिलेब्रान्ट ने यह मत व्यक्त किया है कि हिरोडोटस, ३. ९१, का 'अपारुटे' (Απαρυται), भी इसी के समान हो सकता है।

[७] टॉलमी, ६, १७

[८] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १६२, १९७

[९] ऋग्वेद, ग्लॉसर १०९

तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० १७, ९१; मैक्स मूलर : से० बु० ई०, ३२, ३१६

पाराशरी-कौण्डिनी-पुत्र का, माध्यंदिन शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् (६·४, ३०) के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *गार्गीपुत्र* के शिष्य के रूप में उल्लेख है।

पाराशरी-पुत्र (*पराशर* के किसी स्त्री-वंशज का पुत्र) का बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम वंश (गुरुओं की तालिका) में *कात्यायनीपुत्र*[३] के, *औपस्वतीपुत्र*[१] के, *वात्सीपुत्र*[२] के, *वार्कारुणीपुत्र*[३] के, और *गार्गीपुत्र*[४] के, शिष्य के रूप में उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं के इनसे अलग अलग व्यक्तियों का तात्पर्य है।

[१] ६. ५, १, काण्व।

[२] ६. ५, २, काण्व।

[३] ६. ४, ३१, माध्यंदिन।

[४] ६. ४, ३०, माध्यंदिन।

पाराशर्य (*पराशर* का वंशज) का बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम दो

वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में *जातूकर्ण्य*[1] के, अथवा *भरद्वाज*[2] के शिष्य के रूप में उल्लेख है। *वैजवापायन*[3] के शिष्य के रूप में भी एक 'पाराशर्य' का उल्लेख है, और सामविधान ब्रह्मण[4] के अन्त के एक वंश के अनुसार *व्यास पाराशर्य* को *विष्वक्सेन* का शिष्य बताया गया है। *अषाढ*, *जयन्त*, *विपश्चित्*, *सुदत्त*, आदि भी देखिये।

[1] २. ६, ३; ४. ६, ३, काण्व; २. ५, २२; ४. ५, २७, माध्यंदिन।
[2] २. ५, २०; ४. ५, २६, माध्यंदिन; २. ६, २; ४. ६, २. ३, काण्व।
[3] २. ६, २, काण्व। तु० की० तैत्तिरीय आरण्यक १. ९, २
[4] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. ४१, १

पाराशर्यायण का बृहदारण्यक उपनिषद्[1] के प्रथम दो वंशों (गुरुओं की तालिकाओं) में 'पाराशर्य' के एक शिष्य के रूप में उल्लेख है।

[1] २. ५, २२; ४. ५, २७ (माध्यंदिन = २. ६, ३; ४. ६, ३ काण्व)

पारिकुट एक अस्पष्ट—सम्भवतः भ्रष्ट—शब्द है, जो ऐतरेय ब्राह्मण (८. २२, ७) में उद्धृत मंत्र में आता है और जिसका अर्थ प्रत्यक्षतः 'सेवक' है।

पारिक्षित (*परिक्षित्* का वंशज), ऐतरेय ब्राह्मण[1] और शतपथ ब्राह्मण[2] में *जनमेजय* का पैतृक नाम है। शतपथ ब्राह्मण[3] और शाङ्खायन श्रौत सूत्र[4] में पारिक्षितीय-गण अश्वमेध यज्ञ करनेवालों के रूप में आते हैं। इस स्थल पर उद्धृत एक 'गाथा' में इन्हें पारिक्षित' कहा गया है। प्रत्यक्षतः यह लोग 'जनमेजय' के भ्राता, और इनके नाम *उग्रसेन*, *भीमसेन*, और *श्रुतसेन* थे। यह लोग किस दिशा में गये हैं, इस प्रश्न को बृहदारण्यक उपनिषद्[5] में एक दार्शनिक वाद-विवाद का विषय बनाया गया है। यह स्पष्ट है कि यह परिवार इस उपनिषद् के पहले ही हो चुका था, और यह भी कि इनकी महानता के साथ कुछ गम्भीर अपकीर्ति भी संयुक्त थी, जिसका ब्राह्मणों के मतानुसार, इन लोगों ने अश्वमेध के आयोजन और पुरोहितों को असीम दान द्वारा परिमार्जन किया था। वेवर[6] इस तथ्य में महाकाव्य की उन कथाओं के अंकुर देखते हैं जिनका महाभारत में वर्णन है।

[1] ७. २७ और ३४; ८. ११
[2] १३. ५, ४, १। तु० की० गोपथ ब्राह्मण १. २, ६; २. ६, १२
[3] १३. ५, ४, ३
[4] १६. ९, ७
[5] ३. ३, १
[6] इन्डियन लिटरेचर, १२५, १२६; १३५, १३६। 'पारिक्षितों' और वामदेवों के अग्नियों से सम्बद्ध वाद की कथा का वेवर ने वेदिशे बीट्रेज (१८९४) में विवेचन किया है।

परिक्षित् से सम्बद्ध अथर्ववेद[७] के मंत्रों को ब्राह्मणों[८] में 'पारिक्षित्यः' कहा गया है।

[७] २०. १०६, ७-१०; शाङ्खायन श्रौत सूत्र, १२. १७; ब्लूमफ़ील्ड : ह्विटनी, १५६, १५७
[८] ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३२, १० कौषीतकि ब्राह्मण ३०. ५; गोपथ ब्राह्मण २. ६, १२; वेबर : इ० पु०, १३६, नोट १४४।

पारि-प्लव (चक्रवत) उस *आख्यान* अथवा 'कथा' के लिये व्यवहृत शब्द है जिसका अश्वमेध के समय वर्णन और समय-समय पर वर्षपर्यन्त दुहराया जाता था। इसका शतपथ ब्राह्मण[१] और सूत्रों[२] में उल्लेख है।

[१] १३. ४. ३, २. १५
[२] आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ६; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. १, २६; २, ३६; लाट्यायन श्रौत सूत्र, ९. ९, ११

पारी-णह्य, तैत्तिरीय संहिता[१] में गृहस्थी के बरतनों का द्योतक है, जहाँ ऐसा कहा गया है कि यह सब गृहस्वामिनी के रूप में 'पत्नी' की देख-रेख के अन्तर्गत रहते हैं।[२]

[१] ६. २, १, १
[२] बाद में यह शब्द, मनु, ९. ११, में 'पारि-णाह्य' जैसे एक विभेदात्मक रूप में आता है।

पारूष्ण, यजुर्वेद संहिताओं[१] में अश्वमेध के बलिप्राणियों की तालिका में आता है और इससे किसी प्रकार के पक्षी का अर्थ प्रतीत होता है।

[१] मैत्रायणी संहिता ३. १४, ४; वाजसनेयि संहिता २४. २४

पारोवर्य-विद्, निरुक्त (१३·१२) में 'परम्परा के ज्ञाताओं' का द्योतक है।

पार्ण-वल्कि ('पर्णवल्क' का वंशज), वंश ब्राह्मण[१] में *निगद* का पैतृक नाम है।

[१] इन्डिशे स्टूडियन ४, ३७२; मैक्स मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, ४४३।

पार्थव (*पृथु* का वंशज) केवल एक बार ऋग्वेद[१] में आता है, जहाँ 'पार्थवों' का दाताओं के रूप में उल्लेख है। यह स्थल कुछ अस्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि इसमें *सृञ्जय दैववात* द्वारा *तुर्वशों* और *वृचीवन्तों* की पराजय का सन्दर्भ[२] है, और इसके दूसरे ही मन्त्र में उस *अभ्यावर्तिन् चायमान* के गायक के प्रति उदारता की प्रशस्ति है जो स्पष्टतः एक *पार्थव* था और जिसे

[१] ६. २७, ८
[२] ६. २७, ७

इस सूक्त के आरम्भिक अंशों में *वरशिख* पर विजय प्राप्त करनेवाला कहा गया है। जैसा कि त्सिमर[3] मत व्यक्त करते हैं, अभ्यावर्तिन् चायमान और सृञ्जय दैववात नामक राजा एक ही हैं, अथवा नहीं,[4] यह सन्दिग्ध है। 'पार्थव' का पर्थियनों से किसी प्रकार का सम्बन्ध होना, जैसा कि ब्रुनहॉफर मानते हैं, अत्यन्त असम्भाव्य है।[5] तु० की० *पर्शु*

[3] आल्टिन्डिशे लेबेन, १३३, १३४

[4] तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदिशे माइथौलोजी, १, १०५

[5] तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १९६ और बाद। हिरोडोटस, ३. ९३, पार्थोइ (Πάρθοι) का उल्लेख करता है।

पार्थ-श्रवस ('पृथु-श्रवस्' का वंशज) जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[1] में किसी दानव के नाम के रूप में मिलता है।

[1] ४. २६, १५। इस नाम के इस रूप की कौशिक सूत्र ९. १०; १७. २७, में भी मिलने से पुष्टि होती है। किन्तु 'पार्थु-' भी सम्भव है।

पार्थ्य ('पृथि' का वंशज) ऋग्वेद[1] में किसी दाता का पैतृक नाम है। आश्वलायन श्रौत सूत्र[2] में इस नाम का रूप 'पार्थ' है।

[1] १०. ९३, १५

[2] १२. १०। तु० की० ऋग्वेद १०. ९३, पर अनुक्रमणी।

पार्वति ('पर्वत' का वंशज) शतपथ (२.४, ४, ६) और कौषीतकि (४.४) ब्राह्मणों में दक्ष का पैत्रिक नाम है।

पार्षद, जो निरुक्त[1] में आता है, वैयाकरणों की एक परम्परा द्वारा मान्य किसी मूल ग्रन्थ का नाम है।

[1] १. १७। तु० की० मैक्स मूलर: ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर १२८ और बाद; वेबर: स्टूडियन, ३, २६९; ४, २१७

पार्षद्-वाण ('पृषद्वाण' का वंशज) का ऋग्वेद[1] में आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले के रूप उल्लेख है।

[1] ८. ५१, २। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, १३९

पार्ष्णि शैलन का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (२.४, ८) में एक गुरु के रूप में उल्लेख है।

पालागल, प्रत्यक्षतः 'दूत' अथवा, 'मिथ्या समाचार देनेवाले' के आशय में शतपथ ब्राह्मण[1] में आता है।

[1] ५. ३, १, ११। एग्लिङ्ग : से० बु० ई० २६, ६४, इसका 'वाहक' के रूप में अनुवाद करते हैं।

पालागली, किसी राजा की चतुर्थ और सबसे कम आदरित रानी का नाम है।[1] देखिये पति।

[1] शतपथ ब्राह्मण १३. ४, १, ८; ५, २, ८ इत्यादि।

पावमानी, ऋग्वेद के नवम् मण्डल के 'सोम पवमान से सम्बद्ध' (स्वयं को पवित्र करनेवाली) ऋचाओं का द्योतक है। अथर्ववेद[1] और बाद[2] में, तथा स्वयं ऋग्वेद[3] के एक सूक्त में भी, यह नाम मिलता है।

[1] १९. ७१, १
[2] ऐतरेय ब्राह्मण १. २०; २. ३७; कौषीतकि ब्राह्मण १५. १; शतपथ ब्राह्मण १२. ८, १, १०; निरुक्त ११. २; १२, ३१; ऐतरेय आरण्यक २. २, २, इत्यादि; मैत्रायणी गृह्य सूत्र २. १४
[3] ९. ६७, ३१. ३२; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ९९, नोट ३

पाश, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बाँधने के लिये प्रयुक्त 'रस्सी' का द्योतक है। अथर्ववेद[3] में 'रस्सी' और 'गाँठ' (ग्रन्थि) दोनों का साथ-साथ उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण[4] में 'पाश' का प्रयोग उस रस्सी के लिये किया गया है जिससे मनु की नौका पर्वत से बंधी थी। अक्सर लाक्षणिक आशय में इसका वरुण के 'पाश' के रूप में भी प्रयोग मिलता है।[5]

[1] १. २४, १३. १५; २. २७, १६; २९, ५, इत्यादि।
[2] अथर्ववेद २. १२, २; ९. ३, २; वाजसनेयि संहिता ६. ८. ४५, इत्यादि।
[3] ९. ३, २
[4] १. ८, १, ५
[5] ऋग्वेद ६. ७४, ४; ७. ८८, ७; १०. ८५, २४; अथर्ववेद ४. १६, ६; तैत्तिरीय संहिता २. २, ५, १ इत्यादि

पाशिन् (बन्धन से युक्त) ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] में 'व्याध' का द्योतक है।

[1] ३. ४५, १; ९. ७३, ४। इसी आशय में 'निर्ऋति', ऐतरेय ब्राह्मण ४. १०।
[2] १७. १, ८

पाश-द्युम्न वायत ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में उस राजा का नाम है जिसकी अपेक्षा इन्द्र ने *वसिष्ठों* का ही वरण किया था। जैसा कि सायण का मत है, यह प्रत्यक्षतः उस 'वयत्' का पुत्र था जिसकी ऋग्वेद[2] के एक अन्य स्थल पर आनेवाले *व्यत्* से तुलना की जा सकती है। लुडविग[3] इसमें *पृथुओं* और *पर्शुओं* के एक पुरोहित का आशय देखते हैं, किन्तु यह अत्यन्त असंभाव्य है।[4]

[1] ७. ३३, २
[2] १. १२२, ४
[3] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७२
[4] गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २,१३०,१३९

पाष्य ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर वृत्र की पराजय के सन्दर्भ में आता है, और प्रत्यक्षतः इसका अर्थ 'पाषाण से बना आश्रय-स्थल' है। एक अन्य स्थल[2] पर इस शब्द से सोम दबाने के लिये प्रयुक्त पाषाणों का अर्थ हो सकता है।

[1] १. ५६, ६।
[2] ९. १०२, २। तु० की० मैकडौनेल : ज० ए० सो० १८९३, ४५७, ४५८।

पिक, अर्थात् भारतीय 'कोयल' का, यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। तु० की० *अन्यवाप*, *कोक*।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १५, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २०; वाजसनेयि संहिता २४. ३९। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ९२।

पिङ्गा, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ सायण के आधार पर सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश ने तो इसकी 'प्रत्यञ्चा' के रूप में व्याख्या की है, किन्तु हिलेब्रान्ट[2] का विचार है कि किसी वाद्य-यंत्र से तात्पर्य है।

[1] ८. ६९, ९।
[2] वेदिशे माइथौलोजी १, १४४, नोट।

पिजवन निरुक्त[1] के अनुसार *सुदास्* के पिता का नाम है। यह कथन ऋग्वेद[2] के एक मंत्र में सुदास् के लिए प्रयुक्त 'पैजवन' उपाधि पर आधारित एक अनुमान मात्र होते हुए भी बहुत कुछ ठीक हो सकता है।

[1] २. २४।
[2] ७. १८, १९। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण ८. २१।

पिञ्जूल, घास और मुख्यतः दर्भ के 'गट्ठर' का द्योतक है। यह शब्द केवल ब्राह्मण-शैली में ही मिलता है।[1]

[1] काठक संहिता २३. १; ऐतरेय ब्राह्मण १. ३; कौषीतकि ब्राह्मण १८. ८। 'पिञ्जुल' रूप में यह मैत्रायणी संहिता ४. ८, ७, और पारस्कर गृह्यसूत्र १. १५, में आता है। पुञ्जील रूप, तैत्तिरीय संहिता ६. १, १, ७; २, ४, ३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ६, ४; २. ७, ९, ५, आदि में मिलता है।

पिठीनस् ऋग्वेद[1] में, इन्द्र के मित्र, किसी व्यक्ति का नाम है।

[1] ६. २६, ६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १५६।

पिण्ड, निरुक्त[1] में और बहुधा सूत्रों[2] में आता है। यह मुख्यतया अमावस्या की संध्या को पितरों को समर्पित आटे के 'पिण्ड' का द्योतक है।

[1] ३. ४। [2] लाट्यायन श्रौत सूत्र २. १०, ४, इत्यादि।

पिता-पुत्र, एक अत्यन्त दुर्लभ यौगिक शब्द है।[1]

[1] अथर्ववेद ६. ११२, २; शतपथ ब्राह्मण १३. २, ४, ४।

पिता-पुत्रीय (पिता और पुत्र से सम्बद्ध)—'सम्प्रदान' (हस्तान्तरित करना) के साथ प्रयुक्त इस शब्द से उस संस्कार का अर्थ है जिसके द्वारा, मृत्यु के समय पिता अपनी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ अपने पुत्र को प्रदान करता है। कौषीतकि उपनिषद्[1] में इसका वर्णन किया गया है।

[1] २. १५। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४०८।

पिता-मह भी, *ततामह* के अतिरिक्त, अथर्ववेद और उसके बाद[1] से प्रत्यक्षतः 'एक उच्चतर आशय में पिता'[2] के रूप में 'पिता के पिता' का द्योतक है। पितामह के पिता को *प्रपितामह* और *प्रततामह* कहा गया है।[3] यह ध्यान देने योग्य बात है कि मातृ पक्ष के पूर्वजों के लिए कोई भी समानान्तर वैदिक शब्द नहीं मिलता, और बाद की भाषा में प्रयुक्त 'मातामह' जैसे शब्द केवल पितामह आदि की अनुकृति मात्र हैं।

ऋग्वेद[4] के एक स्थल पर डेलब्रुक[5] का विचार है कि 'महे पित्रे' का अर्थ

[1] अथर्ववेद ५. ५, १; ९. ५, ३०; ११. १, १९; १८. ४, ३५; तैत्तिरीय संहिता १. ८, ५, १; ७. २, ७, ३; वाजसनेयि संहिता १९. ३६, शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ५, ४

[2] डेलब्रुक : डी० व०, ४७४।

[3] अथर्ववेद १८. ४, ७५।

[4] ६. २०, ११।

[5] वही ४७३।

'पितामह' है, और यह आशय ठीक बाद में आनेवाले शब्द 'नपातम्' (पौत्र) के सर्वथा अनुकूल भी है, किन्तु इस सम्पूर्ण स्थल का ही आशय अनिश्चित है।[६]

मूल ग्रन्थों द्वारा हमें पितामहों की स्थिति के सम्बन्ध में अत्यन्त कम विवरण प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं, और महाकाव्य इसको स्पष्ट रूप से प्रमाणित भी करता है कि यह लोग भी पिता[७] के समान ही आदर के अधिकारी होते थे। पितामह बहुधा परिवार के प्रधान होते थे, अथवा परिवार का नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जाने पर अपने ज्येष्ठ पुत्र के साथ रहते थे।

वर्तमान वैदिक साहित्य में दादी (पितामही) का उल्लेख नहीं है।

[६] देखिये पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, १२८, नोट १। रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० भी डेलब्रुक द्वारा स्वीकृत इस दृष्टिकोण पर सन्देह व्यक्त करते हैं, और इस बात को अस्वीकृत करते हैं कि ऋग्वेद १. ७१, ५ में 'पितामह' का आशय मिल सकता है।

[७] डेलब्रुक : उ० पु० ४८०, महाभारत २. १६३४ को उद्धृत करते हुये।

पितु, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में, चाहे भोजन अथवा पेय के रूप में, 'पोषक तत्त्व' के सामान्य आशय में आता है।

[१] १, ६१, ७; १३२, ६; १८७, १; ६. २०, ४, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ४. ६, ३; तैत्तिरीय संहिता ५. ७, २, ४; वाजसनेयि संहिता २. २०; १२. ६५; ऐतरेय ब्राह्मण १. १३

पितृ, जो कि ऋग्वेद और उसके बाद से बहुधा मिलता है, 'सन्तान उत्पन्न करनेवाले' (जनितृ)[१] के नहीं नहीं वरन् बहुत कुछ बालक के रक्षक के आशय में ही 'पिता' का द्योतक है। सम्भवतः इस शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य आशय भी यही है।[२] ऋग्वेद[३] में पिता उन सभी गुणों से युक्त है जो श्रेष्ठता

[१] 'पिता जनिता' का ऋग्वेद (जैसे ४. १७, १२) में देवों के लिये प्रयोग किया गया है।

[२] जैसा कि 'पा' (रक्षा करना) से व्युत्पन्न होता है। किन्तु जैसा कि बौटलिङ्क और रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० में 'मातर्' की पाद-टिप्पणी में विचार व्यक्त करते हैं, पिता और माता के लिये 'प' और 'मा' अपेक्षाकृत कहीं प्राचीन और ऐसे ध्वन्यानुकरणात्मक मौलिक शब्द थे जिन्होंने बाद के कल्पनाशील युग में 'पितृ' और 'मातृ' (जो स्वयं भी भारोपीय कालीन हैं) के निर्माण को प्रभावित किया था।

[३] देखिये, उदाहरण के लिये, ४. १७, १७; ८. ८६, ४।

और दयालुता को व्यक्त करते हैं। इसीलिये अग्नि की पिता से तुलना की गई है,[४] और इन्द्र पिता से भी अधिक प्रिय हैं।[५] पिता अपने पुत्र को हाथ में उठाकर चलता है,[६] अथवा उसे अपनी गोद में बैठा लेता है,[७] जब कि बालक, उसका ध्यान आकर्षित करने के लिये उसके परिधान को पकड़ कर खींचता है।[८] कुछ और बड़ा होने पर संकट के समय पुत्र अपने पिता पर सहायता के लिये निर्भर रहता है,[९] और उसका प्रसन्नता के साथ अभिवादन करता है।[१०]

ठीक-ठीक इस बात का निश्चय कर सकना कठिन है कि पुत्र किस सीमा तक पैतृक नियन्त्रण में रहता था और यह नियन्त्रण कितने समय तक चलता था। ऋग्वेद[११] में एक ऐसे पिता का सन्दर्भ है जो जूआ खेलने के कारण अपने पुत्र को ताड़ना देता है, और यह भी कहा गया है कि *ऋज्राश्व* को उसके पिता ने अन्धा कर दिया था।[१२] इस बाद के कथन के आधार पर त्सिमर[१३] ने एक विकसित 'पितृसत्ता' के अस्तित्व का निष्कर्ष निकाला है, किन्तु इस एक मात्र अर्ध-पुराकथात्मक घटना पर ज़ोर देना अबुद्धिमत्तापूर्ण ही होगा। फिर भी, यह सम्भव है कि 'पितृ-सत्ता' मूलतः शक्तिशाली रही हो, क्योंकि रोम में 'पितृसत्ता' की पुष्टि के अन्य प्रमाण उपलब्ध हैं। यद्यपि इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि पिता विधानतः अपने पुत्र के विवाह का,[१४] अथवा

[४] ऋग्वेद १०. ७, ३।
[५] ऋग्वेद ७. ३२, १९; ८. १, ६।
[६] ऋग्वेद १. ३८, १।
[७] ऋग्वेद ५. ४३, ७।
[८] ऋग्वेद ३. ५३, २।
[९] ऋग्वेद १०. ४८, १, में 'जन्तवः' सम्भवतः पुत्र हैं।
[१०] ऋग्वेद ८. १०३, ३। तु० की० १. २४, १।
[११] ऋग्वेद २. २९, ५।
[१२] ऋग्वेद १. ११६, १६; ११७, १७। शुनःशेप के विक्रय का भी उदाहरण है, ऐतरेय ब्राह्मण ७. १२-१८; और तु० की० शतपथ ब्राह्मण ५. ३, २, ३।
[१३] आल्टिन्डिशे लेबेन ३१६।
[१४] तु० की० डेलब्रुक : डी० व० ५७६। वहीं, ५८२, में आप महाभारत १२. ६१०८ और बाद का उदाहरण देते हैं जिसकी एक पंक्ति में पिता द्वारा पुत्र के विवाह पर नियन्त्रण का, और दूसरे में एक स्वतन्त्र विवाह का सन्दर्भ है। वास्तविकता, निःसन्देह, यह है कि उस स्थिति को छोड़कर जिसमें पिता अपने पुत्र के अत्यन्त कम अवस्था में ही सारी बातें ठीक कर देता था, पुत्र स्वयं अपना विवाह कर लेने के लिये स्वतन्त्र होता था।

इस बात का भी बहुत नहीं कि वह अपनी पुत्री के विवाह का[15], नियन्त्रण करता था, तथापि यह तथ्य स्वयं असम्भाव्य नहीं हैं।

पुनः, इस बात को व्यक्त करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि बड़ा हो जाने पर पुत्र साधारणतया अपने पिता के साथ ही रहता था और उसकी पत्नी भी उसके पिता के परिवार की सदस्या हो जाती थी, अथवा वह अपना अलग घर बना लेता था। सम्भवतः अलग-अलग प्रचलन थे। हमें यह भी ज्ञात नहीं कि विवाह के बाद, अथवा अन्यथा, पुत्र को भूमि का एक विशेष अंश दे दिया जाता था, या वह केवल पिता की मृत्यु के उपरान्त ही ऐसी सम्पत्ति का अधिकारी होता था। वयस्क हो गए और केवल स्वाभाविक रूप से ही पिता के नियन्त्रण में रह रहे पुत्रों पर पिता की नियन्त्रणात्मक सत्ता का अत्यधिक मूल्यांकन करते समय यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिये कि पिता के वृद्ध हो जाने पर या तो उसके पुत्र स्वयं ही उसकी सम्पत्ति विभाजित कर लेते थे,[16] अथवा स्वयं पिता ही उसे पुत्रों में वितरित कर देता था,[17] और यह भी कि जब श्वसुर वृद्ध हो जाता था तब उसे अपनी पुत्र-वधू के नियन्त्रण में रहना पड़ता था।[18] इस बात के भी कुछ अस्पष्ट चिह्न वर्तमान हैं कि वृद्धावस्था में पिता का परित्याग कर दिया जाता था, यद्यपि ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है कि वैदिक भारत में भी यह प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित थी।[19]

[15] त्सिमर : उ० पु० ३०९, इसे निश्चित मानते हैं, किन्तु यह सिद्ध नहीं होता। फिर भी, देखिये जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३. १२, २, जो त्सिमर के दृष्टिकोण के अनुकूल है। तु० की० केगी : डर ऋग्वेद १५, और **पति**।

[16] ऋग्वेद १. ७०, १०; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४; जैमिनीय ब्राह्मण ३. १५६, (ज० अ० ओ० सो० २६, ६१; ६२)।

[17] तैत्तिरीय संहिता ३. १, ९, ४-६। तु० की० कौषीतकि उपनिषद् २. १५ जहाँ पिता द्वारा पुत्र को सम्पत्ति प्रदान करने का उदाहरण है। यदि पिता पुनः स्वस्थ हो जाता था, तो उसे पुत्र पर आश्रित रहना पड़ता था।

[18] ऋग्वेद १०. ८५, ४६

[19] तु० की० ऋग्वेद ८. ५१, २; अथर्ववेद १८. २, ३४। प्रथम स्थल पर परित्याग का सन्दर्भ नहीं मानना चाहिये, और दूसरे में केवल शव के परित्याग का ही उल्लेख है; किन्तु, त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३२८-३२८ का विचार है कि यह दोनों ही स्थल परित्याग की प्रथा को सिद्ध करते हैं। तु० की० **धर्म**।

साधारणतया पुत्र को अपने पिता की आज्ञा का पूरी तरह पालन करना पड़ता था।[20] बाद के सूत्रों में उन सौजन्यतापूर्ण व्यवहारों की विस्तृत चर्चा है जो पुत्र अपने पिता के प्रति करता था, और इनमें ही पुत्र को पिता का जूठन खाने की भी स्वीकृति दी गई है।[21] दूसरी ओर, यह भी आशा की जाती थी कि पिता अपने पुत्रों के प्रति दयालु रहे। ऐतरेय ब्राह्मण[22] में वर्णित एक कथा इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट कर देती है कि पिता द्वारा पुत्र के प्रति निर्दय व्यवहार को कितना भयंकर माना जाता था। उपनिषदों[23] में आध्यात्मिक उत्तराधिकार के पिता से पुत्र पर संक्रमित होने पर ज़ोर दिया गया है। प्रौढ़ हो जाने के बाद तक भी पुत्र का चुम्बन[24] स्नेहाभिव्यक्ति का सामान्य चिह्न माना जाता था।

आत्मज पुत्रों के न होने पर दत्तक लिया जाना भी सम्भव था।[25] कभी-कभी आत्मज पुत्रों के होते हुए भी दत्तक लिया जाता था, किन्तु एक अत्यन्त उच्च योग्यतावाले व्यक्ति को परिवार में सम्मिलित कर लेने की इच्छा से ही ऐसा किया जाता था : जैसा कि विश्वामित्र द्वारा शुनःशेप को दत्तक लेने के उदाहरण से स्पष्ट है।[26] यह स्पष्ट नहीं है कि एक जाति द्वारा दूसरी जाति से दत्तक लेना भी सम्भव था अथवा नहीं, क्योंकि इस बात के पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं कि विश्वामित्र एक क्षत्रिय थे, जैसा कि वेबर[27] मानते हैं, और उन्होंने एक ब्राह्मण को दत्तक ले लिया था। दत्तक प्रथा को सदैव उच्च मान्यता भी नहीं दी गयी है। यह आकस्मिक है अथवा नहीं ऐसा कह सकना तो कठिन है, किन्तु ऋग्वेद[28] के वसिष्ठ-मण्डल के एक सूक्त में इस प्रथा की भर्त्सना की गई है। ऐसे पिता द्वारा, जिसके पुत्र नहीं वरन् केवल

[20] ऋग्वेद १. ६८, ५
[21] आपस्तम्ब धर्म सूत्र १. १, ४, ११
[22] ७. १२ और बाद; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. १७ और बाद।
[23] उदाहरण के लिये, कौषीतकि उपनिषद् २. १५; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, २५ (माध्यंदिन = १. ५, १७, काण्व)
[24] देखिये हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० २८, १२०–१३४; कीथ : शाङ्खायन आरण्यक २६, नोट ३।
[25] तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३१८; मेर : इन्डिशे अर्बरेख्त, ७३; जॉली : डी एडॉप्शन इन इन्डियन (ऊर्ज़बर्ग १९१०) ७ और बाद।
[26] ऐतरेय ब्राह्मण ७. १७ और बाद; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. १७। तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी २, १५७
[27] ए० रि०, ३३, ३४
[28] ७. ४, ७. ८

पुत्री ही होती थी, अपनी इस पुत्री को ही अपने लिए एक पुत्र उत्पन्न करने के लिये नियुक्त करने की प्रथा सम्भव थी। जो कुछ भी हो, ऋग्वेद[29] के एक अस्पष्ट से सूक्त की यास्क[30] द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार ही इस प्रकार की प्रथा का सन्दर्भ मिलता है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि एक भ्राता-विहीन कन्या के लिये पति[31] प्राप्त करने की कठिनाई का कारण उस कन्या को उसके पिता द्वारा 'पुत्रिका' बना लिये जाने की सम्भावना ही होती थी। 'पुत्रिका' शब्द एक ऐसी कन्या का पारिभाषिक नाम है जिसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र उसके पिता के ही परिवार का सदस्य माना जाता था।

इसमें भी सन्देह नहीं कि परिवार में माता की अपेक्षा पिता का ही प्राधान्य होता था।[32] डेलब्रुक[33] ने इसके विपरीत[34] स्थितियों को अपनी व्याख्या द्वारा अप्रमाणित कर दिया है। ऐसे किसी परिवार के अस्तित्व का कोई चिह्न नहीं है जिसे भू-स्वामित्व के संघ की संज्ञा दी जा सके।[35]

[29] ३. ३१, १

[30] ३. ५। तु० की० वेबर: इन्डिशे स्टूडियन, ५, ३४३; गेल्डनर: वेदिशे स्टूडियन, ३, ३४; औल्डेनबर्ग: ऋग्वेद-नोटेन १, २३९-२४१।

[31] तु० की० भ्रातृ

[32] शतपथ ब्राह्मण २. ५, १, १८; शाङ्खायन गृह्य सूत्र १. ९, में एक उद्धरण; छान्दोग्य उपनिषद् ७. १५, २।

[33] टी० व०, ५७७

[34] बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ७, ५। सूत्रों के कुछ स्थल कठिनाई उपस्थित करते हैं, किन्तु वास्तविक वैदिक काल के लिये इनका कोई महत्त्व नहीं है।

[35] बैडेन पावेल, जिनकी विभिन्न कृतियाँ (इन्डियन विलेज कम्युनिटी, १८९६; विलेज कम्युनिटीज़ इन इन्डिया १८९९ इत्यादि) ने भारतीय ग्राम समुदाय द्वारा भू-स्वामित्व संघ के दृष्टिकोण का प्रतिवाद करने में पर्याप्त सहयोग दिया है, परिवार को भू-स्वामित्व की एक इकाई मानने के लिये तैयार हैं, और यह मानते हैं कि 'पितृसत्ता' एक बाद का और अभारतीय विकास है (देखिये, उदाहरण के लिये, विलेज कम्युनिटीज़ इन इन्डिया, १२८ और बाद)। हॉपकिन्स: इन्डिया, ओल्ड ऐण्ड न्यू, २१८ और बाद, एक ऐसा सिद्धान्त मानते हैं जिसके अनुसार वैयक्तिक और परिवार के सम्मिलित स्वामित्व की प्रथाओं का साथ-साथ प्रचलन सम्भव है। इनमें से द्वितीय प्रथा प्रत्यक्षतः प्राचीन, किन्तु अवनति की दशा में ही वर्तमान थी। आप स्पष्ट रूप से यह विचार व्यक्त करते हैं (पृ० २२२) कि पुत्र को अपने पिता द्वारा वंशानुगत भूमि बेचने से रोकने के लिये अलोपनीय अधिकार प्राप्त थे, और सम्मिलित स्वामित्व के अन्तर्गत होने पर भूमि को केवल समस्त ग्राम की सम्मति प्राप्त करके ही बेचा जा सकता था (तु० की० जॉली: रेख्त उण्ट सिट्टे ९४, द्वारा उद्धृत मंत्र)। किन्तु यह स्मरण

रखना चाहिये कि पोलक और मेटलैण्ड ने इंग्लिश लॉ के सम्बन्ध में स्पष्ट दिखाया है कि पुत्र के अधिकार की मान्यता मूलतः सम्मिलित अथवा सम्मस्त परिवार के स्वामित्व का चिह्न नहीं है, वरन् यह 'अकृतमृत्युलेख' पर आधारित उत्तराधिकार के अस्तित्व से विकसित हुआ है। और जैसा इंग्लैण्ड में है, वैसे ही भारत में भी प्राचीन ग्रन्थों में सम्पूर्ण रूप से परिवार के सम्मिलित स्वामित्व की प्रथा का कोई चिह्न नहीं मिलता। साथ ही, (जैसा कि जॉली : उ० पु० ७६, ८० में दर्शाते हैं) प्राचीन और आधुनिक दोनों ही समयों में, पुत्रों के विकसित हो जाने पर भी परिवार पर पिता के नियन्त्रण के स्पष्ट चिह्न उपलब्ध हैं, किन्तु यह उसी दशा में होता था जहाँ पिता शारीरिक दृष्टि से नियन्त्रण करने में समर्थ होता था। आरम्भिक इंग्लिश और रोमन कानूनों में भी निर्विवाद रूप से ऐसी ही स्थिति थी (देखिये स्मिथ : डिक्शनरी ऑफ ऐन्टिक्विटीज़ २, ३५१, और बाद)। यूनान में भी, जिसका रोम के साथ कभी-कभी विभेद किया जाता है, 'पितृसत्ता' के और मुख्यतः गौर्टिन के प्राचीनतम कानूनों के अन्तर्गत पुत्र के विपरीत भी भूमि के स्वामित्व पर पिता के एकाधिकार के ही स्पष्टतम चिह्न वर्तमान हैं (देखिये गार्डनर और जेवन्स : ग्रीक ऐन्टिक्विटीज़ ४०४, ४०५, ५६३, ५६६)।

युगल रूप 'पितरौ' नियमित रूप से 'माता और पिता' का द्योतक है।[३९]

[३९] ऋग्वेद १. २०, ४; १६०, २; २. १७, ७; ७. ६७, १; काठक संहिता २२. १०; वाजसनेयि संहिता १९. ११, इत्यादि।

पितृ-याण (पितरों का पथ) का ऋग्वेद[1] और बाद[2] में देव-यान (देवों का पथ) के विपरीत उल्लेख है। तिलक[3] का विचार है कि देवयान सूर्य के उत्तरायण, तथा पितृयाण उसके दक्षिणायन पथों के समान हैं। शतपथ ब्राह्मण[4] के एक स्थल के आधार पर आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जहाँ ऋतुओं में से तीन—वसन्त, ग्रीष्म, और वर्षा को देवों को, किन्तु अन्य को पितरों को समर्पित किया गया है, वहाँ देवयान का वसन्त सम्पात से और पितृयाण का शरद्-सम्पात से आरम्भ होता था। आप इसको तैत्तिरीय

[1] १०. २, ७। तु० की० १०. १८, १, में इसका सन्दर्भ, जो कि १०. ९८, ११ में मिलनेवाले 'देवयान' से भिन्न है।

[2] अथर्ववेद ८. १०, १९; १२. २, १०, इत्यादि; वाजसनेयि संहिता १९. ४५; छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३, २, इत्यादि।

[3] ओरायन, २२ और बाद।

[4] २. १, ३, १–३।

ब्राह्मण[५] के 'देव' और 'यम-नक्षत्रों' के कौतूहलवर्धक विभेद के साथ भी सम्बद्ध करते हैं। फिर भी यह निष्कर्ष अत्यन्त असम्भाव्य है। तु० की० नक्षत्र और सूर्य।

[५] १. ५, २, ६।

पितृ-हन् (पिता का वध) अथर्ववेद[१] के पैप्पलाद शाखा में मिलता है।

[१] ९. ४, ३। तु० की० वौटलिङ्क : डिक्शनरी, व० स्था०।

पित्र्य, छान्दोग्य उपनिषद्[१] में दी हुई विज्ञानों की सूची में आता है। जैसी कि शंकर ने अपने भाष्य में व्याख्या की है, यह प्रत्यक्षतः पितरों से सम्बद्ध कोई विज्ञान था। यतः उक्त सूची में इस शब्द के ठीक बाद *राशि* आता है, अतः सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश 'पित्र्य राशि' को एक शब्द मानता है, किन्तु ठीक-ठीक किस आशय में, यह स्पष्ट नहीं है।

[१] ७. १, २. ४; २, १; ७, १। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २६७; लिटिल : ग्रामेटिकल इण्डेक्स, ९८।

पित्व[१] अथवा *पिड्व*[२] एक पशु का नाम है जिसे यजुर्वेद संहिताओं में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में सम्मिलित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता[१] के भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ 'सिंह' है। किन्तु यह पेत्व के ही समान हो सकता है।

[१] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १७, १।
[२] मैत्रायणी संहिता ३. १४, १३; वाजसनेयि संहिता २४. ३२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ७९; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० २९, २९०।

पिनाक (गदा) अथर्ववेद[१] में मिलता है। बाद[२] में रुद्र-शिव की गदा को व्यक्त करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

[१] १. २७, २।
[२] तैत्तिरीय संहिता १. ८, ६, २; वाजसनेयि संहिता ३. ६१; १६. ५१, इत्यादि।

पिन्वन्, शतपथ ब्राह्मण (१४.१, २, १७; २, १, ११; ३, १, २२) में, संस्कार में प्रयुक्त एक पात्र के नाम के रूप में आता है।

पिपील (चींटी) का ऋग्वेद (१०.१६, ६) में मृतकों का मांस खाने वालों के रूप में उल्लेख है।

पिपीलिका, अथर्ववेद[1] और बाद[2] में एक प्रकार की 'चींटी' का द्योतक है। निःसन्देह इस शब्द का रूप छोटी चींटियों की किसी जाति को उतना व्यक्त नहीं करता, जैसा बाद के कोशों[3] ने माना है, जितना इस कीटाणु के के सूक्ष्म आकार को, और जिसे स्वभावतः इस नाम के अल्पार्थ प्रत्यय-रूप द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद्[4] में 'पिपीलक'[5] रूप मिलता है।

[1] ७. ५६, ७। तु० की० २०. १३४, ६।
[2] मैत्रायणी संहिता ३. ६, ७; पञ्चविंश ब्राह्मण ५. ६, १०; १५. १७, ८; बृहदारण्यक उपनिषद् १. ४, ९. २९ (माध्यंदिन = १. ४, ४, १३ काण्व); निरुक्त, ७. १३; ऐतरेय आरण्यक १. ३, ८; ५. १, ६।
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०।
[4] ७. २, १; ७, १; ८, १; १०, १। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ९७; एडगर्टन : ज० अ० ओ० सो० ३१, १२८।
[5] तु० की० 'कनीनिका' (आँख की पुतली) के अतिरिक्त 'कनीनक'।

पिप्पका का यजुर्वेद संहिताओं[1] में अश्वमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में उल्लेख है। इससे किसी पक्षी का तात्पर्य प्रतीत होता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ५. ५, १९, १; मैत्रायणी संहिता ३. १४, २१; वाजसनेयि संहिता २४. ४०। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ९३।

पिप्पल (संज्ञा) ऋग्वेद[1] के दो स्थलों पर मिलता है, जहाँ इसका एक रहस्यात्मक आशय में प्रयुक्त 'गोदा' अर्थ है, और दोनों में से किसी भी स्थल पर अंजीर-वृक्ष[2] के फल का निश्चित सन्दर्भ नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में 'गोदे' का सामान्य आशय आवश्यक नहीं है, किन्तु 'पीपल' के 'गोदे' का विशेष आशय सर्वथा सम्भव है : शतपथ ब्राह्मण[4] में भी कदाचित यही बाद का आशय उद्दिष्ट है। अथर्ववेद[5] में इस शब्द का स्त्री-

[1] १. १६४, २० = मुण्डक उपनिषद् ३. १, १; श्वेताश्वतर उपनिषद् ४. ६, २२; ५. ५४, १२ (आकाश का 'गोदा' अर्थात् 'नाक')।
[2] बाद के साहित्य में 'पिप्पल' शब्द पुलिङ्ग रूप में आता है और Ficus religiosa (वैदिक साहित्य में अश्वत्थ) का द्योतक है।
[3] ४. १, ४१
[4] ३. ७, १, १२
[5] ६. १०९, १. २

लिङ्ग रूप 'पिप्पली' आता है, जो *अरुन्धती*[६] की भाँति, घावों की औषधि के रूप में प्रयुक्त 'गोदों' का द्योतक है।

[६] ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद, ६१; अथर्ववेद के सूक्त ५१६; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३५९, ३६०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३८९; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ३३१

पिप्पलाद ('गोदे' खानेवाला) एक गुरु का नाम है जिसका प्रश्न उपनिषद्[१] में उल्लेख है। बहुवचन में यह शब्द अथर्ववेद की एक शाखा का द्योतक है।[२] इस संहिता की इस नाम की शाखा (पैप्पलाद) के मूल पाठ को गार्वे और ब्लूमफील्ड[३] ने हस्तलिपि के फोटो-चित्रों में सम्पादित किया है, जिसका कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।[४]

[१] १. १

[२] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, २७७; इन्डियन लिटरेचर १५३, १५९, १६०, १६४।

[३] बाल्टीमोर १९०१

[४] व्हिट्ने ने अथर्ववेद के अपने अनुवाद में पैप्पलाद शाखा के पाठ-भेदों का आंशिक रूप से उल्लेख किया है, और इस शाखा के मूल ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय काण्डों का बैरेट ने ज० अ० ओ० सो०, २६, १९७-२९५; ३०, १८७ और बाद, में सम्पादन किया है। तु० की० व्हिट्ने के अनुवाद, lxxix और बाद, में लैनमैन।

पिप्रु, ऋग्वेद में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है। *ऋजिश्वन्* के लिये इन्द्र ने इसे बार बार पराजित किया था।[१] दुर्गों[२] का स्वामी होने के रूप में इसे दास[३] और असुर[४] भी कहा गया है। काली संतानोंवाले,[५] और काली जाति[६] के लोगों के मित्र होने के रूप में इसका वर्णन किया गया है। यह अनिश्चित है कि यह एक दानव था, जैसा रौथ[७] मानते हैं और जो इसके लिये 'असुर' शब्द के प्रयोग द्वारा पुष्ट होता है, अथवा एक मानव शत्रु, जैसा कि लुड-

[१] १. १०१, १. २; ४. १६, १३; ५. २९, ११; ६. २०, ७; ८. ४९, १०; १०. ९९, ११; १३८, ३। १. १०३, ८; २. १४, ५; ६. १८, ८, आदि में सामान्य रूप से इन्द्र द्वारा पिप्रु के पराजित होने का सन्दर्भ है।

[२] ऋग्वेद १. ५१, ५; ६. २०, ७

[३] ऋग्वेद ८. ३२, २

[४] ऋग्वेद १०. १३८, ३

[५] ऋग्वेद १. १०१, १

[६] ४. १६, १३

[७] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०

विग[8], औल्डेनवर्ग,[9] और हिलेब्रान्ट[10] आदि ने माना है। इन नाम का अर्थ 'प्रतिरोधक' हो सकता है जो 'पृ' धातु से व्युत्पन्न होता है।

[8] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४९
[9] रिलीजन देस वेद, १५५
[10] वेदिशे माइथौलोजी, ३, २७३। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी, पृ० १६१ (ग)

पिश, ऋग्वेद[1] के एक स्थल पर मिलता है, जहाँ सायण इसे एक प्रकार के मृग (रुरु) के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

[1] १. ६४, ८। तु० की० अथर्ववेद १९. ४९, ४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ८३; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, ११८; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर ११०

पिशङ्ग, पञ्चविंश ब्राह्मण[1] में उल्लिखित सर्पोत्सव सम्पन्न करनेवाले दो 'उन्नेतृ' पुरोहितों में से एक का नाम है। तु० की० चक्र

[1] २५. १५, ३। तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ३५

पिशाच, दानवों के एक वर्ग का नाम है जिनका अथर्ववेद[1] और बाद[2] में उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय संहिता[3] में यह रक्षसों और असुरों के साथी, तथा देवों, मनुष्यों और पितरों के विरोधी हैं। अथर्ववेद[4] में इनका 'क्रव्याद्' (कच्चा मांस खानेवाले) के रूप में वर्णन है, जो कि स्वयं 'पिशाच' शब्द का ही व्युत्पत्तिजन्य आशय हो सकता है।[5] यह सम्भव है कि, जैसा कि ग्रियर्सन[6] ने विचार व्यक्त किया है, पिशाच-गण वास्तव में उस उत्तर-पश्चिमी जाति के लोगों की भाँति मानव शत्रु थे जिनकी बाद के समय तक भी कच्चा मांस खानेवालों के रूप में (अनिवार्यतः मानव-मांस भक्षियों के नहीं वरन् संस्कारों के समय मानव मांस खानेवालों के रूप में) कुख्याति थी। फिर भी, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, और बहुत सम्भवतः पिशाचों का अर्थ मूलतः केवल 'वेताल' अथवा 'प्रेत-भक्षक' था : जब यह मानव जातियों के रूप में आते हैं, तब इन्हें कदाचित घृणासूचक दृष्टि से इस प्रकार सम्बोधित

[1] २. १८, ४; ४. २०, ६. ९; ३६, ४; ३७, १०; ५. २९, ४. ५. १४; ६. ३२, २; ८. २, १२; १२. १, ५०। ऋग्वेद (१. १३३, ५) में यह शब्द एक बार 'पिशाचि' रूप में आता है।
[2] देखिये सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०
[3] २. ४, १, १; काठक संहिता, ३७. १४
[4] ५. २५, ९
[5] तु० की० औल्डेनवर्ग : रिलीजन देस वेद २६४, नोट।
[6] तु० की० ग्रियर्सन : ज० ए० सो० १९०५, २८५–२८८। तु० की० मैकडौनेल : वैदिक माइथौलोजी पृ० १६४ (ख)

कर दिया गया है। 'पिशाच-वेद'[७] अथवा 'पिशाच-विद्या'[८] नामक एक विज्ञान बाद के वैदिक काल में ज्ञात था।

[७] गोपथ ब्राह्मण १. १, १०
[८] आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७, ६

पिशित, अथर्ववेद[१] और बाद[२] में कच्चे मांस का द्योतक है (तु० की० *पिशाच*)। अथर्ववेद[३] के एक स्थल पर इसका आशय 'छोटा टुकड़ा', 'खण्ड' प्रतीत होता है। किन्तु सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश का विचार है कि यहाँ 'पिशित' वास्तव में उस 'पिषित' के लिये आया है, जो 'पिष्ट' (जो 'कूटा' गया हो, अतः 'कण') के समान है।

[१] ५. १९, ५
[२] ऐतरेय ब्राह्मण २. ११; कौशिक सूत्र ११. ८; ३५. १८; ३९. १४, इत्यादि।
[३] ६. १२७, १। तु० की० ब्लूमफील्ड : अथर्ववेद के सूक्त ५३१; व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद, ३७६।

पिशील, एक लकड़ी के पात्र या 'तश्तरी' के नाम के रूप में, शतपथ ब्राह्मण (२.५, ४, ६) में मिलता है। लाट्यायन श्रौत सूत्र (४.२, ४.५) में एक 'पिशील-वीणा' का उल्लेख है, जो लकड़ी के आधार पर लगे तारों से निर्मित एक प्रकार की 'वीणा' का द्योतक प्रतीत होता है।

पिशून (विश्वासघाती) का ऋग्वेद[१], और कभी कभी बाद[२] में, उल्लेख है।

[१] ७, १०४, २०
[२] वाजसनेयि संहिता ३०. १३; छान्दोग्य उपनिषद् ७. ६, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, ७, १

पिष्ट (कूटा या पीसा हुआ), संज्ञा, 'भोजन', अथवा 'आटे' का द्योतक है और इसका ब्राह्मणों[१] में उल्लेख है। अथर्ववेद[२] में पिसी हुई माषों (माषाः) का सन्दर्भ है।

[१] ऐतरेय ब्राह्मण २. ९; शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, ३; २, १, २; ६. ५, १, ६, इत्यादि।
[२] १२. २, ५३।

पीठ, अयौगिक शब्द के रूप में सूत्रों के पहले नहीं आता, किन्तु यौगिक रूप 'पीठ-सर्पिन्' (छोटी गाड़ी में घूमनेवाला) एक 'अपाहिज' व्यक्ति की उपाधि के रूप में वाजसनेयि संहिता (३०.२१) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४, १७, १) में पुरुषमेध के बलि-प्राणियों की तालिका में आता है।

पीतु-दारु, काठक संहिता[1] और बाद[2] में, 'देव-दारु' वृक्ष का, अथवा अन्य के विचार से खदिर या उदुम्बर वृक्ष[3] का द्योतक है। तु० की० *पूतद्रु*।

[1] काठक संहिता २५. ६
[2] शतपथ ब्राह्मण ३. ५, २, १५; १३. ४, ४, ५. १७; पञ्चविंश ब्राह्मण २४. १३, ५
[3] वाजसनेयि संहिता ५. १४ पर महीधर : ऐतरेय ब्राह्मण १. २८, पर सायण।

पीयूष, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में बछड़ा जनने के बाद के प्रथम दुग्ध (फेनुस) के आशय में आता है। सामान्यतया लाक्षणिक आशय में यह शब्द सोम-पौधे के 'रस' के लिये व्यवहृत हुआ है।[3]

[1] तु० की० २. ३५, ५, जहाँ यह लाक्षणिक रूप से अग्नि की माताओं के लिये व्यवहृत हुआ है।
[2] कौशिक सूत्र १९. १५। तु० की० अथर्ववेद ८. ९, २४
[3] ऋग्वेद २. १३, १; ३. ४८, २; ६. ४७, ४; १०. ९४, ८, इत्यादि। तु० की० गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, ११०

पीला, एक बार अथर्ववेद[1] में एक 'अप्सरस्' के नाम के रूप में आता है, और इसमें सन्देह नहीं कि यह मूलतः उन *नलदी* और *गुग्गुलू* की भाँति किसी सुगन्धित पौधे का नाम रहा होगा, जो उसी मन्त्र में उल्लिखित दो अन्य 'अप्सरसों' के नाम हैं।

[1] ४. ३७, ३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ६९; व्हिट्ने अथर्ववेद का अनुवाद, २११।

पीलु, अथर्ववेद[1] में एक ऐसे वृक्ष (Careya aborea अथवा Salvadora persica) का नाम है जिसके फल को, मुख्यतः, कपोत खाते थे।

[1] २०. १३५ १२। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ६२; वेबर : ट्रा० ए० १८९५, ८६१।

पीलुमती, अथर्ववेद (१८. २, ४८) में 'उदन्वती' (जलमय) और 'प्र-द्यौः' (दूरतम आकाश) नामक आकाशों के मध्य में स्थित आकाश का नाम है। सम्भवतः इसका 'पीलु से सम्पन्न' अर्थ है। तु० की० *दिव्*।

पुंश्-चली (पुरुषों के पीछे दौड़नेवाली), वाजसनेयि संहिता,[1] अथर्ववेद[2]

[1] ३०. २२
[2] १५. २, १ और बाद

और बाद[3] में मिलता है, तथा एक 'पतिता स्त्री' का द्योतक है। वाजसनेयि संहिता[4] में ही इसका 'पुंश्चलू' रूप भी मिलता है। *धर्म* और *पति* भी देखिये।

[3] पञ्चविंश ब्राह्मण ८. १, १०; कौषीतकि ब्राह्मण २७. १; लाट्यायन श्रौत सूत्र ४. ३, ९, ११

[4] ३०. ५. २०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३. ४, १, १; १५, १; कात्यायन श्रौत सूत्र १३. ३, ६।

पुं-सवन ('पुरुषोत्पादन' संस्कार) अथर्ववेद[1] के एक ऐसे सूक्त में मिलता है जिसका प्रयोजन, स्पष्टतः पुत्र का ही जन्म सम्भव करना है। संस्कारों में भी यह इसी आशय में व्यवहृत हुआ है[2]।

[1] ६. ११, १

[2] कौशिक सूत्र ३५. ८। तु० की० ब्लूमफील्ड: अथर्ववेद के सूक्त ४६०; व्हिट्ने: अथर्ववेद का अनुवाद २८८। बाद के गृह्य संस्कार भी 'पुंसवन' नामक एक विशेष संस्कार से परिचित हैं। देखिये आश्वलायन गृह्य सूत्र १. १३; शाङ्खायन गृह्य सूत्र १. २०; गोभिल गृह्य सूत्र २. ६, १ और बाद; हिलेब्रान्ट: रिचुअललिटरेचर, ४१

पुक्लक—देखिये *पौल्कस*।

पुञ्जि-ष्ठ, यजुर्वेद संहिताओं[1] और बाद[2] में मिलता है। प्रत्यक्षतः इसका अर्थ 'मछुआ' है, यद्यपि महीधर[3] 'बहेलिये' (पक्षी-पकड़नेवाले) के रूप में इसकी व्याख्या करते हैं। तु० की० *पौञ्जिष्ठ*।

[1] वाजसनेयि संहिता १६. २७; तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ४, २; मैत्रायणी संहिता २. ९, ५; काठक संहिता १७. १३।

[2] आश्वलायन श्रौत सूत्र १०. ७; पाणिनि, ८. ३, ९७

[3] वाजसनेयि संहिता १६. २७

पुञ्जील, तैत्तिरीय संहिता[1] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] में घास के 'गट्ठर' के आशय में आता है और *पिञ्जूल* का एक विभेदात्मक रूप है।

[1] ६. १, १, ७; २, ४, ३

[2] १. ७, ६, ४; २. ७, ९, ५

पुण्डरीक, ऋग्वेद[1] और बाद[2] में कमल के फूल का द्योतक है। पञ्चविंश ब्राह्मण[3] में यह कथन है कि कमल के फूल का जन्म नक्षत्रों के प्रकाश से

[1] १०. १४२, ८

[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, १; शतपथ ब्राह्मण ५. ५, ५, ६; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ३, १०; ६. ३, १४; छान्दोग्य उपनिषद् १. ६, ७; ऐतरेय आरण्यक ३. २, ४

[3] १८. ९, ६

हुआ है, और अथर्ववेद[४] कमल की मानव हृदय से तुलना करता है।[५]

[४] १०. ८, ४३; छान्दोग्य उपनिषद् ८. १, १

[५] तैत्तिरीय संहिता १. ८, १८, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ८, २, १, में 'पुण्डरि-स्रजा' कमल के पत्तों के हार का द्योतक है। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन, ७१।

पुण्ड्र एक ऐसी जाति के लोगों का नाम है जिन्हें ऐतरेय ब्राह्मण[१] में जाति-बहिष्कृत कहा गया है। इनका नाम सूत्रों में भी आता है।[२] महाकाव्य के अनुसार इनका देश बंगाल और बिहार के क्षेत्र में ही स्थित है।

[१] ७. १८; शाङ्खायन श्रौत सूत्र १५. २६।

[२] बौधायन धर्म सूत्र १. २, १४। तु० की० कैलेण्ड : त्सी० गे० ५६, ५५३; वूह्लर : से० बु० ई० १४, १४८; औल्डेनवर्ग : बुद्ध, ३९४, नोट। पुण्ड्रों की बाद की भौगोलिक स्थिति के लिये तु० की० पर्जिटर : ज० ए० सो० १९०८, ३३३, में दिया हुआ मानचित्र।

पुत्र भी, सूनु के समान ही, ऋग्वेद और उसके बाद से 'पुत्र' का द्योतक है।[१] इस शब्द का मूल आशय प्रत्यक्षतः 'छोटा', अथवा इसी समान कुछ था।[२] 'पुत्रक'[३] शब्द-रूप का अवसर केवल पुत्र ही नहीं वरन् अपने से छोटे किसी भी व्यक्ति को स्नेह से सम्बोधित करने के लिये व्यवहार किया गया है। अक्सर ही पुत्र-प्राप्ति की कामना का सन्दर्भ मिलता है।[४] तु० की० *पति*।

[१] ऋग्वेद २. २९, ५; ५. ४७, ६; ६. ९, २, इत्यादि; अथर्ववेद ३. ३०, २, इत्यादि।

[२] डेलब्रुक : डी० व० ४५४।

[३] ऋग्वेद ८. ६९, ८; ऐतरेय ब्राह्मण ५. १४; ६. ३३ (यहाँ वृत्तान्त-कथन में 'पुत्र' है; वर्णित शब्दों में 'पुत्रक' है); शतपथ ब्राह्मण ११.६, १, २; पञ्चविंश ब्राह्मण १३. ३, २१, इत्यादि।

[४] ऋग्वेद १०. १८३, १; अथर्ववेद ६. ८१, ३; ११. १, १; तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ६, १; ७. १, ८, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. १, ९, १।

पुत्र-सेन, मैत्रायणी संहिता (४.६, ६) में किसी व्यक्ति का नाम है।

पुत्रिका से बाद के साहित्य[१] में, पुत्र-विहीन व्यक्ति की ऐसी पुत्री का पारिभाषिक आशय है, जिसे वह स्पष्टतः इस शर्त पर विवाहित करता था कि उसका (पुत्री का) पुत्र उस व्यक्ति का अन्त्येष्टि संस्कार करेगा और उसी का पुत्र माना जायगा। इस तथ्य और इस नाम को यास्क ने निरुक्त[२]

[१] मानव धर्मशास्त्र ९. १२७ और बाद; गौतम धर्मसूत्र २८. २०; वसिष्ठ धर्म-सूत्र १७. १७।

[२] ३. ५।

में स्वीकार किया है, और ऋग्वेद[3] में भी इसे ढूँढ़ा गया है। किन्तु ऋग्वेद के स्थलों के अर्थ अत्यन्त संदिग्ध हैं,[4] और बहुत सम्भवतः इस प्रथा को व्यक्त ही नहीं करते।

[3] १. १२४, ७। तु० की० ३. ३१, १।
[4] तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन ३, ३४; ऋग्वेद, कमेन्टर, ४८, ४९; औल्डेनवर्ग : ऋग्वेद-नोटेन, १, २३९ और बाद; रौथ : ए० नि० २७; जॉली : रेख्त उन्ट सिट्टे, ७२, ७३; बृहद्देवता ४. ११०. १११, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित; कीथ : ज० ए० सो० १९१०, ९२४, ९२५; जॉली : डी एडॉप्शन इन इन्डियन, ३२।

पुनर्-दत्त (पुनः प्रदत्त) शाङ्खायन आरण्यक (८.८) में एक गुरु का नाम है।

पुनर्-भू, अथर्ववेद[1] में ऐसी पत्नी के अर्थ में मिलता है जो पुनर्विवाह कर लेती है। यहीं एक ऐसे संस्कार का भी उल्लेख है जिससे पत्नी का परलोक में अपने द्वितीय पति (प्रथम नहीं) के साथ पुनर्मिलन सम्भव हो सकता है।

[1] ९. ५, २८। तु० की० व्हिट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद ५३७।

पुनर्-वसु (देवों को पुनः लाना)—द्विवाचक के रूप में प्रयुक्त यह वैदिक नक्षत्रों की तालिका में पाँचवें नक्षत्र का द्योतक है। रौथ[1] ऋग्वेद[2] में केवल एक मात्र स्थल पर आनेवाले इस शब्द को भी इसी आशय में ग्रहण करते हैं, किन्तु इसे निश्चित रूप से सन्दिग्ध ही मानना चाहिये। फिर भी, बाद की संहिताओं और ब्राह्मणों[3] में मिलनेवाली नक्षत्रों की साधारण तालिकाओं में यह शब्द मिलता है।

[1] सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश, व० स्था०।
[2] १०. १९, १।
[3] अथर्ववेद १९. ७, १; तैत्तिरीय संहिता १. ५, १, ४; ४. ४, १०, १; तैत्तिरीय ब्राह्मण १. २, २, ३; कौषीतकि ब्राह्मण १. ३; काठक संहिता ८. १५; ३९. १३; शतपथ ब्राह्मण २. १, २, १०, इत्यादि।
तु० की० वेबर : नक्षत्र, २, २८९, २९०; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३५५।

पुनः-सर, ऋग्वेद[1] में भूकने वाले ऐसे कुत्ते की उपाधि है जिसे चोरों को देखकर भूंकना सिखाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शब्द में भूकते समय

[1] ७. ५५, ३; पिशल : वेदिशे स्टूडियन, २, ५६, नोट १।

कुत्ते द्वारा इधर-उधर दौड़ने की प्रवृत्ति का भी सन्दर्भ निहित है। अथर्ववेद[२] में यह 'प्रत्यावृत्त पत्तियोंवाले' के आशय में अपामार्ग (Achyranthes aspera) नामक पौधे के लिये भी व्यवहृत हुआ है।

[२] ४. १७, २; ६. १२९, ३; १०. १, ९। तु० की० ह्विट्ने : अथर्ववेद का अनुवाद १७९। ब्लूमफ़ील्ड : अथर्ववेद का अनुवाद ३९४, इससे 'आक्रमण करने' का आशय मानते हैं, जो वास्तव में 'प्रति-सर' (अथर्ववेद ८. ५, ५) का आशय है। तु० की० शतपथ ब्राह्मण ५. २, ४, २०।

पुमांस्, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में 'पुरुष' के रूप में मनुष्य का द्योतक है। पति की भाँति न तो इसमें विवाह का विशिष्ट सन्दर्भ है, और न नृ अथवा नर की भाँति वीरता का। व्याकरण में यह पुल्लिङ्ग का द्योतक है।[३]

[१] १. १२४, ७; १६२, २२; ३. २९, १३; ४. ३, १०, इत्यादि।

[२] अथर्ववेद ३. ६, १; २३, ३; ४. ४, ४; ६. ११, २; वाजसनेयि संहिता ८. ५, इत्यादि।

[३] निरुक्त ३. ८; शतपथ ब्राह्मण १०. १, १, ८; ५, १, ३। तु० की० ४. ५, २, १०, और बृहदारण्यक उपनिषद् ६. ३, १, में 'पुंसा-नक्षत्रेण' (पुल्लिङ्ग नामवाला एक नक्षत्र)।

पुर्, ऋग्वेद[१] और बाद[२] में बहुधा मिलनेवाला शब्द है, जिसका अर्थ 'दुर्ग' गढ़' या 'प्राकार' है। इस प्रकार के गढ़ अक्सर बहुत बड़े आकार के होते रहे होंगे, क्योंकि एक को चौड़ा (पृथ्वी) और विस्तृत (उर्वी) कहा गया है।[३] अन्यत्र[४] 'पत्थर के बने' (अश्ममयी) दुर्ग का उल्लेख है। कभी कभी लोहे के (आयसी) गढ़ों का भी उल्लेख है,[५] किन्तु यह सम्भवतः केवल लाक्षणिक हैं। 'पशुओं से भरे' (गोमती) एक दुर्ग का भी उल्लेख है[६], जो ऐसा व्यक्त करता है कि मवेशियों को रोक रखने के लिये भी गढ़ों का उपयोग होता था। प्रत्यक्षतः दासों के 'शारदी' दुर्गों का भी नामोल्लेख है। इससे ऐसे दुर्गों

[१] १. ५३, ७; ५८, ८; १३१, ४; १६६, ८; ३. १५, ४; ४. २७, १, इत्यादि।

[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण १. ७, ७, ५; ऐतरेय ब्राह्मण १. २३; २. ११; शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ४, ३; ६. ३, ३, २५; ११. १, १, २. ३; छान्दोग्य उपनिषद् ८. ५, ३, इत्यादि।

[३] १. १८९, २।

[४] ऋग्वेद ४. ३०, २०। ऋग्वेद २. ३५, ६, 'आमा' (शब्दार्थ, 'कच्चा' 'विना पका हुआ') से सम्भवतः धूप में सुखाई ईंटों का तात्पर्य है।

[५] ऋग्वेद १. ५८, ८; २. २०, ८; ४. २७, १; ७. ३, ७; १५, ४; ९५, १; १०. १०१, ८। देखिये मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स २[२] ३७८ और बाद।

[६] अथर्ववेद ८. ६, २३।

का तात्पर्य हो सकता है जिनका इस ऋतु में आर्यों के आक्रमणों अथवा बढ़ी हुई नदियों के आप्लावन से बचने के लिये उपयोग किया जाता था। सौ दीवारों वाले (शत-भुजि) दुर्गों की भी चर्चा है।[७]

इंग्लैण्ड के मध्यकालीन 'बेरन्स' के दुर्गों की भाँति इन दुर्गों को भी आवास के लिये स्थायी रूप से प्रयुक्त सुरक्षित स्थान मानना सम्भवतः भूल होगी। यह केवल आक्रमणों से बचने के स्थान मात्र थे, जो खाई तथा शङ्कु आदि से सुरक्षित और कड़ी मिट्टी की प्राचीरों से बने 'प्राकार' मात्र होते थे (तु० की० *देही*)। फिर भी, पिशल और गेल्डनर[८] का विचार है कि यह मेगास्थनीज़[९] और पालि ग्रन्थों[१०] को ज्ञात पाटलीपुत्र जैसे भारतीय नगरों की भाँति ही लकड़ी की प्राचीरों और खाइयों (*περίβολος*, 'पेरिबोलोस' और *τάφρος*, 'टेफरोस') से घिरे नगर होते थे। ऐसा सम्भव तो है किन्तु इसे सिद्ध करना कठिन है और यह भी अमहत्त्वपूर्ण नहीं कि *नगर* शब्द बाद में ही मिलता है। सम्पूर्ण रूप से वैदिक-काल में नगर का जीवन बहुत विकसित रहा होना कदाचित ही सम्भव है। हॉपकिन्स[११] के अनुसार महाकाव्य में 'नगर', *ग्राम* और 'घोष' का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य ग्राम से कदाचित ही आगे जाता है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इसके बाद के काल में कुछ परिवर्त्तन हुये होंगे।

दुर्गों पर घेरा डालने का संहिताओं और ब्राह्मणों[१२] में उल्लेख है। ऋग्वेद[१३] के अनुसार इसके लिये अग्नि का उपयोग किया जाता था।

[७] ऋग्वेद १. १६६, ८; ७. १५, १४।

[८] वेदिशे स्टूडियन १, xxii, xxiii, जहाँ 'क्षिति ध्रुवा' (१. ७३, ४) की तुलना की गई है।

[९] स्ट्राबो, पृ० ७०२; अरियन : इन्डिका, १०।

[१०] महापरिनिब्बानसुत्त, पृ० १२। तु० की० रिज़ डेविड्स : बुद्धिस्ट इन्डिया, २६२।

[११] ज० अ० ओ० सो० १३, ७७; १७४ और बाद।

[१२] तैत्तिरीय संहिता ६. २, ३, १; ऐतरेय ब्राह्मण १. २३; शतपथ ब्राह्मण ३. ४, ४, ३-५; गोपथ ब्राह्मण २. २, ७, इत्यादि।

[१३] ७. ५, ३। जैसा कि त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १४३, १४५, ने व्यक्त किया है, कुछ दशाओं में शंकु-वृत्त सम्भवतः कँटैली झाड़ियों अथवा शलाकाओं की पंक्तियों (तु० की० ऋग्वेद १०. १०१, ८) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था; और तु० की० ऋग्वेद, ८. ५३, ५, को जैसा कि रौथ : त्सी० गे० ४८, १०९, ने शुद्ध किया है।

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे

लेवेन, १४२-१८, जो इस तथ्य की तुलना करते हैं कि जर्मन (टेसिटस : जर्मेनिया, १६) और स्लैव (प्रकोपियस : डि वेलो गॉटिको, ३. १४) लोग नगरों में नहीं वरन् प्राचीन भारतीयों की भाँति, अलग-अलग ग्रामों में ही रहते थे जिनमें से प्रत्येक ग्राम में अनेक परिवारों के गृह तथा स्थान होते थे। यह प्रमाण बहुत कुछ विश्वसनीय प्रतीत होता है। यह सत्य है कि अत्यन्त प्राचीन समय के यूनानी मध्यकालीन प्रकार के दुर्गों और गढ़ों से परिचित थे; किन्तु यूनानी एक आक्रामक जाति और प्राचीनतर तथा सभ्यता में अधिक विकसित लोग थे (उदाहरण के लिये देखिये, बरोज़ : डिस्कवरीज़ इन क्रीट)। किन्तु 'पुर्', जैसा कि त्सिमर स्वीकार करते हैं, कभी-कभी ग्राम की सीमा में ही बने होते थे। आपका विचार है कि (१४४) 'शारदी पुर' वास्तव में शरद् ऋतु की बाढ़ से सुरक्षा के लिये बने स्थान थे किन्तु यह अनिश्चित है। तु० की० ऋग्वेद १. १३१, ४; १७४, २; ६. २०, १०। विशेष रूप से इन दुर्गों के उल्लेख को न तो इस तथ्य के साथ सम्बद्ध करना ही उचित है कि 'पूरु-गण' सिन्धु के दोनों ओर रहते थे, और न यही मानना कि आदिवासियों पर 'पुरुकुत्स' का आक्रमण उन दुर्गों पर हुआ था जिनमें वह (आदिवासी) नदी की बाढ़ से बचने के लिये सामान्यतया आश्रय ग्रहण करते थे। काठक उपनिषद्, ५. १, में 'पुर' की उपाधि के रूप में 'एकादश-द्वार' (तु० की श्वेताश्वतर उपनिषद् ३. १८, 'नव-द्वार पुर' अर्थात नव द्वारों वाला गढ़') के उल्लेख द्वारा भी नगरों के वृहत् आकार के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि इसका शरीर के लिये लाक्षणिक प्रयोग हुआ है, और द्वारों की संख्या शरीर की प्रकृति पर निर्भर करती है (कीथ : ऐतरेय आरण्यक १८५)। शतपथ ब्राह्मण ११. १, १, २. ३ का प्रमाण नगर में कदाचित एक ही द्वार होने के तथ्य की ओर संकेत करता है।

तु० की० श्रेडर : प्रिहिस्टॉरिक ऐन्टिक्विटीज़ ४१२; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, ५, ४५१; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, २२९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २०३, और **महापुर्**।

पुरं-धि ऋग्वेद[1] में आता है और सम्भवतः अश्विनों ने इसे *हिरण्यहस्त* नामक एक पुत्र प्रदान किया था।

[1] १. ११६, १३। तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ३९८

पुरय एक दाता का नाम है जिसकी ऋग्वेद[1] की एक दान-स्तुति में प्रशस्ति है।

[1] ६. ६३, ९। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १५८

१. पुराण, 'प्राचीन काल' की कथा का द्योतक है। यह अक्सर 'इतिहास-पुराण' यौगिक रूप में मिलता[१] है जो सम्भवतः एक 'द्वन्द्व' यौगिक रूप है और जिसका अर्थ *इतिहास* तथा पुराण है। कभी-कभी[२] यह अलग शब्द के रूप में भी आता है, किन्तु इतिहास के अतिरिक्त, इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ भी, इसका वही अर्थ है जो द्वन्द्व यौगिक रूप में। सायण[३], 'पुराण' की, एक ऐसी कथा के रूप में परिभाषा करते हैं जो विश्व की पुरातन स्थितियों और सृष्टि से सम्बद्ध होती है, किन्तु इस दृष्टिकोण को ठीक मानने अथवा इतिहास और पुराण का स्पष्ट रूप से विभेद करने के लिये कोई आधार नहीं है।

[१] शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, ८; छान्दोग्य उपनिषद् ३. ४, १. २; ७. १, २. ४; २, १; ७, १

[२] अथर्ववेद १५. ६, ४; शतपथ ब्राह्मण १३. ४, ३, १३; बृहदारण्यक उपनिषद् २. ४, १०, ४. १, २; ५, ११; तैत्तिरीय आरण्यक २. ९; जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १. ५३; 'पुराण-वेद' शाङ्खायन श्रौत सूत्र १६. २, २७; 'पुराण-विद्या' : आश्वलायन श्रौत सूत्र, १०. ७, इत्यादि।

[३] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, पर ऐतरेय ब्राह्मण की प्रस्तावना से उद्धरण।

२. पुराण, काठक संहिता (३९.७) में एक ऋषि का नाम है।

पुरीकय, अथर्ववेद[१] में एक जलीय-पशु का नाम है और यह उसी नाम का स्पष्ट रूप से एक विभेदात्मक पाठ है जो मैत्रायणी संहिता[२] में 'पुलीकय' के रूप में, वाजसनेयि संहिता[३] में 'कुलीपय' के रूप में, और तैत्तिरीय ब्राह्मण[४] में 'कुलीकय' के रूप में आता है। इससे किस पशु से तात्पर्य है यह सर्वथा अज्ञात है।

[१] ११. २, २५

[२] ३. १४, २। 'पुलीका', वही, ५, कुलीका का विभेदात्मक रूप है।

[३] २४. २१. ३५

[४] ५. ५, १३, १

तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, ९६; ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ४८, ५५७; अथर्ववेद के सूक्त, ६२१।

पुरीषिणी ऋग्वेद[१] के एक सूक्त में मिलता है। प्रत्यक्षतः यह या तो किसी नदी[२] का नाम है, अथवा अधिक सम्भवतः *सरयु*[३] की उपाधि के रूप

[१] ५. ५३, ९

[२] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० द्वारा प्रस्तुत एक विकल्प।

[३] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन १७; गेल्डनर : ऋग्वेद, ग्लॉसर, १११

में इसका कदाचित् 'जल से परिपूर्ण', भरा हुआ,[४] अथवा 'अश्मखण्डों को ले जानेवाला'[५] अर्थ है।

[४] गेल्डनर : उ० स्था०
[५] रौथ : उ० स्था०

पुरु-कुत्स एक राजा का नाम है जिसका ऋग्वेद में अनेक वार उल्लेख मिलता है। एक स्थल[१] पर इसका सुदास् के समकालीन के रूप में उल्लेख है, किन्तु, एक शत्रु के रूप में, जैसा लुडविग[२] मानते हैं, अथवा केवल समकालीन मात्र के रूप में, जैसा कि हिलेब्रान्ट[३] ने माना है, यह अनिश्चित है। दो अन्य स्थलों[४] पर दिव्य सहायता द्वारा इसके विजयी होने का उल्लेख है। एक और अन्य[५] पर यह पूरुओं के राजा और दासों के विजेता के रूप में आता है। इसका पुत्र त्रसदस्यु[६] था जिसे तदनुसार ही पौरुकुत्स्य[७] अथवा पौरुकुत्सि[८] कहा गया है। ऋग्वेद[९] के उस सूक्त के आधार पर विभिन्न निष्कर्ष निकाले गये हैं जिसमें पुरुकुत्स के पुत्र 'त्रसदस्यु' के जन्म का उल्लेख है। साधारण व्याख्या यह है कि पुरुकुत्स युद्ध में मारा अथवा पकड़ा गया था, जिसके वाद उसकी पत्नी ने 'पूरुओं' के भाग्य को लौटाने के लिये एक पुत्र प्राप्त कर लिया था। किन्तु सीग[१०] एक सर्वथा भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। आपके अनुसार दौर्गहे शब्द, जो कि इसी सूक्त में आता है, और साधारण दृष्टिकोण के अनुसार जिसका पुरुकुत्स के एक पूर्वज ('दुर्गह' का वंशज) अनुवाद किया गया है, एक अश्व का नाम है। अतः आपके अनुसार यह सूक्त पुरुकुत्स द्वारा अपनी पत्नी के लिये पुत्र प्राप्ति के हेतु,

[१] १. ६३, ७
[२] ऋग्वेद का अनुवाद ३, १७४, जो बहुत कुछ उपयुक्ततः किन्तु सर्वथा विश्वसनीय रूप से नहीं, पाठ में 'सुदासे' को 'सुदासम्' के रूप में परिवर्तित करते हैं।
[३] वेदिशे माइथौलोजी, १, ११५। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २०४, २०५, २१९।
[४] १. ११२, ७. १४; १७४, २
[५] ६. २०, १०। तु० की० १. ६३, ७, जहाँ 'पुरु' का भी उल्लेख है। 'सुदास्' के दुर्गों का उल्लेख करते हुये लुडविग ६. २०, १० में 'दासीः' के स्थान पर 'सौदासीः' पाठ का परामर्श देते हैं, किन्तु इसे अनुचित मानना चाहिये। तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० ५५, ३३०
[६] ऋग्वेद ४. ४२, ८. ९
[७] ऋग्वेद ५. ३३, ८; ८. १९, ३६
[८] ऋग्वेद ७. १९, ३
[९] ऋग्वेद ४. ४२, ८. ९, सायण की टिप्पणी सहित; मूइर : संस्कृत टेक्स्ट्स, १[२], २६६, २६७
[१०] सा० ऋ० ९६-१०२

जैसा कि बाद से समय के राजा भी करते थे, अश्वमेध यज्ञ की सफलता का विवरण प्रस्तुत करता है। यह व्याख्या शतपथ[11] के 'दौर्गहे' पाठ द्वारा पुष्ट भी होती है, किन्तु इसे किसी भी प्रकार निश्चित नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि पुरुकुत्स, सुदास् का समकालीन था तो *दाशराज्ञ*[12] में सुदास् द्वारा पूरुओं की पराजय ही उन संकटों का कारण रही होगी जिससे, *पुरुकुत्सानी* ने, त्रसदस्यु को जन्म देकर इस परिवार की रक्षा की थी। शतपथ ब्राह्मण[13] में पुरुकुत्स को एक 'ऐक्ष्वाक' कहा गया है।

[11] १३. ५, ४, ५
[12] ७. १८। तु० की० ७. ८, ४ में एक 'पुरु' की पराजय का सन्दर्भ।
[13] १३. ५, ४, ५। तु० की० इक्ष्वाकु, त्र्यरुण, और ओल्डेनबर्ग : बुद्ध ४०३

पुरुकुत्सानी (*पुरुकुत्स* की पत्नी) का ऋग्वेद के एक सूक्त (४.४२, ९) में *त्रयदस्यु* की माता के रूप में उल्लेख है।

पुरु-णीथ-शात-वनेय ('शतवनि' का वंशज), ऋग्वेद[1] में एक यज्ञ-कर्त्ता, अथवा सम्भवतः एक भारद्वाज पुरोहित का नाम है। ऋग्वेद[2] के एक अन्य स्थल पर भी एक गायक के रूप में इसका ही उल्लेख है अथवा नहीं यह संदिग्ध है। दोनों ही स्थलों पर 'पुरु-णीथ' को रौथ[3] केवल एक ऐसा शब्द मानते हैं जिसका 'गायकों का गीत' अर्थ है।

[1] १. ५९, ७
[2] ७. ९, ६। तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, १६०; ओल्डेनबर्ग : ऋग्वेद-नोटेन १, ६०
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०

पुरु-दम, एक बहुवचन के रूप में अथर्ववेद[1] में आता, जहाँ लुडविग[2] के अनुसार यह गायकों का व्यक्तिवाचक नाम है, किन्तु रौथ[3] और ह्विटने[4] इसे केवल एक विशेषण मात्र मानते है जिसका 'अनेक गृहोंवाला' अर्थ है।

[1] ७. ७३, १
[2] ऋग्वेद का अनुवाद, ३. xx v
[3] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०
[4] अथर्ववेद का अनुवाद, ४३७।

पुरु-पन्था का ऋग्वेद के एक सूक्त (६.६३, १०) में *भरद्वाज* के किसी उदार दाता के रूप में उल्लेख है।

पुरु-माय्य, ऋग्वेद[1] के एक सूक्त में इन्द्र के एक आश्रित के रूप में आता है। इसका, इसी सूक्त में प्रख्यात *अतिथिग्व*, *ऋक्ष* और *अश्वमेध* का पिता अथवा इनसे सम्बद्ध होना सर्वथा सम्भव है।

[1] ८. ६८, १०। तु० की० लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३; १६३

पुरु-मित्र का ऋग्वेद (१. ११७, २०; १०.३९,७) में दो वार एक ऐसी कन्या के पिता के रूप में उल्लेख है जिसने प्रत्यक्षतः अपने इस पिता की इच्छा के विरुद्ध ही *विमद* से विवाह कर लिया था।

पुरु-मीळ्ह का ऋग्वेद[1] में दो वार एक प्राचीन ऋषि के रूप में उल्लेख है, और अथर्ववेद[2] में भी यह इसी रूप में आता है। सम्भवतः इसी[3] पुरु-मीळ्ह का ऋग्वेद[4] के एक अस्पष्ट से सूक्त में भी सन्दर्भ है, जहाँ बृहद्देवता[5] सर्वानुक्रमणी[6] पर 'षड्गुरुशिष्य' के भाष्य, तथा ऋग्वेद[4] पर सायण के भाष्य, में वर्णित कथा के अनुसार, यह और *तरन्त* भी, 'विददश्व' के पुत्र, और एक गायक *श्यावाश्व* के संरक्षक थे। इस कथा की शुद्धता को अत्यन्त असम्भाव्य बताते हुए औल्डेनवर्ग[7] यह व्यक्त[8] करते हैं कि पुरुमीळ्ह को एक 'वैददश्वि' बना कर इस कथा ने ऋग्वेद की एक अयथार्थ व्याख्या की है, क्योंकि इस स्थल पर केवल इसकी उदारता मात्र की ही किसी के साथ तुलना की गई है।

पञ्चविंश ब्राह्मण[9] में उपलब्ध और ऋग्वेद[10] के एक सूक्त पर आधारित एक अन्य कथा में पुरुमीळ्ह और तरन्त, दोनों ही, 'विददश्व' के पुत्रों और ऐसे व्यक्तियों के रूप में आते हैं जो *ध्वस्र* और *पुरुषन्ति* से उपहार ग्रहण करते हैं। इस कथा की जो शाट्यायनक[11] में भी आती है, प्रत्यक्षतः सर्वश्रेष्ठ

[1] १. १५१, २; १८३, ५
[2] ४. २९, ४; १८. ३, १५
[3] फिर भी, देखिये वेबर: ए० रि० २७, नोट २७, नोट ३; सा० ऋ० ६२, नोट ३।
[4] ५. ६१, ९
[5] ५. ४९ और बाद, मैकडौनेल की टिप्पणी सहित।
[6] मैकडौनेल का संस्करण, पृ० ११८ और बाद।
[7] ऋग्वेद-नोटेन, १, ३५३, ३५४। तु० की० मैक्स मूलर: से० बु० ई० ३२, ३५९।
[8] उ० पु० ३५४, नोट १
[9] १३. ७, १२
[10] ९. ५८, ३
[11] ऋग्वेद, उ० स्था० पर सायण द्वारा उद्धृत।

व्याख्या सीग[12] ने की है, जिनका कथन है कि यतः यह दोनों राजा थे, अतः जब तक आपाततः गायक नहीं बन जाते, यह जाति के नियमों के अनुसार दान नहीं ग्रहण कर सकते थे। जैसा कि औल्डेनबर्ग[13] व्यक्त करते हैं, इस कथा को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

[12] उ० पु० ६३

[13] त्सी० गे० ४२, २३२, नोट १। आप, ऋग्वेद-नोटेन १, ३५४, में यह व्यक्त करते हैं कि अनुक्रमणी ने इस कथा को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इसमें प्रणेताओं की तालिका में तरन्त और पुरुमीळ्ह का नहीं वरन् 'अवत्सार' का ही एक ऋषि के रूप में उल्लेख है।